श्रीमद्वल्लभाचार्यप्रादुर्भावितायां

श्रीमद्भागवत-

सुबोधिन्यां

प्रथमस्कन्धः

टिप्पणी-प्रकाश-लेखसमेतः च

अष्टमाध्यायपर्यन्तः

श्रीमद्भागवत-प्रथमस्कन्ध-सुबोधिनी (अध्याय १-८)

श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचिता

वि.सं. २०७६, श्रीवल्लभाब्द ५४३

३०० प्रति.

प्रकाशक

श्रीवल्लभविद्यापीठ-श्रीविठ्ठलेशप्रभुचरणाश्रम ट्रस्ट

वैभव को-ऑपरेटिव सोसायटी,

पूना-बेंगलोर रोड, कोल्हापुर,

महाराष्ट्र - ४१६००८.

संगणकाटंकन

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, मांडवी, सुश्री अल्पा मांडविया.

मुद्रक

पूर्वी प्रेस, राजकोट.

। श्रीकृष्णाय नमः ।

सम्पादकीय

पूर्वप्रकाशित मूल श्रीसुबोधिनी और टीकाओंको पुनःप्रकाशित करनेकी शृंखलामें दशमस्कन्ध एवं यावत्प्राप्त एकादशस्कन्ध के बाद यह प्रथमस्कन्धके आठ अध्यायोंका प्रकाशन हो रहा है.

वैसे तो स्वयं हमने ही संवत् २०४३में प्रथमस्कन्धसुबोधिनीका यथावत् पुनः प्रकाशन किया ही था. किन्तु धांधलीमें उसमें केवल पूर्वप्रकाशित प्रकाशटीका ही छापी थी, सो भी परिशिष्टमें. अन्य टीकाओंकी हस्तप्रत उपलब्ध होनेपर भी उनका समावेश नहीं कर पाये थे. अक्षर भी छोटे हो गये थे. सो तबसे एक असंतोष रह गया था कि दशमस्कन्धवत् प्रथमस्कन्धका प्रकाशन नहीं हो पाया, जो कि उस वक्त भी हमने अपने सम्पादकीयमें लिखा ही था. अब इसका प्रकाशन होनेसे हमें सन्तोष हुआ है.

इसमें यह वैशिष्ट्य है कि अभ्याससौकर्यार्थ टीकाओंको परिशिष्टमें न छापकर मूल सुबोधिनीसे संलग्न करके उपर-नीचे योजित की गई हैं. इनमेंकी दो टीकाएँ तो इदंप्रथमतया प्रकाशित हो रही हैं. इसके अलावा हमने मुद्रित संस्करणोंकी प्राप्य हस्तप्रतोंसे तुलना करके यथावसर संशोधन या पाठभेद प्रस्तुत किये हैं. इस हार्दिक सहयोगके लिये हम इस हस्तप्रतको उपलब्ध करानेवालोंके आभारी हैं.

(क) इनमेंसे श्रीसुबोधिनीकी तृतीय आवृत्तिका प्रकाशन श्रीबलभद्रलालाजीने संवत् १९७१में पाँच हस्तप्रतों और एक पूर्वमुद्रित संस्करणके आधारपर किया था. उसे ही हमने यहाँ यथोचित संशोधन करके लिया है. इस प्रकाशनकी श्रीमूलचन्द्र तेलीवालाकी आलोचनाको लक्ष्यमें रखते हुवे उनकी पादटिप्पणीयोंका भी यथायोग्य संपादन करके यहां निवेश किया है. भाण्डारकर ओरियेन्टल रीसर्च इन्स्टीट्यूट-पूनासे हमें एक हस्तप्रतकी झेरॉक्स मिली. उससे हमने यह प्रकाशित पाठकी तुलना की है और पाठभेदोंको ‘भा.’ संकेतसे पादटिप्पणीमें समाविष्ट किया

है.

(ख) श्रीमद्भागवतपे महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यने सुबोधिनीके अलावा तत्पूर्व एक पदाक्षरार्थप्रकाशक सूक्ष्मटीका भी लिखी थी. संपूर्ण १८००० श्लोकपे लिखित यह सूक्ष्मटीका अज्ञातकारणवशात् प्रायः अनुपलब्ध हो गई ऐसा वे स्वयं उल्लेख करते हैं. केवल ३० श्लोककी सूक्ष्मटीका अब उपलब्ध है, जिनमेंके २८ श्लोक दशमस्कन्धके गुणप्रकरणान्तर्गत वेदस्तुति / श्रुतिगीताके हैं और २ श्लोक यह प्रथमस्कन्धके आरंभके हैं. स्वयं महाप्रभुके हस्ताक्षरमें उपलब्ध एक हस्तप्रतके आधारपे सामयिक पुष्टिभक्तिसुधामें यह २ श्लोककी सूक्ष्मटीकाको प्रकाशित किया गया था. हमें भी इस हस्तप्रतकी झेरॉक्स मिली है, जिसका छायाचित्र यहाँ दिया है. उसे हमने यहाँ श्लोक और सुबोधिनीके साथ छापा है. निरन्तर वल्लभवाणीके टीकाद्वारा प्रकाशनमें जुटे श्रीपुरुषोत्तमजीने उसी हस्ताक्षरवाली हस्तप्रतिपर अपनी टीका जहाँ जगह मिली वहाँ लिखी है, उसे हमने पादटिप्पणीमें समाविष्ट की है.

(ग) प्रथमस्कन्धप्रकाशके आद्यप्रकाशक श्रीमूलचन्द्र तेलीवाला चार टीकाओंका उल्लेख करते हैं. (द्रष्टव्य द्वितीयपरिशिष्ट). इनमेंसे सिर्फ श्रीपुरुषोत्तमजीकृत प्रकाश उन्होंने सात हस्तप्रतिओंके आधारपर संवत् १९८३में प्रकाशित किया था. पाठभेदोंका किन्तु उन्होंने कोई उल्लेख नहीं किया है. उसे हमने यहाँ लिया है. हमारे किशनगढके संग्रहमेंकी एक हस्तप्रतिसे उस प्रकाशित पाठकी तुलना करते हुवे 'कि.' संकेतसे पाठभेदोंको हमने द्योतित किया है.

अन्य तीन टीकाओंकी हस्तप्रति उन्हें उपलब्ध होनेपर भी द्रव्य-समय-संकोचवशात् वे प्रकाशन नहीं कर पाये थे. उनमेंसे श्रीगोकुलोत्सवजीकृत टीका हमें नहीं मिल पाई. किन्तु अन्य दो टीकाएँ हमें मिली, जो पहली बार यहाँ छपने जा रही हैं.

(घ) श्रीगोकुलनाथजीकृत टिप्पणी प्रथमस्कन्धकी आद्यटीका है. श्रीविठ्ठलेशप्रभुचरणके चतुर्थ पुत्र श्रीवल्लभजी संप्रदायमें श्रीगोकुलनाथजी नामसे ज्यादा प्रसिद्ध हैं. यह टीका एक उल्लेखनीय आद्य प्रयास

है. इन्होंने प्रायः पुरःस्फूर्तिक अर्थको उजागर किया है.

इस टिप्पणी टीकाको श्रीविठ्ठलेशप्रभुचरणकृत टिप्पणीका अंश समझनेकी गलती नहीं करनी चाहिये, जो कि केवल दशमस्कन्धपे ही लिखी गई है. संभव है कि जैसे यमुनाष्टकपे श्रीप्रभुचरणकी अपूर्ण टीकाको पुत्र श्रीगोकुलनाथजीने पूर्ण किया था वैसे ही यहाँ उन्होंने टिप्पणीलेखनकी ठानी हो. दशमाध्यायके बाद यह टीका किन्तु अत्यल्प है. द्वितीय या तृतीयस्कन्धसुबोधिनीपे यह टीका नहीं लिख पाये होंगे.

वैसे तो इस टीकाका नाम 'टिप्पणी' है यह कहीं उल्लेख नहीं किया गया है. इस टीकामें न मंगलाचरण है और न ही इतिश्रीके श्लोक हैं, जिससे कि जाना जा सके कि यह श्रीगोकुलनाथजीकृत है. (आम तौर पर श्रीगोकुलनाथजी अपनी टीकाओंके मंगलाचरण और समाप्तिमें अवश्य पितृवंदना करते हैं). श्रीमूलचन्द्र तेलीवाला तो मानते हैं कि इसके लेखक श्रीगोपीशजी हैं, जो कि अपने परिवारमें ज्ञान-वयोवृद्धतावशात् 'चाचा श्रीगोपीशजी' तया प्रसिद्ध हैं. (वे श्रीविठ्ठलेशप्रभुचरण सप्तमात्मज श्रीघनश्यामलालजीके आत्मज हैं). परन्तु हमारे पास दो ठोस कारण हैं इसे श्रीगोकुलनाथजीकृत माननेके. एक तो यह कि श्रीगोकुलनाथजीकृत प्रथमस्कन्धसुबोधिनीके मंगलाचरणकी स्वतन्त्रटीका अनेक जगहपर प्राप्त हैं. उसे सामयिक वेणुनादके वर्ष १ अंक १२में प्रकाशित भी किया गया है. हमें भी गुजरातीप्रेसके ग्रन्थागारसे इसकी एक हस्तप्रतिकी झेरॉक्स मिली है. उसका गद्य इस टीकाके गद्यसे मिलता है. दूसरा कारण यह है कि लेखटीकाके कर्ता श्रीवल्लभजी १।२।९ लेखमें "श्रीवल्लभाअपि एवमेव आहुः" कहकर इस टीकाके गद्यांशका उल्लेख करते हैं. (श्रीपुरुषोत्तमजी इस टीकाका कण्ठोक्त उल्लेख कहीं नहीं करते हैं, परन्तु इनमेंके अर्थघटनोंके उपलब्ध होनेका प्रभाव उनपर दिखाई देता है).

इस टिप्पणीके हमें दो भिन्न पाठ मिले हैं , जिनमेंके एकको हमने सुबोधिनीके नीचे तथा दूसरेको परिशिष्टमें प्रकाशित किया है. प्रथम पाठकी हमें एक नोटबुक मिली है. यह संवत् १९४८में मथुराके

कोई रामलाल शर्माकी लिखी एक हस्तप्रतिकी संवत् १९८२में की गई प्रतिलिपि है. इसे श्रीमूलचन्द्र तेलीवालाने लिखवाई थी, जो कि हमें श्रीगट्टूलालाजीकी लाईब्रेरीसे मिली. इसका छायाचित्र हमने यहाँ दिया है. इसका शीर्षक 'चाचाश्रीगोपीशकृता टिप्पणी' है. दूसरे पाठकी हस्तप्रति हमें माण्डवीके घरसे मिली है, जो कि संवत् १८९९में लिखी गई है. गोस्वामी श्रीकृष्णजीकी इस हस्तप्रतिका शीर्षक 'श्रीवल्लभजीकृत लेखः' प्राप्त होता है. इसमें सप्तमाध्यायसे लेकर अन्त तकका गद्य प्रथमपाठ जैसा ही है. षष्ठाध्यायकी टीका नहीं है. प्रथमाध्यायसे लेकर पंचमाध्यायकी टीका परंतु प्रथमपाठसे सर्वथा भिन्न है. इस दूसरे पाठकी एक हस्तप्रतिकी संवत् १९८१में की गई प्रतिलिपिकी नोटबुककी झेरॉक्स हमें श्रीगट्टूलालाजीकी लाईब्रेरीसे मिली है, जिसका शीर्षक 'श्रीवल्लभकृता टिप्पणी' है! दोनों पाठोंमें व्याकरणीय अशुद्धिओंको हमने यथामति सुधारी हैं.

(ङ) श्रीवल्लभजी लेख नामक टीकाके कर्ता हैं. वे श्रीपुरुषोत्तमजीके कनिष्ठ समकालीन हैं. संपूर्ण सुबोधिनीकी टीका लिखनेके लक्ष्यको सिद्ध करनेके संयुक्त प्रयासमें श्रीपुरुषोत्तमजीने प्रकाश लिखनेका आरंभ प्रथमस्कन्धसे किया था और श्रीवल्लभजीने लेख लिखनेका दशमस्कन्धसे. सो दशमस्कन्धसुबोधिनीपे संपूर्णतया लेख उपलब्ध है और प्रथम-द्वितीय-तृतीयस्कन्धसुबोधिनीपे संपूर्णतया प्रकाश. प्रथम-द्वितीय-तृतीयस्कन्धसुबोधिनीपे लेख संक्षिप्त है, तो दशमस्कन्धसुबोधिनीपे प्रकाश जहाँ टिप्पणी न हो वहाँ सर्वत्र प्राप्त नहीं होता है. प्रथमस्कन्धीय लेख अब जाके छप रहा है, द्वितीयस्कन्धीय लेख अभी भी अप्रकाशित है, तृतीयस्कन्धीय लेख हमारे संयुक्त प्रयासमें सहभागी श्रीशरदबावाने हाल ही में तृतीयस्कन्धसुबोधिनी और प्रकाशके साथ प्रकाशित किया है.

लेखकी हमें दों हस्तप्रतिकी झेरॉक्स श्रीगट्टूलालाजीकी लाईब्रेरीसे मिली हैं. एक संवत् १८५७की है तो दूसरी संवत् १८८८की. इन्हें हमने 'त'-'थ' संकेत दिया है. वे प्रायः एक जैसी ही हैं. इनकी

एक प्रतिलिपि श्रीमूलचन्द्र तेलीवालाने करवाई थी वह नोटबुक भी हमें वहींसे मिली. अनेक स्थलपे यह टीका त्रुटित है. अन्य दो टीकाओंसे स्वयंका कुछ अलग अर्थघटन हो या उन दो टीकाकारोंने जहाँ टीका न लिखी हो वहीं यह उपलब्ध है. एक अन्य उल्लेखनीय बात यह है कि सुबोधिनीस्थित शास्त्रोद्धरणोंके संदर्भ देनेका इसमें यथासंभव प्रयास किया गया है.

प्रथम परिशिष्टमें हमने स्वतंत्रलेखोंका संकलन किया है. इनमें प्रकाशित एवं अप्रकाशित लेख भी हैं, जो एतत्प्रकरणीय हैं. प्रकाशित लेखोंमें साम्प्रदायिक मासिकपत्रोंमेंके लेखोंका संग्रह है. अप्रकाशित लेखोंमें ज्ञात एवं अज्ञात स्रोतोंसे हमें प्राप्त हुवे लेखोंका संग्रह है. इन्हें हमें उपलब्ध करानेवालोंके हम आभारी हैं. पाठकोंसे निवेदन है कि उनके संग्रहमें उपलब्ध अप्रकाशित लेखोंकी प्रति हमें प्रकाशनार्थ उपलब्ध करायें.

इनके आद्य मुद्रित संस्करणोंके सम्पादकोंकी प्रस्तावनाएँ हमने द्वितीयपरिशिष्टके रूपमें प्रकाशित की हैं.

अतिरिक्त संबद्ध साहित्य— कारिकासूचि, श्लोकसूचि, उपन्यस्तवाक्यसूचि, योजनासे भूषित भागवतार्थनिबन्ध, श्रीपुरुषोत्तमसहस्रनाम, प्रकरणविभागसूचिका, अध्यायार्थ आदि— का निवेश इस प्रकाशनको सांगोपांग बनाता है. इनमेंसे भागवतार्थनिबन्ध एवं श्रीपुरुषोत्तमसहस्रनाम आदि शास्त्रार्थ-स्कन्धार्थ-प्रकरणार्थ-अध्यायार्थ तथा लीलार्थ के बोधक होनेके कारण हमने इन्हें वाक्यार्थ-पदार्थनिरूपिका श्रीसुबोधिनीके पूर्व ही दिये हैं. आजकल इन्डॉलोजीमें जुटे देशी-विदेशी तथाकथित संशोधक भागवतार्थनिबन्ध पढे बिना ही सुबोधिनीके कुछ गद्यांश पढकर महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यको गाम्भीर्यविहीन दार्शनिक घोषित कर देनेकी धांधली करनेकी हास्यास्पद चेष्टा करते दिखाई देते हैं. उन्हें इसे अवश्य पहले पढना चाहिये. इनके आद्यप्रकाशकोंके हम कृतज्ञ हैं. कारिका-श्लोक-उपन्यस्तवाक्य-सूचियाँ हमने स्वयं गठित करके तृतीय परिशिष्टके रूपमें प्रकाशित की हैं. महाप्रयासके बावजूद सभी उद्धरणोंके संदर्भ मिल

नहीं पाये हैं, पर खोजनेमें हमने कोई कसर नहीं छोडी उतना ही सन्तोष है.

हमारी पहलेकी शैलीको यथावत् निभाते हुए हमने हमारे द्वारा प्रस्तावित पाठ (!) रूपमें दिये हैं; तथा श्रीसुबोधिनीपाठके अनुसार श्रीभागवतके श्लोकोंके संशोधनका भी प्रयास किया है. हमारी पादटिप्पणियाँ '-सम्पा.' संकेतसे पहचानी जा सकती हैं ; अन्य सब पादटिप्पणी आद्यसम्पादकोंकी हैं. हमने शब्दोंके उपर लिखे अंक पादटिप्पणीका स्थल सूचित करते हैं, जबकि वे ही अंक कोष्ठक( )में होनेपर गद्यमेंकी किसी योजनाको उजागर करते हैं. '❊' संकेत शंकादिका आरम्भ और दूसरी बार आये तब अन्त सूचित करते हैं.

इस ग्रन्थके सम्पादनकार्यमें हमारे सहयोगी श्रीपरेशभाई, श्रीअनिलभाई, श्रीराजेशभाई, श्रीधर्मेन्द्रभाई, श्रीजगदीशभाई, श्रीपीयूषभाई, श्रीप्रवीणभाई, श्रीमती ख्याति आदिके हम कृतज्ञ हैं.

हम सभीकी पाठकगणसे यही अपेक्षा है कि वे इस वाङ्मयके अध्ययनद्वारा हमें चिरकृतज्ञ बनायें. इसकी सोफ्टकॉपी भी हमारे अन्य प्रकाशनोंकी तरह पुष्टिवाङ्मयकी वेबसाईटपे उपलब्ध है.

जयति श्रीवल्लभार्यो जयति च विट्ठलेश्वरः प्रभुः श्रीमान्।
पुरुषोत्तमश्च तैश्च निर्दिष्टा पुष्टिपद्धतिर्जयति॥

श्रीवल्लभाब्द ५४१ — ***गोस्वामी श्याममनोहर***
दोलोत्सव — ***असित शाह***

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भागवतप्रथमस्कन्धार्थभूमिका

[निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतं।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिकाः भुवि भावुकाः ॥
धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवम् अत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किंवा परैर् ईश्वरः
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिः तत्क्षणात् ॥]

(मंगलाचरण)

निजानन्दात्ममायाभिः क्रियाज्ञानादिशक्तिभिः ॥
कर्माणि रूपनामानि स्वात्मकान्यात्मनि स्वयम् ॥१॥
सच्चिदानन्दकान् स्वस्माद् जडजीवाक्षरात्मकान् ॥
सृजन्तं ब्रह्म परमात्मानं श्रीकृष्णमाश्रये ॥२॥
कर्मज्ञानभक्तियोगेष्वधिकारितयापि च ॥
स्वप्राप्तये स्वांशजीवान् चकार रमणेच्छया ॥३॥
यो ज्ञानेच्छायत्नवतो दशलीलापरं हि तम् ॥
नौमि नामात्मकग्रन्थाद्यस्कन्धार्थविचिन्तने ॥४॥

(उपक्रम)

ग्रन्थारम्भमें अधिकारी विषय सम्बन्ध और प्रयोजन रूपी अनुबन्धचतुष्टय भारतवर्षीय लेखनपरम्परामें सर्वसाधारणतया स्वीकृत शैली रही है. कहीं वह, परन्तु, अभिधा द्वारा तो कहीं व्यञ्जना द्वारा भी प्रयुक्त होती दीखती है. श्रीमद्भागवत महापुराणमें एतदर्थ एक सम्पूर्ण स्कन्धका ही आयोजन उसके कुछ असाधारण वैशिष्ट्यको प्रकट करता है.

इस निगमकल्पतरुपर उद्गत फलरूप ग्रन्थके विषयका प्रतिपादन करते हुवे महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं :

> **''आनन्दस्य हरेः लीला शास्त्रार्थो दशधा हि सा अत्र : सर्गो विसर्गः च स्थानं पोषणम् ऊतयो मन्वन्तरेशानुकथाः निरोधो मुक्तिः आश्रयः अधिकारी साधनानि द्वादशार्थाः ततो अत्र हि, निरूप्य संख्या स्कन्धा हि द्वादशैव नच अन्यथा. तृतीयादिदशस्कन्धैः लीला दशविधा उदिता; श्रोतुः वक्तुः च लक्ष्म आद्ये, द्वितीयेतु अंगनिर्णयः. इति इदं द्वादशस्कन्धं पुराणं हरिरेव सः''.**
>
> (त.दी.नि.३।१।३-६)

अर्थात् इस महापुराणमें आनन्दमय श्रीहरिकी दशविध लीला तृतीय स्कन्धसे आरम्भ कर बारहवें स्कन्ध तक निरूपित हुयी हैं. इन लीलाओंके श्रोता-वक्ताओंकी उत्तम-मध्यम-कनिष्ठताके भेदवश विभिन्न अधिकारिताओंका निरूपण प्रथम स्कन्धमें हुवा है. जबकि द्वितीय स्कन्धमें श्रवणांगभूत भागवतीय पदवाक्योंका शक्तितात्पर्यनिर्धार तत्त्वध्यान हृत्प्रसाद और मनन रूपी साधनांगोका निरूपण अभिप्रेत है.

(अथातो अधिकारजिज्ञासा)

अव्ययकोशकार श्री वा. श्रीवत्सांकाचार्यद्वारा संकलित अव्ययार्थकोश ग्रन्थमें **'' 'अधि' स्वाम्य-आधिक्य-निन्दा अभिचारे स्मृतिपाठयोः. पाकारम्भे प्रहसने प्रेरणा-उपरिभावयोः, स्वीकारे विनियोगे च लाभे सन्धानसम्मुखे ज्ञानप्रस्तावयोः...''** (अव्य.को.३६) यों 'अधि'उपसर्गके अनेक अर्थ दिये गये हैं. तदनुसार कृतिवाचक 'कृञ्' धातुके साथ कर्ताके अर्थमें 'घञ्' प्रत्यय लगा कर 'अधि' उपसर्ग जोड़नेपर 'अधिकार' शब्द गढ़ा जाता है. ऐसी व्युत्पत्तिवशाद् इसका अर्थ योग्य या श्रेष्ठ कर्ता होता है.

वैसे जहां तक पारिभाषिक अर्थका सवाल है तो न्यायकोशकार श्रीभीमाचार्य झलकीकरजी धर्मशास्त्र न्यायशास्त्र मीमांसाशास्त्र और शब्दशास्त्रके अनुसार अनेक प्रकारकी परिभाषा उद्धृत करते हैं :

१.यथेष्टक्रयविक्रयादिकर्तृत्वसम्पादकं स्वामित्वम्.

२.यद्धर्मविशिष्टेन कृतस्य कर्मणः फलजनकत्वम्.

३. यत् प्रवर्तमानपुरुषनिष्ठं तथा ज्ञायमानं सत् प्रवृत्तिहेतुः सो अधिकारः.

४.यद् विधिवाक्येषु पुरुषविशेषणत्वेन श्रूयते सो अधिकारः.

५.स्वसूत्रे लक्ष्यसंस्कारकवाक्यार्थशून्यत्वे सति विधिसूत्रैकवाक्यताप-न्नत्वम्.

६.आरम्भः.

प्रस्तुत पौराणिक सन्दर्भमें, परन्तु, इन लक्षणोंको समन्वित करना हो तो उपलक्षणके रूपमें मान्य करना पड़ेगा. क्योंकि प्रस्तुत भागवतमहापुराणके सन्दर्भमें १.'यथेष्टक्रयविक्रयकर्तृत्वसम्पादकस्वामित्व'रूप धर्मशास्त्रीय अधिकार न तो शास्त्रसंमत हो सकता है और न प्रशस्त ही. क्योंकि **"एवं कृते विधाने तु लभते वाञ्छितं फलं दारागारसुतान् राज्यं धनादि च यद् ईप्सितं परन्तु शोभते न अत्र सकामत्वविडम्बनं कृष्णप्राप्तिकरं शश्वत् प्रेमानन्दप्रदं","विप्रैः भागवती वार्ता गेहे-गेहे जने-जने कारिता कणलोभेन कथासारः ततो गतः"** (श्रीस्कान्दपुरा.२।वैष्ण.खं.४।४६-४८, भाग.माहा.१।-७१) इन वचनोंमें क्रयविक्रयोपयोगी स्वामित्व निन्दित होनेके कारण सर्वथा अग्राह्य ही मानना पड़ता है.

अतएव भागवतके आदिम मध्यम तथा उत्तम अधिकारकी विवेचना करते हुवे महाप्रभु कहते हैं :

१."वक्ता अधिकारी [१]सर्वज्ञः [२]सम्प्रदायेन सन्मुखात्

श्रुतभागवतो भक्तो हि. अविरक्तः तथा आदिमः सूतत्वाद् वृत्तिः एषा हि तस्माद् न फलितं तथा, यद्यपि एषा न विक्रीता, नामविक्रयणात् तथा. इदं नामात्मकं भगवतो रूपं तत्स्वरूपविक्रेतरि विक्रयसाध्यातिरिक्तं फलं न प्रयच्छति''

२.''अथवा सर्वदा शास्त्रं श्रीभागवतम् आदरात् पठनीयं प्रयत्नेन सर्वहेतुविवर्जितम्. वृत्यर्थं नैव युञ्जीत प्राणैः कण्ठगतैरपि तदभावे यथैव स्यात् तथा निर्वाहम् आचरेत्.''

(त.दी.नि.३।१।२६-२७, २।२५३-२५४)

अतः भागवत महापुराणका क्रय-विक्रय करनेका स्वामित्वरूप अधिकार तो शास्त्रवचन तथा आचार्यवचन दोनोंके आधारपर भागवतोपदेशका अनधिकारी ही बनानेवाला सिद्ध हो जाता है.

रही कथा पांचवें और छट्ठे प्रकारकी अधिकार-परिभाषाओंकी. तो वे शब्दात्मक ग्रन्थोंके आरम्भरूप अधिकारपरक हैं पुरुषके अधिकारपरक नहीं; सो वे तो यहां अप्रसक्त ही हैं. अब रह जाती है बात २री ३री और ४थी परिभाषाओंके अनुसार अधिकारके स्वरूपविमर्शकी. तदनुसार प्रवृत्त होनेपर इनके अन्तर्गत क्रमशः द्वितीय और तृतीय परिभाषा वस्तुगत (objective) और बोधगत (subjective) प्रकारकी हैं. क्योंकि द्वितीय परिभाषामें जैसे प्रकारके धर्मसे विशिष्ट अर्थात् सहित होनेपर किसी कर्ताके द्वारा किया जानेवाला कर्म फलजननार्थ सक्षम हो पाता हो, वैसा धर्म अधिकाररूप स्वीकारा गया है. उदाहरणतया, भागवतोपदेशकर्ताकी धर्मनिष्ठा कैतव = छलकपटसे रहित होनी चाहिये तथा ज्ञाननिष्ठा मात्सर्यरहित सज्जनतारूप होनी चाहिये. ऐसेके मुखसे कथाश्रवण करनेपर श्रोताके हृदयमें त्रिविधतापहारक और कल्याणकारक ऐसे भागवतवेद्यरूप ब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण आरूढ़ हो पाते है. (द्रष्ट. ''धर्मः प्रोज्झित-कैतवोऽत्र...तत्क्षणात्'' भाग.पुरा.१।१।२)

तृतीय परिभाषाके अनुसार कोई पुरुष किसी अनुष्ठानमें प्रवृत्त होने जा रहा हो तो उसे स्वयंके बारेमें ऐसी कोई आत्मप्रज्ञप्ति आत्माकांक्षा या आत्मप्रयियतिषा प्रतीत होती हो तो वह प्रवृत्त हो पाता है. यही उसे किसी प्रवृत्तिविशेषके अनुष्ठानमें अधिकारी बनाता है. उदाहरणतया **"तस्माद् भारत! सर्वात्मा भगवान् हरिः ईश्वरः श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यः च इच्छता अभयम्"** (भाग.पुरा.२।१।५) की व्याख्यामें महाप्रभुने प्रस्तुत भागवतपुराणके विषयरूप भगवल्लीलाके उपदेश और श्रवण के बारेमें शंका-समाधान करते हुवे यों विधान किया है :

> **"ननु वैदिकविधिबोधितानाम् अग्निहोत्रादिनाम् (पूर्वकाण्डोपदिष्टानां) आत्मजिज्ञासाया:(उत्तरकाण्डोपदिष्टाया:) वा कथनं परित्यज्य कथं भगवच्छ्रवणं विधीयते? अवैदिकत्वात्. ...अभयप्रेप्सवः त्रैवर्णिकाएव भवन्ति इति नास्ति नियमो, अन्येषामपि कृतपुण्यपुञ्जानाम् अभयेच्छासम्भवात्. अतः तेषाम् उपायो वेदे नोक्तइति तदर्थं वक्तव्ये साधने, तेनैव साधनेन त्रैवर्णिकानामपि पुरुषार्थसिद्धौ आवश्यकत्वाद् लाघवत्वात् च, सर्वोपयोगी एकएव उपायो वक्तव्यः. सच सर्वात्मत्वाद् भगवतः तद्विषयएव कश्चिद् वक्तव्यः. नहि स्वस्य आत्मा कस्यचिद् न श्रोतव्यः... अतः श्रुतावपि 'आत्म'पदं सर्वात्मपरम्... तस्य शारीरस्य च भेदाभावाद् न स्वस्य गौणता. किञ्च "फलम् अतः उपपत्तेः" इति न्यायेन न केवलं ज्ञानमात्रेण फलं किन्तु श्रवणादिभिः ज्ञाते ब्रह्मणि तत् फलं प्रयच्छति. तत् चेद् निर्धर्मकं शारीररूपं वा स्यात् फलदाने असमर्थमेव स्यात्. अतः फलदानसमर्थरूपएव आत्मा श्रोतव्यः इति आह 'भगवान्' इति षड्गुणैश्वर्यसम्पन्नो नतु भ्रान्तशास्त्रैः प्रतिपन्नः... किञ्च फलं दुःखाभावः सुखं च... यस्तु उभयरूपो भवति तद् आह 'हरिः ईश्वरः'**

इति. हरित्वेन सर्वदुःखहर्तृत्वेन ईश्वरत्वेन सर्वफलदातृत्वेन च श्रोतव्यः... तादृशः श्रोतव्यइति विषयं व्यावर्तकधर्मैः परिच्छिद्य तत्र कर्तव्यम् आह श्रोतव्यादित्रयम्. ननु अस्य शास्त्रस्य भक्तिफलकत्वात् श्रवणादिकं न धर्मरूपं... अतो नवविधा भक्तिः कर्तव्यत्वेन वक्तव्या. तत् कथम् अत्र त्रयमेव उच्यते इति चेत्, सत्यम्! नवविधभक्तेः वक्तव्यत्वेऽपि प्रेमानन्तरभावित्वाद् अन्येषां त्रयमेव उक्तम्. त्रिभिः स्नेहे जाते अन्येषां कर्तव्यता अनुक्तसिद्धैव... श्रोतव्यविषयत्वेन लीला दशविधा पुनः उक्तैव वासुदेवस्य, तदर्थम् अपरा कृतिः... भगवान् दशविधलीलायुक्तः श्रोतव्यः."

(सुबो.२।१।५)

यों अनुबन्धचतुष्टयान्तर्गत अधिकारी और विषय का विस्तृत निरूपण महाप्रभु द्वारा जो किया गया उसका अवलोकन करनेपर अधिकारीकी परिभाषाकी संगति भी प्रस्तुत सन्दर्भमें बैठ जाती है. वह यों कि श्रवण-कीर्तन-स्मरणके विधायक वचनमें पुराणश्रवणके अधिकारीके विशेषणके रूपमें सर्वप्रथम तो 'अभयेच्छुता' हि प्रस्तुत सन्दर्भमें मौलिक अधिकारसमर्पक गुण है. बादमें उसके अवान्तर धर्मरूप आदिम मध्यम और उत्तम गुणोंका विचार भी आगे किया जा सकेगा.

अनुबन्धचतुष्टयान्तर्गत अवशिष्ट सम्बन्ध और प्रयोजन की मीमांसा करनेपर, महाप्रभुके अनुसार, सम्बन्धबोधार्थ इतना तो विदितप्रायः ही है कि -

१."वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम् उत्तरं पूर्वसन्देहवारकं परिकीर्तितम् अविरुद्धन्तु यत्तु अस्य प्रमाणं तच्च न अन्यथा",

२."सर्वगोप्यो हि धर्मस्तु वेदे मुख्यतया उदितः

ब्रह्ममात्रप्रकाशस्तु कृपया सनकादिग:. स इदानीन्तु गीतायां प्रकटो भगवत्कृत: तद्व्यासत्वाद् भागवतं पूर्वं भगवता उदितं विश्वासार्थं पुराणेषु पठितं भक्तिहेतुकं प्रतिपाद्येशलीलाया: पुराणार्थन्तु अत: पुन: सर्वमुक्तिनिवृत्त्यर्थं वेदत्वं तस्य न उक्तवान्. वेदकर्तृवचस्त्वाद्धि सतां सर्वं भविष्यति. स्वस्य अन्यस्य च निर्वाहं वेद: कर्तुं नहि क्षमो अत्यन्तमलिना: लोका: ततो भागवतं कृतम्. एतदभ्यसनाद् लोको मुच्यते अनुपजीवनाद्—अभ्यासमात्रेणैव तदर्थानुष्ठानाभावेऽपि लोको मुच्येत—परम् अत्र एको महान् दोष: 'तदुपजीवनम्' इति वृत्त्यर्थम् उपायो न कर्तव्य:''.

(त.दी.नि.१।७-८, २।६३-६७, प्रका.२।६७)

एतावता यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीमद्भागवत महापुराण उभयरूप है : वेदार्थरूप भी है और वेदोपबृंह्मणार्थ पुराणरूप भी. अर्थात् वेदोंके रहस्यरूप उपनिषदोंका जैसे निष्कृष्टार्थ श्रीमद्भगवद्गीता है, जिसे ब्रह्मसूत्रकारने ब्रह्मजिज्ञासाके अन्तर्गत अंगतया, निर्णायकतया, अधिकरणोंमें विषयतया भी और उत्तरपक्षगत संगतितया भी समायोजित किया है. भागवत इन तीनोंमें उभरते सर्वविध संदेहोंके निवारणार्थ चरमप्रमाण होनेके रूपमें अपने प्रतिपाद्य विषयसे सम्बद्ध है. अत: सर्वसन्देहवारक शास्त्रत्वेन मान्य है. एतावता महाप्रभुके मतमें चार प्रमाण माननेकी धांधल नहीं करनी चाहिये प्रत्युत चारोंकी एकवाक्यतासम्पादक वचनराशि ही विविदिषादशामें प्रमाणतया स्वीकारी गयी है.

जहां तक प्रयोजनका प्रश्न उठता है महाप्रभुके ये वचन सर्वदा अनुसन्धेय है **''शास्त्रे स्कन्धे प्रकरणे अध्याये वाक्ये पदे अक्षरे एकार्थं सप्तधा जानन् अविरोधेन मुच्यते... तत्र आनन्दस्य हरे: लीला शास्त्रार्थ: भक्तिजनिका हि संहिता सृष्ट्यादीनां लीलात्वे ज्ञाते भक्ति: भवति, न कार्यत्वे. कौतुकाधिष्ठितेन अनायासत्वेन क्रियमाणं कर्म लीला''**

(सुबो.१।१।४). अर्थात् सर्वदु:खहर्ता आनन्दमय ब्रह्मरूप श्रीहरिलीलाके रूपमें समग्रसृष्टि तदन्तर्गत स्वयंका भी बोध होनेपर दु:खाभावपूर्वक जो परमानन्दानुभव होता है, उसे प्रदान करना ही श्रीमद्भागवतकथाका परम प्रयोजन है. उत्पत्ति स्थिति मुक्ति और लय के कर्ताके रूपमें ब्रह्मके अभिन्ननिमित्तोपादान होनेका श्रौत ज्ञान मुक्तिपर्यवसायी ही होता है. उन्हीं, किन्तु, चतुर्विध ब्रह्मकार्योंका दशविध भगवल्लीलाओंके रूपमें श्रवण-कीर्तन-स्मरण कर पानेपर, **"क्रीडार्थम् आत्मन: इदं त्रिजगत् कृतं ते स्वाम्यन्तु तत्र कुधियो अपरे ईश! कुर्यु:"** (भाग.पुरा. ८।२२।२०) वचनके अनुसार, सृष्टिमें हमारे मिथ्यामोहको दूर कर तथा सृष्टिके भगवल्लीलारूप होनेके लीलाभावसे हमें परिपूरित बना सकता है. यों **"लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्"** (बाद.सू.२।१।३३) ब्रह्मसूत्रोदित सिद्धान्तका भागवतको स्वोपज्ञ भाष्य सिद्ध करता है.

अर्थाद् भागवतका श्रवण-कीर्तन-स्मरण भगवल्लीलाके प्रत्यभिज्ञानमें फलित हो पाता है. यही अनुबन्धचतुष्टयान्तर्गत अन्तिम अनुबन्धरूप प्रयोजन श्रीमद्भागवतका है.

(सा चतुर्धा उपलिप्सकोपायोपलब्धिप्रयोजनभेदात्)

इस अधिकारजिज्ञासाकी अंगभूत चार उपजिज्ञासा होती है : १. अधिकारोपलंभकामनात्मिका उपजिज्ञासा २. अधिकारप्राप्तिके उपायोंकी उपजिज्ञासा ३. अधिकारोपलब्धिके स्वरूपकी उपजिज्ञासा ४. अधिकारोपलब्धिप्रयोजनके स्वरूपकी उपजिज्ञासा.

सर्वप्रथम किसीभी प्रकारके अधिकारको कोई व्यक्ति पाना चाहता हो तो उसका ज्ञानेच्छाप्रयत्नसमर्थ चेतन होना नितान्त अपरिहार्य होता है. इन तीनमेंसे किसी भी एक घटकसे रहित होनेपर अधिकारके स्वरूपके ज्ञानके बिना केवल इच्छा और प्रयत्न के वश कोई अधिकार प्राप्त भी हो जाये तो प्राय: अनभीष्ट ही परिणाम भुगतना पड़ता

हैं. जो जिस तरहके अधिकारकी कामना रखनेका कोई अधिकारी ही न हो तो उसका वैसे अधिकारार्थ उपलिप्सक होना भी अतीव अनुचित होता है. यह पञ्चतन्त्रके "**शूरोऽसि कृतविद्योऽसि दर्शनीयोऽसि पुत्रको यस्मिन् कुले त्वम् उत्पन्नो गजः तत्र न हन्यते**" (पञ्चतन्त्र : ६।४४) कथाप्रसंगमें उपहासरूपेण वर्णित है. लोमडीके गर्भसे उत्पन्न हिम्मती बच्चेको शिकार करनेका कौशल्य प्राप्त भी हो जाये तबभी उसे हाथीके शिकार करनेकी अधिकारलिप्सा ही अनहोनी मानी गयी है. ज्ञान हो पर इच्छा न हो तबभी भीष्मपितामहको अंबासे विवाह करनेको बाधित करनेपर भी अंबाके पति बन पानेकी अपनी अधिकारिताका भान उन्हें नहीं हुवा, ब्रह्मचर्यव्रतके वशात्. ज्ञान और इच्छाके रहते प्रयत्नके अभावमें भी अधिकार नहीं मिलता. उदाहरणतया भागवतोपदेश और पुष्टिभक्ति का कैतवपूर्ण लाभपूजार्थ प्रयोग न करनेके सिद्धान्तवचनका बोध और हृदयमें दबी-दबीसी वैसी इच्छाके बावजूद आधुनिककालमें उस दिशामें हम वल्लभवंशजोंकी प्रयत्ननिष्ठाके अभाववश श्रीकृष्णकी निरुपाधिक पुष्टिभक्तिका अधिकारी हमें स्वीकार पाना किसीके भी लिये अब अशक्य कथा बन गयी है. अतः अधिकारके उपलिप्सकका ज्ञानेच्छाप्रयत्नसमर्थ होना अनिवार्य है.

अतः अधिकारांगभूत ज्ञानके सन्दर्भमें जिज्ञासा अभीप्सा और प्रयियतिषा रूपा त्रिविध कामना उपायतया उपस्थित होती हैं. अवगति अनुतिष्ठासा और अनुष्ठान के त्रैविध्यवशात् अधिकारोपलब्धि भी तीन प्रकारकी होती है. अतः जिज्ञासा अभीप्सा प्रयियतिषा की उत्तरोत्तर साधनफलभावरूपता फलपर्यवसायी हो पाती है.

(अधिकारिता त्रिविधा कर्मज्ञानभक्तियोगत्रैविध्याद्)

प्रस्तुत अधिकारजिज्ञासाके सन्दर्भमें यह विशेषतः अवगन्तव्य है कि यह जिज्ञासा अधिकारसम्पादिका होनेके अर्थमें नहीं परन्तु अधिकारिताके संप्रत्ययार्थ ही है. जैसाकि कहा गया है "**यथाहि भानोः उदयो**

नृचक्षुषां तमो निहन्याद् नतु सद् विधत्ते एवं समीक्षा निपुणा सती मे हन्याः तमिस्रं पुरुषस्य बुद्धेः'' (भाग.पुरा.११।२८।३४). यहां भगवानने **''मे सती निपुणा समीक्षा''** पदोंका जो प्रयोग किया है, उसके आधारपर जीवात्माधिकारक परमात्मयोगके तीन योग उपायतया प्रतिपादित हुवे हैं. यथा :

> **''योगास्त्रयो मया प्रोक्ताः नृणां श्रेयो विधित्सया ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च न उपायो अन्यो अस्ति कुत्रचित्. निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनाम् इह कर्मसु, तेषु अनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनां, यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगो अस्य सिद्धिदः.''**
> (भाग.पुरा.११।२०।६-८).

इन वचनोंमें ज्ञानादि योगोंके अधिकारनियमके साथ-साथ उनके 'नृणां'पदप्रयोगवश जीवात्माधिकारक होनेका भी सुस्पष्ट प्रतिपादन मिलता है. अन्य वैराग्य तप ध्यान दान परोपकारादि अनेक आध्यात्मिक या आधिदैविक उपाय इन्हीं तीनोंके अंगोपांगतया अनुष्ठेय बनते हैं. साथ ही साथ श्रुतिसे आरम्भकर भागवतपर्यन्त जो एक चतुर्थ प्रपत्तिमार्गका भी निरूपण हुवा है, वह जीवात्माकी अधिकारिताके सन्दर्भमें नहीं. वह तो निःसाधनता या निःसाधनभावना को अनुलक्ष्य बना कर दिया गया उपदेश है. अतः **''योगास्त्रयो... न उपायो अन्यो अस्ति कुत्रचित्''** वचनांशमे अवभासित होते चतुर्थ उपायका निषेध निरर्थक सिद्ध नहीं हो जाता. प्रत्युत वहां प्रपत्तिरूप उपायको परमात्माकी साधननिरपेक्ष उद्धारसामर्थ्यके रूपमें लेना आवश्यक लगता है. यह :

> **''ते नाधीतश्रुतिगणाः नोपासीत महत्तमाः अव्रतातप्ततपसः सत्संगाद् माम् उपागताः. केवलेन हि भावेन गोप्यो गावः खगाः मृगाः ये अन्ये मूढधियो नागाः सिद्धाः माम् ईयुः**

अञ्जसा, यं न योगेन सांख्येन दानव्रततपोऽध्वरैः व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि. मत्कामाः रमणं जारम् अस्वरूपविदो अबलाः ब्रह्म मां परमं प्रापुः संगात् शतसहस्रशः. तस्मात्, त्वम् उद्धव!, उत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनां प्रवृत्तं च निवृत्तं श्रोतव्यं श्रुतमेव च माम् एकमेव शरणम् आत्मानं सर्वदेहिनां याहि सर्वात्मभावेन मया स्याः ह्यकुतोभयः."

(भाग.पुरा.११।१२।७-१५).

यहां, अतएव, जीवात्माका अधिकार जिज्ञास्य माननेके बजाय अनधिकारी जीवात्माके भी उद्धार करनेका अधिकार परमात्माका स्वीकारना आवश्यक लग रहा है. कर्मज्ञानादियोगार्थ अनुष्ठानसमर्थ सुसाधन जीवात्माओंके लिये भगवच्छरणागति फलप्रापिका अनन्यथासिद्ध अंगतया तत्तत् कर्म ज्ञान या भक्ति में अभिलषणीय बनती है. असमर्थ निःसाधन जीवात्माओंके लिये अनुकल्पतया वांछनीय होती है. और समर्थ होनेपर भी आत्मनिःसाधनताकी भावनामें परायण जीवात्माओंके लिये विकल्पतया भी उपदिष्ट होती माननी चाहिये. अतएव "**इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितं उत्तमश्लोकचरितं चकार भगवान् ऋषिः निःश्रेयसाय लोकस्य धन्यं स्वस्त्ययनं महत्... सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतं... कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभिः सह कलौ नष्टदृशाम् एषः पुराणार्को अधुना उदितः**" (भाग.पुरा.१।३।४०-४४) इन वचनोंद्वारा स्वयं भागवतमें स्वयंकी अंगरूपता अनुकल्परूपता और विकल्परूपता स्वीकारी गयी है.

(कर्मज्ञानोपासनादिपुरुषार्थता पूर्वोत्तरकाण्डगतश्रुत्यादिप्रमाणमूला, अनधिगतार्थत्वे सति श्रुत्यादिज्ञापितत्वात्)

यह जैमिनिसूत्र और बादरायणसूत्र का अवलोकन करनेपर स्पष्ट है : "**अथातो धर्मजिज्ञासा, चोदनालक्षणो अर्थो धर्मः**", "**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा, जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वाद्**" (जैमि.सू.१।१।१-२,

बाद.सू.१।१।१-२). अतएव अणुभाष्यकार कहते हैं कि **"अस्ति तावद् वेदत्वम् अध्ययनादिभ्य:, स्मरणात् च. प्रमाणं सर्वोऽपि वेद: स्वार्थे. सच न यज्ञ: चेद् ब्रह्म भवतु. नच एतावता अवेदत्वम्", "क्रियाज्ञानयो: स्वातन्त्र्येण पुरुषार्थसिद्ध्यर्थं भिन्नतया शास्त्रप्रवृत्ति:"** (अणुभा.१।१।२-३). अत: उत्प्रेक्षामूलक किसी अन्य प्रमाणद्वारा सिद्ध धर्मस्थानीय या ब्रह्मस्थानीय पदार्थका श्रौत धर्म या श्रौत ब्रह्म से साम्य उपलब्ध होता भी हो तब भी उसके अभिज्ञापक शास्त्रका श्रौत धर्म या ब्रह्म के बारेमें प्रामाण्य अंगीकार्य नहीं हो पाता. सो वह केवल साम्यपर्यवसायी ही रह जाता है.

(श्रौतकर्मज्ञानोपासनासु अधिकार: त्रैवर्णिकानाम्)

श्रुतिविहित यज्ञादि कर्मके अनुष्ठानका तथा श्रुतिप्रतिपादित जगद् जीव ब्रह्मादि स्वरूपके ज्ञान या तदर्थ उपासनाओं का अधिकार उपनयनसंस्कारमूलक होता है. यह "घटं कुरु-शाटकं वय" सदृश भाविनीवृत्तिके आश्रयद्वारा **"अष्टवर्षं ब्राह्मणम् उपनयीत, एकादशवर्षं राजन्यं, द्वादशवर्षं वैश्यम्"** (द्रष्ट.याज्ञ.स्मृ.१।१४) वचनोक्त उपनयनकी त्रैवर्णिकाधिकारकता सिद्ध करता है. **"चातुर्वण्यम् अविशेषाद्, निर्देशाद् वा त्रयाणां स्याद्, अग्न्याधेयेऽपि असम्बन्ध: क्रतुषु ब्राह्मणश्रुति: इति आत्रेय:... तथा अन्यार्थदर्शनम्"** (जैमि.सू.६।१।७।२५-३८) पूर्वोत्तरपक्षद्वारा जैमिनिसूत्रोंमें भी वैदिक यज्ञादि कर्मको द्विजाधिकारक माना गया है. इसी तरह बादरायणसूत्रके भी **"शूगस्य तदनादरश्रवणात् तदाद्रवणात् सूच्यते हि... संस्कारपरामर्शात् तदभावाभिलापात् च... श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् स्मृते: च"** (बाद.सू.१।३।-३४-३८) इस अधिकरणमें ब्रह्मविद्या और तदंगभूत उपासनाओंके अनुष्ठानका अधिकार भी त्रैवर्णिकोंका ही स्वीकारा गया है. न केवल इतना प्रत्युत अधिकारितोपलब्धिका प्रयत्न भी निषिद्ध माना गया है. विशिष्ट प्रमेयके अनन्य अभिज्ञापक होनेके कारण निज प्रमेयके इदमित्थंभावेन स्वरूपनिर्धारणमें किसीभी प्रमाणका प्रामाण्य निरंकुश होता है. अत: उस प्रमेयके ज्ञानार्थ अधिकारिता या अनधिकारिता के निर्धारणमें भी

वही प्रमाण निरंकुश बोधक हो जाता है. अतएव अणुभाष्यकार कहते हैं "**स्मार्तपौराणिकज्ञानादौतु कारणविशेषेण शूद्रयोनिगतानां महताम् अधिकारः. तत्रापि न कर्मजातिशूद्राणाम्. तस्माद् नास्ति वैदिके क्वचिदपि शूद्राधिकारः**" (अणुभा.१।३।३८).

(स्मार्तपौराणिकादि-कर्मज्ञानभक्तयः चातुर्वर्ण्याधिकार्युद्देश्यकाः)

मनुस्मृतिमें "**सर्वस्य अस्यतु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः मुख-बाहु-उरु-पद्-जानां पृथक्कर्माणि कल्पयत्**" (मनुस्मृ.१।८७) वचनके अनुसार चातुर्वर्ण्याधिकारक धर्म स्मृतिओंमें प्रतिपाद्य माना गया मिलता है. सकलोपनिषत्सारस्मृतिरूपा भगवद्गीतामें भी, अतएव, कहा गया है "**मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः स्त्रियो वैश्याः तथा शूद्राः तेऽपि यान्ति परां गतिम्**" (भग.गीता.१०।३२). इसी तरह भागवतपुराणमें युधिष्ठिरद्वारा "**भगवन् श्रोतुम् इच्छामि नृणां धर्म सनातनं वर्णाश्रमाचारयुतं यत् पुमान् विन्दते परम्**" यों सनातनधर्मके बारेमें जिज्ञासा प्रकट करनेपर समाधानार्थ कहा है :

> **"[१]सत्यं [२]दया [३]तपः [४]शौचं [५]तितिक्षा [६]ईक्षा [७]शमो [८]दमो [९]अहिंसा [१०]ब्रह्मचर्यं च [११]त्यागः [१२]स्वाध्यायः [१३]आर्जवं [१४]सन्तोषं [१५]समदृक्-सेवा [१६]ग्राम्येहोपरमः शनैः [१७]नृणां विपर्ययेहेक्षा [१८]मौनम् [१९]आत्मविमर्शनम् [२०]अन्नादेः संविभागो भूतेभ्यः च यथार्हतः [२१]तेषु आत्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु... [२२]श्रवणं [२३]कीर्तनं च अस्य [२४]स्मरणं महतां गतेः [२५]सेवा [२६]इज्या [२७]अवनतिः [२८]दास्यं [२९]सख्यम् [३०]आत्मसमर्पणं, नृणाम् अयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः... प्रायः स्वभावविहितो नृणां धर्मो युगे-युगे वेदवद्भिः स्मृतो राजन् प्रेत्य च इह च शर्मकृत्. वृत्त्या स्वभावकृतया वर्तमानः स्वकर्मकृत् हित्वा स्वभावजं कर्म शनैः निर्गुणताम् इयात्. उप्यमानं मुहुः क्षेत्रं स्वयं निर्वीर्यताम् इयात्... एवं कामाशयं चित्तं कामानाम्**

अतिसेवया विरज्येत यथा राजन्! अग्निवत् कामबिन्दुभिः.
यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकं यद् अन्यत्रापि
दृश्येत तत् तेनैव विनिर्दिशेत्.''

(भाग.पुरा.७।११।२-३५).

यहां देखा जा सकता है कि तत्तत्-स्वभावोद्देश्यक वर्णाश्रमाचाररूप धर्म तत्तत्-स्वभावमूलक कामनाओंके, अन्ततः, उपशमनार्थ ही विहित है, नकि उद्बोधनार्थ या निर्वाहार्थ. जैसे पुनः-पुनः बीजावाप और अन्नोत्पादन द्वारा कृषिकी भूमिका अतिशय दोहन उसे ऊषरभूमि या अनुर्वरा बना देता है, वैसे ही स्वाभाविक कामनाओंकी पूर्तिके हेतु किया जाता कर्म भी अतिरेकवशाद् अन्तमें कर्मकर्ताको निष्काम बनानेमें हेतु बन जाता है. फिरभी यथाकथञ्चित् यथेच्छ किया जाता कर्म ऐहिक कामनाओंका पूरक हो भी जाता हो परन्तु पारलौकिक अनिष्टमें भी वह पर्यवसित तो हो ही सकता है. अतः शास्त्र उन्हीं स्वभावजन्य कामनाओंकी पूर्तिके हेतु वर्णाश्रमाचारधर्मोंका विधान करना चाहता है, पारलौकिक अनिष्टमें कर्मपर्यवसानसे हमारे त्राणहेतु. वर्णाश्रमाचारीय धर्मोंके अतिसेवनवश स्वभावोपात्त वर्णाश्रमीय कामनाओंका हृदयसे निर्मूलन अभिप्रेत है.

(कलौ वर्णाश्रमव्यवस्थोच्छेदात् तन्मूलकाधिकाराणामपि प्रायो लोपः)

ऊपर दिखलाये गये बत्तीस सामान्य धर्मोंके अन्तर्गत [१]सत्यं [२]दया [३]तपः और [४]शौचं रूपी क्रमशः चार धर्म वृषभरूप धर्मके चार चरणोंकी तरह कुछ महत्ताके वाहक होते हैं. इन चार चरणोंका ही कलिकालके दुष्प्रभाववश [१]अनृत [२]मद=अहंकार [३]स्मय=अन्यमें हीनतादर्शन और [४]संग रूपी क्रमशः अधर्मपादोंके द्वारा नाश माना जाता है. कलिके प्रारम्भमें तीन चरणोंका तो नाश हो जाता है. प्रथम चरणरूप सत्यको, परन्तु, कायिक वाचिक या मानसिक अनृताचरणवश व्यष्टिके स्तरपर खण्डित न किया जाये तो समष्टिके स्तरपर सत्य तो अखण्डित रहता ही है. यह भागवतमें ''**तपः शौचं दया सत्यम् इति पादाः कृते कृताः**

अधर्मांशैः त्रयो भग्नाः स्मय-संग-मदैः तव, इदानीं धर्म! पादः ते सत्यं निर्वर्तयेद् यतः तं जिघृक्षति अधर्मो अयं अनृतेन एधितः कलिः'' (भाग.पुरा.१।१७।२३-२५) वचनमें प्रतिपादित हुवा है. यहां एक दुष्चक्र यह है कि भगवत्प्राप्तिके प्रमुख तीन उपाय श्रौत कर्म ज्ञान भक्ति यद्यपि अनृत मद स्मय और संग के निवारण या उन्हें संयत करनेको धर्मकी पादचतुष्टयीके रक्षोपाय बन सकते थे, फिरभी वर्णाश्रमाचार, जब अनृत मद स्मय या दुःसंग के वश अपनी प्रभावोत्पादकता खो देता हो तो, तन्मूलक श्रौत कर्म-ज्ञान-भक्तिके अधिकारका विचार भी अप्रसक्त हो जाता है. ऐसी स्थितिमें तान्त्रिक या पौराणिक कर्म-ज्ञान-भक्ति, चतुर्वर्णाधिकारक अथवा प्राणिमात्राधिकारक माने गये होनेके कारण अवलम्बनीय बन जाते हैं. जैसा कि **''मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येपि स्युः पापयोनयः स्त्रियो वैश्याः तथा शूद्राः तेऽपि यान्ति परां गतिम्'', ''किरात-हूणा-ऽऽन्ध्र-पुलिन्द-पुल्कसाः आभीर-कंकाः यवनाः खसादयो ये अन्ये च पापाः यदुपाश्रयाश्रयाः शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः''** (भग.गीता.४।३०, भाग.पुरा.२।४।१८) भगवद्गीतामें और उसके व्याख्यानरूप भागवतपुराणमें प्रतिपादित हुवा है.

इस श्रौत वर्णाश्रमाचारमूलक कर्मज्ञानभक्ति और स्वतन्त्रा भक्ति या प्रपत्ति के सूक्ष्म प्रभेदको स्वयं महाप्रभुके शब्दोंमें एक बार भलीभांति समझ लेना आवश्यक है. एतदर्थ महाप्रभुके तीन वचनोंको ध्यानमें रखना आवश्यक है :

> **१.''भक्तेरपि स्वाश्रमधर्मसहित-ज्ञानसहितायाएव तिरोधाननाशकत्वम् उक्तं भवति. एषा भक्तिः माहात्म्यज्ञानपूर्वकपरमस्नेहरूपा. तथाभूता सती भगवत्परिचर्यायुक्ता भवेत् स्वतःपुरुषार्थरूपा सेवा चेत् सा भक्तिः 'स्वतन्त्रा' इति उच्यते. अयम् अर्थः : स्वाश्रमाचारसहित-ब्रह्मानुभवसहित-माहात्म्यज्ञानपूर्वकस्नेहो ब्रह्मभावं करोति. तादृशः चेत् परिचर्यासहितो भवेत् तदा सा परिचर्या आनन्दरूपा सती**

त्रयोदशगुणा भवेत् तदा फलरूपायां तस्यां स्वाश्रमाचारादिकरणं फलानुभवप्रतिबन्धकमिति फलत्वेन अनुभवे स्वाश्रमाचारा: त्यक्तव्या:. यथा ब्रह्मभावं गतस्य, अन्यथा कर्तव्या: इति निष्कर्ष:''.

२.''स्वधर्माणां देहधर्माणां वर्णाश्रमाधिकारसिद्धानाम् आचरणं यथाशक्त्या कर्तव्यं नतु शक्तावपि संकोच:... विधर्मात् च निवर्तनं द्वितीयं साधनम्. धर्मबाधो विधर्मो यस्मिन् क्रियमाणे धर्मस्य बाधो भवति. स यथाधिकारम् अवसेय:. यावद् देहो अयं तावद् वर्णाश्रमधर्माएव स्वधर्मा:, भगवद्धर्मादयोऽपि विधर्मा: परधर्मा: वा. यदा पुन: आत्मानं जीवं मन्यते संघातव्यतिरिक्तं तदा दास्यं स्वधर्मो, अन्ये वर्णाश्रमादयोऽपि परधर्मा:.''

३.''अधुनातु कलौ सर्वे विरुद्धाचारतत्परा:, स्वाध्यायादि-क्रियाहीना: तथाचारपराङ्मुखा:, क्रियमाणं तथाचारं विधिहीनं प्रकुर्वते, विक्षिप्तमनसो भ्रान्ता: जिह्वोपस्थपरायणा:, व्रात्यप्राया: स्वतो दुष्टा: तत्र धर्म: कथं भवेत्, षड्भि: सम्पद्यते धर्म: ते दुर्लभतरा: कलौ, अथापि धर्ममार्गेण स्थित्वा कृष्णं भजेत् सदा, श्रीभागवतमार्गेण स कथञ्चित् तरिष्यति... वर्णाश्रमवतां धर्मे मुख्ये नष्टे छलेनतु क्रियमाणे न धर्म: स्याद् अत: तस्माद् न मोचनं, बुद्धिमान् आदरं तस्मिन् छले साध्येऽपि दु:खत: त्यक्त्वा मार्गे ध्रुवफले भक्तिमार्गे समाविशेत्''.

(त.दी.नि.२।१९६, सुबो.३।२८।२, त.दी.नि.२।२१२-२२४)

इन तीनों विस्तृत उद्धरणोंका संक्षिप्त अभिप्राय यही है कि निज वर्णाश्रमाचार निभाते हुवे, श्रुतिप्रतिपादित ब्रह्मका वस्तुमात्रके साथ तादात्म्यज्ञानरूप जो माहात्म्यज्ञान है उसके साथ परमस्नेहपूर्वक भगवत्परिचर्या,

यदि, स्वत:पुरुषार्थतया सम्पन्न हो पाती हो तो उसे 'स्वतन्त्रा भक्ति' कहा जाता है. इस भक्तिकी फलावस्थामें वह सर्वत: ब्रह्मानन्दानुभाविका बन जाती हो तब उसकी तन्मयतामें विवशतया वर्णाश्रमाचार छूट भी जाते हों या कभी अन्तरायरूप लगनेपर स्वेच्छया भी छोड़े जाते हों तो कोई दोषास्पद बात नहीं. उपनिषद्में यही बात कुछ प्रकारान्तरसे इस तरह कही गयी है : **"आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति, एतं ह वाव न तपति किम् अहं साधु नाकरवं किम् अहं पापम् अकरवम् इति"** (तैत्ति.उप.२।९). अतएव ब्रह्मज्ञानके अभावमें ही वर्णाश्रमीय देहाध्यासोंपर अवलम्बित होनेवाले कर्म छोड़ देनेमें इतोभ्रष्ट ततोभ्रष्ट होनेकी सम्भावना रहती है, ब्रह्मज्ञान होनेके बाद नहीं. मिथ्या देहाभिमानमूलक होनेपरभी वर्णाश्रमाचारके धर्मोंका यथाशक्ति पालन इसलिये आवश्यक माना गया है; वर्णाश्रमविपरीत विधर्मोंके त्यागकी तरह. क्योंकि यदि देहाभिमान प्रबल हो तो भगवद्धर्म भी परधर्म या विधर्म लग सकता है. अत: ऐसी स्थितिमें वर्णाश्रमधर्म ही अवश्य अनुष्ठेय बन जाता है. उदाहरणतया स्वाप्निक शोक-मोहका जाग्रद्दशामें बाध होनेसे पूर्व स्वप्नमें भी स्वाप्निक निवारण अभिलषित तो होता ही है, उसी न्यायसे. फिरभी यदि देहादिके संघातसे जीवका पृथक्तया किसीको आत्मभान होने लगता हो तब तो भगवद्धर्म स्वधर्म लगेगा और देहाभिमानमूलक वर्णाश्रमधर्म परधर्म जैसे लगने लगेंगे. उदाहरणतया गाढ़ निद्रावस्थाके नहीं परन्तु तन्द्रावस्थामें आते स्वप्नोंमें शोकमोहकी अनुभूतिके साथ उनके केवल स्वाप्निक होनेका भी अनुव्यवसाय साथ चलता रहता है. तब तो जागनेसे पूर्व भी शोकमोह प्रकट नहीं हो पाते!

संप्रति कलिकालमें, परन्तु, सभी वेदादि शास्त्रविरुद्ध आचरण करने लगे हैं, न तो वर्णाश्रमोचित ब्रह्मचर्यावस्थामें स्वाध्यायरूप वाचिक तप, न गार्हस्थ्यमें यज्ञयागादि क्रियात्मक कायिक तप; और, न वानप्रस्थ या संन्यास आश्रमोंमें मानसिक तप ही कोई करता है. और जो स्मृति-पुराणोक्त आचार निभाते हैं वह भी विधिवत् नहीं मनगढ़ंत

ढंगसे ही निभाते हैं. ऐसे मानसिक रूपमें विक्षिप्तों जैसे भ्रान्त जिह्वोपस्थपरायण व्रात्यप्राय: स्वतो दुष्ट कर्ता धर्मानुष्ठान करते भी हों तो धर्म सिद्ध नहीं हो पाता. क्योंकि अभीष्ट देश काल द्रव्य कर्ता मन्त्र और कर्म रूपी छह अंगोंसे सम्पन्न होनेवाली क्रिया ही धर्मरूपा बन पाती है. अब तो धर्मके ये छहों अंग भी प्रदूषित हो गये हैं. फिरभी इन्हीं खण्डितप्राय: अंगोंसे भी धर्ममार्गके ही अनुसरणकी मनोवृत्ति रखनेवाले कर्ताको ही श्रीभागवतप्रतिपादित कृष्णभजनमें परायण होना चाहिये... वर्णाश्रमिओंका मुख्य धर्म तो कलियुगमें नष्टप्राय: ही है सो अनुष्ठानमें तत्पर होनेपर भी धर्म सिद्ध नहीं हो पाता. तो उसके आधारपर उद्धार कैसे सम्भव होगा? अत: बुद्धिमान् पुरुषको उसकी अधिक चिन्ता किये बिना भक्तिमार्गके अवलम्बनमें तत्पर हो जाना चाहिये.

यहां कही जाती यह बात कथमपि वेदविरोधितया कही गयी नहीं मान लेनी चाहिये. यह भागवतके वेदसारोद्धारतया एवं वेदोक्त धर्मके विकल्पतया भागवतधर्मकी प्रतिष्ठामें महाप्रभुद्वारा दिया गया स्पष्टीकरण है :

१.'' 'भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहिते अमले अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायां च तदुपाश्रयां यया सम्मोहितो जीव: आत्मानं त्रिगुणात्मकं परोऽपि मनुते अनर्थं तत्कृतं च अभिपद्यते, अनर्थोपशमं साक्षाद् भक्तियोगम् अधोक्षजे लोकस्य अजानतो विद्वान् चक्रे सात्त्वतसंहिताम्' साकारं ब्रह्म शुद्धं हि माया तच्छक्ति: उत्तमा, तया सर्वत्र संमोह: साक्षाद् भक्ति: च मोचिकेति पूर्णं पुरुषं पुरुषोत्तमं जीवराशिभि: आकीर्णं ब्रह्माण्डकोटिभि: वा; मायां च भगवदेकशरणाम् (अपश्यत्)''.

२.''यथा वेद: तथा भागवतमिति एकबीजत्वात्. अतो गायत्र्यर्थनिरूपणेन वेदविरोधो वेदाद् दौर्बल्यं च परिहृतम्.

किञ्च यथाहि वेदे यज्ञीया: पदार्था: योगजधर्मेण अनुभूयन्ते फलसाधनादिसहिता: तथा अत्रापि योगजधर्मेण व्यास: स्वयं त्रयम् अनुभूतवान् - पुरुषो, मायया बन्धो, मोचनं भक्तिहेतुकम्... एषा समाधिभाषा तत्र पुरुषप्रयत्नो भक्तावेव... माहात्म्यज्ञानपूर्वक: सुदृढ: सर्वतो अधिक: स्नेहो भक्ति:. सुदृढ: सर्वतो अधिक: स्नेहस्तु आत्मत्वेन ज्ञाते भवति. माहात्म्यज्ञानन्तु सृष्ट्यादिभि:. तत्र द्वयं साधयितुम् एषा भागवतसंहिता. यथा यज्ञा: ब्रह्मात्मावगति: च काण्डद्वयार्थो अन्योन्यहेतुभूत: तथा अत्र द्वय(मा.ज्ञा.+सु.स्ने.)मपि भक्तिहेतु:''.

(सुबो.१।७।४, १।१।१).

श्रीमद्भागवत महापुराणकी यह वेदमूलकता, वेद-गीता-ब्रह्मसूत्रगत सर्वविध सन्देहोंकी निवारकता; और, अतएव वैकल्पिकता भी ''**षड्भि: सम्पद्यते धर्म: ते दुर्लभतरा: कलौ, अथापि धर्ममार्गेण स्थित्वा कृष्णं भजेत् सदा, श्रीभागवतमार्गेण स कथञ्चित् तरिष्यति**'' (यथापूर्वनिर्दिष्ट) महाप्रभुको पुष्टिभक्ति और/अथवा पुष्टिप्रपत्ति मार्गोंके अवलम्बनोपदेशार्थ प्रेरकबल बनती है. यह अवतीर्ण श्रीकृष्णकी न केवल ब्रह्मता परमात्मता या भगवत्ता के सन्दर्भमें स्वीकारा गया है; अपितु सर्वोद्धारकतारूप विलक्षण धर्मके भी सन्दर्भमें. इसे भी प्रमाणचतुष्टय और उसके तात्पर्योपदेशक महाप्रभु के वचनोंके सन्दर्भमें जान लेना आवश्यक है.

(त्रैवर्णिकोद्धारार्थे वेद: स्त्रीशूद्राणाम् इतिहास: उभयसारोद्धारत्वात् (भागवतस्य)सर्वोद्धारकत्वम्. सुबो.१।३।४२)

ब्रह्मके बारेमें उपनिषद्के — ''**तम् एतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा: विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन... एतमेव प्रव्राजिनो लोकम् इच्छन्तो प्रव्रजन्ति**'' (बृह.उप.४।४।२२) इस वचनमें 'वेदानुवचन' पद द्वारा ब्रह्मचर्याश्रम, 'यज्ञ-दान' पदोंद्वारा गृहस्थाश्रम, 'तपसानाशकेन' पदोंद्वारा वानप्रस्थ; और,

‘प्रव्रज्या’ द्वारा चतुर्थाश्रम यों चारोंही आश्रमकर्मोंकी ब्रह्मविविदिषामें उपयोगिता या अंगता तो इंगित होती है. ‘ब्राह्मणा:’पदको, परन्तु, त्रैवर्णिकपरक लें तब भी तीन ही वर्णोका ब्रह्मविविदिषामें अधिकार फलित होता है. जबकि **“स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरः, कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेयः एवं भवेद् इहेति भारतम् आख्यानं कृपया मुनिना कृतं... भारतव्यपदेशेन हि आम्नायार्थश्च दर्शितः दृश्यते यत्र धर्मादि स्त्रीशूद्रादिभिरपि उत”** (भाग.पुरा.१।४।२५-२९) इसलिये इतिहास-पुराण चातुर्वर्ण्याधिकारक सिद्ध होते हैं. अतएव **“इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदः”** (छान्दो.उप.७।१।२) प्रतिपादनद्वारा श्रुतिमें भी धर्म-ब्रह्मज्ञानार्थ इतिहासपुराणकी पांचमे वेदकी जैसी महत्ता बखानी गयी है. यों इस तौलनिक सन्दर्भमें श्रीमद्भागवत महापुराणकी सर्वोद्धारकता घोषित की जा रही है. यह केवल समाधिभाषा होनेके कारण नहीं क्योंकि वह माहात्म्य तो श्रुतिरूप संहिता-ब्राह्मण-आरण्यक-उपदिषद्के वचनोंका भी है ही. यह सर्वोद्धारकता महाप्रभुके अनुसार दो-तीन कारणोंसे है :

१.**“सर्वोद्धारप्रयत्नात्मा कृष्णः प्रादुर्बभूव ह तथात्वं येन संसिद्ध्येत् तदर्थं व्यास उक्तवान् श्रीभागवतम्, अत्यन्तं सर्वेषां सुखदायकम्”**.

२.**“श्रीकृष्णं परमानन्दं दशलीलायुतं सदा सर्वभक्तसमुद्धारे विस्फुरन्तं परं नुमः, शास्त्रे स्कन्धे प्रकरणे अध्याये वाक्ये पदे अक्षरे एकार्थं सप्तधा जानन् अविरोधेन मुच्यते, आनन्दस्य हरेः लीला शास्त्रार्थो दशधा हि सा”**.

३.**“श्रीमद्भागवतागमः सुरतरुः लोके फलत्वं गतो... भक्त्यंशे फलता, प्रमाणसुबले वेदत्वम्, अर्थे पुनः स्कन्धैः द्वादशभिः युतः सुरतरुः...”**.

(त.दी.नि.१।१, ३।१-२, सुबो.१।१।१/४).

भागवतप्रतिपाद्य श्रीकृष्णके बारेमें स्वयं भागवतके **“कामाद् द्वेषाद्**

भयात् स्नेहाद् यथा भक्त्या ईश्वरे मनः आवेश्य तदघं हित्वा बहवः तद्गतिं गताः", "न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म, उद्धव!, न स्वाध्यायतपस्त्यागो नेष्टापूर्तं हि दक्षिणा व्रतानि यज्ञः छन्दासिं तीर्थानि नियमाः यमाः... केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगाः मृगाः ये अन्ये मूढधियो नागाः सिद्धाः माम् ईयुः अञ्जसा, यं न योगेन सांख्येन दानव्रततपोऽध्वरैः व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि" (भाग.पुरा.७।१।२९, ११।१२।१-९) इन वचनोंके आधारपर भूतलपर अवतीर्ण श्रीकृष्णकी सर्वोद्धारकता घण्टाघोषकी तरह सुस्पष्ट श्रुतिगोचर है. और ऐसे श्रीकृष्णकी लीला प्रकट होती है अवतारकालमें रूपेण; तो, अनवतारकालमें नाम्ना भी भागवतरूपेण स्वीकारी गयी है. जैसाकि पूर्वनिर्दिष्ट **"इति इदं द्वादशस्कन्धं पुराणं हरिरेव सः"** (त.दी.नि.३।१।६) महाप्रभुने अंगीकार किया है. अतएव सर्वोद्धारकतया प्रकट हुवे श्रीकृष्णकी लीलाके गानार्थ प्रकट भागवतभी सर्वोद्धारक नामात्मक श्रीहरि ही है.

यहां एक प्रमुखतया विचारणीय विषय यह उभरता है कि भागवत महापुराणको—उसके अपने आद्य मौलिक रूपमें तथा क्रमशः विपुलीकृत चौबिस अवतारकथाओंमें, दशविधलीलाकथाओंमें; और, अन्तमें द्वादशस्कन्धात्मक रूपमें यों—क्या सभी स्तरोंपर सर्वोद्धारक माननी चाहिये अथवा अन्तिम परिपक्व कक्षामें जहां वह द्वादश स्कन्धोंमें विपुलीकृत हो जाती है?

मूल बीजरूप भागवत तो ब्रह्माजी द्वारा **"... यथा आत्ममायायोगेन नानाशक्त्युपबृंहितं विलुम्पन् विसृजन् गृह्णन् बिभ्रद् आत्मानम् आत्मना क्रीडति अमोघसंकल्प ऊर्णनाभि यथा ऊर्णुते तथा तद्विषयां धेहि मनीषां मयि माधव! भगवन् शिक्षितम् अहं करवाणि हि अतन्द्रितो न ईहमानः प्रजासर्गं बध्येयं यदनुग्रहात्"** (भाग.पुरा.२।९।२४-२८) ऐसी प्रार्थना करनेपर भागवती सृष्टिके संविधानसदृश उपदेशतया दी गई, जो अधोनिर्दिष्ट चतुःश्लोकीरूप है —

"ज्ञानं परमगुह्यं मे यद् विज्ञानसमन्वितं सरहस्यं तदंगं च गृहाण गदितं मया. यावान् अहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मक: तदेव तत्त्वविज्ञानम् अस्तु ते मदनुग्रहात्, "[१]अहमेव आसमेव अग्रे न अन्यद् यत् सदसत् परं पश्चाद् अहं यद् एतत् च यो अवशिष्यते सो अस्मि अहमेव, [२]ऋते अर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि तद् विद्याद् आत्मनो मायां यथा आभासो यथा तम:. [३]यथा महान्ति भूतानि भूतेषु उच्चावचेषु अनुप्रविष्टानि अप्रविष्टानि तथा तेषु न तेषु अहम्, [४]एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुना आत्मना अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् सर्वत्र सर्वदा".

(भाग.पुरा.२।९।३०-३५).

यहां [१]सृष्टिकी उत्पत्तिसे पूर्व, स्थितिमें तथा लयोत्तर भी नारायणकी अद्वितीय एकाकिता, [२]सद्वितीयताकी भ्रमानुभूति तो अतत्त्वाभास और तत्त्वाच्छादन की ब्राह्मिकी शक्तिरूपा मायासे उपपन्न होती है, [३]इन अतत्त्वाभास और तत्त्वाच्छादन रूपी मायिक प्रदर्शनके मूलमें जीवात्माओंका तत्त्वज्ञानमें असामर्थ्य नहीं अपितु स्वयं ब्रह्मका आत्मोपादानक कार्योंमें तत्तद् उपादानात्मना अनुप्रवेश (immanence) और अप्रवेश (trascendentalness) रूपी विरुद्धधर्माश्रयता ही हेतुभूत होती है [४]अत: सृष्ट नाम-रूप-कर्मात्मक जगत्में अनुप्रवेशवश अन्वय और अननुप्रवेशवश व्यतिरेक दोनों तरहके सम्बन्ध ही मायाको जीवव्यामोहनार्थ सक्षम बनाते हैं. इस निरूपित प्रकारकी अनुगति तो निश्चयेन भूतलपर प्रकट श्रीकृष्णलीलामें भी खोजी जा सकती है. अभिधावृत्तिसे फिरभी श्रीकृष्णकी लीलाकथा श्रवणगोचर तो नहीं होती.

द्वितीय ब्रह्माजी द्वारा उन चार श्लोकोंवाली ब्रह्मलीलाकथाको ब्रह्माण्डमूर्ति नारायणके भूतलपर चौबीस अवतारलीलाओंकी कथाके रूपमें विशद किया गया. ऐसा "**यत्रोद्यत: क्षितितलोद्धरणाय... सो अयं**

ते अभिहित तात! भगवान् विश्वभावन: समासेन हरे: नान्यद् अन्यस्मात् सदसच्च यद् इदं भागवतं नाम यद् मे भगवतोदितं संग्रहो अयं विभूतीनां त्वम् एतद् विपुलीकुरु. यथा हरौ भगवति नृणां भक्ति: भविष्यति सर्वात्मनि अखिलाधारे'' (भाग.पुरा.२।७।१-५३) इन श्लोकोंमें निरूपित हुवा है. यह, परन्तु, अन्यावतारसाधारण ही है, अत: श्रीकृष्णावतारकी अनन्यसाधारण सर्वोद्धारकता यहां इस सोपानपर भी अभिधया निरूपित तो मानी नहीं जा सकती!

तृतीय स्तरपर उन चौबीस भगवदवतारोंकी लीलाकथाओंको ब्रह्मोपादानक ब्रह्मकर्तृक जडजीवात्मक जगत्के उत्पत्ति-स्थिति-प्रत्यावृत्ति-लयके हेतुभूत सर्वभवनसामर्थ्यको सर्ग-विसर्ग स्थान-पोषण-ऊति-मन्वन्तर-ईशानुकथा-निरोध मुक्ति लीलाओंको आश्रयभूत मूलस्वरूपके शुद्धबोधार्थ कहा गया है. यह स्वयं ग्रन्थके अन्त:साक्ष्यके आधारपर स्वीकारना पड़ता है. स्वयं ग्रन्थगत घोषणा —**''अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणम् ऊतयो मन्वन्तरेशानुकथा: निरोधो मुक्ति: आश्रयो दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानाम् इह लक्षणं वर्णयन्ति... आभासश्च निरोधश्च यतश्च अध्यवसीयते स आश्रय: परं ब्रह्म परमात्मा इति शब्द्यते. यो आध्यात्मिको अयं पुरुषो सो असावेव अधिदैविक: य: तत्र उभयविच्छेद: पुरुषो हि आधिभौतिक:. एकम् एकतराभावे यदा न उपलभामहे त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रय:''** (भाग.पुरा.२।१०।१-९) इन वचनोंके आधारपर तो ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीकृष्णलीलाभी स्वाश्रयाश्रय परब्रह्म परमात्मा भगवान्के मूलस्वरूपके शुद्धबोधार्थ ही उपदिष्ट है. अर्थात् सर्वोद्धारक श्रीकृष्णरूपकी सर्वोद्धारिका नामलीलाके निरूपणार्थ नहीं.

अत: अन्तमें पूर्णतया परिवर्धित द्वादशस्कन्धात्मक भागवतोक्त लीलाओंको ही अपनी समग्रतामें सर्वोद्धारिका मान कर तन्नामात्मक ग्रन्थको सर्वोद्धारक मानना पड़ेगा. अतएव महाप्रभुने भी **''श्रीकृष्णं परमानन्दं दशलीलायुतं (रूपनामविभेदेन) सदा सर्वभक्तसमुद्धारे विस्फुरन्तं''**

(यथापूर्वोक्त) वचन द्वारा यही द्योतित किया है. अतः नवविध लक्षणरूपा भगवल्लीलाओंसे द्वादशस्कन्धार्थभूत लक्ष्यरूप तत्त्व वस्तुतः स्व(=दशविधलीला और तत्कर्ता श्रीकृष्णके) आश्रय(=धामात्मक तथा धर्मात्मक होनेके कारण) आश्रय(=श्रीकृष्णका) धामरूप अक्षरब्रह्म है ऐसा स्वीकारा है. यह अक्षर समग्र भागवतके शास्त्रार्थरूप श्रीकृष्णका न केवल धर्मरूप अपितु दशमलीलारूप भी है.

इसमें प्रमुख कारण है भारतभूमिके आस्तिक-नास्तिक सभी दर्शनोंकी एक सामान्य धारणा कि यह अनन्तकोटि ब्रह्माण्डरूपा सृष्टि ऋजुरेखामें नहीं प्रत्युत चक्राकाररेखामें निरन्तर चलती रहती है. अतएव ब्रह्मलक्षणमें **“यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति. तद् विजिज्ञास्व तद् ब्रह्म”** (तैत्ति.उप.३।१) वचनमें “भूतानि जातानि जीवन्ति प्रयास्यन्ति प्रवेक्ष्यन्ति” यों तीन कालोंका प्रयोग किये बिना केवल वर्तमानकालका ही चतुर्विध क्रियाकलापोंके हेतु प्रयोग किया गया है. एतावता स्वाश्रयाश्रयरूप अक्षरब्रह्मका स्वरूप भी पूर्वोत्तरभूत दो सृष्टिलीलाओंमें सन्दंशपतितन्यायेन विद्यमान होनेसे लीलारूप भी सिद्ध होता है, दशमस्कन्धप्रतिपाद्य भूतलपर अवतीर्ण श्रीकृष्णकी निरोधलीलारूप लक्षणद्वारा द्वादशस्कन्धप्रतिपाद्य स्वाश्रयाश्रयरूप अक्षरब्रह्मके शुद्धबोधके हेतुभूत होनेपर भी.

अर्थात् सृष्टिके आदिमें पुरुषोत्तमधाम-धर्मरूप निराकार अपुरुषविध ब्रह्मका पुरुषशरीरस्वीकार जैसे सर्गलीला है, उस पुरुषसे ब्रह्मादि स्रष्टृसृज्यादिकी उत्पत्ति विसर्ग, उत्पन्न पदार्थोंका स्वस्वमर्यादामें पालन स्थानलीला, पालनार्थ स्थित पदार्थोंका अभिवर्धन पोषणलीला, पोषणद्वारा पुष्ट पदार्थोंका स्वस्ववासनानुरूप आचरण ऊतिलीला, इनके अन्तर्गत सदाचार मन्वन्तरलीला, उसके अन्तर्गत विष्णु और उनके अनुगामिओंकी भक्तिकथा ईशानुकथालीला, भक्तोंकी प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक अवतीर्ण भगवत्स्वरूपमें आसक्ति निरोधलीला, भगवान्में निरुद्ध जीवोंका अपने शुद्ध स्वरूपमें अवस्थानरूपा मुक्तिलीला,

अन्तमें मुक्तात्माओंकी आश्रयभावमें प्रत्यापत्ति आश्रयलीला, यों लीलाचक्रकी दशविधता समझी जा सकती है. इन दशविध लीलाओंके कर्ता श्रीकृष्ण ही परब्रह्म=पुरुषोत्तम परमात्मा भगवान् समग्र भागवतके शास्त्रार्थतया अवगत हो पाते हैं. अत: तीनसे बारहवें स्कन्ध तककी दशविध लीलाओंमें नौ लीला लक्षणरूपा तथा अन्तिम दसवीं लीला लक्ष्यरूपा यों दशविध लीलाओंसे समग्रशास्त्रार्थतया प्रतिपाद्य श्रीकृष्ण दशविध लीलाविहारी सिद्ध होते हैं. सो देखा जा सकता है कि एक सर्वोद्धारकता दशविधलीलाओंसे निरूपित आ रही है, दूसरी सर्वोद्धारकता एतदन्तर्भूत सृष्टिमें प्रकट देवर्षिमानवादि विविध आत्माओंके उद्धारक होनेके अर्थमें आ रही है, तीसरी कर्मज्ञानभक्त्यादि शास्त्रीय उद्धारसाधनोंकी तरह लौकिक काम-क्रोध-द्वेषादि असाधनोंकों भी साधन बना कर उनके द्वारा भी उद्धार करनेकी श्रीकृष्णावतारमें जो लीला प्रकट की गयी सो वैसी सामर्थ्यरूपा उद्धारकता भी सिद्ध होती है. अवतारकालमें स्वयंके रूपसे उद्धारकी तरह अनवतारकालमें श्रीभागवतरूप नामसे भी श्रीकृष्ण सर्वोद्धारक बनते हैं. इसे सुबोधिनीके मंगलाचरणमें ही महाप्रभुने श्रीमद्भागवतके शास्त्रार्थतया निरूपित किया है : "**वन्दे श्रीकृष्णदेवं मुरनरकभिदं वेदवेदान्तवेद्यं लोके भक्तिप्रसिद्ध्यै यदुकुलजलधौ प्रादुरासीद् अपारो यस्य आसीद् रूपमेव त्रिभुवनतरणे भक्तिवत् च स्वतन्त्रं शास्त्रं रूपं च लोके प्रकटयति मुदा य: स नो भूतिहेतु:**"(सुबो.१।१।१).

कुल मिला कर इस मंगलाचरणमें विवक्षित यही है कि ब्रह्मकी क्रियाशक्तिके प्रतिपादक वेदके पूर्वकाण्डमें प्रतिपाद्य यागहोमादि कर्म श्रीकृष्णरूप हैं यह "**यज्ञेन यज्ञम् अयजन्त देवा:**","**यज्ञो वै विष्णु:**","**मां विधत्ते अभिधत्ते मां**"(ऋक्संहि.१०।७।९०।१६, तैत्ति.संहि.१।७।४।५, भाग.पुरा.११।२१।४३) आदि वचनोंकी एकवाक्यताके आधारपर सिद्ध होता है. वेदोंके उत्तरकाण्ड वेदान्तमें उसकी ज्ञानशक्तिका "**सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म**" (तैत्ति.उप.२।१) वचनके अनुसार ब्रह्मतया प्रतिपादन हुवा है. इन क्रिया-ज्ञानरूपा उभयशक्तिओंके सहित नराकृतिमान् भूतलपर

ब्रह्मके प्रकट रूप श्रीकृष्णके[1] प्राकट्यका प्रयोजन भूतलपर कर्म-ज्ञानकी तरह भक्तिकी उद्धारकता प्रसिद्ध करना है. अतः अवतारकालमें तो इतरसाधननिरपेक्षतया श्रीकृष्ण स्वातन्त्र्येण स्वयंके रूपद्वारा जीवात्माओंके उद्धार करते हो ऐसी लीला वर्णित हुयी है. अतएव भक्ति-स्नेह-सम्बन्ध-काम-भय-द्वेष तो उस निजरूपके अवान्तरव्यापार बनके केवल व्याजरूपेण प्रकट हुवे हैं. अनवतारकालमें उस निजरूपसे भी निरपेक्षतया स्वातन्त्र्येण केवल भक्ति या केवल भागवतशास्त्रद्वारा भी उद्धार अभिलषित है.

अतएव द्वादश स्कन्धमें महाप्रभु पञ्चविध आश्रयोंको विवक्षित मानते हैं : [1]कृष्णाश्रय [2]जगदाश्रय [3]वेदाश्रय [4]भक्तियोगाश्रय तथा [5]भागवताश्रय. इनमें दशविध लीलाविहारी श्रीकृष्ण निजस्वरूपेण सकलाश्रयीभूत है. **"सर्वं खलु इदं ब्रह्म", "त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म... ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि नामानि... रूपाणि... कर्माणि बिभर्ति तदेतत् त्रयं सद् एकम् अयम् आत्मा एकः सन् एतत् त्रयम्"** (छान्दो.उप.३।१४।१, बृह.उप.१।६।१-३) यों ब्रह्मोपादानक ब्रह्मात्मक नाम-रूप-कर्मत्रयीरूप जगत्का भरणकर्ता होनेके कारण पुरुषोत्तमधामात्मक अक्षरब्रह्मात्मना भी वह सकलाश्रय बना हुवा है. वेदात्मना उसकी आश्रयरूपता त्रैवर्णिकाधिकारक होती यह तो हम देख ही चुके हैं. अवशिष्ट भक्तियोगके बारेमें **"कलौ भक्त्यादिमार्गाः हि दुःसाध्याः इति मे मतिः"** (विवेकधैर्याश्रय १७) स्वीकारते होनेके कारण भक्तिको भगवत्कृपाके बिना दुःसाध्य माननेका महाप्रभुका मत है. परन्तु सर्वनिर्णयमें महाप्रभुने भागवतके बारेमें यह

[[1]द्रष्टव्य : **"स्वरूपे तु त्रयो भेदाः क्रियाज्ञानादिभेदतो विशिष्टेन स्वरूपेण क्रियाज्ञानवतो हरेः विशिष्टे वाचकं गीता श्रीभागवतमेव च — क्रियारूपे धर्मे प्रविष्टो धर्मी यज्ञः एकः तथा ज्ञानरूपे धर्मे प्रविष्टो धर्मी ब्रह्म", "क्रिया ज्ञानं च द्वयं प्रकटीकृत्य यो अवतीर्णः कृष्णः स श्रीभागवते विशिष्टो निरूप्यते. अतः खण्डशो निरूपणं वेदे भागवतेतु समुदायेन निरूप्य तस्य लीला अनेकविधाः निरूप्यन्तइति एकार्थत्वेऽपि पृथग्वचनं युक्तम् इति अर्थः"** (त.दी.नि.प्र.२।८९-९०, १।११)]

विशेषतया समझाया है :

> **“सर्वगोप्यो हि धर्मस्तु वेदे मुख्यतया उदितो ब्रह्ममात्रप्रकाशस्तु कृपया सनकादिग: स इदानीन्तु गीतायां प्रकटो भगवत्कृत: तद्व्यासत्वाद् भागवतं पूर्वं भगवता उदितम्... अत्यन्तमलिना: लोका: ततो भागवतं कृतम् एतदभ्यसनाद् लोको मुच्यते अनुपजीवनाद्—अभ्यासमात्रेणैव तदर्थानुष्ठानाभावेऽपि लोको मुच्यते परम् अत्र एको दोष: तदुपजीवनम् इति... वृत्त्यर्थम् उपायो न कर्तव्य:.”**
>
> (त.दी.नि.२।६३-६७).

अत: सिद्ध होता है कि भगवन्नामात्मक श्रीभागवत महाप्रभुके अनुसार आत्मोद्धारका एक स्वतन्त्र साधन है, भगवद्रूपनिरपेक्ष ब्रह्मज्ञाननिरपेक्ष तथा त्रैवर्णिकाधिकारक वेदनिरपेक्ष भी, वेदसारोद्धारकतया ही.

यहां एक जिज्ञासास्पद या विवादास्पद विचारबिन्दु यह उभरता है कि निबन्धके **“कृष्णानुग्रहरूपा हि पुष्टि: कालादिबाधिका, अनुग्रहो लोकसिद्धो गूढभावाद् निरूपितो, दैवगुह्यत्वसिद्ध्यर्थं नाम-ध्यान-अर्चनादिकं पुरस्कृत्य हरे: वीर्यं नामादिषु निरूप्यते”** (त.दी.नि.३।६।२-३) वचनके अनुसार तत्तत्प्रमाणनियत प्रमेय या तत्तत्साधननियत फल के नियमोंके आधीन ब्रह्माण्डका नियमन भगवान् करते हैं. इनके नियामक अधिदेव ब्रह्मा विष्णु रुद्र हैं. इनके अमूर्तरूप कर्म स्वभाव काल होते हैं, आध्यात्मिक नियमरूप. भगवदनुग्रह इन सामान्य नियमोंका आपवादिक बाध करनेवाला देवगुह्य रहस्य है. इसे ही ‘पुष्टि’ कहा जाता है. अपनी इस गूढ़ पुष्टिको प्रकट करनेके लिये भगवान् स्वयंके नाम ध्यान या अर्चन आदिके व्याजसे लीलार्थ उन्हें अपने अनुग्रहका अवान्तरव्यापार बना लेते हैं. ऐसे ही यदि भगवान् अपनी शरणागति या भक्ति को भी अपने अनुग्रहको प्रकट करनेके व्याजसे अवान्तरव्यापार बनाते

हों तो महाप्रभु उन्हें ‘पुष्टिशरणागति’ या ‘पुष्टिभक्ति’ नाम्ना निर्दिष्ट करना चाहते हैं.

यहां केवल कृष्णानुग्रहको प्रमुख उद्धारसाधन मान कर जीवात्माओंके उद्धारके सभी शास्त्रीय उपायों अथवा शास्त्रतः अनुपायों को अनुग्रहरूप साधनके अवान्तरव्यापारतया जो बिरदाया गया, उस धारणाको क्या यहां छोड़ा जा रहा है? अथवा उसी धारणाका यहां भिन्न प्रकारसे प्रतिपादन अभिलषित है?

आपाततः विचार करनेपर दो विभिन्न दिशाओंमें इसका समाधान कोई खोज सकता है :

क/१. भगवद्दृष्टिसे सृष्टिके नियामक स्वनिर्धारित कर्म-स्वभाव-कालके औत्सर्गिक नियमोंके अपवादरूप निजानुग्रहकी अकुण्ठित अपराधीनताके कारण भगवन्नामरूप होनेपर भी भागवतमें अप्रयुक्त भगवन्नाम, भागवतमें अवर्णित भगवद्रूपका ध्यान, इसी तरह भागवतमें अनुपदिष्ट भगवत्पूजापदोंके अर्चनादिरूप अवान्तरव्यापारोंसे भी विलक्षण ऐसी भागवतकी स्वतन्त्रता यहां अभिप्रेत लग सकती है.

क/२. अथवा भगवद्दृष्टिसे ही भागवतोक्त नाम भागवतोपवर्णित भगवद्रूप एवं भागवतोपदिष्ट भगवत्पूजापदों पर भी अनिर्भर ऐसा भागवतका स्वातन्त्र्य.

ख/१. “**तस्माद् जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्नाएव न संशयः भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिः न अन्यथा भवेत्**”,“**...कृष्णएव सेव्यः ‘कृष्ण’पदेन बहिर्भजनमेव मुख्यम् इति निरूपितम्**”(-पु.प्र.म.१२, त.दी.नि.प्र.१।१३) इन वचनोंके आधारपर पुष्टिजीवदृष्ट्या, यद्यपि, प्रमुखता तो भगवद्रूपके भजनकी

ही रहती है फिरभी भगवद्दृष्ट्या नामात्मक भागवतद्वारा भी भगवान् भगवत्कथासक्तिको व्यसनदशापन्न बना कर आन्तर भगवत्स्वरूपानुभूति या भगवल्लीलानुभूति को सर्वात्मभाव पर्यन्त क्रमश: पल्लवित पुष्पित या फलित करने समर्थ हैं.

अतएव भक्तिवर्धिनी तथा निरोधलक्षण में महाप्रभुके ये विधान अनुसन्धेय बनते हैं :

१.''सेवायां वा कथायां वा यस्य आसक्ति: दृढा भवेद् यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापि इति मति: मम''.

२.''महतां कृपया यावत् कीर्तनं सुखदं तावद् आनन्दसन्दोह: कीर्त्यमान: फलाय हि... सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्द: सुदुर्लभ: हृद्गत: स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्ण: प्लावयते जनान् तावत् सर्वं परित्यज्य निरुद्धै: सर्वदा गुणा: सदानन्दपरै: ज्ञेया सच्चिदानन्दता तत:''.

(भक्तिव.९ निरो.लक्ष.१-९)

इन तीनों ही कल्पोंमें से किसीभी एक कल्पमें सन्तोषप्रद समाधान मिलता नहीं है. क्योंकि स्वयं महाप्रभुने श्रीमद्भागवतको वेदसारोद्धाररूप और इतिहाससारोद्धाररूप भी स्वीकारा ही है.

(श्रीमद्भागवतस्य वेदसारोद्धारकताया: स्वरूपम्)

सर्वप्रथम तो भागवतका प्रारम्भ भी गायत्र्यर्थक मंगलाचरणद्वारा हुवा है. वेदाध्ययनका प्रारम्भ जैसे वेदमाता गायत्रीकी दीक्षाद्वारा होता है उसी तरह भागवतके मंगलाचरणमें ही गायत्र्यर्थ उपनिबद्ध हुवा है. वेदरहस्यरूप उपनिषद्के **''न वारे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति. आत्मा वारे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो**

निदिध्यासितव्यः'' (बृह.उप.४।५।६) वचनमें जैसे परमात्मविषयक प्रेममूलक परमात्माकी श्रोतव्यता मन्तव्यता तथा निदिध्यासितव्यता जो प्रतिपादित हुयी है, वैसे ही भागवतके मूलमें भी नारायणद्वारा सृष्ट्यारम्भमें ब्रह्माजीको ऐसा उपदेश प्रदान किया जाना वर्णित है—

> **१.''मा वेदगर्भ! गाः तन्द्रीं सर्गे उद्यमम् आवह तद् मया आपादितं हि अग्रे यद् मां प्रार्थयते भवान्. भूयः त्वं तपः आतिष्ठ विद्यां चैव मदाश्रयां ताभ्याम् अन्तर्हृदि ब्रह्मन्! लोकान् द्रक्ष्यसि अपावृतान्. ततः आत्मनि लोके च भक्तियुक्तः समाहितो द्रष्टासि मां ततं ब्रह्मन्! मयि लोकान् त्वम् आत्मनः. यदातु सर्वभूतेषु दारुषु अग्निमिव स्थितम् प्रतिचक्षीत मां लोको जह्यात् तर्ह्येव कश्मलम्... अहम् आत्मा आत्मनां धातः प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि अतो मयि रतिं कुर्याद् देहादिः यत्कृते प्रियः. सर्ववेदमयेन इदम् आत्मना आत्मा आत्मयोनिना प्रजाः सृज यथापूर्वं याश्च मयि अनुशेरते''.**
>
> (भाग.पुरा.३।९।२९-४३)

यह आद्यतम उपदेश है. अर्थात् प्रत्येक जीवात्माके भीतर स्वतःसिद्ध निरुपाधिक सहज स्नेहद्वारा आत्मशुश्रुषा आत्ममीमांसा आत्मनिदिध्यासा प्रकट होनेपर सर्वत्र प्रियतम परमात्माके दर्शन होने लगते हैं. सृष्टिलीलाके प्रयोजनोपम होनेके कारण इसे जीवमात्रके अस्तित्वका भी निगूढ प्रयोजन स्वीकार लेना चाहिये. अतः देखा जा सकता है कि वेदसाररूप यह रहस्य वेदके भी प्राकट्यसे पूर्व नारायणद्वारा ब्रह्माजीको जो उपदिष्ट हुवा उसे पश्चाद् महर्षि याज्ञवल्क्यने अपनी प्रिय भार्या मैत्रेयीको दिया. यह बृहदारण्यकोपनिषद् और भागवत के वचनोंके तुलनात्मक विमर्शद्वारा स्पष्ट होता है. अतएव महर्षि वेदव्यासने उसे भागवतमें वेदसारतया संकलित किया.

(श्रीमद्भागवतस्य इतिहाससारोद्धारकतायाः स्वरूपम्)
इतिहास भी दो-तीन प्रकारसे प्रस्तुत हुवा है :

१. वेदके पूर्वोत्तर काण्डोंमें तत्तत् कर्मांगभूत स्तुति प्रशंसा निन्दा... आख्यान... शापान्त ३५ प्रकारोंके मन्त्रोंमें अथवा कर्मविधायक ब्राह्मणोंमें जो भूतार्थवाद के रूपमें इतिहास उपलब्ध होता है. उदाहरणतया ऋग्वेदसंहिताके नारायणीय पुरुषसूक्तमें (ऋक्संहि.१०।९०।१६) सृष्टिके यज्ञात्मना प्रादुर्भावका इतिवृत्त उपलब्ध होता है. यदि इस पुरुषसूक्तके 'नारायण'नामक मन्त्रद्रष्टा और भगवद्गीतोपदेष्टा नारायणावतार वासुदेव श्रीकृष्ण दो न हों तो गीताके ग्यारहवें अध्यायमें वर्णित विराट्स्वरूपप्रदर्शन नामरूपविभेदेन एकार्थप्रतिपादक स्वीकार लेने आवश्यक लगते हैं.

२. महाभारतमें एवं अष्टादश पुराणोंमें उपलब्ध होते इतिवृत्तात्मक आख्यान रूपी इतिहास. उदाहरणतया भागवतके द्वितीय स्कन्धके प्रथम और षष्ठ अध्यायोंमें इसी ऋक्संहितोक्त पुरुषसूक्त तथा भगवद्गीतोक्त विराट्स्वरूपप्रदर्शन इतिवृत्तात्मक इतिहास हमें उपलब्ध होता ही है. ऐसे अनेक निरूपणोंमें भागवतकी इतिहाससारोद्धारकता दरसायी जा सकती है.

अतः विषयदृष्ट्या विधि-मन्त्र-नामधेय-निषेध-अर्थवादरूप या ग्रन्थदृष्ट्या संहिता-ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद्रूप वेदचतुष्टयी और उसके उपोद्बलक पञ्चमवेदरूप इतिहास-पुराण दोनोंके सार-सारभूत अर्थ श्रीमद्भागवतसंहितामें संकलित हुवे हैं. अतः केवल जिज्ञास्य यही रह जाता है कि क्या ऐसी इस शब्दराशिकी भगवद्रूपनिरपेक्षतया अथवा भगवत्स्वरूपनिरपेक्षतया सर्वोद्धारकता तात्पर्यविषयीभूत है?

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यको अभिमत तादात्म्यवादावलम्बिनी शुद्धाद्वैतदृ-

ष्टिके अनुसार आत्मसृष्ट अनेकविध नाम-रूप-कर्म ब्रह्मधर्मिक ब्रह्मात्मक हैं. अत: आत्मसृष्ट नाम-रूप-कर्म ब्रह्मधर्मात्मक माने जाते हैं. धर्म-धर्मीका तादात्म्य, अर्थात् न तो एकान्तिक द्वैत और न एकान्तिक अद्वैत, प्रत्युत द्वैतसहिष्णु अद्वैत माना गया है. "**सत्त्वेव... इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयम्. तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय**" (छान्दो.उप.६।२।२-३) श्रुतिमें निरूपित तत्त्वदृष्टिसे इसे 'अद्वैतसहिष्णु द्वैत' कह सकते हैं परन्तु तत्त्वावमर्शदृष्टिसे इसे 'द्वैतसहिष्णु अद्वैत' कहना भी उतना ही उचित है. यह शांकर केवलाद्वैतकी अवधारणासे इस अर्थमें पृथक् है कि उनका अद्वैत द्वैतात्यन्ताभावोपलक्षित अभेदरूप माना गया है. वाल्लभ अद्वैत, जबकि, "एकत्वात्यन्ताभावरूप द्वैतविलक्षणत्वे सति द्वित्वात्यन्ताभावरूप अद्वैतविलक्षणत्वे सति द्वैताद्वैतविलक्षण"रूप स्वीकारा गया है. ठीक उसी तरह जैसे "सद्विलक्षणत्वे सति असद्विलक्षणत्वे सति सदसद्विलक्षणत्वम्"-रूप शांकर वेदान्तमें मिथ्यात्व स्वीकारा गया है. यह तदनन्यत्वाधिकरणकी भामतीमें श्रीवाचस्पति मिश्रके "**न खलु अनन्यत्वम् इति अभेदं ब्रूम: किन्तु भेदं व्यासेधाम:**" (ब्र.सू.शां.भा.२।१।१४) इस स्पष्टीकरणके आधारपर तद्वैपरीत्येन हम समझ सकते हैं कि भेदाभावरूप अनन्यता ब्रह्मकी वाल्लभ वेदान्तको अभिप्रेत नहीं है. प्रत्युत सर्वविध नाम-रूप-कर्मोंके द्वैतोंमें भावरूप ब्रह्मतादात्म्य या ब्रह्मानन्यत्वरूप अद्वैत वाल्लभ वेदान्तको अभिमत है.

अत: अवतारकालमें भगवद्रूपकी कर्म-ज्ञान-भक्त्यादि शास्त्रीय साधननिरपेक्ष स्वतन्त्र उद्धारकता जैसे स्वीकारी गयी, वैसे ही अनवतारकालमें भगवद्रूप तथा भगवत्कर्म से निरपेक्ष स्वतन्त्र उद्धारकता भगवन्नामकी मान्य रखी जा रही है. एतावता भगवत्स्वरूपनिरपेक्ष उसे मानी नहीं जा सकती. 'भाव'पद वस्तुकी धर्मरूपा सत्ताका बोधक होता है परन्तु 'स्वभाव'पद वस्तुकी धर्मिरूपा सत्ताका बोधक हो जाता है. वैसे ही 'रूप'पदको धर्मवाचक समझना चाहिये जबकि 'स्वरूप'पदको धर्मिवाचक. अत: भागवतपुराण भगवद्रूपनिरपेक्ष सर्वोद्धारक तो हो सकता है परन्तु

स्वरूपनिरपेक्ष नहीं. भागवतार्थनिबन्धोक्त नाम-ध्यान-अर्चनादिकी भगवदनुग्रहके अवान्तरव्यापाररूप होनेके अर्थात् स्वातन्त्र्येण उद्धारक न होनेके विधान और यहां कहे जा रहे नामात्मक भागवतके इतरनिरपेक्ष स्वातन्त्र्येण सर्वोद्धारक होनेके निरूपणोंमें कोई विरोधाभास खोजना आवश्यक नहीं.

ब्रह्ममें आत्मसृष्ट नाम-रूप-कर्म सृष्टिकालमें अनेकवद्भावापन्न हो जाते हैं और आत्मैकरमणरूप महाप्रलयमें ये ही नाम-रूप-कर्म पुनः एकवद्भावापन्न हो जाते हैं, जैसा कि मोक्षावस्थाके वर्णनमें "**...कर्माणि विज्ञानमयः च आत्मा परे अव्यये सर्वे एकीभवन्ति. यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय**" (मुण्ड.उप.३।२।७-८) कहा गया है. यह अनेकवद्भावापन्नता, अतएव, किसीको मायिक मिथ्या लग सकती है. परन्तु समानयोगक्षेमन्यायेन, "**कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः—अभूततद्भावे इति वाच्यम्**" (पाणि.व्या.सू.वार्ति.५।४।५०) सूत्र-वार्तिकद्वारा विहित जो अनेकवद्भावापन्न था उसका एकवद्भावापन्न होना अपारमार्थिक यदि न हो तो एकका अनेकवद्भावापन्न होना अपारमार्थिक कैसे हो सकता है?

वाल्लभ वेदान्तमें, परन्तु, यह न तो ब्रह्मके मूलस्वभावानुपाती है और न ही मिथ्याभ्रमानुभासित भी. यह तो एकमेव अद्वितीय परब्रह्मके सत्यसंकल्प और सर्वभवनसामर्थ्य के वश ही आविर्भाव-तिरोभावकी प्रक्रियाद्वारा प्रकट होती अनेकभावापन्नता मानी गयी है. अतएव श्रुतिमें कहा गया है "**तद् एतद् अनृतम् उभयतः सत्येन परिगृहीतं सत्यभूयमेव भवति**", "**सत्यं च अनृतं च सत्यम् अभवत्**" (बृह.उप.५।५।१, तैत्ति.उप.२।५). यही तैत्तिरीयोपनिषत् तथा भागवत के अधोनिर्दिष्ट वचनोंमे भी निरूपित हुवा है :

१."सो अकामयत 'बहु स्यां प्रजायेय' इति... इदं सर्वम् असृजत. यद् इदं किञ्च तत् सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशत्.

तद् अनुप्रविश्य सत् च त्यत् च अभवद्, निरुक्तं च अनिरुक्तं च, निलयनं च अनिलयनं च विज्ञानं च अविज्ञानं च, सत्यं च अनृतं च सत्यम् अभवत्. यद् इदं किञ्च तत् सत्यम् इति आचक्षते", "आनन्दाद्ध्येव खलु इमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्ति अभिसंविशन्ति".

२."त्वयि अग्र आसीत् त्वयि मध्य आसीत् त्वयि अन्त आसीद् इदम् आत्मतन्त्रे त्वम् आदिरन्तो जगतो अस्य मध्ये घटस्य मृत्स्नेव परः परस्मात्".

(१.तैत्ति.उप.२।६, ३।६ २.भाग.पुरा.८।६।१०).

इन दोनों वचनोंके अभिप्रेतार्थपर मनोन्यास करने भरसे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि "आद्यन्तयोः यद् अस्ति तदेव मध्ये" न्यायेन जडजीवेश्वरात्मिका जो द्वैतसृष्टि है उसके आदि-मध्य-अन्तमें तीनोंही कालमें आनन्दात्मक ब्रह्म विद्यमान होनेके कारण सृष्टिभी आनन्दात्मिका लीलारूपा ही है. यहां भाष्यमें श्रीशंकराचार्यका यह विधान मननीय हो जाता है "**यस्मात् सत्-त्यदादिकं मूर्तामूर्तधर्मजातं यत् किञ्च इदं सर्वम् अविशिष्टं विकारजातम् एकमेव 'सच्'छब्दवाच्यम् अभवत्, तद्व्यतिरेकेण अभावाद् नामरूपविकारजातस्य तस्मात् तद् ब्रह्म अभवत्**" (तैत्ति.उ.भा.२।६) अतः आद्यन्तमें मृषापरिगृहीत यदि मृषा माना जाता हो तो आद्यन्तमें ब्रह्मत्वेन परिगृहीत जड़जीवेश्वरात्मिका सृष्टि भी ब्रह्मात्मिका ही मानी जानी चाहिये. इन तीन जड जीव और ईश्वर में केवल जीवको "ब्रह्मैव नापरः" कहना श्रुत्येकगम्य ब्रह्म और उसके ब्रह्माद्वैत को प्रत्यक्षबाधित माननेके बहाने इन्द्रियगम्य या तर्कगम्य बना देनेकी धांधल लगती है. इसे एक अन्य श्रुतिवचन "**द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं च अमूर्तं च मर्त्यं च अमृतं च स्थितं च यत् च सत् च त्यत् च... अथात आदेशो 'न' इति 'न'इति. नहि एतस्माद् इति 'न'इति अन्यत् परम् अस्ति**" (बृह.उप.२।३।१-६)से भी संवादित करते

हैं तो सृष्टिकालमें प्रकट हुवे ब्रह्में समानाधिकरण इन विरुद्धधर्मोके इतरेतरमें तिरोधानवश तथा इतरेतरविरुद्धताके वश प्रतीत होते द्वैतकी तरह सृष्टिके आविर्भावसे पूर्व और पश्चाद् एकवद्भावापन्नता भी अर्थात् सिद्ध हो जाती है. क्योंकि उपनिषद्में अतिशय स्फुट शब्दोंमें **"सत्त्वेव, सौम्य! इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयं तद् ऐक्षत 'बहु स्यां प्रजायेय' इति"** (छान्दो.उप.६।२।२) ऐसा कहा गया है. यहां 'एव'कार द्वारा व्यावर्त्य असत्का और 'इदं'कारको उद्देश्य बना कर प्राकट्यसे पूर्व इदंकारास्पदके 'एकमेवाद्वितीय' होनेका विधान आदि और मध्य उभयत्र सद् होनेकी गवाही देता है. अतः परिदृश्यमान नाम-रूप-कर्मोंकी इतरेतरविरुद्धतावश प्रतीत होती अनेकविधता सृष्टिके प्रादुर्भूत होनेसे पहले एक अव्यक्त सदेकात्मता ही थी और अन्तमें भी सदेकात्मना अवस्थित होनेवाली हो तो सदेकात्मिका ही अनेकता मानी जानी चाहिये.

यह तो सृष्टिकालिकी एकता-अनेकताकी कथा हुयी, जहां नाम-रूप-कर्मोंकी परस्पर त्रिविधता और ब्रह्मत्वेन उनकी एकविधता के सिद्धान्तमें अवभासित होते भेदका यथार्थ स्वरूपावगम करना हो तो वह भी एतावता सुबोध्य हो जाता है. अन्यथा 'नेति-नेति' विधानको ऐसे इतरेतरविरुद्ध सत्-त्यद् निरुक्तानिरुक्त निलयनानिलय विज्ञानाविज्ञान सत्यानृत मूर्तामूर्त मर्त्यामृत स्थितयत् प्रकटाप्रकट के निखिल द्वैतोंका निरासक मान लेनेकी धांधल हो ही जाती है. ब्रह्मसूत्रकारने, परन्तु, **"प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः"** (ब्र.सू.३।२।२२) सूत्रमें इन परस्परविरोधी गुणोंमें से किसी भी एक कल्पमें ब्रह्मको परिच्छिन्न न बनानेकी बात सिद्धान्तित की है. अतः इस तरहके इतरेतरविरोधी गुणधर्मोंको कहीं-कभी आविर्भूत तो कहीं-कभी तिरोहित करनेकी ब्रह्मकी अचिन्त्य असंख्य शक्तिओंकी एकाधिकरणता तो स्वीकारनी ही पड़ती है. जैसा कि कहा गया है—

"पुरः चक्रे द्विपदः पुरः चक्रे चतुष्पदः पुरः स पक्षी

भूत्वा पुरः पुरुषः आविशत्. सवा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयो भवति न एनेन किञ्चन अनावृतं न एनेन किञ्चन असंवृतं... रूपं-रूपं प्रतिरूपो बभूव तद् अस्य रूपं प्रतिचक्षणाय. इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते. युक्ताः हि अस्य हरयः शता दश इति. अयं वै हरयो अयं वै दश च सहस्राणि बहूनि च अनन्तानि च. तदेतद् ब्रह्म अपूर्वम् अनपरम् अनन्तरम् अबाह्यम् अयम् आत्मा ब्रह्म सर्वानुभूः.''

(बृह.उप.२।१९।१८-१९).

यह नाम-रूप-कर्मात्मिका सृष्टि और सृष्टिकर्ता-सृष्ट्युपादानरूप ब्रह्मके बीच तादात्म्यके बिना शक्य ही नहीं. यहां सत्यसंकल्पात्मिका अनन्तशक्तिवशात् सर्वरूपप्राकट्यकर्तृता तथा सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाके वशात् सर्वरूपोपादानता अर्थात् सर्वरूपता के साथ-साथ ब्रह्मको पूर्वापरभाव या आन्तरबाह्यभाव से रहित ही नहीं अपितु सर्वानुभू भी स्वीकारा गया है. सर्वानुभूतिनिरासक या सर्वानुभूतिबाधक नहीं. अतः सिद्ध हो जाता है कि सृष्ट्यन्तर्गत प्रकट नाम-रूप-कर्मोंकी तरह सृष्ट्याविर्भावक नाम-रूप-कर्मात्मक स्वरूप भी ब्रह्मका ही ''**उभयव्यपदेशात्तु अहिकुण्डलवत्, प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात्, पुरुषविद्यायामिव च इतरेषाम् अनाम्नानात्**'' (ब्र.सू.३।२।२७-२८. ३।३।२४) सूत्रोंद्वारा निर्धारित किया गया है.

अतः सृष्टिमें भगवान्के नामनिरपेक्ष रूपकी उद्धारकता; अथवा रूपनिरपेक्ष नामकी उद्धारकता; अथवा उभयनिरपेक्ष शास्त्रोक्त कर्मज्ञानभक्त्यादिरूप जीवात्मानुष्ठित साधनोंकी उद्धारकता, ब्रह्म परमात्मा भगवान् के स्वरूपानुग्रहसे निरपेक्ष नहीं हो सकती.

(श्रुतौ उपनीतानुष्ठितानां श्रवण-मनन-निदिध्यासनानां ब्रह्मसाक्षात्कारा-धिकारसम्पादकता)

जैसा कि कहा जा चुका है कि वेदाध्ययनका अधिकार उपनयन

संस्कारवश आता है. अर्थापत्त्या वेदके पूर्वकाण्डगत कर्मविधायक वचनोंमें तथा उत्तरकाण्डगत ब्रह्मसाक्षात्कारौपयिक वचनोंके श्रवणादिमें भी त्रैवर्णिकोंको ही अधिकारी माना गया है. अत: **"सर्वं खलु इदं ब्रह्म"**, **"स य एषो अणिमा ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं तत् सत्यम्"** (छान्दो,उप.३।१४।१, ६।८।७) श्रौत तत्त्वका साक्षात्कार श्रवण-मनन-निदिध्यासनौपयिकसमाधि द्वारा शक्य बनता है.

(सूत्रेषु अधीतवेदवेदांगादिशास्त्राणां कृते श्रुत्यर्थनिर्णायकसन्देहनिरासकता)

वेद-वेदान्तके नि:सन्दिग्ध तात्पर्यके उपदेशार्थ ब्रह्मसूत्र प्रकट हुवे. जिनमें प्रतिपादित किया गया कि स्वयंप्रकाशरूप ब्रह्मके तत्त्वज्ञानार्थ स्वयं ब्रह्मातिरिक्त कोई भी प्रमाण नहीं बन पाता. ब्रह्मातिरिक्त कोई भी प्रमेय वेद-वेदान्तोंकी श्रुतियोंका प्रमेय भी नहीं हो सकता है. ब्रह्मकी प्राप्तिके हेतु परब्रह्म परमात्मा भगवान्के अनुग्रहरूप साधनके अवान्तरव्यापारसे अतिरिक्त कोई साधन भी नहीं हो सकता. और अन्तमें मोक्षके कोई भी प्रकार, नामत: सालोक्य सार्ष्टि सामीप्य सारूप्य सायुज्य या एकत्व रूपी, अब्राह्मिक हो नहीं सकते.

इन प्रमाण प्रमेय साधन या फल के बारेमें विरुद्ध मतोंके कारण संशय जो भी मनमें उभरते हों उनका वारण कर सभी श्रुतिवचनोंका विवक्षित तात्पर्य केवल ब्रह्म परमात्मा भगवान् ही हैं ऐसा समन्वय **"क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तद् ज्ञानं मतं मम,.. ऋषिभि: बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधै: पृथग् ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भि: विनिश्चितै:, वेदैश्च सर्वै: अहमेव वेद्यो"**,**"मां विधत्ते अभिधत्ते मां विकल्प्य अपोह्यते अहम् एतावान् सर्ववेदार्थ: शब्दे आस्थाय मां भिदा"** (भग.गीता.१३।२-४, १५।१५, भाग.पुरा.११।२१।४३) वचनोंमें प्रतिपादित हुवा है. यह गीता-भागवतोक्त प्रमुखतम प्रयोजन ब्रह्मसूत्रका है. अतएव इन ब्रह्मसूत्रोंके अधिकरणोंमें विषय संशय पूर्वपक्ष उत्तरपक्ष तथा संगति रूपी पांच अधिकरणांगों

द्वारा पञ्चधा विमर्श होता है. स्पष्टतया विषय श्रुतिवचन बनते हैं. अन्यान्य मतोंके ब्रह्मके प्रतिकल्पतया प्रस्तुत होनेपर स्वाभाविकतया विकल्पात्मक संशय हो जाता है. इसी तरह अपोह्य तो पूर्वपक्ष ही होता है. उत्तरपक्षमें एकमेव-अद्वितीय ब्रह्म ही सर्ववचनोंद्वारा वाच्यतया निर्धारित होता है. यह प्रमाण-प्रमेय-साधन-फलोंके परस्पर समन्वित अर्थकी संगति मिल जाती है. साध्यार्थबोधक श्रुतिवचनोंसे जैसे ब्रह्मका विधान होता है, वैसे ही सिद्धार्थबोधक श्रुतिवचनोंद्वारा अभिधान भी ब्रह्मका ही अभिप्रेत है. न केवल इतना प्रत्युत ब्रह्मके स्थानपर विकल्पपूर्वक अपोहनीय तत्त्वोंके वाचक ''‘न’इति-‘न’इति''सदृश पदोंद्वारा अपोह्यार्थ भी ब्रह्म ही होता है. इस विषयमें महाप्रभुके ये वचन यहां अनुसन्धेय बन जाते हैं :

> **''प्रतिपुरुषं प्रतिविषयं शास्त्राणि प्रसृतानि तानि न सर्वथा बाधितविषयाणि. परम्परोपयोगात्. भगवाँस्तैः सर्वैरेव सर्वभूतेषु लक्षितः लक्षणया ज्ञापितः. नैयायिकैः कर्तृत्वेन, मीमांसकैः क्रियात्वेन, वेदान्तैः आत्मत्वेन, सांख्यादिभिः करणत्वेन; अन्यैश्च तद्भेदैः ज्ञानत्वेन, ज्ञातृत्वेन च, अन्यैः ज्ञानाधिष्ठानत्वेन च. सर्वैरेव भगवान् एकदेशे लक्षितो अन्धहस्तिवत्, अनुभवेन युक्त्या च स्वात्मना अनुभवेन दृश्यैः द्रष्टा बुद्ध्यादिभिश्च लक्षणैः असाधरणचिह्नैः जीवेषु प्रवेशम् अलभमानैः क्रियादिभिः. अतएव तर्कसहितैः परोक्षज्ञानजनकैः लक्षितः इति सम्बन्धः. लक्षणया ज्ञापितः''.**
>
> (भाग.सुबो.२।२।३५)

यहां अन्यान्य मतोंमें अभिमत तत्त्वोंके वाचक पदोंसे भगवान् लक्षणाद्वारा अभिज्ञापित होते हैं. ऐसे प्रतिपादनद्वारा वेदान्तसूत्रके प्रथम समन्वय / प्रमाण अध्यायमें अभिधया जैसे बोधगम्य बनते हैं. तो द्वितीय प्रमेय / अविरोधके प्रतिपादक अध्यायमें इतरमताभिप्रेत निरसनीय या अपोह्य

ऐसे तत्त्वोंके वाचक पदोंके द्वारा भी लक्षणावृत्तिसे भगवान् ही ज्ञापित होते हैं —यह सिद्धान्तित हो रहा है. सृष्टिलीला और अवतारलीला के प्रभेदवश मर्यादाके अनुसार शास्त्रविहित जीवात्मानुष्ठित साधनोंसे उद्धारकी तरह कभी शास्त्राविहित या शास्त्रनिषिद्ध साधनोंको भी सर्वसमर्थ भगवान् अपने अनुग्रहका अवान्तरव्यापार बना कर जीवात्माके उद्धारकी अपनी स्वतन्त्रता खो नहीं देते हैं. इसी तरह यथानुग्रह फलप्रदान करनेकी स्वयंकी निरंकुश स्वतन्त्रता भी अन्तिम फलाध्यायमें निरूपणीय है. अत: "**फलम् अत: उपपत्ते:**", "**प्रदानवदेव तद् उक्तम्**" (ब्र.सू.३।२।३८,३।-३।४३) सूत्रोंके आधारपर भाष्यकार महाप्रभुके प्रस्तुत विधान अवलोकनीय बन जाते हैं १."**फलत: साधनेभ्य: च प्रमेयात् च प्रमाणतो विचारेण अबृहत् तत् चेत् को अन्य: साधयितुं क्षम:?**" २."**आपाततस्तु सर्वेषाम् उपायत्वं मया उदितं विष्णो: कृपाविशिष्टानां तत्फलं नान्यथा भवेत्**" (१.अणुभा.३।२।३१, २.त.दी.नि.२।३०७). अत: श्रौत अधिकारिता यहां भी अनुवृत्त मानी जाती है. भागवतपुराण इसी सर्वोद्धारसामर्थ्यकी भगवच्चरित्रात्मिका लीलाका कीर्तन करता है. श्रीमद्भागवतोपदिष्ट श्रीकृष्णावतारलीलामें, परन्तु, सुबोधिनीमें महाप्रभु यह सुस्पष्ट कहते हैं "**वैदिकप्रकारेण चतुष्टयम् उक्त्वा स्वसिद्धान्तानुसारेण चतुष्टयम् आह... चतुर्भि:. भगवानेव प्रमाणादिचतुष्टयं : भगवत्साक्षात्कार: साक्षात्कृतो वा भगवान् प्रमाणं... दर्शनं प्रमाणम् आविर्भाव: प्रमेयम् इति... सएव साधनम्... प्रसंगात् तच्चरित्रं फलरूपम्...**" (भाग.सुबो.१०।२।३८-४१). अतएव प्रथमस्कन्धीय भीष्मस्तुतिमें यह कहा गया है कि "**तच्छ्रीयेक्षणीये भगवति रति: अस्तु मे मुमुर्षो यम् इह निरीक्ष्य हता: गता: सरूपम्**" (भाग.पुरा.१।९।३९). कुरुक्षेत्रके युद्धमें सारथि श्रीकृष्णकी अर्जुनके रथको चलानेकी छटापर आहत मरणासन्न सैनिकोंमें से जिसकी भी दृष्टि आकस्मिक पड़ गयी तो वह मुक्त हो गया! यह श्रीकृष्णकी, शोभादिदृक्षा भी नहीं केवल शोभादर्शनाधिकारिता, ब्रह्मसूत्रोंद्वारा श्रुतिओंके नि:संदिग्धार्थकी जिज्ञासाधिकारितासे निश्चय ही अतिविलक्षण है.

(भगवदवतारलीलासृष्टौ भक्तानां यथाधिकारं भगवल्लीलानुभाव:)

अतएव भागवतमें कहा गया है कि **"गोप्य: कामाद्, भयात् कंसो, द्वेषात् चैद्यादयो नृपा:, सम्बन्धाद् वृष्णय:, स्नेहाद् यूयं, भक्त्या वयं विभो:... तस्मात् केनापि उपायेन मन: कृष्णे निवेशयेत्"** (भाग.पुरा.७।१।३०-३१). यहां जो उपायावलम्बनप्रेरणा प्रतीत हो रही है वह उपेयरूप अवतीर्ण भगवान्के पूर्वसिद्ध साक्षात्कारवश ही है. महाप्रभु एतदर्थ स्पष्टीकरण देते हैं :

> **"मल्लानामशनिर्नृणां नरवर: स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान् गोपानां स्वजनो असतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रो: शिशु: मृत्यु: भोजपते: विराड् अविदुषां तत्त्वं परं योगिनां वृष्णीनां परदेवता इति विदितो रंगंगत: साग्रज: : प्रमेयेण निरोधो अत्र कर्तव्यो हरिणा भृशं, लोकाश्च दशधा भिन्ना: ततो दशविधो अभवत्. यस्य भावो यथा तस्य अनुसरणे कृते निरोधो जायते सम्यग् अन्यथा बन्धनं भवेत्. गुणा: नवविधा: प्रोक्ता: तदभाव: तथा अपर:. शृंगारादिरसाश्चैव तेषामेव निरूपका:. राजसा: त्रिविधा: पूर्वं सात्त्विकाश्च तत: परा:. आध्यात्मिका: तथा पूर्वं दैविकास्तु तत: परं, रौद्रो अद्भुतश्च शृंगारो हास्यो वीरो दया तथा, भयानकोऽपि बीभत्स: शान्तो भक्तिरस: तथा एतान् दर्शयितुं भावान् हरिरेव बभौ महान्."**
>
> (सुबो.१०।४०।१७).

अत: देखा जा सकता है कि भगवल्लीलासामयिक जनोंकी प्रापञ्चिक विषयासक्ति शिथिल कर स्वयंमें केन्द्रित करके उन्हें भक्ति या मुक्ति प्रदानार्थ भगवान्ने तत्तद् भावोंके आलम्बनविभावात्मना अपना रूप पहले प्रकट किया. बादमें काम भय द्वेष सम्बन्ध स्नेह या भक्ति रूपी विविध भावोंके साथ लीलासामयिक जन भगवान्में निरुद्ध हो पाये. प्रसंगवशात् यह खुलासा कर देना भी आवश्यक लगता है कि सप्तमस्कन्धीय वचनमें वृष्णिओंको सम्बन्धभावसे, जबकि यहां

दशमस्कन्धीय वचनमें भक्तिभाव से भगवान्‌के साथ जुड़नेकी कथामें परस्पर विरोधाभास लग रहा है. उसका कारण यही है कि नारदजीको स्वयंके भक्तिभावके साथ भगवान्‌के साथ जुड़े होनेके भावके अनुरूप वृष्णिओंका सम्बन्धभाव लगना स्वाभाविक है. क्योंकि इन सभी उदाहरणोंमें प्राथमिक रूपेण तो जिसके जैसे भाव वैसा स्वरूप उसके प्रति प्रकट कर आकर्षित किया गया है. पर अन्ततः इन सारे भावोंका भक्ति या मुक्ति में उदात्तीकरण भी भगवान्‌ने किया. यह कथा जीवात्माओंके अपने स्वभावानुरूप मनोभावोंके साथ भगवान्‌से जुड़नेकी है. परन्तु अनवतारकालमें तो भगवान्‌की दशविधभक्ति या विकल्पानुकल्पतया शरणागति से ही भगवान्‌के साथ जुड़ पाना शक्य है. और एतदर्थ भगवान्‌के चरित्रके महार्णवमें भागवतपोतारूढ़ हो कर ही पार पाया जा सकता है. यह सन्देहरहित विभिन्न उपायोंके अधिकारकी कथा है.

(निवृत्तसन्देहानां भगवल्लीलानुभावकभगवद्भक्तिप्रपत्त्यधिकारिता)

औपनिषद ब्रह्मके वासुदेव श्रीकृष्णतया अवतीर्ण होनेपर अवतारकालमें लीलादर्शन लीलाकीर्तन और लीलास्मरण उसके परमानन्दात्मक स्वरूपके यादृच्छिक दृष्टिगोचर हो जानेपर भी शक्य बन जाता है. ऐसा परन्तु अनवतारकालमें शक्य न होनेपर भी तन्नामात्मक श्रीमद्भागवतपुराणके श्रवण-कीर्तन-स्मरणसे भगवत्स्वरूपानन्दका जो रसात्मक अनुभव होता है वही पूर्वोक्त “**तस्माद् भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्च इच्छता अभयम्**” वचनमें विवक्षित है. अतएव भगवान् तो सभी भूतोंके समानरूपेण सुहृद् तथा प्रिय होते हैं फिरभी इन्द्रका पक्ष ले कर दैत्योंके वधार्थ क्यों-कैसे समुद्यत होते हैं? महाराजा परीक्षितके ऐसे सन्देहके समधानार्थ श्रीशुकदेवजीने जो कहा वह मननीय है. भगवान् जो साक्षाद् निःश्रेयसात्मा हैं, उन्हें सुरगणोंसे क्या लाभ मिलेगा? अथवा गुणातीत होनेके कारण असुरगणोंसे क्या विद्वेष या उद्वेग हो सकता है उन्हें? अद्भुतकर्मा भगवान्‌के चरित्रका यही तो माहात्म्य है कि जिसे सुननेके कारण जीवात्माके भीतर भक्तिभाव

वृद्धिंगामी हो पाता है. क्योंकि वैसे तो अज अव्यक्त त्रिगुणातीत भगवान् अपनी सदंशात्मिका त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके गुणोंसे पर हैं, फिरभी सृष्टि प्रकट करते समय विविध पुरोंके निर्माणमें रजोगुणको अपनाते हैं, उन पुरोंमें रमणार्थ सत्त्वगुणोंको अपनाते हैं; और, प्रलयकालमें तमोगुणको अपना कर क्रीड़ा करते हैं. ऐसी सृष्टिमें उत्पन्न होनेवाले भूतोंके भीतर अहन्ता-ममताके कारण वैषम्यबुद्धि प्रकट होती ही है परन्तु जहांतक भगवान्का प्रश्न है तो वे तो अखिलात्मा हैं. उनके स्वाभाविक कैवल्यके कारण लीलामें वैषम्यका अंगीकार भी लीलात्मक ही प्रकट होता है. अतएव कहा जाता है कि **"तस्माद् गोविन्दमाहात्म्यम् आनन्दरससुन्दरम् शृणुयात् कीर्तयेद् नित्यं स कृतार्थो न संशयः... तस्माद् वैरानुबन्धेन निर्वैरेण भयेन वा स्नेहात् कामेन वा युञ्ज्यात् कथञ्चिद् न ईक्षते पृथक्"** (भाग.पुरा.७।१।१-२५). यह अवतारकालिक मुक्त्यधिकारिता साधनमार्गीय या उपायात्मिका न हो कर उपेयात्मा भगवान्की लीलाकालमें प्रकटी प्रमेयबलमूलक अन्यथाकर्तुंसामर्थ्य है. भगवान्की उद्दिधीर्षा और वैसे सामर्थ्यवश अनधिकारीकी भी अधिकारिवत् स्वीकृति है. ब्रह्मसूत्रमें इसे अनुष्ठेय सिद्धान्ततया नही प्रत्युत भगवत्सामर्थ्यतया **"वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथाहि दर्शयति", "प्रदानवदेव तदुक्तम्"** (ब्र.सू.२।१।३४,३।३-।४३) सूत्रोंमें प्रतिपादित किया गया है. अतएव महर्षि वेदव्यासद्वारा श्रीमद्भागवतप्रणयनके प्रसंगमें वर्णित श्लोकोंमें स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है **"भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहिते अमले अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायां च तदुपाश्रयां यया सम्मोहितो जीवः आत्मानं त्रिगुणात्मकं परोऽपि मनुते अनर्थं तत्कृतं च अभिपद्यते. अनर्थोपशमं साक्षाद् भक्तियोगम् अधोक्षजे लोकस्य आजनतो विद्वान् चक्रे सात्त्वतसंहितां यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपुरूषे भक्तिः उत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा"** (भाग.पुरा.१।७।३-७).

(तत्र श्रीमद्भागवतप्रथमस्कन्धनिरूपिताधिकारत्रैविध्यम्)

श्रीमद्भागवतके प्रथम स्कन्धमें स्वयं भागवतके वक्ता और श्रोता

के त्रिविध अधिकारोंका निरूपण महाप्रभुने स्वीकारा है. तदनुसार प्रथम स्कन्धमें तीन प्रकरणोंको समायोजित किया गया है. अतः इसे गोष्ठीशाल रामचन्द्रात्मज श्रीघनश्याम कृत विभागसूचिकाके अनुसार एक बार देख लेना उपयुक्त होगा. भागवतप्रथमस्कन्धमें अधिकार तीन तरहके निरूपित हुवे हैं : उत्तम मध्यम और आदिम के प्रभेदवश.

आदिमाधिकार‘‘ तदनुसार प्रस्तुत स्कन्धके प्रथम द्वितीय और तृतीय अध्यायोंमें सर्वप्रथम आदिम अधिकारका निरूपण अभिलषित है. इसके अन्तर्गत अविरक्त श्रोताके आदिम अधिकारके स्वरूपघटक तीन माने गये हैं. यथा अविरक्त श्रोताका : १.जिज्ञासु होना २.अमत्सरी होना ३.भगवल्लीला श्रवणार्थ आदरभावयुक्त होना. इसी तरह भगवल्लीलाके अविरक्त वक्ताके भी आदिमाधिकारतया — १.श्रुतभागवत होना २.चतुर वक्ता होना ३.रहस्याभिज्ञ होना स्वीकारा गया है.

मध्यमाधिकार‘‘चतुर्थ पञ्चम और षष्ठ अध्यायोंमें क्रमशः श्रोता-वक्ताके दोनोंके ही मध्यमाधिकारके स्वरूपघटक : १.भग-वत्कृपाभाजन होना २.भगवदीय होना ३.भगवदेकतान होना अभिमत हैं.

उत्तमाधिकार‘‘सातवें अध्यायसे शुरु करके उन्नीसवें तक यों बारह अध्यायोंमें उत्तमाधिकार निरूपित हुवा है. पुरुषको द्वादशांग माना जाता होनेके कारण तथा श्रुति-स्मृतिप्रतिपादित ब्रह्म-परमात्मा ही श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌के रूपमें प्रतिपादनीय होनेके कारण ऐसे भगवानके द्वादशांग पुरुषसे आधिक्यसूचनार्थ त्रयोदशात्मक होनेके कारण तेरह अध्यायोंमें निरूपण अभिप्रेत है. ऐसे उन पुरुषोत्तममें एकतानतया प्रवण होनेपर ही तदितरत्र दृढ़ वैराग्यशीलता प्रकट हो पाती है —ऐसा ध्वनित करनेको उत्तमाधिकारिता तेरह अध्यायोंमें वर्णित हुयी है.

महाप्रभु कहते हैं कि भगवज्ज्ञानावतार वेदव्यासजीके मनमें यद्यपि किसी तरहका मोह उत्पन्न हो नहीं सकता परन्तु स्वयं भगवान् वासुदेव श्रीकृष्णने व्यासजीके मनमें मोह उत्पन्न किया. महर्षि वेदव्यासवर्णित वेदादि शास्त्रोंके आधारपर प्रवर्तित प्रवृत्तिमार्गीय और निवृत्तिमार्गीय जो धर्म हैं उनका अवतीर्ण भगवान्की लीलामें प्रदर्शित निःसाधन जीवोंके उद्धारकी व्याख्याके साथ सामञ्जस्य कैसे बैठा पायेंगें? क्योंकि लीला तो अद्भुत है! —

> **"तस्माद् वैरानुबन्धेन निर्वैरेण भयेन वा स्नेहात् कामेन वा युञ्ज्यात् कथञ्चिद् नेक्षते पृथक्... एवं कृष्णे भगवति मायामनुजे ईश्वरे वैरेण पूतपाप्मानः तम् आपुः अनुचिन्तया. कामाद् द्वेषाद् भयात् स्नेहाद् यथा भक्त्या ईश्वरे मनः, आवेश्य तदघं हित्वा बहवः तद्गतिं गताः, गोप्यः कामाद् भयात् कंसो द्वेषात् चैद्यादयो नृपाः सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विभोः."**
>
> (भाग.पुरा.७।१।२५-३०)

जीवात्माके उद्धारकी यह अभूतपूर्व नूतन रीति दरसानेवाली लीलाके कारण लोकवेदातीत भगवत्कृपाका एक विलक्षण मार्ग प्रकट हुवा. इसकी उपपत्ति वेदादि शास्त्रोंके प्रवृत्तिमार्गीय या निवृत्तिमार्गीय धर्मोंके आधारपर मिल नहीं सकती. जीवात्माओंके उद्धारकी इस अद्भुत रीतिपर ध्यान न जा पाया. अतः देवर्षि नारदके उपदेशके बावजूद भलीभांति आत्मप्रत्यय प्रकट न हो पाया. अतः महर्षि बादरायण वेदव्यासकी समाधिमें भगवान्ने स्वयं यही अनुभव उन्हें प्रदान किया. पहले देवर्षि नारदको भी यही बताया गया था कि ब्रह्मका साकार होना अज्ञानमूलक या उपासनार्थ की जाती कल्पनामूलक मानना अनिवार्य नहीं. क्योंकि **"अह्न्यापृतार्तकरणाः निशि निःशयानाः नानामनोरथधिया क्षणभग्ननिद्राः दैवाहतार्थरचनाः ऋषयोऽपि देव युष्मत्प्रसंगविमुखाः इह संसरन्ति. त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज आस्से**

श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुसां यद्यद्धिया त उरुगाय विभायन्ति तत्तद् वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय" (भाग.पुरा.३।९।१०-११) इन वचनोंके आधारपर देखा जा सकता है कि मन्त्रद्रष्टा ऋषिओंको भी भगवद्‌विमुख होनेपर सांसारिक बन्धनमें बंधना पड़ता है और विभिन्न भावयोगोंसे भगवान्‌को परिभावित करनेपर भावानुसारिणी आकृति स्वयं भगवान् अपनी प्रकट करते हैं सदनुग्रहार्थ. अतः ऐसी भक्तभावानुसारिणी भगवदाकृति शुद्ध सच्चिदानन्दात्मिका ही होती है, मायिक अज्ञानकल्पित मिथ्या नहीं. यह भगवान्‌की सर्वभवनसामर्थ्यरूपा उत्तम प्रज्ञाशक्ति है. परन्तु अज्ञ जीवात्माके भीतर इसका भलीभांति आकलन न होने पानेके कारण व्यामोह पैदा हो जाना स्वाभाविक ही है. यह व्यामोह भगवद्भक्ति होनेपर ही निवृत्त हो पाता है अन्यथा नहीं. इस विषयमें, परन्तु, आश्वस्त न हो पानेके कारण जब समाधि लगायी तब अन्ततः भगवान्‌ने भी ऐसा ही अनुभव महर्षि वेदव्यासको प्रदान किया. और तब श्रीमद्भागवतपुराणसंहिता प्रकट की गयी ऐसी अद्भुत लीलाके प्रतिपादनार्थ. इसका बोध, परन्तु, निज अधिकारके अनुसार होता है, अनवतारकालमें. क्योंकि अनवतारकालकी व्यवस्था स्वयं भागवतमें इस तरह दरसायी गयी है :

> **१."मुनिः विवक्षुः भगवद्गुणानां सखापि ते भारतमाह कृष्णो यस्मिन् नृणां ग्राम्यसुखानुवादैः मतिः गृहीता नु हरेः कथायां, सा श्रद्दधानस्य विवर्धमाना विरक्तिम् अन्यत्र करोति पुंसः हरेः पदानुस्मृतिनिर्वृतस्य समस्तदुःखात्ययम् आशु धत्ते".**
>
> **२."कथा इमास्ते कथिता महीयसां विताय लोकेषु यशः परेयुषां विज्ञानवैराग्यविवक्षया विभोः वचोभिभूतिः नतु पारमार्थ्यं, यस्तु उत्तमश्लोकगुणानुवादः संगीयते अभीक्ष्णम् अमंगलघ्नः तमेव नित्यं शृणुयाद् अभीक्ष्णं कृष्णे अमलां भक्तिम् अभीप्समानः."**

३.''यत् शृण्वतो अपैति अरतिः वितृष्णा सत्त्वं च शुद्ध्यति अचिरेण पुंसः भक्तिं हरौ तत्पुरुषे च सख्यं तदेव हारं वद मन्यसे चेत्''.

४.''भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिः अन्यत्र च एषः त्रिकः एककालः प्रपद्यमानस्य यथा अश्नतः स्युः तुष्टिः पुष्टि क्षुदपायो अनुघासम्''.

(भाग.पुरा.३।५।१२, १२।३।१४, १०।७।२, ११।३।४२)

अर्थात् अवतारलीलामें सर्वजनगोचर भगवान् जैसे काम-भय-द्वेषादि लौकिक भावोंके अनुरूप स्वयं रूप दिखला कर अन्तमें अपने बारेके भक्तिभाव या मुक्तिभाव में निरुद्ध कर लेते हैं. ऐसे ही श्रीहरिकथा भी ग्राम्यसुखोंके अनुवादद्वारा हमारी मतिको भगवान्के चरणकमलोंका मधुप बना देती है. परन्तु इस बारेमें यह विवेक समझ रखना अनिवार्य है कि जब तक समग्र सृष्टि निरपवादतया भगवल्लीलारूपा है ऐसा बोध और श्रद्धा सुदृढ़ न हो जाये तब तक भगवल्लीलावर्णनके अंगोपांगतया वर्णित अन्यान्य महापुरुषोंकी कथाको वचोविभूति आलंकारिक भाषा समझनी चाहिये. विवक्षित तो परमार्थतः अवतीर्णकी भगवत्स्वरूप परब्रह्मता परमात्मता और भगवत्ता का ऐसा विज्ञान है कि जिसे सुन कर लीलार्थ भगवान्से भिन्नतया प्रादुर्भावित नाम-रूप-कर्मोंमें जीवात्माकी विरक्ति प्रकट हो पाये. अतएव महाप्रभुने निष्कर्षतया जो कहा है कि भगवद्रूप जगत्को जानना चाहिये, पर भगवान्की समग्रता जागतिक समग्रता नहीं, वह तो जगदतीत भी सर्वथा है ही. अतः आसक्ति तो हमारी भगवद्विषयिणी ही अभिलषित होनी चाहिये. वह यदि सिद्ध न हो पाती हो तब भी भगवान्की शरणागति एक अनवतारकालिक प्रभावी उपाय है, क्योंकि शरणागति भक्ति परेशानुभूति और अहन्ता-ममतात्मक संसारसे विरक्ति तीनोंकी साधिका बन पाती है.

(श्रीमद्भागवतप्रथमस्कन्धाध्यायार्थसंक्षेपः)

श्रीगोकुलरायजीकृत श्रीभागवतनिबन्धानुसारी प्रथम स्कन्धीय अध्यायार्थोके संकलनानुवादके साथ उपसंहार करना चाहेंगे :

प्रथमस्कन्धमें हीनाधिकार प्रकरणमें प्रथमाध्याय :

प्रस्तुत प्रथमाध्यायमें प्रश्नवर्णनद्वारा श्रोताका जिज्ञासु होना और वक्ताका सम्प्रदायमें अधिकारी पुरुषद्वारा भागवतश्रवण किया होना निरूपित हुवा है.

प्रथमस्कन्धमें हीनाधिकार प्रकरणमें द्वितीयाध्याय :

इस अध्यायमें कर्म-ज्ञानसम्बन्धी प्रश्नके उत्तरतया भगवदवतारका प्रयोजन, लीलाके बारेमें प्रश्नके उत्तरतया श्रोताका अमात्सर्य गुण तथा वक्ता के चतुर होनेके गुणोंका निरूपण हुवा है.

प्रथमस्कन्धमें हीनाधिकार प्रकरणमें तृतीयाध्याय :

इस अध्यायमें भगवान्‌के रूपात्मक अवतारोंके निरूपणके साथ-साथ श्रोताका लीलाश्रवणमें आदरभाव तथा वक्ताके गुह्च रहस्योंके ज्ञाता होनेका गुण वर्णित हुवा है.

प्रथमस्कन्धमें मध्यमाधिकार प्रकरणमें चतुर्थाध्याय :

चतुर्थाध्यायमें भागवती कथाकी प्रेरणामें हेतुभूत प्रसंगके निरूपण करते हुवे व्यासजीका भगवद्विचारित भगवदीय होनेके गुणका वर्णन अभिप्रेत है.

प्रथमस्कन्धमें मध्यमाधिकार प्रकरणमें पञ्चमाध्याय :

इस पांचवें अध्यायमें पूछे गये प्रश्नोंके उत्तर तथा कृति के रूपमें महर्षि वेदव्यास तथा देवर्षि नारदजी के भगवान्‌के द्वारा सम्पादित शरीर और भगवदीय होनेका निरूपण किया गया है.

प्रथमस्कन्धमें मध्यमाधिकार प्रकरणमें षष्ठाध्याय :

छठ्ठे अध्यायमें फलनिरूपणके प्रसंगमें भगवान्‌के बारेमें कह पानेके भगवदीय होनेका गुण वर्णित हुवा है.

प्रथमस्कन्धमें उत्तमाधिकार प्रकरणमें सप्तमाध्याय :

सातवें अध्यायमें अश्वत्थामा द्वारा पाण्डवकुलके उच्छेदार्थ ब्रह्मास्त्रके सन्धान किये जानेपर उसका परिहार भगवान्ने कैसे करवाया यों अर्जुनके दु:खनिवारणके द्वारा भगवान्के परम अनुगृहका निरूपण करते हुवे भागवतके उत्तम श्रोता ऐसे महाराजा परीक्षितके मातृपरम्परासे भगवत्सम्बन्धवशात् उत्तमाधिकारके अनुरूप उनमें पुरुषपरम्परासे भी अर्थात् पितृपरम्परासे भी किसी तरहका दोष नहीं ऐसा प्रतिपादित हुवा है.

प्रथमस्कन्धमें उत्तमाधिकार प्रकरणमें अष्टमाध्याय :

यहां कुन्तिस्तुतिके निरूपणद्वारा कुन्तिमें ब्रह्मस्वरूपाज्ञानजन्य दु:खके निवारणद्वारा उत्तम श्रोता परीक्षितमें स्त्रीपरम्परया भी किसी तरहका दोष नहीं था ऐसा दरसाया गया है.

प्रथमस्कन्धमें उत्तमाधिकार प्रकरणमें नवमाध्याय :

यहां युधिष्ठिरको पितामह भीष्मद्वारा दिये गये उपदेशमें जीवमें स्वरूपाज्ञानजनित दु:खकी निवृत्ति निरूपित करके पोषक अन्नकी शुद्धिका निरूपण किया गया.

प्रथमस्कन्धमें उत्तमाधिकार प्रकरणमें दशमाध्याय :

इस अध्यायमें भीम आदिकी भगवत्परता दरसाते हुवे सामान्यत: सुखप्राप्तिके वर्णनमें परमकृपालु भगवान्ने सांसर्गिक दोष भी निवृत्त कर दिया यह विवक्षित है.

प्रथमस्कन्धमें उत्तमाधिकार प्रकरणमें एकादशाध्याय :

एकादशाध्यायमें भगवदवतारलीलाका कार्य सम्पन्न हो जानेके कारण जैसी भगवान्की सुखस्थिति वैसी ही पाण्डवोंकी भी सुखस्थितिका वर्णन किया गया है.

प्रथमस्कन्धमें उत्तमाधिकार प्रकरणमें द्वादशाध्याय :

बारहवें अध्यायमें भगवान्के द्वारा परीक्षितकी रक्षा किये जानेपर सुखी हुवे पाण्डवोंपर स्वत: और कालत: भी कैसी कृपावृष्टि हुयी उसका वृत्तान्त है.

प्रथमस्कन्धमें उत्तमाधिकार प्रकरणमें त्रयोदशाध्याय :

तेरहवें अध्यायमें धृतराष्ट्रकी मुक्तिके निरूपणद्वारा बीजमुक्तिकी कथा विवक्षित है.

प्रथमस्कन्धमें उत्तमाधिकार प्रकरणमें चतुर्दशाध्याय :

इस अध्यायमें बीजमुक्तिके परिणामस्वरूप पाण्डवोंके हस्तिनापुर राज्यसे निर्गमके हेतुतया वैराग्यका वर्णन अभिप्रेत है.

प्रथमस्कन्धमें उत्तमाधिकार प्रकरणमें पंचदशाध्याय :

इस अध्यायमें वैराग्यमूलक राजपाटके त्यागके कारण पाण्डवोंको मुक्तिलाभकी कथा कही गयी है.

प्रथमस्कन्धमें उत्तमाधिकार प्रकरणमें षोडशाध्याय :

सोलहवें अध्यायमें परीक्षितके सार्वभौमिक राज्यका वृत्तान्त निरूपित हुवा है.

प्रथमस्कन्धमें उत्तमाधिकार प्रकरणमें सप्तदशाध्याय :

प्रस्तुत अध्यायमें परीक्षितके शासनमें धरिणी और धर्म के वास्ते कलिकालके निग्रहकी वार्ता वर्णित हुयी है.

प्रथमस्कन्धमें उत्तमाधिकार प्रकरणमें अष्टादशाध्याय :

इस अध्यायमें परीक्षितके भीतरभी राजपाटके त्यागके कारणीभूत वैराग्य जो मुनिकुमारके शापवश उद्भूत हुवा उसके निरूपणके अन्तर्गत धर्मकी जो उन्नति हुयी उसका प्रतिपादन हुवा है.

प्रथमस्कन्धमें उत्तमाधिकार प्रकरणमें एकोनविंशाध्याय :

इस अन्तिम अध्यायमें त्याग और सत्संगति के सम्पन्न होनेपर भगवल्लीलाकी शुश्रुषा और प्रश्न की अधिकारिता महाराज परीक्षितकी निरूपित की गयी है.

इस तरह प्रथम स्कन्धमें भागवतके कनिष्ठ-मध्यम-उत्तम अधिकारोंवाले श्रोता एवं वक्ताओंके अधिकारिताकी लीलाका आख्यान निरूपित हुवा है.

सदेकं त्वं द्विधा जातः स्वयं सत्यानृतेऽभवत् ।।
पारमात्म्येन सत्येन बन्धोद्धारावुभावतः ।।१।।
नामरूपात्मकं सत्यमाचार्येणोदितं जगत् ।।
अहन्ताममते तत्र मिथ्यैवाविद्यके मते ।।२।।
ब्रह्माग्नौ हूयतेऽहन्ता ज्ञानमार्गे हि मोक्षदा ।।
"स्वाहेदं न ममे"त्येवं यज्ञाय ममता कृता ।३।।
उभे कृष्णायार्पणीये भक्तिमार्गे च भक्तिदे ।।
कर्तुं चाकर्तुमन्यथा वा ते कर्तृस्वातन्त्र्यतः ।।४।।
यथैव रोचते सत्यानृताभ्यां वोद्धरस्व माम् ।।
नमस्तुभ्यं भगवते कृष्णायाद्भुतकर्मणे ।।५।।

महाशिवरात्रि
पार्ले मुंबई

गोस्वामी श्याम मनोहर
(विक्रमसंवत् २०७६)

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीभागवतप्रतिपदमणिवरभावांशुभूषितमूर्त्तिर्विजयते ।

श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रकटितसप्रकाशतत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गतं तृतीयं

श्रीमद्भागवतार्थप्रकरणम् ।

सप्रकाशम्

(श्रीगो० श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतावरणभङ्गाख्यव्याख्यासमेतम् ।)

अथ प्रथमस्कन्धार्थः ।

प्रकाशः—श्रीभागवतप्रकरणं व्याचिख्यासुस्तत्प्रतिपाद्यरूपं भगवन्तं सङ्कीर्तनेन स्तौति श्रीकृष्णमिति—

निबन्धः-श्रीकृष्णं परमानन्दं दशलीलायुतं सदा ।
सर्वभक्तसमुद्धारे विस्फुरन्तं परं नुमः ॥ १ ॥

प्रकाशः—कृष्णशब्देन परं वस्तूच्यते । तदेव कदाचित् 'परमसौन्दर्यं स्वगतं

श्रीमत्पुरुषोत्तमपादप्रणीततत्त्वदीपप्रकाशावरणभङ्गः ।

निखिलश्रुतिगणसारोऽधिकाररहितेऽपि यो मुक्तिम् ।
श्रद्धावति वितरति तं पुराणपुरुषं सदा वन्दे ॥ १ ॥

पूर्वप्रकरणसमाप्तावेवैतदारम्भस्य समर्थितत्वात्तृतीयं प्रकरणं व्याख्यातुमेवारभन्ते भागवतेत्यादि । सङ्कीर्तनेनेति, सम्यक्स्वरूपकथनेन परं वस्तूच्यत इत्यादि । एतेन परवस्तुत्वबोधिका यावत्यो निरुक्तयः 'कृषिर्भूवाचकः शब्द' इत्याद्याः श्रौत्यः, 'कृषिरुत्कृष्टवचनो नश्च सद्भक्तिवाचकः । अश्चापि दातृवचनस्तेन कृष्णं विदुर्बुधा' इत्याद्याः पौराण्यः, 'पुरुषः स परः पार्थ' 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्य' इत्याद्याश्च सङ्गृहीताः । तेन 'कृष्णस्तु भगवान्स्वयं' 'कृष्णमेनमवेहि त्वम्' इत्यादिषूक्तं परत्वं 'यन्मर्त्यलीलौपयिकम्'इत्यादिषूक्तं परमसौन्दर्यं च तस्मिन्नेवोपसंहृतम् ।

---

१. यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोगमायाबलं दर्शयता गृहीतम् । विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषणभूषणाङ्गम् ॥ तृतीयस्य द्वितीये । २. कृष्णे ।

प्रकटीकरिष्यामी'ति साकारं प्रादुर्भूतं सत् श्रीकृष्णः । अनेन विभूतित्वं निवारितम् । फलरूपतामाह **परमानन्दमिति** । तस्य साधनं श्रवणमिति, तद्विषयरूपतामाह **दशलीलायुतमिति** । अवतारप्रयोजनमाह **सर्वभक्तसमुद्धार** इति । ततोऽप्यन्यो महान् भविष्यतीत्याशङ्क्याह **परमिति** । अवतारस्तु स्तुतिप्रिय इति ज्ञापयितुं **नुम** इति ॥ १ ॥

सिद्धे भागवते किं त्वया कर्तव्यमिति शङ्कां वारयितुं **स्वग्रन्थविषयमाह शास्त्र इति**—

निबन्धः—शास्त्रे स्कन्धे प्रकरणेऽध्याये वाक्ये पदेऽक्षरे ।
एकार्थं सप्तधा जानन्नविरोधेन मुच्यते ॥ २ ॥

प्रकाशः—भागवतार्थस्तादृशो वक्तव्यो यो द्वादशस्कन्धार्थेष्वनुस्यूतो भवति । एवमुत्तरत्रापि स्वावयवेष्वनुस्यूतस्तदैवाविरोधो भवति ।

तस्य फलमाहुरनेनेत्यादि, मूलरूपाकारसहिताविर्भावकथनेन । 'ताविमौ वै भगवतः' 'तयोरेको बलभद्रो बभूव' 'वासुदेवो भगवतां' 'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मी'त्याद्युक्तं **विभूतित्वं निवारितम्**। पुरुषे तदवयवानामिव तस्मिंस्तासामविनाभावबोधनेन तावन्मात्रतया निवारितमित्यर्थः । **फलरूपतामाहेति** । उक्तविधं वस्तु श्रीभागवते 'फलमत उपपत्तेः' इतिन्यायवत्फलान्तरदातृत्वेन न प्रतिपाद्यते, किन्तु तथात्वे सति भूमत्वेन निरवध्यानन्दरूपतया प्रतिपाद्यत इति वक्तुं फलरूपतामाहेत्यर्थः । **तस्येत्यादि** । तादृशमपि तत्फलदातृत्वपूर्वकं प्रतिपाद्यत इत्यत्र किं गमकमित्याकाङ्क्षायां **तस्य** फलस्य **साधनं** श्रीभागवतश्रवण**मिति**हेतोः श्रवण**विषयरूपतामाहे**त्यर्थः । तथाच प्रलयवत् प्रसुप्तमत्र न प्रतिपाद्यते, किन्तु दशलीलारूपव्यापारं कुर्वच्छ्रवणविषयत्वेन प्रतिपाद्यत इत्येव तद्गमकमित्यर्थः । **अवतारेत्यादि** । तर्हि मूलस्थानस्थित्यापि फलसिद्धेः श्रुत्यापि तत्सिद्धेरवतारस्य श्रीभागवतस्य च किम्प्रयोजनमित्याशङ्कायां तत्**प्रयोजनमाहे**त्यर्थः । **सर्वेत्यादि** । मन्दादिभेदेन त्रिविधानां भक्तानां **सम्यगनायासेनोद्धारे**, निमित्तात्कर्मयोग इति सप्तमी । उद्धारार्थं **विशेषेण** तद्ग्राह्यरूपेण **स्फुरन्तं** तत्तद्धृदये भासमानम् । तथाचासाधनानामनायासेन शीघ्रं हृदयप्रवेशो व्यापिवैकुण्ठादिहागमनस्य प्रयोजनमित्यर्थः । **अन्य** इति, अन्योऽवतारः । **स्तुतिप्रिय** इति, उत्कर्षाधायकगुणवर्णनं प्रियं यस्य तादृशः । तथाच पञ्चाध्याय्यादिषु स्तुत्या प्राकट्यात्कुन्त्यादिषु प्रसादाच्च तदर्थं स्तुतिरित्यर्थः ॥ १ ॥

---

१. उपसंहारस्य । २. श्रीकृष्णे विभूतीनाम् । ३. अवतारप्रयोजनमाह । ४. तथाच निःसाधनानामित्यपि पाठः ।

अक्षराणामपि प्रत्ययरूपाणामर्थोऽस्ति प्रकटः। सर्वेषामेवार्थोऽस्तीत्यवोचाम। खण्डशोऽर्थप्रतिपादने वाक्यार्थः कृत्रिमो भवेदिति तन्निराकरणार्थमाह एकार्थमिति। यथा भगवान् षड्गुणैश्वर्ययुतस्तथा भागवतार्थः स्कन्धाद्यर्थयुक्तः। एवं ज्ञानस्यावान्तरफलमाह संसारान्मुच्यत इति। भक्त्यर्थमेषा मुक्तिरपेक्ष्यते ॥ २ ॥

तत्र भागवतार्थमाह आनन्दस्येति—

निबन्धः—आनन्दस्य हरेर्लीला शास्त्रार्थो दशधा हि सा।
"अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः ॥ ३ ॥
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः"।
अधिकारी साधनानि द्वादशार्थास्ततोऽत्र हि ॥ ४ ॥
निरूप्य सङ्ख्या स्कन्धा हि द्वादशैव न चान्यथा।
तृतीयादिदशस्कन्धैर्लीला दशविधोदिता ॥ ५ ॥
श्रोतुर्वक्तुश्च लक्ष्माद्ये द्वितीये त्वङ्गनिर्णयः।
इतीदं द्वादशस्कन्धं पुराणं हरिरेव सः ॥ ६ ॥

प्रकाशः—आनन्दरूपस्य लीलाप्यानन्दरूपा। हरेश्च लीला सर्वदुःखहर्त्री।

एवमेकेन श्रीभागवतप्रतिपाद्यो भगवान्स्वरूपकथनमात्रेण स्तुतः। अतः परमेकेन निबन्धकरणप्रयोजनं वदन्ति सिद्ध इत्यादि।

अविरोधो भवतीति। तथाच सप्तार्थाविरोधप्रतिपादनं स्वग्रन्थविषय इति नास्मत्प्रवृत्तिवैयर्थ्यमित्यर्थः। नन्वनुसीवनस्य पदार्थ एव पर्यवसानं वाच्यं, न त्वक्षरार्थे, पदावयवभूतानामक्षराणामनर्थकत्वात्। तत्रार्थाङ्गीकारे एकाक्षरादिकोशोक्तस्यैवार्थस्य ग्रहणौचित्यात्। कचित्क्वाचित्पदार्थेन विरोधापत्तिः शाब्दबोधवैधुर्यापत्तिश्चेति चेत्तत्राहुरक्षराणामित्यादि। तथा चैतादृशार्थग्रहणे कोऽपि न दोषः। एतेन लक्षणयार्थोऽत्रास्माभिर्न वाच्य इतिबोधितम्। अवोचामेति, सर्वनिर्णये 'वर्णाः पदानि सर्वाणी'त्यत्रावोचामेत्यर्थः। नन्वविरोधः स्वस्वमतानुसारेणान्यैरपि प्रतिपाद्यत एवेति कोऽत्र विशेष इत्याकाङ्क्षायामाहुः खण्डश इत्यादि। तथा चायं विशेष इत्येतदर्थं प्रवृत्तिरित्यर्थः। एषेति, 'स्नेहाद्रागविनाशः स्या'दित्युक्तरूपा। एकादशस्कन्धे गीतायां चातिविरक्तस्य गुणातीतस्यैव भक्त्यधिकारप्रतिपादनादिति ॥ २ ॥

---

१. श्लोकेन। २. अक्षरे। ३. ग्रन्थेन। ४. निबन्धे। ५. मुक्तिः।

अतो दुःखाभावसुखरूपत्वात् स्वतः पुरुषार्थरूपा लीलेति भागवतार्थः । स्कन्धाद्यर्थनिरूपणार्थं तां विभजते दशधा हि सेति । तत्र भागवतमेव प्रमाणयति अत्रेति । स्कन्धद्वयमाधिकमिति तयोरर्थमाह अधिकारी साधनानीति । अधिकारोऽपि लीला, परं लीलोपयोगिनी । तेन प्रधानलीलायां नाधिकसङ्ख्यां जनयति, नापि शास्त्रार्थेऽव्याप्तिम् । तथाज्ञानमङ्गम् । साधनानां बहुवचनं सर्वज्ञानप्रकाराणामङ्गत्वं बोधयति । सापि लीला नाधिकसङ्ख्यां बोधयति, न न्यूनताम् । अनेन श्रवणादिरूपाया भक्तेः सर्वाण्येव ज्ञानान्यङ्गानीत्युक्तं भवति । ननु द्वादशधा भेदे कथमेकत्वं कथं वा शास्त्रा-

---

एवमेकेन श्रीभागवतार्थनिबन्धने स्वस्य प्रवृत्तिरुपपादिता । 'अथानन्दस्य हरेर्लीले'-त्यादिसार्धदशभिः सोपपत्तिकं शास्त्रार्थं वदिष्यन्तः प्रतिजानते **तत्रे**त्यादि ।

लीलाप्यानन्दरूपेत्यादि । वराहावतारलीलाश्रवणोत्तरं 'क्षत्तानन्दं परं लेभ' इति, दशमारम्भे 'नैषातिदुःसहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते । पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृत'-मितिवाक्यादिभ्यस्तथेत्यर्थः । ननु स्कन्धेषु तत्तदर्थप्रतिपादनात्कथं सैवार्थ इत्याकाङ्क्षायां स्वार्थबोधे समाधानामङ्गाङ्गित्वाद्यपेक्षया वाक्यानामेकवाक्यत्वम् । पुनः 'संहत्य जायत' इतिवार्तिकोक्तरीत्यैकार्थ्यं वक्तुमाहुः **स्कन्धे**त्यादि । **ता**मिति लीलाम् । तथा च स्कन्धेषु लीलाविशेषकथनात्सैवार्थ इत्यर्थः । **स्कन्धद्वये**त्यादि । नन्वेवं सति मूले दशानामेव लीलानामुक्तत्वात्तावतां शास्त्रार्थे निवेशो भविष्यति न त्वाद्ययोर्द्वयोरितिशङ्कायामाद्ययोर्द्वयोरर्थमाहेत्यर्थः । ननु सन्त्वेवं द्वादशार्थाः, तथापि द्वयोराद्ययोर्दशस्वेवाध्यायाद्यर्थवन्निवेशो वक्तव्यः; मूलोक्तसङ्ख्यानुरोधात्, न तु स्कन्धार्थत्वमित्याशङ्कायामाहुर्मूले **'हि द्वादशे'**त्यादिसपादश्लोकम् । **हि** यतो हेतोर्व्यासपादैर्द्वादशस्कन्धा उक्ताः । **चो**ऽवधारणे । **तत एव अन्यथा न**, द्वयोरधिकारिसाधनयोः स्कन्धान्तरान्तर्निवेशो न । तथा च यथा वाक्यबलाद्दशार्थास्तथा स्कन्धसङ्ख्यानिर्देशाद्द्वादशार्था इति तयोः पृथक्स्कन्धार्थता युक्तैवेत्यर्थः । तर्हि मूले दशैव किमित्युक्ता इत्याकाङ्क्षायां **तृतीयादी**ति । श्लोकार्थमाहु**रधिकारो**ऽपीत्यादि । **लीले**ति, भगवदिच्छाभावे तस्याभावेन भगवतैव तस्य सम्पादनात्सोऽपि लीलेत्यर्थः । **तथाज्ञानमङ्ग**मिति । वक्ष्यमाणार्थस्य शीघ्रबोधजनकत्वात्सङ्क्षेपेण ज्ञानं विस्तारोपकारकम् । तथा चोक्तयुक्त्या तदपि तद्वदेव लीलेत्यर्थः । **सर्वज्ञानप्रकाराणा**मिति, द्वितीयस्कन्धोक्तानामास्तिक्यबुद्धिरूपश्रद्धादीनाम् । **न्यूनता**मिति, मुख्यास्वितिशेषः । नन्वस्त्वङ्गनिर्णयस्य गौणलीलात्वं तथापि जडभरतवाक्यवत्साङ्क्षिप्तार्थरूपत्वात्तत्-

---

१. अव्याप्तिरित्यपि पाठः । २. सामान्ये नपुंसकं, लीलारूपानामर्थानामिति वा । ३. लीलयोः । ४. द्वयोरधिकारेत्यपि पाठः । ५. अधिकारस्य । ६. अधिकारस्य । ७. अधिकारः । ८. तथा ज्ञातमित्यपि पाठः । ९. तृतीयस्कन्धाद्यर्थस्य यः शीघ्रबोधस्तज्जनकत्वं सङ्क्षेपेण द्वितीयस्कन्धोक्तस्य । १०. द्वितीयस्कन्धाद्यर्थस्य ।

र्थतेति, तत्राह इतीदमिति । पुराणं हरेः स्वरूपं शब्दतोऽर्थतश्च, 'निम्नगानां यथा गङ्गे'त्यत्र वक्ष्यते ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥

ननु हरित्वेऽपि कथं द्वादशत्वं ? पुरुषे द्वादशत्वं हीति—

निबन्धः—पुरुषे द्वादशत्वं हि सक्थौ बाहू शिरोऽन्तरम् ।
हस्तौ पादौ स्तनौ चैव पूर्वं पादौ करौ ततः ॥ ७ ॥
सक्थौ हस्तस्ततश्चैको द्वादशश्चापरः स्मृतः ।
उत्क्षिप्तहस्तः पुरुषो भक्तमाकारयत्युत ॥ ८ ॥
स्तनौ मध्यं शिरश्चैव द्वादशाङ्गतनुर्हरिः ।
पादौ सक्थौ कटिर्गुह्यं उदरं हृदयं करौ ॥ ९ ॥
मुखं ललाटो मूर्धा च केचिदेवं हरिं जगुः ।
एतद्धारणमात्रेण कृष्णो भवति वै धृतः ॥ १० ॥
अर्थतस्तु परिज्ञाते ज्ञातो भक्तिं प्रयच्छति ।

प्रकाशः—'द्वादशो वै पुरुष' इति श्रुतेः । श्रुत्यनुसारेणैवावयवान् गणयति सक्थाविति । स्तनान्ता अवयवा द्वादश । स्कन्धानां तेषु निवेशनमाह पूर्वं पादावित्यादिना । अधिकारज्ञानयोः पादत्वम् । सर्गविसर्गयोः करत्वम् । स्थानपोषणयोः सक्थित्वम् । करशब्देन बाहू । सप्तमस्कन्ध एको हस्तः । द्वादशश्च द्वितीयः । तत्र भागवतं विकृतमिव भविष्यतीत्याशङ्क्य दृष्टान्तेन प्रकृतोपयोगिरूपमाह उत्क्षिप्तहस्त इति । ततः स्तनौ अष्टमनवमौ । ततो मध्यं दशमः । शिरस्त्वेकादशः। द्वादशः

स्कन्धान्तेरेव निवेशः कुतो नोक्त इत्यत आहुरनेनेत्यादि । तथा चाधिकारवदङ्गनिर्णयस्यापि सर्वोपयोगित्वाय पृथगुक्तिरित्यर्थः । एवमङ्गाङ्गिभावेन संहननबोधनाच्छास्त्रैक्ये प्रतिपादितेऽपि विभागे साकाङ्क्षत्वाभावेनैकार्थ्ये शङ्कते नन्वित्यादि । एवं भेदे लीलानां परस्पराकाङ्क्षाराहित्यात्कथमेकत्वं, तदभावे पृथक्त्वात् कथं वा शास्त्रार्थतेत्यर्थः । पुराणमित्यादि । तथा च स्वस्वरूपेण भेदेऽपि परस्पराकाङ्क्षाराहित्येऽपि शब्दतोऽर्थतश्च भगवद्रूपत्वादेकत्वं शास्त्रार्थत्वं चेत्यर्थः ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥

श्रुतेरिति । तथा च श्रुत्युक्तद्वादशत्वात्पुरुषत्वं, पुरुषत्वाच्च हरित्वमित्येकत्वं शास्त्रार्थत्वं चेत्यर्थः । गणयतीति, द्वादशत्वोपपादनाय गणयतीत्यर्थः । पादत्वमिति, गतिसाधनत्वात् पाद-

---

१. भाव॰ रूपेति नास्ति ।

पूर्वमेवोक्तः । । यादृशो भगवान् भागवतरूपो जातस्तादृशोऽयं वर्णितः । अत्र केच-नोपासकाः क्रमेणैवोपासना सफलेति भिन्नक्रममाहुः, तमाह पादाविति । कटिः पञ्चमः । मलद्वारस्थानीयानि नरकाणि गुह्यं षष्ठः । उदरं सप्तमः । हृदयमष्टमः । करौ नवमः । मुखं दशमः । ललाट एकादशः । मूर्धा द्वादशः । उपासनायामेतदपि युक्तम् । एवं निरूपणस्य प्रयोजनान्तरमप्याह एतद्धारणमात्रेणेति । धारणं पाठतः, तस्य भगवद्रूपत्वात्तेन रूपेण भगवानेव धृतः । हृदि स्थितो भगवान् यत् कार्यं करिष्यति तदनेनापि करिष्यति । अर्थतश्चेत् परितो ज्ञातस्तदेदमित्थतया ज्ञानं भक्त्यङ्गमिति ज्ञातः सन् भक्तिं प्रयच्छति ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

ज्ञानार्थमस्य स्वरूपमाह एषा समाधिभाषेति—

निबन्धः—एषा समाधिभाषा हि व्यासस्यामिततेजसः ॥ ११ ॥
लौकिकी चान्यभाषा च समाधेः पोषिके तु ते ।
ते प्रमाणमभिप्रायात् सर्वथा पूर्ववन्न हि ॥ १२ ॥
न तद्विरोधो दोषाय ते वक्ष्येऽवसरे स्वके ।

प्रकाशः—समाधावुपलभ्य तथा भाषिता । समाधिसामर्थ्यार्थमाह व्यास-

---

त्वम् । एवं बलाधिष्ठानत्वात्स्थित्युपयोगित्वात्कृतिसाधनत्वान्महत्त्वान्मूर्धन्यत्वाच्च तथेति[1] ज्ञेयम् । एवं निरूपणप्रयोजनमाहुर्यादृश इत्यादि । वर्णित इति, भक्तिमार्गानुसारेण वर्णितः । द्वादशत्वेन भगवत्त्वमन्येषामपि सम्मतमित्याशयेनाहुरत्रेत्यादि । एवं निरूपणस्येत्यादि, द्वादशत्वे भगवत्त्वेन निरूपणस्य प्रयोजनान्तरं, उपासनातोऽतिरिक्तमपि, सिद्धान्त[2] आहेत्यर्थः । कार्यमिति मुक्तिम् । अनेनेति रूपेण । अयमाशयः । व्यासचरणा हि मन्देषु करुणया तदुद्धारार्थं प्रयतमानाः श्रीभागवतपर्यन्तमुपायं कृतवन्तः । तत्रेदमप्यर्थज्ञानादेव चेत्फलेदुद्धारः कस्याचिदेव भवेत् । उपासनायामपि तथा । अतः स्कान्दादिषु पुराणान्तरेषु 'शतशोऽथ सहस्रैश्च किमन्यैः शास्त्रसङ्ग्रहैः ? गृहे न तिष्ठते यस्य शास्त्रं भागवतं कलौ । कथं स वैष्णवो ज्ञेयः ? शास्त्रं भागवतं कलौ । गृहे न तिष्ठते यस्य श्वपचादधिको हि स' इत्यादिवाक्यदर्शनाद्गृहे शास्त्रस्थितावपि चेत्कलिदोषाप्रवेशस्तदा किं वाच्यं हृदये स्थितौ ? गृहे च शब्दाभिव्यञ्जकरेखोपरेखादियुतपुस्तकरूपेण स्थितिः, हृदि तु साक्षात्स्वेन रूपेणेति भगवत्त्वेन निरूपणस्य संसारमुक्तिरूपं कार्यं[3] युक्तमेवेति । तथा च स्वश्रवणोपयोगि सर्वं[4] स्वयमेवं सम्पादयिष्यतीत्येतदर्थं भक्तिमार्गानुसारेण वर्णित इति भावः ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

---

१. तत्तदङ्गरूपता ज्ञेया । २. सिद्धान्तमाहेति पाठः । ३. अधिकारादिकम् । ४. श्रीभागवतम् ।

स्यामिततेजस इति । गुणतः स्वरूपतश्च माहात्म्यम् । अत्र भागवते क्वचिज्ज्ञानादिप्रशंसा, क्वचित् कथायां पूर्वोत्तरविरोधः, क्वचित् पुनरुक्त्यादिदोषा इति सर्वसमाधानार्थं 'भाषास्तु त्रिविधाः प्रोक्ता' इति व्यासवाक्याद् भाषात्रयमस्तीत्यभिप्रायेणाह **लौकिकी चान्यभाषा चेति** । समाधावुपलभ्य यावानर्थो निरूपितः, सा **समाधिभाषा** । तद्विरुद्धोऽर्थो यत्र सा **मतान्तरभाषा** । लोकसिद्धा तु **लौकिकी** । किमतो यद्येवं ? तत्राह **ते प्रमाणमभिप्रायादिति** । मतान्तरभाषा लौकिकी भाषा च वक्तुरभिप्रायपरत्व एव प्रमाणं, न तु साक्षात्प्रतिपादितेऽर्थे । **समाधिवन्न प्रमाणम्** । अत एव ताभ्यां सह समाधिभाषाया न विरोधः । भागवते तासां स्थानं वक्ष्यते । तत्रोत्सर्गतः सर्वा समाधिभाषा । यत्र शुकोऽन्योक्तं कथयामीत्याह सा परमतोपन्यासभाषा । यत्र लौकिकरीत्या निरूपणं, यथा 'स्तनैः स्तनान् कुङ्कुमपङ्करूषितान्' इत्यादिषु, सा लौकिकी । बुद्धिपूर्वकमेव विरोधस्तासु प्रतिपादित इति न तद्विरोधो दोषाय । भाषात्रयप्रकारेण स्वतन्त्रपुरुषार्थरूपश्रीकृष्णलीला भागवतार्थः ॥ ११ ॥ १२ ॥

ज्ञानार्थमिति, शब्दतोऽर्थतश्चोत्कर्षज्ञानार्थं—

इत्यभिप्रायेणाहेति, पूर्वोक्तोत्कर्षनिर्वाहकमाहेत्यर्थः । **लोकसिद्धेति**, लोकसिद्धानुवादरूपा । **साक्षात्प्रतिपादितेऽर्थे** तयोः[1] कुतो न प्रामाण्यमित्याकाङ्क्षायामाहुः **समाधिवन्न प्रमाणमिति** । समाधौ हि योगजधर्मेण स्वयमनुभूयत इति स्वानुभवः; स **नारदोक्तसंवादादपि** प्रमाणत्वेन दृढीकृतश्च । मतान्तरे लौकिक्यां च परानुभवः, तयोश्च[2] तत्तत्प्रमात्राधीना प्रमाणता । प्रमातॄणां तु प्रकृतिवैचित्र्येण नानाविधत्वात् पाक्षिकमेव[3] प्रमातृत्वमिति तद्वाक्येऽपि तथैव प्रामाण्यम् । तयोश्च[4] वक्त्रा[5] किञ्चिदभिप्रेत्यैवोपन्यासात्तथेत्यर्थः[6] । **अत एवेति** तयोरल्पबलत्वेनातुल्यत्वादेव ते ग्रन्थे कुत्र स्त इत्यपेक्षायामाहुः **भागवत** इत्यादि । नन्वंशतोऽपि प्रामाण्येऽर्थभेदकृतो विरोधो भवत्येवेति कथं न विरोध इत्याकाङ्क्षायां तत्स्वरूपकथनपूर्वकमविरोधप्रकारमाहुस्**तत्रेत्यादि** । **सर्वा समाधिभाषेति** तयोरपि स्वेन स्वेनैव रूपेण समाधावनुभवात्तथेत्यर्थः । अनुभवस्तु 'चक्रे सात्त्वतसंहिता'मित्यनेन सर्वस्याः संहितायाः करणकथनात्तस्यां च 'श्रुतं द्वैपायनमुखा'दित्यादिवाक्योपनिबन्धादवगम्यते । तर्हि कथं तदवगम इत्यत आहुर्**यत्र शुक** इत्यादि । एतदुदाहरणं तु 'ईत्यज्ञोपदिशन्त्येक' इत्यादिकं ज्ञेयम् । द्वितीयस्यास्तु अत्रैवोक्तम्[7][8] । शेषं स्फुटम् । **बुद्धिपूर्वकमित्यादि** । भाषान्तरज्ञापनाय **प्रतिपादित** इत्यनुपादेयत्वाद्[9][10] विरोधो[11] न

---

१. लौकिकीसमाधिभाषयोः । २. भाषयोः । ३. पाक्षिकम् । ४. भाषयोः । ५. व्यासेन । ६. वक्त्रभिप्रायात् प्रामाण्यम् । ७. तासां भाषाणाम् । ८. इत्यज्ञोपदिशन्त्येके विस्मृत्य प्रागुदाहृतम् । मुनिवासनिवासे किं घटेतारिष्टदर्शनम् । ९. व्याख्यायाम् । १०. उदाहरणम् । ११. विरोध इति शेषः ।

तत्र श्रोतृवक्त्रधिकारः प्रथमस्कन्धार्थः स्वरूपनिर्वाहकः । अधिकाराभावे स्वरूपमर्थज्ञानमभिप्रायज्ञानं च न सम्भविष्यति । स चाधिकारः स्थूलतया त्रिविधः । सूक्ष्मतयैकोनविंशतिप्रकारः । साधारणोऽसाधारणो गुणातीतश्च । साधारणोऽपि नवविधः, तथा असाधारणः । निर्गुणस्त्वेकविध एव । एवमधिकारोऽध्यायार्थत्वेन ज्ञेयः । सर्वोऽपि तच्छुश्रूषुरधिकारीति स्कन्धार्थः ।

दोषायेत्यर्थः । एवमर्थतो ज्ञानाय शास्त्रार्थो निर्णीतः, तेन यत्सिद्धं तदाहु**र्भाषात्रयेत्यादि** । नन्वत्र प्रकारत्रयेणापि क्रियमाणाया लीलाया यदि स्वतन्त्रपुरुषार्थता तदा मुख्यलीलायां विशेषाभावाद्भाषात्रयविभागे फलतो न च कश्चिद्विशेष इतिचेत्, न अधिकारितारतम्येन फलतारतम्यस्य तत्रापि युक्तत्वात् । न च मानाद्यभावः, 'ज्ञानाज्ञानाभ्यां कर्मणा काममोक्षयो'रिवात्रापि, भाषास्तु त्रिविधा' इत्यादिवाक्यात्तज्ज्ञानावश्यकतया ज्ञानतदभावाभ्यां फलभेदनिश्चयादिति । एवं **सार्धैर्दशभिः शास्त्रार्थो निर्णीतः** ॥ ११ ॥ १२ ॥

अतः परं **प्रथमस्कन्धार्थो** विचारणीयः । स च पूर्वं स्कन्धसङ्ख्याविचारेऽधिकारः प्रथमस्कन्धार्थ इत्युक्तः, तत्र कस्याधिकारः स इतिजिज्ञासायामाहु**स्तत्रेत्यादि** । **तत्र** द्वादशलीलासु । **श्रोतृवक्त्रधिकारः** उपक्रमोपसंहारयोः शुश्रूषादेस्तत्प्रसङ्गाद्वक्तृज्ञानादेश्चोक्तत्वात्तदधिकारः **स्कन्धार्थः**, स **स्वरूपनिर्वाहकः** । **अधिकाराभावे** शुश्रूषाद्यभावेन श्रवणकीर्तनयोरेवानुदयात्तथेत्यर्थः । तदेव विवृण्वन्ति **अधिकारेत्यादि** । एतेनास्य स्कन्धस्य चरणरूपत्वगतिसाधनत्वरूपं बीजं बोधितम् । प्रकरणाध्यायार्थं बोधयितुं विभजन्ते **स चेत्यादि** । **स्थूलतयेति**, प्रकरणार्थरूपतयोभयोर्विचारेण । **सूक्ष्मतयेति**, श्रोतृवक्त्रोः प्रत्येकं विचारेण । अत्र शाब्दोऽत्र आर्थः, अत्रेदृशोऽत्रेदृश इतिविचारेण । तत्र निबन्धान्तराद्विशेषं वक्तुं प्रकरणानामपि भेदमाहुः **साधारणेत्यादि** । विभाजकभेदेनापि भेदमाहुः **साधारणो नवविध** इत्यादि । अत्र जिज्ञासुत्वममात्सर्यं श्रवणादरस्त्रिविधं भगवदीयत्वं त्रिविधा च शुद्धिरितिसाधारणकोटिः । श्रवणस्वरूपाविर्भावाय तदर्थविश्वासाय च सर्वेषामेव तदपेक्षणात् । भगवत्कृतानि त्रिविधसुखपूर्वजात्रितयमुक्तिद्विविधसामर्थ्यानि धर्मोन्नतिश्चेत्यसाधारणकोटिः । साधारणेषु तथात्वाभावात् । **एकविध** इति, भगवदेकतानस्वरूपः । तथा च साधारणाभावे स्वरूपाविर्भावाभावादसाधारणाभावे मर्यादायां श्रद्धादार्ढ्याभावाद्गुणातीताभावेऽभिप्रायज्ञानाभावात्तत्तदर्थं स सोऽत्रोच्यत इत्यर्थः । एवमुक्तास्वेतास्वधिकारविधासु प्रमाणमाहु**रवमधिकार** इत्यादि । तथाचाध्यायार्थकृतोऽयं **प्रकरणविभाग** इत्यर्थः । एतस्याग्रे वाच्यत्वादिदानीं सङ्क्षेपेण **प्रकरणाध्यायार्थं** निरूप्य तदनुसीवकं स्कन्धार्थं सर्वेषां

---

१. श्रोतृवक्त्रधिकारः । २. स्वरूपनिवारकः । ३. श्रोतृवक्त्रोः । ४. प्रकरणानामभेदमित्यपि पाठः **अ. आ.** ५. अधिकारः । ६. स्कन्धे अत्रेति नास्ति **आ.** । ७. प्रमाणविभागेत्यपि पाठः । ८. अध्यायार्थस्य ।

प्रकरणार्थेषु त्रैविध्यं, तदाह भेदत्रयं तथा चाद्य इति—

निबन्धः—भेदत्रयं तथा चाद्ये हीनमध्योत्तमत्वतः ॥ १३ ॥
तल्लक्षणोऽधिकारी हि वक्तुं श्रोतुमिहार्हति ।
आद्येऽध्यायत्रयं मध्ये तथा चान्ते त्रयोदश ॥ १४ ॥
एवमेकोनविंशत्या प्रथमस्कन्ध ईरितः ।

प्रकाशः—अयमेवार्थो निबन्धान्तरे निरूपित इत्यत्रापि निरूप्यते । प्रकरणं देशकालौ, तदपेक्षायां प्रकरणाधिकार एव ग्राह्यस्तदाह तल्लक्षणोऽधिकारीति । प्रकरणेष्वध्यायान् विभजते आद्येऽध्यायत्रयमिति ॥ १३ ॥ १४ ॥

प्रवृत्तिसिद्ध्यर्थं स्वरूपतः स्फुटीकुर्वन्ति **सर्वोऽपीत्यादि**, यः कश्चिज्जात्यादिगुणरहितोऽपि । **स्कन्धार्थ** इति, उपक्रमोपसंहारयोः शुश्रूषोरेव कथनात्तथेत्यर्थः ।

एवं स्वमतेन स्कन्धार्थं प्रकरणार्थं च निरूप्य मतान्तरीयप्रकणार्थस्याप्येकांशेनादरणीयत्वात्तमपि विभागं द्वाभ्यामाहुः **प्रकरणार्थेष्वित्यादि**—

इत्यत्रापि निरूप्यत इति । तेनास्माकं नात्यन्तं सम्मत इत्यर्थः । अत्र मूलस्थस्याद्यपदस्याध्यायार्थापेक्षया आद्ये इत्यर्थो बोध्य । अस्वरसबीजं स्फुटीकर्तुं तेषां तात्पर्यमाहुः **प्रकरणमित्यादि** । तैर्हि[2] देशकालावपेक्ष्य तथा[3] विभक्तम् । तथा च सापेक्षस्यासमर्थत्वादिदानीं तद[4]शुद्ध्या श्रवणमेव न सिध्येदतो नास्माकं तत्सम्मतमित्यर्थः । **अत्रायमाशयः** । 'उभयाकाङ्क्षा प्रकरणमिति हि प्रकरणलक्षणं, शेषशेषिणोः परस्पराकाङ्क्षेति यावत् । अत्र च स्कन्धार्थरूपोऽधिकारः शेषी, पुरुषगुणास्तदर्थत्वा[5]दुपकारका इति तस्य[6] शेषाः । देशकालौ तु व्यधिकरणौ विशेषणतया पुरुषे संसृज्यमानौ यथाकथञ्चित्तद्गुणत्वं[7] प्राप्नुतः । तावपि[8] स्वस्वगुणविशिष्टावेव पुरुषविशेषणत्वेनादरणीयौ । अन्यथा तयोरनुक्तसिद्धत्वेन तदादरवैयर्थ्यापत्तेः । एवं सतीदानीं तयोः संसर्गस्वभावाभ्यां दुष्टत्वात्पुरुषगुणानां च तादृशामभावादिदानीं श्रवणाभावापत्त्या पुराणप्रणयनप्रचारणयोर्वैयर्थ्यापत्तिः । अतो[11]ऽध्यायार्थविचारेणैव प्रकरणविभागो युज्यत इति ॥ १३ ॥ १४ ॥

एवं मतान्तरीयप्रकरणविभागं **द्वाभ्यामनूद्याथ द्विपञ्चाशद्भिः[12] प्रथमप्रकरणं** विचारयन्तोऽस्य[13] विभागस्य येन हेतुनादरणीयता, तदग्रे[14] **सपादेनैकेन** वक्तुं तदर्थं **सप्तभिः** समाधेः प्रामाण्यं मुख्यत्वं च बोधयन्ति **अत्रेत्यादि** । **अत्रा**ऽस्मिन् स्कन्धेऽधिकारिणो वक्तव्या[15]स्ते च भूता एव

---

१. शुश्रूषुरधिकारी । २. अन्यनिबन्धकारैः । ३. हीनमध्यमोत्तमरूपम् । ४. तयोर्देशकालयोः ५. अधिकारार्थत्वात् । ६. अधिकारस्य । ७. पुरुषगुणत्वम् । ८. देशकालौ । ९. उक्तानङ्गीकारे । १०. देशकालयोः । ११. इति दूषणात् । १२. कारिकाभिः । १३. प्रथमस्य । १४. कथनप्रसारणयोः । १५. अधिकारिणः ।

२

अत्र सङ्गतिरसङ्गतेति तां निरूपयति **कथामात्रमिति** त्रिभिः—

निबन्धः—कथामात्रं शुको राज्ञे कथयिष्यति यद्धि वै ॥ १५ ॥
तत्रोत्तराणि प्रश्नाश्च तच्छ्रुत्वा सूत आह यत् ।
शौनकेभ्यः प्रश्नपूर्वं तत् सर्वं भावि हृद्गतम् ॥ १६ ॥
अनागतकथारूपं श्लोकरूपेण वै हरिः ।
व्यासरूपोऽवतीर्याद्य मङ्गलादिपुरःसरम् ॥ १७ ॥
प्रसङ्गपूर्वकं चाह समाधावुपलभ्य हि ।

प्रकाशः—समाधिभाषात्वेन प्रामाण्ये परम्परोपदेशौ व्यर्थावित्याशङ्क्य तयोः सार्थकत्वाय समाधिं निरूपयँस्तौ निरूपयति **साकारं ब्रह्मेति** सार्धेन—

निबन्धः—साकारं ब्रह्म शुद्धं हि माया तच्छक्तिरुत्तमा ॥ १८ ॥
तया सर्वत्र सम्मोहः साक्षाद्भक्तिश्च मोचिका ।
इममर्थं हरिश्चाह ब्रह्मणे नारदाय सः ॥ १९ ॥

प्रकाशः—समाधिः प्रमाणभूताशेषविशेषरूप इति परम्परा चाकृत्स्नेति तां गौणत्वेन निरूपितवान् ॥ १८ ॥ १९ ॥

युक्ता इति अत्रास्मिन्स्कन्धे विवक्षितसूतादिकथासङ्गतिरसङ्गतानुपपन्नेति तामुपपत्तिं वदतीति । तथा च प्रसङ्ग उपोद्घातश्च मुख्या सङ्गतिः, समाधिश्चोपपत्तिरित्यर्थः ।

समाधीत्यादि । नन्वेवं शुकपरीक्षित्संवादसूतशौनकसंवादयोः सङ्गतावुपपादितायां समाधिभाषात्वेन व्यासवाक्यानां सिद्धे प्रामाण्ये व्यासनारदसंवादशेषभूता यौ, 'ज्ञानं गुह्यतमं यत्तत्साक्षाद्भगवतोदितम् । अन्ववोचन् गमिष्यन्त' इत्युक्ता परम्परा, 'इदं भगवता पूर्व'मित्याद्युक्तो नारदोपदेशश्च, तौवनुपयोगाद् व्यर्थौ, इत्याशङ्क्य, इति हेतोः, पूर्वोक्तरीत्या सङ्गत्युपपादनस्यायुक्तत्वमाशङ्क्य, संवादित्वेन तयोः **सार्थकत्वाय समाधिं निरूपयन्ती**त्यर्थः ॥

अशेषविशेषरूप इति, ब्रह्मविषयत्वात्सर्वविशेषज्ञापकः । **अकृत्स्नेति** सर्वविशेषाज्ञापिका ।

---

१. **निबन्धे** क्वचित् क्वचिद् बोधसौकर्यार्थं **व्याख्यानं** लिख्यते । तत्र प्रथमस्कन्धे प्रकरणविभागकथनानन्तरम् 'कथामात्रं शुको राज्ञ' इत्यादिकारिकानामाभासे **अत्र सङ्गतिरसङ्गतेति तां निरूपयति** इति । समाप्तौ 'कस्मै येन विभासितोऽयमतुलो ज्ञानप्रदीप' इति श्लोके, अयमितीदंशब्देन सम्पूर्णद्वादशस्कन्धात्मकं श्रीभागवतं परामृश्यते । व्यासात् शुकस्याध्ययनमपि सम्पूर्णस्यैवेत्यवगम्यते । तस्मिन् समये सूतशौनकादीनामनुत्पन्नत्वात्तत्सम्वादस्याजातत्वाद्वा 'नैमिशेऽनिमिषक्षेत्रे' इत्यादिना प्रथमस्कन्धे तत्संवादपुरःसरं भागवतप्रवृत्तिरूपा या सङ्गतिः सा असङ्गतेत्यर्थः । अत्र 'कथामात्रं शुको राज्ञ' इत्यादिकारिकात्रयेणोत्तरं व्यासेन समाधावुपलभ्य भागवतं कृतमिति समाधिप्रामाण्यज्ञापनार्थं भाविन एवाधिकारिणः श्लोकैरुपनिबद्धा अग्रे इति । २. परम्परा । ३. इदं भगवता पूर्वं ब्रह्मणे नाभिपङ्कजे स्थिताय भवभीताय कारुण्यात् समाकाशितम् । ४. परम्परोपदेशौ । द्वादशस्य त्रयोदशेऽध्याये । ५. परम्परोपदेशयोः ।

समाधेर्मुख्यत्वे हेत्वन्तरमप्याह कृष्णो मोहमिति सार्धाभ्याम्—

निबन्धः—कृष्णो मोहं समुत्पाद्य साधनानां निराकृतिम् ।
व्यासे प्रोवाच धर्मज्ञे यद्वाक्यं सकले प्रमा ॥ २० ॥
अभिमानान्नारदोक्तं न सम्यगवभाति हि ।
अतस्तदुक्तमेवार्थं समाधावुपलभ्य हि ॥ २१ ॥
वैलक्षण्यं समस्तेभ्यो ज्ञात्वा पश्चादिदं जगौ ।

प्रकाशः—मूले व्यामोहकरणं स्पष्टं न भवतीति कृष्णो मोहं समुत्पाद्ये-त्युक्तम् । अभिमानात् परम्परा दुर्बला ॥ २० ॥ २१ ॥

गौणत्वेनेति संवादित्वेन । तथा चात्राप्युपोद्घातः सङ्गतिरिति न तद्वैयर्थ्यमतः पूर्वोक्तमुपपादनं युक्तमेवेत्यर्थः । एवं च भूतानामधिकारिणां वक्तव्यत्वेऽपि यद्भाविन उक्तास्तत्समाधेः प्रामाण्यबोधनार्थं, या च परम्पराद्युक्तिः सा समाधिप्रामाण्यदार्ढ्यार्थमितिभावः ॥ १८ ॥ १९ ॥

समाधेरित्यादि । नन्वस्त्वेवं पूर्वोक्तानां सङ्गतिस्तथापि व्यासखेदकथायाः कुत्रोपयोग इत्याकाङ्क्षायां **समाधेर्मुख्यत्वे हेत्वन्तरमे**तन्मुखे**नाहे**त्यर्थः—

ननु तथापि '**कृष्णो मोह**'मित्यादि कुत उच्यत इत्यत आहुः **मूल** इत्यादि । तथा च मोहनिवर्तकसामग्रीपौष्कल्येऽपि यस्तदनपगमः स न भगवत्कृतिमन्तरेणेति मूलाशयं स्फुटीकर्तुमुक्तमित्यर्थः । **मूलार्थस्तु–धर्मज्ञे** परमश्रेयस्करत्वेन धर्ममेव ज्ञातवति, **व्यासे** वेदविभागकर्तरि परमशास्त्रज्ञे, **कृष्णो**ऽनन्यभक्तिमात्रलभ्यो भगवान्, **मोहं समुत्पाद्य** मोहोत्पादनद्वारा, **साधनानां** व्यासविमृष्टानां प्रवृत्तिनिवृत्तिमार्गीयसाधनानां, **निराकृतिं** परमफलासाधकत्वं, **प्रोवाच** प्रकर्षेण युक्तिपूर्वकं बोधितवान् । **यद्वाक्यं सकले प्रमा** अन्यवाक्यस्य सर्वत्र प्रामाण्याभावाद्विवक्षिताया भक्तेः सर्वत्र प्रचारो न भविष्यतीति व्यासमेव बोधितवानिति । **समस्तेभ्य** इति, सर्वेभ्यः साधनेभ्यः । शेषं स्फुटम् । ननु समाधिपरम्पराभ्यामेकस्यैवार्थस्य बोधात्कस्य प्रामाण्यं कस्य संवादित्वमिति निर्णेतुं न शक्यत इति समाधिभाषाप्रामाण्यमपि सन्दिग्धमित्याकाङ्क्षाया'मभिमाना'दित्यादिमूलं विवृण्वन्ति **अभिमाना**दित्यादि । तथा च समाधेः श्रीभागवतपश्चाद्भावित्वेन समाधेरेव संवादित्वेऽपि व्यासचरणानां **नारदोक्त** एव संवादित्वं भातमतः समाधेरेव सन्देहवारकत्वात्प्रामाण्यमुच्यते । तावताप्यनपेक्षत्वरूपस्य शब्दप्रामाण्यस्य न क्षतिरिति समाधिभाषायाः परम्परावधिभूतस्य शब्दस्य च प्रतियोगिभेदेन प्रकारभेदेन च प्रामाण्यमित्यर्थः ॥ २० ॥ २१ ॥

---

१. तयोः परम्परोपदेशयोः २. भाविकथनम् । ३. खेदकथनमुखेन । ४. समाधेरेव सन्देहवारकत्वेऽपि ।

नन्वेवं सति मध्यमप्रकरणेनाधिकारार्थो भविष्यतीत्याशङ्क्याह रीत्येति—

निबन्धः—रीत्या यदन्यया प्राह ह्यधिकारास्ततो मताः ॥ २२ ॥
प्रसङ्गसाधनफलान्याह प्रकरणे त्रये ।
अन्ते मध्ये तथा चादौ—

प्रकाशः—भगवदुक्तत्वेन ब्रह्मोक्तत्वेन वा न सूतनारदाभ्यामुक्तं, किन्तु स्वयं यादृशं बुद्धं तादृशं स्ववाक्येनोक्तमिति भागवतार्थः स्वाधिकारानुसारेण तरतमभावेन बुध्यत इति सर्वार्थाज्ञाने मुख्याधिकारोऽपेक्ष्यत इति प्रथमस्कन्धो मृग्यः । प्रकरणत्रयस्यान्यदपि प्रयोजनमाह प्रसङ्गसाधनफलानीति । भागवतप्रसङ्गो न यथाकथञ्चिद्यत्र कुत्रचित् कर्तव्यः, किन्तु महान्तश्चेद् बहवः शुद्धास्तीर्थनिरताः प्रार्थयेयुस्तदैव प्रसङ्गः कर्तव्य इति । तेषां सम्भावनां स्वज्ञानज्ञापनेन दृढां कृत्वा पश्चात् प्रसङ्गः कर्तव्य इति । अन्यथा प्रसङ्गं न फलतीति ज्ञातव्यम् । यस्तु ज्ञानाभिमानी सिद्धान्तमज्ञात्वापि ज्ञानिनं मन्यते, स न ज्ञापनीयः । पश्चादन्यथा ज्ञात्वा महतोऽपि ज्ञानं स्वज्ञाने प्रवेशयितुमिच्छति । संवादसन्तोषैः स च न ज्ञापनीय इति व्यासनारदसंवादेन साधनानि निरूपितानि । तथा भागवतस्य फलं—साक्षाद्भगवत्प्रवेशः, सर्वसन्देहराहित्यं, भगवत्कृपा, सर्वत्र निर्भयत्वं, परमप्रेम चेति परीक्षिच्छुकसमागमेन निरूपितम् । स्थानं निर्दिशति अन्त इति । प्रसङ्गमन्ते भागवतस्य

एवं सप्तभिः समाधेः प्रामाण्योपपादने पुनः शङ्कन्ते **नन्वेवं सतीत्यादि**। ननु मध्यमप्रकरणस्यानेन प्रकारेण समाध्यादिप्रामाण्यनिश्चायनार्थत्वे सति तस्मिन्नधिकारार्थाभावेन स्कन्धान्तःप्रवेशो विरुध्येतेत्याशङ्क्य आह, प्रकरणत्रयेऽपि भङ्ग्यन्तरेणाधिकार एवोच्यत इत्याहेत्यर्थः ।

भगवदुक्तत्वेनेत्यादि । तथा च यत एवं नोक्तं ततो नाद्यमध्यमयोः प्रामाण्यबोधनमात्रार्थत्वं, किन्तु स्वयं यादृशमित्युक्तरीत्योक्तम् । (अतोऽधिकारार्थत्वमपि) । अन्यथाप्रकारभेदो न स्यात् । यदि चैतदन्यतरप्रकारस्यामुख्यत्वेनाभिप्रेतत्वं स्याद्व्यासपादैरग्रिमा कथा नोपक्षिप्येत । यत एतत् त्रयमप्युपन्यस्तमत उभयत्र प्रकरणितया वक्त्रधिकारस्तृतीये तु प्रकरणितया श्रोत्रधिकार उच्यत इत्येवं प्रथमस्कन्धो विचार्यो न तु निबन्धान्तरोक्तरीत्येत्यर्थः । बीजान्तरं वक्तुमाहुः **प्रकरणत्रयेत्यादि** । अत्र किं प्रमाणमित्याकाङ्क्षायामाहुः **स्थान**मित्यादि, **स्थान**मिति प्रमाणम् । **प्रसङ्गमन्त** इति । यद्यपि प्रसङ्गकर्तव्यताप्रकारोऽध्यायत्रयेण सिध्यति, तथापि प्रसङ्गस्य भागवतीयत्वं तृतीयाध्यायान्ते सिध्यतीति

---

१. मध्यमप्रकरणे । २. प्रकारान्तरेण । ३. सूतनारदाभ्यां भगवदुक्तत्वेन ब्रह्मोक्तत्वेन नोक्तम् । ४. सर्वथा प्रामाण्यबोधकत्वाङ्गीकारे । ५. सर्वथा ज्ञानहेतुभूतमुख्याधिकारनिरूपिका तृतीयप्रकरणरूपाऽग्रिमा कथा । ६ः आदिमध्ययोः । ७. प्रसङ्गत इति पाठः आ. ८. इदं भागवतं नाम्नेत्यादिभिः ।

कृतवान् । साधनमितरनिराकृतिं च **मध्ये** । तृतीयप्रकरणे आदावेव **भागवतनिष्पत्तिप्रवृत्तिभक्तय** उक्ताः ॥ २२ ॥

इदानीं प्रथमाधिकारे श्रोता कीदृशोऽपेक्ष्यत इत्याकाङ्क्षायां तं विशिनष्टि **तीर्थयज्ञैरिति—**

निबन्धः— **तीर्थयज्ञैर्महाज्ञ शुचिः ॥ २३ ॥**

कृष्णं पृच्छति यत्नेन कृपासत्सङ्गसम्भवे ।

प्रकाशः—भगवत्कृपया सत्सङ्गे जाते ॥ २३ ॥

एतादृशेऽपि श्रोतरि न सहसा **भागवतं** वक्तव्यं, तद्धृदयमवगाह्यावगाह्यैव, इति प्रथमं वक्तुः शिक्षार्थं व्यासो यथा रीतिं कृतवान् तत् स्पष्टयति **सामान्यतो बुभुत्सां हीति** सार्धेन—

निबन्धः—सामान्यतो बुभुत्सां हि वक्ता वारयति स्वयम् ॥२४॥

उत्कण्ठा चेत्ततोऽपि स्यात् कथाप्रक्षेपणं ततः ।

ततो विशेषप्रश्नश्चेद्वाच्यं रीतिरियं सदा ॥ २५ ॥

तथोक्तम् । **यस्त्वित्यादिनोक्तं**[1] तु पुनः पुनः प्रश्नोत्तरैः । पञ्चमे[2] सिध्यतीति **मध्य** इत्युक्तम् । तथा **भागवतस्येत्यादिनोक्तं** सम्पूर्णेन सिध्यति । तथापि निष्पत्त्यादीनामादावुक्तत्वात्तत आरभ्यैव तेषामेतत्फलत्वप्रतीतिरित्यस्यैव प्रमाणत्वम् । **'अधिकारास्ततो मता'** इति चरणोऽत्राप्यनुवर्तते ॥ २२ ॥

एवं **सपादेन श्लोकेन** पराभिमतप्रकरणविभागाङ्गीकारे बीजमुक्तम् । अतः परं **पादोनेन** पराभिमतं प्रथमश्रोतारं बोधयितुमाहुः **इदानी**मित्यादि—

तीर्थयज्ञैरित्यादि । इदं 'नैमिशे'इत्यादिश्लोकद्वयतात्पर्यम् । **कृपये**त्यादिकं शेषस्य प्रथमाध्यायस्य । अत्र मूलश्लोकद्वयोक्तमहत्त्वशुचित्वादेरुद्देश्यविशेषणत्वादनुपादेयत्वं, शेषस्याध्यायसिद्धस्य विधेयविशेषणत्वादुपादेयत्वमिति परोक्तस्वोक्तयोररुचिरुचिबीजं पादोनेन प्रकाशितम् ॥ २३ ॥

तर्हि **व्यासचरणैः** किमित्युक्तमित्याकाङ्क्षायां तदाशयं सार्धेनाहुः **एतादृश** इत्यादि । **सामान्यत** इत्यर्धोक्तं प्रमेयं द्वितीयतृतीयाध्यायाभ्यां सिध्यति । **उत्कण्ठे**त्यर्धोक्तं चतुर्थाध्यायस्थशौनकसूतसंवादेन **तत** इत्यर्धोक्तं 'नित्यं विष्णुजनप्रिय' इति प्रश्नान्तरमारभ्य सर्वेण सूतशौनकसंवादेनेति ज्ञेयम् । **सदेति मूले,** कालत्रयेऽपीत्यर्थः । तेन यैरिदानीमपि वक्तव्यं

---

१. प्रसङ्गेत्यादिनोक्तम् । २. व्याख्यायाम् । ३. अध्याये । ४. फलम् । ५. प्रकरणेन । ६.निष्पत्त्यादीनामेतस्य **भागवतस्य फलत्वप्रतीतिः** । ७. श्रीभागवतस्य । ८. तात्पर्यमिति पूर्वेण सम्बन्धः ।

प्रकाशः—वक्तुः प्रथमाधिकारमाह वक्ताधिकारीति—

निबन्धः–वक्ताधिकारी सर्वज्ञः सम्प्रदायेन सन्मुखात् ।
श्रुतभागवतो भक्तो ह्यविरक्तस्तथादिमः ॥ २६ ॥

प्रकाशः—ननु वक्तुरधिकारः कुत्रोपयुज्यते ? श्रोत्रधिकारेणैव कार्यसिद्धेरित्याशङ्क्य, मुख्यो वक्त्रधिकारः, तस्य महत्त्वे यादृशस्तादृशोऽपि महान् भवति ॥ २६ ॥

नन्वेवं सति सूतस्य शुकाच्छ्रुतभागवतस्य कथं न फलसिद्धिस्तत्राह सूतत्वादिति—

निबन्धः–सूतत्वाद् वृत्तिरेषा हि तस्मान्न फलितं तथा ।
यद्यप्येषा न विक्रीता नामविक्रयणात्तथा ॥ २७ ॥

प्रकाशः—इदं नामात्मकं भगवतो रूपं, तत्स्वविक्रेतरि विक्रयसाध्यातिरिक्तं फलं न प्रयच्छति ॥ २७ ॥

तैरप्येवमेव वक्तव्यं, न तु यथाकथञ्चिद्यत्किञ्चिदपि पृष्टे सर्वं वक्तव्यमिति शिक्षाबोधनाय व्यासेन प्रथमं श्रोतृस्वरूपमत्रोक्तं, न तु तादृशश्रोतुर्मुख्यतया प्रकरणित्वायेत्यर्थः ॥ २४ ॥ २५ ॥

तर्हि कस्य प्रकरणित्वं मुख्यतयेत्याकाङ्क्षायामाहुः वक्तुरित्यादि—

वक्ताधिकारीत्यादि । एतच्छ्लोकोक्तो गुणचतुष्टययुक्ताधिकारस्तु तृतीयाध्यायस्थैः 'रिदं भागवतं नामे'त्यादिभिः षड्भिः श्लोकैः सिध्यति । तथा च वक्त्रधिकारशेषतया तदुक्तमित्यर्थः । **अत्रेदं बोध्यम्** । यद्यपि शेषशेषिभावविचारे श्रवणं प्रति द्वयोः शेषत्वस्य तुल्यत्वात्प्रकरणित्वादिकमायाति, तथापि 'गायन् विलज्ज' इतिवत्कीर्तनस्य स्वतोऽपि भवनाच्छ्रवणस्य तु वक्त्रैव स्वरूपलाभात्तदधिकारस्य मुख्यत्वं, बाधकाभावाच्च तस्य प्रकरणित्वमिति ॥

वक्तुः प्रकरणित्वे शङ्कते **नन्वित्यादि** । मूले 'अस्यां वै श्रूयमाणाया'मित्यनेन श्रवणादेव कार्यसिद्धेरुक्तत्वात्तत्रानुपयोगे **कुत्रोपयुज्यते ?** तथा च वक्त्रधिकारशेषत्वेन श्रोतृविशेषणादरणमयुक्तमित्याशङ्क्येत्यर्थः । **तस्येति** वक्त्रधिकारस्य । **यादृशस्तादृश** इति, हीनजातीयोऽपि वक्तेत्यर्थः ॥ २६ ॥

वक्त्रधिकारस्य मुख्यत्वे शङ्कन्ते **नन्वेवं सतीति** । वक्त्रधिकारस्य महत्त्वे सति ।

मूले **नामविक्रयणादिति** । पुराणनामविक्रयणादित्यर्थः । तथा च फलाभावस्य दोषान्तरप्रयुक्तत्वात्तावन्मात्रेण वक्त्रधिकारस्य मुख्यत्वानपायान्न प्रकरणित्वहानिरित्यर्थः । अयं फलाभावः 'क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि संसारोत्पत्तिहेतवः' इतिजलभेदोक्ते वक्त्रधिकारे बीजत्वेन ज्ञेयः । एवं त्रैतत्यमन्यदपि प्रमेयं श्रीभागवतादेव बोध्यम् ॥ २७ ॥

---

१. श्रोत्रधिकारनिरूपणम् । २. उभयोः । ३. वक्त्रधिकारस्य । ४. वक्तुः । ५. श्रवणे । ६. फलाभावमात्रेण । ७. वक्तुरिति शेषः । ८. अयं फलाभावो बीजत्वेन ज्ञेय इति सम्बन्धः । ९. जलभेदस्थम् ।

ब्रह्मणः सकाशाच्छ्रुतभागवतस्य नारदस्य कथं नोत्तमत्वं ? तत्राह नारदस्याधिकारित्वादिति—

निबन्धः—नारदस्याधिकारित्वात् कार्यावेशात्तु सर्वतः ।
न वैराग्यं दृढं जातं तेन मध्यम इर्यते ॥ २८ ॥

प्रकाशः—ज्ञानं पूर्णम् । वैराग्याभावान्मध्यमत्वम् । शब्दतो ज्ञानं सूतस्य । अर्थतो ज्ञानं नारदस्य । वैराग्ययुक्तं शुकस्य । भगवदावेशार्थं वैराग्यम् । अन्यथा ज्ञानेन विक्षिप्तो भवेत् । प्रमेयबलं प्रमाणादधिकमिति भगवदिच्छया नारदस्य न वैराग्योत्पत्तिः । भागवतं च स्वोत्पत्तावुक्तफलाधिकं फलं न साधयति । अतोऽधिकारे

एवमत्र **द्वाभ्यां**[1] प्रथमप्रकरणीये वक्त्रधिकारे प्रकरणित्वाय सफले विचारिते पुनः शङ्कन्ते **ब्रह्मण** इत्यादि । तथा च फलाभावस्य दोषान्तरप्रयुक्तत्वे तद्दोषरहितस्य **नारदस्य** कथं नोत्तमत्वमित्याशङ्क्याहेत्यर्थः—

समादधते **ज्ञान**मित्यादि । तथा च तद्दोषराहित्येऽपि[2] **नारदस्य** दोषान्तरयोगान्मध्यमत्वमिति न व्यवस्थाभङ्ग इत्यर्थः । ननु पूर्णज्ञानमवैराग्यं च सूतेऽप्यस्ति, शेषा गुणास्त्वविवक्षिताः, तथा सति सूतस्य कुतो न मध्यमत्वमित्यत आहुः **शब्दत** इत्यादि । **अर्थत** इति, अनुभूयमानाद्भगवत्स्वरूपात् । **वैराग्ययुक्त**मिति, शब्दतोऽर्थतश्च ज्ञानमिति शेषः । तथा च ज्ञानवैराग्ययोः[3] (सूते नामविक्रयो ज्ञानप्रकारविभाजकः । तत एव हेतोर्न ज्ञानं पूर्णं, नारदेऽधिकारो वैराग्यप्रकारविभाजकः । तस्माद्धेतोस्तत्रः न वैराग्यं पूर्णम् । तथा च सूते ज्ञानस्याऽपूर्णत्वाद्वैराग्याभावाच्च कनिष्ठत्वम् नारदे ज्ञानस्य पूर्णत्वेपि वैराग्यस्य अपूर्णत्वात् मध्यमत्वमित्यर्थः ।) प्रकारविभाजकयोः सत्त्वान्न तद्भङ्ग[4] इति वक्तुः प्रकरणित्वं निर्बाधमित्यर्थः । ननु वैराग्यस्य कुतः साक्षात्कारादप्याधिक्यमित्याकाङ्क्षायामाहुः **भगवदावेशार्थ**मिति । यथा ह्येकवस्तूपरुद्धे स्थले नान्यद्वस्तु माति, कुक्षिष्टे च महान् सदा न तिष्ठति, तथा विषयरागोपरुद्धे हृदि भगवानिति तदावेशोपयोगित्वादाधिक्यमित्यर्थः[5] । आवेशे को विशेष इत्यत आहुः **अन्यथे**त्यादि । वैराग्याभावादावेशाभावे साक्षात्कारादिना साहङ्कारो भवेदिति सः[6] आवश्यक इत्यर्थः । तथा च साक्षात्काराभावात्सूतस्यादिमत्त्वं, तत्सत्त्वेऽपि दृढवैराग्याभावान्नारदस्य मध्यमत्वं, उभयसत्त्वात् श्रीशुकस्योत्तमत्वमिति त्रितयव्यवस्था सूपपन्नेति भावः । ननु शब्दबलाज्जायमानं परोक्षमिति न दृढवैराग्यजनकं, **अर्थ**बलादुत्पन्नं तु वैराग्यदार्ढ्यं जनयत्येव, लोकेऽपि तथा निश्चयात्, अतो **नारदे** भगवदवतारे कुतो न दार्ढ्यमित्याकाङ्क्षायां '**नारदस्याधिकारित्वा**'दितिकारिकोक्तेऽर्थे हेतुं स्फुटीकुर्वन्ति **प्रमेये**त्यादि । **प्रमाणा**दिति, साक्षात्कारात् । तर्हि श्रीभागवतस्य श्रुतत्वात्ततः[7] कुतो नेत्यत आहुः **भागवत**मित्यादि । **उक्तफलाधिक**मिति, भक्त्यतिरिक्तम् । **उक्त**मिति, अधिकाराङ्गत्वेनोक्तम् । वैराग्यस्य स्वरूपोपकारकत्वेन फलोप-

---

१. अध्यायाभ्याम् । २. विक्रयणादिदोषराहित्येऽपि । ३. ज्ञानवैराग्यप्रकारेत्यपि पाठः । ४. तस्या व्यवस्थायाः । ५. तस्य भगवतः । ६. वैराग्यः ७. भागवतश्रवणात् ।

भिन्नतया वैराग्यमुक्तम् । अत एव वैराग्यसिद्ध्यर्थं द्वादशाध्याया निरूपिताः । तदैव परीक्षिदधिकारी जातः । अत एव नारदादयोऽपि श्रोतृत्वेन प्रविष्टाः । ततो वैराग्यं सम्पाद्य भागवतं श्रोतव्यमित्यधिकारः फलिष्यति । दोषदर्शनस्य वैराग्यहेतोर्विद्यमानत्वेऽपि नामविक्रयोऽधिकारश्च प्रतिबन्धकौ ॥२८॥

एतदभावे श्रवणावृत्तौ वैराग्यमपि भवतीत्याशयेनाह शुके पूर्वोक्तद्वितयमिति—

निबन्धः—शुके पूर्वोक्तद्वितयं नास्ति तेनोत्तमः स्मृतः ।
दृढभक्तौ शीघ्रलये कथैव प्रतिबन्धिका ॥ २९ ॥

प्रकाशः—ननु शुकश्चेदुत्तमाधिकारी तदा व्यासाद् भागवतश्रवणानन्तरं परमभक्तौ शीघ्रं कथं भगवति न प्रविष्टः ? तत्राह दृढभक्ताविति । भक्तानां मरणे कथैव प्रतिबन्धिका ॥ २९ ॥

अन्यदपि प्रतिबन्धकं भागवतफलजनने निरूपयितुमाह यागादिकरणासक्त्येति—

निबन्धः—यागादिकरणासक्त्या शिष्याणां चैव सङ्ग्रहात् ।
वक्तुः स्वस्योत्तमज्ञानात् फलं सर्वं न शौनके ॥ ३० ॥
दृढज्ञानात् कर्मणा तु भक्त्या युक्तेन मोक्ष्यते ।
स्वतस्तर्कपरिज्ञानादवताराच्च मध्यमः ॥ ३१ ॥
नानासाधनविज्ञानात् संवादान्नारदप्रमा ।
शुकोक्तिमात्रतस्तस्य निःसन्देहात् फलं भवेत् ॥ ३२ ॥
तस्योत्तमत्वं तत्रैव वक्ष्ये प्रकरणोत्तमे ।

कारकत्वेन चावश्यकत्वे गमकमाहुः अत एवेत्यादि । द्वादशाध्याया इति सप्तममारभ्याष्टादशान्ताः । अत एवेति, दृढवैराग्याभावादेव । एवं वैराग्येण व्यवस्थासामञ्जस्यमुपपाद्य द्विसमाहुः दोषेत्यादि ॥ २८ ॥

ननु यदि श्रीभागवतश्रवणेन भक्तिरेव, न वैराग्यं, तदा फलाभावाद् व्यर्थमेव श्रवणमिति शङ्कायामाहुः एतदित्यादि—

व्यभिचारमाशङ्कन्ते नन्वित्यादि । कथैवेति, श्रीभागवतप्रचारार्थं शुकः पाठित इति सा तथा । तथा च प्रतिबन्धकसत्त्वान्न व्यभिचार इत्यर्थः ॥ २९ ॥

एवं प्रकरणित्वाय चतुर्भिर्वक्त्रधिकारो निर्णीतः । अतः परं सार्धैस्त्रिभिस्त्रिविधश्रोत्रधिकारं निर्णयन्ति अन्यदित्यादि—

---

१ नामविक्रयाधिकाराभावे । २ प्रतिबन्धिका । ३ निबन्धश्लोकैः ।

प्रकाशः—भागवतश्रवणानन्तरमपि शौनकस्य न वैराग्यादिकं जातम्। तत्र हेतुत्रयं—यागाद्यासक्तिः, शिष्यसङ्ग्रहः, 'सूतादहमधिकः' इति ज्ञानं च। तर्हि व्यर्थं भागवतश्रवणमित्याशङ्क्याह **दृढज्ञानादिति**। दृढं शास्त्रीयं ज्ञानं, तेन भक्तिः परमा साध्यरूपा भगवति जाता, ततो भगवत्कृपया कर्मद्वारैव मुक्तो भविष्यति। व्यासस्य वैराग्याभावः सिद्धः, तथा नारदस्य। तेन व्यासस्य प्रथमपक्षप्रवेशः कथं न? तत्राह **स्वतस्तर्कपरिज्ञानादिति**। हेतुद्वयं पूर्वस्मादाधिक्ये। स्वतोऽपि तर्कात् परिज्ञानम्। मूलं च भगवतो ज्ञानावतारः। उत्तमत्वाभावायाह **नानासाधनविज्ञानादिति**। साधनविज्ञानं दृढम्। नारदोपदेशश्च दुर्बलः। अतो मध्यमत्वम्। पूर्वाधिकारदोषाभावं परीक्षिति निरूपयति **शुकोक्तिमात्रत इति**। तस्य वैराग्यादिकं स्पष्टं न भवतीत्याशङ्क्याह **तस्योत्तमत्वमिति** ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

ननु सूतः सर्वमाह भागवतं, तत् कथमध्यायत्रितय एव प्रकरणसमाप्तिः? तत्राह **स्वाधिकारनिरूपार्थमिति**—

निबन्धः—स्वाधिकारनिरूपार्थं सामान्येनोत्तरं स्मृतम् ॥ ३३ ॥
कथाक्षेपस्तु मुख्यार्थः प्रथमं तेन पूरितम् ।

प्रकाशः—सूतो हि द्वयमाह, स्वतन्त्रतयाध्यायद्वयं, तेन स्वाधिकारो बोधितः। अन्यद् भागवतत्वेनोक्तम्। तदर्थं कथाक्षेपो मुख्यतया निरूपितः। तेन प्रथमं प्रकरणं पूरितम् ॥ ३३ ॥

व्यर्थमिति, शौनके व्यर्थम्। **शास्त्रीयमिति**, श्रीभागवतश्रवणजन्यम्। **साध्यरूपेति**, प्रेमात्मिका। तथा च श्रवणं भक्तिमुत्पाद्य कर्मसहकारि जातमिति न व्यर्थमित्यर्थः। व्यासाधिकारस्य मध्यमत्वायोर्भयोः सकाशाद् व्यवच्छेदमाहुः **व्यासस्येत्यादि**। **तेनेति**, श्रोतृवक्त्रोस्तुल्यत्वेन। **दुर्बल इति**। अत्र हेतुर्मूल उक्तः। **संवादादिति**। तथा च लोकानधिगतार्थगन्तृत्वात्प्रामाण्येऽप्यनुवादवत्संवादस्याप्यन्यशेषत्वेन **नारदोपदेशस्य** तत्र **दौर्बल्यमित्यर्थः**। **मूले—नारदप्रमेति**। नारदस्येदं **नारदं**, नारदोपदेशजन्यं ज्ञानं, तस्य **प्रमा** प्रामाण्यं, भावप्रधानो निर्देशः। तथा च **नारदोपदेशजन्यज्ञानप्रामाण्यस्य** समाधिसंवादादवगमेन वक्तर्युत्कर्षानभिसन्धानान्मध्यमत्वमित्यर्थः। **निरूपयतीति**, उत्तमत्वाय निरूपयति। एवं चात्र सन्दर्भे यथा यथा वैराग्योत्कर्षस्तथा तथाधिकारोत्कर्ष इति फलितम् ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

एवं प्रकरणविभाजकाधिकारस्वरूपं **सार्धैस्त्रिभिर्निर्णीय** प्रथमप्रकरणस्वरूपस्य तावत्त्वे बीजमेकेन निर्णेतुमाशङ्कन्ते **नन्वित्यादि**। तथा च वक्तुः प्रकरणित्वमसङ्गतमित्यर्थः—

समादधति **सूतो** हीत्यादि। अन्यदिति। चतुर्थाध्यायमारभ्य सम्पूर्णम्। **तदर्थं**

---

१ व्यासस्येत्यादि द्वैपायनो विरहकातर आजुहावेति वाक्यात् सिद्धः। २ **स्वतस्तर्केति** व्यासतर्कमुपक्रम्य, 'किंवा भागवता धर्मा न प्रायेण निरूपिता' इति वाक्यात्। ३ "**साधनेतिति**। आत्मप्रसादसाधनविज्ञानं 'धृतव्रतेने' त्यादि श्लोकोक्तम्। ४ श्रोत्रोः। ५ अध्यायत्रयात्मकत्वे। ६ निर्णेतुमाहुरित्यपि पाठः।

३

न तु कथायां समाप्तायामित्याह अधिकारस्तु सम्पन्न इति—

निबन्धः—अधिकारस्तु सम्पन्नः कथा पश्चाद् भविष्यति ॥ ३४ ॥
निष्पत्तिश्च प्रवृत्तिश्च हेतुर्पूर्वमुदीरिते ।
सूतेन नाधिकारेण द्विरूपत्वमतस्तयोः ॥ ३५ ॥

प्रकाशः—ननु मध्यमप्रकरणेऽपि वक्ता सूत एव, तथोत्तमे, ततस्तस्य कथं न मध्यमत्वमुत्तमत्वं वा ? तत्राह **निष्पत्तिश्च प्रवृत्तिश्चेति** । हेतुर्द्वितीयप्रकरणे । निष्पत्तिप्रवृत्ती उत्तमे । एतद्यन्निरूपितं, भागवतशेषत्वेनैव, न तु स्वाधिकारेण । तर्ह्येवं सति नारदस्यापि मध्यमत्वं न स्यात्तथा शुकस्योत्तमत्वमित्याशङ्क्याह **द्विरूपत्वमतस्तयोरिति** । अन्यवाक्यकथने स्वस्यानधिकारित्वं सिध्यति । स्वयं कथने तु सिध्यत्येव । अत उत्तरयोर्द्विरूपत्वं सूतोक्तत्वेन नारदोक्तत्वे नच ॥३४॥३५॥

कथाक्षेप इति । श्रीभागवतकथनार्थं 'महं चाध्यगमं तत्र निविष्ट' इति तृतीयाध्यायसमाप्तिस्थश्लोकेन कथाकथनप्रतिज्ञा । **तेने**त्यादि, कथनप्रतिज्ञया 'वक्ताधिकारी सर्वज्ञ' इतिकारिकोक्तरीतिकाधिकारस्वरूपं सिद्धं, तेन च **प्रकरणं पूरितम्** । तथा चोपसंहारे वक्तुरुक्तत्वात्तस्यैव मुख्यतया प्रकरणित्वं, न तु द्वयोरपि समानं, श्रोतुस्तथात्वेऽनुपपत्तेः सूचितत्वादित्यर्थः ॥ ३३ ॥

एतदेव वक्तुर्मुख्यप्रकरणित्वं दृढीकर्तुमाशङ्कन्ते **नन्वित्यादि** । **अयमर्थः** । अत्र हि वैराग्योत्कर्षादधिकारोत्कर्षो देहस्थितिश्च[1] कथयेति सिद्धम् । एवं सति सूते सर्वज्ञत्वादीनां त्रिभिरध्यायैः सिद्धत्वाद्वैराग्यस्य च कथनावृत्त्या क्रमेण भवनसम्भवात् । क्रमेण **मध्यमत्वमुत्तमत्वं** च वक्तुं शक्यमित्यर्थः । अत्र समाधिं व्याकुर्वते **हेतुरि**त्यादि । तथा च 'कस्मिन् युगे प्रवृत्तेयं स्थाने वा केन हेतुना ? कुतः सञ्चोदितः कृष्णः कृतवान्संहितां मुनि'रित्येतत्प्रष्टहेतूत्तरं द्वितीये[2] **निष्पत्तिप्रवृत्त्योश्चो**त्तरं यत्तृतीये प्रकरणे उक्तं तन्नामविक्रयदोषतो वैराग्याभावेन श्रीभागवतशेषतया परोक्तत्वेनैवोक्तं, न तु स्वाधिकारेण, अत आवृत्त्यापि वैराग्याजननात्तथेति न प्रकरणविभागभङ्ग इत्यर्थः । पुनराशङ्कन्ते **तर्ह्येवं सतीति**, श्रीभागवतशेषत्वेन कथनस्याधिकाराप्रयुक्तत्वे सति **शुकनारदाभ्यामपि** यदुक्तं तस्य सर्वस्यापि तथात्वात्तयोरपि मध्यमोत्तमभावो न स्यादित्यर्थः । **अत** इति, स्वयं कथनात् । **द्विरूपत्वमिति**, यथायथं मध्यमत्वमुत्तमत्वं चेत्यर्थः । **सूतोक्तत्वेने**त्यादि, नोक्तमिति शेषः । तथा च भागवतशेषत्वेन कथनेऽपि स्वयं कथनान्न स्वस्वाधिकारहानिः, सूतस्य च परोक्तानुवादत्वेन तत्कथनान्नाधिकाधिकारा[3]वासिरतः साङ्कर्याभावात्प्रथमप्रकरणेऽध्यायत्रयेण पूरणं युक्तमित्यर्थः[4] ॥३४॥ ३५ ॥

---

१. देहस्थितिः सिद्धं वैराग्यं कथयतीति सम्बन्धः । २. प्रकरणे । ३. हीनाधिकारी । ४. श्रीभागवतशेषत्वात् ।

ननु मध्यमप्रकरणे कथमध्यायत्रयम् ? तत्राह मध्यमे स्वाधिकारित्वमिति—

निबन्धः—मध्यमे स्वाधिकारित्वं हेतूक्त्यैव निरूपितम् ।
अनिष्पत्तेराद्यवच्च प्रश्नोत्तरनिरूपणम् ॥ ३६ ॥

प्रकाशः—स[1] हि भागवतं बोधयितुं नागतः, स्वापेक्षया व्यासस्योत्तमत्वात् । किन्तु यथा वदेत् स[2] भागवतं तथा हेतुमाह । अतो भागवतात्तेन[3] यथा निर्धारितोऽर्थ इति तस्याधिकारोऽवगम्यते । तथापि कथं पूर्वतुल्यता ? तत्राह **अनिष्पत्तेरिति** । **भागवतं** यदा व्यासमुखाद् भविष्यति तदैवाधिकारो निरूपणीयो भवति । अ[4]तस्तस्यानिष्पत्तेराद्यवदेवाध्यायत्रयम् । विभागोऽपि पूर्ववदेवेत्याह **प्रश्नोत्तरनिरूपणमिति** । एकेन प्रश्नः, उत्तरं द्वयेन । एतावाँस्तु विशेषः । प्रथमाध्याये प्रश्नहेतुः, द्वितीयारम्भे प्रश्न इति ।

ननूत्तमाधिकारे प्रथमाध्याये पूर्ववदुत्तरं वक्तव्यं, तत्राह उत्तमे प्रश्न एवेति—

निबन्धः—उत्तमे प्रश्न एवाद्ये स्कन्धे श्रोत्रधिकारकृत् ।
स्पष्टत्वान्न विशेषेण वक्तुरुक्ताधिकारिता ॥ ३७ ॥
सामान्यमङ्गकथनमेकोक्त्यैवोक्तवाञ् शुकः ।
सामान्यश्च विशेषश्च प्रश्न आद्ये द्विधा मतः ॥ ३८ ॥
अतोऽध्यायद्वयं प्रोक्तमुत्तरे सूचितं परम् ।
सम्पूर्णेनैव सर्वेषामुत्तरं सम्भविष्यति ॥ ३९ ॥

एवं **सार्धेन** शङ्का वारिता । अतः परं द्वितीयेऽपि वक्तुरेव प्रकरणित्वमेकेन बोधयन्ति **ननु मध्यमेत्यादि—**

अत इति हेतूक्तेर्ज्ञानसापेक्षत्वाज्ज्ञानस्य च ज्ञापकवाक्यसापेक्षत्वात् । **तथापीति**, अधिकारसत्त्वेऽपि । **निरूपणीय** इति, ज्ञातुं योग्यः । तथा च तदभावेनाधिकारज्ञानाभावान्नोत्तमत्वं, स्वयं ज्ञानेन कथनाच्च न हीनत्वं, अतो मध्यमत्वं, तेन पूर्वतुल्यतेत्यर्थः ॥ ३६ ॥

एवं प्रकरणद्वये प्रकरणिमुख्यौ निर्णीय तृतीयप्रकरणे तं निश्चिन्वन्ति **त्रिभिः** । **ननूत्तमेत्यादि** । यदि वक्तुरेव प्रकरणित्वं मुख्यतया तदा **प्रथमाध्याये** श्रोतृविचारात्, प्रथमेऽध्याये **पूर्ववत्** प्रथमप्रकरणप्रश्नानन्तरमिव, **उत्तरं वक्तव्यं**, श्रोत्रधिकारबोधनाय प्रश्नमुक्त्वा, तत्रैवाग्रे वक्त्रधिकारबोधनाय वक्तव्यं, **तत्राह** तादृश्यामाशङ्कायां वक्त्रधिकाराकथनेऽपि तस्य सिद्धिमाहेत्यर्थः—

---

१ **स** इति नारदः । २ **स** इति व्यासः । ३ तेनेति नारदेन । ४ **अत** इति व्यासमुखात्, अनिष्पतेरिति । तथाच अङ्गिनोत्पत्त्यभावेऽङ्गस्याधिकारस्याध्यायत्रयेण निरूपणमिति भावः । ५ श्रीभागवताभावेन । ६ मध्यमत्वेन । ७ अध्यायत्रयेण कथनम् । ८ वक्तुः प्रकरणित्वम् । ९ प्रथमाध्याये । १० वक्तुरधिकारस्य ।

प्रकाशः—उत्तरं सार्धाध्यायद्वयेन द्वितीयस्कन्धे वक्तव्यम्। तावताधिकारो भवति। अत एव चतुर्थाध्याये मङ्गलाचरणम्। उत्तमस्य वक्तुरधिकारोऽपि भगवच्चरित्ररूप इति भागवततुल्यत्वान्न प्रथमस्कन्धे निरूपित इत्यर्थः। यतः श्रोतुरेवाधिकारोऽधिकारशब्देन मुख्यतया निरूपणीयः। व्यावहारिकाधिकारस्तु स्पष्टत्वान्न निरूपणीय इत्यर्थः। विशेषाधिकारस्य तर्हि का गतिरित्याशङ्कायामाह सामान्यमङ्गकथनमिति। शुकस्तूत्तरत्वेन भागवतं वक्ष्यमाणः प्रथममङ्गान्येकेन स्कन्धेनोक्तवान्। तत्राङ्गत्वाविशेषात् स्वाधिकारमप्यध्यायद्वयेनोक्तवान्। तत्र हेतुः सामान्यश्चेति। नन्वेतावतैव भागवतं समाप्नोतु, तावज्ज्ञानेनैवोत्तमत्वं सिद्ध्येत्, किं विस्तरेणेत्यत आह सूचितं परमिति। उद्देशमात्रेणोक्तम्। वस्तुतस्तूत्तरत्वेन सर्वमेव भागवतं भविष्यति ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

उत्तरमित्यादि। **भवतीति** सिद्धो भवति। तत्र गमकमाहुः **अत एवेत्यादि**। **स्पष्टत्वादिति**, **नारदव्यासादिसर्वमुनिप्रत्युत्थानेनोत्कर्षस्य** स्पष्टत्वात्। तथा चोत्तरानुक्तावपि तावतैव वक्तुरुत्तमाधिकारस्य सिद्धत्वान्नोक्तः। तथा च विशेषतोऽनुक्तावपि न स्कन्धार्थे न्यूनतेत्यर्थः। **विशेषाधिकारस्येत्यादि**। 'वक्ताधिकारी'ति कारिकोक्तेऽधिकारे सर्वज्ञत्वादित्रयं विवक्षितस्य वक्तुर्व्यापकं लक्षणम्। वैराग्यं तूत्कर्षद्वारावान्तरविभाजकं, तच्चेत्सर्वमुनिप्रत्युत्थानादिना सिद्धं, तर्ह्युत्तमाधिकारस्य तावतैव सिद्धत्वादग्रिमस्कन्धोक्तस्य **विशेषाधिकारस्य का गतिः**? तदुक्तिप्रयोजनाभावान्न तत्र प्रवेशः, भगवच्चरित्रत्वेन निरूपणे तु मङ्गलाचरणोत्तरभावित्वं युक्तं, अतस्तत्रानुक्तत्वात्पूर्वं च प्रयोजनाभावात्कुत्र निवेश **इत्याशङ्कायामाह** द्वितीयस्कन्धस्याङ्गनिरूपकत्वात्तत्र निवेशमाहेत्यर्थः। **मूले—सामान्यमङ्गकथन**मिति। अङ्गकथनं, सामान्यम् श्रीभागवतश्रवणशेषत्वात् सर्वस्कन्धसाधारणम्। अत **एकोक्त्या** एकस्य द्वितीयस्कन्धस्य कथनेनैव, **शुक** उक्तवानिति योजना। तदेतद् व्याकुर्वन्ति **शुक** इत्यादि। **तत्रेति**, द्वितीयस्कन्धोक्तपदार्थेषु। **उक्तवानिति**, श्रोतुः श्रद्धादिज्ञानार्थं मङ्गलाचरणात् प्रागेवोक्तवान्। तथा च ततः प्राक्कथनेऽपि द्वितीय एव निवेशो युक्त इत्यर्थः। **तत्र हेतुरिति**, द्वाभ्यां कथने हेतुः। **उत्तमत्वमिति**, श्रोतुरुत्तमत्वम्। समादधते **उद्देशेत्यादि** **सर्वमिति**, द्वितीयमारभ्यासमाप्ति। तथा च सङ्क्षिप्तश्रवणेन तत्सिद्धावग्रे न वदेद्, अतो ज्ञायते विस्तरश्रवणेनैव तत्सिद्धिरिति न तस्य वैयर्थ्यमित्यर्थः ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

---

१. प्रत्युत्थानादिना। २. कारिकोदित इत्यपि पाठः। ३. उत्कृष्टवैराग्यम्। ४. वैराग्यं प्रकरणविभाजकमित्यर्थः। ५. त्रिष्वनुस्यूतम्। ६. उत्थानादिना। ७. वक्तुरधिकारे। ८. भगवच्चरित्रनिरूपणे। ९. मङ्गलाचरणात्। १० उत्तमत्वसिद्धौ। ११ सर्वकथनस्य।

ननु कुतोऽवगम्यते प्र[1]थमस्कन्धप्रश्नानामेव सर्वमुत्तरं भवतीति ? तत्राह अत एवेति—

निबन्धः—अत एव समस्तस्य प्रश्नाध्यायोऽयमीरितः ।
भगवान् प्रतिपाद्योऽत्र षडर्था भगशब्दगाः ॥ ४० ॥
तस्मात् षडेव सम्प्रश्ना अभिनन्दस्तथैव यत् ।
ज्ञानवैराग्यधर्माणामैश्वर्ययशसोः श्रियः ॥ ४१ ॥
समूहो भगशब्दार्थः कृष्णस्तद्वानिहोच्यते ।
चतुर्णां प्रथमेऽध्याये द्वयोः कृष्णेन चापरे ॥ ४२ ॥
ऐश्वर्यधर्मयो रूपमन्येषां प्रथमे जगौ ।

प्रकाशः—यतः समस्तेनैवोत्तरं, अतः प्रथमाध्यायः सर्वत्र प्रश्नाध्यायः । नन्वेतदप्यसङ्गतमित्याशङ्क्य हेतुं साधयति **भगवान् प्रतिपाद्योऽत्रेति** । अर्थवशादेवं कल्प्यते, सर्वत्र भागवते भगवानेव प्रतिपाद्यः । तत्र 'भग'शब्दार्थाः षट् । त एव च ज्ञातव्याः । अन्यथा भागवतप्रवृत्तिर्व्यर्था स्यात् । ते च षट् प्रश्नाः प्रथमाध्याये स्पष्टाः । तत्रापि हेतुः **अभिनन्द इति** । 'यत्कृतः कृष्णसम्प्रश्न' इति वाक्यम् । सर्वैः प्रश्नैः कृष्ण एव पृष्टः । स एव लीलारूपः सर्वत्रोच्यते । अनेन ग्रन्थ-

---

एवं [2]त्रिभि[3]र्द्वयोस्त्रिविधाधिकारविचारेण प्रकरणार्थरूपोऽधिकारो विचारितः। अतः परमध्यायार्थरूपो[4] विचारणीयः । तं[5]त्रापि मुख्यतया श्रोतुरेव विचारणीयः । तस्यैव स्कन्धार्थत्वात् । तदर्थमेव ग्रन्थप्राकट्यात् । उपक्रमोपसंहारयोस्त[6]स्यैव कथाया उक्तत्वाच्च । तं[7]त्र **शौनकस्य व्यासपादैः** प्रथममुपनिबन्धानात् प्रथमं तस्यैव पूर्वं विचारणीय[8]ः । तेन शास्त्रसङ्गतिरपि स्फुटीकरणीया, 'अनया सङ्गत्येदं शास्त्रमवतीर्ण'मिति । किञ्च, शास्त्रस्यार्थतो भगवत्त्वं यत्पूर्वमुद्दिष्टं, तदपि परीक्ष्य निश्चायनीयमिति तदर्थं **सार्धैस्त्रिभिः** प्रथमाध्यायस्य सर्वशास्त्रावतारकत्वं समर्थयन्ति **ननु कुत** इत्यादि—

नन्वेतदप्यसङ्गतमित्यादि । एतदध्यायप्रश्नानामेव सर्वमुत्तरमित्यप्यसङ्गतं, तत्र तत्र शौनकप्रश्नानां भूयसां दर्शनादयुक्त**मित्याशङ्क्य हेतुं साधयति**, सर्वस्यैतदुत्तरत्वगमकं हेतुमुपपादयतीत्यर्थः । **एव**मिति । सम्पूर्णस्योत्तरत्वं कल्पनाबीजं वक्तुमर्थमाहुः **सर्वत्रे**त्यादि । **अन्यथे**ति, तेषां षण्णामज्ञातव्यत्वे । **व्यर्था स्या**दिति, ब्रह्मत्वादिना ज्ञानस्योपनिषद्भिरेव भवनात्तथा स्यात् । नन्वैश्वर्यादीनां तत्र कण्ठतोनुक्तत्वाद् गमकस्य चादर्शनात्सङ्ख्यामात्रेण न

---

१ "**प्रथमस्कन्धप्रश्नानामिति** । प्रथमेऽध्याय इत्यर्थः । " "**सर्वत्रेति** । निबन्धादिषु—प्रकरणेऽवतारस्तु केवलस्यैवेति **सुबोधिनीतः** । ब्रह्मानन्देनाविर्भावा सम्भवाच्च । ऐश्वर्यादिप्रकाराणा**मावरणभङ्गो**क्तवाक्यविरुद्धत्वात् । **अव्याप्त**मिति (?) सर्गादिलीला हि शास्त्रार्थः । ...लक्षणं, तच्चाधिकारादौ नास्ति, परन्तु, लक्षण घटकलीलाप्रासङ्गिक्यपि वाच्या, अन्यथा स्वस्मिन्नव्याप्तेः, तथा चाधिकारादावपि तत्समानयोगक्षेमेऽव्याप्तिं जनयतीत्यर्थः । " २. प्रकरणैः । ३. श्रोतृवक्त्रोः । ४. अधिकार इति शेषः । ५. अधिकारविचारे । ६. श्रोतुः । ७ अधिकारिषु । ८. अधिकार इति शेषः । ९. भागवतप्रवृत्तिर्व्यर्था स्यात् ।

सङ्गतिरपि निरूपिता भवति । पूर्वोक्तमेव स्पष्टयति ज्ञानवैराग्य इति । नात्र क्रमो विवक्षितः । वस्तुतस्तु स्कन्धद्वयेनैकैकम् । ज्ञानमाद्याभ्याम् । सर्गविसर्गाभ्यां वैराग्यम् । धर्मो द्विविधः स्थानपोषणभेदेन । ऐश्वर्यमपि प्रल्हादमन्वादिभिः सूच्यते । यशश्च नवमदशमाभ्याम् । श्रियोऽन्त्याभ्याम् । तत्र हि स्वरूपे रमणं सेत्स्यति । ऐश्वर्यादिक्रमेण वा सर्वमुपपाद्यम् । एवं सति स्वाधिकारसिद्ध्यर्थं सूतेन यथोत्तरितं तथा विभागमाह चतुर्णामिति । उत्तरमध्ये प्रथमाध्याये प्रश्नचतुष्टयस्योत्तरम् । त्रयाणां वा समशः । टिकायां तथैव व्याख्यातम् । कृष्णेन सहितयोर्द्वयोः, द्वितीयाध्याये तूत्तरम् । अनेन प्रत्येकसमुदायाभ्यामुत्तरं देयमिति ज्ञापितम् । स्पष्टार्थमुभयोर्नामाह ऐश्वर्यधर्मयोरिति । अवतारधर्मयोरित्यर्थः ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

समूहोऽध्यायार्थो भवतीति सर्वत्र ज्ञापयितुं प्रथमाध्यायस्य वाक्यार्थान् सङ्गृह्णाति मङ्गलमिति—

निबन्धः—मङ्गलं प्रकृतोत्कर्षः प्रसङ्गः सूतसंस्तुतिः ॥ ४३ ॥

स्पष्टा इत्याकाङ्क्षायामाहुः तत्रापि हेतुरिति । स्पष्टत्वेऽपि हेतुः । तथा च भगवान्सात्त्वतां पति'रिति वदतां षट् प्रश्नाँश्च कुर्वतामभिनन्दनबोधके सूतवाक्ये 'कृष्णसम्प्रश्न'इति कथनात्तत्तात्पर्ये विचारिते भगवत्त्वज्ञानार्था एते प्रश्ना इत्यवगम्यते । तत्सन्दर्भविचार एव स्पष्टत्वे हेतुरित्यर्थः । एवं सत्यवान्तरप्रश्ना विशेषावगत्यर्था इति सर्वस्यैवोत्तरत्वाच्छौनकस्याधिकारः सूपपन्न इत्यर्थः । एतेनैवार्थतो भगवत्त्वमपि शास्त्रस्य व्याससचरणैर्बोधितमित्याहुः स एवेत्यादि । शब्दतो भगवत्वं स्कन्धसङ्ख्यातात्पर्योक्त्या प्रागेव स्फुटीकृतमति न कापि शङ्का । अनेनेति, प्रश्नोत्तरार्थस्फुटीकरणेन । सङ्गतिरिति, कृपारूपा सङ्गतिः । क्रम इति, 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्ये'ति वाक्योक्तक्रमः । एकादशद्वादशयोः श्रियो निरूपणं न स्फुटमिति तत्स्फुटीकुर्वन्ति तत्रेत्यादि । एवमत्र सङ्गत्यात्मको व्यासाशयगोचरः शास्त्रावतरणहेतुर्विचारितः । अतः परमवान्तरसङ्गतिं प्रश्नोत्तरयोः सूतोक्त्यनुसारेण विचारयन्ति एवं सतीत्यादि सर्वस्योत्तरत्वे सिद्धे सति । आहेति, अवान्तरसङ्गतिबोधनार्थमाहेत्यर्थः । चतुर्णामिति, भगशब्दार्थानां धर्माणाम् । अनेनेति, द्विधोत्तरकथनेन । ज्ञापितमिति, व्यासचरणैर्ज्ञापितम् । अवतारधर्मयोरित्यर्थ इति, अवतारकथाप्रश्नोत्तरेणैश्वर्यस्य, 'स वा इदं विश्वममोघलील' इत्यादिधर्मप्रश्नोत्तरेण धर्मस्येत्यर्थः ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

एवमवान्तरसङ्गतिं सर्वसम्मतप्रकरणार्थं च विचार्य सिद्धान्तेन प्रकरणार्थं बोधयितुमध्यायार्थान् विचारयन्तः सार्धैस्त्रिभिः प्रथमाध्यायार्थमाहुः समूह इत्यादि—

---

१. शौनकानाम् । २. सताम् । ३. स्पष्टत्वे सन्दर्भविचार एव हेतुरिति सम्बन्धः । ४. उभयत्र प्रश्न इति शेषः ।

प्रश्नः साधारणो हेतुः प्रश्नो ज्ञानपरः परः ।
कृष्णे चतुर्धा वेदे तु द्वयं तेन द्विधा मतम् ॥ ४४ ॥
प्रयोजनक्रियारूपैर्विद्यमानविमोचकः ।
श्रवणादरमध्यास्ते त्रयः प्रश्नाः क्रमात् कृताः ॥ ४५ ॥
अग्रे केन विमोचेत तदर्थं च स्वयोग्यताम् ।
पूर्वमाह ततः प्रश्नं प्रथमाध्यायसङ्ग्रहः ॥ ४६ ॥

प्रकाश—मङ्गलं प्रथमश्लोकार्थः । प्रकृतोत्कर्षः श्लोकद्वयस्य, तथा प्रसङ्गः । त्रिभिः सूतसंस्तुतिः । एकेन प्रथमप्रश्नः । हेतुप्रश्नः सार्धाभ्याम् । आद्यो धर्मपरो द्वितीयो ज्ञानपरः । ततः कृष्णे चतुर्धा प्रश्नः । एवं सति पूर्वप्रश्नद्वयस्य कृष्णपरत्वं न भविष्यतीति तत्समर्थनार्थं मार्गभेद एव न त्वर्थभेद इत्याह **कृष्णे चतुर्धा वेदे तु द्वयमिति** । चतुर्मूर्तिर्भगवान् कृष्णः, काण्डद्वयार्थरूपश्च, तेन द्विधा । अतः षड् भेदा अपि गुणपर्यायाः प्रष्टव्याः । तेषु ज्ञातेषु सर्वं ज्ञातं भवतीति । प्रकारचतुष्टयेऽपि द्विरूपत्वं, तदाह **प्रयोजनक्रियारूपैरिति** । कृष्णस्य जन्मप्रयोजनप्रश्नः, क्रियाप्रश्नः, रूपाणां च प्रश्न इति त्रयाणामेकत्र प्रश्ने हेतुमाह **विद्यमानविमोचक इति** । भगवानवतीर्य योगिनो ज्ञानिनो भक्तांश्च मोचितवान् । भक्तमोचनार्थमेवावतीर्ण इति प्रथमं क्रियया सृष्ट्यादिना ज्ञानिविमोचकः, रूपेण योगिविमोचक इति । तन्मध्ये चाविहितभक्ताः । चतुर्थस्यैकस्यैव पृथक्त्वे तुल्यबलत्वायाह **अग्रे केन विमोचेतेति** । तत्र चाधिकारो वक्तव्य इति स्वाधिकारं वदन्नाह ।

तथेति, श्लोकद्वयस्य । **धर्मपर इति**, श्रेयोलिङ्गाद्धर्मविषयकः । **ज्ञानपर इति**, आत्मप्रसादलिङ्गाज्ज्ञानविषयकः । **तत इति**, 'सूत जानासी'त्यारभ्यासमाप्तीत्यर्थः । **मूले—द्विधा मतमिति** । प्रकारद्वयेन भगवत्परत्वं मतमित्यर्थः । **द्विरूपत्वमिति**, **विद्यमानानां** भाविनां च **विमोचक** इति भेदेन द्विरूपत्वम् । **एकत्रेति**, सँल्लग्नतया । **भक्तांश्चेति**, भक्तपदं ज्ञानियोगिनोर्विशेषणम् । मार्गाणां त्रित्वात् पक्षान्तरमाहुः **तन्मध्य** इत्यादि । ज्ञानियोगिनोर्मध्ये पूर्वं **मुनि**पदेन ज्ञानिनामुक्तत्वात् **सूरि**पदेन योगिनां वक्ष्यमाणत्वात् श्रवणादरबोधकेन 'को वा भगवतस्तस्ये'ति मध्यमश्लोकेन श्रवणादरलिङ्गोक्त्ते बोध्या इत्यर्थः । इदं **श्रवणादरमध्यास्त** इति मूलस्य विवरणम् । एवं सत्यवतारप्रयोजनेन पुष्टिभक्तिविमोचकत्वं ज्ञेयम् । **चतुर्थस्येति**, 'ब्रूहि योगेश्वर' इत्यनेनोक्तस्य **तत्रेति**, अग्रिमविमो-

---

१. 'पुंसामेकान्ततः श्रेयस्तन्नः शंसितुमर्हती'ति । २. अतः साधोऽत्र यत् सारं समुद्धृत्य मनीषया । ब्रूहि नः श्रद्दधानानां येनात्मा सुप्रसीदतीति । ३. ज्ञानिनामित्यपि पाठः । ४. अविहितभक्ताः । ५. पूर्वोक्तम् ।

अनेक प्रथमाध्याये जिज्ञासुः प्रथमाधिकारी निरूपितः, वक्ता च श्रुतभागवत इति ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

द्वितीयाध्यायसङ्ग्रहमाह उत्साहसङ्गतिरिति—

निबन्धः--उत्साहसङ्गतिः प्रह्वःशास्त्रारम्भोपदेशनम् ।
प्रश्नाभिप्रायकथनेनाभिनन्दनमुक्तवान् ॥ ४७ ॥
पञ्चभिः पूर्वनिर्धारो द्वितीये द्वादश स्मृताः ।
एवं वेदार्थनिर्धारे श्लोकाः सप्तदश स्मृताः ॥ ४८ ॥
धर्मज्ञानार्थनिर्धाराच्छ्रवणादिभिरादरात् ।
प्रेमोत्पत्तो हरिः प्रीतस्तेन सर्वं भवेदिति ॥ ४९ ॥
जन्मकारणलीले च सप्तभिः पञ्चभिःव्यर्धात् ।
भक्तोद्धारो भक्तिसिद्धिः क्रमादेव तयोः फलम् ॥ ५० ॥
सत्त्वनिर्धारणे पञ्च गुणातीते द्वयं स्मृतम् ।
विशेषभक्तिसिद्ध्यर्थं विचारोऽत्र निरूपितः ॥ ५१ ॥
सामान्यतोऽस्य मूलत्वकथनाय विशेषतः ।
नोक्तं स्वरूपाविज्ञानात् फलवाक्यं मृषा भवेत् ॥ ५२ ॥
अतस्तदुक्त्वा पश्चात्तु कुन्तीवाक्ये वदिष्यति ।
उत्पादनं प्रवेशश्च नानात्वं भोगरक्षणे ॥ ५३ ॥
पूर्वं पञ्चविधा लीला द्वितीयस्तेन पूरितः ।

प्रकाशः----सूतस्योत्साहः कथनप्रयोजनं च प्रथमश्लोकार्थः । ततो द्वाभ्यां प्रह्वः शुकनमस्कारः । शास्त्रारम्भोपदेशनमेकेन, अभिनन्दनं तथा । ततः स्वयमेव श्लोकविभागानाह पञ्चभिरिति । कर्म पञ्चविधमिति, 'पुरुषो द्वादशविध' इति

चने । वदन्निति, 'कलिमागतमाज्ञाये'त्यादिना वदन् । सिद्धमाहुः अनेनेति, वाक्यार्थसङ्ग्रहेण । अत्र वक्तुरधिकार आर्थो ज्ञेयः ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

एवं सार्धैस्त्रिभिः प्रथमान्यायार्थ उक्तः । अथ सार्धैः सप्तभिर्द्वितीयाध्यायार्थमाहुः द्वितीयेत्यादि—

मूले—उत्साहसङ्गतिरित्यत्रोत्साहसहिता सङ्गतिरित्युत्तरपदलोपी समासो ज्ञेयः । तथेति, एकेन । पञ्चभिरिति, 'स वै पुंसा'मित्यादिभिः । द्वादशेति, 'वदन्ति तत्तत्त्वविद' इत्यादयः

---

१. सत्यनिर्धारण इति । सत्वस्यश्रेयोदातृत्व निर्धारणे । २. गुणातीत इति । निरूपकत्वं समाप्तम्यर्थ ।

तत्त्वविचारे द्वादश, एतावानेव वेदार्थ इति । 'सप्तदशो वै प्रजापति'रिति श्रुतेः । सप्तदश श्लोका वेदार्थे परिनिष्ठिताः । वेदे ततोऽधिका गतिर्नास्तीति सूचितम् । एतयोः प्रथमं निरूपणे निमित्तमाह धर्मज्ञानार्थनिर्धारादिति । एतयोः प्रजापतिमात्रत्वं चेत्तदैव भगवच्छ्रवणादिकं भवतीति भगवच्छ्रवणसिद्ध्यर्थं पूर्वं तयोर्निरूपणम्। तत आदरेण श्रवणादिकरणे प्रेमोत्पत्तिः । ततो हरिप्रीतिः । ततोऽवतारादीति क्रमः सिध्यति । जन्मकारणनिर्धारे सप्त श्लोकाः, लीलायां पञ्च । एतयोः प्रयोजनमाह भक्तोद्धारो भक्तिसिद्धिरिति । प्रथमे भेदद्वयमाह सत्त्वनिर्धारणे पञ्चेति । पञ्चानां विचारकत्वात् । विचारोपयोगमाह विशेषभक्तिसिद्ध्यर्थमिति । प्रयोजनान्तरमाह सामान्यत इति। ननु कृष्णावतारे प्रयोजनं पृष्टं, तत कथं सामान्यावतारप्रयोजनेनोत्तरं ? तत्राह विशेषतो नोक्तमिति । तत्र हेतुः शौनकस्य कृष्णस्वरूपाविज्ञानात्। ज्ञाते हि स्वरूपे जन्महेतुर्वक्तव्यः । यदि स्वरूपज्ञानरहितस्यापि जन्मप्रयोजनमुच्यते तदा हेत्वभावे फलमिव तं प्रति फलवाक्यं मृषा भवेत् । अनेन सर्वत्रैवं वक्तव्यमित्युपदेशः सूचितः । अतः प्रथमं स्वरूपमुक्त्वा, तदवगतं न वेति निश्चित्य, श्रद्धातिशयात्तदवगतिं ज्ञात्वा, पश्चात् कुन्तीवाक्ये वदिष्यति, 'केचिदाहुरजं जात'मित्यादिना । लीलायाः पञ्चविधत्वं स्पष्टयति उत्पादनमिति । अवतारात् पूर्वं स्वरूपस्थितस्य पञ्चविधा लीला । अवतीर्णस्यानेकविधामग्रिमाध्याये वक्ष्यति । एतावान्

वेद इति, पूर्वोत्तरकाण्डात्मके । एतयोरिति, धर्मज्ञानयोः । प्रजापतिमात्रत्वमिति यज्ञात्मकत्वम् । भवतीति, विहितकारिणां कृतिविषयो भवति । अयमाशयः । प्रमाणनिष्ठानां हि विहितत्वेन धर्मकरणम् । धर्मस्तु चोदनालक्षणः । सा तु वेदैकनिष्ठा । प्रत्यक्षवेदस्तु श्रवणादिकं चोदयन्नपि भगवच्छ्रवणत्वादिना रूपेण न चोदयतीति प्रामाणिकप्रवृत्तिस्तत्र कुण्ठिता भवति । अतस्तद्दूरीकरणाय विहितत्वमवश्यं वक्त्रा कथनीयम् । तच्च छान्दसस्य शक्यं, न तु तदनिष्णातस्य । सूतस्तु छन्दोऽनधिकारीति विधिं वक्तुमशक्तः सङ्ख्यामुखेन बोधयति । सङ्ख्यायाः प्रयोजनवत्त्वं च जातेष्ट्यधिकरणे प्रतिपादितम्। एवं सति श्लोकसङ्ख्यया प्रजापतिसङ्ख्यास्मारणे ततो योगजधर्मेण श्रवणादिबोधकविधौ दृष्टे सर्वमेव सेत्स्यतीत्याशयेन प्रथमं तयोर्निरूपणमित्यर्थः । अवतारादीति, शौनकाद्यात्मनि भगवदवतरणे विहितसर्वभावप्राप्तिरित्यर्थः । सप्तेति, 'सत्त्वं रज'इत्यादयः । पञ्चेति, 'स एवेद'मित्यादयः । प्रथमे इति, जन्मकारणे । पञ्चानामिति, 'अधिष्ठानं तथा कर्ते'ति वाक्योक्तानाम् । विचारोपयोगमिति, गुणातीतनिरूपकवाक्यद्वयोक्तविचारोपयोगम् । मूले–सामान्यतोऽस्येत्यत्र 'अस्ये'त्य-

१. अनेन इति कृष्णावतारप्रयोजनपृष्टाय शौनकाय सामान्यावतारप्रयोजनेनोत्तरे दत्ते क्रोधाजनेन कृष्णावतारप्रयोजने पृष्टेपि सहसोत्तरादानेन चेत्यर्थः । २. नोदना । ३. भगवच्छ्रवणे । ४. तस्याः कुण्ठतायाः । ५. वैदिकशक्यम् ।

४

द्वितीयाध्यायार्थः । अनेन श्रोता अमत्सरो वक्ता चतुरश्चेति द्वितीयाधिकारः सूचितः ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ ५० ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

तृतीयाध्यायार्थमाह आविर्भाव इति—

निबन्धः—आविर्भावोऽवतारश्च तुल्यसत्त्वशरीरगः ॥ ५४ ॥
अशुद्धशुद्धभेदेन निर्गुणः कृष्ण एव हि ।
ज्ञानशक्त्या क्रियाशक्त्या चावतारं करोत्यजः ॥ ५५ ॥
वराहादिस्वरूपेण बलकार्यं जनार्दनः ।
दत्तव्यासादिरूपेण ज्ञानकार्यं तथा विभुः ॥ ५६ ॥

प्रकाशः—मध्ये नारदादय आवेशिनो निरूपिता इति दूषणं परिहरति तुल्येति । यथा महाराजः स्वदेशे पर्यटन् स्वार्थं निर्मितेषु गृहेषु तिष्ठति, कदाचित् स्वकीयस्यापि गृहे, तदा तत्स्थितिपर्यन्तं तद् गृहमपि राजगृहं भवति । अतो विशेषाभावादावेशावतारयोस्तुल्यतया गणना । स्वयं तु स्पष्टार्थं विभागं कुर्वन् अवतारे भेदकमाह ज्ञानशक्त्येति । द्विविधो हि अवतारः, दुःखस्य बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विरूपत्वात् । क्रियाशक्त्या बाह्यदुःखनिराकरणार्थमवतारः, ज्ञानशक्त्या चान्तरदुःखनिराकरणार्थम् । क्रियास्थानानि निर्दिशति वराहादीति । आदिशब्देन कूर्मनृसिंहादयः । दत्तात्रेयो व्यासः, आदिशब्देन कपिलादि ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

इदानीमवतारान् गणयति मत्स्य इति सार्धैस्त्रिभिः—

निबन्धः—मत्स्यः कूर्मो वराहश्च सिंहवामनभार्गवाः ।
मन्वन्तरावताराश्च व्यासबुद्धौ च राघवः ॥ ५७ ॥
कपिलो दत्त ऋषभः शिशुमारो रुचेः सुतः ।
नारायणो हरिः कृष्णस्तापसो मनुरेव च ॥ ५८ ॥
महिदासस्तथा हंसः स्त्रीरूपो हयशीर्षवान् ।

नेन गुणातीतो वासुदेवः परामृश्यते । अत्र श्रोतुरधिकार आर्थो ज्ञेयः । एवं सार्धैः सप्तभिर्द्वितीयाध्यायार्थ उक्तः ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ ५० ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

अतः परं त्रयोदशभिस्तृतीयाध्यायार्थं वदन्ति तृतीयेत्यादि—

अवतारलक्षणमेतत्सुबोधिनीतोऽवगन्तव्यम् । मूले—अशुद्धशुद्धभेदेनेति,

१. आविर्भाव इति । नारदादौ भगवदाविर्भावः ।

तथैव वडवावक्त्रः कल्किर्धन्वन्तरिः प्रभुः ॥ ५९ ॥
इत्याद्याः केवलः कृष्णः शुद्धसत्त्वेन केवलः ।

प्रकाशः—तत्र भागवतेऽनुक्ता अपि पञ्चरात्राद्यागमेषूक्ताः प्रकृतोपयोगिन इति निरूपिताः ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ ५९ ॥

आवेशिनो निरूपयति श्रीब्रह्मरुद्रेति सार्धैश्चतुर्भिः—

निबन्धः—श्रीब्रह्मरुद्रशेषाश्च वीन्द्रेन्द्रौ काम एव च ॥ ६० ॥
कामपुत्रोऽनिरुद्धश्च सूर्यश्चन्द्रो बृहस्पतिः ।
धर्म एषां तथा भार्या दक्षाद्या मनवस्तथा ॥ ६१ ॥
मनुपुत्राश्च ऋषयो नारदः पर्वतस्तथा ।
कश्यपः सनकाद्याश्च वह्न्याद्याश्चैव देवताः ॥ ६२ ॥
भरतः कार्तवीर्यश्च वैन्याद्याश्चक्रवर्तिनः ।
गयश्च लक्ष्मणाद्याश्च त्रयो रोहिणिनन्दनः ॥ ६३ ॥
प्रद्युम्नो रौक्मिणेयश्च तत्पुत्रश्चानिरुद्धकः ।
नरः फाल्गुन इत्याद्या विशेषावेशिनो हरेः ॥ ६४ ॥

प्रकाशः—साधारणेनापि निरूपितस्यापि कृष्णस्य विशेषमाह ज्ञानक्रियोभययुत इति—

निबन्धः—ज्ञानक्रियोभययुतः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।

प्रकाशः—सामान्यप्रयोजनोक्तिमारभ्य भागवतोक्तेः पूर्वं चत्वारोऽर्था निरूपितास्तेषां प्रयोजनमाह माहात्म्यज्ञापन इति—

निबन्धः—माहात्म्यज्ञापने मुक्तिस्तदर्थं बन्धनिर्णयः ॥ ६५ ॥
नित्यमुक्तत्वकथनं दुर्ज्ञेयत्वं च वै हरेः ।
विवृतिस्तस्य पूर्वैर्हि कृता येनादिमध्ययोः ॥ ६६ ॥
भक्तिः सिध्यति तत्क्षेपः प्रतिज्ञा चात्र पूरणम् ।

प्रकाशः—माहात्म्यज्ञापनं तत्रोक्तम् । भागवतश्रवणस्य च । मुक्तेः स्वरूप-

---

शरीराणां तथात्वेन । अत्र द्विरुक्तानां अधिकावेशित्वं बोध्यम् ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ ५७ ॥ ॥ ५८ ॥ ५९ ॥ ६० ॥ ६१ ॥ ६२ ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

तत्रोक्तमिति, 'एवं जन्मानी'ति पद्यद्वयोक्तम् । भागवतेत्यादि, माहात्म्यज्ञानमिति

---

१. "शुद्धसत्वेन केवल इति । केवलपदस्यार्थकथनमिदम् ।" २. श्रीति, पालिका शक्तिः ।
३. चत्वारोऽर्था इति । मुक्तिबन्धनिर्णयनित्यमुक्तत्वदुर्ज्ञेयत्वरूपाः ।

सिद्ध्यर्थं बन्धनिर्णयः भजनसिद्ध्यर्थं भगवतो नित्यत्वं दुर्ज्ञेयत्वं चोक्तमित्यर्थः । एतद्द्वयविवरणात्मक भागवतम् । उत्तमस्य सङ्क्षेपकथनेनापि भक्तिर्भवतीति, आदिमध्ययोस्तु न भवतीति तदर्थं विवरणम् । तत्क्षेपस्तत् कथयिष्याम इति प्रतिज्ञा । गुह्यज्ञानं तृतीयाधिकारो वक्तुः । तत्र सादरो द्वितीयः । अत्राध्यायः प्रकारणं च पूरितम् ॥ ६५ ॥ ६६ ॥

द्वितीयप्रकरणस्य हेतुभूतत्वात् पूर्वपक्षकथनं, विरोधित्वाभावाय हर्षश्च वक्तव्यः, तमाह पूर्वमिति—

निबन्धः—पूर्वं सम्भावनामात्रात् पृष्टे दत्वोत्तरं स्वतः ॥ ६७ ॥
ग्रन्थोऽप्यस्तीति तच्छ्रुत्वा शौनको हर्षसम्प्लुतः ।
स्वरूपोत्पत्तिहेतूनां पाठाध्यापनयोरपि ॥ ६८ ॥
अयुक्तत्वात्तु सम्प्रश्नो ह्यर्थस्यालौकिकत्वतः ।
श्रोतुः सर्वपरित्यागात् श्रवणे किं प्रयोजनम् ॥ ६९ ॥
स्वत एवोत्तमत्वाच्च कृष्णानुग्रहणादपि ।
अतस्तज्जन्मसम्प्रश्नः कृष्णभक्त्या प्रसङ्गतः ॥ ७० ॥
प्रश्नत्रयेऽथ सम्पन्ने हेतुपूर्वं द्विधोत्तरम् ।

शेषः । अत्र वाक्यविभाग एवं ज्ञेयः । सार्धसप्तविंशतिभिरवताराः । सार्धेन सामान्यप्रयोजनम् । चतुर्भिर्बन्धः, एकेन तन्निर्णयः। द्वाभ्यां माहात्म्यपूर्वकं नित्यत्वम् । एकेन दुर्ज्ञेयत्वम् । द्वाभ्यां भजनम् । षड्भिः श्रीभागवतप्रस्तावनेति । प्रस्तावनायाः प्रयोजनमाहुः **एतद्द्वयेत्यादि** । मुक्तिस्वरूपभजनयोर्विवरणात्मकमित्यर्थः । **द्वितीय** इति, श्रोता । एवं शुश्रूषा, अमात्सर्यं, श्रवणादर इति श्रोतुः सम्प्रदायेन सन्मुखात् श्रुतभागवतत्वं रीतिचातुर्यं गुह्यज्ञानमितीत्येतावधिकारौ साधारणेऽधिकारे प्रथमकक्षारूपौ श्रवणस्वरूपनिर्वाहकतया त्रिभिरध्यायैः सिद्धौ । एवं **द्विपञ्चाशद्भिः प्रथमप्रकरणार्थो** विचारितः ॥ ६५ ॥ ६६ ॥

अतः परं **सार्धत्रयोदशभिर्द्वितीयप्रकरणार्थं** वदन्तः **पञ्चभिरस्य** प्रकरणस्योपोद्घातत्वं सूतोक्तिविचारेण समर्थयन्ति **द्वितीयेत्यादि** । **द्वितीयप्रकरणस्य** श्रीभागवतकथने हेतुभूतत्वाद्वक्तुः कथने प्रयोजकत्वेन **पूर्वपक्षकथनं** वक्तव्यम् । पूर्वपक्षकर्तुर्व्युत्थितत्वाभावाय तस्य **हर्षश्च वक्तव्य** इत्यर्थः—

---

१. श्लोकैः । २. वक्तुरिति शेषः ।

उपोद्घातो हेतुरूपस्त्रयाणां रूपमेव च ॥ ७१ ॥
मध्यमोऽयमुपोद्घातः फलपर्यवसानतः ।

प्रकाशः—लोको हि स्वरुच्या क्वचित् प्रवर्तते, तदेव चेत् शास्त्रसिद्धं तदा हर्षो भवत्येव । पूर्वपक्षाणां सङ्ग्रहमाह स्वरूपोत्पत्तिहेतूनामिति । 'सूतसूते' ति स्वरूपप्रश्नः । 'कस्मिन् युग' इत्युत्पत्तिप्रश्नः । 'केन सञ्चोदित' इति हेतुप्रश्नः । एवं त्रयः प्रश्नाः । ततोऽग्रे त्रयः प्रश्नाः । शुकस्य कथं पठनं, कथं वा पाठनं ! परीक्षितो वा कथं प्रायोपवेशः ? तस्य माहात्म्यं पूर्वं ज्ञातमिति तद् भवति न वा ? इति सन्दिह्य तस्य जन्मकर्मप्रश्नः । एवं चत्वारो भवन्ति । ननु तथापि भागवतमेव प्रष्टव्यं, किं तत्प्रश्नेनेत्याशङ्क्याह अयुक्तत्वादिति । उत्पत्तौ प्रवृत्तौ वा यद् युक्तिविरुद्धं, तस्मिन् श्रुते स्वस्यापि फलं तथा न भवतीति प्रश्न इति भावः । ननु यथोपपद्यते तथैव कल्प्यतां, तत्राह अर्थस्यालौकिकत्वत इति । लौकिको हि स्वेच्छया कल्प्यो भवेदिति । अयुक्तत्वमेवाह श्रोतुरिति । स ह्यात्मानमेव फलत्वेन मन्यते । तत्र विषयाणां बाधकत्वं मत्वा तत्परित्यागहेतुत्वं सर्वेषां शास्त्राणां च मन्यते । शुकस्तुस्वतएव निवृत्तविषय इति किं तस्य भागवतेन ? सुतरां वर्णनेन किं? उत्कर्षार्थं चेत्तत्राह

पूर्वपक्षकथने हेतुं **मूलेनाहुः** । **योजना तु**—पूर्वं धर्मदर्शनेन शरणसत्तासम्भावनामात्रात् । 'धर्मः कं शरणं गत'इति पृष्टे सति 'कृष्णे स्वधामोपगत' इत्यनेन स्वतः ग्रन्थोऽप्यस्तीति उत्तरं पूर्वाध्याये दत्वा तूष्णीं भूते सूते इति शेषः । **तच्छ्रुत्वा शौनको हर्षसम्प्लुतो जात** इति । हर्षहेतुं टीकायामाहुः **लोक** इत्यादि । **कथं पठनं, कथं वा पाठनमिति** । एतौ प्रश्नौ मुखतोऽनुक्तावपि 'तस्य पुत्र' इति द्वाभ्यां शुकस्वभावक्रिययोः कथनेन क्रमात्सूचितौ । जन्मप्रश्ने हेतुमाहुः **तस्येत्यादि** । **ननु** 'कथमालक्षित' इत्यादिना 'द्वयं नमन्ती'त्यादिना च 'द्वय'मित्येवमन्येऽपि सन्तीति कथं सप्तैव गणिता इत्यत आहुः **एवं चत्वार** इति । यथा **जन्मप्रश्ने** । एवं हेतुविचारेणान्येऽपि **चत्वारः**, तथा च हेतुविचारेण पञ्चप्रयोजनविचारेण षडित्येवमेकादशेत्यर्थः । आद्यत्रयव्यतिरिक्तानां प्रश्नानां वैयर्थ्यमाशङ्कते **ननु तथापीत्यादि** । **तथापीति** प्रष्टव्यांशसत्त्वेऽपि, किमिति 'काकदन्तविचार'वन्निष्फलत्वात् । समाधिं व्याचक्षते उत्पत्तावित्यादि । **फलं न तथा भवतीति**, अर्थज्ञानं निःसन्दिग्धं न भवति **कल्प्यतामिति**, किं प्रश्नेनेति शेषः । **अयुक्तत्वमिति**, विवक्षितप्रश्नविषयाणां युक्तिविरुद्धत्वम् । अत्र स हीत्यादिना राजविषयाणां चतुर्णां, **शुक** इत्यादिना तद्विषयाणां चतुर्णां विरुद्धत्वं प्रकाशितम् । विरुद्धत्वेऽन्यदपि हेतुद्वयं वदन्ति **उत्कर्षार्थमित्यादिना** । **मतान्तरमिति, बोपदेवीयम्** । **तत्प्रसिद्धेति, शौनकादिप्रसिद्धा** । तथा च प्रसङ्गापेक्षया

---

१. 'तस्य पुत्रो महायोगी'त्याद्युक्तानाम् ।

स्वत एवोत्तमत्वादिति । स तु जन्मान्तर एव सर्वोत्तमः पूर्णज्ञानः, यत उपनयनमपि नापेक्षते, तादृशस्य किं भागवतेन भविष्यति ? कृष्णानुग्रहोऽपि तस्य स्वत एव जातोऽस्ति । एतत् पदद्वयमुत्तरत्रापि योजनीयम् । परीक्षिदप्येतादृशः । तस्यापि किं भागवतेन ? भगवत्कृपां स्पष्टीकर्तुं जन्म पृच्छतीत्याह अतस्तज्जन्मसम्प्रश्न इति । मतान्तरमाह कृष्णभक्त्या प्रसङ्गत इति । प्रासङ्गिक्येव सङ्गतिः । भक्तेषु भगवत्कृपा तत्प्रसिद्धेति । भक्त्या प्रश्नः । मुख्यतयात्र प्रश्नत्रयं भागवते, स्वरूपोत्पत्तिहेतूनाम् । अन्यत्तु तस्मिन् ज्ञात एवागमिष्यतीति त्रय एव प्रश्नाः सिद्धाः । तदाह प्रश्नत्रयेऽथ सम्पन्न इति । 'अथे' ति भिन्नप्रक्रमे । व्यासस्योत्पत्तिपूर्वं कथनाद् भिन्नः प्रक्रमः । अथ प्रथमप्रश्नस्य द्वितीयस्कन्धे उत्तरं भविष्यति । 'कस्मिन् युगे प्रवृत्तेयं ?' इत्यस्य, 'कुतः सञ्चोदितः ?' इत्यस्योत्तरमुच्यते । तत्रापि तृतीयस्योत्तरमधुना निरूप्यते । प्रवृत्तिमुत्तरत्र प्रकरणे वक्ष्यति । अनेनैकैकमुत्तरमेकैकं प्रकरणं परिगृह्णातीति सूचितम् । केन प्रेरित इत्यत्र नारदेन प्रेरित इत्युत्तरम् । तस्य प्रेरणे हेतुरेकेनाध्यायेन निरूप्यते । ततो युक्तिः, ततः प्रेरणमिति ।

हेतुतैव युक्तेति सैवं ग्राह्येत्यर्थः । 'इति ब्रुवाण'मित्यादित्रयोदशश्लोकेषु यत्सिद्धं, तदाहुः मुख्येत्यादि । नन्वन्येषामष्टानां का गतिरित्यत आहुः अन्यदित्यादि । यत्प्रश्नाष्टकं, तस्मिन्, ज्ञाते उत्पत्तिप्रवृत्तिप्रकाराभ्यां ज्ञाते गमिष्यति, शुकविषयकं चतुष्टयमुत्पत्त्युत्तरेण तथा राजविषयकं प्रवृत्त्युत्तरेण च गमिष्यतीति तथेत्यर्थः । शेषाणां 'द्वापर' इत्यादीनां तात्पर्यं वक्तुं प्रस्तुवन्ति अथेत्यादि । प्रथमप्रश्नस्येति, 'सूत सूते'ति श्लोकोक्तस्य कथाप्रश्नस्य । उच्यत इति, अस्मिन्स्कन्धे उच्यते । अधुनेति, अस्मिन्प्रकरणे । इत्युत्तरमिति । इदमुत्तरमेतत्प्रकरणार्थ इति सूतशौनकसंवादे सङ्गतिर्बोधिता । कथमध्यायत्रयमित्यपेक्षायामाहुः तस्येत्यादि । हेतुरिति व्यासानिर्वृतिरूपः प्रेरणहेतुः । ननु तृतीये नारदपूर्वजन्मकृतिरेवोच्यते, प्रेरणं कथं तस्यार्थ इत्यत आहुः कृतिरित्यादि । प्रेरणे पर्यवसानं व्युत्पादयन्ति हेतुरूप इत्यादिना । श्रीभागवतोत्पत्तिहेतुरूपो नारदप्रेरणात्मकः पदार्थ उत्पत्त्युपोद्घातत्वेन वर्ण्यते, अतः सपरिकरस्य हेतोरवश्यवक्तव्यत्वात्तस्यापि विचारो नारदस्येत्याद्युक्तरीत्या कर्तव्यः, तदर्थं त्रयाणां स्वरूपं वक्तव्यं, तत्रैकेन फलविपर्ययरूपः प्रेरणे हेतुभूतः प्रसङ्ग उक्तः, द्वितीये श्रीभागवतप्राकट्यरूपं प्रयोजनं नारदस्वरूपं चोक्तं, तत्र स्वरूपधर्मविषये सन्देहात्तृतीये विशिष्यधर्मा उक्ताः, ते निःसन्दिग्धाः सन्तः प्रेरण एव पर्यवसन्ति, अत एव नारदेन वाक्यसमाप्तौ 'भवतश्चात्मतोषण'मित्युक्तं, तेन पर्यवसानविचारे प्रेरणमेव तृतीयाध्यायार्थ इत्यर्थः । अस्योपोद्घा-

---

१. हेतुरिति । 'हेतुपूर्वं द्विधोत्तर'मिति मूलार्थः । २. हेतुता । ३. मुख्यप्रश्नत्रये । ४. यत् प्रश्नाष्टकं तद्गमिष्यतीति सम्बन्धः । ५. त्रय एव प्रश्नाः सिद्धाः । ६ द्वितीयप्रकरणस्येति शेषः । ७ हेतोः । ८ विचारार्थम् । ९. अध्यायेन । १०. द्वितीयाध्याये ।

कृतिरनुवाद इति हेतावेव प्रकरणं पर्यवसितमित्याह उपोद्घातो हेतुरूप इति। हेतुरूप उपोद्घातत्वेन वर्ण्यते, अतो हेतोरपि विचारः कर्तव्यः। नारदस्य बोधने कः प्रसङ्गः, किं प्रयोजनमिति, को वा नारद इति त्रयाणां स्वरूपं वक्तव्यम्। नन्वयं परम्परया भागवते उपयुज्यत इति प्रथम एवाधिकारः कुतो न भवति ? तत्राह मध्यमोऽयमुपोद्घात इति ॥ ६७ ॥ ६८ ॥ ६९ ॥ ७० ॥ ७१ ॥

नारदकथने प्रसङ्गमाह यद्वाक्यादिति—

निबन्धः—यद्वाक्यात् सर्वविश्वासः फले[1] तस्य विपर्ययः ७२ ॥

कलौ[2] फलं तदुक्ते[3] किमित्यनिर्वृतिवर्णनम्।

उत्तरं च कृतिश्चैकं नारदस्य फलं पृथक् ॥ ७३ ॥

प्रकाशः—अयं चतुर्थाध्यायः प्रश्नस्तदङ्गम्। प्रकरणादौ प्रश्नो नाध्यायार्थबा-

तत्वे शङ्कते **नन्वयमित्यादि**। अस्मिन्प्रकरणे उच्यमानो हेतुरूप उपोद्घातः समाधिद्वारा सम्पूर्णे श्रीभागवते उत्पत्तिहेतुबोधकतयोपयुज्यते, यथा प्रथमाध्यायस्थशौनकप्रश्नः[4], तथा च तस्य[5] तदुत्तरस्य च यथा प्रथमे प्रवेशस्तथास्याप्युत्पत्तिबोधकतया तत्रैव[6] प्रवेशौचित्यात् षडध्यायात्मकः प्रथमाधिकारः कुतो न भवति ? भेदकस्याभावादित्याशङ्कायां भेदकमाहेत्यर्थः। तच्च भेदकं '**फलपर्यवसानत**'इति **मूलाद्** बोध्यम्। **फलं** टीकायां व्युत्पाद्य भगवदीयत्वं, तत्पर्यवसानतः तद्बोधकत्वात्। तथा चास्य भेदकस्य विद्यमानत्वान्न प्रथमे प्रवेश इत्यर्थः ॥ ६७ ॥ ६८ ॥ ॥ ६९ ॥ ७० ॥ ७१ ॥

एवं पञ्चभिरस्य[7] **मध्यमोपोद्घातत्वं** समर्थितम्। अतः परं **सार्धेनाध्यायार्थान्** वदन्तः प्रथमस्य[8] प्रेरणहेतुतामुपपादयन्ति **नारदे**त्यादि—

ननु पञ्चमे **नारदेन** पृष्टो व्यासो यदा **नारदं** पृष्टवाँस्तदा **नारदेन** प्रेरणं कृतमिति प्रश्नस्यैव[9] प्रेरणहेतुत्वं प्रतीयते, न त्वनिर्वृतेरित्याशङ्कायामाहुः **प्रश्नस्तदङ्ग**मिति। अनिर्वृतिशेषः सः[10] इति तस्या[11] एव हेतुतेत्यर्थः। नन्वनिर्वृतेरध्यायार्थत्वमसङ्गतं, **शौनकप्रश्नो**त्तररूपत्वात्, तत्र[12] चानिर्वृतेरपृष्टत्वादिति चेत्तत्राहुः **प्रकरणे**त्यादि। तथा च **प्रकरणार्थ**भूतहेतुशेषत्वेनास्या उक्तत्वान्न प्रश्नस्यैतद्[13]बाधकत्वमित्यर्थः। **मूले-उत्तरं च कृतिश्चैक**मिति। पञ्चभिरुक्त[14]मनिर्वृतिहेतुकथनरूपं, अष्टभिरुक्त[15]मग्रिमं **चोत्तरं**, तत्सन्दंशपतिता **नारदकृतिश्चैकं**, हेतुप्रवेशा-

१. व्याससाम्यं फले आशङ्क्याहुः **फले तस्येति**। तस्य नारदस्य। फले भगवत्कृपायाम्। विपर्ययः ससाधनत्वमित्यर्थः। २. अनिर्वृत्ते; प्रयोजनमाह **कलाविति**। ३. **तदुक्ते किमिति**। व्यासोक्ते न किमपि फलमित्यर्थः। ४. **शौनक**प्रश्नस्य। ५. हेतोः। ६. प्रथमप्रकरणे। ७. कारिकाभिः। ८. मध्यमप्रकरणस्थस्य प्रथमाध्यायार्थस्य। ९. **व्यास**कृतप्रश्नस्य। १०. प्रश्नः। ११. अनिर्वृत्तेः। १२. अध्याये प्रश्ने वा। १३. एतस्य अनिर्वृत्तिरूपाध्यायार्थस्य। १४. 'भवतानुदितप्राय'मित्यादिभिः पञ्चभिः। पञ्चदशभिरित्यपि पाठः। १५. 'एतत् संसूचितं ब्रह्म'न्नित्यादिभिरष्टभिः।

धकः। द्वितीयाध्यायार्थमाह उत्तरं च कृतिश्चैकमिति। नारदस्य फलं पृथगिति, तृतीयाध्यायार्थः, ससाधनं फलम् ॥ ७२ ॥ ७३ ॥

नन्वेवं सति मध्यमप्रकरणे श्रोतुर्वक्तुश्चाधिकारः को वा सिद्ध इत्याशङ्क्य तमाह तदीयत्वमिति ।

निबन्धः—तदीयत्वं च तत्त्वं च मध्यमोत्तमयोः फले ।
सत्सङ्गो ज्ञानविज्ञाने कर्मनिर्णय एव च ॥ ७४ ॥
उक्तस्यानुभवान्तत्वं वर्णितं नारदेन हि ।
'शब्दब्रह्मणि निष्णातो' न परस्नानतः पुरा ॥ ७५ ॥
फलं भवेदिति स्वस्य फलाध्यायनिरूपणम् ।
श्रोतुः फलं नावतारादवतारफलं फलम् ॥ ७६ ॥
तदुक्तमन्यशेषत्वादुत्तरत्र न मध्यमे ।

प्रकाशः—अनिर्वृत्या व्यासस्य तदीयत्वे हेतुरुच्यते । उदासीनं भगवान् किमित्येवं कुर्यात् ! अतो व्यासो भगवदीय इति द्वितीयाध्याये बोधितः । तथा नारदस्यापि । उत्तमप्रकरणस्य तु तत्वं फलम् । शुको भगवान्, राजापि तथा जात इति । तत्राप्येवं निर्णयः । भगवदीयत्वं द्विधा । भगवान् स्वार्थं प्रथमत एव किञ्चित्

देकरूपं, द्वितीयाध्यायार्थ इत्यर्थः । एवं च पञ्चमे सप्त श्लोकाः पूर्वशेषाः, अग्रे त्रयस्त्रिंशच्छ्लोकाः प्रेरणात्मका इति विभागः । षष्ठाध्यायार्थमाहुः नारदस्येत्यादि । फलं त्रयस्त्रिंशद्भिरुक्तम् । पृथक्प्रेरणशेषत्वेऽपि नारदस्य फलत्वाद्भिन्नतयाप्यध्यायार्थरूपमित्यर्थः ॥ ॥ ७२ ॥ ७३ ॥

एवं सार्धेन सूतोक्त्यनुसारिणोऽध्यायार्थानुक्त्वा व्यासोक्तिविचारेण द्वयोरधिकार एवार्थ इति सप्तभिर्वक्तुमाहुः नन्वित्यादि । एवं सतीति, मध्यमप्रकरणस्योपोद्घातरूपत्वे सति—

उपपादयन्ति अनिर्वृत्येत्यादि । हेतुरिति, भगवत्कृपारूपो हेतुः । अयं प्रथमाध्यायस्यार्थः । द्वितीयाध्यायार्थस्तूक्त एव भगवदीयत्वरूपः । तथा च 'द्वापरे समनुप्राप्त' इत्यारभ्य प्रथमाध्यायोऽप्येतच्छेष इति द्वाभ्यां भगवदीयत्वरूपो व्यासाधिकारो बोधितः । तथा च द्वितीयतृतीयाभ्यां नारदस्यापीत्यर्थः । अत्रत्यं प्रकारमग्रिमेऽप्यतिदेष्टुमाहुः उत्तमेत्यादि । एवं निर्णय इति । एतत्प्रकरणोक्तभगवदीयत्ववत्तत्र भगवत्त्वानिर्णय इत्यर्थः प्रकारं स्फुटीकुर्वन्ति भगवदीयत्वमित्यादि । इत्याहेति, द्वितीये तृतीये चाहेत्यर्थः । तत्र

---

१. श्रोतृवक्रोः । २. मध्यमप्रकरणस्थः । ३. द्वितीयाध्यायशेषः । ४. अध्यायाभ्याम् । ५. भगवदीयत्वरूपोऽधिकारो बोधित इत्यपिशब्दाभिज्ञाप्योऽयमर्थः । ६. मध्यमप्रकरणस्थेऽध्याये ।

करोति, तत्र न साधनापेक्षा । अन्यस्तु साधनेन भगवदीयो भवति । कथं भवतीत्याकाङ्क्षायां **नारदः** स्ववृत्तान्तं क्रमेणाहेत्याह **सत्सङ्ग** इति । आदौ सत्सङ्गः साधनम् । ततो जीवस्वरूपज्ञानं भगवत्स्वरूपज्ञानं च । ततो भगवदनुभवः । सिद्धत्वात्तत्र न किञ्चित् कर्तव्यमि[1]ति, [2]स्वानुभवेऽनुभावनामात्रानुभवो मिथ्येति, स्वस्य भगवदीयत्वे सिद्धे, यथा नारदोऽहमिति पश्चान्मन्यते, तदर्थं साधनम् । कर्मणां भगवति समर्पणम् । समाधौ भगवदनुभवः । ततो भगवद्वाक्यात्तथात्वमिति । एतदेव हि **नारदेन** वर्णितम् । नन्वेवं सति ज्ञानविज्ञानोपदेशे फलं स्वत एव भविष्यति, किं षष्ठाध्यायेनेत्याशङ्क्याह **शब्दब्रह्मणीति** । ननु व्यासस्यांशावतारत्वात्तदीयत्वं स्वत एव, तत् कथं श्रवणेन तदीयत्वम्? तत्राह **श्रोतुः फलमिति** । अवतारमात्रेण तदीयत्वं जातम् । किन्तु श्रोतुः फलं श्रवणानन्तरमेव फलम् । अवतारफलमपि तदैव जातमित्यर्थः । नन्वेवं सति तदीयत्वसिद्ध्यर्थं भागवतनिर्माणमत्रैव वक्तव्यं स्यादित्यत आह **तदुक्तमन्यशेषत्वादिति** । उत्तमार्थं हि तस्य निर्माणं, तदीयत्वं तु

त्यर्थः । तत्र **तत्सङ्गादि कर्मान्तं** चतुष्टयम् । द्वितीये [3]दशभिः, शेषनिर्णयस्तृतीये, **चात्कर्मनिर्णयः** । **भगवदनुभव** इति, तत्साक्षात्कारः । द्वयोर्वैलक्षण्यं बोधयितुमाहुः **सिद्धत्वादित्यादि** । भगवदीयत्वस्य सिद्धत्वात् । **तत्र**, व्यासस्य भगवदीयत्वे, किमपि साधनं **कर्तव्यं नास्ति** । **स्वानुभवे**, **नारदस्य** भगवदीयत्वानुभवे । **अनुभावनेत्यादिनोक्तरीत्या पश्चात्त**[4]**थात्वम्** । एतदेवानुभवान्तत्वं **नारदेन** 'त्वमात्मनात्मान'मिति श्लोकेन 'अहं पुरे'त्यारभ्य स्ववृत्तान्तकथनेन च वर्णितम् । अतो द्विविधं भगवदीयत्वमध्यायत्रयेण सिद्धमित्यर्थः । तृतीयाध्यायवैयर्थ्यमाशङ्कते **नन्वित्यादि** । द्वितीया[5]ध्यायेनैवार्थसिद्धौ किं तृतीयेनेत्यर्थः । **मूले—फलं भवेदिति** । इति बोधयितुमिति शेषः । **श्रोतुः फलोक्तौ** वदद्व्याघातमाशङ्कते **नन्वित्यादि** । **तत्कथमिति**, स्वतो भगवदीयत्वं **व्यासे**, तच्च **नारदोक्तश्रवणोत्तरपरस्नानानन्तरभावीति** कथमित्यर्थः । समादधते **अवतारेत्यादि** । तथा चोक्तसत्सङ्गादिप्रणाड्यजन्यत्वमेव प्राथमिकत्वमत्र विवक्षितमिति श्रवणोत्तरभावित्वेऽपि न [6]तद्धानिरित्यर्थः । भगवदीयत्वस्य श्रवणजन्यत्वेऽसङ्गतिमाशङ्कते **नन्वित्यादि** । समाधिं व्याचक्षते **उत्तमार्थमित्यादि** । **तस्येति**, सम्पूर्णस्य । तथा च श्रीभागवतप्रकटनार्थं भगवतो व्यासरूपेणावतारात् [7]तत्करण एव स्वार्थत्वसिद्ध्या भगवदीयत्वं सिद्ध्यति । करणं तूत्तमार्थमिति भगवदीयत्वं [8]तस्यानुषङ्गिकफलं,

---

१. ग्रन्थस्यास्य द्वात्रिंशत्पत्रमुद्रणानन्तरमयं टिप्पण्यात्मको लेखः समुपलब्धः । मुद्रितग्रन्थपरा टिप्पणी त्वन्तेऽगतिकगतिकयाङ्कनीयेति निश्चित्य प्रस्तुतग्रन्थपरात्र सम्मुद्यते । **इतीति** हेतौ । २. **स्वानुभवे** त्वित्यादि । स्वस्य **नारदस्यानुभवे** । श्रीमन्नारायणस्य शिशयिषोः सुप्तस्याविर्भूतब्रह्मणो मायासृष्ट्यन्तःपातितेन तज्जानां...दिनारदान्तानां मायिकत्वेन भावनामात्रजनकोऽनुभवोऽमिथ्येति पदच्छेदः । ज्ञापकाशयेतिपक्षे मिथ्ययेति पदच्छेदः । **मूले—तदिति**, श्रीभागवतम् । ३. श्लोकैः । ४. भगवदीयत्वम् । ५. मध्यमप्रकरणस्थेन । ६. तस्य प्राथमिकत्वस्य । ७. श्रीभागवतकरणे । ८. व्यासस्य ।

९

प्रासङ्गिकमानुषङ्गिकफलं सेत्स्यति । अतो मध्यमप्रकरणे न निरूपितम् ॥ ७४ ॥ ॥ ७५ ॥ ७६ ॥

ननु प्रासङ्गिकस्याप्यसिद्धौ कथं मध्यमत्वं सेत्स्यति ? तत्राह प्रतिबन्धनिवृत्तिश्चेति द्वाभ्याम्—

निबन्धः—प्रतिबन्धनिवृत्तिश्च साधनाचरणं तथा ॥ ७७ ॥
रागाभावात् फलं कृष्णवाक्यान्मध्यममीरितम् ।
दुःखाभावात् स्वतन्त्रत्वाद्भयाभावाच्च संसृतेः ॥७८॥
फलत्वं स्फुरणं चापि सर्वदावान्तरं फलम् ।

प्रकाशः—व्यासेऽन्यासक्तिः प्रतिबन्धिका । नारदे च माता । साधनाचरणं नारदपूजादि । नारदस्य पुनः सताम् । एकत्राग्रहाभावः । अपरत्र रागाभावः । एवं त्रिभिर्भगवदीयत्वम् । नन्वधिकारित्वमेवास्तु नारदस्य, कथं तदीयत्वं ? तत्राह कृष्णवाक्यादिति । आकाशवाणीवाक्यात् । 'गन्ता मज्जनतामसि' इति मध्यमं फलं तदीयत्वम् । ननु नारदस्यापि पुनर्जन्मसम्भवान्निकृष्टत्वमेव कुतो न भवतीत्याशङ्क्याह दुःखाभावादिति । तस्य संसारकृतं दुःखं नास्ति, नापि परतन्त्रता, नापि विषयादिभ्यो भयं, अतो नारदत्वं फलमेव । किञ्च, सर्वदा भगवत्स्फुरणमपि तस्य जायते । अतो भगवद्भावान्नारदत्वमवान्तरं फलमित्यर्थः ॥ ७७ ॥ ७८ ॥

तच्च नारदवाक्यश्रवणमात्रादेव सिद्धमिति तन्निर्माणस्यात्रानुक्तावपि न काचन हानिरित्यर्थः ॥ ७४ ॥ ७५ ॥ ७६ ॥

भगवदीयत्वसिद्धौ पुनराशङ्कते नन्वित्यादि । करणद्वारा हि प्रासङ्गिकं फलं न तु श्रवणमात्रेण, करणस्य चात्रानुक्त्या फलाभावे प्रकरणस्य मध्यमत्वानुपपत्तिरित्यर्थः—

उपपादयन्ति व्यास इत्यादि । साधनाचरणक्रमेण द्वयोर्ज्ञातव्यम् । प्रतिबन्धनिवृत्तिर्न स्फुटेति तां स्फुटीकुर्वन्ति एकत्रेत्यादि । द्वितीये व्यासस्याग्रहाभावस्तृतीये च नारदस्य रागाभावः मातृस्नेहाभावः । तथा च करणानुक्तावपि तत्प्रतिबन्धनिवृत्तितत्साधनयोः कथनेन फलमुखसूचनात् त्रिभिर्भगवदीयत्वं सिध्यतीति मध्यमत्वमप्रत्यूहमित्यर्थः । एवं च क्रमेण भगवदभिप्रेताकरणजनितखेदः, वक्तृपूजा, आग्रहाभावश्चेति श्रोतुः, भगवदीयमैत्री, सतां पूजा, कुटुम्बरागाभावश्च वक्तुरिति त्रिष्वधिकारो भगवदीयत्वरूपः सिध्यति । यद्यपि वक्तृपूजा पूर्वत्र सिद्धा, तथापि प्रश्नशेषत्वादुत्तराध्याये निविशते । एवमाग्रहाभावोऽपि पर्यवसानात्तृतीय इति न कोपि शङ्कालेशः ॥ ७७ ॥ ७८ ॥

---

१. भगवदीयत्वरूपं फलम् । २. तस्य श्रीभागवतस्य । ३. तस्य करणस्य । ४. अध्यायैः ।

नन्वेवं सति मध्यमत्वसिद्ध्यर्थं व्यासस्यापि साधनं कथं नोच्यते ? तत्राह **नात्मवत्करणमिति—**

निबन्धः—नात्मवत्करणं[1] युक्तं बोधनं प्रीणनाद्धरेः ॥ ७९ ॥
अविश्वासात् स्वकथनं वारितं नारदेन वै ।
सत्यं तदिति विज्ञानात् स्तुतिस्तस्यात्र पूरणम् ॥ ८० ॥

प्रकाशः—यथा नारदो बोधितः सन्यासिभिः, तथा न बोधनीयः । यथा वा 'नामान्यनन्तस्ये'त्यादिप्रकारेण नारदेन कृतं, तथा न कर्तव्यम् । तत्र हेतुः—हरेः प्रीणनात् । स्वत एव व्यासे हरिप्रीतिः । ननु तथापि परम्परया प्राप्तं भागवतं सूतवत् कथं नोक्तवान्, मया ब्रह्मणः स्थाने पठितं तत्तुभ्यं वदामीति ? तत्राह अविश्वासादिति । परम्परा लोके न प्रसिद्धेति संवादाभावान्न कथितम् । 'समाधिनानुस्मरे'ति वाक्यात् । सामान्यतः कथितं च । तथा सति संवादो भवति । न चेत्तदपि नारदोक्तं सत्यमिति यद्यवगम्यते, तदैव समाधौ प्रवृत्तिर्भवति । अन्यथा परम्परा न स्यादित्याशङ्क्याह सत्यं तदिति । विज्ञानादिति, स्तोत्रकरणाज्ज्ञायते, 'अहो देवर्षिर्धन्य' इति । नारदोक्तमस्य हृदये समागतमिति तेनैव प्रकरणं पूरितम् ॥ ७९ ॥ ८० ॥

मूले—अविश्वासादित्यादि । व्यासस्य नानासाधनविज्ञानाभिनिविष्टत्वादविश्वासमवगत्य **नारदेन** स्वस्य ब्रह्मणा **कथनं वारितं** गोपितमित्यर्थः । एतदिति, स्ववृत्तान्तकथनरूपम् । **अन्यथा** असत्यत्वज्ञाने । **परम्परा** संहिताकरणतत्पाठनरूपा **न स्यात्** । तथा च तदुभयदर्शनाद्[2]विश्वासोऽवगम्यत इति स्वज्ञानकथनेऽपि स[3] स्यादेवेत्याशङ्क्येत्यर्थः । तत्र समादधते **स्तोत्रे**त्यादि । सूतोक्तनारदस्तुतिवाक्योपनिबन्धनस्य समाध्यनन्तरभावित्वाज्ज्ञायते समाध्युत्तरमेव विश्वासो जात इति । अन्यथा **नारदोक्त्यनन्तरमेव** स्वयं स्तुतिं कुर्यात् । अत एवं ज्ञायतेऽन्यासक्तिशिष्यसङ्ग्रहाभ्यां प्रथमकक्षाप्रवेशस्य सम्भावितत्वेऽपि 'स वै भवान्वेद समस्तगुह्य'मित्यादिना **नारदस्वरूपज्ञानपूर्वकं** स्तवनान्नारदे उत्कर्षज्ञानमस्तीति **शौनकतो** वैलक्षण्यान्न व्यासस्य तत्कक्षाप्रवेशः[4] । शुकोक्तौ राज्ञ इव **नारदवाक्ये** पूर्वं विश्वासाभावाच्च नोत्तमकक्षा । अतो मध्यमत्वे सिद्धे तेनैव **प्रकरणं पूरित**मित्यर्थः ॥ ७९ ॥ ८० ॥

---

१. **नात्मवत्करण**मिति । आत्मा स्फुरितत्वेन यस्यासौ इति आत्मवान्नारदः, तस्य करणमिव करणमित्यर्थः । २. करणपाठनदर्शनात् । ३. विश्वासः । ४. प्रथमकक्षाप्रवेशः ।

तृतीये प्रकरणे प्रथमतः शौनकस्य प्रश्ने प्रयोजनमाह उपोद्धात इति—

निबन्धः—उपोद्धातो ग्रन्थमात्रे प्रश्न एकस्ततः कृतः ।
वक्तुश्चापि पृथक् प्रश्नः फलसिद्धेस्तु पूर्ववत् ॥ ८१ ॥
माहात्म्यं सर्वनिर्धारो यस्मादत्रैव वर्णितः ।
श्रुतिमात्रात्ततो भक्तिरविश्वासान्न रागिणः ॥ ८२ ॥
फले सिद्धेऽपि सेव्येयं विषयोत्कर्षतः कृतेः ।
अत एवैष्यविज्ञानादात्मज्ञापनसूचनम् ॥ ८३ ॥

प्रकाशः—द्वितीयं प्रकरणं हेतुभूतं भवति, भागवतोत्पत्तिसाधनं, तत्[1] तदैव निर्वहेद् यदि नारदगमनानन्तरमेव तत्[2] कुर्यात् । अन्यथा कालान्तरकरणे पूर्वोक्तस्य हेतुत्वं न स्यात् । अत उपोद्धातोऽयं तदर्थविचाररूप इति ग्रन्थस्वरूपमात्रनिष्पत्त्यर्थं पूर्वमेकः प्रश्नः कृतः । ततो ग्रन्थोत्पत्तावुक्तायां वक्तुश्चापि शुकस्य वक्तृत्वेनोपपद्यत इति द्वितीयः प्रश्नः । स तु पर्ववदनुवादरूपः । पुनः स्मारणं तस्यावश्यकबोधार्थम् । उत्तमत्वं च वक्तुः सिध्यतीत्याह फलसिद्धेरिति । मुक्तिः फलं च तच्छुकस्य सिद्ध-मिति । एवं प्रश्नाभिप्रायमुक्त्वा, उत्तरे 'यस्यां वै श्रूयमाणाया'मित्यत्र युक्तिबाधा-भावाय साधिकामुपपत्तिमाह माहात्म्यं सर्वनिर्धार इति । यस्माद् भागवते भगवतो माहात्म्यं, निःसन्देहार्थं सर्ववस्तुनिर्धारश्चोक्तः । अतः श्रुतमात्रादेव ततो भक्तिर्भवति । तर्हीदानीन्तनानां कथं न जायते ? तत्राह अविश्वासादिति । उक्तार्थ-विश्वासोऽत्राधिको हेतुर्वक्तव्यः । स च व्यासोक्तत्वेन जायमानोऽपि रागस्य प्रति-

---

एवं सप्तभिर्व्यासाशयमुक्त्वा सार्धैस्त्रयोदशभिर्मध्यमप्रकरणं विचारितम् । अतः परं **त्रिपञ्चाशद्भिरुत्तमप्रकरणं** विचारयन्तः पूर्वकृतेन हेतुप्रश्नेनैव चारितार्थ्यात्पुनः **शौनकप्रश्नस्य** वैयर्थ्यमाशङ्क्य तन्निराकरणाय तस्य[4] फलोपोद्घातत्वं **त्रिभिराहुः तृतीयेत्यादि**—

अन्यथेति, तदानीमकरणे । **तदर्थविचाररूप** इति, पूर्वोक्तं यत्करणं तद्विचाररूपः । **अनुवादरूप** इति, 'तस्य पुत्र' इत्यादिद्वयोक्तानुवादरूपः । अनुवादप्रयोजनमाहुः **पुनः स्मारण**मित्यादि । **सिध्यतीत्याहे**ति । प्रश्न एव व्यक्तं भवति । तथा च सिद्धे फले साधनविषयिणी प्रवृत्तिरनुपपन्नेत्याह **युक्तिबाधाभावायेति** । इदानीन्तनप्रत्यक्षकृतबा-धाभावाय । **न जायत** इति, तथा चाविश्वासेन प्रतिबन्धाद्युक्तिबाधो न दोषायेत्यर्थः ।

---

१. तदिति साधनत्वम् । २. तदिति श्रीभागवतम् । ३. वैयर्थ्यवारणाय । ४. प्रश्नस्य ।

बन्धकस्य विद्यमानत्वान्न जायते। एवं सूचयितुं 'शुकमध्यापयामासे' त्युक्तमित्यर्थः। इदानीं भक्तिसहितस्य ग्रन्थस्य फलं निर्धारयितुं पुनः सूतशौनकसंवाद इति सूतोक्तं फलं स्पष्टं वदति फले सिद्धेऽपि सेव्येयमिति। यद्यप्यस्य मुक्तिः फलं, तथापि फलापेक्षया साधनमेव फलरूपम्। तद्रागरहितस्यैव तथानुभवो भवति नान्यस्येति सूतवाक्ये निर्धारः। तेन अत्रैतत् सिद्धम्। प्रवृत्तिपराणामपि यथा भक्तिर्भवति तदर्थमिदमारब्धम्। ते हि विषयिणो विषयोत्कर्ष एव प्रवर्तन्ते। उत्तमविषयार्थं च हीनविषयं परित्यजन्ति। अतो मोक्षसाधनत्वमस्या अनुक्त्वा कल्पनामपि निराकर्तुं मुक्तस्य प्रवृत्तिमाह। तेन व्यासस्तथा कृतवान्। यथा लोको विषयसौन्दर्यादेव प्रवर्तते, तथा कृतेरात्मज्ञापनं सूचितम्। 'प्रवर्तमानस्य गुणैरनात्मन' इति नारदज्ञापनं सूचितमित्यर्थः। नन्वग्रे विषयसौन्दर्यात् प्रवृत्ता भविष्यन्तीत्यत्र किं प्रमाणम्? मूढा उत्कृष्टेऽपि विषये न प्रवर्तन्त इत्याशङ्क्याह अत एवैष्यविज्ञानादिति। कृतेरेव हेतोरैष्यविज्ञानमपि सूचितम्। तदैव नारदोक्तं कृतं भवतीति। अनेन प्रवर्तमानस्य दृढविश्वासो बोधितः। एवं सफलं भागवतं नारदवाक्यात् कृतमिति फलितम्॥ ८१॥ ८२॥ ८३॥

अधुना तेन परीक्षित्स्थाने निरूपितमिति प्रवृत्तिं वक्तुं परीक्षितो जन्मादि वक्तव्यम्। तच्च द्वादशाध्याये वक्ष्यति। मध्ये द्रौण्यादिजयः, कुन्तीस्तुतिः, भीष्ममुक्तिः,

---

विश्वासस्य हेतुता चानुपदं व्युत्पाद्या।,ननु किमत्र मानमित्याकाङ्क्षायामाहुः एवमित्यादि। अविश्वासजनकस्य रागस्य प्रतिबन्धकत्वं सूचयितुं यत् शुकाध्यापनमुक्तं तदेवात्र मानमित्यर्थः। 'स संहिता'मित्यादेस्तात्पर्यं वदन्ति इदानीमित्यादि। भक्तिरहितस्य ग्रन्थश्रवणफलं भक्तिरूपं निर्धार्य भक्तिसहितस्य ग्रन्थश्रवणफलं निर्धारयितुं, पुनः सूतशौनकसंवाद इति बोधयितुं, तद्वदतीत्यर्थः। सूतवाक्यनिर्धार इति, 'आत्मारामाश्चे'तिश्लोकद्वयार्थनिर्धारः। अत्रेति संवादद्वये। कल्पनामिति, मोक्षसाधनत्वकल्पनाम्। आहेति, सूत आह। तथा च फलेऽपि सिद्धे सेव्येयमिति सूतोक्तनिर्धार इत्यर्थः। एवं सूतवाक्यसिद्धमर्थमुक्त्वा अयं व्यासाशयो न वेति जिज्ञासायामाहुः तथा कृतेरित्यादि। विषयसौन्दर्यपूर्वकं करणात्स्वकृतं नारदकृतं च उत्कर्षज्ञापनं सूचितमित्यर्थः। अनेनेत्यादि, करणेन स्वस्य दृढविश्वासो बोधित इत्यर्थः। एवं त्रिभिरुपोद्घातो निरूपितः॥ ८१॥ ८२॥ ८३॥

एवं सप्तमस्यैकादशश्लोकानामर्थ उक्तः। अतः परं प्रवृत्त्युत्तरं विस्तरेण वक्तुं यतत इति

---

१. पुरुषस्य। २. अध्यायैः।

भगवन्निर्याणं, द्वारकाप्रवेशश्च पञ्चाङ्गानि । तेषां श्रोतृजन्माङ्गता कथमिति सन्देहे केचिदाहुः, तन्मतमनूद्य दूषयति स्वपरप्रतिबन्धोनमिति ।

निबन्धः—स्वपरप्रतिबन्धोनं स्फीतं राज्यं जहौ नृपः ।
इति वैराग्यदार्ढ्योक्त्यै प्रोक्ता द्रोणिजयादयः ॥ ८४ ॥
इति केचिदिह प्राहुः

प्रकाशः—ते हि वैराग्यशेषत्वेन पञ्चाध्यायीं निरूपयन्ति । स्वा युधिष्ठिरादयः । परे भीष्मादयः । ते चेत् परीक्षितः प्रायोपवेशनपर्यन्तं तिष्ठेयुः, तदा तस्य विषयाभावादेव वैराग्यमिति नोत्कर्षः सिध्यति । तथा भगवत्कृपया स्फीतत्वं, स्वत्वं, परत्वं च ॥ ८४ ॥

निबन्धः— नैतत् साधुतरं वचः ।
द्रोणेर्जये न सोऽस्त्येव न दातुः प्रतिबन्धता ॥ ८५ ॥
न च कृष्णकथा युक्ता स्तुतिर्मोहकथापि वा ।
प्रतिबन्धस्तु सम्प्राप्ते तस्मादष्टकथा मुधा ॥ ८६ ॥

प्रकाशः—नैतत् साधुतरं वचनं कार्यकारणयोरव्यवधानाभावात् । न

बोधयितुं, प्रकरणार्थरूपमधिकारं च बोधयितुमाहुः अधुनेत्यादि । वक्तव्यमिति, उत्तमत्वाय वक्तव्यम् । अनूद्येति, सपादपद्येनानूद्य—

तथेत्यादीति । युधिष्ठिरादीनामेतावत्पर्यन्तं स्थितौ तेषु भगवत्कृपायाः स्फुटत्वात्तद्राज्यस्यैव स्फीतता नैत्तद्राज्यस्य, भीष्मादीनां च तदनुसंसरणेन परत्वमपि न सिध्यतीति । तथा च तत्सिद्ध्यर्थं तदुक्तिरित्यर्थः ॥ ८४ ॥

सपादेन दूषणमाहुः कार्येत्यादि । कार्यं वैराग्योत्कर्षः । कारणं द्रौणिजयादि । तयोरव्यवधानाभावात् । अयमर्थः । कारणत्वे हि पूर्ववर्तित्वनैयत्यवदन्यथासिद्धिविरहोऽपि प्रयोजकः । तत्र द्रौणिजयस्य वैराग्योत्कर्षं प्रति पूर्ववर्तित्वं, राजोत्पत्तिं प्रति गृहीत्वैव ग्राह्यमित्यव्यवधानाभावादन्यथासिद्धत्वेन तस्यं न कारणत्वम् । न च राजो-

---

१. युधिष्ठिरादिराज्यस्य । २. परीक्षिद्राज्यस्य । ३. तस्य परीक्षितः । ४. तयोः स्फीततापरत्वयोः । ५. युधिष्ठिरादिचरितोक्तिः । ६. द्रौणिजयस्य ।

वा युधिष्ठिरस्य राज्यदातुः प्रतिबन्धकत्वम् । न वा भगवत्कथाया उपयोगः । कृपा तु त्यागे प्रतिबन्धिका । अतो जन्माध्यायं परित्यज्य सप्तमादिपञ्चदशपर्यन्तमष्टाध्यायकथा मुधा स्यात् ॥ ८५ ॥ ८६ ॥

एवं परमतं दूषयित्वा स्वमते तेषां पूर्वोत्तराङ्गत्वमित्यभिप्रायेणाह पुरुषत्रयशुद्धस्येति—

निबन्धः—पुरुषत्रयशुद्धस्य जननेऽपि कृपावतः ॥
सर्वत्यागे सतां सङ्गे विश्वासः सर्वथा भवेत् ॥ ८७ ॥
इति तस्याधिकारित्वसिद्धयै पाण्डववर्णनम् ।
अपृष्टं च प्रतिज्ञातं तस्मान्नास्त्यत्र दूषणम् ॥ ८८ ॥

त्पत्तेर्व्यापारत्वं शङ्क्यं, आद्यक्षणसम्बन्धरूपायास्त[1]स्यास्त्रिक्षणावस्थायित्वात् । वस्तुतस्तूत्पत्तावपि न [2]तस्य कारणता, मुण्डनोत्तरं पुनरस्त्रक्षेपे पुनर्जयानुक्तेः । न च प्रतिबन्धकाभावत्वेन कारणता, द्रौणे राजोत्पत्तिं प्रत्येव प्रतिबन्धकत्वेन ते[3]नापि रूपेण [4]तां प्रत्येव [5]तस्य कारणत्वेन वैराग्योत्कर्षं प्रत्यन्यथासिद्धत्वात् । एवं कुन्तीस्तुत्यादीनामप्युदासीनत्वादकारणता । किञ्च, युधिष्ठिरास्थितेरपि द्रौणिजयवत्प्रतिबन्धकत्वं प्रकल्प्य [6]तदभावस्य प्रतिबन्धकाभावत्वेनैव कारणता वक्तव्या । साप्यसङ्गतेत्याहुः **न वे**त्यादि । नहि तत्स्[7]थितेस्ते[8]र्न रूपेण प्रतिबन्धकत्वमपि तु राज्यस्थितित्वेन, [9]तदपि तदा स्याद्यदि [10]स राज्यं न दद्यात् । नेह तथा । ‘ तोयनीव्याः पतिं भूमेरभ्यषिञ्चद्गजाह्वय ’ इति वाक्यात् । न च दाने सति स्वराजत्वस्य प्रतिबन्धकस्य त्यागान्नासङ्गतेति वाच्यम् । तथा सति सर्वत्र स्वसत्तायाः प्रतिबन्धकत्वाद्दातृत्वस्यैवोच्छेदापत्तेः । सर्वत्र कारणाभावस्य कार्याजनकतया कारणस्यापि प्रतिबन्धकाभावत्वेनैव कारणत्वापत्त्या दण्डत्वादिरूपेण कारणताहानेश्च । किञ्च, भगवत्कृपाया राज्यस्फीततां प्रति कारणत्वमिति सा[11] च दिग्विजयादिनेति राज्ञस्त[12]दर्थं स्थापितत्वाद्वैराग्यप्रतिबन्धकत्वमेवापद्येतेत्याहुः **कृपे**त्यादि । युधिष्ठिरस्य प्रतिबन्धकत्वकल्पने दूषणान्तरमाहुः **मूले--प्रतिबन्धस्तु सम्प्राप्त** इति । कारणसमवधाने कार्यानुत्पत्तौ मण्यादेर्दाहादिकं प्रति प्रतिबन्धकत्वनिश्चयः । प्रकृते तु राज्यप्राप्तिरूपे कार्ये युधिष्ठिरदानात्पूर्वमजाते कथं युधिष्ठिरस्थितेः प्रतिबन्धकत्वनिश्चयः ? दानोत्तरं तु प्रतिबन्धनिवृत्तिरेवेति तत्र त[13]त्तानिश्चय एव दुर्घट इत्यर्थः ॥ ८५ ॥ ८६ ॥

तेषां पूर्वोत्तराङ्गत्वमिति । त्रयोदशाध्याय्यां सिद्धानामर्थानामधिकारपूर्वोक्तराङ्गत्वम्—

---

१ उत्पत्तेः । २. द्रौणिजयादेः । ३. प्रतिबन्धकाभावत्वेन । ४ उत्पत्तिम् । ५ द्रौणिजयस्य । ६. युधिष्ठिरास्थित्यभावस्य । ७ युधिष्ठिरस्थितेः । ८. स्थितित्वेन रूपेण । ९ प्रतिबन्धकत्वम् । १०. युधिष्ठिरः । ११ स्फीतता । १२ दिग्विजयार्थम् । १३ युधिष्ठिरास्थितौ प्रतिबन्धकतानिश्चयः ।

प्रकाशः—पञ्चाध्यायी पञ्चाग्निन्यायेन जनने शुद्धिहेतुः। जातस्य च प्रतिबन्धाभावार्थमध्यायत्रयम्। अमुक्ते पितरि पुत्रमुक्तेः प्रतिबन्धात्। ततः कालप्रतिबन्धाभावाय द्वयम्। ततोऽद्भुतकर्मणो भगवतः कृपा शापरूपा। ततः श्रोतृत्वमिति तदेतदाह पुरुषत्रयशुद्धस्येत्यादिना। यथा पञ्चाध्याय्यां पुरुषत्रयशुद्धिर्भवति, तदनुपदं वक्ष्यते। जन्मसमये कृपा स्वतः कालतश्च स्वजन्माध्यायार्थः। अग्रे पञ्चाध्याय्याः सर्वत्यागसिद्धिरर्थः। ततो द्वाभ्यां सतां सङ्गः। तदा भागवते विश्वासः। विश्वास एवाङ्गं भागवतश्रवणे। तस्याङ्गत्रयं—सतां सङ्गः, सर्वत्यागः, परमा शुद्धिश्चेति। शुद्धौ षडङ्गानि। तत्र मुख्या भगवत्कृपा। शरीरहेतोर्बीजस्याशुद्धिः पञ्चधा भवति, दुष्टपारम्पर्यतः। तच्च पुरुषतः स्त्रीतश्चेति द्वयम्। तदर्थं सप्तमाध्याये परमा कृपार्जुने निरूपिता। अष्टमे च कुन्त्याम्। ततः पोषकान्नशुद्ध्यर्थं भीष्मोपदेशः, जीवसत्तायामन्नदोषस्यावश्यकत्वात्। अतो ज्ञानिनामेव शुद्धिः। भीष्ममुक्त्या च ज्ञानशुद्धिस्तृतीयमङ्गम्। बीजस्य सम्बन्धिनां साधारणानां भगवत्परत्वं चतुर्थी शुद्धिः। सा भगवन्निर्गमे भवतीति तथोक्तिः। तत आगन्तुकदोषाभावार्थं भगवतः कार्यसमाप्तिरिति। तस्मादस्मन्मते श्रोतुरधिकारस्त्रयोदशभिः सम्पद्यते नान्यमत इत्यर्थः। अतः शौनकैरपृष्टमपि 'संस्थां च पाण्डुपुत्राणा'मिति प्रतिज्ञोपपद्यते। चकारात्तेषु भगवत्कृपा, शुद्धिरेव मूलमिति ज्ञापयितुं 'कृष्णकथोदय'मिति वचनम्। तस्मान्मूल एवायमर्थः सूचित इति नास्मन्मते दूषणसम्भावनापीत्यर्थः ॥ ८७ ॥ ८८ ॥

स्वतः कालतश्चेति। 'अङ्गुष्ठमात्र'मित्यादिना, 'ततः सर्वगुणोदर्के' इत्यादिना चोक्तेरित्यर्थः। **तदे**त्यादि, अध्यायार्थरूपाधिकारसिद्धौ प्रकरणार्थरूपेऽधिकारे **विश्वासः** सिध्यतीत्यर्थः। कथं सिध्यतीत्यपेक्षायां पूर्वोत्तराङ्गानि प्रकटीकुर्वन्ति **विश्वास एवे**त्यादि। **भगवत्कृपे**ति। द्वादशाध्यायोक्तां पञ्चविधामशुद्धिं प्रदर्शयन्ति **दुष्टे**त्यादि। **पुरुषतः स्त्रीतश्चे**ति, पितृतो मातृतश्च। **तृतीयमङ्ग**मिति, नवमाध्याये उक्तमित्यर्थः। **चतुर्थी शुद्धि**रिति, सङ्गशुद्धिरिति, सङ्गशुद्ध्यर्था सेत्यर्थः। **आगन्तुकदोषाभावार्थ**मिति, कलिकालादिकृतदोषाभावार्थम्। **अपृष्टमपी**ति। वदत इति शेषः ॥ ८७ ॥ ८८ ॥

---

१. **जातस्य चे**ति चकारेण द्वादशाध्योक्तं जन्म सङ्गृहीतम्। २. त (य ?) थेत्यारभ्य सङ्ग इत्यन्तत्रयोदशाध्यायार्थ उक्तः। ३ **भगवन्निर्गम** इति विरहात्मकतापेन शुद्धिर्भवति, **निर्गमे**ऽतिभक्तिप्रादुर्भावेन वा। इदं दशम उक्तम्। ४ कृपा इति शेषः।

नन्वु किमित्येवं निबन्धे परीक्षिदेव श्रोतृत्वेन निरूप्यते ? स्वतः शुद्धानां सनकादीनां विद्यमानत्वादित्याशङ्क्याह **विद्यमान** इति—

निबन्धः—विद्यमाने समुद्धारस्तत्रत्यानां स्वयं कृतः ।
स्वाभावे तु कथैव स्यादित्यनन्तर उक्तवान् ॥ ८९ ॥
ऐहिकेऽपि समस्तं हि येषां कृष्णानुभावितम् ।
तद्वंशे व्यवधानेन जातः श्रद्धात्र तस्य हि ॥ ९० ॥

प्रकाशः—न केवलमधिकारनिरूपणमात्रमत्र प्रयोजनं, किन्तु भागवतादेव सर्वोद्धार इत्यपि प्रतिपादनीयम् । अतः सनकादीन् परित्यज्य राजा श्रोता निरूपितः । अवतीर्णः कृष्णो यावद् भूमण्डले स्थितस्तावद् रूपेणैव सर्वान् मोचितवान् । तदनन्तरं भागवतमेव मोचकं न त्वन्य उपायः, क्वचित्कस्यचिदप्यस्तीति ज्ञापयितुं भगवद्गमनानन्तरमेव परीक्षिदुत्पन्नः, स भागवतादेव मुक्त इति निरूप्यते । ननु शुद्धिरेव तर्हि वक्तव्या, किं पाण्डवानां भगवद्वर्णनेनेत्यत आह ऐहिकेऽपीति ॥ ॥ ८९ ॥ ९० ॥

नन्वेवं सति सर्वमेव भारतं भगवत्परत्वेन वक्तव्यं, स्यादित्याशङ्क्याह **यत्र पाण्डवसामर्थ्यमिति**—

निबन्धः—यत्र पाण्डवसामर्थ्यं प्रतीत्यापि विभाव्यते ॥
तत् त्यक्त्वा कृष्णसामर्थ्यं केवलं यत्र तत्कथा ॥ ९१ ॥

एवं द्वाभ्यां[1] सिद्धान्तरीत्या त्रयोदशाध्याय्याः सङ्गतिरुक्ता । अतः परं पञ्चाध्याय्या[2] बीजशुद्ध्यर्थत्वं[3] द्वाविंशतिभिर्व्युत्पादयन्तस्तेस्यास्तादर्थ्यमाक्षिपन्ति **ननु किमित्यादि** । तथा च तेषां[4]मनिरूपणात् पूर्वं रागिणः पश्चाद्विरक्तस्य राज्ञो निरूपणाद्वैराग्यार्थैव पञ्चाध्यायीति शङ्कार्थः—

समाधिं व्युत्पादयन्ति **न केवलमित्यादि** । तथा च मुख्यार्थं[5] ह्यङ्गनिरूपणमतो मुख्यस्य फलसाधनतायामसहायशूरतानिरूपणार्थमत्राधिकारी निरूप्यत इति **सनकाद्य-निरूपणेऽपि** न पञ्चाध्याय्याः शुद्ध्यर्थता हीयत इत्यर्थः । पुनः शुद्ध्यर्थतायामाशङ्कते **ननु शुद्धिरित्यादि** । **पाण्डवानामिति** । वर्णनेनेति शेषः । तथा च पाण्डववर्णनान्यथानुपपत्त्या वैराग्यार्थताङ्गीकार्येत्यर्थः । तत्र समादधते **ऐहिक** इत्यादि । तथा च श्रद्धारूपशुद्धिबोधनाय तद्वर्णनमि[6]ति न तादर्थ्य[7]हानिरित्यर्थः ॥ ८९ ॥ ९० ॥

शुद्ध्यर्थतां निवारयितुं पाण्डववर्णने पुनराशङ्कते **नन्वित्यादि** । **एवं सतीति**, पाण्डवैहिकस्य भगवत्कारितत्वे सति—

---

१. कारिकाभिः । २. पञ्चाध्याय्याः । ३. बीजशुद्ध्यर्थत्वम् । ४. सनकादीनाम् । ५. अङ्गिनिरूपणार्थम् । ६. तत् पाण्डवचरित्रवर्णनम् । ७. पञ्चाध्याय्या न शुद्ध्यर्थत्वहानिः ।

६

अनन्यशरणत्वाय रक्षणाशक्तितः स्वतः।
पुत्रमारणमारभ्य मुक्त्यन्ता वर्ण्यते स्फुटा ॥ ९२ ॥

प्रकाशः—वस्तुतः सर्वत्र सामर्थ्यमेव, तथाप्यश्वत्थामजयादिः प्रतीत्यापि कृष्णानुभावकृत एवेति सौप्तिककथामारभ्य स्वर्गारोहणपर्यन्तं भारतकथा कृष्णपरत्वेन निरूप्यते । वर्णनायाः प्रयोजनमाह **अनन्यशरणत्वायेति** । अनन्यशरणत्वज्ञापनायानन्यशरणत्वज्ञापनं यथा सिध्यति तदर्थम् । स्वसामर्थ्याभावमाह **रक्षणाशक्तितः स्वत** इति ॥ ९१ ॥ ९२ ॥

ननु मोक्षः कुत्रोपयुज्यते ? तत्राह **तेषामिति**—

निबन्धः—तेषाममुक्तौ भोगार्थं प्रतिबन्धो भवेत्क्वचित् ।
पितुः सम्मुखयुद्धे हि मृतत्वात् कृष्णबान्धवात्॥९३॥
चन्द्रांशत्वाद्देवभावात् प्रतिबन्धो न विद्यते ।

प्रकाशः—अमुक्तानां भोग आवश्यकः । तर्ह्यभिमन्योरमुक्तत्वात्तेन प्रतिबन्धो भविष्यतीत्याशङ्क्याह **पितुरिति** । 'द्वाविमौ पुरुषौ लोक' इति स्मृतिः । भगवद्बान्धवो भागिनेयः कथं न मुच्यते ? तत्र चैकोंशश्चन्द्रत्वात् पुनर्देवभावं प्राप्तः स आध्यात्मिकः । भगवत्सम्बन्धी आधिदैविकः एवं त्रयाणामप्यप्रतिबन्धो निरूपितः ॥ ९३ ॥

तदङ्गीकृत्य द्वाभ्यां परिहरन्ति **वस्तुत** इत्यादि । 'यत्किञ्चित्पौरुषं पुंसां मेने कृष्णानुकम्पित' मिति वाक्यात्तथा । **मूले**–**स्फुटेति**पदात् स्फुटत्वादियत्येवोक्ता, वस्तुतस्तु सर्वापि तथेत्यङ्गीकृतम् । तथा चैतावद्वर्णनेऽपि न भारतस्य भगवत्परत्वहानिः, 'मुनिर्विवक्षुर्भगवद्गुणानां सखापिते भारतमाह कृष्ण' इति वाक्यात् । एवं सत्यपि यदेतावदेव कथितं, तत्स्फुटतयानन्यशरणत्वज्ञापनायैवेति श्रद्धारूपशुद्धिबोधनायैव सा **कथे**त्यर्थ ॥ ९१ ॥ ९२ ॥

तदर्थमेव पुनराशङ्कते **ननु मोक्ष** इत्यादि—तथा च शुद्ध्यर्थमुपयोगाभावेऽन्यत्रानुपयोगद्वैराग्यार्थतैव वाच्येत्यर्थः—

तत्साधेन समादधते **अमुक्तानामि**त्यादि । **भोग** इति, देवादिभावेऽपि पुत्रसापेक्षः कव्यभोगः । तथा च प्रतिबन्धाभावार्थमुपयोग इति न वैराग्यार्थतेत्यर्थः । **द्वाविति**, 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ । परिव्राड्योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः' । **त्रयाणामि**त्यादि, त्रयसम्बन्धकृतः प्रतिबन्धाभाव इत्यर्थः ॥ ९३ ॥

---

१. **रक्षणाशक्तित** इति । 'कृष्णकृष्ण महाभाग भक्तानामभयङ्कर । त्वमेको दह्यमानानामपवर्गोऽसि संसृते'रित्यादिवाक्यात् । २. **चन्द्रत्वादि**ति, चन्द्रवंशोत्पन्नत्वात् । ३. पूर्वपक्षम् । ४. सर्वत्र कृष्णसामर्थ्यम् । ५. इयत्येव कथा । ६. कृष्णानुभाविता ।

अतः परमध्यायार्थविभागार्थं सप्तमाष्टमनवमानामर्थं निरूपयति पाण्डवानामिति सार्धेन—

निबन्धः—पाण्डवानां द्विधा दुःखं भिन्नाभिन्नविभेदतः ॥ ९४ ॥
अभिन्नं परतो ज्ञानाद्विधाज्ञानं द्विधा पुनः ।
ब्रह्मजीवविभेदेन त्रिधा तद्धि फलिष्यति ॥ ९५ ॥

प्रकाशः—शरीरतः पुत्रद्वारा च पाण्डवानां द्विधा दुःखम् । भिन्नः पुत्रादिः, तद्दुःखमेकविधम् । अभिन्नं पुनर्द्विधा, अज्ञानहेतुकं शत्रुहेतुकं च । अज्ञानं पुनर्द्विधा जीवविषयकं ब्रह्मविषयकं चेति । एवं सत्यभिन्नं त्रिधा भवति । तेनैव भिन्नमपि गच्छतीति त्रिधा फलितम् ॥ ९४ ॥ ९५ ॥

निबन्धः—अतोऽध्यायत्रयं तत्र प्रथमे स्वेष्टपूरणात् ।
दुःखहानिर्हरेरेव तदर्थं स्तोत्रमीरितम् ॥ ९६ ॥
दुःखे सुखे तथा मुक्तौ स्तोत्रं कुर्यादिति त्रिधा ॥
अधिकारे स्तुतिः प्रोक्ता तत्तदासक्तिवारिका ॥ ९७ ॥

प्रकाश—अतो दुःखदूरीकरणार्थमध्यायत्रयम् । तत्र प्रथमाध्यायेऽर्थनिर्धारमाह स्वेष्टपूरणाद् दुःखहानिर्हरेरेवेति । शत्रुजये परतो दुःखं गच्छति । भगवत इष्टपूरणे हेतुमाह तदर्थं स्तोत्रमिति । भगवत्तोषः सर्वत्र कारणं तस्य च स्तुतिः । तेनाध्यायत्रयेऽपि स्तुतिरुक्ता । 'सर्वत्रे'[1]त्यस्यार्थमाह दुःखे सुखे तथा मुक्ताविति । दुःखे समागतेऽर्जुनेन स्तुतिः कृता । इष्टे सिद्धे कुन्त्या मुक्त्यर्थं भीष्मेण च ।

एवं सार्धैश्चतुर्भिः पाण्डवकथायाः सामान्यत उपयोगो व्युत्पादितः, विशेषतो व्युत्पादयन्ति अतः परमत्यादि । अध्यायार्थविभागार्थमिति, अध्यायार्थः शुद्धिस्तद्विभागार्थम् ॥ ९४ ॥ ९५ ॥

तस्य च स्तुतिरिति, भगवत्तोषस्य कारणं स्तुतिः । मूले-तदर्थमित्यस्य भगवत्तोषार्थं, इति व्याख्यानस्वारस्यादर्थो बोध्यः । नवमाध्याये जीवाज्ञाननिवृत्तिर्न स्फुटेति तदर्थगमकमाहुः अत एवेत्यादि । तथा च मुक्तिलक्षणकार्यात्सा[2] ज्ञाप्यत इत्यर्थः । उपलक्षणविधया ज्ञापनार्थत्वाद्वैयधिकरण्यं[3] न दोषाय, तेन पाण्डवानामप्येवमेवाग्रे मुक्तिरिति फलिष्यति ।

---

१. सर्वत्रेति । ननु कुत्रत्यमिदं प्रतीकमिति चेत्, तदर्थमित्यस्य भगवत्तोषार्थमित्यर्थात्, तच्च सर्वत्रेति वक्ष्यमाणपदानुकर्षायोजनीयमिति तदर्थमित्यत्रैवार्थप्रत्ययजनकं प्रतीकभूतं पदमिति गृहाण । २. जीवाज्ञाननिवृत्तिः । ३. भीष्ममुक्तेरिति शेषः ।

अनेन द्वितीयाध्याये ब्रह्माज्ञाननिवृत्तिरुक्ता । जीवाज्ञाननिवृत्तिस्तु तृतीयाध्यायार्थः । अत एवान्ते मुक्तिरुक्ता । ननु भगवदीयत्वेनैव दुःखनिवृत्तेरावश्यकत्वात् किं स्तोत्रेणेत्यत आह अधिकार इति । अधिकारसिद्ध्यर्थं स्तोत्रम् । द्वारमासक्तिवारणम् । आधिदैविकस्य प्रेरणस्य भगवता निवृत्तिः क्रियत इति ॥ ९६ ॥ ९७ ॥

ननु प्रथममर्जुनेन कथं स्तोत्रं कृतं ? युधिष्ठिरस्य विद्यमानत्वादित्याशङ्क्याह अर्जुन इति—

निबन्धः—अर्जुनः सर्वमुख्यत्वात् पृथा नैकट्यतो वरा ।
सर्वज्येष्ठस्तथा भीष्मः कर्तारः क्रमतोऽवरः ॥ ९८ ॥
सर्वथा संस्तुवीतेति मुख्ये फलति सर्वदा ।
सर्वत्र भक्तरक्षा हि सामान्येन विशेषतः ॥ ९९ ॥
अत्यासक्त्यापि तद्रक्षा भजनोत्साहवर्धिका ।

प्रकाशः—नरांशत्वान्मुख्यत्वम् । पृथा पितृष्वसा भगवत्सम्बन्धादेवोत्कर्षः । भीष्मे लौकिक एवोत्कर्षः । त्रयाणामाद्यः श्रेष्ठः । उत्तरोत्तरं ह्रासः । स्तुतेः पाक्षिकत्वं वारयति सर्वथेति । मुख्यस्यावश्यकत्वम् । ननु भगवदीयानां भगवत्स्तोत्रे को वा विशेषोऽत आह सर्वत्रेति । स्तुतोऽत्यासक्त्या रक्षां करोति । ननु प्राकृतवत् किमित्येवं करोतीत्याशङ्क्याह भजनोत्साहवर्धिकेति । यथान्येषामपि भजनं सिध्यति ॥ ९८ ॥ ९९ ॥

अधिकारद्धृ्यर्थमिति, तथा च दुःखनिवृत्त्यर्थं न स्तोत्रं किन्तु मुक्त्यधिकारसिद्ध्यर्थम् । स्तोत्रेण कथं मुक्त्यधिकारसिद्धिरित्यत आहुः द्वारमित्यादि । नन्वन्तर्यामिणा आसक्त्यर्थं प्रेरणे कथं तन्निवृत्तिरित्यत आहुः आधिदैविकस्येत्यादि । तथा च भगवदानुकूल्येन द्वारसिद्ध्या मुक्त्यधिकारसिद्धिरित्यर्थः । अनेनाध्यायानां शुद्ध्यर्थकता प्रकटीकृता ॥ ९६ ॥ ८७ ॥

कथमिति, मुक्त्यधिकारसिद्ध्यर्थं स्तोत्रं किं सर्वैः कर्तव्यं किं वा मुख्येन कृते स्तोत्रे सर्वेषां तत्सिद्धिः ? अत्र तूभयथाप्यभावात्कथमित्यर्थः—

आद्यः अर्जुनः । तथा च मुख्यकृतत्वात्तेन सर्वेषामधिकारसिद्धिरित्यर्थः । अत्र च पूर्वं भक्तत्वात्स्तुतिः, तया प्रसादः, तेनात्यासक्त्या रक्षा, तयोत्साहेन भजनं, तेन तत्तदासक्तिनिवृत्तिरिति क्रमो बोध्यः । ततश्च भगवदनन्यशरणत्वरूपा पितृमातृपोषकाणां शुद्धिः श्रोत्रधिकारात्मिकाध्यायत्रये सिध्यति । तावताध्यायार्थविचारेण साधारणप्रकरणसमाप्तिरिति बोध्यम् ॥ ९८ ॥ ९९ ॥

---

१. तस्य मुक्त्यधिकारस्य । २. स्तुतिकरणेन ।

भगवद्भक्ताया द्रौपद्याः पुत्रमरणेऽपि रोदनमयुक्तमित्याशङ्क्याह **सुतानामिति—**

निबन्धः—सुतानां निधनं विप्रादयुद्ध इति रोदनम् ॥ १०० ॥
सान्त्वनं च प्रियार्थं हि न सत्यवचनं मतम् ।
भक्तेष्टपूरणात् कृष्णो न वारयति दोषवित् ॥ १०१ ॥

एवं **सार्धैरेकादशभिस्त्रयाणामुपयोगमुक्त्वा सप्तमाध्यायार्थं** सार्धैश्चतुर्भिर्वक्तुं **शौनक**-प्रश्नादिसूतप्रतिज्ञापर्यन्तवाक्यतात्पर्यस्य पूर्वमुक्तत्वात् शेषाणां तात्पर्यं वक्तव्यं, तत्रायं वाक्यविभागः । त्रिभिर्द्रौपदीविलापः, त्रिभिः साधनं; वाचा क्रियया च, चतुर्भिरस्त्रक्षेपः, चतुर्भिरर्जुन-कृता स्तुतिः, पञ्चमेन प्रश्नः, द्वाभ्यां भगवद्वाक्यं, पञ्चभिरस्त्रोपसंहारपूर्वकं द्रौणिबन्धनं, पञ्चभिर्द्रौणिवधार्थं भगवद्वाक्यं, अष्टभिर्द्रौपदीवाक्यं, द्वाभ्यां तद्वाक्यप्रशंसा, एकेन **भीमवाक्यं** त्रिभिर्द्रौणिरक्षणाय भगवद्वाक्यं, त्रिभिर्द्रौणिमुण्डनमोचने, एकेन मृतसंस्कार इति ।

तत्र प्रथमं द्रौपदीविलापतात्पर्यमाहुः **भगवद्भक्ताया** इत्यादि । **अयुक्त**मिति, भगवद्भक्तानां सर्वत्र भगवदिच्छाया एवानुसन्धेयत्वादयुक्तमित्यर्थः—

---

१. **अग्रे सप्तमाध्यायार्थोक्तौ** 'सुतानां निधनं विप्रा'दिति पादोनश्लोकद्वयव्याख्याने—द्रौपद्या रोदनं पुत्राणां सद्गतिसिद्धये, तेषु भगवतः कृपोत्पादनार्थं, न त्वनपत्यत्वरूपस्वदुःखहेतुकम् । भगवत्कृपया पुत्राणां सद्गतिसिद्धौ तस्या दुःखं निवर्तते, न तु लोकन्यायेन स्ववैरिणि हतेऽर्जुनस्य द्रौणिवधप्रतिज्ञारूपं सान्त्वनवचनमप्युक्तं, दुःखनिवृत्त्यसाधनत्वात् । किञ्च, अर्जुनस्य शास्त्रज्ञत्वादपि विप्रवधप्रतिज्ञारूपं सान्त्वनवचनमप्ययुक्तं, तत्र समाधानमसत्यवचनेन प्रियाया आश्वासनम् । वधातिरिक्तं सर्वमपकारं द्रौणेरहं करिष्यामीत्यर्जुनस्याभिप्रायः । तदर्थमेव शीघ्रमन्वाद्रवत । भगवाँस्तु सर्वं जानाति द्रौणिवधे ब्रह्महत्यारूपदोषः । द्रौणिना च च ब्रह्मास्त्रक्षेपोऽपि द्रौणेरवधेऽपकमोचने । पुनस्तेनानिवर्त्यब्रह्मास्त्रक्षेपः । **उत्तरायाः परीक्षितश्च** तेन दाहोऽर्जुनस्यानृतवादित्वं प्रतिज्ञाहानिश्च । अतः प्रतिज्ञाकरणसमये भगवताऽर्जुनो निवारणीयः । दयां प्रतिज्ञां मा कुर्विति । एवमत्र दोषज्ञानेऽपि भगवान्न निवारयति, तत्र हेतुः **भक्तेष्टपूरणा**दिति । तदानीं निवारणे प्रियायाः शोको न निवर्तते, तेनार्जुनस्यापि वैमनस्यं भवेत् सकामानां भक्तानां देहाद्यात्मबुद्धेर्दृढत्वाद्भगवति दोषारोपेण तैरभजनीयो भगवान् भवेत् । एवं सति देहाद्यात्मबुद्धिरूपं संसारमेव कुतो न निवर्तयति ? यथा कोऽपि दोषो न स्यादिति पुनः शङ्कासमाधानम् । **समर्थत्वा**दिति । भगवदभिप्रेतस्तु अभजनरूप एव परमो दोषः । भजने सति तु अन्यान्सर्वानेव दोषान्निवारयितुं समर्थो भगवान् । अत एव सर्वे दोषा अग्रे भगवता निवारिताः । तद्दोषनिवारणे भगवति भक्तानां प्रेम सिध्यति, भगवतोऽपि भक्तेषु प्रेमास्तीत्यन्यैर्ज्ञातं भवति । **चात्** द्रौपद्या अपि शोको निवर्तते । भक्तेषु प्रेम्णा तद्धितं यथा करोति तथा भक्तहितार्थं भक्तसम्बन्धिनां मत्पुत्रादीनां सर्वथा सद्गतिं सम्पादयिष्यत्येव अतः सर्वज्ञो भगवान्न निवारयति । २. श्लोकानाम् ।

समर्थत्वात् प्रेमसिद्ध्यै दैत्यांशत्वात्तथा वचः ।
भीमस्यासन्यावतारात् सहजद्वेषभावतः ॥ १०२ ॥
संहारशक्तेर्द्रौपद्या उभयोः समता हरेः ।
उभयात्मकत्वकथनं सर्वप्रियहिताय हि ॥ १०३ ॥
अर्जुनस्य तु विज्ञानमावेशित्वान्न चान्यथा ।
आतुरत्वं विलापश्च पूर्ववत् सुप्तमारणात् ॥ १०४ ॥

प्रकाशः—'ब्राह्मणान्निधनं प्राप्य नारकी भवति ध्रुवं' तत्राप्ययुद्धे । कर्मफलातिक्रमस्त्वतिकृपया । अतो भगवत्कृत्योत्पादनार्थं रोदनम् । अर्जुनसान्त्वनवचनमप्ययुक्तमित्याशङ्क्याह सान्त्वनं च प्रियार्थं हीति । 'स्त्रीषु नर्मविवाह' इति वाक्यात् । भगवांस्तु भक्तानामप्रियं न करोतीति न न्यवारयत् । अनेन भगवद्भक्तैरेव शास्त्रतो ज्ञात्वा कर्तव्यमेव कर्तव्यमिति सूचितम् । दोषं ज्ञात्वापि भगवान् यतो न निवर्तयति । अन्यथा सर्वेषां भजनीयो न स्यात्, संसारस्यानर्थरूपत्वात् । ननु तथाप्यनर्थो निवारणीयः, तत्कथं न निवारितवानित्याशङ्क्याह समर्थत्वादिति । जातेऽप्यनर्थे रक्षणसामर्थ्यान्न निवारणम् । अनर्थे प्रेम च सिध्यति, तथाप्यर्जुनस्य कथमेवं वचनं ? तत्राह दैत्यांशत्वात्तथा वच इति । अश्वत्थाम्नो दैत्यांशत्वात् । भगवतो वा तथा वचः—'इमं जही'ति । वेदविरोधाभावाय भीमस्यापि वधार्थमुद्यमो निरूप्यते । भीमो ह्यासन्यरूपो वेदात्मा, अतः प्रमाणप्रमेययोरभिप्राययोरभिप्रायाकरणाद् व्यसनम् । 'अर्जुनो द्रौपदी चैव लौकिकौ लोकवेदतः । अतो न मारणं जातं तेन व्यसनमागतौ' । दैत्याः संहारशक्तेरनुगुणा

ननु द्रौणिबन्धनादिकं भगवान्कुतो न निवारितवानित्यत आहुः भगवानित्यादि । अन्यथेति, भक्तचित्ताननुसरणे । तत्र हेतुः संसारस्येत्यादि । संसारस्येति, देहाद्यभिमानस्य । तथा च निवारणे देहाद्यभिमानेन भगवति दोषबुद्ध्युदयान्न भजेयुरित्यभजनीयः स्यादतो न निवारयतीत्यर्थः । ननु संसारमेव कुतो न निवर्त्तयतीत्यत आहुः अनर्थेत्यादि[2] । तथाप्यर्जुनस्येति, शास्त्रं ज्ञात्वैव कर्त्तव्यत्वेऽपि तज्ज्ञातुर्नरावतारस्येत्यर्थः । ननु प्रतिज्ञातत्वादर्जुनस्य द्रौणिवधोद्यमोऽस्तु, भीमस्य कुत इत्यपेक्षायामाहुः वेदेत्यादि । वेदे ह्यसुरा वध्यत्वेनैवोच्यन्ते, अतः सहजद्वेषादित्यर्थः । नन्वेवं सति[3] विचारकाणां तेषां कुतो दुःखप्राप्तिरित्यत आहुः अत इत्यादि । ननु विचारकस्याभिप्रायज्ञानं कुत इत्यपेक्षायामाहुः अर्जुनो द्रौपदी चेति । अर्जुनो युद्धशास्त्रज्ञत्वाद्द्रौपदी च स्त्रीत्वाल्लौकिकौ । लोकवेदतः, लोकवेदाभ्यां तेन तेन धर्मेण तादृशौ । यद्वा, लोकवेदत इत्यस्योत्तरार्धे सम्बन्धः, तथा च

---

१. पूर्ववदित्यादि । पूर्ववद् गर्वेणास्त्रान्तरसन्धानमित्यर्थः । तथा चोपायान्तराभावाद् गर्वाभाव इति भावः । २. अन्यथेतीति पाठः । ३. भगवद्वेदाभिप्रेतत्वे सति वेदविचारकारणाम् ।.

इति द्रौपद्या मोचनम् । भगवांस्तूभयोस्तुल्यः, सर्वात्मत्वात् । भक्तरक्षां त्वन्यथापि करिष्यतीति युक्त एव सप्तमार्थः । शिरोमुण्डनज्ञानमावेशित्वात् । तेन न पूर्वेण विरोधः । भगवानाविष्टस्तथा कृतवान् । अन्यथा द्रौपदीसंहारशक्तिर्भीमादीनपि संहरेत् । तथा क्वचिदुपाख्यानमपि प्रसिद्धम् । क्रोधावेशे त्वपगते लौकिकदृष्ट्या विलापो न युक्त इति समाधत्ते पूर्ववदिति ॥ १०० ॥ १०१ ॥ १०२ ॥ १०३ ॥ १०४ ॥

नन्वश्वत्थाम्नस्तथा बुद्धिं कुत उत्पादितवानित्याशङ्क्याह पुनरस्त्रसमुत्क्षेप इति—

निबन्धः—पुनरस्त्रसमुत्क्षेपो गर्वाभावाय कारितः ।

प्रकाशः—पूर्ववत् समाधानं वारयति अनिवर्त्यमिति सार्धाभ्याम्—

निबन्धः—अनिवर्त्यं निवर्त्यं च ब्रह्मास्त्रं द्विविधं मतम् ॥ १०५ ॥
अनिवर्त्यसमुत्क्षेपो नास्त्येव मरणेऽपि हि ।

लोकः कुलविचारात्मकः, वेदस्तु 'तस्माद्ब्राह्मणाय नावगुरेत न निहन्यान्न लोहितं कुर्या' दित्यादि, ताभ्यां कृत्वा, **अतः** अर्जुनान्न मारणं जातं तेन तथेत्यर्थः । वेदज्ञानेनार्जुनादमारणमस्तु, द्रौपद्याः कुतस्तदित्यत आहुः **दैत्या** इत्यादि । ननु तथापि भगवान् दैत्यारिः, कुतस्तन्मोचन उद्यत इत्यत आहुः **भगवानित्यादि** । तर्हि मारणाज्ञा कुत इत्यपेक्षायां **मूल** आहुः **कथन**मित्यादि । ननु मोचनानुकूल्ये भक्तरक्षा कथं स्यादित्यत आहुः **भक्तेत्यादि** । **सप्तमार्थ** इति, दुःखनिवृत्तिरूपः स इत्यर्थः । **पूर्वेणेति**, 'देव देव न वेद्म्यह' मित्यत्रोक्तेनाज्ञानेनेत्यर्थः । **तथा क्वचिदिति, रत्नयक्षोपाख्याने** । **विलाप** इति, 'यथाहं मृतवत्से' तिश्लोकोक्तः । **पूर्ववदिति** । तथा च दयार्थं विलाप इत्यर्थः ॥ १०० ॥ १०१ ॥ १०२ ॥ १०३ ॥ १०४ ॥

एवं **सार्धैश्चतुर्भिः** परतो दुःखनिवृत्तिरूपः **सप्तमाध्यायार्थो** विचारितः । अतः **परमष्टभि (?) रष्टमाध्यायार्थं** विचारयन्ति । तत्रायं वाक्यविभागः । द्वाभ्यां मृतौर्ध्वदैहिकं, द्वाभ्यां धृतराष्ट्रादिसान्त्वनं, चतुर्भिर्भगवत्प्रयाणोद्योगः, द्वाभ्यामुत्तरास्तुतिः, सप्तभिर्गर्भस्य पाण्डवानां च रक्षा, षड्विंशतिभिः कुन्तीस्तुतिः, द्वाभ्यां स्तुत्यनुमोदनं, सप्तभिर्युधिष्ठिरानुतापः । तत्राष्टानां कथोपयोगित्वात्तत्तात्पर्यमनुक्त्वा उत्तरास्तुतिप्रभृतितात्पर्यं वक्तुं पूर्वमस्त्रक्षेपतात्पर्यमाहुः **नन्वित्यादि**—

ननु पूर्ववदुपसंहारेण गर्वसम्भवात्कथं तदभावसिद्धिरित्यत आहुः **पूर्ववदित्यादि** ॥ ॥ १०५ ॥ १०६ ॥ १०७ ॥

---

१. अमारणम् । २. व्यसनम् । ३. तस्य गर्वस्याभावसिद्धिः ।

शास्त्रादेवात्तयोः सिद्धिस्तेजस्तेन महद् भवेत् ॥१०६॥
सर्वोपायपरिभ्रष्टो मृतकल्पो गुरुः सुतः ।
अत्युपासनया प्राप्तं ब्रह्मास्त्रं क्षिप्तवान् पितुः ॥ १०७ ॥

प्रकाशः—ननु यथा गर्वो निवार्यते, तथा तद्धेतुर्वंशोऽपि कुतो न निवारितः ? तत्राह उत्तरा परमा भक्तेति—

निबन्धः—उत्तरा परमा भक्ता रोहिण्यंशा हरेः सुहृत् ।
शरणागमनं कृष्णस्तुतिपूर्वं च दर्शनम् ॥ १०८ ॥
उत्तरायास्तु भक्तत्वज्ञापनायावनं तथा ।
कृष्णदूरत्वतः पूर्वं प्रविष्टस्य तथावनम् ॥ १०९ ॥
परीक्षिज्ज्ञानसिद्ध्यर्थं बहुकालस्थितिर्हरेः ।
अन्यतेजोलयः स्वस्मिन् प्रकाराकथनं तथा ॥११०॥
आसक्तिर्गर्वाभावेन भजनार्थं यतः स्तुतिः ।
प्रतिभातः कृतेश्चापि ज्ञातः कृष्णो विशेषतः ॥१११॥

प्रकाशः—सा सर्वेभ्य उत्कृष्टा । भक्तत्वाद्भौतिकोत्कर्षः । रोहिण्यंशा आध्यात्मिकी । अतस्त्रिविधोत्कर्षात्तत्त्रियार्थः तथा करणमित्यर्थः । तस्याः पूर्वोक्तत्रितये क्रमेण नियामकमाह । भक्तत्वाच्छरणागमनं, देवतात्वात्स्तुतिः । भगवदीयत्वात्प्रथमतो ब्रह्मास्त्रदर्शनम् । भक्तत्वज्ञापनाय गर्भे प्रविश्यावनम् । ननु भगवद्भक्ताया उदरे कथमस्त्रप्रवेशः ? तत्राह कृष्णदूरत्वत इति । प्रविष्टस्य ब्रह्मास्त्रस्य तथैव निराकरणं सम्भवति । बहुकालस्थितिस्तु ज्ञानार्था । ननु मूले सुदर्शनमायाभ्यां पाण्डवगर्भरक्षा विहिता, न तु ब्रह्मास्त्रस्य नित्यस्य क्वचिल्लयो निरूपितः । 'वैष्णवं तेज आसाद्य' इति क्रूरता निवारिता न तु धर्मी । 'अस्त्रतेजः स्वगदया' इत्यत्रापि शम एव पूर्वानुरोधेन वक्तव्यः । ततो धर्मिणोऽस्त्रस्य क्व लय इत्याशङ्कायामाह अन्यतेजोलय इति । अन्यब्रह्मास्त्रस्य दुर्बलस्य भगवत्येव लयः । तत एवोत्पन्नत्वादिति विमर्शस्तथा । ततो हेतोरत्र प्रकाराकथनम् । अनेन यत्र यत्र विशेषाकथनं तत्र तत्र कारणे

हरेः सुहृदिति मूलोक्ता आधिदैविकी ज्ञेया । तथा चैवं परमभक्तत्वात्तद्गर्भावनमित्यर्थः । परत्वे शङ्कते ननु भगवदित्यादि । तथैवेति, प्रवेशनैवेत्यर्थः । निराकृतस्य लयाभावे पुनरुद्गमनं हृदि कृत्वा शङ्कते ननु मूलेत्यादि । पाण्डवगर्भरक्षेति, पाण्डवरक्षा गर्भ-

---

१. सुदर्शनमायाभ्यामिति । ' स्वमाययावृणोद्गर्भ' मिति वाक्यात् ।

लयो ज्ञातव्य इति सूचितम् । ननु पूर्वं भगवतो निर्गमने कथं न स्तुतिः कृता ? पश्चाद्वा कथं स्तोत्रे प्रवृत्तिरित्याशङ्क्याह आसक्तिर्गर्वाभावेनेति । पूर्वं गर्वस्य विद्यमानत्वान्नासक्तिः । आसक्तो हि भजते । भजनार्थं सर्वसन्देहवारिका स्तुतिरित्यर्थः । नन्वासक्तावपि ज्ञानसाधनाभावात्कथं तादृशी स्तुतिरिति चेत्तत्राह प्रतिभात इति । भगवदासक्त्या स्वत एव प्रतिभोत्पन्ना तेन स्तुतिः । किञ्च, हेत्वन्तरमपि जातमित्याह कृतेश्चापीति । भगवता हि ते पूर्वं न रक्षिताः, तेन अन्तःकरणे भासमानोऽप्यनन्तगुणपूर्णः 'अन्यद्युष्माकमन्तरं बभूव' इति न्यायेनान्तरसम्भवान्न ज्ञातः । इदानीं विशेषरक्षावशादन्तरं निवृत्तप्रायमिति भगवत्कृतेर्हेतोः कृष्णो भगवान् विशेषतो ज्ञातः ॥ १०८ ॥ १०९ ॥ ११० ॥ १११ ॥

नन्वेवं सति युधिष्ठिरस्य पश्चान्मोहो न भवतीत्याशङ्क्याह सर्वनिर्णयपूर्वं हीति–

निबन्धः–सर्वनिर्णयपूर्वं हि यावन्न गुरुणोदितः ।
तावन्मोहस्थितिर्जीव इति मोहस्य वर्णनम् ॥ ११२ ॥

प्रकाशः—प्रतिभातो दर्शनाद्वा जातं ज्ञानं न मोहं निवारयति, शब्दाद्दोषश्रवणेन मोहोत्पत्तेः । शास्त्रतो हि भ्रमात्प्रतिपन्नात्तस्य मोहः स शास्त्रप्रकारेणैव निवृत्तिमर्हति । अतो यावद्भीष्मो न बोधयिष्यति तावन्मोहः स्थास्यतीत्यर्थः । अनेन भीष्माध्यायो जीवस्वरूपज्ञापनार्थ इत्युक्तं भवति ॥ ११२ ॥

रक्षा चेत्यर्थः । कुन्तीस्तुतेस्तात्पर्यमाहुः ननु पूर्वमित्यादि । न रक्षिता इति, इदानीमिव प्रत्यक्षं न रक्षिताः । एवमष्टभि (?) रष्टमाध्यायार्थो विचारितः ॥ १०८ ॥ १०९ ॥ ॥ ११० ॥ १११ ॥

तत्र युधिष्ठिरानुतापस्तूत्तरशेष इत्याशयेनाहुः नन्वित्यादि—

अतः परं नवमाध्यायार्थो वक्तव्यः । तत्रायं वाक्यविभागः । चतुर्विंशतिभिर्भीष्मनिकटे गमनं, भीष्मवाक्यानि च । सप्ताभिस्तत्रत्यवृत्तान्तः । एकादशभिर्भीष्मस्तुतिः । त्रिभिस्तन्मुक्तिः । चतुर्भिस्तदुत्तरवृत्तान्तः ॥ ११२ ॥

---

१. पूर्वं गर्वस्येति, माहात्म्यज्ञानात् पूर्वं कृष्णो भ्रातृपुत्र इति ज्ञानस्य । २. पूर्वमिति । 'तेषाममुक्तौ भोगार्थं प्रतिबन्धो भवेत् क्वचि'दित्यनेन । ३. सप्तभिरिति स्यात् ?

७

एवं सति भीष्मस्तुतिरसङ्गतेत्याशङ्क्याह उक्तेः स्वाचारत इति—

निबन्धः—उक्तेः स्वाचारतो दाढर्यज्ञापनायां ततः स्तुतिः ।
मुक्तिश्चानुपदं तस्य सर्वसन्देहवारिका ॥ ११३ ॥

प्रकाशः—यत्पूर्वं तेन तत्त्वमुपदिष्टं जीवस्य भगवद्भजनेनैव कृतार्थतेति, तत्स्वाचारतो दृढीकरोति । साधनं च फलं च प्रत्यक्षतः प्रदर्शयतीत्यर्थः । स्तुत्या साधनसन्देहो वारितः, मुक्त्या फलसन्देहः ॥ ११३ ॥

अध्यायत्रयमुपपाद्योपसंहरति दुःखहानिरिति—

निबन्धः—दुःखहानिस्त्रिभिः प्रोक्ता सुखं चापि तथा त्रिभिः ।
स्वस्य सामान्यतः पूर्वं कृष्णप्रेमपुरःसरम् ॥ ११४ ॥
तदुद्रेको वियोगे स्यात्तदर्थं कृष्णनिर्गमः ।
कृष्णसौख्ये हि तत्सौख्यमिति मूले सुखाभिधा॥११५॥
पश्चाच्च पुत्रसम्पत्त्या विशेषेणोपवर्ण्यते ।
मुक्तिस्त्रिभिस्तथा प्रोक्ता बीजकार्यफलैः स्फुटा ॥ ११६ ॥

प्रकाशः—दुःखहानिः सुखं मोक्षश्चेति त्रिभिस्त्रिभिः प्रतिपादितम् । तेन पाण्डवानां सर्वं कृष्णाधीनमिति सेत्स्यति । ननु युधिष्ठिरस्य सुखवर्णने भगवत्कथा कुत्रोपयुज्यते ? तत्राह कृष्णसौख्ये हि तत्सौख्यमिति । अध्यायद्वयेन कृष्णसौख्यम् । पुत्रसम्पत्त्या च स्वस्य सुखम् । कृष्णो हि यदर्थमागतस्तत्कृत्वा सुखी

तत्र वृत्तान्तानां स्पष्टार्थत्वाद् भीष्मस्तुत्यादितात्पर्यमेकेनाहुः एवं सतीत्यादि । भीष्माध्यायस्य जीवज्ञानार्थत्वे सति—

समादधते यत्पूर्वमित्यादि । साधनसन्देह इति, जीवाज्ञाननिवृत्तौ यत्साधनं, तत्सन्देह इत्यर्थः ॥ ११३ ॥

सप्तमादिषडध्यायीसिद्धमाहुः अध्यायत्रयेत्यादि सेत्स्यतीत्यन्तम् ।

तत्र दशमैकादशद्वादशानां सामान्यतोऽर्थं द्वयेनाहुः सुखमित्यादि मूले । पूर्वमिति षड्विंशमारम्भे । शेषस्याध्यायस्यार्थमाहुः पादोनेन । मूले कृष्णेत्यादिना । तत्रायं वाक्यविभागः । चतुर्दशभिर्भगवत्प्रयाणं, दशभिः पुरस्त्रीवाक्यं, षड्भिर्द्वारकाप्राप्तिः, तदुद्रेक इति प्रेमोद्रेकः । तदर्थमिति वियोगार्थम् । एकादशद्वादशयोरर्थं विचारयन्ति ननु युधिष्ठिरस्येत्यादि । अत्रैकादशे ऊनचत्वारिंशद्भिर्द्वारकास्थानां सुखं, द्वादशे च चतुस्त्रिंशद्भिः पुत्रसुखं युधिष्ठिरादीनाम् । तदर्थं सङ्ग्रहेणाहुः अध्यायद्वयेनेत्यादि । अत्रासाधारणप्रकरणे दशमादिषु

भवति । स हि भक्तोद्धारार्थमागतः । ते हि निष्प्रपञ्चिताः स्वकीयाः परकीयाश्चेत्यध्यायद्वयम् । अत्राध्यायत्रये प्रमेयं तत्कुश्लिष्टमित्यग्रिमाध्यायत्रयस्य रूपमाह **मुक्तिस्त्रिभिस्तथेति** । बीजमुक्तिरेकेन । बीजं धृतराष्ट्रगमनं स चेन्निर्गतो मुक्तस्तदान्येषामपि मुक्तौ विश्वासः । अतो बीजरूपा मुक्तिः प्रथमाध्यायार्थः । बीजत्वज्ञापनायैव तच्चरित्रकथनं नारदेन । बीजमुक्तेर्यत्कार्यं युधिष्ठिरादीनां निर्गमनहेतुर्वैराग्यं तद्द्वितीयाध्यायार्थः । फलं पाण्डवानां मुक्तिः ॥ ११४ ॥ ११५ ॥ ११६ ॥

ननु पाण्डवमुक्तिः कुत्रोपयुज्यते ? तत्राह पूर्वजानामिति—

निबन्धः—पूर्वजानां तथा मुक्तिः स्वस्य त्यागे हि साधनम् ।
त्यागे कृष्णलयश्चैव सर्वेषामुदितः स्फुटः ॥ ११७ ॥
तत्रत्यानां तदङ्गत्वं टीकायामेव वर्णितम् ।

प्रकाशः—तेषां प्रतिबन्धकता पूर्वमेव निरूपिता । दृष्टान्तप्रकारेणापि तदुपयुक्तमित्याह **त्यागे हि साधनं त्यागे कृष्णलयश्चैवेति** । अत्रार्जुनस्य स्वरूपवर्णनादिकं कुत्रोपयुज्यत इत्याशङ्क्याह **तत्रत्यानामिति** । एतन्निबन्धकरणात्पूर्वमेव सूक्ष्मा या टीका कृता तत्रैव सङ्गतिर्निरूपिता । अध्यायार्थस्त्वेतावानेवेति नात्रोक्त इति भावः । एवं तृतीयप्रकरणे नवाध्याया गुणरूपाः प्रतिबन्धाभावाय निरूपिताः । बीजादिशुद्धिद्वारा तदुपयोगश्च वर्णितः ॥ ११७ ॥

सन्बन्धिशुद्धिः, कालशुद्धिः, कृपाशुद्धिश्च बोध्यत इति ज्ञेयम् । अतः परं **त्रयोदशाद्यध्यायत्रयस्य** विशेषतोऽर्थाकथने हेतुं स्फुटीकुर्वन्ति अत्रेत्यादि । **कुश्लिष्टमिति**, प्रतिवाक्यविचाराधीनज्ञानकम् । अतष्टीकयैव तदर्थः स्फुटतीति नात्रोच्यत इत्यर्थः ॥ ॥ ११४ ॥ ११५ ॥ ११६ ॥

त्रयोदशचतुर्दशपञ्चदशानामर्थं सार्धेनाहुः ननु पाण्डवेत्यादि ।

अत्रेदं प्रतिभाति । यत्र मर्यादया मोचयति तत्रैवायं नियम इति । अन्यथा पाण्डोरमुक्तत्वेनेन्द्रस्य चाधिकारितया यावदधिकारमवस्थित्या पाण्डवा अपि न मुच्येरन् । पुष्टिमादाय योगान्तरमाहुः **दृष्टान्तेत्यादि** । तथा च 'येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः' इति न्यायेन यथा तैस्त्यक्तं, तथा राज्ञापि त्यक्तव्यं, यथा ते मुक्तास्तथायमपि मोक्ष्यत इत्येतदर्थमेव तन्मोक्षकथेत्यर्थः । **नात्रोक्त** इति । अर्जुनवाक्योपयोगो निबन्धेऽस्माभिर्नोक्त इत्यर्थः । अत्र त्रितयमुक्त्या प्रतिबन्धनिवृत्तिरसाधारणोपयोगिनी बोध्या ॥ ११७ ॥

---

१. सुबोधिन्या ।

अधुना चतुर्भिरध्यायैः परीक्षितः फलमुखं साधनमधिकारार्थं निरूप्यत इत्याह परीक्षित इति—

निबन्धः—परीक्षितस्तथाध्यायचतुष्टयमुदीर्यते ॥ ११८ ॥
राज्यत्यागविभेदेन राज्ये द्वैविध्यमेव च ।
सामर्थ्यस्य द्विरूपत्वाल्लौकिकालौकिकत्वतः ॥ ११९ ॥
सर्वपृथ्वीजयः पूर्वः कलेश्चापि तथा परः ।
धरणीधर्मसंवादस्तयोर्भीतत्वसूचकः ॥ १२० ॥

प्रकाशः—अध्यायार्थविभागार्थमाह राज्येति । राज्यमध्यायद्वयेन त्यागश्चाप्यध्यायद्वयेनेति । राज्ये द्वैविध्ये हेतुः सामर्थ्यस्य द्विरूपत्वम् । लौकिकं सर्वभूमिजयः । अलौकिकं कालजयः । धरणीधर्मसंवादस्योत्तरशेषत्वं ज्ञापयितुमाह **भीतत्वसूचक** इति । भीतिहेतोः कलेर्निराकरणमग्रिमाध्यायार्थः । सर्वत्राध्यात्मिकाधिभौतिकधर्मौ स्थापिताविति ज्ञापनार्थो वा । आधिदैविक एवातः परं स्थापनीय इति तस्यापि भयं यो निवारयतीति राज्ञ उत्कर्षः ॥ ११८ ॥ ११९ ॥ १२० ॥

षोडशादिचतुर्णामर्थमाहुः अधुनेत्यादि ।

त्रिष्वेतेषु द्विविधं भगवद्दत्तं सामर्थ्यं तादृशी धर्मोन्नतिश्चासाधारणोपयोगिनी बोध्या । तत्रैवं वाक्यविभागः । सप्तदशभिर्भूजयः । विंशत्या धरणीधर्मसंवाद इति । **सप्तदशे** तु चतुर्भिर्धर्मादिदर्शनं, द्वादशभिस्तान्प्रति प्रश्नः, चतुर्भिर्धर्मवाक्यं, सप्तभिस्तद्विचारः, अष्टभिः कलिशासनं, षड्भिः स्थानदानं, शेषः क्रियया धर्मादिसान्त्वनम् । **अष्टादशे** तु दशभिः पारीक्षितोपसंहारः, सप्तभिः पुनस्तत्प्रश्नः, चतुर्दशभिरपराधः, ततः षड्भिः शापः, त्रयोदशभिः शमीकानुताप इति । **ऊनविंशे** तु त्रिभीराज्ञोऽनुतापः, चतुर्भिः प्रायोपवेशः । पञ्चभिर्मुनीनामागमनं, षड्भिस्तेषां सत्कारः, चतुर्भीराजप्रशंसा, द्वाभ्यां राजप्रश्नः, सप्तभिः शुकागमनं, नवभीराजप्रश्नः शुकं प्रतीत्येवं बोध्याः ।

ननु षोडशे लौकिकं सर्वभूमिजयरूपं सामर्थ्यमुच्यते, तत्र धरिणीधर्मसंवादः कुत्रोपयुज्यत इत्यत आहुः **धरिणी**त्यादि । **उत्तरशेषत्व**मिति, अलौकिकसामर्थ्यशेषत्वं, कथमित्याकाङ्क्षायामाहुः **भीती**त्यादि । नन्वेवं पञ्चदशश्लोकोत्तरं सर्वस्याध्यायस्याग्रिमशेषत्वे पूर्वभागमात्रार्थस्याध्यायार्थता न युक्तेत्याशङ्क्य पक्षान्तरमाहुः **सर्वत्रे**त्यादि । तथा चेदं लौकिकसामर्थ्यस्यैव कार्यमिति पूर्वशेषत्वान्न दोष इत्यर्थः । **उत्कर्ष** इति । तथा चायं सप्तदशस्यार्थ इत्यर्थः ॥ ११८ ॥ ११९ ॥ १२० ॥

---

१. अध्यायेषु । २. त्रिषु । ३. पारीक्षितस्य चरित्रस्योपसंहारः । ४. लौकिके ।

प्रकारान्तरेणापि माहात्म्यबोधकत्वमस्य प्रकरणस्येत्यभिप्रायेणाह तत्स्थास्तेन कृतार्थाश्चेति—

निबन्धः—तत्स्थास्तेन कृतार्थाश्च सुतरां कलिना हताः ।
यो रक्षकस्तयोः पश्चात्कलिनिग्रहतो महान् ॥ १२१ ॥
तस्यापि कृष्णकथया गतिरन्यकथा तु का ।

प्रकाशः—धरणीधर्मौ प्रकृतौ, धरणीस्था धर्मेणैव कृतार्थाः । एतादृशा अपि सुतरां कलिना हताः । तेषां यो रक्षको भगवत्प्रयाणानन्तरं कलिनिग्रहं कृत्वा स महानेव भवतीत्यध्यायद्वयार्थः । एवं निरूपणस्य प्रकृतोपयोगमाह तस्यापीति । अनेन भूमिष्ठानां तीर्थानां देवानां साम्प्रतं क्रियमाणस्य धर्मस्य वा अप्रयोजकत्वं सूचितम् । कालजयादीनां मृत्युजयादीनामपि भगवान् वा भागवतं वा नान्यो मोक्षदानसमर्थः ॥ १२१ ॥

ननु पाण्डवाः कथं भगवत्कृपावलोकिताः कलिनिग्रहं न कृतवन्ताः?तेन परीक्षित्स्वत एव कश्चिन्महान् भविष्यति । तस्य भागवतश्रवणं भागवतप्रतिष्ठार्थमेव शुकेन कारितमितीमामाशङ्कां परिहर्तुमाह कृष्णासक्त्येति—

निबन्धः—कृष्णासक्त्या पाण्डवानां नोत्साहः कलिनिग्रहे ॥१२२॥
कलिदोषाभिभूतानां न श्रद्धा हरिवर्णने ।

प्रकाशः—भगवदासक्ता भगवति प्रचलिते समर्था अपि प्रचलिता एव, अतः परीक्षितो न सहजं सामर्थ्यम् । ननु भागवतं चेदतिसमर्थं तदा यस्मै कस्मैचिच्छ्रावितं सन्मोक्षं प्रयच्छेत्किं परीक्षितेत्याशङ्क्याह कलिदोषाभिभूतानामिति । श्रद्धार्थमेवाधिकार उक्तो न तु भागवतमधिकारमपेक्षते । तथा सति ' प्रवर्तमानस्य गुणैरनात्मनः, इति वाक्यं विरुध्येत । यतो यस्यैव महती श्रद्धा स एवाधिकारी । कलिश्च परीक्षिता भीषितो न भगवद्भक्तान् बाधते ॥ १२२ ॥

एवंनिरूपणस्येत्यादि । अध्यायद्वयेनोक्तस्य राजसामर्थ्यस्य श्रीभागवतोपयोगमाहेत्यर्थः । **अनेनेत्यादिना** प्रथमाध्यायस्य, **कालेत्यादिना** च द्वितीयस्योपयोग उक्तो बोध्यः ॥१२१॥

श्रुतौ 'तद्धैतद्घोर आङ्गिरस' इत्यादिषु यथा विशिष्टपुरुषसम्बन्धाद्विद्योत्कर्षः प्रतिपाद्यते तद्वदेवात्रोत्कर्षोऽस्तु न तूक्तरीत्येत्याशङ्कते **नन्वित्यादि**—

न सहजं सामर्थ्यमिति । तथा च न विशिष्टपुरुषसम्बन्धकृतं माहात्म्यमपि तु स्वत एवेत्यर्थः । स्वतः सामर्थ्याङ्गीकारे मूलविरोधमाशङ्कते **ननु भागवतमित्यादि** ॥ १२२ ॥

---

१. अध्यायस्य । २. महत्पुरुषसम्बन्धकृतम् । ३. श्रीभागवतस्येति शेषः ।

ननु परीक्षितमपि दुर्बुद्धिदानेन कलिर्बाधितवान्, कथमन्यान्मोचयेदित्याशङ्क्याह ज्ञानाग्निदग्धदेहस्येति—

निबन्धः--ज्ञानाग्निदग्धदेहस्य न दाहो लौकिको मतः ॥ १२३ ॥
अतः शापमिषेणेशस्तक्षकाग्निमवासृजत् ।
कलेः स्थानप्रदानाद्धि ब्राह्मणातिक्रमे मतिः ॥१२४॥
युगाभिमानिदेवस्य स्वाधिकारपरिच्युतिः
निग्रहो रूपरक्षार्थं स्थानदानं प्रकीर्तितम् ॥ १२५ ॥
देशकालानुसारेण शुद्ध्यशुद्धी प्रकीर्तिते ।
कलौ षण्णां तथापेक्षा नास्ति धर्मोन्नतिस्ततः ॥ १२६ ॥
असिद्धत्वात्तामसत्वात्तामसं फलमस्य तु ।
चित्तशुद्धिर्न चैव स्यात्पङ्किलोदकपूरवत् ॥ १२७ ॥
मालिन्यं मलिने लोके न सम्यगुपजायते ।
दुःखं च तामसं तस्य मूढं सह्यमलौकिकम् ॥ १२८ ॥

प्रकाशः—भगवता तथा कृतं न कलिनेति निर्णयः । ननु भगवान् ब्राह्मणातिक्रमे कथं बुद्धिं दत्तवानित्याशङ्क्याह कलेः स्थानप्रदानाद्धीति । दुष्टस्य स्थानदानात्तामसे कर्मण्याग्रहः । अनेनाधर्मादेव तस्य तथा बुद्धिः । नन्वमूर्तस्य कलेः कालरूपस्य निरन्तरं वर्तमानस्य को वा निग्रहः ? किं वा स्थानदानमिति शङ्काव्युदासायाह युगाभिमानिदेवस्येति । परीक्षित्समये कालधर्माणामप्रवृत्तिरेव निग्रहः । स्वरूपरक्षा स्थानदानम् । नन्वधर्मस्य स्थानदानाज्जातस्य ब्राह्मणातिक्रमस्य कथं मोक्षपर्यवसायित्वं ? तत्राह देशकालेति । कलिर्नात्यन्तं दुष्टः । अन्तकाले रोगवद्भगवत्स्मरणे स्वत एव शुद्धत्वात् । अतो धर्मसिद्धावसहायशूर इति तस्य स्वरूपरक्षायां धर्मोन्नतिर्जाता । तेन तामसकर्मणोऽपि मोक्षपर्यवसायित्वम् । नन्वेवं सति महतो रक्षा सात्त्विकमेव कर्मेति कथमतिक्रमबुद्धिः ? कथं वा सर्पान्मरणमित्याशङ्क्याह असिद्धत्वादिति । कलौ चेद्धर्मो भवेत्तदा कलेरसहायशूरत्वात्तद्रक्षा सात्त्विकं कर्म भवेत् । अतो धर्मस्यासिद्धत्वात्तेनैवं फलम् । कलिश्च तामसः । चतुर्युगाणां

अष्टादशाध्यायार्थं वदिष्यन्तः कलेरबाधकत्व आशङ्कते ननु परीक्षितमित्यादि—

तत्र समादधते सार्धैः पञ्चभिः । कलेर्धर्मरक्षायामसहायशूरत्वं विष्णुपुराणसमाप्तौ प्रसिद्धम् । फलं तथेति, दुरदृष्टं रूपम् । तथा च शापस्य भगवत्कृतत्वाद्ब्राह्मणातिक्रमस्य

कृतं सात्त्विकम् । त्रेता राजसी सात्त्विकी च । द्वापरं राजसं तामसं च । केवलस्तामसः कलिः । अतस्तामसरक्षापि तामसी, तेन फलं तथेत्यर्थः । नाप्येतदीयेन धर्मेण चित्तशुद्धिर्भवति, किं तु स्वर्गादिकमेव भवतीत्याह चित्तशुद्धिर्न चैव स्यादिति । अदृष्टमेव फलमित्यस्माद्धर्मान्न दृष्टमित्यत्र दृष्टान्तः पङ्किलोदकपूरवदिति । पापाभावेऽप्येवमेवमिति न्यायमाह मालिन्यं मलिने लोक इति । मालिन्यं दुरदृष्टं, तेन तथा नरकाभावः, किं त्वैहिकमेव दुःखं पापात्, तच्च दुःखं तामसं न तु तीव्रवेदनारूपं, किं तु मूढं, अतः सह्यम् । किञ्च, अलौकिकं, तथा लोकापवादादिरहितम् । एवं कलेरुत्कर्षः प्रतिपादितः ॥१२३॥१२४॥१२५॥१२६॥१२७॥१२८॥

ननु मुख्योत्कर्षः कलेः कथं न प्रतिपादितः ? 'कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेद्' इत्यादिरूपः, तत्राह भागवताप्रवृत्तेरिति—

निबन्धः—भागवताप्रवृत्तेर्हि कीर्तनाद्यादरो न हि ।
अग्रे तस्य कथा वाच्या सारोयमिति बुध्यताम् ॥१२९॥
कल्पभेदाद्भारतादि कथया न विरुध्यते ॥
सर्वज्ञत्वादृषीणां हि श्रवणार्थे तथा गतिः ॥ १३० ॥

प्रकाशः—भागवतशास्त्रे प्रवृत्ते हि कीर्तनादयो जायन्ते । अनादरेण पुनः कार्यं न सिध्यतीति तन्नोक्तम् । अग्रे द्वादशस्कन्धे वक्ष्यति । अयमेव कलेर्मुख्यो गुण इति सिद्धान्तसारो ज्ञातव्यः । स्वभावतो दुष्टत्वादतिक्रमादिबुद्धिरुत्पन्ना । गुणत उत्कृष्टत्वात्सत्पर्यवसानमिति विमर्शः । ननु भारते परीक्षितो नोत्तमत्वकथा, अतस्तादृशे भागवतप्रवृत्तिः कथमुत्कृष्टा भविष्यतीत्याशङ्क्याह कल्पभेदादिति । ऋषीणामागमनं राज्ञो दययेति पक्षव्यावृत्त्यर्थमाह सर्वज्ञत्वादिति ॥ १२९ ॥ १३० ॥

व्यासनारदयोर्मध्यमत्वेऽपि हेतुत्वादनागमनमाशङ्क्य प्रयोजनान्तरमाह व्यासेति—

निबन्धः—व्यासनारदयोश्चैव तत्प्रवृत्तिदिदृक्षया ॥

दुष्टरक्षणहेतुकत्वात्पर्यवसानतः कलेरदुष्टत्वेन तद्रक्षाया अपि धर्मोन्नतिजनकतया मोक्षपर्यवसायित्वं, कलेः स्वरूपतस्तामसत्वेन तद्रक्षायास्तामसधर्मतया स्वल्पदुरदृष्टजनकत्वेनाप्रबलत्वाच्च न स[1] बाधक इत्यर्थः । एवमिति स्वल्पदुरदृष्टजनकत्वेनोपलक्षणविधया ॥ १२३ ॥ १२४ ॥ ॥ १२५ ॥ १२६ ॥ १२७ ॥ १२८ ॥

फलितमाहुः स्वभावत इत्यादि । ऊनविंशाध्यायार्थमाहुः ऋषीणामित्यादि ॥ १२९ ॥ ॥ १३० ॥ १३१ ॥

---

१ कलिः ।

अविरक्तेर्मध्यमत्वाद्रामस्य क्रियया गतिः ॥ १३१ ॥

प्रकाशः—दिदृक्षायां हेतुः अविरक्तेरिति । परशुरामस्य तु क्रियाशक्त्यवतारत्वाद्विशिष्टवाचके भागवते गमनमुचितमेव ॥ १३१ ॥

ननु सर्वापेक्षया भगवानुत्तमोऽतस्तत्राऽलौकिकधर्मैः कथमुत्कर्षापकर्षचिन्ता ? तस्मात्सर्वे भगवदंशाः शुकापेक्षयोत्तमा इत्याशङ्क्याह शुकः शिव इति—

निबन्धः—शुकः शिवस्ततोऽप्येवमीश्वराज्ज्ञानसंस्थितिः ।
एतदर्थं हि भगवानवतीर्णो वृषध्वजः ॥ १३२ ॥
द्वात्रिंशल्लक्षणैर्युक्तो भक्तानां सुरपादपः ॥
तत्र प्रश्नद्वयं लोके सर्वदोपमृतिक्रमात् ॥ १३३ ॥

प्रकाशः—गुणावतारत्वात्सोऽपि महान् । ब्रह्मवित्त्वादपि लौकिकश्चोत्कर्षः । अन्यमपि हेतुमाह ईश्वराज्ज्ञानसंस्थितिरिति । ईश्वरात्प्राप्तं ज्ञानं सम्यक् तिष्ठति । अन्यन्मायादिना अपोह्यते । अनेन 'आरोग्यं भास्करादिच्छे' दिति चतुर्णामप्येषैव व्यवस्था मुख्येति सूचितम् । नन्वस्यावतारस्य किं प्रयोजनमित्यत आह एतदर्थं हीति । भगवान् सर्वमुक्त्यर्थमवतीर्णः, स्वयं गच्छन् स्वस्थाने शिवं स्थापितवान् । अतो भागवतप्रवर्तनार्थमेव शिवावतारः । ननु काश्यां स्थित्वा ज्ञानमुपदिशत्येव किं पुनरवतारेणेत्याशङ्क्याह वृषध्वज इति । वृषो धर्मः, तेन धर्मप्रकारेण मोचयितुमवतार इत्यर्थः । कूर्मपुराणे शिवावतारः शुक इति यद्यप्यस्ति, तथापि लक्षणैरपि ज्ञातव्य इति महापुरुषत्वं निरूपयति द्वात्रिंशदिति । एतादृशे शुके समागते राज्ञा यत्कृतं तदाह तत्रेति । सर्वदा किं कर्तव्यं म्रियमाणेन किं कर्तव्यमिति ॥१३२॥१३३॥

इति श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितसप्रकाशतत्त्वार्थदीपनिबन्धे श्रीमद्भागवतार्थप्रकरणे प्रथमस्कन्धार्थनिरूपणं समाप्तम् ॥

कूर्मपुराण इति । तत्र पूर्वभागे सप्तदशेऽध्याये 'द्वैपायनाच्छुको जज्ञे भगवानेव शङ्करः । अंशांशेनावतीर्योर्व्यां स्वं प्राप परमं पद' मिति । शेषं प्रकटार्थम् ॥१३२॥१३३॥

इति श्रीपीताम्बरतनुजपुरुषोत्तमविरचिते तत्त्वदीपप्रकाशावरणभङ्गे प्रथमस्कन्धविवरणं सम्पूर्णम् ॥

---

१. 'तत्राभवद् भगवानि'ति श्लोकोक्तानि द्वात्रिंशद्विशेषणानि लक्षणत्वेनोक्तानीति प्रतिभाति । इति प्रथमस्कन्धनिबन्धलेखः ।

श्रीगोष्ठीशालोपनाम-रामचन्द्रभट्टात्मज-घनश्यामभट्टकृता सूचिका ।

उपक्रमः ।

अथ निबन्धोक्तरीत्या श्रीभागवतीय-द्वादशस्कन्धानां प्रकरणाध्यायविभागसूचिका क्रियते. तत्र "श्रोतव्यः कीर्तितव्य" इत्यादिना श्रीभागवते श्रवणादिवियत्वेन भगवान् उक्तः. श्रवणादि तु शब्दस्य सम्भवति, न स्वरूपस्य इति भगवल्लीलानां शब्दात्मकत्वात् प्रकाशाश्रयन्यायेन भगवद्रूपत्वात् च तासां श्रवणादि कर्तव्यम् इति निर्धारितं सुबोधिन्यां निबन्धे च. तथाच लीलानां सर्गादिभेदेन दशविधत्वात् तच्छ्रवणं च अधिकार-साधनापेक्षम् इति तृतीयादि-दशस्कन्धानां सर्गादि-दशलीलानिरूपकत्वम्. तदङ्गत्वेन अधिकार-साधनानां निरूपणीयत्वात् तन्निरूपकत्वेन प्रथम-द्वितीययोः अधिकार-साधननिरूपकत्वात् तदुपयोगे लीलानिरूपकत्वम्.

अथ प्रथमस्कन्धः ।

तथाच प्रथमस्कन्धे अधिकारनिरूपणं क्रियते. तत्र एवं प्रकरणविभागः. अधिकारस्य हीनमध्यमोत्तमभेदेन त्रिविधत्वात् प्रकरणत्रयम्. तत्र हीनाधिकारस्य जिज्ञासुत्वा-ऽमात्सर्य-श्रवणादरत्वरूप-श्रोतृगुण - श्रुतभागवतत्व-चातुर्य-गुह्यज्ञानवत्त्वरूप-वक्तृगुण-सापेक्षत्वात् प्रत्यध्यायं श्रोतृवक्त्रेकैकगुणस्य निरूपितत्वाद् अध्यायत्रयेण हीनाधिकारप्रकरणनिरूपणम्.

एवं मध्यमाधिकारस्य भगवत्कृपा-भगवदीयत्व-भगवदेकत्वरूप-श्रोतृ-वक्तृ-गुणत्रयसापेक्षत्वात् प्रत्यध्यायम् एकैकगुणस्य निरूपितत्वाद् अध्यायत्रयेण मध्यमाधिकारप्रकरणनिरूपणम्.

एवं उत्तमाधिकारस्य दृढवैराग्यसापेक्षत्वाद् वैराग्यस्य भगवदेकतानत्वरूपस्यैव दृढत्वाद् भगवतश्च पुरुषोत्तमरूपत्वात् तदेकतानताद्योतक-द्वादशाङ्गपुरुषाधिक्य-द्योतनार्थं त्रयोदशाध्यायेन उत्तमाधिकारप्रकरणनिरूपणम्. एवं प्रथमस्कन्धनिरूपणे एकोनविंशत्यध्यायाः.

श्रीगोकुलरायकृतो श्रीभागवताध्यायार्थः ।

। श्रीकृष्णाय नमः । अथ श्रीभागवते निबन्धानुसारेण प्रथमादिस्कन्धानाम् अध्यायार्था लिख्यते.

प्रथमस्कन्धे हीनाधिकारप्रकरणे प्रश्ननिरूपणमुखेन श्रोतुः जिज्ञासुत्वस्य, वक्तुः सम्प्रदायेन सन्मुखात् श्रुतभागवतत्वस्य च निरूपणं प्रथमेऽध्याये.

हीनाधिकारप्रकरणे कर्म-ज्ञानप्रश्नयोः उत्तरेण, भगवदवतारप्रयोजन-लीलाप्रश्नयोः च उत्तरेण श्रोतुः अमात्सर्यस्य वक्तुः चातुर्यस्य निरूपणं द्वितीयेऽध्याये.

हीनाधिकारप्रकरणे रूपात्मकानां भगवदवताराणां निरूपणेन धर्मस्य शरणनिरूपणेन च श्रोतुः श्रवणादरवत्त्वस्य, वक्तुः गुह्यज्ञानस्य निरूपणं तृतीयेऽध्याये.

मध्यमाधिकारनिरूपणे प्रेरणहेतुभूताऽनिर्वृतिनिरूपणेन व्यासे भगवन्मनोविचारित-भगवदीयत्वनिरूपणं चतुर्थेऽध्याये.

मध्यमाधिकारप्रकरणे उत्तरस्य कृतेः च निरूपणेन व्यास-नारदयोः साधनरूप-भगवच्छरीरसम्पादित-भगवदीयत्वनिरूपणं पञ्चमेऽध्याये.

मध्यमाधिकारप्रकरणे नारदस्य फलनिरूपणे नारदे भगवद्वाचिक--भगवदीयत्वनिरूपणं षष्ठेऽध्याये.

उत्तमाधिकारप्रकरणे अर्जुने परतो दुःखनिवारणेन भगवतः परमकृपानिरूपणेन परीक्षिति अधिकारिणि पुरुषपारम्पर्यकृत-दोषाभावनिरूपणं सप्तमेऽध्याये.

उत्तमाधिकारप्रकरणे कुन्तीस्तुतिनिरूपणेन कुन्त्यां ब्रह्मस्वरूपाज्ञानज-दुःखनिवृत्त्या भगवतः परमकृपानिरूपणेन स्त्रीपारम्पर्यकृत-दोषाभावनिरूपणम् अष्टमेऽध्याये.

उत्तमाधिकारप्रकरणे युधिष्ठिरे भीष्मोपदेशेन जीवस्वरूपाज्ञानजनित-दुःखनिवृत्त्या भगवतः परमकृपानिरूपणेन पोषकान्नशुद्धिनिरूपणं नवमेऽध्याये.

उत्तमाधिकारप्रकरणे सम्बन्धिनां भीमादीनां भगवत्परतापुरःसरम्

अध्यायारम्भे सामान्यतः सुखप्राप्तिनिरूपणेन भगवतः परमकृपानिरूपणेन सांसर्गिकदोषाभावनिरूपणं दशमेऽध्याये.

उत्तमाधिकारप्रकरणे भगवतः कार्यसमाप्त्या सुखस्थित्या पार्थेषु अपि भगवत्सुखेनैव सुखप्राप्त्या आगन्तुकदोषाभावनिरूपणम् एकादशेऽध्याये.

उत्तमाधिकारप्रकरणे भगवद्रक्षितपुत्रसम्पत्त्या पार्थेषु विशेषेण सुखप्राप्त्या अधिकारिणि स्वतः कालतः च परमकृपानिरूपणं द्वादशेऽध्याये.

उत्तमाधिकारप्रकरणे धृतराष्ट्रमुक्त्या बीजमुक्तिनिरूपणं त्रयोदशेऽध्याये.

उत्तमाधिकारप्रकरणे बीजमुक्तिकार्यभूत-पाण्डवनिर्गमहेतुभूत-वैराग्यनिरूपणं चतुर्दशेऽध्याये.

उत्तमाधिकारप्रकरणे वैराग्यनिर्गमन-फलीभूत-पाण्डवमुक्तिनिरूपणं पञ्चदशेऽध्याये. अधिकारिणः पूर्वजकृतप्रतिबन्धाभावाय तन्मुक्तिनिरूपणम्.

उत्तमाधिकारप्रकरणे परीक्षिद्राज्यनिरूपणे सर्वपृथ्वीजयेन लौकिकसामर्थ्यनिरूपणं षोडशेऽध्याये.

उत्तमाधिकारप्रकरणे परीक्षिद्राज्यनिरूपणेन धरणी-धर्मयोः अर्थे कलिनिग्रहकथनेन अलौकिकसामर्थ्यनिरूपणं सप्तदशेऽध्याये. लौकिकालौकिकसामर्थ्येन कालप्रतिबन्धनिवृत्तिः.

उत्तमाधिकारप्रकरणे त्यागनिरूपणे त्यागकारणीभूत-वैराग्यहेतुभूत-शापनिरूपणेन धर्मोन्नतिनिरूपणम् अष्टादशेऽध्याये.

उत्तमाधिकारप्रकरणे त्यागनिरूपणे त्याग-सत्सङ्गसम्पत्तौ प्रश्ने श्रोताधिकारनिरूपणम् एकोनविंशेऽध्याये. इति अधिकारनिरूपणे प्रथमस्कन्धः.

॥ श्रीपुरुषोत्तमनामसहस्रस्तोत्रे प्रथमस्कन्धनामानि ॥

श्रीकृष्णः सच्चिदानन्दो नित्यलीलाविनोदकृत् ।
सर्वागमविनोदी च लक्ष्मीशः पुरुषोत्तमः ॥
आदिकालः सर्वकालः कालात्मा माययावृतः ।
भक्तोद्धारप्रयत्नात्मा जगत्कर्ता जगन्मयः ॥
नामलीलापरो विष्णुः व्यासात्मा शुकमोक्षदः ।
व्यापिवैकुण्ठदाता च श्रीमद्भागवतागमः ॥

शुकवागमृताब्धीन्दुः शौनकाद्यखिलेष्टदः ।
भक्तिप्रवर्तकस्त्राता व्यासचिन्ताविनाशकः ॥
सर्वसिद्धान्तवागात्मा नारदाद्यखिलेष्टदः ।
अन्तरात्मा ध्यानगम्यो भक्तिरत्नप्रदायकः ॥
मुक्तोपसृप्यः पूर्णात्मा मुक्तानां रतिवर्धनः ।
भक्तकार्यैकनिरतो द्रौण्यस्त्रविनिवारकः ॥
भक्तस्मयप्रणेता च भक्तवाक्परिपालकः ।
ब्रह्मण्यदेवो धर्मात्मा भक्तानां च परीक्षकः ॥
आसन्नहितकर्ता च मायाहितकरः प्रभुः ।
उत्तराप्राणदाता च ब्रह्मास्त्रविनिवारकः ॥
सर्वतः पाण्डवपतिः परीक्षिच्छुद्धिकारणम् ।
गूढात्मा सर्ववेदेषु भक्तैकहृदयंगमः ॥
कुन्तीस्तुत्यः प्रसन्नात्मा परमाद्भुतकार्यकृत् ।
भीष्ममुक्तिप्रदः स्वामी भक्तमोहनिवारकः ॥
सर्वावस्थासु संसेव्यः समः सुखहितप्रदः ।
कृतकृत्यः सर्वसाक्षी भक्तस्त्रीरतिवर्धनः ॥
सर्वसौभाग्यनिलयः परमाश्चर्यरूपधृक् ।
अनन्यपुरुषस्वामी द्वारकाभाग्यभाजनम् ॥
बीजसंस्कारकर्ता च परीक्षिज्ज्ञानपोषकः ।
सर्वत्रपूर्णगुणकः सर्वभूषणभूषितः ॥
सर्वलक्षणदाता च धृतराष्ट्रविमुक्तिदः ।
सन्मार्गरक्षको नित्यं विदुरप्रीतिपूरकः ॥
लीलाव्यामोहकर्ता च कालधर्मप्रवर्तकः ।
पाण्डवानां मोक्षदाता परीक्षिद्भाग्यवर्धनः ॥
कलिनिग्रहकर्ता च धर्मादीनां च पोषकः ।
सत्सङ्गज्ञानहेतुश्च श्रीभागवतकारणम् ॥
प्राकृतादृष्टमार्गश्च ...

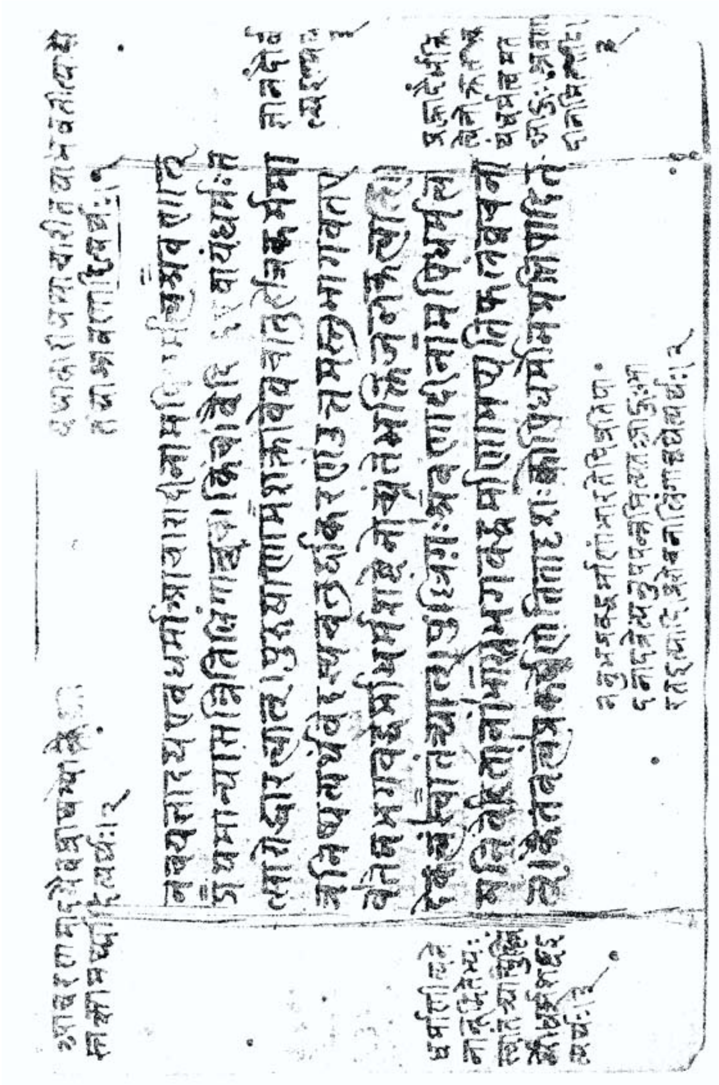

निजहस्ताक्षरमें सूक्ष्मटीका,
वहीं इर्दगिर्द स्वयं श्रीपुरुषोत्तमजीने लिखी टिप्पणीओंके साथ

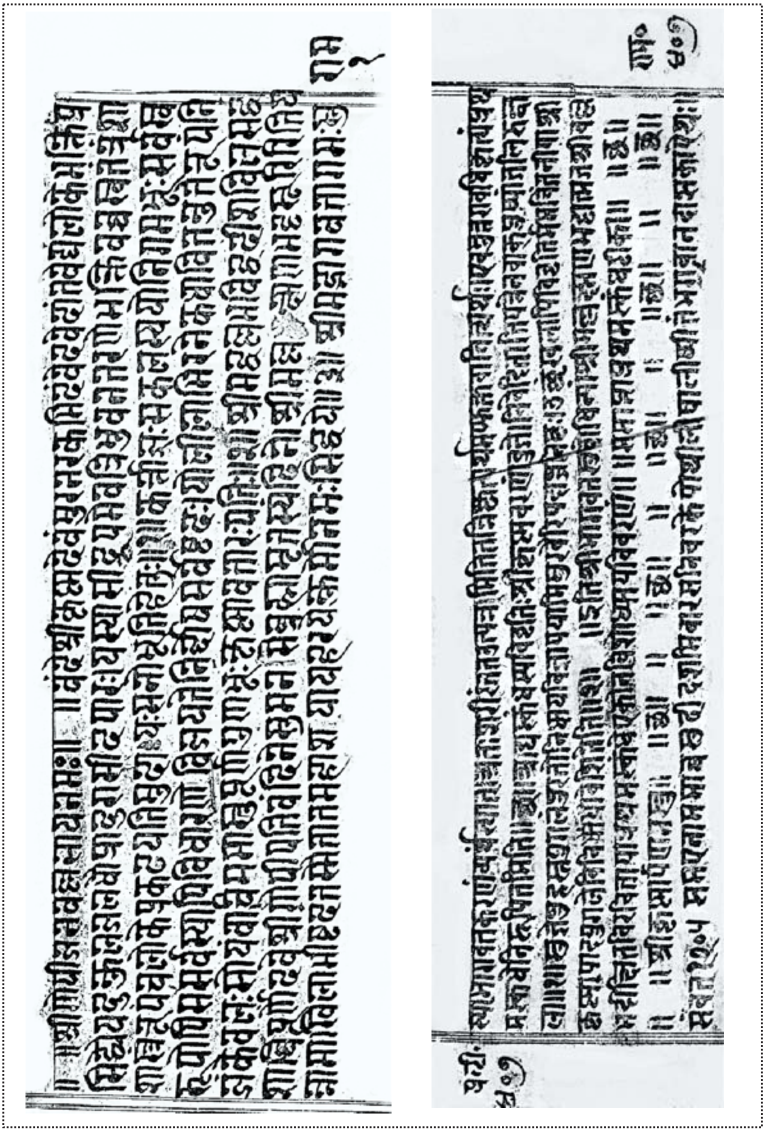

भाण्डारकर ओरिएन्टल् रिसर्च इन्स्टिट्यूटके संग्रहमेंकी सुबोधिनीकी हस्तप्रति
('भा.पाठ.')

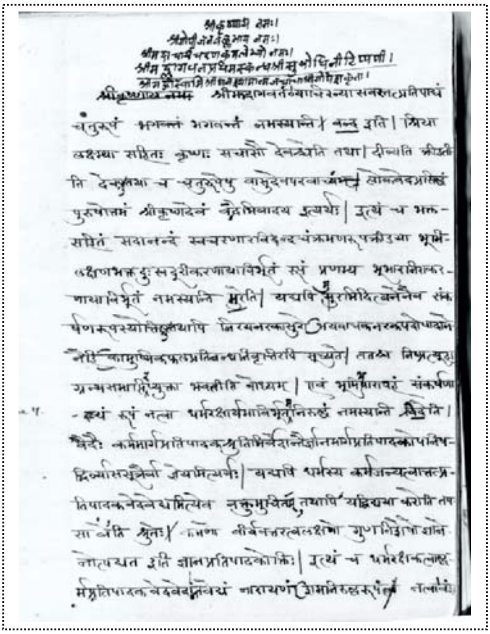

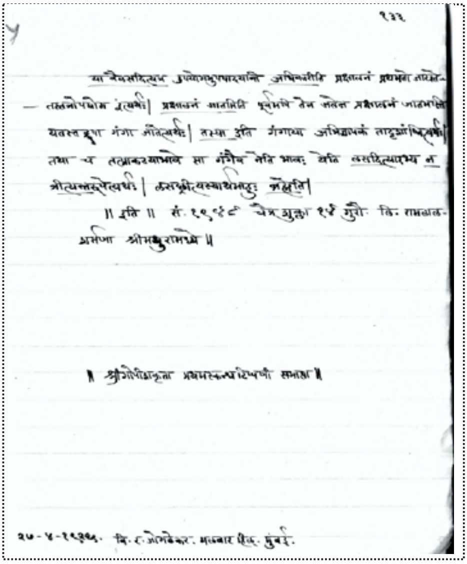

श्रीमूलचन्द्र तेलीवालाद्वारा लिखवाई गई टिप्पणीकी प्रतिलिपि

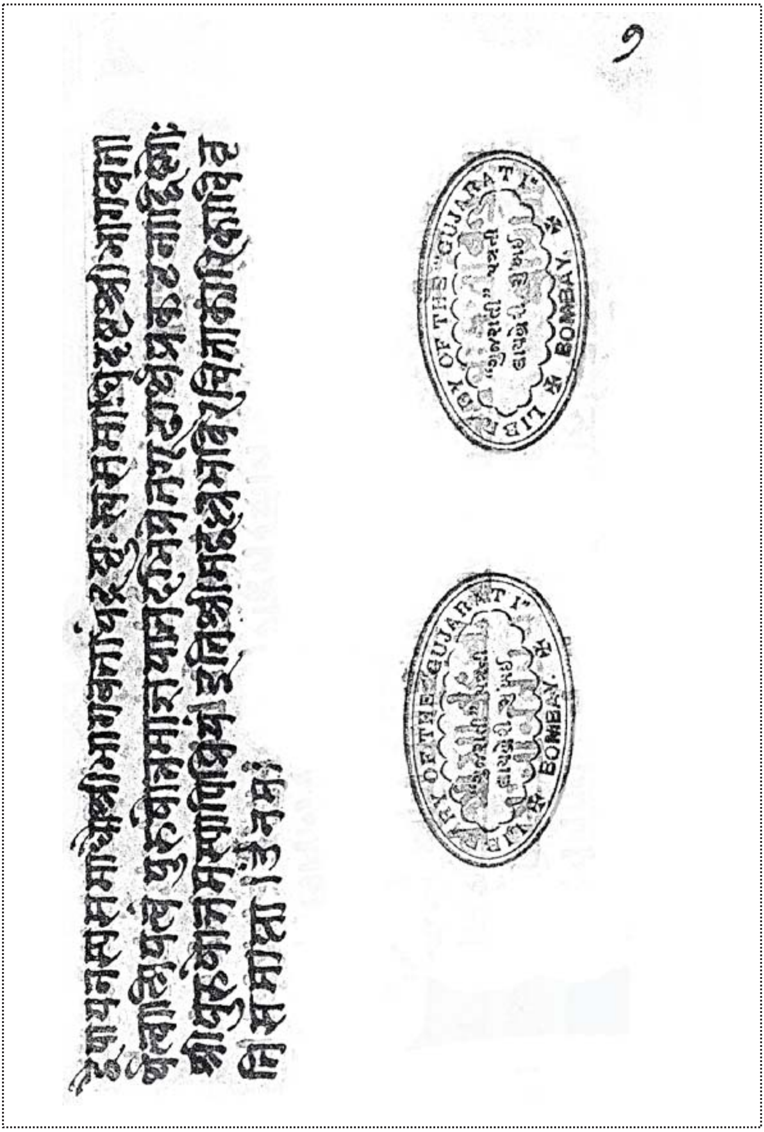

गुजराती प्रेसके संग्रहमेंकी मंगलाचरणकी टिप्पणीकी हस्तप्रति

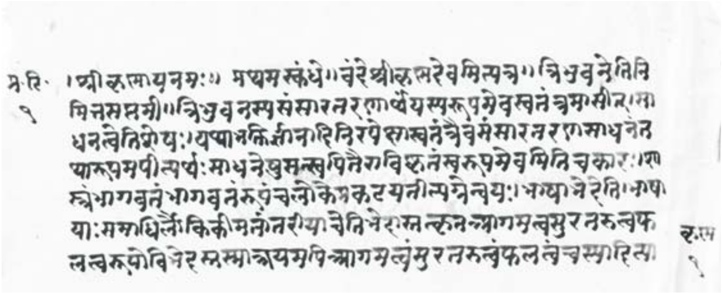

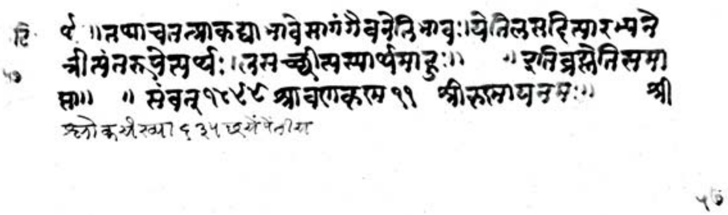

मांडवीके संग्रहमेंकी टिप्पणीकी हस्तप्रति

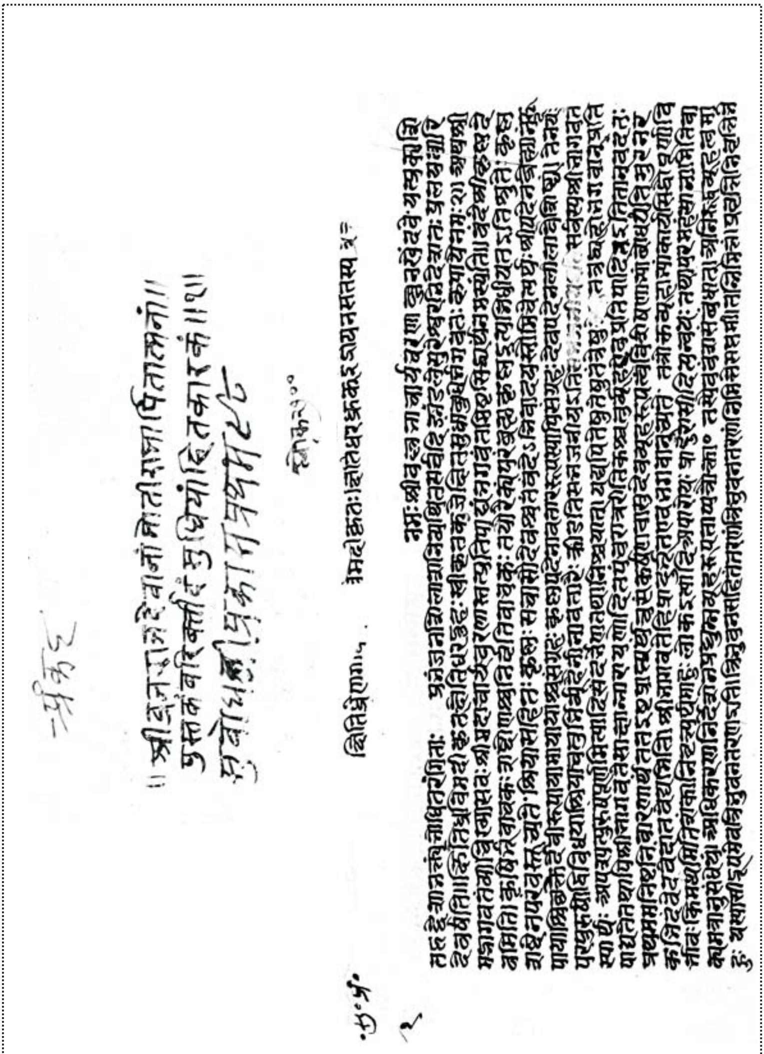

किशनगढ़के संग्रहमेंकी प्रकाशकी हस्तप्रति
('कि.पाठ')

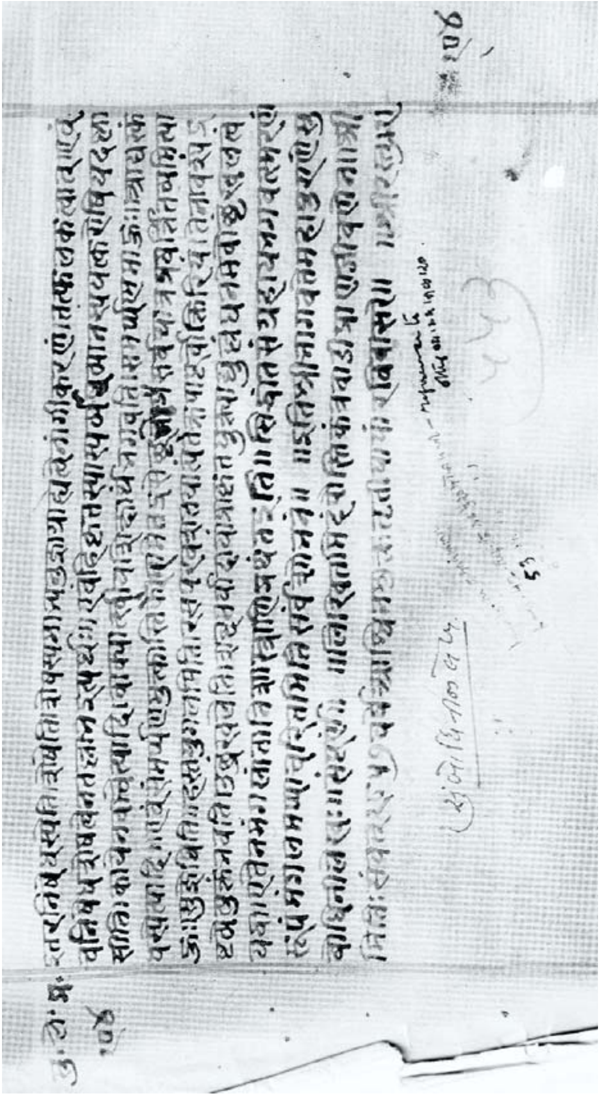

श्रीगट्टुलालाजीके संग्रहमेंकी लेखकी हस्तप्रति

('त पाठ')

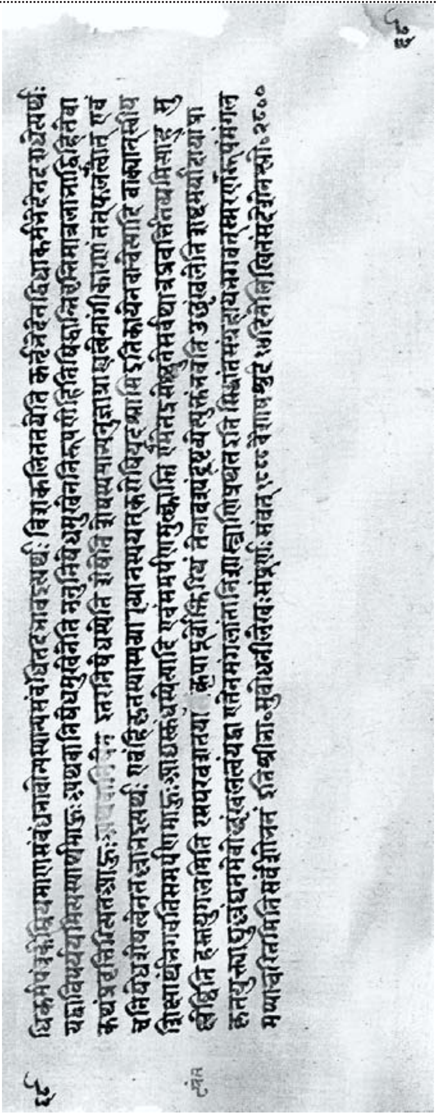

श्रीगट्टुलालाजीके संग्रहमेंकी लेखकी हस्तप्रति
('थ पाठ')

विषयानुक्रमणिका

	विषयाः	पृष्ठानि
	(१) प्रथमस्कन्धः	१–४९२
१.	**प्रथमोऽध्यायः**	**१ – ७७**
	नैमिषक्षेत्रे श्रीमद्भागवतविषये सूतं प्रति शौनकादिमुनीनां षट्प्रश्नकरणम्.	
२.	**द्वितीयोऽध्यायः**	**७८ – १४४**
	सूतेन प्रश्नत्रयाणाम् उत्तरदानम्.	
३.	**तृतीयोऽध्यायः**	**१४५ – २२३**
	सूतेन अवशिष्टप्रश्नत्रयाणाम् उत्तरदानम्.	
४.	**चतुर्थोऽध्यायः**	**२२४ – २६८**
	भागवतकरणप्रस्तावे भागवतकर्तुः महर्षेः व्यासस्य चिन्ता, तदाश्रमे देवर्षिनारदस्य आगमनं च.	
५.	**पञ्चमोऽध्यायः**	**२६९–३४५**
	नारद-व्याससंवादः.	
	चिन्तानिवृत्त्यर्थं भगवद्गुणकर्मवर्णनस्य आवश्यकत्वं,	
	नारदेन स्वस्य पूर्वजन्मवृत्तान्तकथनं च.	
६.	**षष्ठोऽध्यायः**	**३४६ – ३८५**
	नारदपूर्वजन्मवृत्तान्तशेषांशः, ब्रह्मणः सकाशाद् एतज्जन्मग्रहणं च.	
७.	**सप्तमोऽध्यायः**	**३८६ – ४३२**
	समाधौ अनुभूय व्यासेन श्रीमद्भागवतकरणं,	३८६-४०२
	भागवतश्रोता-परीक्षिन्निरूपणप्रस्तावे	४०३-४३२
	तदन्यपाण्डववंश्यानां वधः, अश्वत्थाम्नोऽपमाननं च.	
८.	**अष्टमोऽध्यायः**	**४३३ – ४९२**
	भगवतो अद्भुतकर्मनिरूपणं—	
	उत्तरागर्भे ब्रह्मास्त्रतः परीक्षितो रक्षणं,	४३५-४४७
	कुन्तीकृता स्तुतिः,	४४८-४८६
	मुग्धयुधिष्ठिरानुतापश्च.	४८७-४९२

	(२)	परिशिष्टानि	४९४–५७६
१.		स्वतन्त्रलेखाः	४९४–५४०
२.		आद्यसम्पादकानां प्रस्तावना	५४१–५४७
३.		कारिकार्धसूचिः	५४८–५४९
		मूलश्लोकार्धसूचिः	५५०–५५९
		उद्धरणसूचिः	५६०–५७२
		श्रीमदाचार्यवाङ्मौक्तिकानि	५७३–५७६

॥ अथ श्रीभागवते प्रथमस्कन्धे प्रथमोऽध्यायः ॥

✻ श्रीमद्वल्लभाचार्याणां सुबोधिनी ✻

वन्दे श्रीकृष्णदेवं मुरनरकभिदं वेदवेदान्तवेद्यं
लोके भक्तिप्रसिद्ध्यै यदुकुलजलधौ प्रादुरासीदपारः ॥
यस्यासीद् रूपमेव त्रिभुवनतरणे भक्तिवच्च स्वतन्त्रं
शास्त्रं रूपं च लोके प्रकटयति मुदा यः स नो भूतिहेतुः[१] ॥(१)॥

✻ श्रीविट्ठलेशप्रभुचरणात्मज-श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी ✻

श्रीमद्भागवतं व्याचिख्यासवः तत्प्रतिपाद्यं चतूरूपं भगवन्तं नमस्यन्ति **वन्दे** इति. **श्रिया** लक्ष्म्या सहितः **कृष्णः** स चासौ **देवश्च** इति

✻ श्रीपुरुषोत्तमानां प्रकाशः ✻

नमः श्रीवल्लभाचार्यचरणाब्जनखेन्दवे ॥
यत्प्रकाशितहृद्देशा भक्त्यम्भोधितरङ्गिताः ॥१॥

प्रभञ्जनशिलाशनिव्यथितसर्वदिङ्मण्डले
सुरेश्वरनिदेशतः प्रलयवारिदे वर्षति ॥
क्षितिध्रविमदीकृतक्षितिधरद्रुहः स्वीकृत-
व्रजेक्षितसुधाम्बुधेर्भगवतः कृपायै नमः ॥२॥

✻ श्रीवल्लभानां लेखः ✻

श्रीश्रीमद्वल्लभाचार्यान् तथा श्रीविट्ठलेश्वरान् ।
तत्पुत्रान् श्रीगिरिधरान् गोविन्दांश्च नुमः सदा ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः श्रीभागवतं विवरिषवः तत्प्रतिपाद्यस्य मूलरूपत्वं चतुर्व्यूहचरित्रम् अत्रैव संक्षिपन्तः परमकाष्ठापन्नं रूपं नमस्यन्ति **वन्दे श्रीकृष्णदेवम्** इति. **यो भक्तिप्रसिद्ध्यै यदुकुलजलधौ प्रादुरासीत् यस्य च त्रिभुवनतरणे भक्तिवत् स्वतन्त्रं रूपमेव** साधनम् **आसीत्** तं **श्रीकृष्णदेवं**, **यश्च** पुनः अनवतारसामयिक-जीवतरणार्थं शास्त्रात्मकं स्वकीयं **रूपं** श्रीभागवतात्मकं **प्रकटयति स नो भूतिहेतुः** अस्तु इति पदसम्बन्धसरणिः.

---

१. अत्र मठपतिश्रीजयगोपालभट्टानां स्वतन्त्रलेखः प्रथमपरिशिष्टे (पृ. ४९४) प्रकाशितो अस्ति -सम्पा.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

तथा. दीव्यति क्रीडति इति **देवः**. तथाच चतूरूपेषु 'वासुदेव'पदवाच्यं लोकवेदप्रसिद्धं पुरुषोत्तमं **श्रीकृष्णदेवं वन्दे** अभिवादये इति अर्थः. इत्थं च भक्तसहितं सदानन्दं स्वचरणारविन्द-चङ्क्रमणरूप-क्रीडया भूमिलक्षणभक्त-दुःखदूरीकरणाय आविर्भूतं रूपं प्रणम्य भूभारनिराकरणाय आविर्भूतं नमस्यन्ति **मुर** इति. यद्यपि **मुरभिद्** इत्यनेनैव सङ्कर्षणरूपस्य उक्तिः तथापि निरय-नरकासुरोभयवाचक-**नरक**पदोपादानेन ऐहिकामुष्मिकफलप्रतिबन्धनिवृत्तिः अपि सूच्यते. ततश्च निष्प्रत्यूहा ग्रन्थसमाप्तिरपि उक्ता भवति इति बोध्यम्. एवं भूमिभारापहं सङ्कर्षणाख्यं रूपं नत्वा धर्मरक्षार्थम् आविर्भूतम् अनिरुद्धम् नमस्यन्ति **वेद** इति. **वेदैः** कर्ममार्गप्रतिपादकश्रुतिभिः **वेदान्तैः**

प्रकाशः

अथ श्रीमद्भागवतं व्याचिख्यासवः श्रीमदाचार्यचरणाः तत्प्रतिपाद्यं भगवन्तम् इष्टसिद्ध्यर्थं नमस्यन्ति **वन्दे श्रीकृष्णदेवम्** इति. "कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः, तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते" (गोपालपूर्वतापि.उप. १।१) इति श्रुतेः 'कृष्ण'शब्देन परं वस्तु उच्यते. **श्रिया सहितः कृष्णः** सच असौ **देवः** च तं **वन्दे** अभिवादये स्तौमि च इति अर्थः. **श्री**पदेन ब्रह्मानन्दरूपायाः चिच्छक्तेः देवीरूपाया मायायाश्च सङ्ग्रहः. **कृष्ण**पदेन अवताररूपस्यापि सङ्ग्रहः. **देव**पदेन लीलावैशिष्ट्यम्. तेन यः परपुरुषो द्विविधया श्रिया चतुर्भिः व्यूहैः नानावतारैः क्रीडति स भजनीय इति सर्वस्य श्रीभागवतस्य अर्थः, "अपश्यत् पुरुषं पूर्णम्" (भाग.पुरा. १।७।४) इत्यादिसन्दर्भेण तथा निश्चयात्.

यद्यपि तेषु तेषु तन्त्रेषु तत्तद्व्यूहो भगवान् प्रतिपाद्यते तथापि श्रीभागवते साक्षान्नारायणोदित-पञ्चरात्ररीतिकः चतुर्व्यूहएव प्रतिपादितः इति तान् वदन्तः प्रथमम् अनिष्टनिवारणार्थं ततः इष्टप्राप्त्यर्थञ्च सङ्कर्षण-वासुदेवव्यूहरूपत्वं विशेषणाभ्यां बोधयन्ति **मुरनरकभिदं** [१]**वेदवेदान्तवेद्यम्** इति. श्रीभागवते

१. दैत्यसंहारकत्वात् संकर्षणस्य 'मुरनरकभिदम्' इति विशेषणेन तद्बोधनम्, वेदवेदान्तवेद्यस्यैव मोक्षदातृत्वाद् द्वितीयविशेषणेन वासुदेवव्यूहबोधनम् इति भावः.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

ज्ञानमार्गप्रतिपादकोपनिषद्भिः व्याससूत्रैः वा **(वेद्यं !)** ज्ञेयम् इति अर्थः. यद्यपि धर्मस्य कर्मजन्यत्वात् तत्प्रतिपादक-**वेदवेद्यम्** इत्येव वक्तुम् उचितं तथापि "यदेव विद्यया करोति तपसा वा" (छान्दो.उप. १।१।१०) इति श्रुतेः कर्मणो वीर्यवत्तरत्वलक्षणो गुणविशेषो ज्ञानेन उत्पद्यते इति ज्ञानप्रतिपादकोक्तिः.

इत्थं च धर्मरक्षकत्वाद् धर्मप्रतिपादक-वेदवेदान्तवेद्यं नारायणांशम् अनिरुद्धरूपं नत्वा वंशजननार्थम् आविर्भूतं प्रद्युम्नरूपं नमस्यत्वेन आहुः **यदु** इति. **जलधि**त्वकथनेन यथा चन्द्रमसो गर्भवासादिदुःखानुभव-व्यतिरेकेणैव प्रादुर्भावः तथा एतद्रूपभगवतोऽपि इति अर्थः सूच्यते. एवञ्च वंशसम्बन्धी वंशकृत् च प्रद्युम्नरूपस्य आविर्भावकथनाय यदुकुलस्य प्रादुर्भावाधिकरणता उक्ता. वस्तुतस्तु व्यापकस्य न परिनिष्ठितम् अधिकरणम् इत्याहुः **अपार** इति. **लोके** दैव्यां सृष्टौ **भक्तिप्रसिद्ध्यै** भक्तिप्रचारार्थम् **अपारः** व्यापकएव तदवच्छेदेन मायोद्धाटनेन प्रादुर्भूतः इति अर्थः. तथाच भक्तदुःखदूरीकरण-भूभारहरण-धर्मरक्षा-वंशसम्बन्धाः प्रत्येकं तत्तद्रूपप्रादुर्भाव-प्रयोजनानि, समुदितस्यतु भक्तिप्रचारएव प्रयोजनम् इति भावः.

एवं प्रारिप्सित-प्रतिबन्धविनाशाय प्रत्येक-समुदायाभ्यां चतुर्मूर्तिं भगवन्तं प्रणम्य स्वव्याख्येयशास्त्ररूपं तं स्वाभीष्टदत्वाय प्रार्थयन्ते **यस्य** इति.

प्रकाशः

हि प्रादुर्भूतएव भगवान् उच्यते, तत्र उक्तव्यूहाभ्यां कार्यसिद्धौ पूर्णाविर्भावः किमर्थम् इति शङ्कानिवृत्त्यर्थम् आहुः **लोक** इत्यादि. **अपारो यः प्रादुरासीद्** इति अन्वयः. "तथा परमहंसानाम्" (भाग.पुरा. १।८।२०) इति वाक्यम् अत्र अनुसन्धेयम्. अधिकरणनिर्देशेन प्रद्युम्नव्यूहरूपतापि अत्र उक्ता, तस्यैव

लेखः

श्रीकृष्णदेवम् इति मूलभूतो अवतारी यः पूर्णः पुरुषोत्तमः स उच्यते. **मुरनरकभिदम्** इत्यनेन दुष्टमारणलक्षणं सङ्कर्षणचरित्रम् उक्तम्. अनिरुद्धचरित्रम् आहुः **वेदवेदान्तवेद्यम्** इति. वेदस्य धर्ममूलत्वात् तद्वेद्यत्वेन धर्मरक्षणं रूपम् अनिरुद्धकार्यम् उक्तम्. **यदुकुलजलधौ** इत्यादिना

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

त्रिभुवनतरणे इति निमित्तसप्तमी. तथाच त्रिभुवनतरणनिमित्तं **यस्य** भगवतो **रूपमेव** स्वरूपमेव **शास्त्रम् आसीत्** शास्त्ररूपेण आविर्भूतम् इति अर्थः. तदुक्तं तत्त्वार्थदीपे "इतीदं द्वादशस्कन्धं पुराणं हरिरेव स" (त.दी.नि. ३।१।६) इति. तथाच यः शास्त्ररूपेण आविर्भूतः स स्वकृतव्याख्याजनित-शास्त्रज्ञानम् उत्पाद्य जगदुद्धारलक्षणसम्पद्धेतुः अस्तु इति प्रार्थयित्वा स्वाभीष्टितप्रदत्वाय सर्वप्रमाणागोचरं तं प्रार्थयन्ते **रूपं च** इति. **रूपं** भावात्मकं स्वरूपं **स्वतन्त्रं** लोकवेदातीतं **मुदा** प्रीत्या **लोके** पुष्टिजीवेषु **यः प्रकटयति** आविष्करोति **स नो** अस्माकं **भूतिहेतुः** पुष्टिपुष्टिरसलक्षण-सम्पत्सम्पादको अस्तु इति अर्थः. अवान्तरभेदज्ञापनार्थं रूपं विशिनष्टि **भक्ति** इति. भावविशेषवाचक-सत्त्वरजस्तमोनिर्गुण-पदवाच्ये भावचतुष्टये यद्यद्भावविशेष-लक्षणा भक्तिः यत्र तत्र तद्भावानुरूपं स्वरूपम् इति अर्थः. चकारात् स्वतन्त्रमपि रूपं भक्त्यनुरूपं सत् प्रकटीभवति इति भक्त्युत्कर्षः. **रूपं च** इति चकारेण शास्त्ररूपेण प्रकटस्य समभिव्याहारः. तथाच **यस्य रूपमेव शास्त्रम् आसीद्** यः तादृशं **रूपं च प्रकटयति स भूतिहेतुः** अस्तु इति अन्वयः. भूतिस्तु यथायथं व्याख्याता एव (१).

प्रकाशः

वंशसम्बन्धात्. अनिरुद्धव्यूहत्वम् आहुः **यस्यासीद् रूपमेव त्रिभुवनतरणे** इति. त्रिभुवनसहितं तरणं त्रिभुवनतरणं, निमित्ते सप्तमी. तन्निमित्तं प्रवृत्ति-निवृत्तिभेदेन द्विविधस्य धर्मस्य फलं त्रिलोकी मोक्षश्च तदुभयनिमित्तभूतं **यस्य रूपमेव आसीत्**. अस्तिः उत्पत्त्यर्थः, "हरितो रोहिताद् आसीद्" इत्यादिप्रयोगात्. कुण्ठिते त्रिलोक्यादिहेतौ धर्मे तद्रक्षार्थं[१] प्रकटम् इति अर्थः. "यदा यदा हि" (भग.गीता ४।७) इत्यादिवाक्यम् अत्र अनुसन्धेयम्.

लेखः

वंशसम्बन्धस्फोरणात् प्रद्युम्नचरित्रं दर्शितम्. मुक्तिदानलक्षण-वासुदेवकार्यम् आहुः **यस्यासीद्** इत्यादिना. त्रिभुवनस्य तरणार्थं साधनत्वेन **यस्य रूपमेव**

१. धर्मरक्षारूपानिरुद्धकार्यदर्शनेन तद्रूपत्वम् इति अर्थः.

कर्ता ज्ञः सकलस्य यो निगमभूः सर्वस्वरूपोऽपि सन्
सर्वस्याऽपि विधारणो विजयते निर्दोषसर्वेष्टदः ॥
यो लीलाभिरनेकधा वितनुते रूपं निजं केवलः
सोऽयं वाचि ममाऽस्तु पूर्णगुणभूः कृष्णावतारः पतिः ॥(२)॥

प्रकाशः

एवं रूपावतरणप्रयोजनम् उक्त्वा नामावतरणप्रयोजनम् आहुः **भक्तीत्यादि**. प्रथमः **च**ः अवधारणे, द्वितीयो अप्यर्थे. तथाच यथा **मुदा** स्वार्थं **स्वतन्त्रभक्तिं** प्रकटितवान् तथा **शास्त्रात्मकं रूपम्** अपि **मुदैव** प्रकटितवान् इति अर्थः. एतेन श्रीभागवतप्रकटने भगवदानन्दएव सङ्गतिः इति उक्तम्. एतत्कथनप्रयोजनम् आहुः **स नो भूतिहेतुः** इति. व्याख्यानरूप-सम्पद्धेतुः सः अस्माकम् अस्तु इति अर्थः (१).

आनुकूल्यमात्रेण व्याख्यानसम्पत्सम्भवेऽपि तत्र[१] भगवदनधिष्ठाने तस्य लौकिकतुल्यतासम्भवात् तन्निवारणाय तत्र पतित्वेन भगवत्स्थितिं प्रार्थयन्तः पूर्वमपि वाचि स्थितिं बोधयितुं श्रुति-सूत्रादिप्रतिपाद्यं तत्स्वरूपम् आहुः **कर्ता ज्ञः** इत्यादि. **यः** ईदृशो **विजयते यः** एवं **वितनुते स मम वाचि पतिः अस्तु** इति सम्बन्धः. **कर्ता ज्ञः सकलस्य** इत्यनेन "यतो

लेखः

आसीत्. एवकारेण ज्ञानादि-विहितसाधनव्यवच्छेदः. **भक्तिवद्** इति, यथा भक्तिः ज्ञानादिकम् अनपेक्ष्यैव फलदाने समर्था तथा रूपम् इति अर्थः. एवं मूलकार्यस्य व्यूहकार्यस्य च अत्रैव समन्वयप्रदर्शनेन शुद्धपुरुषोत्तमत्वं प्रदर्शितम्. इदानीम् अनवतारदशायामपि जीवोद्धारानुकूलं तत्प्रयत्न-प्रदर्शनमुखेन परमकृपालुताम् आहुः **शास्त्रम्** इत्यादि. शास्त्रात्मकं रूपम् इति अर्थः. तच्च श्रीमद्भागवतरूपमेव इति प्रकरणात् लभ्यते. **भूतिहेतुः** इति, **भूतिः** ऐश्वर्यम् (१).

कर्ता इति. **सकलस्य कर्ता** कृद्योगे कर्मणि षष्ठी. **सकलस्य ज्ञः** सकलं जानाति इति अर्थः. ननु "वेदो नारायणः साक्षाद्" (भाग.पुरा.

---

१. व्याख्यानरूप-स्ववचने.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

अभीष्टान्तरं प्रार्थयन्ते **कर्ता** इति. जानाति इति **ज्ञः**. **सकलस्य** नामात्मकस्य रूपात्मकस्य च उभयविधस्यापि प्रपञ्चस्य **कर्ता ज्ञः** च इति अर्थः. **निगमभूः** निगमस्य = श्रीमद्भागवतस्य भूः = अधिकरणं प्रादुर्भावस्थानम् इति यावत्. **सर्वस्वरूपो** सकलात्मा **अपि सन्** (**सर्वस्यापि विधारणो!**) सकलाधिकरणत्वेनापि वरीवर्ति इति अर्थः. (**निर्दोषं!**) अनित्यत्वादिदोषरहितं मोक्षलक्षणं **सर्वेषाम् इष्टं** यत् तद्दाता इति अर्थः. **यो निजं रूपं लीलाभिः** प्रादुर्भावकारणीभूताभिः (**वितनुते!**) विस्तारयति **अनेकधा** मत्स्याद्यवतारेण इति अर्थः. सहायान्तरानपेक्षएव सर्वं करोति

प्रकाशः

वा इमानि'' (तैत्ति.उप. ३।१) इति ''जन्माद्यस्य यतः'' (ब्रह्मसूत्र १।१।२) इति श्रुति-सूत्रोक्तरूपत्वम् उक्तम्. **निगमभूः** इत्यनेन शास्त्रयोनित्व-सूत्रोक्तरूपत्वम् (ब्रह्मसूत्र १।१।३) उक्तम्. **सर्वस्वरूपोऽपि सन् सर्वस्यापि विधारणः** इत्यनेन उपादानत्वम् आत्मत्वं सेतुत्वञ्च उक्तम्. तेन वाच्यपि स्थितिः साधिता, अन्तर्यामिब्राह्मणे ''यो वाचि तिष्ठन्'' (शतपथब्रा. १४।६।७।२२) इति श्रावणात्. प्रार्थितपूरकत्वाय आहुः **निर्दोषसर्वेष्टदः** इति. निर्दोषाणां सर्वेष्टदाता इति अर्थः. तेन प्रार्थिताप्राप्तौ जीवधर्मएव हेतुः नतु भगवद्धर्मः इत्यपि बोधितम्. इष्टदाने प्रकारम् आहुः

लेखः

६।१।४०) इत्यनेन वेदरूपतैव उक्ता इति तदाधारत्वोक्तिः कथं? तत्र आहुः **निगमभूः** वेदाधारभूतः इति अर्थः. **यो सर्वस्वरूपोऽपि सन् सर्वस्यापि विधारणः** इति, सर्वात्मकः सर्वाधारश्च इति अर्थः. **सर्वस्वरूपोऽपि** इति **अपि**शब्दः विरोधाभासं ज्ञापयति; तदात्मकस्य तदधिकरणत्वानुपपत्तेः विरोधः. ''पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी'' (श्वेताश्व.उप. ६।८) इत्यादिश्रुतेः लोकएव विरोधः नतु अचिन्त्यानन्तशक्तिमति ईश्वरइति तस्य आभासत्वम् इति. **निर्दोष** इति, निर्दोषश्चासौ सर्वेष्टदश्च इति. निष्क्रान्तं दोषेभ्यः इति निर्दोषं, तथाभूतं सर्वेष्टं ददाति इति वा अर्थः. इष्टदानं च स्वरूपेणैव नतु केनचिद्द्वारेण इति आशयेन आहुः **यो**

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इति आह **केवलः** इति. एवं कर्तृत्वादिकथनेन पूर्णब्रह्मत्वपरिचायक-माहात्म्यप्रतिपादनपुरःसरं स्वाभीष्टम् आहुः **सोऽयम्** इति. "यतो वाचो निवर्तन्ते" (तैत्ति.उप. २।४) इति श्रुतेः यावद्वागगोचरोऽपि मद्वाग्गोचरः अस्तु इति आशयः. ननु किमर्थं गोचरो भविष्यति इत्यतः आहुः **पूर्ण** इति. पूर्णत्वात् प्रयोजनं विनैव कृपया सर्वसम्पादकत्वेन (**गुणभूः!**) महौदार्यलक्षण-गुणाधिकरणत्वात् स्वप्रार्थितमपि दास्यति इति आशयः. ननु सर्वेऽपि अवताराः भगवानेव, तत्र वाग्गोचरत्वाय कः प्रार्थ्यते इत्याहुः **कृष्ण** इति. ननु अवतारेषु केचन अंशाः केचन कला इति आशङ्कायाम् आहुः **पतिः** इति. सर्वेऽपि एतस्यैव अवताराः इति भावः (२).

एवं स्वाभीष्टं प्रार्थयित्वा शिष्टाचारपरम्पराप्राप्तं पितृनमस्कारं स्वीयशिक्षायै निबध्नन्ति **श्रीमद्** इति. **गोपीपतिवन्दिने** इति नमस्कारमात्रत्वोक्त्या

प्रकाशः

यो लीलाभिः इत्यादि. तापनीयानुसारेण मूलरूपतुल्यत्वं बोधयितुम् आहुः **पूर्णगुणभूः** इति. एवं मूलरूपम् अवताररूपञ्च श्रीभागवतप्रतिपाद्यं निरूपितम् (२).

अतः परं शिष्टाचारप्राप्तं पितृनमस्कारं कुर्वन्ति **श्रीमदित्यादि**. अत्र

लेखः

लीलाभिः इति. तथाच स्वयं लीलार्थम् अनेकधा रूपं वितन्वन् तत्तद्रूपेण यथेष्टं फलं ददाति इति अर्थः. **केवलः** इति, सङ्गादिदोषरहितः इति अर्थः. तथाच श्रुतिः "असङ्गो ह्ययं पुरुष" (बृहदा.उप. ४।३।१५-१६) इति. **सोऽयम्** इति, वर्णितगुणगणः इति अर्थः. **अयम्** इति यः सर्वदा अस्माकं प्रत्यक्षविषयः स उच्यते. **पूर्णगुणभूः** सकलगुणास्पदम् इति अर्थः. अंशादिव्यावृत्त्यर्थम् आहुः **कृष्णावतारः** इति. ननु तस्यैव तत्र स्थितिप्रार्थनायां किं बीजम् इत्यत आहुः **पतिः** इति. स हि वाण्याः पतिः इति तस्यैव तद्विषये प्रार्थनं युक्तमेव इति भावः. यद्वा **पतिः** इति अस्माकं सर्वेषां च पतिः इति अर्थः. तथाच "स वै पतिः स्यादकुतोभयः स्वयम्" (भाग.पुरा. ५।१८।२०) इति वाक्योक्ताऽकुतोभयत्वादि-सर्वधर्माणाम् अत्रैव सूचितत्वात् प्रार्थनीयत्वमपि तस्यैव उचितम् इति भावः (२).

श्रीमद्वल्लभविद्वदीशविलसद् वंशाब्धिपूर्णेन्दवे
श्रीगोपीपतिवन्दिने सुमनसि ब्रह्मामृतस्यन्दिने ॥
श्रीमल्लक्ष्मणभट्टसूरिरिति यन्नामाऽखिलाऽभीष्टदं
तस्मै तातमहाशयाय हरये कुर्मो नमः सिद्धये ॥(३)॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

पुष्टिमार्गीयभक्तत्वाभावः सूचितः. तर्हि द्वेष्टृत्वम् इत्याशङ्कायाम् आहुः **सुमनसे** इति. मनसि भक्तिद्वेषलक्षण-दोषाभावात् सुष्ठुत्वम्. तथाच उदासीनाय इति अर्थः. तर्हि किंमार्गनिष्ठ इत्यतः आहुः **ब्रह्म** इति. ज्ञानमार्गनिष्ठाय इति अर्थः. **अखिल** इति. साधारण्येन सर्वेषाम् अभीष्टं ददाति नतु विशिष्य भक्ताभीष्टम् इति भावः. तर्हि “अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च” (वि.धै.आ. १४) इति वचनात् कथं नमस्यते इत्यतः आहुः

प्रकाशः

श्रीगोपीपतिवन्दिन इत्यनेन परम्परया विष्णुस्वामिमतानुवर्ति-गोपालोपासकत्वं सूचितम्. **सुमनसी**त्यादिना ज्ञानोपदेशकथनाद् अहंग्रहोपासकत्वम्. नाम-माहात्म्यकथनेन अहंग्रहोपासनाजनित-सामर्थ्यवत्त्वम्. पूर्णोपासकत्वबोधनाय **हरये** इति (३).

लेखः

अतः परं शिष्टाचारपरम्परा-परिप्राप्तं श्रीमत्पितृचरण-नमस्कारम् आचरन्तः स्वकीयशिक्षार्थम् उपनिबध्नन्ति **श्रीमद्** इत्यादि. **यत्** यस्य **लक्ष्मणभट्टसूरिः इति नाम अखिलाभीष्टदम् आसीत् तस्मै तातमहाशयाय नमः कुर्म** इति पदसम्बन्धः. **श्रीमद्वल्लभ** इति श्रीलक्ष्मणभट्टपादानां जनकस्य अभिधा. **श्रीमद्वल्लभस्य विद्वदीशेषु विलसन्** यो **वंशाब्धिः** तस्य **पूर्णेन्दवे** आह्लादकाय इति अर्थः. यद्वा विशेषण-विशेष्ययोः कामचारात् **श्रीमद्वल्लभश्चासौ विद्वदीशश्च** इत्यपि साधुः. तथा **श्रीः** लक्ष्मीः तद्युतो **गोपीपतिः** तद्**वन्दिने.** एतेन लक्ष्मीनारायणोपासकत्वसूचनेन शुद्धभागवत-सम्प्रदायवर्तित्वं ज्ञापितम्. **सुमनसि** इति, गुरुशुश्रूषणादि-शिष्यलक्षणवति पुरुषे इति अर्थः. ब्रह्मैव अमृतं **ब्रह्मामृतं,** तत्**स्यन्दिने.** “स्यन्दु प्रस्रवणे” (पाणि.धा.पा. भ्वा.अ.से. ७६२) इति धातुः. तथाच यथाधिकारं

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

हरये इति. भगवद्विभूतिरूपाय इति अर्थः. तथाच सर्वरूपे भगवद्रूपत्वभावनेन नमस्यते इति आशयः. ननु "प्रक्षालनाद्धि" इति न्यायाद् एवमपि करणे किं प्रयोजनम् अतः आहुः **सिद्धये** इति. यदि आचार्यचरणाः स्वतातं न नमेयुः तदा "यद्यदाचरति श्रेष्ठः तत्तदेवेतरो जनः" (भग.गीता ३।२१) इति भगवद्वचनात् तदीयाअपि स्वस्वपितॄन् अन्यांश्च गुरून् न नमेयुः इति सदाचाररक्षासिद्ध्यै. तथाच पित्रादयो यदि श्रीमदाचार्यचरणप्रणीतमार्गस्थाः तदा तु नमस्याएव, यदितु मार्गान्तरनिष्ठाः तदापि तद्रीढा न विधेया इति स्वीयशिक्षार्थं तथा इति भावः. इत्थं च "तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहम्" (भाग.पुरा. १०।२५।१८) इति भगवत्कथनरीत्या अङ्गीकृतानां भगवद्भिन्नः कोऽपि स्वाभीष्टदत्वेन न बुद्धिम् आरोढुम् अर्हति, किं पुनः आचार्यचरणानाम् इति अहर्निशम् अनुसन्धेयम् (३).

एवं प्रणतिं प्रार्थनां च विधाय स्वव्याख्येयग्रन्थस्वरूपम् आहुः

प्रकाशः

एवं कृतं मङ्गलं शिष्यशिक्षार्थम् उपनिबध्य मुख्य-मध्यम-जघन्याधिकारिणां यथार्हफलदातृत्वस्य आरम्भे स्फुटम् अनुक्तत्वात् सर्वेषां श्रवणे प्रवृत्तिः कुण्ठिता भवेदिति तन्निवृत्त्यर्थं तत्तत्फलानुकूलं श्रीभागवतस्वरूपम् इति निरूपयन्ति **श्रीमद्भागवतेति. लोके** इति दैवसृष्टौ. ननु एकस्यैव

लेखः

मन्त्रोपदेशादिद्वारा शब्दब्रह्म-परब्रह्मस्वरूपं च प्रयच्छत इति अर्थः. अनेन पारम्पर्यागतम् उपदेष्टृत्वमपि सूचितम्. अतएव **तस्मै** प्रसिद्धाय इति अर्थः. **तातमहाशयाय** इति, तातमहाशयम् अनुकूलयितुम् इति अर्थः. "क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः" (पाणि.सूत्र २।३।१४) इति सूत्रेण चतुर्थी. नमोयोगे तु सा अत्र न शङ्क्या; तथा सति "उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिः बलीयसी" इति नियमाद् द्वितीयैव स्यात् 'नमस्करोति देवान्' इतिवद् इति. **हरये** इति. भगवदभेदज्ञानार्थम् इदं, "यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ" (श्वेताश्व.उप. ६।२३) इति श्रुतेः. **सिद्धये** इति, विवरणानुकूल-सम्पत्सिद्धये इति अर्थः (३).

श्रीमद्भागवतागमः सुरतरुर्लोके फलत्वं गतो
भाषाभेदविभेदतस्त्रयमपि स्यान्नो विरुद्धं महत् ॥
भक्त्यंशे फलता प्रमाणसुबले वेदत्वमर्थे पुनः
स्कन्धैर्द्वादशभिर्युतः सुरतरुः शाखाद्विवह्निद्वयम् ॥(४)॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

श्रीमद्भागवत इति. **लोके** इति, दैव्यां सृष्टौ इति अर्थः. ननु एकस्य त्रितयात्मकत्वं कथं संगच्छते इत्याशङ्क्य आपाततः समाधत्ते **भाषा** इति. **भाषाणां** लौकिक-मतान्तर-समाधिभाषाणां **भेदाद्** यो **विशिष्टो भेदः** तस्मात्. तथाच एकभाषायाम् आगमत्वम् अन्यस्यां सुरतरुत्वम् अपरस्यां फलत्वम् इति त्रितयात्मकत्वम् **अपि स्यात्** सङ्गतं भवेद् इति अर्थः. एवञ्च मतत्रयेण त्रितयात्मकत्वप्रतिपादनात् तत्तन्मते तत्तद्रूपत्वम् इति विशिष्टभेदात् सामञ्जस्यं प्रतिपादनीयम् इति चेद्, इति भावं दूषयन्ति **नो** इति. कुतः इत्यतः आहुः **विरुद्धम्** इति. समाधिभाषायां त्रितयात्मकत्वस्य अभ्युपगमाद् भाषाभेदेन त्रितयात्मकत्वप्रतिपादनम् अत्यन्तविरुद्धम् इति आशयः. तर्हि

प्रकाशः

आगमत्वं सुरतरुत्वं फलत्वञ्च इति त्रिरूपत्वं कथम् इति आशङ्कायां समादधते **भाषेत्यादि**. "भाषास्तु त्रिविधाः प्रोक्ता" (. । ।) इति वाक्याद् **भाषाणां** लौकिकी-मतान्तर-समाधिभाषाणां यो **भेदो** नानात्वं तेन यो **विभेदः** तारतम्यं तस्माद् हेतोः **त्रयं** पूर्वोक्तं [१]रूपत्रयं **विरुद्धं नो स्यात्**, यतः इदं पुराणं **महत्** "मह पूजायाम्" (पाणि.धा.पा. भ्वा.प.से. ७३१), पूजितम् अतो हेतोः इति अर्थः.

लेखः

इदानीं श्रीमद्भागवतस्वरूपं तदध्यायसङ्ख्यां च असन्दिग्धत्वाय निरूपयन्ति **श्रीमद्भागवतागमः** इति. श्रीमद्भागवते हि आगमत्वं सुरतरुत्वं फलत्वञ्च अस्ति. तत्र प्रकारापेक्षायां स्वसिद्धान्तं वक्तुं पूर्वपक्षिमतम् अनूद्य तावद् दूषयन्ति **भाषाभेद** इत्यादि. तत्र **स्याद्** इत्यन्तेन पूर्वपक्षिमतानुवादः.

---

१. कि.पाठानुरोधेन. पूर्वोक्तरूपत्रयम् इति मुद्रितपाठः - सम्पा.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

कथं सङ्गच्छते इत्यतः आहुः **भक्त्यंशे** इति. भक्तिजननांशे इति अर्थः. तथाच फलजननात् फलमेव इति भावः. तर्हि आगमत्वं किमंशे इत्यतः आहुः **प्रमाण** इति. पदद्वयमपि भावप्राधान्येनैव निर्दिष्टम्. तथाच प्रामाण्ये यत् **सुबलं** सुष्ठु बलं, प्राबल्यम् इति यावत्. एवञ्च प्रामाण्यप्राबल्ये **वेदत्वं** वेदसमानबलवत्त्वम् इति प्रमाणान्तरविरोधे भागवतमेव बलीयः. वेदविरोधे तु विकल्पेन मार्गभेदेन वा व्यवस्था इति आशयः. तरुत्वम् आहुः **अर्थे** इति. मोक्षलक्षण-पुरुषार्थसम्पादने सुरतरुत्वम् इति अर्थः. तथाच

प्रकाशः

नतु एवं सति अंशेन तथात्वं[१] नतु सर्वस्य, ततः च त्रिरूपत्वं भज्येतैव– यथा हि नख-केश-नेत्रादिषु रूपान्तरसत्त्वेऽपि पुरुषो गौरएव व्यपदिश्यते नतु नानारूपः इति, तद्वद्– इति शङ्कायां प्रतियोगिभेदेन पुरुषस्य पितृ-पुत्रादिरूपत्ववत् तत्तदधिकारिभेदे फलभेदात् तथात्वं समर्थयन्ति **भक्त्यंशे** इत्यादि. "यस्यां वै श्रूयमाणायाम्" (भाग.पुरा. १।७।७) इति वाक्ये भक्त्युत्पादकत्वकथनात् तस्यां जातायां स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वेन श्रवणादिना आस्वाद्यमाने **भक्त्यंशे** तं प्रति सम्पूर्णस्यैव **फलता** फलरूपत्वम्. "इदं

लेखः

भाषाणां लौकिक-मतान्तर-समाधिभाषाणां यो **भेदः** तत्प्रयुक्तभेदात् **त्रयमपि** आगमत्वं सुरतरुत्वं फलत्वञ्च इति त्रयमपि यथायोग्यं **स्याद्** इति चेत्, **नो**. अत्र हेतुः **विरुद्धं महद्** इति. पूर्वोक्तरीत्या आगमत्वादित्रयं महद्विरुद्धम् इति अर्थः. यदि भाषाभेदप्रयुक्तमेव आगमत्वादिकं तदा तद्भाषायामेव तत्तद्रूपताप्रसक्त्या अंशतएव तत्त्वं सिद्ध्येद् नतु समग्रस्यापि श्रीभागवतस्य इति भावः. सिद्धान्तम् आहुः **भक्त्यंशे** इत्यादि. "यस्यां वै श्रूयमाणायाम्" (भाग.पुरा. १।७।७) इति वाक्याद् भक्तिजनिका हि इयं भाषा ; तद्विषयेषु **भक्त्यंशे** उद्गते सति समग्रस्य श्रीभागवतस्य **फलता** अतः श्रीशुकादीनां तथैव कीर्तनम्. **प्रमाणस्य सुष्ठु** यद् **बलम्** अनधिगतार्थगन्तृत्वम् अन्यानधीनत्वं

१. त्रिरूपत्वम्.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

मोक्षविषयकाभिलाषोदये झटितिमोक्षदानात् मोक्षजननांशे सुरतरुता इति भावः. एवञ्च तरूणां स्वस्वसमयएव फलजनननियमेन भगवदिच्छारूप-समयसद्भावे एव भक्तिजननसामर्थ्यं, न अन्यथा, इति भक्त्यंशे फलत्वोक्तिः. अन्यथा भक्तौ मोक्षे च जनकत्वाविशेषाद् एकत्र फलत्वम् अन्यत्र तरुत्वञ्च न वदेयुः इति अनुसन्धेयम्. एवं त्रितयात्मत्वं प्रतिपाद्य श्लेषेण अलौकिकतरुधर्मवत्त्वमपि **स्कन्ध-शाखा**पदाभ्यां प्रतिपादयन्ति **स्कन्धैः** इति. यद्यपि "काव्यवद्" (सुबो. १।१।३) इति वक्ष्यमाणग्रन्थाद् एतादृगर्थप्रतिपादने दूषणम् आयाति तथापि **स्कन्ध-शाखा**पदाभ्याम् अभिधया प्रथमादि-द्वादशान्त-प्रकृतस्कन्धानां प्रकृताध्यायानामेव प्रतिपादनं, लौकिकतरुधर्मवत्त्वन्तु "अधिकं प्रविष्टम्" इति न्यायेन प्रतिपाद्यते. अतएव अप्यर्थकस्य **पुनः** इति अव्ययस्य निर्देशः. तथाच प्रविष्टम् इति प्रकृतार्थः स्पष्टएव; अयमपि व्यज्यते इति भावः. **शाखा** इति. यद्यपि 'शाखा'पदस्य न अध्यायवाचकत्वं तथापि

प्रकाशः

भगवता पूर्वम्" (भाग.पुरा. १२।१३।१०) इति वाक्ये भगवत्प्रकाशितत्वकथनात् "सर्ववेदेतिहासानाम्" (भाग.पुरा. १।३।४२) इति वाक्ये सारत्वकथनात् तदनुसन्दधानान् प्रति **प्रमाणसुबले** प्रमाणस्य शब्दस्य सुष्ठु यद् बलम् अनपेक्षत्वरूपम् तस्मिन् अंशे सम्पूर्णस्यैव **वेदत्वं** वेदरूपत्वम्. "विप्रोऽधीत्याप्नुयात् प्रज्ञाम्" (भाग.पुरा. १२।१२।६४) इत्यादिवाक्यार्थम् अनुसन्दधानान् प्रति **अर्थे** तत्तत्पुरुषार्थे **सुरतरुः**, तत्तत्कामपूरणात्. अतः त्रिरूपत्वं सम्पूर्णस्यैव उपपन्नम् इति अर्थः. एवञ्च "कैवल्यैकप्रयोजनम्" (भाग.पुरा. १२।१३।१२) इत्यत्र 'एक'शब्दो मुख्यवाची इति बोध्यम्. तथा 'कैवल्य'पदमपि लीला-मोक्षोभयपरं, "लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्" (ब्रह्मसूत्र २।१।३३) इति सूत्रे लीलायाअपि तथात्वेन उक्तेः. अतो न कोऽपि शङ्कालेशः.

लेखः

वा तद्विषयेतु समग्रस्यैव **वेदत्वं** वा. यथा वेदे अनधिगतार्थगन्तृत्वं तथा अत्रापि इति अर्थः. **अर्थे** पुरुषार्थे पुरुषार्थविषये **सुरतरुः** यथा कल्पवृक्षः

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

"शाखा इव शाखा" इति व्युत्पत्त्या शक्त्यपेक्षया गौण्या वृत्त्या लक्षणया अध्यायानां, ततो गौण्या व्यञ्जनया लौकिकतरुधर्माणाम् इति श्लेषनिर्वाहः. **द्वि** इति. द्वौ च वह्निद्वये च इति तथा. तथाच त्रिशतं द्वात्रिंशत् च अध्यायाः इति अर्थः. नच अध्याय-स्कन्धयोः सङ्ख्याकथनम् अप्रयोजनकम् इति वाच्यं, पुराणान्तरीय-प्रक्षिप्ताध्यायत्रयमेलनेन उपस्थित-पञ्चत्रिंशत्सङ्ख्याव्युदासाय अध्यायानां; सर्गादिदशलीलाप्रतिपादनाद् दशैव स्कन्धा भविष्यन्ति– स्कन्धद्वयन्तु प्रक्षिप्ताध्यायत्रयवद् भविष्यति– इति भ्रमव्युदासाय च स्कन्धानां, सङ्ख्याकथनात् (४).

ननु अन्यैः व्याख्यातत्वाद् भवतां कुत्र उपयोगः इति आशङ्कायाम्

प्रकाशः

प्रक्षिप्ताध्यायनिवृत्त्यर्थं शाखासङ्ख्याम् आहुः **शाखाद्विवह्निद्वयम्** ३३२, अङ्कानां वामतो गतिः. इयमेव सङ्ख्या श्रीधरीयेऽपि, "द्वात्रिंशत्त्रिशतं च यस्य विलसच्छाखा" (श्रीधरी १।१।०।७) इति कथनात्. यद्यपि काव्यवद् अलङ्कारा आचार्यैः न आदृताः तथापि केचन श्रुतौ सूत्रेऽपि आदृताः– यथा "असावादित्यो देवमधु" (छान्दो.उप. ३।१।१) इत्यत्र, "शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः" (वेदान्तदर्शन १।४।१) इत्यत्र– अतः तद्बोधनाय अत्र रूपकम् आदृतम् इति ज्ञेयम्. इदं च मूलेऽपि अभिप्रेतम्, अन्यथा भागेषु 'स्कन्ध'पदं व्यासचरणाः न प्रयुञ्ज्युः (४).

एवं तत्तत्फलानुकूलं श्रीभागवतस्वरूपं निरूप्य पूर्वं बहुभिः

लेखः

सकलपुरुषार्थदाता तथा इदमपि इति अर्थः. अतएव श्रीभागवतपठन-पाठन-सेवनादितः फलं स्मर्यते. **शाखाद्विवह्निद्वयम्** इति, क्रियाविशेषणम् एतत्. द्वौ च तौ वह्नी च द्विवह्नी, तौ च द्वयं च इति द्विवह्निद्वयम्. यद्वा वह्नेः द्वयं वह्निद्वयं, द्वौ च वह्निद्वयं च इति द्विवह्निद्वयम्. वह्नी इति त्रयाणां सञ्ज्ञा. एवञ्च अङ्कानां वामतो गतिरिति ३३२ त्रिशतं द्वात्रिंशत् च अध्यायाः इति अर्थः (४).

अतः परं प्रारिप्स्यमाणग्रन्थस्य अतिशयगौरवं प्रकटयितुं स्वानुभावम्

अर्थं तस्य विवेऽचितुं नहि विभुर्वैश्वानराद्वाक्पते-
रन्यस्तत्र विधाय मानुषतनुं मां व्यासवच्छ्रीपतिः ॥
दत्वाऽऽज्ञां च कृपावलोकनपटुर्यस्मादतोऽहं मुदा
गूढार्थं प्रकटीकरोमि बहुधा व्यासस्य विष्णोः प्रियम् ॥(५)॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

आहुः **अर्थं तस्य** इति. "शास्त्रे" (त.दी.नि. ३।१।२) इति श्लोकसङ्गृहीत-सप्तार्थैकवाक्यताप्रतिपादन-पुरस्सरम् अन्यैः न व्याख्यातम् इति अर्थः. भगवदास्यरूपत्वात् **वाक्पतित्वम्**. तथाच भागवतव्याख्यां कर्तुं भगवदास्यमेव समर्थम् इति भावः. **तत्र** इति. यतो **अन्यो न** समर्थो अतः **तत्र** व्याख्याधिकारे **मानुषतनुं मां व्यासवद् विधाय** व्याससदृशं कृत्वा, स्वाविष्टं कृत्वा इति यावत्. तथाच कृपालुः भगवान् **आज्ञां**

प्रकाशः

व्याख्याततत्वेऽपि स्वस्य तत्र प्रवृत्तौ सङ्गतिं वदन्तो व्याख्यानं प्रतिजानते **अर्थम्**[१] इत्यादि. **विवे** विगतं वं सुखं यस्माद् इति विवः तादृशे लोके सति **तस्य** श्रीभागवतस्य **अर्थं अचितुम्** "अर्च पूजने" (पाणि.धा.पा. भ्वा.प.से. २०४), "अच इत्येके" (शाकटायनऊणादिसूत्र ४४२, धा.पा. भ्वा.उ.से. ८८७) इति पाणिनिना पठितत्वात् पूजितुं = वक्ष्यमाणरीत्या

लेखः

आहुः **अर्थं तस्य** इति. **तस्य** श्रीमद्भागवतस्य **अर्थं विवेचितुं वाक्पतेः वैश्वानरात्** मत्तः **अन्यः न विभुः** न समर्थः. **तत्र** तथा सति, अन्यस्य तदर्थविवेचने सामर्थ्याभावे सति इति यावत्, **श्रीपतिः मां मानुषतनुं विधाय व्यासवद् आज्ञां च दत्वा कृपावलोकनपटुः यस्माद्** जातः **अतः अहं गूढार्थं प्रकटीकरोमि** इति योजना. **विवेचितुम्** इति. विवेचनं

---

१. अर्थम् इत्यादि. वस्तुतस्तु "यङ्लुगन्ताद् विचेः पर्याप्तवचनेषु अलमर्थेषु" इति सूत्रेण तुमुन्. न च "गुणो यङ्लुकोः" इति अभ्यासस्य गुणे सति 'वेवेचितुम्' इति रूपं शङ्क्यं, सञ्ज्ञापूर्वकविधेः अनित्यत्वात्. नापि "एकाच उपदेशेऽनुदात्ताद्" इति इण्निषेधः शङ्क्यः, "श्तिपा शपानुबन्धेन निर्दिष्टं यद् गणेन च, यत्रैकाज्ग्रहणं चैव पञ्चैतानि न यङ्लुकि" इति अनुशासनेन तन्निषेधाद् इति.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

च दत्वा स्वावेशेन अयोगोलक-वह्न्योरिव स्वस्य मम च अभेदं सम्पाद्य मल्लक्षणः **श्रीपतिः** अहं **(मां!)** प्रकटीकरोमि इति आशयः. अतएव आज्ञादान-व्यासवद्विधान-गूढार्थप्रकटीकरणानां समानकर्तृकत्वाद् आख्याता-न्तरप्रयोगाभावः. तथाच व्यासवत्करणाद् **अहं** पतिरेव **यस्माद्** अतो हेतो **गूढार्थं** दुरूहमपि तथा **करोमि** इति अन्वयः. स्वकृतग्रन्थतात्पर्यज्ञापनात् **प्रियत्वम्. तस्य** श्रीभागवतस्य **अर्थं विवेचितुं** सोपपत्तिकम् अविरोधेन प्रकटीकर्तुं **वाक्पतेः वैश्वानराद् अन्यो न विभुः** न समर्थः. यद्यपि केवल'वैश्वानरो'क्त्या अपि अर्थविवेचनस्य सम्भवेऽपि यद् 'वाक्पतेः' इति

प्रकाशः

सप्तार्थाविरोधेन प्रकटीकरणमेव पूजनं तत्कर्तुं **हि** यतो हेतोः **वैश्वानराद् अन्यो विभुः न.** विभुत्वे हेतुः **वाक्पतेः** इति. "उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचम्" (ऋक्संहि. १०।७१।४) इत्यत्र यथा जाया स्वतनुं पत्ये प्रकटयति एवं वागपि कस्मैचिदेव स्वार्थं प्रकटयति इति श्रावणात्.

लेखः

विवेचः, विपूर्वात् विचेः बाहुलकात् पचाद्यच्. ततः "आचारेऽर्थे सर्वप्रातिपदिका" (द्रष्ट. पाणि.वार्ति. ३५४३) इत्यनेन क्विप्. ततः भावे तुमुन्. तेन " 'विवेक्तुम्' एव भवति" इति वदन् कश्चित् परास्तः. तथाच "विवेचनाचरण-सदृशाचरणं कर्तुम् इति अर्थः" इति केचिद् आहुः. वस्तुतस्तु यङ्लुगन्ताद् विचेः "पर्याप्तिवचनेषु अलमर्थेषु" (पाणि.सूत्र ३।४।६६) इति सूत्रेण तुमुन्. नच "गुणो यङ्लुकोः" (पाणि.सूत्र ७।४।८२) इति अभ्यासस्य गुणे सति **विवेचितुम्** इतिरूपं शङ्क्यं, सञ्ज्ञापूर्वकविधेः अनित्यत्वात्. नापि "एकाजुपदेशे अनुदात्ताद्" (पाणि.सूत्र ७।२।१०) इति इण्निषेधः शङ्क्यः, "इकः श्तिपाशपानुबन्धेन निर्दिष्टं यद्गणेन च, यत्रैकाजूग्रहणं चैव पञ्चैतानि न यङ्लुकि" (द्रष्ट. पाणि.वार्ति. ५०९६) इति अनुशासनेन तन्निषेधाद् इति. **गूढार्थम्** इति, व्यासाशयगोचरम् इति अर्थः. **व्यासस्य प्रियम्** इति, यथाशयं वर्णितत्वात् तथा इति अर्थः (५).

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

उक्तं तद् देवतारूपाध्यात्मिकाग्नि-व्यावृत्तिपूर्वकं साक्षात्पुरुषोत्तम-मुखारविन्द-रूपाधिदैविकानन्दालौकिक-वह्नित्वज्ञापनाय वाक्पतित्वनिरूपणम्. तत्र श्रीभागवतार्थकथने साक्षात्स्वरूपप्राकट्य-व्यतिरेकेण कथनं न सम्भवति इति **श्रीपतिः** भक्तसहितः पुरुषोत्तमः **मां** स्वास्यरूपं, **मानुषस्य** तनुरिव **तनुः** यस्य. एतेन तनोः मनुष्याकारत्वमेव निरूपितं नतु मनुष्यत्वमपि इति ज्ञापनाय उक्तं **मानुषतनुम्** इति. **विधाय** कृत्वा श्रीभागवतार्थकथने स्वतएव **आज्ञां च दत्वा.** स्वतएव दाने हेतुः **कृपावलोकनपटुः** इति. स्वीयेषु भक्तिमार्गाङ्गीकृतेषु यः **कृपावलोकनं** तत्र **पटुः** समर्थः. **यस्मात् कृपावलोकनपूर्वकम् आज्ञां** दत्तवान् **अतो अहं मुदा** कृपावलोकन-पूर्वकाज्ञादानजनित-सन्तोषेण श्रीभागवतस्य **गूढं** भगवत्कृपावलोकनरहितैः अज्ञातम् **अर्थं प्रकटीकरोमि.** अत्र गूढार्थं 'कथयामि' इति अनुक्त्वा यत् 'प्रकटीकरोमि' इति उक्तं तेन विद्यमानस्यैव अर्थस्य कथनं नतु स्वबुद्ध्या कल्पितस्यापि इति ज्ञापनाय उक्तं **गूढार्थं प्रकटीकरोमि** इति. **बहुधा** सर्वप्रकारैः. **व्यासस्य** कृष्णद्वैपायनस्य समाधौ श्रीभागवतार्थद्रष्टुः स्वसमाधिद्रष्ट-श्रीभागवतार्थत्वात् **प्रियत्वम्.** पुरुषोत्तमाज्ञया तदभिप्रेत-गूढार्थप्रकटनाद् **विष्णोः** श्रीपुरुषोत्तमस्यापि **प्रियम्** (५).

(॥ इति प्रथमाध्यायविवरणम् ॥ !)

प्रकाशः

तत्र दृष्टान्तानुरोधेन दार्ष्टान्तिकेऽपि स्वपतावेव प्रकटयति इति ज्ञायते. पतित्वं वह्नावेव, "तस्याग्निरास्यं निर्भिन्नं लोकपालोऽविशत्पदं, वाचा स्वांशेन[१]" (भाग.पुरा. ३।६।१२) इति वाक्ये वाचो अग्न्यंशत्वस्य स्मरणात्. **तत्र** तादृशे अर्थार्चनहेतौ[२] विभुत्वे सति **श्रीपतिः** भगवान् **व्यासवत्** स्वांशं **मां मानुषतनुं विधाय आज्ञां च** अर्थात् तत्कर्तुं **दत्वा यस्मात् कृपावलोकनपटुः** जातः **अतः** उक्तहेतोः **व्यासस्य विष्णोः प्रियं गूढार्थं**

१. येन असौ वक्तव्यं प्रतिपद्यत इति.

२. अर्थो भागवतार्थः, तस्य अर्चनं पूजनं, तत्र हेतुः सप्तार्थप्रकटनं, तत्र विभुत्वे सति इति अर्थः.

लक्षणां नैव वक्ष्यामि न न्यूनादन्यपूरणम् ॥
आर्थिकं तु प्रवक्ष्यामि परोक्षकथनादृते ॥(६)॥

प्रकाशः

मुदा बहुधा प्रकटीकरोमि. अत्र गूढार्थप्रकटीकरणे आज्ञाजनिता मुद् हेतुः, बहुधा प्रकटने उभयप्रियत्वं हेतुः, अतः तथा इति अर्थः (५).

प्रकटने प्रकारम् आहुः **लक्षणां नैव** इति (६).

लेखः

अथ बोधसौकर्यार्थं, प्राचीनार्वाचीन-विवरणेभ्यः सकाशाद् अस्य व्याख्यानस्य वैशिष्ट्यं च बोधयितुं, ग्रन्थप्रणयन-पद्धतिं बोधयन्ति **लक्षणाम्** इत्यादि. अन्वयानुपपत्त्या या निरूढलक्षणा तां **न वक्ष्यामि.** तात्पर्यानुपपत्त्या प्रयोजनवती या लक्षणा सा तु तात्पर्यानुरोधात् क्वचित् स्वीक्रियते इति तत्त्वम्. अत एव अन्यैः व्याख्यातृभिः "निगमकल्पतरोः" (श्लो. ३) इत्यत्र 'निगम'-'कल्पतरु'शब्दयोः भिन्नार्थकत्वेन अभेदान्वयानुपपत्त्या 'कल्पतरु'शब्दस्य तत्सदृशोपलक्षकत्वम् अङ्गीकृत्य सामानाधिकरण्ये व्यवस्थापितेऽपि न तथा आचार्यचरणैः स्वीकृतं किन्तु शक्यार्थम् आदायैव सामानाधिकरण्यम् उपपादितम्. एतत् च अनुपदं स्पष्टीभविष्यति. एवं अन्यत्रापि ऊह्यम्. **न न्यूनाद्** इति. मूलग्रन्थे **न्यूनं** मत्वा **अन्येन** पदान्तरेण वाक्यान्तरेण वा **पूरणं न** करिष्यामि. तथाच न्यूनांशाभावादेव पूरणं न उचितमेव इति भावः. अत एव "तं धीमहि" (श्रीधरी श्लो. १) इति श्रीधरस्वामिवत् 'तच्'छब्दः न अध्याहृतः. यद्वा **न्यूनं** विहाय **अन्येन पूरणं न** करिष्यामि. सर्वथा न्यूनांशएव पूरणं करिष्यामि नतु आपाततः इति अर्थः. तथाच व्यासाशयगोचरएव यत्र न्यूनांशः तत्रैव पूरयिष्यामि इति भावः. यथा भ्रमरगीते "भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मना क्वचिद्" (भाग.पुरा. १०।४७।२९) इति मूले अर्धश्लोकएव पठ्यते. तत्र उत्तरार्धः पूरितः "आत्मत्वाद् भक्तवश्यत्वात् सत्यवाक्त्वात् स्वभावतः" (सुबो.) इति. एवं अन्यत्रापि. **आर्थिकम्** इति. अर्थात् प्राप्तं आर्थिकम्. यथा "इत्युक्त्वासीद् हरिस्तूष्णीम्" (भाग.पुरा. १०।३।४६) इत्यत्र "मां गोकुले नय, तत्र स्थापयित्वा तत्रत्यां कन्याम् अत्र आनय" (सुबो.)

अविरोधेन सप्तानामर्थानामिह सङ्गतिः ॥
उत्तरोत्तरदौर्बल्यं वाच्यं सङ्कोचतः परम् ॥(७)॥

प्रकाशः

सप्तानाम् इति शास्त्र-स्कन्ध-प्रकरणाध्याय-वाक्य-पदाक्षरीयाणाम्. **इह** इति अस्मिन् व्याख्याने. **सङ्कोचत** इति व्यवहारप्रयोजनकात्[१] शक्तिसङ्कोचात् (७).

लेखः

इत्याद्यभिहितं विवरणे. अयं हि मूलग्रन्थाद् बहिरेव शेषग्रन्थः अस्ति इति न भ्रमितव्यं, मूलवासनयैव अस्य अर्थस्य लाभाद् इति. एवम् अन्यत्रापि स्वयम् ऊह्यम्. **परोक्षकथनाद्** इति. परोक्षकथनाद् अन्यत्र लक्षणां न वक्ष्यामि इति अर्थः, "परोक्षं मम च प्रियम्" (भाग.पुरा. ११।२१।३५) इति भगवद्वाक्यात्. यथा "महार्हवैडूर्य" (भाग.पुरा. १०।३।१०) इत्यत्र "भगवन्मुखनिरीक्षकाः शास्त्राभिज्ञाः जीवाः भगवन्मुखामोद-पानरताः षट्पदा इव भक्तौ परितः चकासते" (सुबो.) इत्यादौ 'जीवा'दिपदेन कुन्तलाद्युपलक्षणं परोक्षवादाभिप्रायेणैव. एवमेव "शक्तीनां निर्भयत्वाय एते देवाः साक्षिणः" (सुबो. १०।१८।१) इत्यादावपि 'शक्त्या'दिपदेन लीलास्थ-भक्तोपलक्षणमपि तथैव इति ज्ञेयम् (६).

अविरोधेन इति, परस्पराविरोधेन **सप्तानां** शास्त्र-स्कन्ध-प्रकरणाध्याय-वाक्य-पदाक्षरीयाणाम् **अर्थानाम् इह** व्याख्याने **सङ्गतिः** च वाच्या इति अर्थः. (सा तु!) एकार्थप्रतिपादकत्वएव उपपद्यते. **उत्तरोत्तरम्** इति. अयमर्थः ... (७).

"भाषाभेदविभेदतः" (का. ४) इत्युक्त्या श्रीमद्भागवते भाषात्रयमपि अस्तीति ज्ञापितम्. तत्र तत्तद्भाषास्वरूपं तत्तल्लक्षणेनैव ज्ञातव्यम् इत्याह **भाषात्रयविभेदश्च** इति. समाधौ उपलभ्य यावान् अर्थः निरूपितः सा समाधिभाषा. तद्विरुद्धार्थो यत्र सा मतान्तरभाषा. यत्र वा शुकः "अन्योक्तं

---

१. व्यवहारः प्रयोजनं यस्य एतादृशात् शक्तिसङ्कोचात्. यथा 'शास्त्रार्थ'पदशक्तिः समग्रा भागवतार्थे अस्ति एवं 'स्कन्धार्थ'पदशक्तिः न, किन्तु स्कन्धार्थे एव; एवम् उत्तरत्रापि शक्तिसङ्कोचो अवधेयः.

[१]भाषात्रयविरोधश्च कल्पभेदात् समाहितः ॥
भाषात्रयविभेदश्च लक्षणैर्ज्ञाप्यते पुनः ॥(८)॥
अर्थत्रयं तु वक्ष्यामि निबन्धेऽस्ति चतुष्टयम् ॥
अत्र सन्तः स्वसन्तोषैराज्ञां यच्छन्तु सिद्धये ॥(९)॥

प्रकाशः

अर्थत्रयन्तु वक्ष्यामि इति, सोपपत्तिकम् अत्र वक्ष्यामि. **निबन्धेऽस्ति चतुष्टयम्** इति. शास्त्र-स्कन्ध-प्रकरणाध्यायानां ये अर्थाः तच्चतुष्टयं निबन्धे सोपपत्तिकम् अस्ति इत्यतो अत्र त्रयं वक्ष्यामि इति अर्थः. शेषं स्फुटम् (९).

लेखः

कथयामि'' इत्याह सापि मतान्तरभाषा, यथा ''श्रुतं द्वैपायनमुखात् नारदाद्देवलादपि'' (भाग.पुरा. ६।१४।९) इति, ''एवं वदन्ति राजर्ष'' (भाग.पुरा. १०।७४।३०) इत्यादि. लोकसिद्धा लौकिकी. तथाच यत्र लोकरीत्या वदति ''स्तनैः स्तनान् कुङ्कुमपङ्करूषितान्'' (भाग.पुरा. १०।७९।१६) इत्यादि तत्र लौकिकी भाषा इति भावः. ननु अस्तु लक्षणैः तदादानं परन्तु भाषायां परस्परप्रमेयभेदस्य दर्शनात् तद्विरोधः कथं परिह्रियताम्? अतः आहुः **भाषात्रयविरोधश्च** इत्यादि (८).

सप्तानाम् अर्थानाम् अत्र सङ्गतिः वक्तव्या (का. ७) इत्युक्त्या सप्तार्थाविरोधेन श्रीभागवतं निरूपणीयम् इति बोधितम्. तत्र व्यवस्थाम् आहुः **अर्थत्रयं तु** इति. वाक्य-पदाक्षरीयम् अर्थत्रयम् इति अर्थः. **वक्ष्यामि** विवरणएव वक्ष्यामि इति अर्थः. तदवशिष्टम् अर्थचतुष्टयं कुत्र निरूपणीयम् इत्यतः आहुः **निबन्धेऽस्ति** इति. **चतुष्टयं** शास्त्रीयाद्यर्थचतुष्टयम् इति अर्थः. अत्रार्थे भगवदीयानां व्यास-शुकादीनामपि साम्मुख्यम् आदधते **अत्र सन्त** इत्यादि (९).

---

१. लेखकृतां पाठे अयं कारिकार्धः उत्तरवर्ती - सम्पा.

(सूक्ष्मटीका[१])

नत्वा हरिं सदानन्दं स्वीयनिर्बन्धयन्त्रितः ॥
श्रीभागवततत्त्वार्थं वल्लभः प्राह हृद्गतम् ॥(१)॥
लक्षणा नात्र वक्तव्या न न्यूनादन्यपूरणम् ॥
आर्थिकं तु प्रवक्ष्यामि परोक्षकथनादृते ॥(२)॥
अविरोधेन सप्तानामर्थानामिह सङ्गतिः ॥
उत्तरोत्तरदौर्बल्यं वाच्यं सङ्कोचतः परम् ॥(३)॥
भाषात्रयविरोधश्च कल्पभेदात् समाहितः ॥
भेदत्रयस्य[२] कथनं लक्षणैर्ज्ञायते पुनः ॥(४)॥
अर्थत्रयं तु वक्ष्यामि निबन्धेऽस्ति चतुष्टयम् ॥
अत्र सन्तः स्वसन्तोषैराज्ञां यच्छन्तु सिद्धये ॥(५)॥

अथ व्याख्या. अत्र शिक्षार्थम् मङ्गलम् आचरन् प्रथमं गायत्र्यर्थम् उपनिबबन्ध.

[३]यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्मविस्तरः ॥
वृत्रासुरवधोपेतं तद् भागवतमिष्यते ॥(६)॥
पुरुषो मायया बन्धो मोचनं भक्तिहेतुकम् ॥
समाधिभाषा तत्रापि यत्नो भक्तौ प्रतिष्ठितः ॥(७)॥
स पुनः सुदृढः स्नेहो माहात्म्यज्ञानपूर्वकः ॥
तत्र द्वयं साधयितुं संहिता सकला ततः ॥(८)॥
अयमेव समस्तानां वेदानामर्थनिश्चयः ॥
[४]वेदमाधुर्यतोऽर्थोऽयं रसो[५] बीजात् फले पुनः ॥(९)॥
[६]बहूपकारसिद्ध्यर्थं मध्यभावो वृथा न हि ॥
[७]न विरोधो न दौर्बल्यं कर्मज्ञानोक्तितः श्रुतेः ॥(१०)॥

---

१. पुष्टिभक्तिसुधा वर्ष ८ अंक १-२-३ इत्यत्र प्रकाशिता मन्नलाल शास्त्री इत्येतैः सम्पादिता इयं सूक्ष्मटीका अस्माभिः अत्र निवेशिता. अत्रत्या सर्वाः ❋पादटिप्पण्यः श्रीपुरुषोत्तमानां सन्ति -सम्पा. ❋२. भाषाभेदत्रयस्य इति अर्थः. ❋३. श्लोकत्रयस्य सङ्गतिं बोधयितुं प्रथमं लक्षणम् आहुः. ❋४. अनेन तृतीयस्यापि सङ्गतिः उक्ता. ❋५. आविर्भूत इति शेषः. ❋६. द्वितीयस्य आहुः बहु इति. ❋७. तात्पर्यान्तरम् आहुः न इति.

(सुबोधिनी) अथ व्याख्या. भगवदाज्ञया भक्तिजनिकां संहिताम् आरभमाणः शिक्षार्थं मङ्गलम् आचरन् बीजभावेन प्रथमं गायत्र्यर्थम् उपनिबबन्ध **जन्माद्यस्य** इति.

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः ॥
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गो मृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ॥१॥

(सूक्ष्म.) सन्देहान्यथाकथनव्यावृत्त्यर्थं विस्तरेण आह **जन्माद्यस्य यत** इति. सर्वकर्तृत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वप्रेरकत्वं माहात्म्यज्ञानार्थं सुदृढसर्वतोधिकस्नेहार्थं च शुद्धात्मत्वम् अनूद्य [१]तत्सिद्ध्यर्थं मङ्गलम् इति वाक्यार्थः. जन्म आदिः येषाम् उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयानाम् इति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः. तदा[२] उक्तानुवादात् न अधिक-पुनरुक्ती. श्रौतत्वाय स्वोक्तपदज्ञापनाय च एवं वचः. विकाराः वा **जन्मप्रभृति** सर्वे **यतः** इति वा; तत् पुरुषः सर्वम् इति आर्थिकम्. **अस्य** इति ब्रह्माण्डकोटिरूपस्य मनसापि आकलयितुम् अशक्यस्य इति माहात्म्यम्. **यतः** इति अव्ययनिर्देशः अविकृतत्वात् च. अस्य सूत्रत्वेन लक्षणत्वेऽपि अत्र जिज्ञास्यस्य अप्रतिज्ञातत्वात् न [३]तदर्थत्वम्. यत्-तदोः नित्यसम्बन्धेऽपि शब्दन्यूनदोषपरिहाराय अध्याहारे

प्रकाशः

प्रथमे श्लोके **भगवदाज्ञया** इति. "दूतानामिव वर्णितम्" (जलभेद १८) इति न्यायकेन नारदोपदेशेन इति अर्थः.

लेखः

एवं सोपोद्घातं मङ्गलं प्रथित्वा प्रथमश्लोकम् अवतारयन्ति **भगवदाज्ञया** इति. **भक्तिजनिकाम्** इति, "यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे, भक्तिरुत्पद्यते पुंसां शोकमोहभयापहा" (भाग.पुरा. १।७।७) इति वाक्याद् इति भावः. **बीजभावेन** इति, बीजत्वेन इति अर्थः.

---

*१. माहात्म्यज्ञानपूर्वक-सुदृढस्नेहसिद्ध्यर्थम् इति अर्थः.

*२. तदा इति तद्गुणसंविज्ञाने. उक्तानुवादाद् इति श्रुत्युक्तानुवादात्. *३. जिज्ञासार्थत्वम्.

कर्तव्ये गायत्र्यन्तर्गत-'तच्'छब्दव्याख्यानपदद्वयस्य विद्यमानत्वात् न अध्याहारः. तत्र ब्रह्मणः समवायित्वं प्रकृतेः निमित्तत्वं केचिद् आहुः, प्रकृतेः समवायित्वं– परमाणूनां वा– ब्रह्मणो निमित्तत्वम् इति अपरे; तन्निराकरणाय उभयरूपत्वं ब्रह्मणः आह **अन्वयादितरतश्च** इति. समवायिकारणरूपाद् निमित्तकारणरूपाद् **यतो जन्मादि** इति अर्थः. नतु एकरूपाद् इति **च**कारार्थः. "यत्र येन" (भाग.पुरा. १०।८२।४) इति श्लोकोक्ताः सङ्गृहीताः. कारणत्वेन तदुपयिकसर्वज्ञत्वे सिद्धेऽपि लोकवत् प्रयोजनाज्ञानाद् अतः आह **अर्थेषु अभिज्ञः** इति. अर्थस्य अभिधेयत्वे नामरूपयोः तुल्यज्ञानम्. प्रयोजनेषु एकस्मिन्नपि बहुप्रयोजनाय बहुवचनम्. नातिप्रयोजनत्वाय सप्तमी. एकस्यापि प्रयोजनस्य कार्यकारणपरम्पराणां ज्ञानम् **अभि**शब्दार्थः. (**स्वराट्!**) राजदृष्टान्तत्वाय तथावचनेन[१] स्वरूपस्थितएव निरपेक्षएव अविक्रियमाणएव कर्ता सर्वज्ञश्च इति उक्तम्. तत्र त्रिविधापि उत्पत्तिः वेदे नास्ति, तिरोभावाभावात्. ततो नामप्रपञ्चान्तर्गत-वेदे विशेषं वदन् प्रेरणलक्षणलीलाम् आह **तेने** इति पदेन. वेदानां तिरोभावाभावेऽपि सूक्ष्मतया अवस्थानं प्रलये, तच्च ब्रह्म चेत् स्वतः तपसा वा पश्यति तदा तावदेव स्याद् इति **तेने**. अविकृतत्वाय **ब्रह्म** इति. **हृदा** इति सहार्थे तृतीया, "पुराणं हृदयं स्मृतम्" (देवीभाग. ११।१।२१) इति. युगपद्वृत्तिद्वयविरोधाय भेदेन वचनम्. **य** इति गायत्रीतृतीयपादस्थस्य ग्रहणम्. तेन सर्वप्रेरकत्वं सिद्ध्यति, प्रसिद्धिः तादृशधर्मवत्त्वेन[२] इति. अन्यथा वैयर्थ्यापत्तिः, तदर्थस्य अर्थादेव सिद्धेः. अर्थान्तरत्वेनैव दोषापत्तिः **हृदा** इत्यस्य. महर्षेश्च कौशलञ्च. शब्दरसाभिज्ञतायाः प्रकृतोपयोगित्वात् **कवि**पदप्रयोगः. **आदिकवये** ब्रह्मणे, "यो ब्रह्माणम्" (श्वेताश्व.उप. ६।१८) इत्यादिश्रुतेः. तादर्थ्ये चतुर्थी. दुर्लभाधिकारित्वाय तथोक्तिः. अतो मोक्षोपायोऽपि सूचितः. सृष्ट्या बन्धो, वेदेन मोक्षः इति सिद्धम्; उभाभ्यां क्रीडति इति माहात्म्यम्. मोक्षे प्रकारान्तरं व्यावर्तयति **मुह्यन्ति यत् सूरय** इति. यस्मात् सूरयोऽपि देहाद्यभिमानेन शास्त्रे [३]तत्रैव च मोहं प्राप्नुवन्ति इति अर्थः. तेन वेद-पुराणाभ्यामेव

---

*१. अनतिप्रयोजनत्वबोधक-सप्तमीवचनेन. *२. अन्तर्यामितया प्रेरकत्वेन इति अर्थः. *३. शास्त्रार्थे.

उपायज्ञानं, न अन्यैः इति सिद्धम्. एवं पूर्णगुणत्वे सिद्धे निर्दोषत्वम् आह **यत्र त्रिसर्गो मृषा** इति. यत्किञ्चित् तत्र लोके, कार्यं कारणं वा, सर्वस्यापि त्रितयत्वात्. **यत्र** इति निमित्ताधिकरणयोः ग्रहणम्. ततो देहेन्द्रियमनांसि तद्धर्माः तत्कारणं वा, तदधिकरणानि तदर्था वा अध्यासेन न सन्ति इति अर्थः. केवलमिथ्यात्वप्रतिपादने **यत्र** इति वैयर्थ्यापत्तेः क्रीडार्थत्वात्[१] स्वाधिकरणत्वाच्च अध्यासेन इति वक्तव्यम्. एवमेव इति वक्तुं दृष्टान्तम् आह (**यथा तेजो-वारि-मृदां विनिमयः!**). लोकदृष्ट्या प्राप्तो अन्यतेजः इति अन्यस्मिन् अन्यधर्मप्रतीतिः मिथ्या इति अर्थः. प्रवृत्तिप्रकारार्थं तद्राहित्यवैधर्म्यस्य स्पष्टस्यापि सतो अन्यस्मिन् अन्याध्यासे. यथा केचित् देहेन्द्रियाणि परिकल्प्य तेषां चिदानन्दत्वं कल्पयन्ति. केचिद् आनन्दे देहेन्द्रियाणि, केचित् चले कृष्णे जडजीवसम्बन्धं कल्पयन्ति, जडजीवविशेषे वा सामर्थ्यम्. केचित् शरीरे मायातद्वतोः अध्यासं कल्पयन्ति. यत्र प्रविष्टे स्वेच्छयैव शरीरसम्बन्धं वा. तद् यथा तेजसि वारिबुद्धिः वस्त्रादिबुद्धिः वा, क्षुत्तृट्प्राणान्धकारपिहित-दृष्टीनां मरीचितोये चन्द्रकिरणे पुष्करिण्यादौ हिरण्मय-प्रतीतेः दृष्टत्वात्. एवम् अन्यदपि ऊह्यम्. नामप्रपञ्चेऽपि तथा. एवं भगवति जडजीवधर्माश्च **मृषा** इति उक्तम्. भगवदीयगुणान् वक्तुं किमित्येवम्, उपपत्तिञ्च आह **धाम्ना** इति. (**निरस्तकुहकं!**) निरन्तनाशिता जीवानाम् अविद्या, तत्कर्मसम्बन्धो येन. नाशितेऽपि कर्तरि प्रपञ्च-मोक्षौ समर्थयितुं कारणाकाङ्क्षायां सूर्यकोटिप्रकाशेन **स्वेन** एव उक्तम्. प्रकटः परमानन्दो यदा तदैव सर्वाविद्यानिवृत्तिः इति **सदा** नियमो, न अन्यथा इति अर्थः. तेन मुक्त्यर्थं भगवान् प्रकटः इति कर्तृत्वेन स्वातन्त्र्याद् अज्ञत्वादिप्रदर्शनेन मोहनमपि सूचितम्. उभयरूपेण प्रसिद्धम् इति प्रपञ्च-निःप्रपञ्चरूपं निर्दिशति **सत्यं परम्** इति. **धीमहि** इति ध्यायतेः लिङि छान्दसम्. ध्यायेम इति केचित्. धीङ् प्रीणने इत्यस्य इति केचित्. प्रीतिं कुर्म इति अर्थः. **धीमहि** इति गायत्रीस्थप्रयोगेण गायत्र्यर्थो दर्शितः. तस्याश्च अयम् अर्थः —

---

*१. त्रिसर्गस्य इति अर्थः.

षष्ठ्यौ[१] न भेदे किन्तु प्रसिद्धजगत्कर्तुः[२] स्वतःसिद्ध-सर्वज्ञस्य[३] माया-तत्कार्य-सम्बन्धलेशाभावाद् वरणीयं "भर्जयति अखिलाविद्याम्" (. । ।) इति तादृशं ध्यायेम. भगवद्व्यतिरिक्तार्थ-निराकरणाय तृतीयः पादः[४].

धियः सर्वेन्द्रियाण्येव मनसा सह सर्वदा ॥
प्रेरयेद् यः समस्तानां हरेरन्यः स को भवेत्! ॥(११)॥

इत्येषा दिक् ॥१॥

(सुबो.) अत्र हि श्लोकत्रयस्य असङ्गतिः– कथारूपं हि भागवतं, तत्तु "नैमिष"(श्लो. ४) इत्यादिना निरूप्यते –तत्र उच्यते

यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्मविस्तरः ॥
वृत्रासुरवधोपेतं तद् भागवतमिष्यते ॥(१०)॥

यथा हि यज्ञात्मको वृत्रः, तद्वधेन यज्ञाः प्रवृत्ता वेदे निरूपिताः, तथा अत्रापि भक्त्यात्मको वृत्रः, तद्वधनिरूपणेन अत्र भक्तिः प्रवर्तयिष्यते.

प्रकाशः

ननु बीजभावेनैव उपनिबबन्ध इत्यत्र किं प्रमाणम् इति आकाङ्क्षायां प्रसङ्गतः श्लोकत्रयसङ्गतिं व्युत्पादयन्ति **अत्र हि** इत्यादि. ततः च श्लोकत्रयार्थापत्तिरेव प्रमाणत्वेन फलिष्यति. गायत्र्यर्थस्य बीजत्वम् उपपादयितुं प्रथमं लक्षणवाक्ये वृत्रासुरवध-कथनप्रयोजनम् आहुः **यथा हि** इत्यादि.

लेखः

किञ्चिद् आशङ्कते **अत्र हि** इत्यादि. श्रीमद्भागवते हि इति अर्थः. समादधते **तत्रोच्यते** इत्यादि. तस्याम् आशङ्कायां सत्यां तत्सङ्गतिप्रकारः उच्यते इति अर्थः. प्रथमश्लोकसङ्गतिं व्युत्पादयितुं तावत् लक्षणवाक्यं पठन्ति **यत्राधिकृत्य** इति. लक्षणवाक्ये वृत्रासुरवधकथन-प्रयोजनम् आहुः **यथा हि** इत्यादि. लक्षणवाक्ये गायत्र्यारम्भकथन-प्रयोजनम् आहुः

---

१. गायत्रीमन्त्रस्थ-सवितुर्देवस्येति द्वयोः पदयोः –सम्पा.

२. गायत्रीमन्त्रस्थ-'तत्सवितुः'पदस्य परामर्शः –सम्पा. ३. गायत्रीमन्त्रस्थ-'भर्ग'पदस्य परामर्शः –सम्पा.

४. गायत्र्याः "धियो यो नः प्रचोदयाद्" इति तृतीयः पादः –सम्पा.

गायत्री हि वेदमाता वेदत्रयार्थप्रतिपादिका भवति; तदर्थो भागवते. प्रथमं बीजार्थं निरूप्यते— यथा वेदः तथा भागवतम् इति, एकबीजत्वात्. अतो गायत्र्यर्थनिरूपणेन वेदविरोधो, वेदाद् दौर्बल्यञ्च परिहृतम्.

किञ्च. यथा हि वेदे यज्ञियाः पदार्थाः योगजधर्मेण अनुभूयन्ते

प्रकाशः

यज्ञात्मकत्वन्तु "त्वष्टाहवनीयम् उप प्रावर्तयत् स्वाहेन्द्रशत्रुर्वर्धस्व[१]" (तैत्ति.संहि. २।५।२।१) इति श्रुतेः आहुत्युत्पन्नत्वाद् बोध्यम्. भक्त्यात्मकत्वञ्च "अहं हरे तव" (भाग.पुरा. ६।११।२४) इत्यादिषु तद्वाक्येषु एव प्रकटम्. नच अयं श्रौतानुवादः, "जज्ञे त्वष्टुर्दक्षिणाग्नौ" (भाग.पुरा. ६।१७।३८) इति उत्पत्तिस्थानभेद-कथनादिविरोधात्. तथाच प्रतिबन्धकनिवृत्त्यै वेदवद् अत्र [२]तन्निरूपणम् इति अर्थः. गायत्र्यारम्भकथन-प्रयोजनम् आहुः **गायत्री**त्यादि. ततः च यदि बीजत्वाय गायत्र्यर्थनिरूपणं न स्यात् तदा लक्षणवाक्ये "गायत्रीम् अधिकृत्य धर्मविस्तारो वर्ण्यते" इत्यादिकं न उक्तं स्याद् अतः तथा इति भावः. एवञ्च अत्र लक्षणवाक्ये उभयोक्त्या भक्तिजनक-धर्मनिरूपकत्वं भक्तिप्रतिबन्ध-निवर्तक-तन्निरूपकत्वञ्च लक्षणत्वेन उक्तं ज्ञेयम्. एवं प्रथमश्लोकसङ्गतिः हेतुतारूपा उक्ता.

द्वितीयस्य आहुः **किञ्च** इत्यादि **संहिता** इत्यन्तम्.

लेखः

गायत्री हि इत्यादि. **बीजार्थम्** इति, भावप्रधानम् एतत्. तथाच बीजत्वाय इति अर्थः. **परिहृतम्** इति. तथाच एतद्दोषद्वयपरिहाराय गायत्र्यारम्भः इति भावः. एवञ्च भक्तिप्रधानत्वं वेदाभिन्न-बीजकत्वं च ज्ञापयितुं प्रथमश्लोकः इति हृदयम्.

एवं प्रथमस्य उपपाद्य द्वितीयस्य सङ्गतिम् आहुः **किञ्च यथा** इत्यादि. **इत्यादिना** इति. "भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले,

---

१. "स यज्ञवेशसं कृत्वा प्रासहा सोमम् अपिबत्. तस्य यद् अत्यशिष्यत् तत् त्वष्टा आहवनीयम् उपप्रावर्तयत्. स्वाहेन्द्रशत्रुर्वर्धस्वेति यदवर्तयत् तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्. यदब्रवीत् स्वाहेन्द्रशत्रुर्वर्धस्वेति तस्मादस्य इन्द्रः शत्रुरभवद्" इति श्रुतेः आहवनीयहोमं कृत्वा उप समीपे पश्चाद् दक्षिणाग्नौ प्रावर्तयत्, परावर्त्य दक्षिणाग्नौ होमं कृतवान्. आतिचारिकाः तत्रैव हुताः.   २. भक्तित्वम्.

फलसाधनसहिताः तथा अत्रापि[१] योगजधर्मेण व्यासः त्रयम् अनुभूतवान्— पुरुषो, मायया बन्धो, मोचनं भक्तिहेतुकम् इति "अपश्यत् पुरुषं पूर्णम्" (भाग.पुरा. १।७।४) इत्यादिना. एषा हि समाधिभाषा, तत्र हि पुरुषप्रयत्नो भक्तावेव. "माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः, स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्नचान्यथा" (नारदपंचरात्र ।) इति वैष्णवतन्त्रवचनात् माहात्म्यज्ञानपूर्वकः सुदृढः सर्वतोऽधिकस्नेहो भक्तिः. सुदृढः सर्वतोऽधिकस्नेहस्तु आत्मत्वेन ज्ञाते भवति, माहात्म्यज्ञानन्तु सृष्ट्यादिभिः. तत्र द्वयं साधयितुम्

प्रकाशः

एषा इति व्यासानुभूतरूपा. किं तेन इति आहुः **तत्र हि** इत्यादि. तथाच 'धर्म'पदेन (श्लो. २) भक्त्यर्थः प्रयत्नः उच्यते, 'वेद्यम्' इत्यादिना ज्ञानस्य कथनेन ज्ञानस्य व्यापारता निरूप्यते. अयमेव च वेदार्थः, द्वितीयस्कन्धे "भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन" (भाग.पुरा. २।२।३४) इति वक्ष्यमाणत्वात्. तावता वेदस्य वृक्षरूपता अभिसन्धीयते. **सुदृढः** इत्यादि. एतेन दशस्कन्धानाम् अर्थः सङ्गृहीतो ज्ञेयः, द्वादशे आश्रयनिरूपणेन आत्मत्वस्य शेषैः च नवभिः प्रत्येकं त्रिविधानाम् उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयानां निरूपणेन माहात्म्यज्ञानपूर्वक-सुदृढसर्वाधिकस्नेहे एव पर्यवसानात्.

लेखः

अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायां च तदुपाश्रयां, यया सम्मोहितो जीवः आत्मानं त्रिगुणात्मकं, परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतं चाभिपद्यते, अनर्थोपशमं साक्षात् भक्तियोगमधोक्षजे, लोकस्याजानतो विद्वांश्चक्रे सात्वतसंहिताम्" (भाग.पुरा. १।७।४-६) इत्यन्तेन सन्दर्भेण इति अर्थः. **एषा हि** इति, श्रीभागवती संहिता इति अर्थः. **तत्र हि** इति. समाधिभाषायां हि **पुरुषस्य** साधकस्य **प्रयत्नः** भक्त्यर्थमेव उच्यते, तस्याएव सकलवेदसारभूतत्वाद् इति भावः. तदुक्तं "भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन" (भाग.पुरा. २।२।३४) इत्यादि. एवञ्च भक्त्येकप्रतिपादकत्व-ज्ञापनद्वारा श्रीमद्भागवतस्य सर्वोत्कृष्टता-प्रतिपादनार्थं "धर्मः प्रोज्झित" (श्लो. २) इति श्लोकः इति हृदयम्. ननु का

---

१. अत्रापि च इति क.

एषा भागवतसंहिता. यथा हि यज्ञाः ब्रह्मात्मावगतिश्च काण्डद्वयार्थो अन्योन्यहेतुभूतः तथा अत्र द्वयमपि भक्तिहेतुः इति निरूपयितुं गायत्री बीजं, वेदो वृक्षः, भागवतं फलम् इति निरूप्यते. अतः काण्डद्वयार्थनिष्णातोऽपि

प्रकाशः

तृतीयस्य आहुः **यथा हि यज्ञाः** इत्यादि. **अन्योन्यहेतुभूतः** इति परस्परोपकारकः. **भक्तिहेतुः** इति, साक्षात् परम्परया च तथा. **निरूप्यते** इति, तृतीये पानोपदेशात् निरूप्यते. **अतः** इत्यादि. तथाच उपोद्घातसङ्गत्या श्लोकत्रयनिरूपणम् इति अर्थः. ननु द्वादशे स्कन्धे ॐकारं प्रकृत्य "स सर्वमन्त्रोपनिषद्वेदबीजं सनातनम्" (भाग.पुरा. १२।६।४१) इति कथनाद् बीजता प्रणवस्य स्फुटा, "ॐमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्" (माण्डु.उप. १) इत्यादिश्रुतेः च, एवं व्याहृतिषु[१] अपि स्मर्यते इति

लेखः

सा भक्तिः यत्र पुरुषप्रयत्नो बोध्यते इत्यतः तल्लक्षणवाक्यं प्रदर्शयन्ति **माहात्म्य** इत्यादि. **सृष्ट्यादिभिः** इति **आदिपदेन** माहात्म्यजनक-चरित्रान्तरस्यापि सङ्ग्रहः. **द्वयं साधयितुम्** इति, माहात्म्यज्ञानम् आत्मत्वेन ज्ञानं च साधयितुम् इति अर्थः.

एवं द्वितीयस्य सङ्गतिं व्युत्पाद्य तृतीयस्य आहुः **यथा हि** इत्यादि. **अन्योन्य** इति. चित्तशुद्धिद्वारा कर्मणां ज्ञानोपयोगित्वम्. ज्ञानस्य तु कर्मोपयोगित्वं साक्षादेव, "यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा वा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" (छान्दो.उप. १।१।१०) इति श्रुतेः. **तथात्र द्वयमपि** इति. **अत्र** श्रीमद्भागवते **द्वयं** कर्म ज्ञानं च इति द्वयम् **अपि भक्तिहेतु**त्वेन प्रतिपाद्यते इति ज्ञापयितुम् इति अर्थः, "निगमकल्पतरोः" (श्लो. ३) इत्यत्र कर्मज्ञानप्रतिपादक-निगम-फलत्वेन श्रीभागवतस्य उक्तत्वाद् इति भावः. **गायत्री बीजम्** इति प्रथमश्लोकार्थः, **वेदो वृक्षः** इति द्वितीयश्लोकार्थः, **भागवतं फलम्** इति तृतीयस्य अर्थः. **इति निरूप्यते** इति, श्लोकत्रयेण निरूप्यते

१. भूः भुवः सुवः इति लोकत्रयं 'व्याहृति'शब्देन उच्यते, "भूर्भुवःसुवरिति वा तिस्रो व्याहृतयः" इति तैत्तिरीयश्रुतेः.

अफलवृक्ष इव व्यर्थः इति भागवतारम्भः. तद् अत्र श्लोकत्रयेण निरूप्यते. यद्यपि प्रणवो व्याहृतयश्च तथा भवन्ति तथापि तेषाम् अर्थः स्पष्टो न इति गायत्र्यर्थो निरूप्यते.

किञ्च. अग्न्युपस्थाने हि गायत्री नियुक्ता ''तत्सवितुर्वरेण्यमित्याह प्रसूत्या'' (तैत्ति.संहि. १।५।८।४) इति. तथा मन्देहादिनिवारणे च

प्रकाशः

तत्सर्वम् अतिहाय कुतो गायत्र्याएव अर्थो निरूप्यते इत्यतः आहुः **यद्यपि** इत्यादि. ननु एवं सति गायत्र्येव कुतो न उपनिबद्धा इत्यतः आहुः **किञ्च** इत्यादि. तथाच विनियोगद्वय-दर्शनेन अर्थे सन्देहात् तन्निरासाय अर्थमेव उक्तवान्. ततः च उपस्थानस्थले ''एकं सद् विप्रा'' (ऋक्संहि. १।१६४।४६) इति श्रुतिस्वारस्येन तत्रापि अग्न्यन्तर्यामिणि तद्वदने तद्रूपके भगवत्येव तात्पर्यं, नतु अग्नौ. भगवत्सामर्थ्येनैव च [1]मन्देहादिनिवारणम्, ''ऐन्द्र्या गार्हपत्यम् उपतिष्ठत'' (मैत्रा.संहि. १।५।११) इतिवद् वाक्यमात्रेणापि विनियोगसम्भवेन अर्थसन्देहानपायात्. **निवारणे च** इत्यत्र **चः** अनुक्तसमुच्चायकः, तेन उपनयने विनियोगोऽपि सङ्गृह्यते. अतः एवम् अर्थकथने विनियोगत्रयस्यापि परस्परानुगुण्यम् इति बोधयितुम् अर्थकथनम् इति भावः.

लेखः

इति अर्थः. तथाच उपोद्घातसङ्गत्या श्लोकत्रयम् उक्तम् इति अर्थः. **तथा भवन्ति** इति, बीजरूपाः भवन्ति इति अर्थः. प्रणवस्य बीजत्वं तु ''ॐकारो वाऽथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा, मुखं भित्वा विनिष्क्रान्तौ तेन माङ्गलिकौ स्मृतौ'' (नारदपुरा. ९।५१।१०) इति ''वेद प्रणव एवाग्रे'' (भाग.पुरा. ११।१७।११) इत्यादौ वेदात् प्रागेव तदुत्पत्तिबोधनात् सिद्धम्. ''स सर्वमन्त्रोपनिषद्वेदबीजम्'' (भाग.पुरा. १२।६।४१) इति च. व्याहृतयस्तु भूर्भुवः स्वः इति तिस्रः 'व्याहृति'पदवाच्या. विविधे कर्मणि आहीयन्ते प्रयुज्यन्ते इति तदर्थः. तासां बीजता तु योगियाज्ञवल्क्येन निरुक्तिमुखेन

---

१. मन्देहादिराक्षसनाम्नैव द्वीपप्रसिद्धिः. अत उक्तं ''मन्देहारुणे द्वीपः'' इति श्रुतौ.

"गायत्र्याभिमन्त्रिता आप ऊर्ध्वं विक्षिपन्ति" (तैत्ति.आर. २।२) इत्यादिना. तेन निर्विघ्नं वाक्प्रसवार्थं गायत्र्या भगवदुपस्थानं कुर्वाणो गायत्र्यर्थम् आह. तत्र गायत्र्याः जगत्प्रसवकर्तृत्वेन सर्वकर्तृत्वं देवत्वेन च सर्वज्ञत्वं (सवितुः देवस्य इति!) षष्ठीद्वयेन निरूप्यते. "वरेण्यम्" इति भक्तिबीजम्. "भर्गः" इति संसारनिवृत्तिः, "भर्जयत्यखिलाऽविद्याम्" (. । ।) इति, अतः तदेव **धीमहि** इति. आवश्यकत्वं च आह—

धियः सर्वेन्द्रियाण्येव मनसा सह सर्वदा ॥
प्रेरयेद् यः समस्तानां तद्ध्यानं सर्वथा हितम् ॥(११)॥

इति. तद् अत्रापि आह **जन्माद्यस्य यतः** इति. **जन्म आद्यस्य** आकाशस्य **यतः** इति वा, "तस्माद्वा एतस्माद् आत्मनः आकाशः सम्भूतः" (तैत्ति.उप. २।१) इति श्रुतेः. गायत्र्यर्थे हि प्रसवमात्रम् उक्तं, न स्थिति-प्रलयौ; 'वरेण्य-भर्ग'शब्दाभ्यां च पश्चात् सूचितौ. तद् अत्रापि उत्तरार्धे सूचयिष्यते. अथवा सूचितमपि अर्थम् आदाय उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयाः निरूप्यन्ते **जन्मादिपदेन**, "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" (तैत्ति.उप. ३।१) इत्यादिश्रुतेः. जन्म आदिः यस्य स्थिति-भङ्गस्य इति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः.

प्रकाशः

एवम् अर्थकथने उपपत्तिम् उक्त्वा श्लोकं व्याख्यातुं प्रथमं गायत्र्यर्थम् आहुः **तत्र** इत्यादि. अत्र षष्ठ्यन्तद्वयस्य अर्थोक्त्या सूर्यो निवारितः. 'भर्गः'शब्दस्य असुनन्तत्वबोधनेन शिवो निवारितः. 'धी'पदव्याख्याने निरङ्कुश-सर्वेन्द्रियप्रेरकत्व-बोधनाद् इतरवारणे ब्रह्मपरत्वे च उपपत्तिः उक्ता ज्ञेया. इदं यथा तथा प्रहस्ताख्ये वादे प्रपञ्चितं मयेति न अत्र उपपाद्यते. **जन्म आद्यस्य** इति पक्षस्य इतरैः अनुक्तत्वात् तत्र प्रमाणम् आहुः **तस्माद् वा** इत्यादि. ननु जन्मादित्रयम् अनादृत्य जन्मैव अत्र किमिति गृह्यते इत्यतः आहुः **गायत्र्यर्थे** इत्यादि. तथाच गायत्र्यनुरोधात् तथा इति अर्थः. ननु यदि एवं तर्हि "जन्मादि" इतिपक्षः किमिति उक्तः इति आकाङ्क्षायां तत्र उपपत्तिं वदन्तः आहुः **अथवा** इत्यादि. तथाच श्रुतिसिद्धत्वात् सोऽपि सङ्गृह्यते इति अर्थः. **स्थितिभङ्गस्य** इत्यादि. स्थितिसहितो भङ्गः स्थितिभङ्गः; उत्तरपदलोपी समासः. "जन्मादि"

उत्पत्ति-स्थिति-भङ्गस्य इति वा अतद्गुणसंविज्ञानः. वेदार्थप्रतिपादकत्वाद् नाधिक-पुनरुक्ती. **अस्य** इति ब्रह्माण्डकोटिरूपस्य मनसापि आकलयितुम् अशक्यस्य इति माहात्म्यम्. **यतः** इति अव्ययनिर्देशो अविकृतत्वाय; सर्वजगद्बीजमपि ब्रह्म न विकृतम् इति निरूपयितुम्. यथा कामधेनोः कल्पवृक्षात् चिन्तामणेः मन्त्रादेश्च जायमानाः पदार्थाः दृश्यन्ते; न हि ते विकृताः भवन्ति. अनेन "कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा" (ब्रह्मसूत्र २।१।२६) इति पूर्वपक्षः परिहृतः. यत्-तदोः नित्यसम्बन्धेऽपि शब्दन्यूनतादोष-परिहाराय अध्याहारः कर्तव्यो यद्यपि तथापि गायत्र्यन्तर्गत-'तच्'छब्दव्याख्यानरूपस्य **सत्यं परम्** इति पदद्वयस्य विद्यमानत्वात् न अध्याहारः.

प्रकाशः

इति सामान्ये नपुंसकम्. अत्र जन्मनः 'कुटा'दिशब्दे कुटस्य इव समुदायघटकत्वेन अवयवत्वात् तदुपलक्षित-समुदायवर्ति-धातुभ्यो विवक्षितप्रत्ययानां ङिद्भावे यथा न संविज्ञानं तथा अत्र जन्मनः इति अतद्गुणसंविज्ञानः इति अर्थः. अधिकोक्त्यादिपरिहाराय एवं व्याख्यातम्. अस्मिन् पक्षे कल्पनाबाहुल्यम् इति अरुच्या पक्षान्तरम् आहुः **उत्पत्ती**त्यादि. जन्मनः समुदायविशेषणत्व-विवक्षायां स इति अर्थः. तर्हि अधिकोक्त्यादिदूषणस्य अवकाशः इत्यतः आहुः **वेदार्थे**त्यादि. तथाच "यतो वा" (तैत्ति. उप. ३।१।[illegible]) इत्यादिश्रुत्यर्थसङ्ग्रह-पूर्वकम् अत्र तथा उच्यते इति अदोषः इति अर्थः. **अनेन** इति कामधेन्वादिवद् अविकृतत्व-बोधकाऽव्ययनिर्देशेन.

लेखः

उक्ता "भूर्भुवः स्वस्तथापूर्वं स्वयमेव स्वयम्भुवा, व्याहृता ज्ञानदेहेन तेन व्याहृतयः स्मृता" (. । ।) इति. अत्र वेदेभ्यः पूर्वमेव तदुत्पत्तिबोधनात् तथा. **अनेन** इति. **यतः** इति अव्ययेन अविकृतादेव सृष्टिसूचनेन इति अर्थः. **कृत्स्न** इति. भगवतः समवायिकारणत्वे कार्यगताऽनित्यत्व-परिच्छिन्नत्वादि-सकलधर्मप्रसक्तिः **कृत्स्नप्रसक्तिः**, "निष्कलं निष्क्रियम्" (श्वेताश्व.उप. ६।१९) इत्यादिश्रुतिषु **निरवयवत्वश्रुतिः**, तस्याः **कोपो वा** न इति अर्थः. ब्रह्मणः सर्वसमर्थत्वेन अविकृतादेव

तत्र “ब्रह्मणः समवायित्वं प्रकृतेः निमित्तत्वम्” इति केचिद् आहुः, “विपरीतम्” इति अन्ये, “कर्तृत्वमात्रम्” इति अपरे; तत्सर्वनिराकरणाय आह **अन्वयाद् इतरतश्च** इति. अन्वेति इति **अन्वयः** समवायिकारणम्, **इतरत्** निमित्तकारणं, “यत्र येन यतो यस्य” (भाग.पुरा.१०।८२।४) इति श्लोकोक्ता अनुक्ताः **च**कारेण परिगृहीताः. अतो अभिन्ननिमित्तोपादानं जगद् ब्रह्मकारणकम् इति उक्तं भवति. स्थितिप्रलयादावपि यथापेक्षं ग्रहणाद् न समवायिकथने[१] दोषः. अथवा वैनाशिकप्रक्रियायाः अनङ्गीकाराद् नाशेऽपि

प्रकाशः

विपरीतम् इत्यत्र परमाणुकारणवादस्यापि सङ्ग्रहः. **अन्वेति इति अन्वयः** इति. “अनुः लक्षणे” (पाणि.सूत्र १।४।४४); तत्तल्लक्षीकृत्य यः तत्र तत्र व्याप्य वर्तते सः अन्वयः इति अर्थः. एवञ्च अनारोपिताऽनागन्तुकरूपेण अनुवृत्तिः समवायः इति तत्स्वरूपमपि बोधितं ज्ञेयम्. **यत्र** इत्यादि, एतेन अखण्डब्रह्मवादः उक्तः. ननु व्यासचरणैः तर्कपादे समवायो दूषितः इति कथं “समवायिकारणं ब्रह्म” इति उच्यते? इत्यतः आहुः **स्थिती**त्यादि. **आदि**पदेन भावविकारान्तरम्. **यथापेक्षम्** इति तत्तदनुकूलाधारत्वेन. तथाच व्यासपादैः वैशेषिकादिप्रतिपन्नो दूष्यते नतु तादात्म्यरूपोऽपि इत्यतो न दोषः. कारणस्य नित्यत्वेन अतिरिक्तपक्षेऽपि “यत्र येन” (भाग.पुरा. १०।८२।४) इति श्लोके ‘यथा’पदोक्तप्रकारमध्ये प्रवेशादपि न दोषः इति अर्थः. ननु अतिरिक्तपक्षे समवायस्य प्रलये अपेक्षाकथनम् अनुपपन्नं, तस्य सम्बन्धत्वेन द्विनिष्ठत्वात् कार्यरूप-प्रतियोगिनाशे आधारनाशेन तत्स्थितेः वक्तुम् अशक्यत्वाद् इत्यतः आहुः **अथवा** इत्यादि. ननु लोकसिद्धौ अन्वय-व्यतिरेकौ विहाय किमिति एवं व्याख्यायते? इत्यतः

लेखः

निष्क्रियादेव सर्वोत्पत्तिसम्भवाद् इति भावः. ननु जन्म-स्थिति-प्रलयकर्तृत्वोपपत्तये हेतुगर्भितं **अन्वयाद्** इति विशेषणम् उक्तं तद् असङ्गतं, जन्म-स्थित्युपपादनेऽपि प्रलयोपपादकत्वासम्भवात् प्रलये समवाय्यपेक्षाभावाद् अतः आहुः **स्थिति** इत्यादि. समवायिनि एव कार्यस्य लयः इति सिद्धान्ताद् इति भावः.

१. समवायकथने इति टिप्पणीमातृकान्तरे पाठः -सम्पा.

अव्यक्तस्थितेः समावाय्यपेक्षा अस्त्येव. प्रत्यक्षानुग्राहकान्वय-व्यतिरेकौ इह न भवतः. नहि ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं प्रत्यक्षसिद्धम्, श्रुतिसिद्धं तु तत्. न वा ब्रह्मणः क्वचिद् व्यतिरेकः सम्भवति; खपुष्पादिकमपि तत्सत्तयैव भासते, "यदस्ति यन्नास्ति" (विष्णुपुरा. २।१२।३८) इति वाक्यात् च. तस्मात् सर्वप्रकारेणापि ब्रह्मैव जगत्कारणम् इति उक्तम्.

जगत्कारणत्वेन तदुपयोगिसर्वज्ञत्वे सिद्धेऽपि लोकवत् फलाज्ञानं सम्भवति इति तद् आह **अर्थेषु अभिज्ञः** इति. अनतिप्रयोजनाय सप्तमी. एकस्यापि प्रयोजनस्य बहुप्रयोजनार्थत्वं ज्ञापयितुं बहुवचनम्. ज्ञानशक्तेः प्रयोजनानाञ्च न समासः, तेन न हर्ष-विषादौ. **अर्थ**शब्दः प्रयोजनवाची. अथवा **अर्थेषु**

प्रकाशः

आहुः **प्रत्यक्षे**त्यादि. ननु तयोः शब्दानुग्राहकत्वाङ्गीकारेऽपि को दोषः इत्यतः आहुः **नवे**त्यादि. एतेन श्रीधरोक्तिः निरस्ता ज्ञेया. सिद्धम् आहुः **तस्माद्** इत्यादि. **सर्वप्रकारेण** इति, समवायित्वेन निमित्तत्वेन अधिष्ठानत्वेन प्रयोजकत्वेन च इति अर्थः. **अनतिप्रयोजनाय सप्तमी** इति. वैराग्यस्य पूर्णत्वेन कस्यापि ईप्सिततमत्वाभावेन कर्मषष्ठीम् अनुक्त्वा विषयसप्तमी उक्ता इति अर्थः. एतदेव विशदयन्ति **ज्ञानशक्ते**ः इत्यादिना. **अर्थ**शब्देन कथं फललाभः इत्यतः आहुः **प्रयोजनवाची** इति. "अर्थो

लेखः

प्रत्यक्षानुग्राहकान्वय-व्यतिरेकौ इति, प्रत्यक्षम् अनुग्राहकं यत्र तादृशौ इति अर्थः. हेतुगर्भितम् इदं; प्रत्यक्षानुग्राहकत्वाद् न स्तः इति अर्थः. यत्सत्त्वे यत्सत्त्वम् अन्वयः यदभावे यदभावः व्यतिरेकः इति लक्षणकाऽन्वय-व्यतिरेकौ हि दण्डादिसत्तां प्रत्यक्षतो निर्धार्य दण्डसत्त्वे घटसत्त्वं, तदभावे तदभावः इत्येवं निरूपणीयौ. अत्र कारणस्य अगोचरत्वादेव नैयायिकाद्यभिमतौ तौ न अङ्गीकर्तव्यौ इति भावः. एवं श्रीधरस्वाम्युक्तौ अनादरणीयता सूचिता. **तदुपयोगि** इति, तदुपादानगोचरः इति अर्थः. **सप्तमी** इति. सर्वथा ईप्सिततमत्वे हि कर्मषष्ठ्येव विदध्याद् इति भावः. **न समास** इति. तेन अनासक्तिबोधाय स न इति अर्थः. तेन प्राकृतवद् इष्टप्राप्तौ हर्षः तदप्राप्तौ विषादो वा न इति अर्थः. **प्रयोजनवाची**

निमित्तेषु, चतुर्विधपुरुषार्थसिद्ध्यर्थं जगज्जननम् इति अर्थः. सर्वजीवानां सर्वपुरुषार्थसिद्ध्यर्थं जगद् इति उक्तं भवति. एकस्यापि प्रयोजनस्य प्रयोजन-कार्य-कारण-परम्पराणां ज्ञानम् **अभि**शब्दार्थः. ज्ञानमार्गे केचन स्वार्थमेव सर्वं करोति इति आहुः; तन्निराकरणाय आह **स्वराड्** इति. यद्यपि जीवाअपि स्वरूपमेव तथापि प्रकारभेदात् न दोषः. स्वेनैव राजते, न विषयेषु रमते इति अर्थः. अथवा विराडन्तर्गतः **स्वराट्**, तेन पूर्वोक्तसर्वज्ञता समर्थिता भवति. अक्लेशार्थं वा स्वरूपानन्दे रमते इति अर्थः.

एतावता रूपप्रपञ्चे कारणत्वम् उक्तं; नामप्रपञ्चकारणम् आह **तेने**

प्रकाशः

अभिधेय-रै-वस्तु-प्रयोजन-निवृत्तिषु'' (अमरको. ३।३।८६) इति कोशात् तथा[१] इति अर्थः. एवम् औदासीन्ये उपेक्षा आयाति इति परार्थसृष्टौ पुरुषार्थसिद्धिः न स्याद् इति तदर्थं पक्षान्तरम् आहुः **अथवा** इत्यादि. तथाच ''निमित्तात् कर्मयोगः'' (पाणि.सू.वार्ति. २।३।३६) इत्यनेन फले सप्तमी. सा च कर्मभूतानां जीवानां योगस्य स्व-स्वामिभावाद्यात्मकस्य यथापेक्षं सत्त्वाद् बोध्या. तथाच जीवानाम् अर्थेषु अभिज्ञः इति अर्थः. **प्रकारभेदाद्** इत्यादि. जीवानां स्वरूपत्वेऽपि ईश्वरत्वस्य तत्र अप्रकारत्वात् तदर्थं सृष्टिकरणं न स्वराट्त्व-व्याघातकम् इति अर्थः. रमणश्रुत्यनुसारेण सृष्टेः स्वार्थत्वम् अङ्गीकृत्य पक्षान्तरम् आहुः **अथवा** इत्यादि. **तेन** इति रूढ्यादरेण. अपुष्टार्थत्वम् आशङ्क्य पक्षान्तरम् आहुः **अक्लेशार्थं वा** इत्यादि. तथाच प्रलयप्रयोजनम् अनेन उच्यते इति अर्थः. **एतावता** इति, प्रथमपादेन इति अर्थः. **नास्ति** इति, तिरोभावाभावेन वेदस्वरूपस्य

लेखः

इति. प्रयोजनम् इह फलम् इति ज्ञेयम्. तथाच फलेषु अभिज्ञः इति अर्थः. वस्तुतः फलाभिज्ञता हि तन्निमित्ताभिज्ञत्वप्रयोज्या. तथाच **अर्थ**पदं निमित्तपरमेव व्याख्येयम् आवश्यकत्वाद् इत्याशयेन पक्षान्तरम् आहुः **अथवा अर्थेषु निमित्तेषु** इति. अनेन साधनेन इदं फलम् इति तदभिज्ञता इति

---

१. इत्यधिकं कि.पाठानुरोधात् - सम्पा.

इत्यादिना. यद्यपि अविशेषेण कारणत्वं वक्तुं शक्यं तथापि रूपप्रपञ्चे आसक्तानां जीवानां निवारणार्थं भेदेन उक्तम्. बन्ध-मोक्षयोः प्रकारभेदेन निरूपणार्थं वेद-जगतोः भिन्नतया निरूपणम्. त्रिविधापि[१] उत्पत्तिः वेदे नास्ति किन्तु प्रलये सूक्ष्मतया अवस्थानम्. यथा वर्णानाम् अनेकभाषावितततत्वं विस्तारः तथा श्रुतेरपि वेदशाखाभेदेन विस्तारः. **ब्रह्म** वेदम्; अविकृतत्वाय तथा वचः. **हृदा** इति मनःपूर्वकं; स्वार्थम् एतद् इति भावः. पुराणेन सह इति वा, "पुराणं हृदयं स्मृतम्" (देवीभाग. ११।१।२१) इति वचनात्. "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मा" (श्वेताश्व.उप. ६।१८) इति ब्रह्मार्थं वेदविस्तारः. भगवत्तात्पर्यं वेदएव[२], न लोके इति वा **हृदा** इति उक्तम्. **यः** इति गायत्रीतृतीयपादस्थस्य ग्रहणं, तेन सर्वप्रेरकत्वम् आयाति, अन्यथा वैयर्थ्यापत्तेः, **यतः** इत्यस्यैव सर्ववाक्येषु विभक्तिविपर्ययेण योजयितुं शक्यत्वात्.

प्रकाशः

नित्यत्वाद् नास्ति इति अर्थः. **सूक्ष्मतया** इति, भग्नावत् सङ्कुच्य इति अर्थः. **तेने** इत्यस्य अर्थम् आहुः **यः** इत्यादि. **यदिति** लुप्तसप्तमीकम्

लेखः

अर्थः. **निवारणार्थम्** इति, नामप्रपञ्चे आसक्तिनिवारणार्थम् इति अर्थः. **प्रकारभेदेन** इति. रूपप्रपञ्चे यथा यथा आसक्तिः तथा तथा बन्धः, यथा यथा निवृत्तिः तथा तथा मोक्षः ; नामात्मक-वेदादिरूप-प्रपञ्चे तद्वैपरीत्यम् इति प्रकारभेदः. **त्रिविधापि** इति. "एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः आकाशाद् वायुः" (तैत्ति.उप. २।१) इति आकाशाद्युत्पत्तिक्रमेण क्रमसृष्टिः, "यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुल्लिंगाः व्युच्चरन्ति" (बृहदा.उप. २।१।२०) इति प्रकारेण प्रकीर्णतया सहैव सृष्टिः, तथा पौराणिकरीत्या पुरुषादिक्रमेण सृष्टिः —इति रूपप्रपञ्चसृष्टौ प्रकारत्रयम् अस्ति. वेदे तु न तथा इति अर्थः. प्रलयभेदेनापि भेदम् आहुः **किन्तु प्रलये** इत्यादि. **यज्ञांल्लौकिकान्** इति.

---

१. जनन-समागम-प्राकट्यरूपा त्रिविधा इति भा.पाठे पादटिप्पणी - सम्पा.

२. भगवतः तात्पर्यं यत्र तादृशो वेदः एव इति भा.पाठे पादटिप्पणी - सम्पा.

आदिकवये ब्रह्मणे, वेदमार्गेण ब्रह्मा एवम् उच्यते इति अर्थः. अन्येषां वेदार्थनिष्ठानामपि तद्रूपेणैव मुक्तिः इति भावः. शब्दरसाभिज्ञत्वाय **कविपदप्रयोगः**, गोपनार्थम् अन्यथाकथनसामर्थ्याय वा. नहि अन्यः तादृशो अस्ति इति **आदिपदं**, कविदोषाभावाय वा. नानाविधस्तोत्रेण वा सन्तुष्टो भगवान् तस्मै वेदं प्रकाशितवान् इति **आदिकविपदप्रयोगः**.

अन्येषां वेदानुपयोगे हेतुम् आह **मुह्यन्ति** इति. **यस्मिन्** वेदे **सूरयो**ऽपि **मुह्यन्ति** इति अर्थः, वेदार्थे वा. यज्ञान् लौकिकान् फलसम्बन्धमात्रे वैदिकान् (मन्वानाः!), ब्रह्म च जीवानाम् आत्ममात्रम् इति (मन्वानाः!), साङ्ख्याः योगिनश्च न वैदिकाः. पौराणिकाः परं सद्वादिनोऽपि पुरुषपर्यवसिताः,

---

प्रकाशः

इति ज्ञापयन्ति **यस्मिन्** इति. [१]"अर्थं तस्य विवेचितुम्" इति पद्ये यद् भागवतार्थप्रकाशकत्वं स्वस्यैव, न अन्यस्य इति उक्तं तत्र मूलं "जन्माद्यस्य यतः" इति पद्ये. अत्र हि कवये वेदं विस्तारितवान् नतु यस्मै कस्मैचित्, सूरिमोहजनकत्वाद् वेदस्य. तत्र स्वस्य भगवतः भगवदनुगृहीतस्य वा अर्थप्रकाशकत्वं, न अन्यस्य इति निर्णीतम्. ब्रह्मणः तद्रूपत्वं तदनुवर्तित्वं च, तदुद्भवः तदाज्ञप्तता इति तृतीयस्कन्धोक्तदिशा भगवत्सम्बन्धित्वेन इति ज्ञेयम्[१]. **वैदिकान्** इति, एवं वदन्तो मीमांसकाः मुह्यन्ति इति शेषः. **आत्ममात्रम् इति** वदन्तो वेदान्तैकदेशिनो मुह्यन्ति

लेखः

क्रियाकलापात्मकस्य यज्ञस्य क्रियाणां प्राकृतत्वेन लौकिकत्वमेव. फलजनकत्व-मात्रेण अलौकिकत्वं, नतु सर्वथा. "यज्ञो वै विष्णुः" (तैत्ति.संहि. १।७।४।५) इत्यादिश्रुतिस्वारस्य-ख्यापनपूर्वक-भगवद्रूपताऽपि इति अर्थः. **जीवानाम्** इति. अतएव मायावादिभिः "तत्त्वमसि" (छान्दो.उप. ६।८।७) इति जीव-ब्रह्मणोः अभेदबोधक-वाक्यमात्रस्यैव महावाक्यत्वम् उद्घोष्यते, नतु जडाद्यंशाभेद-बोधकस्य सम्पूर्णप्रपाठकस्यापि इति. "जडांशस्य अविद्यामात्र-परिकल्पितत्वेन ब्रह्मात्मत्वासम्भवाद्" इति वदन्तः मायावादिनः मुह्यन्ति

१-१. इत्यधिकं कि.पाठानुसारेण - सम्पा.

नतु पुरुषोत्तमविदः. अन्ये च तदनुवर्तिनः. मोहे भगवदप्रपत्तिः हेतुः. तस्माद् भगवानेव, तत्प्रपन्नो वा, वेदार्थवित्. वेदस्य सर्वसमर्थत्वात् कामनया क्लिष्टेषु प्राणिषु कामनासिद्ध्यर्थं वेदप्रचारः. तथैव शाखाप्रणयनम्. तथैव पुरुरवसो[१] हृदि क्वचित्. प्रणवमात्रं वा, "वेदः प्रणव एवाऽग्रे" (भाग.पुरा. ११।१७।११) इति वचनात्. सर्वथा वेदोपयोगो ब्रह्मणएव इति स्थितम्[२]. अतएव वेदतात्पर्याज्ञानाद् अन्यथावेदार्थवक्तारः उपेक्षणीयाः. प्रपञ्चेन बन्धः वेदेन मोक्षः; उभाभ्यां हरिः क्रीडति इति माहात्म्यम्.

एवं पूर्णगुणविग्रहत्वम् उक्त्वा निर्दोषत्वं वदन् 'भर्ग'शब्दार्थम् आह **तेजोवारीति**. वरणीयत्वं वा बोधयति, माया-तत्कार्यसम्बन्धलेशाभाव-प्रतिपादनात्. दोषाभावपक्षे तु दोषो द्विविधः— (१)स्वतएव दुष्टतापादकः, (२)सेवकानुद्धारो वा. (१)तत्र आद्याभावम् आह **तेजोवारीति**.

प्रकाशः

इति शेषः. नैयायिकाद्यास्तु शिष्टापरिग्रहेण सूरित्वाभावादेव व्यावर्तिताः ज्ञेयाः. ननु सूरित्वे कथं मोहः इत्यतः आहुः **मोहे** इत्यादि. "ज्ञानिनामपि चेतांसि" (मार्क.पुरा. १।५५-५६) इति "मामेव ये प्रपद्यन्ते" (भग.गीता ७।१४) इति वाक्यद्वयविचारेण तथा अवसीयते इति अर्थः. ननु अन्यस्य वेदार्थवित्त्वाभावे मीमांसकादिरीत्या यज्ञादिकरणेन फलाभावः आपाद्येत, तथा सति पुत्रेष्ट्यादावपि विसंवादः स्याद् इत्यतः आहुः **वेदस्य** इत्यादि. अत्र गमकद्वयम् आहुः **तथैव** इत्यादिना. मन्दमत्यर्थं वेदविभाजनात् पुरूरवसः कामनायामेव त्रेतायां त्रयीप्राकट्यात् तथा इति अर्थः. **क्वचिद्** इति, पुरूरवसः पूर्वं[३] कृतयुगे वा इति अर्थः. "वेदः प्रणव एव" (भाग.पुरा. ११।१७।११) इति "यो ब्रह्माणम्" (श्वेताश्व.उप. ६।१८) इति वाक्यद्वयविचारेण सिद्धं व्यासाशयम् आहुः **सर्वथा** इत्यादि. **जलादौ** इति **आदिपदेन** यथा दुर्योधनस्य "स्थलं मत्वा जलेऽपतद्" (द्रष्ट. महाभा. २।४७।६) इति मयमायाभ्रमः तादृशः सङ्गृह्यते. **मण्यादिषु** इति पार्थिवेषु. **मेघेषु** इति वारिप्रधानेषु. एवं षड्भिः दृष्टान्तैः

१. पुरुषश्च इति मुद्रितपाठः. ख-प्रकाशपाठः गृहीतः -सम्पा. २. स्थितः इति मुद्रितपाठः. खपाठः गृहीतः -सम्पा. ३. पूर्वकृतयुगे इति मुद्रितपाठः. कि.पाठो गृहीतः -सम्पा.

देहेन्द्रियान्तःकरण-धर्मसम्बन्धो दोषः. स च प्रत्येकम् इति दृष्टान्तबाहुल्यम्. सात्त्विकादिभेदेन वा. पृथिव्यप्तेजसाम् अन्योन्यस्मिन् अन्योन्यावभासो यथा **मृषा** द्रष्टुरेव तथा बुद्धिजनकः नतु विषयः तादृशः इति अर्थः. तेजसि वारिबुद्धिः मरीचितोये. वारिणि पृथिवीबुद्धिः तमिस्रायां जलादौ. तथा मण्यादिषु अग्निबुद्धिः. **मृदि** काचादौ वारिबुद्धिः. मेघेषु चन्द्रबुद्धिः. चन्द्रकिरणे वस्त्रबुद्धिः. सजातीयाः भ्रमाश्च शुक्ति-रजतादिषु. ते यथा जीवानां बुद्धिपरिकल्पिताः तथा[१] भगवति देहेन्द्रियान्तःकरणवत्त्वम् अवतारादिषु मृषा इति आह **यत्र त्रिसर्गो मृषा** इति. **यत्र** इति निमित्ताधिकरणयोः ग्रहणम्. ततो गुणत्रयकार्य-देहेन्द्रियमनांसि तद्धर्माः तत्कारणं वा तदधिकरणानि तदर्थाः

प्रकाशः

एकैकस्मिन् द्वौ द्वौ विनिमयौ उक्तौ. तत्र प्रथम-षष्ठौ **तेजो**विषयौ, द्वितीय-पञ्चमौ **वारि**विषयौ, तृतीय-चतुर्थौ **मृद्**विषयौ बोध्यौ. **सजातीयभ्रमा** इत्यादिना "तमिमं मन्यते लोको ह्यसङ्गमपि सङ्गिनम्, आत्मौपम्येन मनुजं व्यापृण्वानं यतोऽबुधः" (भाग.पुरा. १।११।३७) इत्यादिभ्रमाः सङ्गृहीताः. **अवतारादिषु** इति **आदि**पदेन प्राप्तफलाः भक्ताः ग्राह्याः, "देहेन्द्रियासुहीनानां वैकुण्ठपुरवासिनाम्" (भाग.पुरा. ७।१।३४) इति वाक्यात्. एतदेव स्फुटीकुर्वन्ति **निमित्ताधिकरणयोः** इत्यनेन. तथाच यदर्थः यन्निष्ठश्च त्रिसर्गो मृषा इति अर्थः. **तत्कारणम्** इति प्रकृतिः. **तदधिकरणानि** इति गुणाः. **तदर्थाः** इति रूपादयः. ननु मायावादादिवद् देहेन्द्रियादीनां केवलमिथ्यात्वप्रतिपादने को दोषः इत्यतः आहुः **केवले**त्यादि. खपुष्पाधारत्वस्य कुत्रापि

लेखः

इति अर्थः. **स च प्रत्येकम्** इति. स च धर्मसम्बन्धः प्रत्येकम् इन्द्रियादिषु वर्तते, नतु कुत्रचिद् अस्ति क्वचित् न इति उदासीनः इति अर्थः. **बाहुल्यं** त्रित्वेन बहुत्वबोधनात्. **सात्त्विकादि** इति. देहस्य पाञ्चभौतिकत्वेन तद्धर्माणां तामसत्वम्, इन्द्रियाणां राजसत्वम्, अन्तःकरणस्य सात्त्विकत्वम् —एवं भेदत्रयं प्रदर्शयितुं वा दृष्टान्तत्रिकम् इति **वा** अर्थः. **लोकदृष्ट्या**

---

१. तथा च इति क.

वा अध्यासेन न सन्ति इति अर्थः, केवलमिथ्यात्वप्रतिपादने **यत्र** इति वैयर्थ्यापत्तेः, सर्वाधारत्वाच्च ब्रह्मणः. तेन अध्यासेनैव इति वक्तव्यम्. एतदर्थमेव दृष्टान्तान् आह. लोकदृष्ट्या प्रतीते[१] अन्यस्मिन् = ब्रह्मणि अन्यधर्माणां = देहेन्द्रियादिधर्माणां प्रतीतिः मिथ्या इति. प्रवृत्ति-प्रकाश-तद्राहित्य-वैधर्म्यस्य स्पष्टस्यापि सतो यथा अन्यस्मिन् अन्याध्यासः. केचिद् भगवति देहेन्द्रियाणि परिकल्प्य तेषां चिदानन्दत्वं परिकल्पयन्ति, केचित् चिदानन्दे

प्रकाशः

अव्यवहारात् त्रिसर्गस्य तद्वत् केवलमिथ्यात्वप्रतिपादने तथा इति अर्थः. दूषणस्य लौकिकत्वात् नैर्बल्यम् आशङ्क्य तदुपष्टम्भाय दूषणान्तरगर्भं हेत्वन्तरम् आहुः **सर्वाधारत्वाद्** इति. "सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः" (छान्दो.उप. ६।८।४) इत्यत्र ब्रह्मणः सर्वाधारत्वं श्राव्यते; सर्वस्य मिथ्यात्वे तदपि विरुध्येत इति अर्थः. गमकान्तरम् आहुः **एतदर्थम्** इत्यादि. **एतदर्थम्** इति अन्यत्र त्रिसर्गस्य सत्यत्वार्थम्. तथाच दृष्टान्तेषु तथैव सिद्धत्वादपि दार्ष्टान्तिके, त्रिसर्गे अन्यत्र सत्यत्वम् उपेत्यैव, ब्रह्मणि मिथ्यात्वं वक्तुम् उचितम् इति अर्थः. सिद्धम् आहुः **लोकदृष्ट्या प्रतीतः** इति. तत्र हेतुः **अन्यस्मिन्** इत्यादि. तथाच उक्तहेतोः त्रिसर्गो अवतारादिषु लोकदृष्ट्या प्रतीतः इति अर्थः. तत्र दृष्टान्तार्थं स्पष्टयन्ति **प्रवृत्तीत्यादि**. तेन अन्यत्र सतां संसर्गिणां ब्रह्मणि संसर्गएव मिथ्या इति साधयित्वा संसर्गबोधकानि षण्मतानि आहुः **केचिद्** इत्यादिना. **चले कृष्णे** इति, आविष्टे कृष्णे इति अर्थः.

लेखः

प्रतीतः इति. भगवति त्रिसर्गो **लोकदृष्ट्या** प्राकृतदृष्ट्या **प्रतीतः** यः सः अतात्त्विकः इति अर्थः. **प्रवृत्ति** इति. वारिणां **प्रवृत्तिस्वभावत्वं**, तेजसां **प्रकाशस्वभावत्वं**, मृदां **तदुभयराहित्यम्** इति. **केचिद् भगवति** इति. मायाविग्रहवादिनः भगवतः अनिर्वचनीयत्वं वदन्तः मायापरिकल्पितत्वमेव वदन्ति विग्रहे. केचित् पुनः तदैकदेशिनः "आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्" (. । ।) इति श्रुतौ विग्रहस्य आनन्दरूपत्वोक्त्या तत्स्वारस्येन

---

१. प्रतीतः इति मुद्रित-प्रकाश-लेखपाठः, प्रतीतेः इति भा.पाठः. अर्थानुरोधाद् गृहीतो अयम् - सम्पा.

देहेन्द्रियाणि. केचित् चले कृष्णे जडजीवसम्बन्धं कल्पयन्ति, जडजीवविशेषे वा सामर्थ्यम्. केचित् शरीरे माया-तद्वतोः अध्यासं प्रकल्पयन्ति, मायाविशिष्टे स्वेच्छ्यैव शरीरसम्बन्धं वा. सर्वेषां तेषां बुद्धिरेव भ्रान्ता; न ब्रह्मणि शरीरेन्द्रियसम्बन्धः. यथा पुनः ब्रह्मणि व्यवहारः तथा उत्तरत्र वक्ष्यते. एवं भगवति जडजीवधर्माः मृषा इति उक्तम्. मायातत्कार्य-सम्बन्धलेशाभावाद् वरणीयं सुन्दरम् इति स्वतो दोषाभावः उक्तः. (२)भजनीयगुणान् वदन् सेवकोद्धारम् आह **धाम्ना स्वेन** इति. स्वरूपस्फूर्त्यैव सर्वेषां सर्वाविद्यानाशकः इति अर्थः. स्वरूपमेव अविद्यानाशकं ; प्रमेयबलम् एतत्. **सदा** इति न कलिकालादिः प्रतिबन्धकः. **कुहकं** कापट्यं, देहेन्द्रियात्मभावः इति यावत्, तस्मिन् (**निरस्ते!**) निराकृते शिष्टं स्वतएव भविष्यति. एतेन

प्रकाशः

ननु यदि एवं तर्हि कथं भगवति देहादिव्यवहारः इत्यतः आहुः **यथा** इत्यादि. **उत्तरत्र** इति **एवम्** इत्यादि. तथाच अध्यासराहित्येन [१]निवृत्ताविद्यत्वात् तन्निवारकत्वरूपो **भर्गः**शब्दार्थः उक्तः इति अर्थः. **शिष्टम्** इति यथाधिकारम्

लेखः

आनन्दमेव तद्रूपत्वेन अविद्यया भासते इति परिकल्पयन्ति. **केचिच्चले** इति. **केचित्** नैयायिकादयः भूतावेशन्यायेन ईश्वरएव प्राकृतशरीरं प्रविश्य कार्यं कृत्वा शरीरं त्यजति इति वदन्ति इति अर्थः. तथाच **चले** इत्यस्य आविष्टे इति अर्थो ज्ञेयः. केचित् पुनः मिथ्यावादिनः **जडजीवविशेषे सामर्थ्यं** मायास्वभावेन परिकल्पयन्ति, ब्रह्म तु अन्तर्यामिवत् साक्षिमात्रम् इति अर्थः. तादृशजडादि-सङ्घातमन्तरेण सर्वेश्वरोऽपि न कार्यक्षमो भवति किन्तु तादृशसङ्घातम् अवलम्ब्यैव इति आशयः. केचित् तु शुक्तिरजतवद् जीवमायया कृत्वा भगवति अध्यवसितशरीरे मायाहेतुकस्य कर्तृत्वादेः अपि **अध्यासं कल्पयन्ति** स्वाविद्ययैव भगवति शरीरं तद्धर्मांश्च अध्यवस्यन्ति इति अर्थः. तथा केचन मायाशबलिते 'ईश्वर'पदवाच्ये औपाधिक**स्वेच्छयैव शरीरसम्बन्धं कल्पयन्ति.** इत्येवं मायावादि-तदेकदेशिनां षण्मतानि उक्तानि.

---

१. अविवृत्ताविद्यत्वाद् इति मुद्रितपाठः. कि.पाठो गृहीतः - सम्पा.

"भर्जयति अखिलाऽविद्याम्" (. । ।) इति 'भर्ग'श्शब्दः सकारान्तो व्याख्यातः. 'तच्'छब्दं व्याचष्टे **सत्यं परम्** इति. कालत्रयाबाधितं सर्वलोकप्रसिद्धं **सत्यं, परं** श्रेष्ठं पुरुषोत्तमरूपं सर्ववेदप्रसिद्धम्. **धीमहि** इति, ध्यायेम प्रीतिं वा कुर्म इति अर्थः. इदम् एकमेव उभयत्र पदं वैदिकत्वबोधनाय. अनेन वेदसम्मितं पुराणम् इति उक्तं भवति. एवं बीजभावो निरूपितः ॥१॥

[1]मध्यभावं निरूपयन् कल्पद्रुमत्वम् आह.

(सूक्ष्म.) मध्यभावो वेदे एव न अन्यत्र इति आशङ्क्य तदज्ञाननिवृत्त्यर्थं विशेषेण मध्यभावम् आह **धर्मः प्रोज्झितकैतवः** इति.

धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम् ॥
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किं वा परैरीश्वरः
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात् ॥२॥

(सूक्ष्म.) कर्म ज्ञानम् उपासना च इति वेदे अर्थत्रयम्. तत्र कर्मकाण्डे बालानुशासनार्थं परोक्षकथनं कैतवम्. ज्ञाने भ्रमजननात् तत्कैतवं शब्दतो अर्थतश्च भवति. तत्र शब्दतोऽपि कैतवनिषेधः **प्र**शब्दार्थः. ननु वेदप्रणिहितत्वाभावात् न भागवतोक्तस्य धर्मत्वम् इति चेद्, न, इतिहास-पुराणस्यापि वेदत्वाद् भागवतस्यापि पुराणत्वात् सामान्यधर्मसम्बन्धः. विशेषस्तु अधिकः नतु तावदेव. न च यज्ञादयएव धर्माः, आचारादीनामपि

प्रकाशः

अभयम्. **उभयत्र** इति, गायत्र्याम् अत्र च इति अर्थः ॥१॥

धर्मः प्रोज्झितेत्यत्र मध्यमभावम् इति. बीज-फलयोः अन्तरा वर्तमानं वृक्षभावम् इति अर्थः.

लेखः

शिष्टम् इति. भगवति देहेन्द्रियादिभावे **निराकृते शिष्टं** निर्दोषगुणपूर्णत्वादिज्ञानं तु तद्बलादेव सिद्ध्यति इति अर्थः ॥१॥

---

१. मध्यमभावम् इति पाठः प्रकाशे - सम्पा.

[१]धर्मत्वश्रवणात् "[२]प्रथमान्यासन्" (यजु.संहि. ३१।१६) इति लिङ्गात् च. किञ्च वैदिकएव अयं धर्मः, तत्सारोद्धारत्वात्. पुरुषाणाम् अशक्तौ[३] एव चातुर्होत्रकर्ममात्र-निष्पत्त्यर्थं वेदस्य चतुर्धा करणम्. उत्तमस्तु भागवत एव. तेन भगवद्धर्माः **धर्मशब्देन** उच्यन्ते. भक्तिजनकत्वाद् एकत्वम्. स्वातन्त्र्यात्[४] पुल्लिङ्गः. [५]श्रवणादीनामपि धर्मत्वम् अनिवेदितानाम्. भारते[६] भगवद्धर्माणामपि अतिफलवचनात् कैतवत्वम्. **प्रकर्षेण** इति, तादृशः कोऽपि धर्मो न प्रतिपादितइति प्ररोचना न अत्र कापि इति अर्थः. धर्मस्यापि स्वतःपुरुषार्थत्वाय[७] **परमत्वं**, "तदर्थेऽखिलचेष्टितम्" (भाग.पुरा. ११।३।२७) "सेवानुरक्तमनसाम् अभवोऽपि फल्गुः" (भाग.पुरा. ५।१४।४४) इति वचनात्. अन्यथा[८] हि ऐहिककफलत्वं तस्य न स्यात्[९]. अन्तर्बहिःशुद्धानाम् इति त्रैवर्णिकनिर्बन्धाभावाय एकवचनम्. (**निर्मत्सराणां!**) अन्तःशुद्धेः परमोत्कर्षो मत्सराभावः. (**सतां!**) बहिःशुद्धेः आवश्यकत्वाय विशेषणान्तरम्, "अधर्मो ह्यन्यथा भवेद्" (त.दी.नि. २।४१) इति लिङ्गात्. सत्प्रतीतिपर्यन्तम् आचारोत्कर्षः, सतामपि स्वसमानोत्कर्षासहनात्. रसोत्पत्त्यर्थम् आद्यविशेषणम्; "कृपालुरकृतद्रोहः" (भाग.पुरा. ११।११।२६) इत्यादौ मात्सर्येऽपि कार्याभावः उक्तः. परस्परं सम्मतित्वस्थापनाय बहुवचनम्[१०]. असमासो हि उभयस्वातन्त्र्याय, एकाधिकारेणापि कृतो धर्मो द्वितीयं[११] जनयति इति. अयमेव ज्ञानेऽपि अधिकारः इति मध्ये वचनम्. **अत्र** इति समाधिभाषायाम्. अव्ययप्रयोगाद् आवृत्तिः[१२] अन्योन्यनैरपेक्ष्यत्वाय, प्रकरणाभेदश्च[१३]. अवेद्यो महानुभावः

---

*१. "यथाकारी यथाचारी तथा भवति" इत्यादौ तथाश्रवणाद् इति अर्थः. *२. आचरणम् आदायैव प्राथम्योक्तेः तत्सामर्थ्याद् इति अर्थः. *३. ज्ञानदौर्बल्ये इति अर्थः. *४. 'धर्माणि' इत्येतेन अनूदितेभ्यः स्वातन्त्र्यात् पुल्लिङ्गो 'धर्म'शब्द इति अर्थः. *५. प्रह्लादेन भक्तित्वेन उक्तत्वात् कथं धर्मत्वम् अत आहुः **श्रवणादीनाम्** इत्यादि. *६. ननु भगवद्धर्माणां भारतेऽपि प्रतिपादनाद् अत्र इति अनुपपन्नम् इत्यत आहुः **भारते** इत्यादि. प्ररोचनालिङ्गात् तथा इति अर्थः. *७. अत्र व्यसनस्य स्वतःपुरुषार्थतागमकत्वम्. *८. ईदृग्वचनाभावे. *९. तथाच परलोकार्थत्वेन साधनतायां परमत्वं भज्येत इति अर्थः. १०. निर्मत्सराणां सताम् इति अर्थः -सम्पा. *११. अधिकारिणं करोति इति अर्थः. *१२. अत्र इत्यस्य आवृत्तिः इति अर्थः. *१३. आवृत्त्या बोध्यते इति अर्थः.

पुरुषे फलांशे समायाति इति[१] विशेषणलिङ्गे सर्वसन्देहनिवृत्त्यर्थं यावद्**वेद्यम्**. अनुपयुक्तनिवृत्त्यर्थं **वास्तवम्** इति. [२]अत्रापि फलत्वाय **वस्तु**पदप्रयोगः, धर्मस्य भक्तिसाधकत्वात्. अस्य फलान्तरम् आह कल्याण-दुःखाभावलक्षणं— **शिवं** शान्तिलक्षणं सुखं तत्प्रदम् आध्यात्मिकादि-**तापत्रय**निवर्तकञ्च. सर्वज्ञतायाम् एतयोः सिद्धिः स्पष्टा. अविद्यायाः शुद्धसत्त्वांशातिरिक्तायाः[३] निवृत्तेः अधिकारिणो मध्ये निरूपणाद् एकस्य उभयं भवति इति ज्ञातव्यम्. मर्यादायां वेदार्थे हि एतावद् इति पूर्वार्धनिरूपणम्. पुष्टौ पाञ्चरात्रादिमूलभूते[४] वेदे च भगवद्ध्यानादीनां निरूपणात् तेषामपि मध्यभावएव इति तदुत्कर्षम्, आर्यस्तोत्रादीनां काव्यत्वेन मध्यभावात् तदुत्कर्षञ्च आह. अर्थोत्कर्षात् स्वरूपोत्कर्षः प्रथमं वाच्यः. **श्रीमच्च** तद् **भागवत**ञ्च इति शब्दे यावन्तः शोभातिशयाः. तदुक्तं 'भागवतम्' इति सार्थकं नाम, भगवतः इदम् इति, लक्ष्मीसहितो भगवान्, भगवतः इदम् इति च. तेन प्रकृतोत्कर्षो— भगवद्रूपत्वं षड्गुणजनकं भागवतं च— फलति, मध्यभावे भागवतस्य वृक्षत्वाद् भगवतः फलात्मकत्वात्. फलत्वे तु रसात्मत्वं, "रसो वै सः" (तैत्ति.उप. २।७) इति[५] प्राकृतोत्कर्षः. परमार्थोत्कर्षः स्वरूपेण. कारणत्वे तु ऐश्वर्यादिफलकत्वेन भगवत्फलकत्वेन च. कार्यतः उत्कर्षम् आह **महामुनिकृते** इति. महाँश्चासौ मुनिश्च इति लोकतः परमार्थतः श्रेष्ठो वेदव्यासः. शब्दप्रधानत्वाद् एवं निर्णयः. अर्थएव हि परम्परायातः, "चक्रे सात्त्वतसंहिताम्" (भाग.पुरा. १।७।६) इति वचनात्. सर्वविश्वासार्थं समाधिभाषार्थं मननेन तथाकरणात् **महामुनिः** इति. अतः स्वरूपतः कारणतः कार्यतश्च उत्कर्षः उक्तः. तृतीये[६] साक्षात् प्रचरद्रूपो वेदोऽपि अस्तीति तन्मूलभूताः[७] ग्रन्थाः क्षुद्राइति तदवहेलया फलतः उत्कर्षम् आह **किं वा** इति. **किं वा अपरैः** क्षुद्रैः परैः वा भगवद्व्यतिरिक्तकृतैः न किञ्चित्. अन्यदपि प्रयोजनं न भवति इति **वा**शब्दार्थः. न हि **ईश्वरः** केनचिद् अवरोद्धुं

---

*१. इतिः हेतौ; इतिहेतोः **सर्वसन्देहनिवृत्त्यर्थं विशेषणलिङ्ग** इति अन्वयः. *२. इहलोके इति अर्थः. *३. रजस्तमो-मलिनरूपाया इति अर्थः. *४. तापनीयोपनिषद्रूप इति अर्थः. *५. इतिः हेतौ. *६. कार्यत्वेन उत्कर्षे. *७. कार्यमूलभूताः.

शक्यते. उपासनायाः फलं प्रथमं देवतासान्निध्यं **हृदि**– प्रकटस्य हि बहिर्भजनं, क्षुद्रदेवतासान्निध्यं, मन्त्राभिमानिमात्रसान्निध्यं वा– नतु ईश्वरसान्निध्यम्. न हि आराधितोऽपि ईश्वरः उपासनावशतः सन्निहितो भवति. तथा सति प्रत्यहम् अन्याधीनत्वाद् अनीश्वरत्वप्रसङ्गः. "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति" (भग.गीता १८।६१) इति स्थितिमात्रत्वेऽपि न अवरोधः कर्तुं शक्यः. अवरोधो नाम तद्धर्मैः परितो वेष्टनम्. प्राकट्यमेव न तैः; कुतो अवरोधः! **अत्र** इति वैलक्षण्यार्थं मध्ये वचः. "शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति" (भाग.पुरा. १।५।११) इत्यादिन्यायेन लीलाश्रवणेच्छा निरन्तरं विद्यमाना अन्तःकरण-धर्मत्वात् प्रकटितस्य अवरोधिका. आह तामेव. शीघ्रम् इति च उपलक्षणम्. **कृतिभिः** कुशलैः इति प्रमादो निवार्यते. सुकृतित्वं वा श्रवणेच्छायां हेतुः. तथा सति दुर्लभाधिकारो निरूपितः. **अवरुध्यते** इति देहलीदीपन्यायेन उभयत्र सम्बध्यते. **ईश्वरे**त्यादिपदचतुष्टयम् इति विमर्शः. आवृत्तिः वा वेदवत्. "प्रतिलयवाग् या" (. । ।) इत्यादौ तादृशप्रयत्नेनैव तदुच्चारणात् न दोषः. **तत्क्षणाद्** इति **सद्य** इत्यस्य ज्ञापकं; वाक्यार्थाप्रवेशात् पूर्ववाक्येन अवरुध्यते इति अर्थाद् आयाति. आवश्यकत्वाद् वा **तत्क्षणाद्** इति पुनर्वचनं न दोषः. तस्माद् भागवतधर्माः सार्वज्ञ्यं, सर्वदा, हृदि च भगवदाविर्भावः इति त्रयं मध्यभावः ॥२॥

(सुबो.) **धर्मः प्रोज्झितकैतवः** इति. धर्मो ज्ञानञ्च साधनं, भगवदाविर्भावः साध्यः[१], तदनु तत्र प्रवेशः फलम् —एतत्सर्वं भागवतादेव

प्रकाशः

कण्ठतः कल्पद्रुमत्वानुक्तेः कथं तत्प्रत्ययः इत्यतः तद् उपपादयन्ति **धर्म** इत्यादिना. **धर्मः** इति श्रवणादिरूपः. **ज्ञानम्** इति भगवज्ज्ञानम्.

लेखः

धर्मः इत्यत्र. **धर्मः** इत्यादि. भक्त्यात्मकः धर्मः प्रथमपादेन उक्तः. द्वितीये चरणे **ज्ञानरूपं साधनम्** उक्तम्. "तापत्रयोन्मूलनम्" इत्यनेन सायुज्यानन्दसूचनेन **प्रवेशात्मकं फलं**, "हृद्यवरुध्यते" इति **भगवदाविर्भावः**

---

१. साध्यम् इति ख.

भवति इति विशिष्टकल्पद्रुमत्वम्. विधिसम्बन्धो धर्मलक्षणम्. वेदश्च प्रमाणम्. सः यज्ञात्मको धर्मः. आचारोऽपि धर्मः पौराणिकः. सत्यादयोऽपि धर्माः, तपःप्रभृतयश्च, श्रवणादयश्च. तत्र यज्ञेषु पूर्वोक्तन्यायेन अतद्धेतोरपि फलसाधनतया उक्तरूपेण, स्वर्गादिपदभ्रमजननाद् वा, कापट्यं सम्भवति.

प्रकाशः

विशिष्टकल्पद्रुमत्वम् इति, कामिताधिकदानात् तथा. **वेदश्च** इति **चः** वेदाविरुद्धसमुच्चायकः. **पूर्वोक्तन्यायेन** इति सूरिमोहकत्वेन. **उक्तरूपेण**

लेखः

उक्तः इति अर्थः. **भागवतादेव** इति **एवकारेण** निगमकल्पद्रुमव्यवच्छेदः. तदेतद् आहुः **विशिष्ट** इति. एवञ्च वेदे कल्पतरुत्वोक्तावपि विशिष्टकल्पद्रुमत्वम् उक्तप्रणालिकया श्रीभागवतएव सिद्ध्यति इति भावः. एतेन आभासोक्तो मध्यभावो दृढीकृतो ज्ञेयः. **प्रमाणम्** इति. ''यजेत स्वर्गकामो'' (आप.श्रौ.सूत्र १०।२।१) इत्यादिरूपो **वेदो** धर्मे **प्रमाणम्** इति अर्थः. **सः यज्ञात्मकः** इति. **सः** वेदप्रमाणजन्य-प्रमितिविषयः इति अर्थः. **यज्ञात्मकः** इति, 'यज्' इति प्रकृत्यंशबोध्यः इति अर्थः. **आचारोऽपि** इति, ''अहरहः सन्ध्यामुपासीत'' (. । ।) इत्यादि विधिसम्बन्धाद् इति भावः. **पौराणिकः** इति, स्मार्तः इति अर्थः. **सत्यादयः** इति. ''सत्याद् न प्रमदितव्यं, कुशलाद् न प्रमदितव्यम्'' (तैत्ति.उप. ११।१) इत्यादि, ''सत्यं च ब्रह्मचर्यं च अहिंसां च यत्नेन परिरक्षेद्'' (आरुणि.उप. ३) इति, ''तस्माद् ब्राह्मणेन म्लेच्छितवै नापभाषितवै'' (द्रष्ट. पातं.महाभा. १।१।१) इत्यादि विधिसम्बन्धाद् इति भावः. ''अतप्ततनुः न तदामोश्नुते'' (तैत्ति.आर. १।११।१) इत्यादि **तपोविधिः**. ''श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च'' (भाग.पुरा. २।१।५) इत्यादि **श्रवणादिविधिः** बोध्यः. **पूर्वोक्त** इति, सूरिमोहकत्वन्यायेन इति अर्थः. **अतद्धेतोरपि** स्वर्गलोकाहेतोरपि यागस्य लोकरूप-**फल-साधन**त्वेन उक्तं यद् यागस्वरूपं तेन **यज्ञेषु** यज्ञसाधनत्व-बोधकवाक्येषु **कापट्यम्** इति अर्थः. अथ एवमादिषु वाक्यशेषाद् निर्णेतव्यम् इति चेत्, तथापि संश्लिष्ट'स्वर्ग'पदोक्त्यापि यज्ञबोधक-वेदेषु कापटच्यम् अस्त्येव इति आहुः **स्वर्गादिपद** इति. 'स्वर्ग'पदेन लोकः

आचारेऽपि ‘‘शुद्ध्यशुद्धी विधीयेते समानेष्वपि वस्तुषु’’ (भाग.पुरा. ११।२१।३) इत्यादिन्यायेन प्रवृत्तिसङ्कोचार्थं गुण-दोषौ विधीयेते इति कापट्यम्. सत्यादिष्वपि व्यवहारस्य सन्निपातत्वात् कापट्यम्. तपःप्रभृतिषु च ‘‘कः क्षेमो निजपरयोः कियान् वार्थः स्वपरद्रुहा धर्मेण’’ (भाग.पुरा. ६।१६।४२), ‘‘कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः’’ (भग.गीता १७।६) इति वाक्यात् कापट्यम्. सर्वत्र विहितनिषेधात् कापट्यप्रतीतिः. न तथा श्रवणादिषु किञ्चित् कापट्यम् अस्ति. तद्धर्मकर्तृष्वपि कापट्याभावः प्रशब्दार्थः. **प्रकर्षेण उज्झितं कैतवं** यस्मात् स श्रवणादिधर्मो (**अत्र**!) भागवते एव. **परमश्च** अयं, भगवद्धर्मत्वात्. परो मीयते इति भगवत्साक्षात्कारहेतुत्वाद् वा **परमः**.

प्रकाशः

इति विधिबोधितत्वरूपेण. **भागवत एव** इति **एवकारेण** भारतेऽपि कैतवं बोधितम्. भारते भगवद्धर्माणामपि अतिफलवचनात् कैतवम्, अत्र तु न क्वापि प्ररोचना इति सूक्ष्मटीकायां कथनात्. **कृपालुत्वे**त्यादि.

लेखः

उच्यते आहोस्विद् आत्मसुखं वा इति एकतरानिश्चयेन भ्रमजननम् इति अर्थः. **शुद्ध्यशुद्धी** इति. एकादशे एकविंशाध्याये द्रव्यशुद्धिप्रकरणे इदम्. अत्र हि ‘‘द्रव्यस्य शुद्ध्यशुद्धी च द्रव्येण वचनेन च, संस्कारेणाऽथ कालेन महत्त्वाल्पतयाऽथवा’’ (भाग.पुरा. ११।२१।१०) इत्यादिना द्रव्याणां शुद्धिः अशुद्धिश्च उक्ता. अग्रे च अमेध्यलिप्तानाम् अशुचित्वम् उक्तम्. तेषामेव पुनः संस्कारेण शुद्धिः उक्ता. एवञ्च शुचित्वाशुचित्वाभ्यां तारतम्यं वदन्नपि निषेधति ‘‘शुद्ध्यशुद्धी विधीयेते समानेष्वपि वस्तुषु, द्रव्यस्य विचिकित्सार्थं गुणदोषौ शुभाशुभौ’’ (भाग.पुरा. ११।२१।३) इति. एवञ्च अत्र विहितनिषेधात् कापट्यम् अस्ति. **सन्निपातत्वाद्** इति. ‘‘व्यवहारः सन्निपातो गुणानां स च लौकिकः’’ (भाग.पुरा. ११।२।५६) इति वाक्यात् सत्यादिव्यवहारः गुणसन्निपातनिबन्धन एव, नतु पारमार्थिकोऽपि. अत एव उक्तं निबन्धे ‘‘अथवा सर्वरूपत्वाद्’’ (त.दी.नि. १।१९) इत्यादि, व्याख्यातं च ‘‘वाङ्मात्रमेव प्रमाणम्; ‘वह्निः अनुष्णः’ इत्यादिवाक्यान्यपि प्रमाणानि’’ (तत्रैव प्रकाशे) इत्यादि. **कः क्षेम** इति.... . **यज्ञ-ब्रह्म-काल-पुरुषा**

कर्तृवैशिष्ट्यादपि धर्मोत्कर्षम् आह **निर्मत्सराणां सताम्** इति. परोत्कर्षासहनं मत्सरो दोषः, कृपालुत्वादि-धर्मसम्बन्धो गुणः. दोषाभाव-गुण-युक्ता अस्य धर्मस्य सम्बन्धिनः इति उत्कर्षः. अन्यत्र मात्सर्यादयः स्पष्टाएव. ज्ञानमपि अत्रैव इति आह **वेद्यम्** इत्यादि. **अत्र वास्तवं वस्तु वेद्यम्.** यज्ञ-ब्रह्म-काल-पुरुषा एव सर्वत्र वेद्याः उक्ताः, तेषामपि वस्तुस्वरूपो भगवान् अत्रैव वेद्यः उक्तः; तदेव हि वास्तवं रूपं वा[१] सर्वेषाम्. किञ्च स्वप्रकाशस्यापि वेद्यता अत्रैव शास्त्रे सिद्धा, न अन्यत्र. अन्यत्र वेद्यस्य अवास्तवत्वं, वस्तुनश्च अवेद्यत्वम् इति स्थितिः; अविद्यावद्विषय-त्वञ्च. भागवते तु मुक्तानाम् अधिकारः. सर्ववेद्यस्यापि भगवतः तदिच्छया प्राकट्ये वेद्यत्वम्. अन्यत्र पर्यवसितबुद्धीनामेव तादृशे अवास्तवत्वप्रतीतिः. सर्वेषां वा **वास्तवं** रूपं **वेद्यम्** इति. (**शिवदं!**) यज्ञादिषु कृतेषु ज्ञातेषु च न शान्त-परमानन्दावाप्तिः, पारलौकिकत्वाच्च तस्य फलस्य साम्प्रतं दुःखानुभवश्च. आत्मज्ञानेऽपि शान्तता परं न परमानन्दः. तस्यैव परमानन्दत्वं

प्रकाशः

एकादशे भगवता साधुलक्षणत्वेन तेषामेव उक्तत्वात् तथा इति अर्थः. **अविद्यावद्विषयत्वम्** इति **वेद्यस्य** इति अनुषज्यते. **शिवपदं** विवृण्वन्ति **यज्ञादिषु** इत्यादि. ननु अत्र व्यासैः ''मत्कृतम्'' इत्येव कुतो न उक्तम्?

लेखः

इति, कर्मठ-ज्ञानि-प्रावाहिक-पौराणिकानां यथाक्रमं वेद्याः इति अर्थः. **सर्वेषां वा वास्तवम्** इति. यज्ञ-ब्रह्म-काल-पुरुषादीनां यथावद् **रूपम्** इति अर्थो वा इति अर्थः. **पारलौकिकत्वाच्च** इति. **तस्य** शान्त-परमानन्दरूपस्य **फलस्य पारलौकिकत्वात्**. यज्ञादिफलस्य तु लोक-पशु-पुत्रादिरूपत्वेन कल्पनात् न पारलौकिकत्वम् इति न यज्ञादिना शान्तादिप्राप्तिः इति भावः. **साम्प्रतम्** इति. इदानीन्तनानां ज्ञानदुर्बलानाम् अन्यथाकरणेन द्रव्यादिव्ययजनित-वैफल्यजनित-दुःखानुभवोऽपि भवति इति अर्थः. **आत्मज्ञानेऽपि** इति, शास्त्रीयात्मज्ञानेऽपि इति अर्थः. **शास्त्रैः** इति. ''ज्ञाने प्रयासमुदपास्य''

---

१. वा इति लेखे एव अधिकम् -सम्पा.

शास्त्रैः विप्रतिषिद्धम्. भगवत्साक्षात्कारे तु, अन्ततः सायुज्ये वा, शान्त-परमानन्दः. (**सद्यो**!) तत्क्षणमेव **तापत्रयस्य उन्मूलनम्**. तस्माद् अत्रैव फलं [१]साधनञ्च इति ज्ञानोत्कर्षः.

शब्दरसाभिज्ञानामपि इदमेव उत्कृष्टम् इति आह **श्रीमति** लक्ष्मीयुक्ते **भागवते** दशरसयुक्त इति यावत्. काव्येषु अपि एतच्छायारूपम् अस्ति, तथापि निन्दितत्वं कर्तृदोषात्. तद् अत्र शङ्कितमपि न इति आह **महामुनिकृते** इति, वेदव्यासकृते इति अर्थः. समाधौ अनुभूय कृतत्वात् समाधिभाषार्थं महामुनिकृतम् इति उक्तम्. असाधारणम् उपासनाकाण्डोत्कर्षम् आह. मन्त्रशास्त्रम् उपासनाकाण्डः पञ्चरात्रञ्च. तत्र मन्त्रशास्त्रे देवता स्वाधीना भवति परं न ईश्वररूपा. पञ्चरात्रेऽपि मन्त्राधिष्ठानस्वरूपेणैव स्वाधीनता, तथा स्थानाधिष्ठानेषु अपि. (**ईश्वरः**!) साक्षात्पुराणपुरुषस्तु **अत्रैव हृदि** अवरुध्यः. अतएव **परैः** भगवद्व्यतिरिक्तप्रतिपादितैः भेदेन प्रतिपादितैः **वा किं** न किञ्चिद् इति अर्थः. **वा**शब्दस्तु अनादरे. अत्र तु **ईश्वरः** कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुं समर्थः ; अदृष्टकालादिबाधकं परिहृत्य कर्तुम्, अदृष्टादिकृतं दूरीकर्तुञ्च, भ्रान्तेषु अपि भक्तेषु अन्यथाकर्तुं च समर्थः **ईश्वरः**. **सद्य** इति भागवतश्रवणमात्रेण हृदयारूढो भवति विचार-चिन्तन-व्यतिरेकेणापि. अत्र प्रतिपादकानां महापुरुषत्वात् तद्वाक्यं

प्रकाशः

अतः आहुः **समाधौ** इत्यादि. तथाच भगवत्प्रेरणया कृतत्वेन स्वस्य अस्वातन्त्र्यज्ञापनाय तथोक्तिः इति भावः. **उपासनाकाण्डोत्कर्षम्** इत्यत्र पञ्चमीतत्पुरुषः. **स्थानाधिष्ठानेषु** इति. मथुरादिष्वपि [२]तत्त्वाविष्टत्वादि-रूपेणैव स्वाधीनता इति अर्थः. **प्रतिपादकानाम्** इति ब्रह्म-नारदादीनाम्.

लेखः

(भाग.पुरा. १०।प्र. ३(=१४)।३) इत्यादिशास्त्रैः केवलशुष्कज्ञानस्य विप्रति-षिद्धत्वाद् इति अर्थः. **साधनं फलम्** इत्यादि, भक्तिः साधनं साक्षात्कारः फलम् इति अर्थः. **अत्र प्रतिपादकानाम्** इति, अत्र श्रीभागवते भगवत्स्वरूप-प्रतिपादकानां व्यासादीनाम् इति अर्थः ॥२॥

१. साधनं फलम् इति पाठः लेखे - सम्पा. २. तत्त्वादिरूपेण इति पाठः.

दुर्बोधम् इति बोधनप्रकारम् आह **कृतिभिः शुश्रूषुभिः** इति. बुद्धेः कौशलं कृतित्वम्[१] उक्तबोधोपयोगि, शुश्रूषा तु कथनोपयोगिनी; तदुभयसम्पत्तौ **तत्क्षणादेव अवरुध्यते** इति अर्थः. अथवा भागवतस्य उत्कर्षम् आह **किं वा परैः** इति. भागवतस्य उत्कर्षहेतुभिः अन्यैः उक्तैः अलम्. **वा** इति अनादरे— अर्थतः शब्दतः उत्कर्षप्रकाराः बहवः सन्त्येव तथापि अयं महान् उत्कर्षः यद् भगवानेव **सद्यो हृदि अवरुध्यते.** कैः? **अत्र शुश्रूषुभिः** श्रवणेच्छुभिः. सा श्रवणेच्छा महाभाग्यैरेव इति आह **कृतिभिः** कुशलैः. भाषात्रयविरोधपरिहारेण पद-वाक्ययोः भगवत्परता हि ज्ञातव्या, अन्यथा श्रुतमपि अश्रुतं भवति. **तत्क्षणाद्** इति तदानीमेव भगवदर्थं प्रयत्नदर्शनात्. तस्मात् सर्वोत्कृष्टं भागवतम् इति वस्तुनिर्देशः ॥२॥

फलरूपताम् आह.

(सूक्ष्म.) फलभावस्वरूपं वदन् स्वभक्तान् उपदिशति **निगमकल्पतरोः** इति, फले हि सर्वं स्पष्टं काव्यवद् इति सूचयितुम् ॥३॥ इति श्रीसूक्ष्मटीका[२] ॥

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखाद् अमृतद्रवसंयुतम् ॥
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥३॥

(सुबो.) **निगमकल्पतरोः** इति. काव्यवद् रूपकनिरूपणे स्पष्टो अर्थो भवति यद्यपि तथापि भागवते तथा कथनम् अनुचितं, सर्ववेदसारोद्धारत्वात्. रूपकादिकन्तु बुद्धिपरिकल्पितम् अतो वाच्यार्थएव वक्तव्यः. तत्र प्रमेयस्य

प्रकाशः

वस्तुनिर्देशः इति, मङ्गलरूपः इति अर्थः ॥२॥

निगमकल्पतरोः इत्यत्र. रूपकादरणे 'निगमकल्पतरु' पदे उपमितसमासाद् अन्यत्र च सादृश्याद् गौणीप्रसक्त्या कैतवे जाते अन्यत्रापि तथा शङ्का स्याद् इति तन्निवृत्तये अत्र उक्तस्य अर्थस्य वाच्यत्वम् उपपादयितुं रूपकानादरे हेतुम् आहुः **काव्यवद्** इत्यादिना. **बुद्धिपरिकल्पितम्** इति. व्याकरणे व्युत्पत्तिपक्षवत् पुराणादिषु लोकसिद्धानुवादेऽपि शब्दार्थयोः सहजसम्बन्धाभावेन

---

१. कृत्यनुकूलत्वे तात्पर्यम् - सम्पा.

२. श्रीमद्गोस्वामिश्रीनृसिंहलालात्मज-श्रीगोवर्धनलाल-वितीर्ण-आदर्शग्रन्थो अत्र समाप्तः.

अप्रसिद्धावपि एतद्वाक्यान्यथानुपपत्त्या तादृशं प्रमेयम् अस्ति इति बोद्धव्यम्. तत्र व्यापिवैकुण्ठे अक्षरात्मके प्रणवबीजो वेदतरुः अस्ति. ततो व्यासाख्य-भगवदवतारे, आदिनारायणावतारे वा, सर्वजनाह्लादनाय मूर्तीभूतं देवतात्मकं तस्य फलम् आनीतं; तद् अत्र निरूप्यते मध्वादिवत्. तत्र ''असौ वा आदित्यो देवमधु'' (छान्दो.उप. ३।१।१) इति स्वर्गस्थानां

प्रकाशः

तथा इति अर्थः. प्रमेयस्वरूपम् आहुः **तत्र व्यापी**त्यादि. ननु शब्दस्य मूर्तिभूतत्वं रसात्मकत्वञ्च अप्रयोजकम् इति आशङ्कायां वेदात्मकस्य शब्दस्य तथात्वं स्पष्टयन्ति **तत्र** इत्यादि. तथाच यथा ''सैषा त्रय्येव विद्या तपति'' (शतपथ.ब्रा. १०।५।२।७) इति श्रुत्या वेदात्मकत्वेन निश्चितस्यापि आदित्यस्य मधुविद्यायां मूर्तिभूतत्वं रसात्मकत्वञ्च सिद्धं तथा इहापि इति अर्थः. नच ''कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः'' (ब्रह्मसूत्र. १।४।१०) इति सूत्रे व्यासपादैः मधुविद्यायां गौणी प्रतिपादिता इति तद्विरोधात् कथम् अत्र वाच्यार्थप्रतिपत्तिः इति वाच्यम्, ''वैषम्य-नैर्घृण्य''(ब्रह्मसूत्र २।१।३४) सूत्रस्य लोकबुद्ध्यनुसारित्ववद् अस्य वादिबुद्ध्यनुसारित्वात्. पञ्चशिखप्रणीत-साङ्ख्यसमासवृत्तौ ''सूर्यस्य चक्षुरधिदैवतत्वेन सिद्धस्य श्रुत्युक्त-मधुत्वासम्भवे तेनापि तत्र गौण्येव आदरणीया इति तद्वद् 'अजा'शब्देऽपि गौणी आदरणीया'' इति बोधनार्थत्वात्. अन्यथा ईक्षत्यादिषु (ब्रह्मसूत्र १।१।५) अपि गौणीप्रसक्त्या सिद्धान्तभङ्गप्रसङ्गात्, ''श्रुतेस्तु

लेखः

निगम इत्यत्र. **मध्वादिवद्** इति. बृहदारण्यके मधुब्राह्मणे आदित्यस्य तेजोरूपस्यापि मधुत्वम् उक्तं; तच्च अनेकविधोपकारकत्वेन आदित्यस्य देवतामधुरूपत्वम् उच्यमानं लोकोत्तरत्वमेव अवगमयति. तथा इदमपि फलत्वेन अनेकविधोपकारकत्वेन अलौकिकमेव **फलम् आनीतम्** इति अर्थः. यद् वा. ननु शब्दस्य अमूर्तत्वादि-विरुद्धधर्मकत्वात् कथं **मूर्तीभूतं देवतात्मकम्** इत्याद्युक्तरूपता सङ्गच्छताम् इत्यतः आहुः **मध्वादिवद्** इति. तथाच लोके तेजोरूपत्वेन प्रकटस्यापि सूर्यस्य देवानां मधुरूपत्वमेव श्रुतिबलाद् अङ्गीक्रियते तथा अत्रापि वाक्यबलादेव तथा अङ्गीकर्तव्यम् इति अर्थः.

सूर्यो मधु, यथा अस्माकं सारघम्. तथा स्वर्गे कल्पवृक्षवद् वैकुण्ठेऽपि वेदैकसमधिगम्ये शब्दरसात्मकः कल्पवृक्षः. नतु लक्षणा. वेदस्य उत्कर्षः आर्थिकः. नितरां गमयति ब्रह्म बोधयति इति परमोपनिषत् **निगमः** स एव **कल्पतरुः** सर्वफलदानसमर्थः. कल्पः सच असौ तरुः च इति कल्पतरुः. निगमएव कल्पतरुः. अतिपक्वं हि **फलं गलति** स्वतएव पतति. आगमनसमये पतितं शकुनमिव फलं समानीतम् इति भावः. **शुको** व्यासपुत्रो मुक्तत्वाद् अत्र अधिकारी. पिता हि उत्कृष्टं पुत्रमुखे प्रयच्छति,

---

प्रकाशः

शब्दमूलत्वाद्'' (ब्रह्मसूत्र २।१।२७) इत्यादिसूत्र-वैयर्थ्यापातात्. अतो ''वैषम्य''सूत्रस्य तथात्वे ''आत्मकृति'' (ब्रह्मसूत्र १।४।२६) सूत्रवद् एतस्य [१]अतथात्वे ईक्षत्यादिसूत्राणामेव गमकत्वात् न तद्विरोधः. नापि भाष्यविरोधः, ''कल्पनोपदेशाच्च'' (ब्रह्मसूत्र १।४।१०) इति **च**कारस्य परोक्षवादबोधकत्वेन व्याख्याततया अस्यैव अर्थस्य आदरणाद् इति. अतः परं प्रत्यक्षविरोधो अवशिष्यते, तं परिहर्तुम् आहुः **तथा** इत्यादि. तथाच विरोधात् लक्षणाङ्गीकारे स्वाप्रत्यक्षमात्रे तथापत्त्या शक्त्युच्छेदे शास्त्रमेव विप्लूयेत इति अन्यथानुपपत्त्या अत्र शक्तिरेव आदरणीया इति अर्थः. ननु श्रीभागवतस्य वेदफलत्वम् उक्तं– तत्र फलं द्विविधं: जघन्यं शिरस्यञ्च, आद्यं पनसादि द्वितीयम् आम्रादि– वेदे च काण्डद्वयं, तत्र पूर्वकाण्डफलत्वे ''त्रैगुण्यविषयाः वेदाः'' (भग.गीता २।४५) इति अस्यापि जघन्यत्वं स्याद् इति तन्निवारणाय **निगम**पदस्य अर्थम् आहुः **वेदस्य** इत्यादि. **परमोपनिषद्** इत्यनेन बृहज्जाबालादिरूपा निवार्यते, तत्र भस्मग्रहण-विध्यादिनिरूपणेन नितरां ब्रह्मगमकत्वाभावाद् इति. शिरस्यस्यापि फलस्य अपक्वत्वे तथारसाभावाद् अस्यापि तथात्वे एतत्प्रतिपादितार्थस्यापि उत्कृष्टत्वं न स्याद् इति तदभावाय **गलित**पदतात्पर्यम् आहुः **अति** इत्यादि. अनधिकारिणी वृक इव देवकार्यार्थं बलौ इव भगवद्वाक्यत्वाद् छलवादोऽपि सम्भवति इति तदभावाय आहुः **शुक** इत्यादि **पिता हि** इत्यादि च. **अमृतद्रव** इत्यादेः तात्पर्यम् आहुः

---

१. तथात्वे इति मुद्रितपाठः. कि.पाठे तु एवम् -सम्पा.

फलं च विशेषतः. तच्च रसात्मकं निर्झरैः जलमिव सर्वेन्द्रियैः सम्बद्धं प्रेमरसं जनयति. तद् एकीभूतं हृदये ह्रद इव तिष्ठति. तत्र भागवतं संश्लिष्टं सद् भक्तिरसालोडितं मुखाद् निस्सरति इति शुकमुखं प्राप्य अमृतं = मोक्षमपि द्रावयति = शिथिलं करोति इति भक्तिरसो **अमृतद्रवः** तेन **संयुतम्** —— अनेन अन्यरसाद् अपि अधिकरस उक्तः. यद्यपि वृक्षोत्कर्षएव तादृशफलजननाद् आयाति तथापि उत्कर्षहेतुः फलजननम् इति प्रकृतोत्कर्षः. अथवा शब्दात्मके वृक्षे शब्दात्मकमेव **फलं** सर्ववेदार्थविचारे भगवद्धृदयएव फलितं निर्द्धारितार्थप्रतिपादक-शब्दराशिः.

शुद्धाश्च सुखिनश्चैव[१] ब्रह्मविद्याविशारदाः[२] ॥
भगवत्सेवने योग्या नान्य इत्यर्थतः फलम् ॥(१२)॥

प्रकाशः

तच्च इत्यादि. **तच्च** इति श्रीभागवतम्. **चः** अप्यर्थः प्रेमसमुच्चायकः. **तदेकीभूतम्** इत्यत्र **तत्**पदेन प्रेम बोध्यम्. अयम् अर्थः सञ्जातभक्तीनामेव हृदि आरोहति इति तदितरेषाम् अर्थे "भगवान् ब्रह्म कात्स्न्र्येन" (भाग.पुरा. २।२।३४) इति वक्ष्यमाणम् अनुसन्धाय पक्षान्तरम् आहुः **अथवा** इत्यादि.

लेखः

तच्च रसात्मकम् इति. **रसः** भक्तिरसः **आत्मनि** यस्य तादृशं हि श्रीमद्भागवतं फलम् अतः हेतोः यथा **निर्झरैः** सम्बद्धं **जलं** प्रवाहपूरं **जनयति** तथा इदमपि मुखद्वारा **सर्वेन्द्रियैः सम्बद्धं** सत् **प्रेमरसं जनयति** इति अर्थः. **तद्** भागवतं प्रवृद्धप्रेमपूरेण **हृदये एकीभूतं** सद् **ह्रद इव** भवति. **तत्र** भक्तिरसे **भागवतं संश्लिष्टं सद्** एव **भक्तिरसालोडितं सद्** एव **मुखान्निस्सरति,** नतु पार्थक्येन इति तथा इति अर्थः. **संश्लिष्टम्** इत्यस्यैव व्याख्यानं **भक्तिरसालोडितं सद्** इति. **शुकमुखाद् अमृतद्रवसंयुतम्** इति कथनेन श्रीशुके एव भक्तिरसः प्रतिफलितो, न अन्यत्र इति उक्तम्. तेन सूचितम् अर्थं कारिकया प्राहुः **शुद्धा** इति. तथाच शुद्धत्वादिगुणविशिष्टे

---

१. सुखिनश्चैवम् इति ख. २. "शुद्धाश्चेति निर्ग्रन्थाः, सुखिनः आत्मरामाः, ब्रह्मविद्याविशारदा इति मुनयः" इति भा.पाठीया पार्श्वटिप्पणी टिप्पणीमातृकान्तरानुसारिणी - सम्पा.

अयम् अर्थो गोप्योऽपि भक्तचिन्तया परवशस्य भगवतो हृदयाद् आगतम् इति **गलितम्**. अन्ये भगवद्रूपाः अवताराः अधिकारिणो वा अतो अत्यन्तविरक्ते शुके ग्रन्थार्थः फलितः अतः तद्धृदये भक्तिरसः स्थितः. भागवतञ्च स्थितं मुखात् निर्गमनसमये समानाधिकरण-भक्त्या सह निर्गच्छति इति तथा इति अर्थः. सम्यग्योगो हि यथाकथञ्चित् श्रवणेऽपि अधिकारिहृदये भक्त्यावेशात्. **पिबत** इति उपदेशः, ''स्वाध्यायो अध्येतव्यः''(तैत्ति.आर. २।१५) इतिवत्. बहिःस्थितस्य इन्द्रियादिद्वारा अन्तःप्रवेशनं पानं; तद् द्रवद्रव्यस्य इति **रसम्** इति उक्तम्. **भागवतम्** इति ग्रन्थनाम, भगवत्सम्बद्धम् इति वा. शब्दश्रवणेन अर्थज्ञानाद् रसास्वादनम् अतिरिक्तमिव भवति, सीत्कारेण तस्य पानात्. तथा भागवतं पातव्यं नतु श्रवणमात्रं कर्तव्यम् इति अर्थः. त्वगस्थ्यादिकन्तु नास्ति. निर्बीजदाडिमबीजवत् रसात्मकानि अपि कानिचित् फलानि सन्ति. यथा पृथिव्यादयो रसाः उद्गीथान्ताः

प्रकाशः

तादृशशब्दराशि-प्रतिपाद्यार्थरूपं फलम् आहुः **शुद्धा** इत्यादि. तथाच एवम् अर्थे बुद्धे मन्दानामपि प्रवृत्तिः भवति इति अर्थः. तादृश-शब्दप्रकाशे हेतुम् आहुः **अयम्** इत्यादि. फलप्राप्तौ निदर्शनम् आहुः **अन्ये** इत्यादि. संयुतत्वेऽपि निदर्शनम् आहुः **सम्यग्** इत्यादि. **इतिवद्** इति, आवश्यकत्वाय इति अर्थः. फलस्य रसात्मकत्वे प्रत्यक्षविरोधपरिहाराय दृष्टान्तम् आहुः **निर्बीजेत्यादि. कानिचिद्** इति द्राक्षाविशेष-पीलू-तूदादीनि. ननु तथापि

लेखः

श्रीशुके इदं फलितम् अतः तादृशा एव **भगवत्सेवने** भगवद्भक्तौ अधिकारिण इति भावः. **इत्यर्थतः फलम्** इति. तादृशप्रमेयस्य अधिकारिणः उक्तधर्माः महापुरुषा एव **इति अर्थतो**ऽपि श्रीभागवतं **फलम्** एव इति सिद्धम् इति अर्थः. **यथा पृथिव्यादयो रसाः** इति. ते इमे छान्दोग्यारम्भे[१] उक्ता. एवञ्च तत्र यथा तत्त्वेन अप्रसिद्धानामपि पृथिव्यादीनां रसत्वोक्तिः तथा अत्रापि इति अर्थः ॥३॥

---

१. द्रष्ट. छान्दो.उप. १।१।१ -सम्पा.

तथा रसात्मकस्य भगवतो भागवतं रसः. तत् स्पर्शनमात्रयोग्यं न भवति किन्तु पानयोग्यम् इति अर्थः. अस्य रसस्य ब्रह्मताम् आह **आलयम्** इति, सर्वाधारभूतम्. **आसमन्ताद् लयो** यस्माद् इति सर्वप्रपञ्चलयहेतुभूतं वा. **आ** ईषद् **लयो** मोक्षो यस्माद् इति वा, मोक्षेच्छां परित्यज्य तत् पातव्यम् इति. **मुहुः** इति व्यासस्य परवशत्वम् आपादयति, अन्यथा रसिकाः स्वयमेव पास्यन्ति इति व्यर्थं वचनं स्यात्. मुहुः पानं वा विधीयते रसज्ञानाय, प्राकृतकर्णैः आपाततः तद्रसास्वादनं न भवति इति. वक्ष्यति च "परस्परं त्वद्गुणवादसीधु-पीयूषनिर्यापितदेहधर्मा" (भाग.पुरा. ३।२१।१७) इति. **अहो रसिका** इति आश्चर्येण सम्बोधनं, भवतामेव अर्थे अयं रसः समानीत इति. (**भुवि!**) भूमौ **भावुकाः** भविष्णवः भावनाचतुरा वा. विस्मृतेऽपि रसे भावनया रसाभिनिवेशं कुर्वन्ति इति मुहुः पानं सम्भवति. भुवि भाग्यवतां च बहुवचनेन एकस्य रसाभिनिवेशो न भवति इति सूचितम् ॥३॥

एवं बीज-मध्यभाव-फलरूपताम् उक्त्वा श्रोतॄन् अभिमुखीकृत्य शास्त्रम् आरभते **नैमिशे** इति. अत्र भागवतस्य परम्परागताः सप्तार्थाः कथार्थतो अतिरिक्ता भवन्ति अतो न अन्यटीकासु ते निरूप्यन्ते. ते हि निबन्धे "शास्त्रे स्कन्धे प्रकरणेऽध्याये वाक्ये पदेऽक्षरे, एकार्थं सप्तधा जानन् अविरोधेन मुच्यते" (त.दी.नि. ३।१।२) इति निरूपिताः. तत्र आनन्दस्य हरेः लीला शास्त्रार्थः. भक्तिजनिका हि संहिता. सृष्ट्यादीनां लीलात्वे

प्रकाशः

पेयत्वन्तु दुर्घटम् इत्यत आहुः **यथा** इत्यादि. **भावुका भविष्णव** इति. "लषपतपदस्थाभूवृष" (पाणि.सू. ३।२।१५४) इत्यनेन ताच्छील्याद्यर्थे भुव उकञ्. "भुवश्च" (पाणि.सू. ४।१।४७) इत्यत्र चकारेण भाषायाः समुच्चये इष्णुच्. "भूष्णुर्भविष्णुर्भविता" (अम.को. ३।२३) इति अमरः. तथाच भवनसाधुकारिणः इति अर्थः. णिजन्ताद् एतम् अङ्गीकृत्य पक्षान्तरम् आहुः **भावना** इत्यादि. भाग्यवाचि-'भावुक'शब्दाद् अर्शाद्यचि कृतेऽपि एवं प्रयोगो भवति इति तमपि अर्थं सङ्गृहणन्ति **भाग्यवताम्** इति ॥३॥

ज्ञाते भक्तिः भवति, न कार्यत्वे. कौतुकाधिष्ठितेन अनायासत्वेन क्रियमाणं कर्म लीला. तदा हि महत्त्वं निर्दुष्टत्वञ्च भवति. सा च लीला मुख्या दशविधा "अत्र सर्गो विसर्गश्च"(भाग.पुरा. २।१०।१) इति श्लोकेन निरूपिता. सा च तृतीयादि-दशस्कन्धैः निरूप्या. श्रोतृ-वक्तृलक्षणं प्रथमे, अङ्गनिरूपणं द्वितीये, अतो द्वे गौणलीले. एवं द्वादश. तत्र प्रथमे स्कन्धे अधिकारिलीला[१] निरूप्यते, हीन-मध्यमोत्तमत्वतो भागवतार्थज्ञाने प्रकारबोधनाय. नहि सर्वैः एकविधं भागवतं बुध्यते. सूत-शौनकाभ्यां बुद्धम् एकविधं, तथा नारद-व्यासाभ्याम् अपरविधं, तथा शुक-परीक्षिद्भ्याम् उत्कृष्टम् —एवं त्रैविध्यनिरूपणेन यथाधिकारम् अर्थावबोधो भविष्यति इति फलिष्यति. तत्र प्रथमं हीनाधिकारः उच्यते अध्यायत्रयेण प्रश्नोत्तराभ्याम्, प्रश्न एकविधः उत्तरं द्विविधम् इति. तत्र श्लोकद्वयेन प्रश्नसङ्गतिम् आह स्वरूप(१)-सङ्गति(२)भेदेन. तत्र स्वरूपम्(१) आह.

प्रकाशः

नैमिष इत्यत्र. **न कार्यत्वे** इति. अतएव उपनिषदादिभ्यो न भक्तिः, तेषु सृष्ट्यादीनां कार्यत्वेनैव श्रावणाद् इति भावः. **अनायासत्वेन** इति. न विद्यते आयासो यस्य इति अनायासः, तत्त्वेन इति अर्थः. **स्वरूपसङ्गतिभेदेन** इति, प्रश्नकर्तृस्वरूप-वक्तृसङ्गत्योः कथनेन इति अर्थः. **शीर्यते** इति अत्र इति शेषः. **प्रजापतीत्यादि**. तदुक्तं वायवीये "भ्रमतोऽधर्मचक्रस्य यत्र नेमिरशीर्यत, कर्मणा तेन विख्यातं नैमिशं मुनिपूजितम्" (वायुपुरा. १।२।७)

लेखः

नैमिष इत्यत्र आभासे. अध्यायत्रयेण कथने गमकम् आहुः **प्रश्नः एकविधः** इति **उत्तरं द्विविधमिति** च इति. सर्वस्यापि प्रश्नस्य भगवद्विषयकत्वेन एकत्वात् तथा, उत्तरन्तु सामान्य-विशेषभेदेन द्विविधम् इति अध्यायद्वयेन तदुक्तिः इति अर्थः. **प्रश्नसङ्गतिम्** इति, केन प्रसङ्गेन प्रश्नो जातः इति तत्सङ्गतिम् **आह** इति अर्थः. तत्र प्रथमे **प्रश्नस्वरूपम्** उद्देशतः कथनात्मकम् अधिकारि**स्वरूपं** च उच्यते, द्वितीये प्रसङ्गरूपा **सङ्गतिः**

---

१. अधिकारलीलेति घ.

नैमिशेऽनिमिषक्षेत्रे ऋषयः शौनकादयः ॥
सत्रं स्वर्गाय लोकाय सहस्रसममासत ॥४॥

नैमिशे इति. पुण्यतीर्थे पुण्यक्षेत्रे यज्ञादिभिः शुद्धाः यज्ञरूप-भगवदाविष्टा भगवत्प्रश्ने प्रथमाधिकारिणः स्वरूपतो अधिकारिणः. नेमिः शीर्यते इति नेमिशं, नेमिशमेव **नैमिशम्**. प्रजापतिसृष्टस्य मनोमयचक्रस्य ऋषीणां तपःस्थानज्ञापनार्थं "यत्राऽस्य शीर्यते नेमिः" (शिवपुरा. ७।१।३।५३) इति पुण्याधिक्यम् उक्तम्. **नैमिष** इति पाठे यत्र निमिषमात्रेण दानवबलं निहतम्[१] इति नैमिषं = सर्वदोषनिवारकम्. तस्य क्षेत्रस्य विष्णुः देवता इति आह **अनिमिषक्षेत्रे** इति. अनिमिषो विष्णुः, तस्य क्षेत्रे दोषाभाव-गुणौ उक्तौ. **ऋषयो** मन्त्रद्रष्टारः, **शौनकादयः** इति प्रसिद्धाः ऋषिपरम्परायाम्. **सत्रं सहस्रसमम्** इति नाम यस्य, सहस्रसंवत्सरसाध्यम्. यत्र यजमानाएव सर्वे ऋत्विक्कर्म कुर्वन्ति तत् सत्रम्. तत्र पूर्वं सहस्रसंवत्सरे सत्रे तत्र अलौकिक-भगवदाविर्भावो दृष्टः "विश्वसृजः प्रथमाः सत्रमासते" (तैत्ति.ब्रा. ३।१२।९।७) इत्यादौ. तथा अत्रापि सहस्रसमे आरब्धे भागवतरूपस्य

प्रकाशः

इति. **निमिषमात्रेण** इत्यादि. तद् उक्तं वाराहे भगवता गौरमुख-मुनिं प्रति "उवाच निमिषेणेदं निहितं दानवं बलम्, अरण्येऽस्मिन् ततस्त्वेतद् नैमिषारण्यसञ्ज्ञितं भविष्यति" (वराहपुरा. ११।१०८) इत्यादिना. **सहस्र-संवत्सर[२]साध्यम्** इति. एतेन अस्मिन् सत्रे सहस्रदिनसाध्यत्वं वदन्तो भाट्टाः निरस्ताः वेदितव्याः, श्रीबलदेव-तीर्थयात्रायां "यावत्सत्रं समाप्यते" (भाग.पुरा. १०।७५।३०) इति वाक्ये सत्रे एव सूतवधात् तस्यैव इदानीमपि अनुवर्तमानत्वात्. नच "कलिमागतमाज्ञाय" (भाग.पुरा. १।१।२१) इति वाक्ये आरम्भस्यैव[३] बोधनाद् इदं सत्रम् अन्यद् एव इति वाच्यं, तथापि परीक्षिद्राजस्य त्रिवर्षत्वाभावाद् युष्मदभिमतासिद्धेः, "त्रिवृतः संवत्सरा" (आप.श्रौ.सूत्र २३।११।११) इत्यादौ लक्षणां विनैव निर्वाहात् च इति.

१. निहितम् इति मुद्रितपाठः. भा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

२. दिन. ३. आरम्भस्य इव इति मुद्रितपाठः. कि.पाठे तु एवम् - सम्पा.

भगवतः आविर्भावो भविष्यति इति ज्ञात्वा ऋषीणां सत्रारम्भः इति अर्थः. **स्वर्गाय** भगवदानन्दांशभूतः स्वर्गः (**लोकाय!**) लोकात्मकस्तु महान् अंशः. स हि अत्र फलम्. नतु स्वर्गीयते इति स्वर्गायो विष्णुः, सच असौ लोकः च इति, "सुवर्गाय वा एतानि लोकानि हूयन्ते" (तैत्ति.संहि. ६।६।६।१) इति श्रुतिविरोधात्. स च सुखविशेषशरीरः, देव (/ श ?) विशेषो लोकरूपः, "देवेभ्यो वै स्वर्गो लोकस्तिरोऽभवद्" (तैत्ति.ब्रा. ३।१२।२।१) इत्यत्र तथा निर्णयात्. सत्रे सर्वत्र **आसतिः** एव कृतिवाची. एवं तेषां स्वरूपोत्कर्षः[१] उक्तः ॥४॥

सङ्गतिम्[२] आह.

त एकदा तु मुनयः प्रातर्हुतहुताग्नयः ॥
सत्कृतं सूतमासीनं पप्रच्छुरिदमादरात् ॥५॥

त एकदा इति. उत्सर्गकालो अयं, दीक्षाकालो वा.

प्रकाशः

तत्र भगवदाविर्भावस्तु तृतीयस्कन्धीये सत्रे "पुरा विश्वसृजां वसूनाम्" (भाग.पुरा. ४।२।४) इति श्लोके सुबोधिन्यां प्रदर्शितः. **भगवदानन्दांशभूतः** इति, "एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति" (बृहदा.उप. ४।३।३२) इति श्रुतेः. श्रीधरमतं दूषयन्ति **नतु स्वर्गीयते**त्यादि. लोकात्मकस्य स्वरूपम् आहुः **स चे**त्यादि. तेन गृहविमानात्मके विद्यमानेऽपि यदभावे तत्र न सुखं तादृशो देवविशेषो लोकाधिदैविकः इति अर्थः ॥४॥

लेखः

उच्यते इति ज्ञेयम्. **भगवदानन्दांशः** इति, अक्षरानन्दांशः इति अर्थः, तस्यापि लोकत्वेन तदंशत्वस्यैव औचित्याद् इति. **स हि** इति, लोकात्मकः इति अर्थः. तत्स्वरूपम् आहुः **स च** इति. **सुखविशेष**विशिष्ट-शरीरभोग्यत्वात् **शरीर** एव इति अर्थः ॥४॥

ते एकदा इत्यत्र. **उत्सर्ग** इति, कर्माऽनध्यायकालः चातुर्मास्यादिः

---

१. स्वरूपतोत्कर्ष इति क-घ.

नित्य-नैमित्तिकसर्वहोमान् कृत्वा भगवत्कथाश्रवणार्थे सावकाशाः जाताः इति आह **प्रातर्हुतहुताग्नय** इति. **एकदा** इति हरिगाथोपगायनकालः उक्तः. तदैव सूतादीनाम् आगमनम्. **मुनय** इति अलौकिकपरिज्ञानम् उक्तं येन सूतपरिज्ञानं भवति. तत्प्रसङ्गे अन्येषां प्रश्नव्यावृत्त्यर्थं **ते** इति. प्रातरेव हुताएव अग्नयः पुनः हुता येषां ते **प्रातर्हुतहुताग्नयः**. नच वेदविरोधः शङ्कनीयः, तुशब्देन पक्षान्तरस्वीकारात्. तथा करणे मननं हेतुः, कालगुणविशेष-परिज्ञानात्. अतएव अग्रे वक्ष्यति ‘‘कर्मण्यस्मिन्ननाश्वासे’’ (भाग.पुरा. १।१८।११) इति. (**सत्कृतं!**) सत्कारः सम्भाषणादिना ब्रह्मासनदानेन वा. **सूतः** पौराणिकः उग्रश्रवाः, ब्राह्मणानां सदसि अन्येषाम् अनुपवेशनात्. उत्थितस्य च पुनः वैयग्र्यात् कथान्यूनभावाच्च तन्निराकरणाय

प्रकाशः

ते एकदा इत्यत्र. ननु ‘‘नाडिकाः षट्पञ्चाशत् प्रातः’’ (. । ।) इति वाक्ये यदा षट् पञ्चाशत् च नाडिकाः व्यतियन्ति ततः प्रातः; तत्र होमो वेदोदित-सूर्योदयानन्तरहोमं विरुणद्धि इति, तत्र आहुः **न च** इत्यादि. **पक्षान्तरस्वीकाराद्** इति, ‘‘पूर्वात् परबलीयस्त्व’’न्यायेन वैष्णवपक्षस्वीकाराद् इति अर्थः. ‘‘ॐ इति प्रतिपद्यन्ते’’ (शौनकोप. १) इति श्रुतौ स्फुटम् इदम् इति ‘‘आदरादलोपा’’ (ब्रह्मसूत्र ३।३।४०)ऽधिकरणाद् ज्ञेयम्. तद् उपपादयन्ति **तथा** इत्यादिना. **अन्येषाम्** इति. क्षत्रधर्मोपजीवित्व-वैद्यत्वरूप-मध्यमजघन्यवृत्ति-सूतानाम्. सूतोत्पत्ति-वृत्ती तु वायवीये उक्ते ‘‘वैन्यस्य हि पृथोर्यज्ञे वर्तमाने महात्मनः, सूत्यायामभवत् सूतः प्रथमं वर्णवैकृतम्, एन्द्रेण हविषा तत्र हविः पृक्तं बृहस्पतेः, जुहावेन्द्राय देवाय ततः सूतो व्यजायत’’ (वायुपुरा. १।१।२८-२९). तस्य मुख्यां वृत्तिं पौराणिकीम् उक्त्वा ‘‘मध्यमो ह्येष सूतानां क्षत्रधर्मोपजीवनं, रथनागाश्वचरितं जघन्यं च चिकित्सितम्’’ (वायुपुरा. १।१।३२) इति.

लेखः

इति अर्थः. **वेदविरोधः** इति. वैदिककर्ममध्ये एव प्रश्नान्तरकरणात् प्राप्तः तद्विरोधो यः स न इति अर्थः. **पक्षान्तर** इति. कर्मण्यस्य कालस्य अभावाद् इति भावः ॥५॥

आसीनम् इति उक्तम्. भगवत्कथारसाभिनिवेशाद् अहमहमिकया सर्वैः पृष्टः इति (**पप्रच्छुः**!) बहुवचनम्. **इदम्** इति वक्ष्यमाणम्. सूतस्य भगवदादरात् **पप्रच्छुः** आदरेण वा. सर्वत्र भगवत्कथायाम् आन्तरो भावो मुख्यः नतु वाक्यमात्रम् ॥५॥

अत्र षट् प्रश्नाः भगवद्विषयकाः कर्तव्याः, षड्गुणत्वाद् भगवतः. तदर्थं वक्तारम् अभिनन्दन्ति त्रिभिः **त्वया** इत्यादिभिः.

॥ ऋषयः ऊचुः ॥

त्वया खलु पुराणानि सेतिहासानि चानघ ॥
आख्यातान्यप्यधीतानि धर्मशास्त्राणि यान्युत ॥६॥

खलु इति स्तुतिव्यावृत्तिः. **पुराणानि** आकरस्थानि[१], मूलसंहिताचतुष्टयं

प्रकाशः

न्यूनभावाद् इति, अनादराद् इति अर्थः. **भगवदादराद्** इति ल्यब्लोपे पञ्चमी. भगवदादरं वीक्ष्य इति अर्थः. आदरोक्तितात्पर्यम् आहुः **सर्वत्र** इत्यादि ॥५॥

त्वया इत्यत्र. **आकरस्थानि** इति शतकोटिप्रविस्तरस्थानि. **मूलसंहिताचतुष्टयम्** इति साङ्ख्य-योग-पाशुपत-वैष्णवरूपम् इति प्रतिभाति ॥६॥

लेखः

त्वया इत्यत्र. **आकरस्थानि** इति, शतकोटिप्रविस्तरस्थानि इति अर्थः. तदुक्तं मात्स्ये "पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्, अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः, पुराणम् एकमेवासीत् तस्मिन् कालान्तरेऽनघ, त्रिवर्गसाधनं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरम्" (मत्स्यपुरा. ३।३) इत्याद्युक्त्वा "कालेनाग्रहणं दृष्ट्वा पुराणस्य ततो नृपाः, व्यासरूपमहं कृत्वा संहरामि युगे युगे, चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वापरे द्वापरे सदा, तदष्टादशधा कृत्वा भूलोकेऽस्मिन् प्रकाश्यते, अद्यापि देवलोकेषु शतकोटिप्रविस्तरम्, तदर्थोऽत्र चतुर्लक्षं संक्षेपेण निवेदितः, पुराणानि दशाष्टौ च साम्प्रतं तदिहोच्यते" (मत्स्यपुरा. ५३।८) इत्यादि. **मूलसंहिता** इत्यादि. .... ॥६॥

---

१. स्थानानीति ख.

वा. **इतिहासो** भारतं चकाराद् अन्याश्च कथाः प्रगाथादयः. विद्योपजीवनं च न करोति इति **अनघ** इति उक्तम्. **आख्यातान्यपि अधीतानि** पूर्वम् अधीत्य व्याख्याय पुनः पुनः अधीतानि इति अर्थः; तदैव निस्सन्देहः. **धर्मशास्त्राणि च अधीतानि.**

धर्मार्थकाममोक्षाख्याश्चत्वारोऽर्था मनीषिणाम्[१] ॥
जीवेश्वरविचारेण द्विधा ते हि निरूपिताः ॥(१३)॥

तत्र ईश्वरविचारिताः चत्वारो वेदाएव. जीवविचारितास्तु स्मृतिषु धर्मः, नीतिशास्त्रे अर्थः, वात्स्यायनादिषु कामः, साङ्ख्यायनादिषु मोक्षः. तत्र यावत् सर्वज्ञत्वं न भवति तावद् भगवच्छास्त्राऽपरिज्ञानम्. तदर्थम् आह **धर्मशास्त्राणि** इति. **उत यानि** प्रसिद्धानि अर्थशास्त्रादीनि लौकिकानि वा ॥६॥

सूतपारम्पर्येण ज्ञातान्येव ज्ञातानि, नतु ब्राह्मणैः ज्ञातानि ज्ञातानि इति शङ्कां वारयितुम् आह.

यानि वेद विदां श्रेष्ठो भगवान् बादरायणः ॥
अन्ये च मुनयः सूत परावरविदो विदुः ॥७॥

यानि वेद विदाम् इति. धर्मार्थकामाः सूतपारम्पर्येणापि ज्ञायन्ते, मोक्षशास्त्राणि तु ब्राह्मणैरेव. तत्र सूतस्य अज्ञानं सम्भवति, तन्निवृत्त्यर्थम् आह **विदां श्रेष्ठो** ज्ञानिनां श्रेष्ठः. **यानि वेद** इति मोक्षशास्त्राणि सर्वाणि गृहीतानि. ननु तानि कथं व्यासः तस्मै कथयेद् इति आशङ्क्य आह **भगवान्** इति, भगवतः सर्वं सम्भवति. तथापि अनधिकारिणे कथम् आह इति आशङ्क्य आह **बादरायण** इति. अतितपसा तदधिकारसम्पादनशक्तिः उक्ता. "न ह्येकस्माद् गुरोर्ज्ञानं शिक्षितं स्यात् सुपुष्कलम्" (भाग.पुरा. ११।९।३१) इति वाक्याद् असार्वज्ञ्यम् इति आशङ्क्य आह **अन्ये च मुनयः** इति. ते च मननशीला ज्ञानिनः. अज्ञानाद् उपदेशः इति न मन्तव्यं यतः **सूतः** प्रसिद्ध इति पुनः सम्बोधनम्. तर्हि कथम् उपदेशः? इत्यतः आह **परावरविदो विदुः** इति. **परे** ब्रह्मादयः **अवरे**

१. द्रष्ट. बालबोध २ -सम्पा.

अस्मदादयः, भूत-भविष्यत्काला वा, तान् जानन्ति इति. ईश्वरेच्छा तथैव, कालश्च तथा इति बोधनार्थं तथा वचनम् ॥७॥

फलितम् आह

वेत्थ त्वं सौम्य तत् सर्वं तत्त्वतस्तदनुग्रहात् ॥
ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत ॥८॥

वेत्थ त्वम् इति. शिष्यगुणान् आह **सौम्य** इति. हे शान्त. सेवादिगुणानां साधारण्येऽपि असुरत्वात् शूद्रस्य क्रौर्यादयः सम्भवन्ति ; तदभावः चेत् सिद्धा अन्ये सद्गुणाः इति भावः. "सूत" इति सम्बोधनाद् वेदव्यतिरिक्तम् इति ज्ञातव्यम्. आपाततो ज्ञानं वारयति **तत्त्वतः** इति. उपदेशेऽपि कथम् अनधिकारिणो ज्ञानम् इति आशङ्क्य आह **तदनुग्रहाद्** इति. गुरूणाम् अनुग्रहात् सर्वं भवति इति अर्थः ॥८॥

एवं सार्वज्ञ्यम् उक्त्वा प्रथमतः फलं पृच्छति[१] **तत्र तत्र** इति.

तत्र तत्राऽञ्जसाऽऽयुष्मन् भवता यद् विनिश्चितम् ॥
पुंसामेकान्ततः श्रेयस्तन्नः शंसितुमर्हसि ॥९॥

फलार्थं हि साधनं मृग्यते अतः किं फलं किम् अफलम् इति भवति विचारणा. अभ्युदयो निःश्रेयसं वा भवति फलम्, अन्यद् वा? सर्वत्र दूषणानि अग्रे वक्ष्यन्ते. अतः सन्देहात् प्रश्नः. तथापि प्रमाणबलविचारेण

प्रकाशः

अन्ये च इत्यत्र. वित्पदासङ्गत्या पक्षान्तरम् आहुः **भूतभविष्यत्काला** इति. भूताः भविष्यन्तः च अर्थाः कालः च इति अर्थः ॥७॥

लेखः

तत्र तत्र इत्यत्र आभासे **प्रथमतः फलं पृच्छति** इति. त्रिभिः अभिनन्द्य षट्प्रश्नेषु कर्तव्येषु प्रथमतः फलं पृच्छति इति अर्थः. ननु साधनेन फलं प्राप्तव्यं भवति इति तत्प्रश्नं विहाय निष्प्रयोजकं फलप्रश्नं किमिति कृतवन्तः इत्यत आहुः **फलार्थम्** इत्यादि. **अग्रे** इति, "धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसाम्" (भाग.पुरा. १।२।८) इति "धर्मस्य ह्यापवर्गस्य"

---

१. पृच्छन्तीति घ.

निर्णयः. तद् आह **अञ्जसा** ग्रन्थार्जवेन. **आयुष्मन्** इति आशीः भयाभावो वा सूच्यते. गुरूणाम् अन्योन्यं विप्रतिपत्तौ अपि बहुगुरुत्वेन बुद्धिवैशद्यात् स्वतो निर्धारणं सम्भवति इति आह **भवता यद् विनिश्चितम्** इति. **पुंसां** स्वतन्त्राणाम् **एकान्ततः श्रेयः** कदापि सर्वान् प्रति श्रेयस्त्वं न त्यजति इति अर्थः. स्वर्गिणां पुत्रादिषु न श्रेयस्त्वं, तथा मुक्तानां स्वर्गे, भक्तानां मुक्तौ इति किम् अत्र एकान्ततः श्रेयः इति अर्थः. **तद् (नः!)** अस्मभ्यं **शंसितुम् अर्हसि** ॥९॥

द्वितीयं प्रश्नम् आह **प्रायेण** इति सार्धाभ्याम्.

प्रायेणाऽल्पायुषः सभ्य कलावस्मिन् युगे जनाः ।
मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुताः ॥
भूरीणि भूरिकर्माणि श्रोतव्यानि विभागशः ॥१०॥

साधनविषयको अयं प्रश्नः. स्वस्य ऋषित्वेन चिरजीवित्वात् तद्व्यतिरेकेण आह **प्रायेण** इति. अनेन ऋषिव्यतिरिक्तानाम् अयम् उपायः इति गम्यते. आद्यस्तु तेषां पुंसां न इति वा सामानाधिकरण्यम्. अल्पम् आयुः येषां ते **अल्पायुषः**. अनेन सहस्रसमादयो न तेषां साधनम् इति उक्तम्. प्रकृतानुपयोगाद् अकथनम् आशङ्क्य आह **सभ्यः** इति. सभाम् अर्हति इति सभ्यः. "सभा वा न प्रवेष्टव्या" (मनुस्मृ. ८।१३) इति धर्मबोधनाय

प्रकाशः

प्रायेण इत्यत्र. **अनेन** इति अल्पायुष्ट्वकथनेन. **आद्यः** इति सहस्रसमादिरूपः. **धर्मबोधनाय** इति. अस्मिन् वाक्ये सभाप्रविष्टस्य जानतः

लेखः

(भाग.पुरा. १।२।९) इत्यादिना द्वितीयाध्याये **दूषणानि वक्ष्यन्ते** इति अर्थः ॥९॥

प्रायेण इत्यत्र. **आद्यस्तु तेषां पुंसाम्** इति. स्वतन्त्राणाम् ऋषिकल्पानाम् उपायविषयकः प्रश्नः एतत्पूर्वश्लोके इति अर्थः. **सामानाधिकरण्यम्** इति. 'नः' (श्लो. ९) इत्यनेन **अल्पायुषः** इत्यादीनां विशेष्य-विशेषणभावो वा इति अर्थः. **सभा वा न प्रवेष्टव्या इति धर्मबोधनाय** इति. अस्मिन् वाक्ये सभाप्रविष्टस्य जानतः तूष्णीम्भावेऽपि दोषकथनात् तद्बोधनाय

सम्बोधनम्. अत्यावश्यक-महत्कालसाध्यसाधनत्वे अवक्तव्यत्वम् आशङ्क्य कलिदोषेणैव अल्पायुष्ट्वं, न स्वभावतः, तथाच कलिदोषपरिहारकेण तादृशेन साधनेन अल्पायुषोऽपि वृद्धिः इति अभिप्रायेण आह **कलौ अस्मिन् युगे** इति. तस्य कलेः कालान्तरत्वे इदानीम् उपायस्य अवक्तव्यत्वम् आशङ्क्य आह **अस्मिन्** इति. **युगपदप्रयोगः** तत्रत्यानां पूज्यत्वाय[१-२]. सहजसंसारित्वाभावाय **जना** इति, प्रादुर्भावाद् उत्कृष्टत्वम्. एवं सहजदोषम् (?) उक्त्वा आगन्तुकदोषम् आह **मन्दा** इत्यादिभिः चतुर्भिः विशेषणैः. **मन्दा** अलसाः; आलस्यं चित्तजाड्यम्. **सुष्ठु मन्दा मतिः येषाम्** इति ज्ञानेन्द्रियदोषः. **मन्दभाग्या** इति अदृष्टस्य कर्मेन्द्रियसाध्यत्वात् तद्दोषः. **उपद्रुता** रोगादिभिः इति शरीरदोषः[३]. एवम् आगन्तुकदोषाः उक्ताः. कार्यान्तरेण च व्यापृताः इति आह **भूरीणि** इति. अयं बाह्यो दोषः. "न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृद्" (भग.गीता ३।५) इति लौकिककर्मव्यापृताः. ततोऽपि विहितकर्मव्यापृताः. तत्र प्रमाणविचारे (**विभागशः श्रोतव्यानि!**) प्रकरणशो धर्मादिशास्त्राणि ज्ञातव्यानि. तानि च भूरीणि कर्माणि येषु इति **भूरिकर्माणि.**

प्रकाशः

तूष्णीम्भावेऽपि दोषकथनात् तद्बोधनाय इति अर्थः. **साधनत्वे** इति उत्तरकथनस्य इति शेषः. **पूज्यत्वाय** इति, "कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणाः" (भाग.पुरा. १२।५।३८) इति वाक्यात् तथा इति अर्थः ॥१०॥

लेखः

इति अर्थः. **युगपदेन** इति. युगत्वेन धर्मेण सत्यादियुग-साम्यबोधनात् कालस्य पूज्यता उक्ता भवति. तेन तत्रत्यानां पूजा तु सिद्धैव इति भावः. "कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणा" (भाग.पुरा. १२।५।३८) इत्यादिप्रशंसावाक्यानि अत्र अनुसन्धेयानि. यद्वा **युगपदेन** कालो भगवांश्च इति द्वयम् उच्यते अतः भगवत्सम्बन्धबोधनात् तत्रत्यानां पूजा इति अर्थः. **जना** इति. प्रादुर्भावबोधक-'जन'पदम् उक्तम् इति अर्थः ॥१०॥

---

१. युग्यत्वाय इति क-ग. भगवतः पूज्यत्वाय इति टिप्पणीमातृकान्तरपाठः - सम्पा.

२. 'युगपदेन तत्रत्यानां पूजा' इति पाठः लेखे - सम्पा.

३. चत्वारो दोषा इति घ.

नच श्रवणमात्रेण कृतार्थता किन्तु तदुक्तानि कर्माण्यपि कर्तव्यानि. ततो महान् दोषो बाह्यः ॥१०॥

एवं त्रिदोषग्रस्तानाम् उपायं कथय इति आहुः **अतः** इति.

अतः साधोऽत्र यत् सारं समुद्धृत्य मनीषया ॥
ब्रूहि भद्रं हि भूतानां येनाऽऽत्मा सुप्रसीदति ॥११॥

प्रत्युपकारापेक्षाभावाय सम्बोधनं **साधो** इति. परदुःखदूरीकरणं साधोः आवश्यकम् इति भावः. अन्यार्थम् उक्तस्य प्रासङ्गिकस्य वा साधनस्य निराकरणाय आह **अत्र** इति. एतादृशदोषे **अत्रापि** बहूनि साधनानि चेद्, **यत्सारं** तत् **समुद्धृत्य**[१] वक्तव्यम्. यत्-तदोः नित्यसम्बन्धात् न अध्याहारदोषः. **यद्** इति प्रसिद्धं वा **सारं** पारम्पर्य-फलव्यभिचारादि-तुषरहितम्[२]. एकवचनेन असाधारण्यं सुगमत्वञ्च उक्तम्. "प्रकरणेन विधयो बद्ध्यन्ते" (आप.श्रौ.सूत्र २४।२।२७) इति न्यायेन यद्यपि सर्वं प्रकरणेषु सुसम्बद्धं तथापि तत्तत्स्थानाद् उद्धृत्य वक्तव्यम् इति आह **समुद्धृत्य**[१] इति. प्रकरणेषु तद्धर्मशून्यत्वाभावाय **मनीषया** इति बुद्ध्यैव उद्धरणं, न कृतितः. मनसः ईषा मनीषा = मनश्चाञ्चल्य-निवारिका बुद्धिः. प्रार्थनायां प्राप्तकाले वा लोट्

प्रकाशः

अतः इत्यत्र. **'यद्' इति प्रसिद्धं वा सारम्** इति. "प्रक्रान्तप्रसिद्धानुभूतार्थविषयः तच्छब्दो यच्छब्दं न अपेक्षते" इति न्यायस्य 'यच्'छब्देऽपि तुल्यत्वात् पक्षान्तरम् आहुः **यदित्यादि. पारम्पर्यफलव्यभिचार** इति **व्यभिचार**शब्दो द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वाद् उभयत्र सम्बध्यते. **ईषा** इति,

लेखः

अतः साधोः इत्यत्र. **तद्धर्मशून्यत्वा–भावाय** इति, उद्धृतधर्मशून्यत्वा-भावाय इति अर्थः. **मनसः ईषा** इति. "ईष गति-हिंसा-दर्शनेषु" (पाणि. धा.पा. भ्वा.प.से. ६१२) इति धातोः "गुरोश्च हल" (पाणि.सूत्र ३।३।१०३) इति अप्रत्ययः. **प्रार्थनायाम्** इति. "लोट् च" (पाणि.सूत्र ३।३।१६२) इत्यत्र विध्याद्यर्थानुवर्तनात् प्रार्थनायां लोट् इति अर्थः. **प्राप्तकाले वा**

१. समुद्धृत्येति मुद्रितपाठः. क-ग-भा.पाठे तु एवम् - सम्पा. २. दोषरहितम् इति ख-घ.

ब्रूहि इति. **भद्रं** कल्याणं, त्रिविधदुःखाभावपूर्वक-महासुखावाप्तिः[१]. तद् भगवत्प्रसादाद् इति चेत्, तत्र आह **येन आत्मा सुप्रसीदति** इति. **येनैव** हेतुना **आत्मा** भगवान् **सुप्रसीदति** तर्हि तथैव कथय इति अर्थः. **भूतानाम्** इति पिशाचवद् जीवानां परिभ्रमणबोधनेन दया सूचिता ॥११॥

एवं फल-साधनप्रश्ने[२] निरूपिते. तत्र आविर्भूतो भगवानेव फलं साधनञ्च इति आशङ्क्य भगवदवतारो लोकानाम् अर्थे स्वार्थे वा इति सन्देहाद् अवतारप्रयोजनं पृच्छति[३].

सूत जानासि भद्रं ते भगवान् सात्त्वतां पतिः ॥
देवक्यां वसुदेवस्य जातो यस्य चिकीर्षया ॥१२॥

सूत जानासि इति. इदन्तु अतिगूढम् इति को वेद न जानाति इति सन्देहात् पृच्छति[३] **जानासि** इति. मुखप्रसादं दृष्ट्वा जानाति इति ज्ञात्वा हर्षेण आशीः आहुः (?) **भद्रं ते** इति. अस्तु इत्यर्थात्. महति ज्ञानोपदेशे दक्षिणा हि एषा. श्रुतम् अस्ति **देवक्यां जातः** कृष्णो **भगवान्** इति; तत्र सन्देहः. भगवतः = षड्गुणैश्वर्यसम्पन्नस्य ब्रह्मणः कार्यकरणार्थं न देहसम्बन्धो[४] अपेक्ष्यते, जीवधर्मास्तु ब्रह्मणि न सन्त्येव, प्रादुर्भावप्रकारस्तु

प्रकाशः

''ईष गति-हिंसा-दर्शनेषु'' (पाणि.धा.पा. भ्वा.प.से. ६१२). **महत्सुखावाप्तिः** इति. अत्र षष्ठीतत्पुरुषात् 'परममहत्परिमाणम्' इतिवद् आत्वाभावः (?) ॥११॥

सूत जानासि इत्यत्र. **जीवधर्माः** इति अविद्या-काम-कर्माणि.

लेखः

इति. ''प्रैषातिसर्ग-प्राप्तकालेषु कृत्याश्च'' (पाणि.सूत्र ३।३।१७१) इति सूत्रे 'च'कारेण लोटोऽनुकर्षणात् प्राप्तकाले लोट् इति अर्थः. एवञ्च ''भगवान् यजताम्'' इत्यत्र 'यजनकालः सम्प्राप्तः' इतिवद् **ब्रूहि** इत्यस्य 'कथनकालः इदानीं प्राप्तः' इति अर्थः इति भावः ॥११॥

---

१. महत्सुखावाप्तिः इति पाठः भा.पाठे प्रकाशे च - सम्पा.

२. फलसाधने इति मुद्रितपाठः. क-घपाठयोः तु एवम् - सम्पा. ३. पृच्छन्तीति घ.

४. देहे सम्बन्धः इति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु भा.पाठानुरोधेन - सम्पा.

जीवानामिव, अतः सन्देहः. किञ्च **सात्त्वतां पतिः**. सत्त्वैकनिष्ठाः सात्त्वन्तः = देवाः मुक्ताः वा; तत् परित्यज्य मनुष्येषु संसारिषु कथम् आविर्भावः? पतित्वात् तेषां परित्यागो अनुचितः. किञ्च देवाः— मुक्ताः सनकादयो[1] वा, तेऽपि —ब्रह्मणो देहात् मनसो वा उत्पद्यन्ते; न स्त्रियां, तत्रापि कस्यचित् कन्यायाम्. **देवक्याम्** इति, देवकस्य कन्या देवकी. तथाच अप्सु नारायणावतारवत् न भवति. तत्रापि विशेषः **वसुदेवस्य** इति. वसुदेवस्य भार्या पराधीना. भगवदवतारे न भार्यादिविशेषसम्बन्धः किन्तु सम्बन्धमात्रम् इति षष्ठीमात्रप्रयोगः. अतः तादृशस्य तादृशावतारे किं कार्यम्? तर्हि तथा न भविष्यति इति आशङ्क्य आह **जातः**. कंसादिवधस्तु अन्यस्मादपि भवति इति अभिप्रायः. अतो **यस्य चिकीर्षया जातः तत् नः** कथय इति सम्बन्धः. अनेन प्रासङ्गिकं प्रयोजनं निवारितं, कालादिसाध्यता च ॥१२॥

ननु अस्त्येव प्रयोजनं कारणदर्शनात्, योगेन च तद् जानन्ति इति आशङ्क्य आहुः.

प्रकाशः

मुक्ताः वा इति, सनकादयः इति अर्थः. [2]**अनेन** इति कार्यचिकीर्षया प्रादुर्भावकथनेन[2] ॥१२॥

लेखः

सूत जानासि इत्यत्र. **षष्ठीमात्र** इति. अन्यथा वसुदेवस्य तत्र प्रयोजकत्वाङ्गीकारे पञ्चमी स्याद् इति भावः. **तर्हि तथा न भविष्यति** इति. "भगवतो नन्दगृहे जन्म प्राकृतवद् न भविष्यति" इति न विप्रतिपत्तिः कार्या, यतः **जातः**. "नहि दृष्टे अनुपपन्नं नाम व्याघाताद्" (लौ.न्या.सा. १६०) इति भावः. **अनेन** इति, पूर्णस्यापि अवतारस्य निश्चयत्व-प्रतिपादनेन इति अर्थः. यदि कालादिनापि तत्प्रयोजनं निवर्त्यं स्याद्, आनुषङ्गिकं वा स्यात्, स्वयं न अवतरेद् इति भावः ॥१२॥

---

१. प्रकाशे नास्ति - सम्पा. २-२. इति कि.पाठे अधिकम् - सम्पा.

तन्नः शुश्रूषमाणानाम् अर्हस्यङ्गानुवर्णितुम् ॥
यस्यावतारो भूतानां क्षेमाय च भवाय च ॥१३॥

तन्नः शुश्रूषमाणानाम् इति, बहूनाम् अस्माकं श्रवणेच्छापूरणाय कथनीयम्. नहि श्रवणेच्छा योगेन निवर्तते, न वा योगः सर्वैः कर्तुं शक्यते, न वा योगेन भगवदीयः पदार्थो ज्ञातुं शक्यते भगवद्वाक्यव्यतिरेकेण. अतएव (**तत्**!) साक्षात् परम्परया वा भगवन्मुखोक्तं गुरुमुखात् श्रुतम् **अनु** पश्चाद् वर्णयितुम् **अर्हसि**. पठितस्य हि अनुवचनम् आवश्यकं मन्त्रादावपि, परम् अधिकारिविशेषे. तत् शुश्रूषमाणानां वक्तव्यमेव. **अङ्ग** इति कोमलसम्बोधनम् अङ्गत्वेन स्वाधीनत्वाय. असाधारणन्तु प्रयोजनं पृच्छ्यते, साधारणन्तु ज्ञायते इति आहुः **यस्य अवतार** इत्यादि सार्धैः त्रिभिः. तत्र प्रथमम् अवतारद्वारा रूपप्रयोजनम् आह **यस्य** इति. **यस्य** सामान्यतोऽपि अवतरणं = देव-तिर्यङ्-नरादिषु अलौकिकतेजसः सङ्क्रमणं **भूतानां** जातमात्राणां स्थावर-जङ्गमानां **क्षेमाय** ऐहिकसर्वसुखाय **चकारात्** सर्वदुःखनिवृत्तये **भवाय** मोक्षाय **चकाराद्** अविद्यानिवृत्तये. "भू सत्तायाम्" (पाणिनि धा.पा. भ्वादि. १) इति सन्मात्रत्वाय इति अर्थः. "चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वाद्" (ब्रह्मसूत्र ४।४।६) इति चैतन्ये अनुप्रवेशो वा **चकारार्थः** ॥१३॥

प्रकाशः

यस्यावतारः इत्यत्र. **भवशब्दस्य** संसारवाचित्वेन प्रसिद्धस्य अन्यैः सम्पत्त्यर्थकत्वेन व्याख्यातस्यापि अत्र प्रकरणानुरोधात् मोक्षवाचित्वे उपपत्तिम् आहुः **भू सत्तायाम्** इत्यादि. मोक्षे सति अविद्यानिवृत्तेः अर्थादेव सिद्धेः **चकारवैयर्थ्यम्** इति अरुच्या पक्षान्तरम् आहुः **चितीत्यादि**. **चैतन्ये अनुप्रवेशः** परममोक्षः ॥१३॥

लेखः

तन्न इत्यत्र. **चकारादविद्या** इति, द्वितीयचकाराद् इति अर्थः. **चिति तन्मात्रेण** इति. चिदंशे सत्तामात्रेण = सदंशप्रवेशमात्रेण सदात्मकत्वात् = लब्धसत्ताकत्वात् तत्र सदंशानुप्रवेशः इति अर्थः. चिदंशे सत्प्रवेशाभावे स्वरूपसत्तैव न स्याद् इति भावः ॥१३॥

एवं सर्वेषाम् अभ्युदय-निःश्रेयसार्थं भगवदवतारः इति उक्तम्. उत्पत्स्यमानानान्तु नाम्ना पुरुषार्थसिद्धिः इति तन्माहात्म्यम् आह.

आपन्नः संसृतिं घोरां यन्नाम विवशो गृणन् ॥
ततः सद्यो विमुच्येत यद् बिभेति स्वयं भयम् ॥१४॥

आपन्नः इति. **घोरां संसृतिं** सर्पादियोनिभूतां महाव्याध्यादिरूपां वा **आपन्नः यस्य** अवतारस्य **नाम विवशः** परवशः, **वेः** कालस्य **वशो** वा, **गृणन्** उच्चरन्नेव **ततः** संसृतेः **सद्यो विमुच्यते.** तत्र[१] हि अन्तकाले कालस्य अधिकारी 'भय'नामा कश्चित् मृत्युपाशेन सर्वानेव गृह्णाति, यः चतुर्थस्कन्धे वक्ष्यते "सैनिका भयनाम्नः" (भाग.पुरा. ४।२८।१) इत्यत्र. सद्यः तस्य पाशाद् मुच्यते इति अर्थः. ननु कथं स नामकथनमात्रेण पाशाद् मुञ्चति? तत्र आह **यद् बिभेति** यस्माद् नाम्नो **भयं स्वयं बिभेति** स्वरूपनाशेन बिभेति नतु बहिःपदार्थनाशेन. एवं हि भगवन्नाममाहात्म्यं, यत् श्रोतॄन् मुक्तान् करोति; ततो भयमपि मुच्येत इति अर्थः. अथवा स्वरूपभूतं भयमपि मुच्यते इति अर्थः; द्वैतदृष्टिः गच्छति, "द्वितीयाद् वै भयं भवति" (बृहदा.उप. १।४।२) इति श्रुतेः. अतो अग्रे उत्पत्स्यमानानां नाम्ना मुक्तिः ॥१४॥

ननु नामोच्चारण-सामर्थ्यरहितानां वृक्ष-पश्वादीनां का गतिः इति चेत्, तत्र आह.

यत्पादसंश्रयाः सूत ऋषयः प्रशमायनाः ॥
सद्यः पुनन्त्युपस्पृष्टाः स्वर्धुन्यापोऽनुसेवया ॥१५॥

यत्पादसंश्रयाः इति, भक्तस्पर्शेन तेऽपि मुच्यन्ते इति अर्थः. **यस्य** भगवतः **पादौ संश्रयभूतौ** येषाम्. भगवतः समाश्रयणं ज्ञानमार्गेऽपि भवति– यथा च ज्ञानिनां देहाध्यासाभावात् तत्स्पर्शेन न मुक्तिः किन्तु तदुपदेशेन इति –तद्व्यावृत्त्यर्थं पादपदप्रयोगः. पादसंश्रयणं भक्तिमार्गे एव.

प्रकाशः

आपन्नः इत्यत्र. **तन्माहात्म्यम् आह** इति, अवतारस्य मोक्षार्थत्वं समर्थयितुम् आह इति अर्थः ॥१४॥

---

१. तत्राहेति क-घ.

गुरुत्वप्रकारव्यावृत्त्यर्थं **समुपसर्गः**. **सूत** इति सम्बोधनं पावित्र्यानुभवज्ञापनार्थं ; यथा सूतोऽपि सन् महापुरुषकृपया ब्राह्मणैः यज्ञादिष्वपि संव्यवहारं सम्भजते. **ऋषयो** मन्त्रदृष्टारः **प्रशमायना** ज्ञानिनः, प्रकृष्टः शमः अयनं येषाम् इति, ते उभयेऽपि **यत्पादसंश्रयाः पुनन्ति** इति योजना. अथवा **पादसंश्रयाः ऋषयः प्रशमायनाश्च** भूत्वा ज्ञान-कर्मणी प्राप्य त्रितयसम्पन्नाः सर्वेषां पावित्र्यहेतवो भवन्ति ; स्वयं हि शुद्धाः सन्तः परान् **पुनन्ति**. अतः स्वशुद्ध्यर्थं ज्ञान-कर्मणी युक्ते, नतु साक्षात् पावनसम्बन्धः तयोः. **उपस्पृष्टाः** समीपे देहसम्बन्धमात्रेण **पुनन्ति** इति अर्थः. कालव्यवधानेन हि सर्वत्र पावनं दृष्टं "त्रिः स्वाध्यायं वेदमधीयीत" (तैत्ति.आर. २।१६), "त्रिरात्रं वा सावित्रीं" (तैत्ति.आर. २।१६), "संवत्सरादेवात्मानं पुनीत" (तैत्ति.आर. २।८) इत्यादिभिः. **मुनय** इति पाठेऽपि मननं, कर्मयोगो वा. क्रौर्यादिना स्पर्शव्यावृत्त्यर्थम् **उप** इति अग्रेण वा सम्बन्धः. तेषान्तु दृष्ट्यादिनापि पावनं सम्भवति. **स्वर्धुन्यापो** गङ्गाजलानि **अनुसेवया पुनन्ति** भगवत्सेवकानेव पुनन्ति इति अर्थः. "प्रायश्चित्तानि चीर्णानि" (भाग.पुरा. ६।१।१८) इति वाक्यात्– "सद्यः पुनाति गाङ्गेयम्" (पद्मपुरा. ३।१३।७) इत्यपि– नारायण-सम्मुखीकरणद्वारा पुनन्ति. अथवा

प्रकाशः

यत्पादेत्यत्र. तयोः इति ज्ञान-कर्मणोः. तत्र हेतुः **कालेत्यादि. अग्रेण वा सम्बन्ध** इति **उपस्पृष्टाः** इत्यस्य इति शेषः. तत्र हेतुः **तेषाम्** इत्यादि. "सा राजन् दर्शनादेव ब्रह्महत्यापहारिणी" (पद्मपुरा. ६।१२७।४९) इत्यस्य यमुनासङ्गमोत्तरकाल-विषयत्वात्. **अनुसेवया** इति उपलक्षणे तृतीया 'जटाभिः तापसः' इतिवद् इत्याशयेन आहुः **भगवदित्यादि. पुनन्ति** इति आपः इति अर्थात्. एवं व्यतिरेके अङ्गीक्रियमाणे योजना क्लिष्टा भवति इति पक्षान्तरम् आहुः **अथवा** इत्यादि. ननु एवं बहुषु

लेखः

यत्पाद इत्यत्र. **अग्रेण वा सम्बन्धः** इति, **स्वर्धुन्याप** इत्यस्य विशेषणम् इति अर्थः. पूर्वं तु **उपस्पृष्टाः** इति भक्तानां विशेषणम् उक्तं ज्ञेयम् ॥१५॥

उपस्पृष्टाः स्वर्धुन्यापः सद्यः पुनन्ति इति दृष्टान्तः. **नु**[1] इति वितर्के. भगवद्भक्ताः गङ्गा च पुनन्तोऽपि भगवत्सेवया पुनन्ति, न अन्यथा इति वितर्कः. आपाततः पावनं न अत्र विवक्षितम्, परमपावनन्तु मायास्पर्शाभावः ॥१५॥

एवं सार्धाभ्यां भगवद्रूप-नाम-सम्बन्धिनां माहात्म्ये उक्ते शङ्का भवति— कथम् इदम् अवगतं भगवच्छास्त्रव्यतिरेकेण इति? अवगते तु पुनः शास्त्रे प्रश्नो अनुपपन्नः इत्यतः आह.

को वा भगवतस्तस्य पुण्यश्लोकेड्यकर्मणः ॥
शुद्धिकामो न शृणुयाद् यशः कलिमलापहम् ॥१६॥

को वा भगवतः इति. भगवद्यशःश्रवणेन अस्माकं हृदये स्वतः स्फुरितम् अतः सामान्यतो ज्ञानविशेषार्थं प्रश्नः. यद्यपि भक्त्यभावात् स्वतःपुरुषार्थत्वेन भगवद्यशःश्रवणं न भवति तथापि सन्मार्गवर्तिनां शुद्धिः अपेक्ष्यते इति तदर्थं श्रवणम्. विशेषतः कलौ, देश-काल-द्रव्य-कर्तृ-मन्त्र-कर्मणां षण्णामपि अशुद्धकरणात्. [2]स्वतन्त्रव्यावृत्त्यर्थं **कः** इति. **वा** इति अनादरे, अश्रोतारो दैत्यांशाः न गण्यन्ते एव इति. जीवानां स्वतः उत्कृष्टाद् ब्रह्मणः एव शुद्धेः[3] **भगवत** इति उक्तम्. **तस्य** इति अवतीर्णस्य सुलभत्वाय. लौकिकप्रभुस्तोत्रवद् [4]अन्नादकर्तृक-व्यावृत्त्यर्थम् आह **पुण्यश्लोकेड्यकर्मणः**

प्रकाशः

वाक्येषु लक्षणादिक्लेशः प्रसज्यते इति आशङ्क्य तद्दोषनिवृत्तये आहुः **आपाततः** इत्यादि. तथाच न क्वापि वाक्ये क्लेशः इति अर्थः ॥१५॥

को वा इत्यत्र. **स्वतन्त्रव्यावृत्त्यर्थम्** इति, स्वाभाविकाश्रोतृ-व्यावृत्त्यर्थम्

लेखः

को वा इत्यत्र **अन्नाद** इति. अन्नं अदन्ति इति **अन्नादाः** तदीयान्नग्रहणाय स्तोत्रं कुर्वन्ति नतु स्नेहेन ते, सोपाधिकस्तोत्रकर्तारः इति

---

१. "...पो नु सेवया" इति पाठभेदपक्षम् आश्रित्य - सम्पा.

२. अस्वतन्त्रेति ख-ग. स्वातन्त्र्येति घ.

३. शुद्धिः इति मुद्रितपाठः. भा.पाठे तु एवम् - सम्पा. ४. अनादरकर्तृ इति क.

इति. **पुण्या श्लोका** कीर्तिः येषाम्; कीर्तनकर्तॄणामपि कीर्तिः यत्र सर्वान् पुनाति तत्र किं वक्तव्यं कीर्तनस्य सर्वपावकत्वम्! तानपि पुनाति इति वा, तेषां पावित्र्यापेक्षा नास्ति इति वा. अनेन कीर्तिः पवित्रेषु एव प्रतिष्ठिता इति बोधितम्. कर्मसामान्यग्रहणाद् उत्कर्षाधायक-कर्मव्यतिरिक्तानि अपि कर्माणि पावनानि इति उक्तम्. **पुण्यश्लोक**वचनाद्[१] एवं ज्ञायते— कीर्तिमद्भिः सह सम्बन्धः प्रायेण सर्वेषां भवति, ते च भगवन्तमेव कीर्तयन्ति[२], अतो भगवत्कीर्तिश्रवणं सुलभम् इति. यत्र आपाततोऽपि शुद्धिः श्रवणेन तत्र **शुद्धिकामः कथं न शृणुयात्?** आधारोत्कर्षाधायक-सर्वलोकाह्लादक-विसर्पी[३] गुणः कीर्तिः **यशः**. कलौ सर्वेषाम्

प्रकाशः

इति अर्थः. 'पुण्यश्लोकाः ईड्यकर्माणो येन' इति समासम् अभिप्रेत्य अर्थान्तरम् आहुः **तान्** इत्यादि. ईड्यकर्मणः इति अर्थः. अस्य अपुष्टार्थत्वम् आशङ्क्य प्रथमपक्षस्यैव तात्पर्यान्तरम् आहुः **तेषाम्** इत्यादि. **कीर्तिः** इति, **ईड्य**पदबोधिता सा इति अर्थः. यशो लक्षयन्ति **आधारे**त्यादि. प्रतापवारणाय **सर्वलोकाह्लादक** इति. चन्द्रकिरणादिवारणाय **गुणः** इति. **विसर्पी** इति तु स्वभावकथनम् ॥१६॥

लेखः

यावत्, **तत्कर्तृक** इति अर्थः. **तानपि पुनाति** इति, "सद्यः पुनाति गाङ्गेयम्" (पद्मपुरा. ३।१३।७) इति "गङ्गा-प्रयाग-गय-पुष्कर-नैमिषाणि, पुण्यानि यानि कुरु-जाङ्गल-यामुनानि, कालेन तीर्थसलीलानि पुनन्ति पापात्, पादोदकं भगवतः प्रपुनाति सद्यः" (कृष्णामृतमहार्णव ९६) ईडनकर्तॄनपि भगवत्कीर्तनं पुनाति. **पुण्यश्लोक**पदेन उक्ता पवित्रता सामीप्यात् ईडनजन्या एव वक्तव्या इति भावः. स्तोत्रतः पूर्वमेव पुण्यतोक्त्या तज्जन्यत्वं न स्वरसतः समायाति, तेन पक्षान्तरम् आहुः **तेषाम्** इत्यादि. **पुण्यश्लोकपदेन** इति. **पुण्यश्लोक**पदेन कीर्तिमत्त्वोक्त्या कीर्तेः सर्वलोकप्रसरणशालित्वात् **सर्वेषां** तैः **सम्बन्धः** इति अर्थः. अन्यथा 'पुण्यभक्तेड्यकर्मणः' इत्यादि

१. पुण्यश्लोकपदेन इति पाठः लेखे - सम्पा.

२. कीर्तयन्ते इति मुद्रितपाठः अशुद्धः - सम्पा. ३. विसर्पिगुण इति घ.

अपहतपाप्मत्वाभावाद् न तैः कलिदोषनिवृत्तिः ; भगवतस्तु कालात् परत्वात् तत्कीर्तेरपि तत्परत्वम् अतः (**कलिमलापहं!**) कलिदोषनिवर्तकम् इति ॥१६॥

एवं प्रयोजनप्रश्नम् उक्त्वा कर्मप्रश्नम् आह **तस्य कर्माणि** इति.

तस्य कर्माण्युदाराणि परिगीतानि सूरिभिः ॥
ब्रूहि नः श्रद्दधानानां लीलया दधतः कलाः ॥१७॥

तादृशप्रयोजनस्य श्रुतस्य हृदये समागमनार्थं कर्माण्येव पृच्छन्ति **तस्य कर्माणि** इति. कर्मश्रवणेन यत् फलं तद् भगवता देयम् इत्यपि नास्ति. अन्यानि च फलानि कर्मैव पात्रापात्रविवेचन-व्यतिरेकेणैव अल्पेभ्योऽपि बहु प्रयच्छति इति आह **उदाराणि** इति. उदारादिविशेषणानि न व्यावर्तकानि किन्तु कर्मोद्देशेन उदारत्वादि विधीयते, प्रथमतएव विशेष्यनिर्देशात्. अवान्तरफलप्राप्त्यर्थम् उदारत्वनिर्देशः ; मुख्यं फलं भगवतएव. तेषाम् अज्ञानाभावम् आह **परिगीतानि सूरिभिः** इति. परितो गीतानि इति सर्वतो दूरात् [1]श्रवणसम्भवः. **सूरिभिः** इति अन्यथाकथनव्यावृत्तिः. तर्हि

प्रकाशः

तस्य कर्माणि इत्यत्र. **अवान्तरफल** इति. अवान्तरफलं शुद्धिरूपं, तथाच अविचारेण सर्वेषां शुद्धिदानार्थम् **उदारत्वोक्तिः** इति अर्थः ॥१७॥

लेखः

ब्रूयाद् इति भावः. कीर्तेः उक्तधर्मबोधाय लक्षणम् आहुः **आधार** इत्यादि ॥१६॥

प्रयोजनप्रश्नम् इति, अवतारप्रयोजनप्रश्नम् इति अर्थः. **तस्य कर्माणि** इत्यत्र. **तादृशप्रयोजनस्य** इति, प्रश्नविषयीभूतस्य अवतारप्रयोजनस्य इति अर्थः. **श्रुतस्य** इति, भाविश्रवणाभिप्रायेण इदं उक्तम् ; उत्तरे सति यदा प्रयोजनं श्रोष्यन्ति तदा इति अर्थः. प्रयोजनस्य कर्मसंवादित्वे ज्ञाते सति प्रयोजनं दृढं भवत्येवेति तथा इति भावः. अथवा सामान्यतः **श्रुतस्य** अपि विशेषतः **हृदये** इत्यादि. उदारपदसूचितम् अर्थम् आहुः **कर्मश्रवणेन**

१. ब्रह्मण इति घ.

शौनकादीनामपि, सुलभत्वाद्, अकथनम् इति आशङ्क्य आह **श्रद्दधानानाम्** इति. श्रद्धया हि पुनः पुनः श्रवणेच्छा निरूपिता. कदाचिदपि रुच्यभावो नास्ति इति अभिप्रायेण आहुः **लीलया दधतः कला** इति. अनायासेन हर्षात् क्रियमाणा चेष्टा लीला. तया नूतना एव कलाः प्रतिक्षणं ध्रियन्ते भगवता यथा, तथा तत्कर्मणामपि चन्द्रस्य इव नूतनकलासम्बन्धात् कदाचिदपि न अरुचिः. इदं हि विशेषणं पूर्वोक्तनिर्वाहकम् ॥१७॥

एवम् एकोपक्रमेण प्रयोजन-कर्मणी पृष्टे. अथ भिन्नोपक्रमेण अवतारकथां [1]पृच्छन्ति **अथ आख्याहि** इति. यद्यपि केचन अवताराः तत्तदुपाख्याने श्रुताः तथापि एकोपक्रमेण सर्वे अवताराः सविशेषाः ज्ञातव्याः. अतः औत्सुक्यात् पृथक्प्रश्नः.

अथाख्याहि हरेर्धीमन्नवतारकथाः शुभाः ॥
लीला विदधतः स्वैरमीश्वरस्यात्ममायया ॥१८॥

अथ इति भिन्नोपक्रमे. **हरेः** इति सामान्यतो अवतारे परदुःखदूरीकरणं निमित्तम् इति उक्तम्. अवतारस्वरूपस्य दुर्ज्ञेयत्वात् न सर्वजनीनं तज्ज्ञानम् इति विशेषसम्बोधनं **धीमन्** इति. **अवताराणां कथाः** कथम् अवतारः कस्य अवतारः कुत्र अवतारः किमर्थम् अवतारः इति चतुर्धा कथा वक्तृ-श्रोतृ-प्रवर्तकानां (**शुभाः!**) शुभफलप्रदाः, वस्तुतोऽपि शुभाः, लोके पुत्रजन्मकथावत्. तत्रापि येषु अवतारेषु स्वेच्छया [2]लीलाविहाराः ते वक्तव्या इति आह **लीला विदधतः** इति. **स्वैरम्** इति मर्यादातिक्रमेणापि. तत्र हेतुः **ईश्वरस्य** इति. सर्वभवनसामर्थ्यं **माया** अन्यथाकरणनिर्वाहे दोषाभावे च हेतुत्वेन निर्दिष्टा. **आत्मेति** न अन्यैः ज्ञातुम् उल्लङ्घितुं वा शक्याः ॥१८॥

लेखः

इत्यादि. **पूर्वोक्तनिर्वाहकम्** इति, **अनायासेन** इत्यादिना उक्तस्य अर्थस्य सूचकम् इति अर्थः. अन्यथा **लीलया दधतः कला** इति विशेषणं व्यर्थं स्याद् इति भावः ॥१७॥

---

१. पृच्छतीति मुद्रितपाठः. ग-घ-ङ.पाठे तु एवम् - सम्पा. २. लीलावतारा इति ग-घ.

ननु एवं विशेषेण सर्वार्थपरिज्ञानवतां किं पुनः श्रवणेन इति आशङ्क्य आह.

वयन्तु न वितृप्याम उत्तमश्लोकविक्रमे ॥
यच्छृण्वतां रसज्ञानां स्वादु स्वादु पदे पदे ॥१९॥

वयन्तु इति. ये पुनः भगवत्कथास्वरूपानभिज्ञाः ते कियत्कालं श्रुत्वा निवर्तन्ते, नहि अत्र रसज्ञो निवर्तते. तस्माद् ये निवर्तन्ते तृप्ताः सन्तः ते निवर्तन्तां, **वयन्तु** पुनः **न वितृप्याम** एव, कुतो निवृत्ताः भविष्यामः? निवृत्तिः त्रेधा सम्भवति— इतोऽपि उत्कृष्टे रसान्तरे सम्भवति, अस्यापि अभावे वा, रसाज्ञानाद् वा. तत्र आद्ये निराकरोति **उत्तमश्लोकविक्रमे** इति. उत्तमैः मुक्तैः ब्रह्मानन्दानुभवयुक्तैः अपि श्लोक्यते भगवान्. तद् यथा तथा "इत्थम्भूतगुणो हरिः" (भाग.पुरा. १।७।१०) इत्यत्र वक्ष्यते. तस्माद् न भगवत्कथारसाद् अधिको रसः कश्चिद् अस्ति, ब्रह्मानन्दरसोऽपि न्यूनः इति. अनेनैव दुर्लभतापि निवारिता. तस्य च **विशेषेण क्रमः** पादविक्षेपो यत्र स, पराक्रमो विशेषेण क्रियाशक्त्याविर्भावः, स च पूर्णः सर्वत्र, तस्मात् न दुर्लभता. तृतीयं निराकरोति **यच्छृण्वताम्** इति. रसज्ञानं च श्रवणादेव भवति. यथा हि लोके सूपकारविद्यासु न इच्छानिवृत्तिः किन्तु[१] मूर्तत्वाद् उदरपूरणेन निवृत्तिः तथा श्रवणेऽपि. विशेषोऽपि उक्तः, श्रवणेन गृहीतस्य अमूर्तत्वात्. किञ्च (**रसज्ञानां**!) रसाभिज्ञाः सर्वथा ततो न निवर्तन्ते, रसस्य अनिवर्तकत्वाद्, अस्य च रसस्य परात्परत्वात्. किञ्च **स्वादु स्वादु पदे पदे** इति. यथाधिकारम् अत्र हि रसाविर्भावः. यथा यथा हि अज्ञानं निवर्तते तथा तथा भगवद्रसास्वादो भवति,

---

लेखः

वयन्तु इत्यत्र. **नेच्छानिवृत्तिः** इति, तद्विद्याया अमूर्तत्वाद् इष्टसाधनत्वात् च न निवृत्तिः इति अर्थः. **मूर्तत्वाद्** इति, उदरपूरकस्य अन्नादेः मूर्तत्वाद् इति अर्थः. **श्रवणेन गृहीतस्य** इति, भक्तिरसस्य इति अर्थः ॥१९॥

---

१. किम्पुनः इति घ.

यथा ज्वरविमोके अन्नस्य. प्रथमप्रयोगे हि अविद्यायाः पूर्णत्वाद् अल्परसास्वादः. ततः प्रथमश्रवणे काचिद् अविद्या निवृत्ता चेत् तदा द्वितीये अधिको रसः, एवम् उत्तरत्रापि. परमो रसः सर्वथा मुक्तानाम्. किञ्च प्रथमं वाक्यसमुदाये भगवान् प्रतीतः पुनः प्रत्येकवाक्येषु[१], ततः पदेऽपि– पद्यते ज्ञायते अनेन इति पदं, प्रकृतिः प्रत्ययश्च, तेन –अक्षरार्थत्वेन ज्ञातो भगवान् अतिरसप्रदः इति अर्थः ॥१९॥

किञ्च विशेषाकारेण कृष्णावतारकथा श्रोतव्या इति अभिप्रायेण आह(?/हुः!) **कृतवान्** इति.

कृतवान् किल वीर्याणि रामेण सह केशवः ॥
अतिमर्त्यानि भगवान् गूढः कपटमानुषः ॥२०॥

किल इति प्रसिद्धे. आश्चर्येण अत्र प्रसिद्धिः उक्ता, अवस्था-साधन-विरहेऽपि वीर्यकरणात्. अतः कृष्णावतार**वीर्याणि किल** अलौकिकानि. किञ्च एकत्र एकदा आवेशेन[२] अवतारेण च वीर्याणि न क्रियन्ते, अत्र तु **रामेण सह** इति उभयरूपेण करणम् उक्तम्. किञ्च सर्वेषु अवतारेषु ब्रह्मेशयोः न सुखदानम्, तयोरपि गुणाधिष्ठातृत्वेन स्पर्धादिसम्भवात्, तयोः अर्थे हिताकरणात् तद्भक्तवधाच्च. तद् अत्र किमपि नास्ति इति आह **केशवः** इति. कः च ईशः च केशौ, केशयोः वम् अमृतं यस्माद् इति तयोः अपि आनन्ददायी. वीर्याणाम् उत्कर्षम् आह **अतिमर्त्यानि** इति. अतिक्रान्तं मर्त्यम् एभ्यः[३] इति, वीर्यश्रवणे हि पुनः न मर्त्यशरीरसम्बन्धः इति अर्थः. अथवा मर्त्यम् अतिक्रान्तानि, आनन्दमात्र-करपादमुखोदरादित्वात्. तत्र हेतुः **भगवान्** इति, न भगवदवतारः

प्रकाशः

वयन्तु इत्यत्र. **पदशब्दस्य** अक्षरवाचकत्वाय योगम् आहुः **पद्यते** इत्यादि ॥१९॥

कृतवान् इत्यत्र. **येभ्यः** इति हेतौ पञ्चमी बोध्या ॥२०॥

---

१. प्रत्येकं वाक्येषु इति मुद्रितपाठः. भा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

२. अविशेषेण इति घ. ३. येभ्यः इति पाठः प्रकाशे - सम्पा.

इति अर्थः. तर्हि कथं शरीरप्रतीतिः? तत्र आह **गूढः कपटमानुषः** इति. अयं लोके हि गुप्तः स्वसच्चिदानन्दरूपतां न प्रकाशयति. तत्र हेतुभूतं विशेषणं **कपटमानुषः** इति. **कपटेन** लोकानां बुद्धिमोहनप्रकारेण **मानुषः** तदेव रूपं मानुषरूपवत् प्रतिभासयति इति अर्थः. तस्मात् त्वया वक्तव्यम् इति सिद्धम् ॥२०॥

श्रवणे स्वाधिकारम् आहुः द्वाभ्याम्.

कलिमागतमाज्ञाय क्षेत्रेऽस्मिन् वैष्णवे वयम् ॥
आसीना दीर्घसत्रेण कथायां सक्षणा हरेः ॥२१॥

कलिम् आगतम् इति, कलौ तु सर्वधर्माणां निवृत्तिः इति सूतके सावकाश इव कलौ सावकाशाः. धर्माधिकारे हि सति धर्मत्यागभयाद् वैयग्र्यं कर्मकरणं वा सम्भवति. मर्यादातिक्रमे पुनः पापबाहुल्याद् भगवत्कथारुचिरेव निवृत्ता भवति. तस्मात् सर्वदोषनिवर्तकः कलिः इति तस्मिन् आगते **कथायां सक्षणाः**. **वैष्णवे** इति, यत्र क्वचित् कथाश्रवणे दैत्यैः बुद्धिनाशः सम्भवति, तदा सर्वं नश्येत्; तन्निवृत्त्यर्थं **क्षेत्रे अस्मिन्** इति उक्तम्. किञ्च सत्रवेदिः अपि एषा, ततोऽपि न दैत्यसम्बन्धः इति **अस्मिन्** इति देशनिर्देशः. कलिकालादेः स्मार्तत्वात् कथं वैदिकविचारेण अनधिकारः इति आशङ्क्य आह **आसीना दीर्घसत्रेण** इति. तथाच

प्रकाशः

कलिम् इत्यत्र. **सर्वदोषनिवर्तकः** इति, विहितकर्मादिरूप-प्रतिबन्धकनिवर्तकः इति अर्थः ॥२१॥

॥ इति सुबोधिनीप्रकाशे प्रथमस्कन्धे प्रथमाध्यायविवृतिः ॥

लेखः

कलिमागतम् इत्यत्र. **कलिकालादेः स्मार्तत्वाद्** इति. दोषनिवर्तक-कल्यादीनां प्रतिबन्धकत्वं स्मार्तधर्मविषयएव, श्रौतस्य तु बलिष्ठत्वेन असहायशूरत्वात् कलिकालादीनां तत्र न आपाततः प्रतिबन्धः इति भावः. अतः अत्र वैदिके कर्मणि कथं कलेः अनधिकारता-सम्पादकत्वम्? तत्र अधिकारे तु कर्मादिना वैयग्र्यसम्भवाद् अत्र अधिकारः न सम्पद्येत इति

दीक्षितानाम् अन्यकर्मनिवृत्तिः श्रौती, तत्समाप्तौ पुनः कर्मसम्बन्धाद् दीर्घसत्रारम्भः. तस्मात् सर्वथा सावकाशाः इति आह (?/हुः!) **कथायां सक्षणाः** इति. यदि कथा समारभ्यते तदा सहस्रसंवत्सरमितः कालः क्षणायतइति **क्षणपदप्रयोगः**. न सर्वत्र **सक्षणाः** किन्तु **हरेः कथायाम्** एव ॥२१॥

अत्र हि एका सामग्री न्यूना, सा भगवता सम्पादिता इति आह (?/हुः!).

त्वं नः सन्दर्शितो धात्रा दुस्तरं निस्तितीर्षताम् ॥
कलिं सत्त्वहरं पुंसां कर्णधार इवाऽर्णवम् ॥२२॥

त्वं नः सन्दर्शितः इति. **धात्रा** सर्वकर्त्रा भगवता ब्रह्मणा वा कथारसाभिज्ञेन. **त्वं** च **नः** अस्मदीयः स्वाधीनश्च. कथाभावे **दुस्तरः कलिः**, दुःखेन तरः तरणं यस्य इति. ननु कथारहिता अपि कलिं तरिष्यन्ति ऋषयः; को भवत्सु विशेषः? इत्यतः आहुः **सत्त्वहरम्** इति. विवेक-धैर्य-ज्ञानहरम्; सत्त्वगुणे गते रजस्तमोभ्यां लय-विक्षेपौ एव. अतः तेषां सर्वस्वनाशे न कलेः तरणं भविष्यति इति भावः. (**कर्णधार इव अर्णवं**!) अभीष्टकाले अभीष्टदेशसम्बन्धाभावः कर्णधाररहिते समुद्रे, तथा कथावक्त्रभावे कलौ ॥२२॥

लेखः

भावः. **अन्यकर्मनिवृत्तिः** इति. अतः अत्र श्रवणे अधिकारः सूपपन्न एव इति भावः. ननु संक्षिप्तमेव श्रौतं कर्म कुतो न आरब्धम्? अतः आहुः **दीर्घ** इति. तथाच अत्र मध्ये कर्मान्तरायोगाद् एतस्य कर्मणो दीर्घत्वाद् इति सुतरां कथाश्रवणावसरः इति भावः ॥२१॥

त्वं न इत्यत्र. **अभीष्टकाले** इति. **कर्णधाररहिते समुद्रे अभीष्टकाले देशादिसम्बन्धाभावः** यथा **तथा** इति अर्थः ॥२२॥

॥ इति श्रीप्रथमस्कन्धे प्रथमाध्यायलेखः ॥

किञ्च धर्मेण सह पूर्वं वयं स्थिताः; वयं तु अत्र समागताः कथायां नियुक्ताः, धर्मस्य का वार्ता? इति षष्ठं प्रश्नम् आहुः.

ब्रूहि योगेश्वरे कृष्णे ब्रह्मण्ये धर्मवर्मणि ॥
स्वां काष्ठामधुनोपेते धर्मः कं शरणं गतः ॥२३॥

॥ इति श्रीभागवत-प्रथमस्कन्धे प्रथमोऽध्यायः ॥

ब्रूहि योगेश्वरे इति. एतत् च ब्रूहि. **धर्मस्य** हि ग्लानौ (**वर्मणि**!) तद्रक्षार्थं[1] स भगवान् अवतरति, "यदा यदा हि धर्मस्य" (भग.गीता ४।७) इति वाक्यात्. **योगोऽपि** धर्मरक्षकः, "अयं तु[2] परमो धर्मः" (याज्ञ.स्मृ. १।१।८) इति वाक्यात्, तस्यापि **ईश्वरे कृष्णे.** ब्राह्मणा अपि धर्मं प्रतिपालयन्ति, तद् (**ब्रह्मण्ये**!) योगावतारब्रह्मण्यरूपे भगवति **कृष्णे स्वां काष्ठां** वैकुण्ठं (**अधुना उपेते**!) गते धर्मस्य सम्भावितशरणाभावाद्— भगवद्विषयकबुद्धेः धर्मकार्यरूपायाः विद्यमानत्वाद् धर्मो अस्ति इति प्रतीतेः — **धर्मः कं शरणं गतः** इति प्रश्नः ॥२३॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मज-श्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां प्रथमस्कन्धे प्रथमो अध्यायः ॥

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥

---

१. तद्रक्षणार्थम् इति ख. २. हि इति मुद्रितपाठः संशोध्य यथोद्धृतवचनः कृतः -सम्पा.

॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

कथाश्रवणभावेन मनोरथमहार्णवे ॥
निमग्नान् सूतदानेन ह्युज्जहार ऋषीन् हरिः ॥(१)॥
फलसाधनरूपाणां निर्णयः कर्मणामपि ॥
त्रयाणां वक्ष्यतेऽध्याये द्वितीयेऽन्यत्र शेषिणाम् ॥(२)॥

प्रकाशः

अथ द्वितीयाध्यायं विवरिषवः सङ्गतिम् आहुः **कथा** इति द्वाभ्याम्. [१]**सूतदानेन** इति. यथा रज्जुदानेन लोकेऽपि जलनिमग्नस्य उद्धरणं दृश्यते तथा अत्र सूतदानेन मग्नानाम् उद्धरणं कृतवान् भगवान्[१]. तथाच प्रश्नोत्तरभावः प्रथमाग्रिमाणां, द्वितीय-तृतीययोः अवसरः शेष-शेषिभावो वा सङ्गतिः इति अर्थः. **फलसाधनरूपाणाम्** इति फलं च साधनरूपाणि च इति द्वन्द्वः. रूपाणि = प्रकाराः. **शेषिणाम्** इति संसर्गे मत्वर्थीयः ; शिष्टानाम् अवतारार्थधर्मिणाम् (१-२).

लेखः

द्वितीयाध्यायार्थं सङ्गृह्यते कारिकाभ्यां **कथा** इत्यादि. **कथाश्रवणे** यो **भावः,** रतिः औत्सुक्यम् इति यावत्, तेन हेतुना भगवद्गुणश्रवणस्य यो **मनोरथः** स एव **महार्णवः** तस्मिन् **निमग्नान् ऋषीन् हरिः उज्जहार.** उद्धारे दृष्टं द्वारम् आहुः **सूतदानेन** इति. "त्वं नः सन्दर्शितो धात्रा" (भाग.पुरा. १।१।२२) इति महदन्तःकरणप्रामाण्याद् भगवता एव सूतः अत्र समानीतः इति भावः. तथाच एतावत्काले मनोरथ एव स्थितः, इदानीं तत्पूर्तिः इति उक्तम्. अयमेव उद्धारः इति भावः (१).

फल इति. **फलरूपाणां साधनरूपाणां** तथा भगवत्**कर्मणां** च **निर्णयः** उच्यते इति अर्थः. तथाच षट्प्रश्नेषु प्रश्नत्रयस्य उत्तरम् अत्र **अध्याये** भविष्यति, **अन्यत्र** तृतीये अध्याये **शेषिणाम्** अवशिष्टानाम् अवतार-तत्प्रयोजन-धर्माश्रयाणां **त्रयाणाम्** उत्तराणां **निर्णयो** भविष्यति इति

१-१. एतावान् अंशः कि.पाठे अधिकः उपलभ्यते - सम्पा.

प्रथमम् उत्तराणि वक्तुं देवता-गुरु-नमस्कारं मङ्गलम् अभिनन्दनञ्च सूतः करोति इति व्यासः आह.

॥ व्यासः उवाच ॥

इति सम्प्रश्नसम्पृष्टः स विप्रै रौमहर्षणिः ॥
प्रतिपूज्य वचस्तेषां प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥१॥

इति सम्प्रश्नेति. एवं पुरुषार्थपर्यवसायिभिः **सम्प्रश्नैः** सम्यग्ब्रह्मविषयकैः प्रश्नैः **सम्यग्** आदरपूर्वकं **पृष्टः**. **विप्रैः** इति. "प्रा पूरणे" (पाणि.धा.पा. अदादि.प.अ. १०८६), विशेषेण वक्तारम् आत्मानं वा भक्त्या पूरयन्ति इति **विप्राः ;** अवश्यं तेषां वचने उत्तरं देयम् इति. **रौमहर्षणिः** रोमहर्षणस्य अपत्यं रौमहर्षणिः. रोमसु सर्वदा हर्षणं यस्य तस्य सर्वदा भक्त्युद्रेकः, तथैव अयम् इति ज्ञापयति. **प्रतिपूजनम्** अभिनन्दनम्. सामान्यतः तद् ग्रन्थाद् बहिः इति ज्ञातव्यं क्रमानुरोधात्. अग्रे तु अभिनन्दनं सामान्योत्तरत्वेन ज्ञातव्यम्. **प्रवक्तुम्** इति, स्वबुद्ध्या निर्धारितार्थं भागवतं च वक्तुम् **उपचक्रमे** ॥१॥

देवता-गुरु-नमस्कारं च कृतवान्. तत्र आदौ गुरुनमस्कारम् आह द्वाभ्यां वैराग्य-ज्ञानाभ्याम्. तत्र प्रथमं वैराग्यम् आह.

लेखः

अर्थः (२).

इति इत्यत्र. **सामान्यतः** इत्यादि. पूर्वं शौनकादिभिः तदभिनन्दनं कृतम् अस्ति इति इदानीं क्रमप्राप्तं शौनकादिसकलर्षि-साधारणम् अभिनन्दनं सूतकृतं यत् **तत्** च कथाप्रकरणाद् **बहिः** एव इति अर्थः. यद् वा **क्रमानुरोधाद्** इति. पूर्वं वक्तृसमागमः, ततः श्रोतृकर्तृकाभिनन्दनं, ततः वक्तृकर्तृकं, ततो ग्रन्थारम्भः इति क्रमप्राप्तः इति अर्थः. **अग्रे तु** इति. "मुनयः साधु पृष्टोऽहम्" (श्लो. ५) इत्यादिना 'साधु'पदादिना करिष्यमाणम् **अभिनन्दनं तु** सामान्यतः तत्प्रश्नाभिनन्दनम् उत्तरग्रन्थ-मध्यपाति एव इति न पुनरुक्तिः इति भावः ॥१॥

॥ सूतः उवाच ॥

यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं
द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव ॥
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदुः
तं सर्वभूतहृदयं मुनिम् आनतोऽस्मि ॥२॥

यं प्रव्रजन्तम् इति. अत्र हि यथा यथा विरक्तः तथा तथा अधिकारी. तत्र शुकस्य पूर्वजन्मनि एव ज्ञानसहितत्वाद् योग्यदेहार्थं विष्णोः व्यासस्य सकाशाद् [१]देहं प्राप्य उभयसम्पत्तौ सङ्गेन ज्ञाननाशभयात् पूर्वसंस्कारस्य[२] दृढत्वाद् इदानीम् अनुपनीतएव प्रव्रजति. व्यासस्य अधिकारित्वाद् देहादिधर्माः प्रवर्तन्ते. इदं प्रव्रजनं न आश्रमः किन्तु सङ्गभयाद् गमनमात्रम्. तद् अनुचितमिव मत्वा निवर्तनाय व्यासस्य गमनम्. भगवद्धर्मेषु हृदयं प्रविष्टेषु हि भयं निवर्तते, बलिष्ठस्य हि भयाभावः, बलं भगवतएव इति. कोपादिना गमनं वारयति **प्र** इति. निवारणे हेतुः **अनुपेतम्** इति. गमने हेतुः **अपेतकृत्यम्** इति. कार्ये विद्यमाने हि उपनयनं ; विष्णोः सकाशाद् जातस्य देहस्य पुनः संस्कारो न अपेक्ष्यते. मोहे हेतुः **द्वैपायनः** इति. द्विः गता आपो यत्र तद् द्वीपम् अयनं जन्मस्थानं यस्य, यमुनान्तर्जले तथा उत्पन्नत्वात्. पराशरध्यात-भगवदवतारात्[३] सर्वं सुस्थम्. नारदोपदेशात् पूर्वं विस्मृतात्मत्वाद् **विरहकातरः** विरहेण कातरो दीनः **पुत्रेति (आजुहाव!)** आह्वानं कृतवान्. प्रेम्णा सन्नकण्ठत्वात् प्लुताभावः. ततः सन्धिः. "स सर्वम् अभवद्" (बृहदा.उप. १।४।१०) इति ब्रह्मज्ञानफलस्य[४] उक्तत्वात्

लेखः

यं प्रव्रजन्तम् इत्यत्र. **तथोत्पन्नत्वाद्** इति. तथाच यत्र स्थले भगवद्ध्यानादिकं कर्तव्यं तत्र अतिसिद्धप्रकारेण उत्पन्नत्वाद् मोहः इति अर्थः. तर्हि निन्दित एव स्याद् इत्यतः आहुः **पराशर** इत्यादि. **सुस्थम्** इति. जघन्यत्वादिकं न आशङ्कनीयम् इति भावः ॥२॥

---

१. योग्यदेहम् इति ख.　　२. पूर्वजन्मनि एव ज्ञानसहितात् पूर्वसंस्कारस्य इति ख-घ-ङ.

३. भगवदवताराद् वा इति घ.　　४. ब्रह्मज्ञाने फलस्य इति मुद्रितपाठः. भा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

सर्वभावः स्फुरति. योगेन प्रवेशोऽपि सम्भवति. कर्तुः प्राधान्येऽपि **यच्छब्देन** कर्मसम्बन्धात् **तच्छब्देन** कर्मैव उच्यते[१] इति. **तन्मयतया** शुकमयतया. विष्णोः सकाशाद् उत्पन्नाः **तरवः** शुकोऽपि ; "वैष्णवाः वै वनस्पतयः" (तैत्ति.संहि. ५।६।९।३) इति श्रुतेः एकोपादानकत्वात् तन्मयत्वम्. अभिनन्दनं प्रतिध्वनिरूपम्[२]. अथवा. "वाग्वै देवेभ्यो अपाक्रमद् यज्ञाय आतिष्ठमाना, सा वनस्पतीन् प्राविशत् सैषा वाग् वनस्पतिषु वदति" (तैत्ति.संहि. ६।१।४।१) इति श्रुतेः वृक्षेभ्य एव शब्दोत्पत्तिः. तेषां कथने हेतुं वदन् शुकस्य ब्रह्मभावम् आह **सर्वभूतहृदयम्** इति. सर्वभूतानां हृद् अयते प्रेरयति,

---

प्रकाशः

यं प्रव्रजन्तम् इत्यत्र. दूराद् आह्वाने "दूराद्धूते च" (पाणि.सूत्र ८।२।२४) इत्यनेन प्लुते जाते "प्लुतप्रगृह्या" (पाणि.सूत्र ६।१।१२५) इत्यनेन प्रकृतिभावात् सन्ध्यनुपपत्तिम् आशङ्क्य आहुः **प्रेम्णा** इत्यादि. तथाच अत्र सन्धेः आर्षत्वं वदतः श्रीधरस्य **विरहकातरपद**-तात्पर्याज्ञानम् इति अर्थः. **अभिनेदुः** इत्यनेन उक्तस्य प्रतिध्वानरूपस्य अभिनन्दनस्य वृक्षयुक्ते देशे अभावः इति तत्र तम् उपपादयितुम् आहुः **स सर्वे**त्यादि. तथाच अतो वृक्षेषु अपि उत्तरदानरूपः प्रतिध्वनिः युक्तः इति अर्थः. ननु अत्र यन्मयतया प्रतिध्वनिः उक्तः सः कः? ज्ञान-योगयोः शुके व्यासे च सत्त्वाद् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **कर्तुः** इत्यादि. एतदुपष्टम्भाय एतन्नियामकं शुकनिष्ठम् आहुः **विष्णोः** इत्यादि. एवं व्याख्यानं श्रीधरीयेऽपि, परम् एवं व्याख्याने शुकः तरुरूपेण उत्तरं दत्तवान् इति भवति. तथा सति मूलोक्तं तरूणाम् अभिनादकर्तृत्वञ्च विरुध्यते इति अरुच्या पक्षान्तरम् आहुः **अथवा** इत्यादि. अस्मिन् पक्षे **तन्मयतया** इत्यस्य **आजुहाव** इत्यनेन सम्बन्धः. अर्थस्तु शुकमयत्वमेव. तथा सति मूले **अभिनादकथन**-प्रयोजनाभावः इति शङ्कायाम् आहुः **तेषाम्** इत्यादि. तथाच **सर्वभूतहृदयपदेन** तदर्थसिद्धिः. अन्यथा एतस्य अनतिप्रयोजनत्वम् अतः इदमेव व्याख्यानं युक्तम् इति भावः ॥२॥

---

१. 'कर्मैवोच्यते यम् इति' इति ख-घ. २. प्रतिध्वानरूपम् इति ख-घ.

प्रेरणार्थं गच्छति इति वा. सर्वभूतेषु हृदयं यस्य इति प्रेरणसामर्थ्यं वा. गतस्य तूष्णीम्भावं निवारयति **मुनिम्** इति, ब्रह्मात्मभावं विचारयन्तम्. **आ** सर्वतो **नतो अस्मि,** सर्वत्र तस्य विद्यमानत्वात् ॥२॥

एवं प्रथमं ज्ञान-वैराग्ये उक्ते. पश्चाद् भक्त्या भगवज्ज्ञाने जाते विशेषम् आह.

यः स्वानुभावम् अखिलश्रुतिसारम् एकम्
अध्यात्मदीपम् अतितितीर्षतां तमोऽन्धम् ॥
संसारिणां करुणयाऽऽह पुराणगुह्यं
तं व्याससूनुमुपयामि गुरुं मुनीनाम् ॥३॥

यः स्वानुभावम् इति सङ्गभयन्तु निवृत्तम्. चिरकालमननेन भगवदावेशे सति व्याससमीपागमनं भागवतपाठश्च अर्थाद् लक्ष्यते. तदनु भागवतरसाभिनिविष्टः सर्वत्र मुनिभ्यः उपदिशति. तद् आह **गुरुं मुनीनाम्** इति. भागवतस्य स्वरूपोत्कर्षाय चत्वारि विशेषणानि प्रमेयरूपतां प्रमाणरूपताम् असाधारण्यं साधनोत्तमरूपतां प्रतिपादयन्ति क्रमेण. तत्र **स्वानुभावं**— भागवतस्य भगवद्रूपत्वाद् यथा भगवतः स्वः असाधारणो अनुभावः सर्वभक्तेषु तथा भागवतस्यापि तच्चिन्तकेषु. किञ्च **अखिलश्रुतिसारं,** कर्म-ज्ञानकाण्डादिषु अपि प्रतिपादितस्य भक्तिशेषत्वकथनात्. सर्वश्रुतितात्पर्य-विषय-भगवत्प्रतिपादनाच्च सर्वश्रुतिसारम्. **अखिलपदेन** च देव-दैत्यादिषु प्रवृत्तायाः श्रुतेः तत्तदभिप्रायेण अर्थकथने खिलत्वम् आपद्यते तन्निवार्यते. आकरस्थितानां सर्ववेदानाम् अर्थरसभूतम् इति अर्थः. **एकम्** इति असाधारणम्. अन्यथा एतस्यापि रसान्तरसम्भावना स्याद्, बहूनां तादृशानां निर्द्धारणात्. **अध्यात्मदीपम्** इति. बहिः सन्ति दीपाः बोधकाः पुरुषाश्च, आत्मनि

प्रकाशः

यः इत्यत्र. **विशेषम् आह** इति, इतरेषु अपि ज्ञानदातृत्वेन गुरुत्वरूपं विशेषम् आह इति अर्थः. **एतस्य** इति, सूतस्य इति अर्थः. **तादृशानाम्** इति पुराणानां, "सूत त्वं पूजितोऽस्माभिः सारात्सारं वदस्व नः" (अग्निपुरा. १।३) इत्येवंजातीयवाक्यानां तत्रापि सत्त्वाद् इति. तथाच तद्व्यावृत्त्यर्थम् **एकपदम्** इति अर्थः ॥३॥

पुनः विरला वाचा बोधयन्त्येव. नहि तादृशो भागवताद् अन्योपायो अस्ति, गुरूपदेश-तपः-साधन-विचार-व्यतिरेकेण येन सर्वेषाम् आत्मसाक्षात्कारो भवेत्. यथा गृहे दीपे स्थापिते घटादीनां न गुर्वाद्यपेक्षा तथा भागवते सति न कापि अपेक्षा इति अर्थः. **अन्धन्तमः (अतितितीर्षताम्!)** अतितर्तुम् इच्छताम् **अध्यात्मदीपम्** इति योजना. आत्मानम् अधि इति आत्मसम्बन्धि-सर्वपदार्थानाम्. न केवलं मुनिभ्यएव, **आह संसारिणाम्** अपि **करुणया** परीक्षित्सभादिषु अपि इति अर्थः. यथा मलाऽपाकरणे वस्त्रादौ मलनिवृत्तिः शुद्धिश्च भवति, शुभ्राणान्तु कर्मयोग्यतैव, तथा संसारिणां मुनीनाञ्च विशेषः इति भावः. मायाशुकव्यावृत्त्यर्थं **व्याससूनुम्** इति. **उपयामि** शरणं गच्छामि. इदानीमेव समीपे गत्वा तद्वाक्यं श्रुत्वा कथयिष्यामि इति **उपशब्दार्थः** ॥३॥

असाधारणं मङ्गलम् उक्त्वा सर्वैः कर्तव्यं साधारणं मङ्गलम् आह **नारायणम्** इति.

नारायणं नमस्कृत्य नरञ्चैव नरोत्तमम् ॥
देवीं सरस्वतीं चैव / व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥४॥

जयो नाम पुराणादिः कृष्णद्वैपायनेरितः ॥
अष्टादशपुराणानि भारतं तत्प्रकीर्तितम् ॥(३)॥
नारायणो व्यास इति वाच्यवक्तृस्वरूपकः ॥
एक एव परो ह्यात्मा आदावन्ते निवेशितः ॥(४)॥
उपसाधको नरश्चोक्तः चकाराद् गुरुताऽपि च ॥
अवश्यम् एवकारेण सूत्रात्मा च नरोत्तमः ॥(५)॥

लेखः

नारायणम् इत्यत्र. **जय** इति, जयति अनेन संसारम् इति **जयः** ग्रन्थ इति व्युत्पत्त्या तथार्थलाभात्. **वाच्यवक्तृ** इति, नारायणः वाच्यरूपः व्यासः वक्तृरूपः. **आदावन्ते** इति, **नारायण-व्यास**पदाभ्याम् इति शेषः. **उपसाधकः** इति समीपे सकलकार्यसाधकः. **गुरुता** इति, गुरुत्वमपि नमस्कार्यत्वावच्छेदकम् उक्तम् इति अर्थः. **अवश्यम्** इति, **एवकारेण** एवमादीनां नमस्कारे आवश्यकत्वम् उक्तम् इति अर्थः. **सूत्रात्मा** इति.

देवी भाग्यात्मिका नृणां वाक्यरूपा सरस्वती ॥
सर्वे ते भगवद्रूपाः तस्मान्नम्या हि ते सदा ॥(६)॥

व्यासेन क्रियमाणेतु नमस्कारे न **व्यास**पदप्रयोगः. सरस्वतीसमीपे चकारः तद्वक्तारं बोधयति. तस्मात् पाठद्वयमपि लोके व्यवस्थया बोद्धव्यम् ॥४॥

अभिनन्दनं वदन् प्रश्नानां निर्धारितार्थम् आह **मुनयः** इति.

मुनयः साधु पृष्टोऽहं भवद्भिर्लोकमङ्गलम् ॥
यत्कृतः कृष्णसम्प्रश्नो येनात्मा सुप्रसीदति ॥५॥

फलं **कृष्ण** एव, सर्वप्राणिनाम् ऐहिकामुष्मिक-फलदाता च स एव, भक्ति-मुक्ती च लीलाः अवताराः च धर्मरक्षकश्च स एव ; अतः षण्णां प्रश्नानां स एव अर्थः. द्वितीयप्रश्ने द्वितीयं फलम् [१]एभ्यएव भवति. हे **मुनयः** निर्धारितार्थाः. यद्यपि यदेव पृच्छ्यते तत्रैव उत्तरं देयं तथापि **पृष्टमेव साधु.** इदमेव हि **लोकानां मङ्गलं यत् कृष्णः** पृच्छ्यते. **येन** च **आत्मा** कृष्णः **प्रसीदति** अन्तःकरणस्यापि भगवतः तद्धर्माणां वा आवेशे प्रसादः. इदं हि सामान्योत्तरम्. शास्त्रान्तरे श्रवणानन्तरं

प्रकाशः

मुनयः इत्यत्र. **द्वितीयप्रश्ने** इत्यादि. **येनात्मा सुप्रसीदति** इति उक्ते प्रश्ने **द्वितीयम्** अन्तःकरणप्रसादरूपं **फलम् एभ्यएव** मुन्यर्थमेव **भवति** इति अर्थः. **सामान्योत्तरम्** इति. इदं चतुर्थपादेन गम्यते, तस्य प्रश्नानुवादरूपत्वाद् इति ॥५॥

लेखः

सूचनात् सूत्रं, तदात्मा अन्तर्यामि इत्येव प्रतिभाति (३-६). ॥४॥

मुनयः इत्यत्र. आभासे **प्रश्नानाम्** इति, फल-साधनावतारप्रयोजन-भगवत्कर्मावतारकथा-धर्मशरण-विषयकानाम् इति अर्थः. तम् अर्थम् आहुः **फलं कृष्ण एव** इत्यादिना. **द्वितीयप्रश्ने** इति, "ब्रूहि भद्रम्" (भाग.पुरा. १।१।११) इति द्वितीयप्रश्ने **येनात्मा सुप्रसीदति** इत्युक्तं कृष्णप्रसादात्मकं **फलम् एभ्यः** प्रश्नेभ्य **एव** इति अर्थः ॥५॥

---

१. एभिः इति टिप्पणीमातृकान्तरपाठः -सम्पा.

मनन-निदिध्यासनाभ्यां कार्यसिद्धिः, अत्र तु सा प्रश्नैः एव इति प्रश्ने एव शास्त्रसमाप्तिः ॥५॥

इदानीं फल-साधने एकीकृत्य स्वाधिकारानुसारेण शास्त्रार्थं निरूपयति सप्तदशभिः. भगवत्साक्षात्कारः फलम्. साधनपारम्पर्ये प्रथमतो धर्मः अन्तिमो भगवत्प्रसादः, स च खण्डशः सर्वत्र साधनेषु वक्तव्यः. तथा सति परम्परान्ते महाप्रसादे सति भगवान् आत्मानम् आविःकरोति. तत्र भक्तिः त्रिविधा ज्ञानञ्च त्रिविधम्. रुचिः श्रवणादिः प्रेम च इति भक्तिः त्रिविधा. आत्मज्ञानं तत्त्वज्ञानं भगवज्ज्ञानञ्च इति (ज्ञानं!) त्रिविधम्. धर्मो वैराग्यं च साधनं, तत्परम्परायां यथायोग्यं निवेशनं निरूप्यते. तत्र प्रथमम् एकां शृङ्खलाम् आह **स वै पुंसाम्** इति.

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ॥
अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सुप्रसीदति ॥६॥

धर्मः साधनं **भक्तिः** फलम्. तत्र विहितश्रवणादीनां धर्मरूपाणां दृष्टप्रकारेणैव भक्तिसाधकत्वं, स्नानादीनाम् अदृष्टद्वारा. तत्र साधनान्तराऽनुप्रवेशे

प्रकाशः

स वै इत्यत्र. **निरूपयति** इति, प्रथमपद्ये सामान्यतः उक्तं विशेषाकारेण वक्ति इति अर्थः. **स च** इति, भगवत्प्रसादः इति अर्थः. **तत्परम्परायाम्** इत्यादि, साधनपरम्परायां धर्म-वैराग्ययोः **यथायोग्यं निवेशनम्** उच्यते इति अर्थः. **आह** इति, द्वाभ्याम् आह इति अर्थः.

लेखः

स वै इत्यत्र. आभासे सप्तदशश्लोकैः प्रतिपाद्यं प्रमेयं संगृह्णते **भगवत्साक्षात्कार** इत्यादि. **अन्तिम** इति, अन्तिमसाधनं स इति अर्थः. ततो भगवत्साक्षात्काररूपं फलम् इति भावः. **तत्परम्परायाम्** इति, साधनपरम्परायाम् इति अर्थः. **निवेशनम्** इति, धर्माणां वैराग्यस्य च यथायोग्यं सन्निवेशनम् इति अर्थः. व्याख्याने **दृष्टप्रकारेण** इति, गुणश्रवणे भगवद्रतिः उदेति इति दृष्टएव प्रकारः इति अर्थः. न हि गुणश्रवणे सति रत्युत्पत्तिः अदृष्टाद्युत्पत्तिम् अपेक्षते, "मद्गुणश्रुतिमात्रेण" (भाग.पुरा. ३।९।११) इतिवाक्यविरोधात् च इति. **स्नानादीनाम्** इति **आदिना**

व्यभिचारोऽपि सम्भवति. अतः प्रथमं स्नानादिधर्मनिर्धारः क्रियते. प्रमाणस्य तुल्यत्वेऽपि फलबलाद् विशेषः. अतो **वै** निश्चयेन **पुंसां परो धर्मः सः यतो भक्तिः** श्रद्धालक्षणा भवति. स्वर्गादिसाधके तु धर्मत्वं सन्दिग्धं[१] परत्वं वा. स च अग्रे विचारयिष्यते. धर्मे स्वातन्त्र्यञ्च सहायः कर्तृविशेषणत्वेन उक्तः **पुंसाम्** इति, परत्वञ्च विधीयते. व्यावर्तकम् इति केचित्. (**अधोक्षजे!**) अधः अक्षजं ज्ञानं यस्माद् इति इन्द्रियाविषये. इन्द्रियविषये हि कामादिभिः एव रुचिः उत्पद्यते, किं धर्मेण! धर्मो हि पुरुषार्थो बलिष्ठः. स च प्रतिबन्धकानि दूरीकृत्य अपेक्षितानि साधनानि च सङ्गृह्य पर्यवसायि फलं जनयति. तत्र रुचिः चेद् भगवति साधनत्वेन तदापि न धर्मत्वम्. उपहता वा दुःसङ्गादिभिः तदापि न धर्मत्वम्. तद् आह **अहैतुक्यप्रतिहता**

प्रकाशः

स च इति, स्वर्गादिसाधकः इति अर्थः. तेन तत्र धर्मत्वसन्देहः, तद्विचारे[२] ज्ञातो भविष्यति इति भावः. **व्यावर्तकम्** इत्यादि. श्रीधरमतम् इदं, श्रवणादिलक्षण-भक्तिजनकस्य परत्वम् अनूद्य स एव ऐकान्तिकं श्रेयः इति तत्र व्याख्यानात्. **साधनत्वेन** इति फलदानसाधनत्वेन ॥६॥

लेखः

दानादिसङ्ग्रहः. **अदृष्टद्वारा** इति **भक्तिसाधकत्वम्** इति अनुकृष्यते. दृष्टफलकत्वस्य बाधात् तथा इति अर्थः. **तत्र** स्नानादिगौणे साधने **व्यभिचारः** भक्तिफलाभावः. **अतः प्रथमम्** इति, विवादास्पदत्वात् तदेव प्रथमं विचार्यते इति अर्थः. **तुल्यत्वेऽपि** इति, ज्ञानादिजनकस्य भक्तिजनकस्य वा स्नानादिसाधनस्य तुल्यत्वेऽपि फलबलाद् बलिष्ठता इति अर्थः. **परत्वं वा** इति. धर्मोद्देशेन परत्वविधानस्यैव अत्र सिद्धान्तयिष्यमाणत्वाद् इति भावः. **अग्रे** "धर्मस्य" (श्लो. ९) इति श्लोके. **स्वातन्त्र्यं च सहाय** इति. स्वतन्त्रेणैव धर्मः शक्यते कर्तुं, न परतन्त्रेण इति अर्थः. **केचिद्** इति. भक्तिसाधनोद्देशेन धर्मविधाने हि ज्ञानादिसाधनेषु 'धर्म'पदस्य सर्वत्र वाक्यमात्रेषु लाक्षणिकत्वापत्तिः इति धर्मोद्देशेन परत्वमेव विधेयम् इति

---

१. सन्दिग्धपरत्वं वा इति क.   २. धर्मत्वविचारे इति भावः -सम्पा.

इति. हेतुः फलाभिसन्धानं, प्रतिघातो रोगादिभिः. तस्यापि फलम् आह— **आत्मा** अन्तःकरणसाक्षी भगवान् **प्रसीदति**, स्वपर्यवसानात् **सुष्ठु** ॥६॥

भक्तेः विषयं प्रयोजनञ्च आह.

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ॥
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानञ्च यदहैतुकम् ॥७॥

वासुदेवे इति. शुद्धसत्त्वात्मके अन्तःकरणे आविर्भूतो **वासुदेवः**, "सत्त्वं विशुद्धम्" (भाग.पुरा. ४।३।२३) इति वाक्यात्. स च ध्यानादिभेदेन देवतान्तरविषयेण अन्योऽपि भवति, तद्व्यावृत्त्यर्थम् आह **भगवति** इति. रुचिमात्रत्वनिराकरणाय परम्परासिद्धये **योग** इति. **भक्तिरेव योगः**. **प्रकर्षो** हि[१] दीर्घकालादर-नैरन्तर्यम्. तस्य परमफलं भगवत्प्रसादः सर्वत्र अनुवर्तते, अन्यदपि आह **जनयति** इति. **आशु** शीघ्रं विषयेषु **वैराग्यम्** आत्मनि **च ज्ञानम्**. तच्च **अहैतुकं** न अनुमानगम्यं किन्तु साक्षात्काररूपम्. एवं धर्मादि-ज्ञानान्ता एका परम्परा निरूपिता ॥७॥

तस्या अपि निर्धारिकाम् अन्यां परम्परां वक्तुं धर्मस्य तदजनने बाधकम् आह.

प्रकाशः

वासुदेवेत्यत्र. अन्य इति, मूर्तिरूपो अवताररूपो वा इति अर्थः ॥७॥

धर्मः इत्यत्र. **वक्तुम्** इति, "धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य" (श्लो. ९) इत्यादिभिः चतुर्भिः वक्तुम् इति अर्थः.

लेखः

केचिद् इत्यनेन अस्वरसो बोधितः. **स्वपर्यवसानाद्** इति, प्रसादस्य आत्मपर्यवसानाद् इति अर्थः ॥६॥

वासुदेवे इत्यत्र. **एवं धर्मादिज्ञानान्ता** इति. अयं हि क्रमः— प्रथमं स्नानादिसाधारणो धर्मः, ततो रुचिरूपा भक्तिः भगवत्प्रसादश्च, ततो वैराग्यम् आत्मज्ञानं च इति भावः ॥७॥

---

१. हीति नास्ति ख-घ-ङ.

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः ॥
नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥८॥

धर्मः स्वनुष्ठितः इति. **धर्मः** साधनं, कथारुचिः साध्या. तत्र स्वरूपोपकारी धर्मो अग्रे वक्तव्यः ; अदृष्टद्वारा उपकारिणां व्यभिचारसम्भावनायाः विद्यमानत्वाद् निन्दति. **सम्यग् अनुष्ठितोऽ**पि स्नानादि**धर्मः**. **विष्वक्** परितः **सेना** आज्ञा वा यस्य, अनेन ''रत्यभावे सर्वम् अन्यथा भवेद्'' इत्यत्र हेतुः उक्तः. प्रासङ्गिकत्वाभावाय सप्तमी. बहुवचनं सामान्यत्वाय. वीर्यत्वाद्यभावाय **कथा** इति. **यः** इति धर्मस्य पूर्वोक्तबलं सूचितम्. **रतिं** प्रीतिम्. तदा तस्य धर्मस्य स्वरूपम् आह **श्रम एव हि केवलम्** इति— यथा मल्लानां गात्रचालनाद्यभ्यासः तथा स्नानाद्यभ्यासोऽपि. अन्यव्यावृत्त्यर्थम् **एव**कारः ; तेन न अदृष्टम् उत्पद्यते इति अर्थः. **हि** युक्तोऽयम् अर्थः, फलव्यभिचारात्. ननु श्रमे बलवृद्धिः मल्लादिषु दृष्टा तथा अत्रापि लौकिकं किञ्चिद् भविष्यति इति आशङ्क्य आह **केवलम्** इति, फलान्तरस्य अदर्शनात्. प्रतिष्ठापि न सद्भिः निरूप्यते. स्वर्गादीनान्तु फलत्वम् अग्रे निराकरिष्यते. एवं साधारणधर्मस्य वैयर्थ्यम् उक्तम्. पुत्रादिकामनया

प्रकाशः

अन्यव्यावृत्त्यर्थम् इति धर्मत्वव्यावृत्त्यर्थम्. एतेन पूर्वं ''स्वर्गादिसाधके धर्मत्वं सन्दिग्धम्'' (सुबो. श्लो. ६) इति यदुक्तं तत् साधितम्. **साधारणधर्मस्य** इति सर्वेषाम् आवश्यकस्य नित्यस्य ॥८॥

लेखः

धर्मः स्वनुष्ठितः इत्यत्र. **धर्मः** इति स्नानादिः. **स्वरूपः** इति, स्वरूपतः साक्षादुपकारी श्रवणादिरूपः इति अर्थः. **अग्रे** इति. ... . **प्रासङ्गिकत्व** इति. रतिः तावद् मुख्या लौकिकद्रव्यादौ संसारिणाम्. तच्च द्रव्यादिकं भगवत्कथारत्या सेत्स्यति इति श्रुते सति कस्यचित् सुखात् कथादौ रुचिः उत्पद्यते. सा प्रासङ्गिकी. सा च सप्तम्या मुख्यविषयत्वोक्त्या निवार्यते. अन्यथा षष्ठ्येव सम्बन्धसामान्ये विदध्याद् इति भावः. **सामान्यत्वाय** इति, कथासामान्यत्वाय इति अर्थः. **वीर्य** इति. सा माहात्म्यश्रवणे तु जायते एव इति भावः. **पूर्वोक्त** इति, ''स वै पुंसाम्'' (श्लो. ६)

क्रियमाणो धर्मो धर्म एव न भवति, फलस्य अविद्याकार्यत्वेन दुःखरूपत्वात्, किन्तु भित्त्यादिकृतिवत् नैमित्तिकमेव. तत्र यजत्यादेः अनुवादः. चित्तशुद्ध्यभावेन

प्रकाशः

धर्मस्य इत्यत्र. ननु भवतु सामान्यधर्मस्य तथात्वं– तस्य 'दतो धावति' इत्यादिवत् फलसंस्कारत्वेन स्वतःफलवत्त्वाभावात्, मुख्यकर्माभावे केवलस्य तस्य अप्रयोजकत्वाच्च– परन्तु फलसाधकत्वेन विहितस्य काम्यस्य कथं न धर्मत्वम् इति आकाङ्क्षायां तस्य तथात्वम् उपपादयन्ति [1]**पुत्रादीत्यादि. फलस्य** इत्यादि, तस्मिन् पुत्रादिरूपेण फलत्वाभिमानस्य अविद्याकार्यत्वेन तस्य तथात्वाद् इति अर्थः. तथाच अनर्थसाधकत्वेन अर्थत्वाभावात् न धर्मः इति भावः. तत्स्वरूपं किमिति आकाङ्क्षायां तत् परिच्छिन्दन्ति **किन्तु** इत्यादि. **भित्त्यादिकृतिवद्** इति. यथा कामनाविशेषरूपे निमित्ते भित्त्यादिकरणेन स्वसम्बन्धो नियम्यते तथा तादृशधर्मेणापि कामनाविशेषरूपे निमित्ते स्वस्य सम्बन्धो नियम्यते इति तथा इति अर्थः. काम्ये नैमित्तिकत्वं ''नैमित्तिके विकारत्वाद्[2]...'' (जैमि.पूर्वमी.सूत्र ४।३।४) इति सूत्रात् सिद्धम्. ननु यथा ''यस्य'' आहिताग्नेः ''अग्निर्गृहान् दहति सोऽग्नये क्षामवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेद्''(तैत्ति.संहि. २।२।२।५) इत्यादौ नैमित्तिकस्यापि निर्वापस्य धर्मत्वम् एवं ''चित्रया यजेत पशुकामः'' (तैत्ति.संहि. २।४।६।१), ''देविका निर्वपेत् प्रजाकामः'' (तैत्ति.संहि. ३।४।९।१) इत्यादौ अपि चोदनारूपस्य धर्मलक्षणस्य सत्त्वात् कथं न धर्मत्वम् इत्यतः आहुः **तत्र** इत्यादि. ननु तत्र ''देवांश्च याभिर्यजत'' (तैत्ति.ब्रा. २।४।६।९) इतिवद् यदुपबन्धाद्यभावात् कथम् अनुवादत्वनिश्चयः इत्यतः आहुः **चित्तेत्यादि.** ''क्षुत आचामेद्'' (.   । ।) इत्यादिना शुद्धिविधायक-शास्त्रेण

लेखः

इति श्लोकोक्तं भक्तिजननस्वरूपं बलम् इति अर्थः. **अनुवादः** इति, देवपूजाद्यर्थस्य बाधाद् निरर्थकः इति अर्थः. न केवला प्रकृतिः नापि

---

१. अयम् अष्टमश्लोकसुबोधिन्यंशः प्रकाशकाराः नवमश्लोकोत्थानिकातया योजयन्ति - सम्पा.

२.''नैमित्तिके विकारत्वात् क्रतुप्रधानम् अन्यत् स्यात्'' - सम्पा.

अधिकाराभावाद् अन्यथाकरणाद् देवताधिष्ठानाभावात् क्रियायाः लौकिकत्वम्. फलं साधनञ्च सामान्यतः पूर्वमेव प्रतीतम्. तथाच औषधादिवत् तृतीयया करणत्वमात्रं बोध्यते, यजतिस्तु[१] व्यर्थः, तस्माद् न धर्मत्वम् ॥८॥

प्रकाशः

"शुद्धः कर्म आचरेद्" (भाग.पुरा. ११।२१।१४) इत्यादिना च शुद्धेः अङ्गत्वावगमात् तस्याः बाह्यायाः इव आन्तर्यायाः अपि आवश्यकत्वात् **तदभावेन अधिकाराभावात्**, "यदेव विद्यया करोति तत्तदेव अस्य वीर्यवत्तरं भवति" (छान्दो.उप. १।१।१०) - "विदुषः कर्मसिद्धिः स्यात् तथा नाविदुषो भवेद्" (भाग.पुरा. १०।२४।६) इत्यादिभिः च ज्ञानस्यापि अङ्गतया वाक्यतात्पर्यज्ञानस्यापि आवश्यकत्वात् तदभावेन **अन्यथाकरणे देवताधिष्ठानाभावात् क्रियायाः लौकिकत्वम्**. तथाच शुष्केष्टिवद्[२] अनुकरणरूपत्वाद् यजतिवैयर्थ्यम् इति अर्थः. हेत्वन्तरम् आहुः **फलम्** इत्यादि. तथाच यथा "देवांश्च" इत्यत्र वाक्यान्तर-सिद्धानुवादकत्वं तथा तेषु लोकसिद्धानुवादकत्वम् इति यजतिवैयर्थ्यम् इति अर्थः.

लेखः

प्रत्ययाः प्रयोक्तव्याः इति प्रत्ययसंरक्षणार्थम् इति वा. तथापि निरर्थकत्वं तु तदवस्थम् एव. **फलम्** इति. पशुपुत्रादौ फलत्वं यागादौ साधनत्वं च अविद्वद्दशायामेव प्रतीतम्. अत एव विद्वद्भिः वसिष्ठादिभिः तथैव क्रियते इति न सर्वदेवादिसान्निध्यम् इति भावः. **औषधादिवद्** इति. यथा औषधादयः रोगादिनिवृत्तौ सत्यां न आद्रियन्ते तथा फलसिद्धौ सत्यां यागादिकमपि, नतु पुरुषार्थरूपत्वं भगवद्रूपत्वं वा ज्ञात्वा निर्वाहयन्ति इति अर्थः. ननु एवञ्च यागस्वरूपत्वाभावे 'यजति' कथं प्रयुक्तः इत्यतः आहुः **स्तुत्यर्थः** इति. कर्मस्तुतिमात्रम् अलौकिकत्वबोधनेन क्रियते, नतु किञ्चित् फलम् इति अर्थः ॥८॥

---

१. यजति स्तुत्यर्थः इति पाठः लेखे - सम्पा.	२. शुष्केष्टिन्यायः = उपाध्यायाः दर्शेष्ट्यादि शिक्षयन्तः प्रत्यक्षाग्नि-हविः-आदिवर्जम् इष्टिप्रयोगं छात्रान् शिक्षयन्ति सा पद्धतिः. हविरग्निराहित्यं शुष्कत्वम्. (मीमांसाकोशे जैमिनीयन्यायमालाविस्तरे ९।२।२) - सम्पा.

ननु कामितं फलं पुरुषार्थः, तत्साधकस्य कथं न धर्मत्वम्? तत्र आह.

धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते ।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः ।।९।।
कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता ।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः ।।१०।।

धर्मस्य इति. "अर्थोऽभिधेय-रै-वस्तु-प्रयोजन-निवृत्तिषु" (अम.कोश ३।३।८६) इति कोशाद् 'अर्थ'शब्दस्य पञ्चार्थाः. तत्र शब्दप्रकरणाद्[१] न अभिधेयत्वम्, उपपदस्य अभावाद् न निवृत्तित्वम्, ततो रै-वस्तु-प्रयोजनानि अवशिष्यन्ते. तत्र धन-पशु-पुत्रादयो रैरूपाः. ते धर्मकार्याः न भवन्ति. धर्मो हि चोदनालक्षणः. तत्र लौकिकत्वेन विधिस्पर्शाभावाद् न धर्मत्वम्,

प्रकाशः

ननु कामितम् इत्यादि. "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" (जैमि.पूर्वमी.सूत्र १।१।२) इति सूत्रस्य "वेदेन प्रयोजनम् उद्दिश्य विधीयमानो अर्थो धर्मः" इति अर्थकथनात् 'कामितम्' इति अकथनात् कामितस्यैव प्रयोजनत्वात् **तत्साधकस्य कथं न धर्मत्वम्** इति अर्थः. ननु वाक्येषु तत्तत्फलोद्देशेनैव

लेखः

धर्मस्य इत्यत्र. **शब्दप्रकरणाभावाद्** इति. शब्दशक्तिग्राहकाभिधान-कोशादिप्रकरणे हि 'अर्थ'शब्दप्रयोगे अभिधेयरूपः अर्थएव बोध्यते. यथा 'पिकार्थः कोकिल' इति प्रयोगे 'पिक'पदवाच्यः कोकिल इत्येव बोध्यते, शब्दप्रकरणवशात्. न तथा अत्र तत्प्रकरणम् अस्ति इति भावः. **उपपदस्य** इति. यथा 'मशकार्थो धूमः' इत्यादौ 'मशका'दिशब्दस्य उपपदत्वे हि मशकनिवृत्त्यर्थं धूमः इति अर्थः स्वारसिकः. न तथा अत्र **अर्थ**शब्दे किञ्चिद् उपपदम् अस्ति इति. **धर्मकार्या** इति. धनादिजनक-कर्मसु लौकिकत्वेन तत्र विधिसम्बन्धो न इति न धनादिषु धर्मकार्यत्वम् इति अर्थः. ननु धनादीनां लौकिकत्वेऽपि यागादिमुख्यधर्म-साधकत्वेन धर्मोपयोगित्वात्

१. शब्दप्रकरणाभावाद् इति पाठः लेखे - सम्पा.

अन्यथा भेषजपानादेः अपि धर्मत्वं स्यात्. तथा प्रतिग्रहस्य. अपूर्वांशस्तु नास्त्येव. किञ्च एते हि वस्तुतो अनर्थाः, आत्मनाशकत्वात्. तथाच यथा श्येनादयो न धर्माः तथा धनार्थादिसाधकाः न धर्माः ; ये पुनः धर्माः ते न धनादिसाधकाः इति अर्थः. तथा न परमार्थरूपाः न वा

प्रकाशः

तस्य तस्य यागादेः विधानदर्शनात् कथं विधिस्पर्शाभावो अवगन्तुं शक्यः इत्यतः आहुः **अन्यथा** इत्यादि. लौकिकेऽपि विधिस्पर्शो यदि अभ्युपेयते तदा तथा स्याद्. अतः तत्र तृतीयाबोधित-करणत्वेन फलसिद्धिः, नतु धर्मत्वमपि तत्र प्रयोजकम्. अतः तदनुरोधेन लक्षणार्थः तथा न शक्यवचनः इति अर्थः. ननु तया क्रियया अपूर्वजननात् कथं न तस्या धर्मत्वम् इत्यतः आहुः **अपूर्वे**त्यादि. आरोग्य-धनादिरूप-दृष्टफललाभेन अदृष्टस्य अपूर्वस्य कल्पनम् अप्रयोजकम् अतो न इति अर्थः. ननु यागोत्तरं कालविलम्बेन फलजननाद् मध्ये अपूर्वं क्रिययैव उत्पद्यते इति अवश्यम् अङ्गीकर्तव्यम्— अन्यथा तदैव फलं स्यात्, नैव स्याद् वा. तत्र आद्ये प्रत्यक्षविरोधः, अन्त्ये श्रुतौ दोषप्रसक्तिः. तदुत्पद्यत एव —इति कथं न धर्मत्वम् इति शङ्कायां तदुत्पत्तिम् उपगम्य दूषणान्तरम् आहुः **किञ्च एते हि** इत्यादि. एवं रैरूपस्य अर्थस्य धर्मकार्यत्वं खण्डितं, शेषं खण्डयन्ति **तथा न**

लेखः

तज्जनककर्मसु धर्मत्वम् उपचर्यताम् अतः आहुः **अन्यथा** इति. यदि लौकिकेऽपि विधिसम्बन्धम् आद्रियते तदा इति अर्थः. **भेषजपानादि**-क्रियाया अपि धर्मसाधक-देहपौष्ट्यादि-साधनत्वात् तत्रापि धर्मत्वापत्तिः इति भावः. एवं **प्रतिग्रहस्य** अपि हस्तप्रसारणादि-क्रियारूपस्य यजमानधर्म-साधकत्वात् तत्रापि तत्त्वापत्तिः इति बोध्यम्. तथाच प्रतिग्रहीतुः अपि धर्मभाक्त्वं स्याद् इति भावः. न च इष्टापत्तिः, कैः अपि अनङ्गीकाराद् इति. ननु अपूर्वजननात् तस्याः क्रियायाः कथं न धर्मत्वम् अतः आहुः **अपूर्व** इत्यादि. आरोग्य-धनादिरूप-दृष्टप्रयोजनस्य लाभात् तदपूर्वकल्पना अनवसर-पराहतैव इति भावः. एवं धनार्थकत्वे अस्वरसं प्रदर्श्य वस्तुप्रयोजनार्थत्वम् अपि निषेधन्ति **तथा न परमार्थ** इत्यादि. वस्तु-प्रयोजनयोः स्वरूपे

प्रयोजनरूपाः. किञ्च धर्मविशेषः[१] स भवतु नाम, निवृत्तार्थपुरुषार्थस्य मुमुक्षोः धर्मकर्तुः धर्मः कथम् अर्थाय स्याद् इति आह **आपवर्ग्यस्य**[२] इति. अपवर्गसम्बन्धिनः, अपवर्गपर्यन्तं वा क्रियमाणस्य. ननु धर्मार्थकाममोक्षाः चत्वारः पदार्थाः पूर्व-पूर्वसाधनरूपाः, तथाच धर्मः कथं न अर्थाय?

प्रकाशः

इत्यादि. अपरत्वात् **न परमार्थरूपाः**. प्रकर्षेण युज्यते इति युज्यते अनेन इति वा प्रयोजनं, तदुभयरूपत्वाभावात् **न प्रयोजनरूपाः** इति अर्थः. ननु एवं सति काम्येष्टि-पशुकाण्डस्य धर्मपरत्वहानिः, तथाच "वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" (मनुस्मृ. २।६) इति अखिलविरोधः इति आशङ्कायां गौणधर्मत्वं तत्र उपगम्य आहुः **किञ्च धर्म** इत्यादि. तथाच इयम् अत्र व्यवस्था— यदा लौकिकफलासक्त्या वेदस्य तत्परत्वं निश्चित्य काम्यं कर्म करोति तदा तस्य श्येनादिवद् अनर्थत्वात् न धर्मत्वम्. यदा च भगवत्कृपादिना तस्य औषधरोचनवत् प्ररोचनया अतिबहिर्मुख-साम्मुख्यार्थतां ज्ञात्वा लोकसङ्ग्रहाय करोति तदा गौणधर्मत्वम् इति उभयथापि पुत्रादीनां लौकिकानां न धर्मफलत्वम् इति सिद्धम्. एवं धर्मस्य अर्थसाधकत्वं दूषितम्.

अतः परम् अर्थस्य कामसाधकत्वं दूषयितुं धर्मसाधकत्वञ्च साधयितुम् अग्रिमम् अवतारयन्ति **ननु** इत्यादि. **पूर्वपूर्वसाधनरूपा** इति, पूर्वं पूर्वं यथा स्यात् तथा साधनरूपाः इति अर्थः. "धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते" (महाभा. १८।५।४९) इत्यादि "कामाः फलभूताश्च

लेखः

विचार्यमाणे लोके धन-पशु-पुत्रादीनामेव वस्तु-प्रयोजनत्वाभ्यां प्रसिद्ध्या पशुपुत्रादयएव वस्तुत्वेन प्रयोजनत्वेन च वाच्याः. ते च आत्मनाशकत्वादि-विधर्मसाधकत्वात् न परमार्थरूपाः इति न वस्तुबोधकत्वम् 'अर्थ'शब्दस्य न वा प्रयोजनार्थकत्वम् इति अर्थः. अथ "तुष्यतु दुर्जन" इति न्यायेन यथाकथञ्चिद् अस्तु धर्मत्वं परन्तु मुख्यधर्मत्वं तु न वक्तुं शक्यते एव इति बोधयन्तः **आपवर्ग्यपदार्थम्** आहुः **किञ्च धर्मविषयः** इत्यादिना.

१. धर्मविषय इति पाठः लेखे - सम्पा. २. आपवर्गस्य इति ग-घ.

तत्र आह **न अर्थस्य** इति. अदृष्टाद् दृष्टं हि बलवद्; अर्थेन हि धर्मो दृश्यते, नहि धर्मेण अर्थः. **धर्मएव एकः अन्तः** पर्यवसितं कार्यं यस्य इति. तथाच येन केनापि उपायेन अर्थं सम्पाद्य धर्मः कर्तव्यः, नतु धर्मेण अर्थसम्पादनम्. ननु तर्हि अर्थः सर्वसाधको अस्तु, कामस्यापि तत्कार्यत्वेन दर्शनात्, तत्र आह **कामो लाभाय** इति. **कामो** विषयसुखम्, इन्द्रियविषयाधीनं हि तत्. तत्र विषयांशे नापि अर्थोपयोगः, रूपादीनामेव

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

कामो लाभाय इत्यत्र. **तत्र विषयांशे** इति, विषयांशे अर्थस्य उपयोगोऽपि नास्ति इति अर्थः. **न च** इति. **अर्थपदेन** धनं, तथाच

प्रकाशः

धर्मार्थयोः'' (कामसूत्र १।२।३७) इत्यादि च अत्र साधकं ज्ञेयम्. अत्र कामस्य मोक्षसाधकत्वं ''प्रजापतिः अमृतमानन्द इत्युपस्थ'' (तैत्ति.उप. ३।१०।३) इति दृष्टान्तद्वारा प्रतिभाति. एतं कार्यकारणभावं प्रत्यक्षविरोधाद् दूषयन्ति **अदृष्टाद्** इत्यादि. **दृश्यते** इति, होम-दानादिरूपो दृश्यते. तथाच यथा ''एष उ एव साधु कर्म कारयति'' (कौषीतकि.उप. ३।८) इत्यादिश्रुत्युक्तमपि ईश्वरप्रवर्तकत्वमतं मीमांसकैः न आद्रियते तथा अपूर्वद्वारा धर्मो अर्थसाधकः इति मतं दृष्टविरोधात् मुमुक्षूणामपि अनादरणीयम् इति अर्थः. **तर्हि** इति. अर्थत्वेन धर्मत्वेन कार्यकारणभाव-व्यभिचारेऽपि कामत्वेन अर्थत्वेन कार्यकारणभावस्य आढ्येषु दर्शनाद् धर्मत्वेन अर्थत्वेन कार्यकारणभावस्य साधितत्वाद् अव्यभिचाराच्च इति अर्थः. इदं दूषयन्ति **काम** इत्यादि. **विषयसुखम्** इति. ''इन्द्रियाणां स्वे स्वे विषये आनुकूल्येन प्रवृत्तिः कामः'' (कामसूत्र १।२।११) इति कामसूत्रे 'आनुकूल्य'पदेन सुखस्य बोधनात् तदेव कामः. तथाच अयमपि कार्य-कारणभावः प्रत्यक्षविरुद्धः इति अर्थः. ननु विषयकोटौ अर्थस्य निवेशाद् विषयकारणतायाश्च अङ्गीकारात् कथं प्रत्यक्षविरोधः इत्यतः आहुः **तत्र** इत्यादि. **विषयांशे अर्थस्य** स्रक्-चन्दन-वनिता-धनादि-रूपस्य **उपयोगोऽपि न** इति कुतस्तरां कारणता इति अर्थः. ननु माऽस्तु अर्थस्य कामं प्रति साक्षात्कारणता तथापि स्रक्-चन्दन-वसनादिभी रूपादीनाम् उत्कर्षः सम्पाद्यते इति उत्कर्षप्रयोजकतया

विषयत्वात्, नच रूपादिसम्पादकः. सिद्धानि रूपाणि अन्यस्य भवन्ति इति [1]चेद्, विपरीतम् आयातम्— अर्थे प्राप्ते रूपादि गच्छति, गते

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

वस्त्रालङ्कारादीनाम् आपाततः सौन्दर्यजनकत्वेन अर्थस्य कामहेतुत्वम् इति न च इति अर्थः. **सिद्धानि** इति. **अन्यस्य** अर्थस्य धन-पशु-पुत्रेषु अन्यतरस्य वा **रूपाणि** स्वरूपाणि **सिद्धानि भवन्ति** कामाद् जायन्ते **इति यत्** यस्माद् हेतोः **विपरीत**सम्पादनम् **आयातम्** इति अर्थः. अर्थस्य कामजनकत्वं दूरापास्तं प्रत्युत कामजन्यता सिद्धा. दूषणान्तरम् आहुः **अर्थे** इति. **अर्थे** पुत्रे **प्राप्ते** जाते **रूपादि** सौन्दर्यादि **गच्छति** नश्यति इति अर्थः. तथाच रूपादीनां नाशकत्वम् अर्थस्य, न सम्पादकत्वम्. ननु पुत्रांशे वैपरीत्यम् अस्तु, धनस्य रूपसम्पादकत्वात् कामजनकता अस्तु इति आशङ्क्य आहुः **गते** इति. धनादिनाशेऽपि सौन्दर्याद्युपलम्भाद्

प्रकाशः

कारणत्वं केन वार्यताम्? इत्यतः आहुः **न च** इत्यादि. अर्थः इति शेषः. कुतो न इत्यतः आहुः **सिद्धानि** इत्यादि. अर्थस्य किं स्वनिष्ठ-रूपादिसम्पादनेन कामजनकत्वम् उत अर्थान्तरनिष्ठ-तत्सम्पादनेन इति विचारणीयम्. तत्र आद्यं प्रत्यक्षविरुद्धं, स्रगादेः स्वगुणोत्कर्ष-सम्पादकत्वादर्शनात्. द्वितीयं चेत् तत्रापि विचारणीयं किं भोक्तृनिष्ठ-तत्सम्पादनेन उत भोग्यनिष्ठ-तत्सम्पादनेन. तत्र आद्ये तु **अर्थे प्राप्ते**

लेखः

विषयांशे नाप्यर्थोपयोगः इति. **नापि विषयांशे अर्थोपयोगः** इति योजना. **सम्पादकः** इति, अर्थः इति शेषः. **सिद्धानि** इति. यतः कारणाद् **रूपाणि पूर्वसिद्धानि** उत्पत्तिशिष्टानि एव अतः अर्थः **रूपादिसम्पादको**ऽपि न इति अर्थः. प्रत्युत धनवतो **अन्यस्य** धनादिरहितस्यापि रूपादीनि दृश्यन्त इयत्त्वेन वैपरीत्यम् **आयातम्**. तदेतत् स्पष्टयन्ति **अर्थे प्राप्ते** इत्यादि. अत्युग्रप्रतिग्रहादौ तथा दर्शनाद् इति भावः. **गते च** इति.

१. यद् इति पाठः टिप्पण्याम् - सम्पा.

च अर्थे रूपादिप्राप्तिः इति. परावृत्तौ अपि साध्य-साधनता चेत्, तत्रापि वैपरीत्यम् उक्तम्. तथाच वस्तु-व्यत्यासवद् अर्थेन अर्थइव न कामः.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

व्यतिरेकव्यभिचारः इति न अर्थस्य कामजनकता इति अर्थः. **सिद्धानि** इत्यादि दूषणानां फलितार्थम् आहुः **परा** इति. अत्र **परावृत्ति**पदेन पूर्वोक्तप्रकारेण पुनःकथनम्. तथाच लोकप्रसिद्ध-क्रमग्रहिलतया 'ननु' इत्यादिना पूर्वोक्तप्रकारेण पुनःकथने अर्थस्य **साधनता** कामस्य **साध्यता** उच्यते **चेत् तत्रापि वैपरीत्यं** स्पष्टमेव इति अर्थः. यथा धर्मार्थयोः वैपरीत्यं तथा कामार्थयोः अपि इति **अपि**शब्दार्थः. सर्वस्य फलितार्थम् आहुः **तथा** इति. **व्यत्यास**पदेन

प्रकाशः

रूपादिकं गच्छति, युद्ध-प्रतिग्रहादिना अर्थप्राप्तौ तथा दर्शनात्. अर्थस्य विषयनाशकत्वेन कामनाशकत्वम्. द्वितीये तु स्वीयो अर्थो भोग्याधीनो भवति इति स्वतो **गतेऽर्थे रूपादिविषयप्राप्तिः इति**– अर्थनाशनद्वारा विषयस्यैव कामजनकत्वं नतु अर्थस्य विषयोत्कर्षजननद्वारा इति– उभयथा वैपरीत्यम् **आयातम्** इति अर्थः. ननु द्वितीये स्वीयार्थस्य भोग्याधीनतया गमनेऽपि तेन भोग्यरूप-स्त्र्यादेः अर्थस्य स्वाधीनतासम्पादनात् तेन स्त्र्यादिना च उत्कृष्ट-विषयसुखसिद्धेः अर्थस्य कामजनकत्वं सिद्धम् इति चेत्, तत्र आहुः **परावृत्तौ** इत्यादि. **साध्यसाधनता** इति कामसाधनता. तथाच अर्थस्य अर्थान्तरसाधकतया कामजनकत्वं यदि उपेयते तदापि स्त्रिया पुत्ररूपार्थप्राप्तौ स्त्रीरूपनाशदर्शनाद् विषयनाशनद्वारा कामनाशकत्वरूपं पूर्वोक्तमेव वैपरीत्यम् आपतितम् इति अर्थः. सिद्धम् आहुः **तथाच** इत्यादि. **अर्थरूपाः** इति,

लेखः

कलहादिना प्राप्ते दुष्टे धने गते सत्येव रूपादिप्राप्तिः इति वैपरीत्यम् इति अर्थः. ननु कुत्रचिद् धनागमनेन रूपपरावृत्तिः दृष्टा, तत्र का गतिः इत्याशङ्क्य समादधते **परावृत्तावपि** इत्यादि. रूपपरावृत्तिस्थलेऽपि रूपोत्पत्ति-धनागमयोः कार्य-कारणभावे प्रतीयमानेऽपि पूर्वोक्तवैपरीत्य-दर्शनेन व्यभिचारनिश्चयाद् उक्तप्रतीतेः भ्रान्तिमात्रत्वमेव इति भावः. सिद्धम् आहुः

नच विषयाएव अर्थरूपाः कामसाधकाः इति वाच्यं, लोकप्रसिद्ध्यभावाद्, अर्थसाधकस्यापि धर्मत्वापत्तेश्च. लोके साहचर्यमात्रेण साधनत्वप्रतीतिः. कदर्यस्य

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

व्यतिहारः, तथाच यस्य कार्यत्वं वक्तव्यं तस्य कारणत्वम् उक्तम् इति आशयः. तथाच प्रसिद्धक्रमे यस्य यत्कार्यत्वं, प्रकृते तस्य तत्कारणत्वम् इति व्यत्यासः. तदेव स्पष्टयति **अर्थेन** इति. अर्थेन कामो न जन्यते. तत्र दृष्टान्तः **अर्थ इव** इति. यथा धर्मेण न अर्थो जन्यते. तथाच प्रसिद्धक्रमभङ्गः इति भावः. **न च** इति. **अर्थ**पदेन पदार्थः. तथाच **विषया** अपि पदार्थाइति कामजनकता इति न च वक्तव्यम् इति अर्थः. तत्र दूषणं **प्रसिद्ध्यभावः**. द्वितीयं दूषणम् **अर्थसाधक** इति. अनया रीत्या यस्य कस्यापि पदार्थस्य धनादिसाधकस्य धर्मत्वं स्याद् इति अर्थः. **लोके** इति. अव्यभिचरितव्याप्त्या साधनता प्रतीयते इति अर्थः ॥९-१०॥

प्रकाशः

'अर्थ्यते अभीप्स्यते इति अर्थः' इति योगेन अर्थरूपाः इति अर्थः. **लोके**त्यादि. "रूढिः योगम् अपहरति" इति न्यायात् तथा इति अर्थः. **अर्थे**त्यादि. एवं प्रयोजकत्वेन अर्थस्य कामजनकत्वाङ्गीकारे अर्थस्य धर्मजनकत्वदर्शनाद् **अर्थसाधकस्य** कर-दण्ड-चौर्यादेः **अपि धर्मजनकत्वापत्तेः** इति अर्थः. तर्हि लोके कथं साधनत्वप्रत्ययः इत्यतः आहुः **लोके**

लेखः

तथा च इति. यथा बहुधा साहचर्यदर्शनेऽपि एकस्मिन् स्थले व्यभिचारदर्शने कार्य-कारणभावविरहः तथा व्यभिचारिणा अर्थेनापि न कामः इति अर्थः. अत्रार्थे समीपस्थमेव दृष्टान्तम् आहुः **अर्थः** इति. धर्मेण अर्थः इव इति अर्थः. एवञ्च धर्मेण अर्थो यदि न उत्पाद्यते व्यभिचारात् तथा अर्थेन कामोऽपि न इति अर्थः. एतेन "धर्माद् अर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते" (महाभा. १८।५।४९) इति दूषितं ज्ञेयम्. **लोकप्रसिद्धि** इति, विषयाणाम् अर्थत्वेन लोकप्रसिद्ध्यभावाद् इति अर्थः. यदि लोकवेदप्रतीति-बाधितस्यापि पदार्थस्य अङ्गीकारः तदा तु **अर्थसाधकस्य** कर्मादेः **धर्मस्य ह्यापवर्गस्य नाऽर्थोऽर्थायोपकल्पते** इत्यनेन युक्त्या प्रमाणेन

अर्थवतोऽपि कामाभावाच्च, पश्वादीनाम् अर्थाभाववतामपि कामदर्शनात् च. तथा मस्करिणः. तथाच आत्मविदः, "आप्तकामात्मकामः" (बृहदा.उप. ४।४।६) इति श्रुतेः. तथाच क्वचित् साहचर्यदर्शने न साध्य-साधनभावः

प्रकाशः

इत्यादि. तर्हि प्रसिद्धेः सार्वजनीनत्वात् तादृशप्रतीतेः भ्रान्तत्वं कथं वक्तुं शक्यम् इत्यतः आहुः **कदर्यस्य** इत्यादि. ननु कदर्यत्वस्य प्रतिबन्धकत्वात् न अन्वयव्यभिचारः इत्यतः आहुः **पश्वादीनाम्** इत्यादि. ननु तृणारणिमणि-न्यायेन पशुत्वस्यापि व्यक्तिविशेषं प्रति कारणत्वे व्यतिरेकव्यभि-चारोऽपि न इत्यतः आहुः **तथा** इत्यादि. तथाच अन्वयव्यतिरेक-व्यभिचारदर्शनात् प्रसिद्धिः देहात्मप्रसिद्धिवद् भ्रान्ता इति अर्थः. **तथाच** इत्यादि. "घटादिरूपा पृथिवी लोहलेख्या, पार्थिवत्वात्, वृक्षादिवद्" इत्यत्र लोहलेख्यत्व-पार्थिवत्वयोः इव साहचर्यमात्रम् अप्रयोजकम् इति अर्थः. एवं **कामो लाभाय** इति व्याख्यातम्. ननु माऽस्तु कामार्थयोः

लेखः

च धर्मत्वेन निषिद्धस्यापि धर्मत्वप्राप्तिः इति अर्थः. श्रीवल्लभाः[१] अपि एवमेव आहुः. ननु यदि लोकप्रतीतिं पुरस्कृत्यैव सर्वं साध्यते तदा तु लोके धनादिना एव कामः इत्येवं कामे धनस्यैव साधनत्वप्रत्ययात् तदपि अङ्गीकार्यमेव इत्यतः आहुः **लोके** इति. तथाच ज्ञानदुर्बलाः साहचर्यमात्रमेव अनुसन्दधतो व्यभिचारं न पश्यन्ति. सा प्रतीतिः भ्रान्ता एव इति न तया निर्णयः इति अर्थः. एवञ्च प्रमाणत्वेन उक्ता लोकप्रतीतिः शास्त्रमिश्रिता एव उच्यते इति न तत्र भ्रान्त्यादिसम्भव-गन्धोऽपि इति न तत्साम्यम् इति भावः. अर्थकामयोः व्यभिचारस्थलं प्रदर्शयन्ति **कदर्यस्य** इत्यादि. **मस्करिणः** इति, परिव्राजकस्य संन्यासिनः इति अर्थः, "मस्कर-मस्करिणौ वेणु-परिव्राजकयोः" (पाणि.सूत्र ६।१।१५४) इत्यनुशासनाद् इति. तथाच संन्यस्तानां ब्रह्मविदां च द्रव्याभाववतामपि कामदर्शनाद् इति योजना. एतेषां सकामत्वे श्रुतिं प्रमाणयन्ति **आत्मकाम** इत्यादि.

---

१. टिप्पणीकाराः. द्रष्ट. पृ. ९७ - सम्पा.

इति **हि**शब्दार्थः. किञ्च "तुष्यतु दुर्जन" इति न्यायेन अर्थेन कामः साध्यताम्. स कियान् कामः कीदृशश्च? जीवनमात्रपर्यवसितः चेत्, स च आब्रह्म तृणस्तम्बपर्यन्तं स्वतःसिद्धो, न अर्थसाध्यः. [१]अथ इन्द्रियप्रीतिरूपः? अनलत्वात् तस्य न पूर्तिः अस्ति, "न जातु कामः कामानाम्" (भाग.पुरा. ९।१९।१४) इति वचनाद् अनुभवाच्च. प्रवृत्तिस्तु

प्रकाशः

अवच्छेदकावच्छेदेन कार्यकारणभावः, परं तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नः सः प्रत्यक्षेण वसनालङ्कार-वनितादिषु प्रमितः केन वार्यताम् इति आकाङ्क्षायां **कामस्य न** इति अर्धं व्याकुर्वन्ति **किञ्च** इत्यादि. **जीवनमात्रपर्यवसितः** इति. "शरीरस्थितिहेतुत्वाद् आहारसधर्माणो हि कामाः" (कामसूत्र १।२।३७) इति वात्स्यायनसूत्रसिद्धः ; अनशनादिना रोगादिदर्शनात् तन्निवृत्त्या जीवनमात्रसाधकः इति अर्थः. **स्वतःसिद्धः** इति ईश्वरनिर्मितः ; मतान्तरे

लेखः

कामस्वरूपविचारेऽपि तस्य अर्थसाध्यत्वं न घटते इति आशयेन कामस्वरूपं विचारयन्तः **कामस्य नेन्द्रियप्रीतिः** इति पूर्वार्धस्य अर्थम् आहुः **किञ्च** इत्यादिना. **स च** इति, जीवनमात्रसाधकः भोगात्मकः कामः इति अर्थः. **स्वतःसिद्धः** स्वभाववद् उत्पत्तिशिष्टः, **न अर्थसाध्यः** इति अर्थः. अथ यश्च **इन्द्रियप्रीति**जनकः कामः **तस्य** तु **अनलत्वात् न** तत्**पूर्तिः**. अतः तत्पूर्त्यभावे प्रत्युत इन्द्रियाणां क्षोभ एव जन्यते नतु इन्द्रियप्रीतिः अपि इति इन्द्रियप्रीति-हेतुत्वमेव तस्य दुर्घटम् इति स्वरूपमेव तादृशकामस्य न सिद्ध्यति इति तस्य अर्थसाध्यत्वादिसिद्धिः दुरापास्ता एव इति भावः. इन्द्रियाणां प्रीतिं रूपयति जनयति इति **इन्द्रियप्रीतिरूपः** तत्प्रीतिजनकः इति अर्थः. "न जातु कामः कामानाम् उपभोगेन शाम्यति, हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते" (भाग.पुरा. ९।१९।१४) इति वाक्यम् .... ननु कामेन इन्द्रियप्रीतिः न इति चेत्, कथं इन्द्रियप्रीतिकामः सर्वोऽपि विषयरूपे कामे प्रवर्तते इत्यतः आहुः **प्रवृत्तिः** इति. इन्द्रियप्रीत्यर्थं कामे

१. अर्थेन्द्रिय इति ख-घ.

भ्रान्त्या. तथाच **कामो** विषयभोगः **इन्द्रियप्रीति**हेतुः **न** भवति. **लाभपदं** देहलीप्रदीपन्यायेन उभयत्र सम्बध्यते. तस्मात् क्रमः साधनपरम्परारूपः— कामेन जीवनम् अर्थरूपं, जीवने धर्मः ज्ञानञ्च, तेन च मोक्षः इति अभिप्रायेण आह **जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा** इति. **जीवस्य** जीवनस्य. **तत्त्वजिज्ञासा** तत्त्वविचारः इच्छापूरक-ज्ञानसाधकः. **जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा लाभः** इति पूर्वेण सम्बन्धः. कर्मभिः साध्यो **यः** कामो वा अर्थो वा– धर्मस्तु न केवलं कर्मसाध्यः किन्तु श्रुतिबोधित-कर्मसाध्यः– तत्रापि **इह-कर्मभिः** साध्यो **न (अर्थः!)** पुरुषार्थः संसारविषयकः. यो वा दैवगत्या प्राप्तः सोऽपि न भवति इति **च**कारार्थः ॥९-१०॥

तत्त्वजिज्ञासा इत्यत्र सन्देहः— तत्त्वानां जिज्ञासा, तत्त्वस्य वा इति? **तत्त्वपदेऽपि** सन्देहः— तस्य भावः तत्त्वम्, अनारोपितं रूपं

प्रकाशः

अदृष्टनियतः. सुखात्मकस्य कामस्य अत्र ग्रहणे साध्यसाधनभाव-व्याघातात् **कामपदम्** अत्र लाक्षणिकत्वेन व्याकुर्वन्ति **विषयभोगः** इति. **उभयत्र** इति पूर्वार्धोत्तरार्धयोः. **क्रमः** इति, उच्यमानो अङ्गीकार्यः इति शेषः. **अर्थो वा** इति, स जीवनस्य अर्थो न इति शेषः ॥९-१०॥

लेखः

प्रवृत्तिः इति अर्थः. **उभयत्र** पूर्वार्धोत्तरार्धयोः इति अर्थः. **इच्छापूरक-ज्ञानसाधकः** इति. **जिज्ञासापदस्य** इच्छार्थक-प्रत्ययवत्त्वेन इच्छामात्रस्य च अपुरुषार्थत्वात् तया तत्पूरक-ज्ञानसाधकविचारः आक्षिप्यते इति आशयेन **लाभपदं** व्याख्यातं ज्ञेयम्. **कर्मभिः साध्यः** इति. **नार्थो यश्चेह कर्मभिः** इत्यस्य **कर्मभिः** साध्यः **यः** कामादि स **अर्थः** पुरुषार्थः **न** इति अर्थः विवक्षितः प्रकृते. तत्र कर्मसाध्यत्वं लोके धर्मेऽपि स्वीक्रियते, तदपि स्वरसतो न इत्याहुः **धर्मस्तु** इति. अस्तु वा धर्मः यागादिरूपः कर्मसाध्यः, तथापि **इह** लोके **कर्मभिः साध्यः** य कश्चन पुरुषार्थत्वेन अभिमतः स अर्थः **पुरुषार्थः न** इति अर्थः ॥९-१०॥

तस्य भावः इति, प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारो भावः 'त्वतलादि'वाच्यः इति अर्थः. **पूर्वोक्तस्य** इति. 'तच्'छब्दस्य बुद्धिस्थ-पूर्वपरामर्शित्वेन अत्र

वा? "तस्य भावः" इति पक्षे पूर्वोक्तस्य अभावाद् न किञ्चित् तत्त्वं स्यात्. समुदायपक्षे अभ्रान्तज्ञानविषयत्वेन सर्वमेव तत्त्वं स्यात्. तत्त्वानां जिज्ञासा इति तु साङ्ख्यपरिकल्पितानां मध्ये एकस्यापि जिज्ञासा कठिना. तत्त्वस्य जिज्ञासा इति तु न सर्वेषाम् एकतत्त्वम् अस्ति, शास्त्राणाम् अन्योन्यविरोधात्. तस्मात् कथं तत्त्वजिज्ञासा इति आशङ्क्य आह.

वदन्ति तत् तत्त्वविदः तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ॥
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥११॥

वदन्ति तत् तत्त्वविदः इति. यद्यपि सर्वे स्व-स्वशास्त्रे तत्त्वविदः इति प्रसिद्धाः तथापि प्रमाणबलविचारेण वेदानां सर्वोपजीवकत्वाद् वेदार्थविदः तत्त्वविदः इति मन्तव्यम्. ननु सर्वेऽपि वेदार्थविदः, ऋषित्वात्! सत्यं, तथापि अन्योन्यविरोधात् "केचन एव तत्त्वविदः" इति वक्तव्यम्. तत्र येषु अक्षरमात्रेऽपि वेदेन न विरोधः ते तत्त्वविदः इति मन्तव्यम्. न

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

कामस्य न इत्यत्र **पूर्वोक्त** इति. तत्पदस्य पूर्वपरामर्शित्वात् प्रथमं कस्यापि पदार्थस्य कथनाभावात् 'तच्'छब्दवाच्यस्य अप्रसिद्धेः तत्त्वाभावः एव स्याद् इति अर्थः ॥११॥

प्रकाशः

वदन्ति इत्यत्र. **समुदायपक्षे** इति 'तेषां भावः तत्त्वम्' इति पक्षे. **सर्वोपजीवकत्वाद्** इति. सर्वे उपजीवकाः यस्य तस्य तथात्वात्, सर्वोपजीव्यत्वाद् इति अर्थः ॥११॥

लेखः

च तादृशस्य एकस्य प्रधानस्य अप्रसिद्ध्या तथा इति अर्थः. तर्हि 'तेषां भावः तत्त्वम्' इत्येव अस्तु इति चेत्, तदपि निषेधन्ति **समुदाय** इति. बहुवचनेन हि सामान्योक्त्या 'तच्'छब्देन अविशेषात् सकलप्रपञ्चएव उच्यते. एवञ्च आविद्यकपदार्थातिरिक्त-सकलप्रपञ्चः स्वान्तर्गतो धर्मश्च **अभ्रान्तज्ञान-** विषयीभूतो भवति इति **सर्वमेव तत्त्वं स्याद्** इति अर्थः. **साङ्ख्य** इति, चतुर्विंशाद्यन्यतमानाम् इति अर्थः ॥११॥

च ते न सन्त्येव इति मन्तव्यं, वेदस्य प्रमाणस्य विद्यमानत्वात्. ते[१] किं वदन्ति इत्यतः आह (**यज्ज्ञानमद्वयम्!**) यत्तु अद्वितीयं ज्ञानम् इति. द्वैतनिवर्तकं ज्ञानं **तत्त्वम्** इति अर्थः. तत्त्वज्ञानं मोक्षः इति सर्वजनीनत्वात्. श्रुति-स्मृति-पुराणेषु तस्यैव नामभेदः इत्याह क्रमेण **ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्द्यते** इति. शब्दमात्रं भिद्यते, नतु अर्थभेदो अस्ति इति अर्थः ॥११॥

तदेवं तत्त्वपर्यन्तं पदार्थानां स्वरूपं क्रमञ्च उक्त्वा फलितम् आह.

तच्छ्रद्दधाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया ॥
पश्यन्त्यात्मनि चाऽऽत्मानं भक्त्या श्रुतिगृहीतया ॥१२॥

तच्छ्रद्दधानाः इति. तत् तस्माद् हेतोः, **तद्** ब्रह्म वा. तत्र एवं क्रमः— "जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा" (श्लो. १०) फलम् उक्तं, तच्च साक्षात्कारः इति पर्यवसितम्. तत्र विचारसहित-प्रमाणेन यद्यपि निर्विचिकित्सं शाब्दं[२] ज्ञानं भवति तथापि अन्तःकरणदोषाद् न साक्षात्कारः सिद्ध्यति. तदर्थं प्रथमं धर्मः, ततो अन्तःकरणशुद्धौ वेदादि-सत्प्रमाणे श्रद्धा, ततः तदर्थस्य मननं, ततो निदिध्यासनेन साक्षात्कारइव **ज्ञानं**, ततो विषयेषु **वैराग्यं**, ततः श्रवणादि-साधनभक्तिः, ततः परमभक्तिः, ततः (**पश्यन्ति आत्मनि आत्मानं च!**) सर्वत्र भगवत्साक्षात्कारो हृदि बहिरपि इति अर्थः. **आत्मानं** तं भगवन्तम् आत्मरूपम्. तत्र यावत्साधनं साध्यस्थितिः.

प्रकाशः

तच्छ्रद्दधानाः इत्यत्र. **तच्**छब्दस्य पूर्वपरामर्शित्वात् पूर्वश्लोकोक्तं धर्मम् आदाय श्लोकोक्तसाधनानां क्रमं वदन्ति **तदर्थम्** इत्यादि.

लेखः

तच्छ्रद्दधानाः इत्यत्र आभासे **क्रमं च** इति. ... . धर्मस्य हि अपवर्गफलकत्वम् उक्तं तत् प्रकटयन्ति परम्पराकथनेन **प्रथमं धर्म** इत्यादि. **श्रद्धा** इत्यादिना क्रमेण **श्रद्दधानाः** इत्यादिपदक्रम-तात्पर्यम् उक्तं ज्ञेयम्. **श्रवणादि** इति. **श्रुतिगृहीतया** इति **श्रुति**पदेन श्रवणादिकम् उच्यते इति

---

१. के इति ग. २. शाब्दज्ञानम् इति मुद्रितपाठः. भा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

तत्र ज्ञान-वैराग्ययोः सहभावनिरूपणाद् **भक्तिः** मुख्या. तस्याः स्थितिहेतुम् आह **श्रुतिगृहीतया** इति. श्रुत्या[१] हि गृहीता भवति ; यथा यथा श्रवणं तथा तथा भक्तिस्थितिः, ततः सर्वम् इति. एवं द्वितीयप्रकारेण ज्ञानम् उक्तम् ॥१२॥

तत्र द्वितीये धर्मस्य सम्बन्धम् आह.

अतः पुम्भिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागशः ॥
स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्ह्यात्मतोषणम् ॥१३॥

अतः पुम्भिः इति. धर्मसामान्यस्य प्रथमे साधनता उक्ता, विशेषस्य तु द्वितीये. यतो भगवत्प्रसादव्यतिरेकेण न अन्तःकरणशुद्धिः न वा रुचिः अतो धर्मस्य मुख्यं फलं भगवत्प्रसादः. बीजसंस्कारसंस्कृताः[२] कुर्वन्ति,

---

प्रकाशः

[३]**द्वितीयप्रकारेण** इति. तत्र प्रथमप्रकारे रुच्यात्मकभक्ति-सहितात्मज्ञानम् उक्तं द्वाभ्याम्. अत्र तु ज्ञानवैराग्यादिसहित-भक्तिसाध्यत्वं ज्ञानस्य उक्तम् इति द्वितीयः प्रकारः चतुर्भिः[३] ॥१२॥

अतः पुम्भिः इत्यत्र. **बीजेत्यादि**. पञ्चाग्निविद्याप्रकारेण सिद्धशरीराः तादृशं धर्मं कुर्वन्ति इति अर्थः. तादृशशरीराभावेऽपि केचन तादृशधर्मकर्तारो

लेखः

भावः. **द्वितीयप्रकारेण** इति. आत्मज्ञानं तु "वासुदेवे भगवति" (श्लो. ७) इत्यत्र उक्तपरम्परायाम् उक्तम् इति द्वितीयं तत्त्वज्ञानम् अत्र उक्तम् इति अर्थः ॥१२॥

द्वितीये इति, द्वितीयपरम्पराप्रकारे इति अर्थः.

अतः इत्यत्र. **धर्मसामान्यस्य** इति. "स वै पुंसां परो धर्म" (श्लो. ६) इति सामान्योक्त्या इति भावः. **विशेषस्य** इति. **वर्णाश्रमविभागशः** इत्युक्त्या इति भावः. **द्वितीये** इति, प्रकारे इति

---

१. श्रुत्यादीति ख-ग. २. धर्मम् इति अभिप्रायः - सम्पा.

३-३. एतावान् अंशः कि.पाठे अधिकः उपलभ्यते - सम्पा.

धर्मपोषक-भगवदिच्छया वा, "ममैव[1] कामो भूतानाम्" (भाग.पुरा. ६।४।४४) इति वाक्यात्. **पुम्भिः** इति कर्मणि प्रयोगेण एतद् ज्ञापितम्— अनुष्ठाने कर्मैव[2] [3]उपक्षीणं, न कर्ता इति. तदैव हि भगवत्प्रसादः, अन्यथा कर्मणैव फलम् इति. **द्विजश्रेष्ठाः** इति द्विजेभ्यः श्रेष्ठाः त्रिजन्मानः (!?).

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

अतः पुम्भिः इत्यत्र. **बीज** इति, तादृशधर्मकरणे संस्कारविशेषो हेतुः, भगवदिच्छा वा. **पुम्भिः** इति कर्मणि प्रयोगे फलसम्बन्धः कर्मणि एव, यथा 'पच्यते तण्डुलम्' इत्यत्र पाकजन्यं फलं तण्डुले एव, न देवदत्ते, तथा अत्रापि इति **एतद्** वक्ष्यमाणं ज्ञाप्यते इति अर्थः. **अनुष्ठाने** इति, उपक्षीणता तु फलजनने भवति इति प्रसिद्धिः. तथा कर्ता चेत् तत्फलेच्छया कर्म कुर्यात् तदा फलोत्पादकत्वेन उपक्षीणः स्यात्. एवञ्च कर्मणा भगवत्प्रसादो जनितः इति **कर्मैव उपक्षीणं, न कर्ता,** फलाजनकत्वाद् इति अर्थः. फलेच्छायां को दोषः इत्यतः आहुः **तदैव** इति, अनुपक्षीणत्वे एव इति अर्थः. विपरीते बाधकम् आहुः **अन्यथा** इति. यदि इच्छया कर्म कुर्यात् तदा कर्मजन्यमेव फलं भवेत्, न भगवत्प्रसादः इति भावः.

प्रकाशः

दृश्यन्ते, तत्र कारणाकाङ्क्षायाम् आहुः **धर्मे**त्यादि. **ममैष कामः** इति. इदं षष्ठस्कन्धे प्राचेतसं दक्षं प्रति भगवद्वाक्यं— "प्रीतोऽहं ते प्रजानाथ यत्तेस्योद्बृंहणं तपः, ममैष कामो भूतानां यद् भूयासुर्विभूतयः" इति. अत्र दक्षकृत-तपःपोषकत्वेन प्रकृतार्थसिद्धिः. **कर्मणि प्रयोगे** इत्यादि. कर्मणि प्रयोगे हि 'देवदत्तेन तण्डुलः पच्यते' इत्यादौ क्रियाजन्यं विक्लृतिरूपं फलं कर्मरूपे तण्डुलएव, नतु कर्तरि देवदत्ते. तथा अत्र **अनुष्ठाने** सुष्ठुत्वेन **धर्मएव** यदा **उपक्षीणो** भवति=विक्लृत्या तण्डुलइव सुष्ठुत्वेन व्याप्तो भवति, नतु **कर्ता**पि तज्जन्यप्रतिष्ठादिना. प्रतिष्ठादिफलेप्सुः न भवति इति अर्थः इति. **फलम्** इति. कर्तृकामितं ; न भगवत्प्रसादः इति

---

१. ममैष इति पाठः प्रकाशे -सम्पा. २. धर्मएव इति पाठः प्रकाशे -सम्पा.

३. अपक्षीणम् इति मुद्रितपाठः. टिप्पणी-भा.पाठयोः एवम् -सम्पा.

अनेन भवद्भिः क्रियमाणेन कर्मणा भगवान् तुष्यति इति सूचितम्. **वर्ण**धर्माः शमादयः[१] काल-द्रव्य-यज्ञादिभेदाः वा. गुरुशुश्रूषादयः **आश्रमधर्माः**. **शस्प्रत्ययेन** च परधर्मो निवारितः, तेन च ''विधर्मः परधर्मश्च'' (भाग.पुरा. ७।१५।१२) इति दोषो निवारितः. **सम्यग्** अनुष्ठानं = कालादिभिः षड्भिः शुद्धैः ज्ञात्वा अनुष्ठानम्. स एव वा धर्मः, ''अधर्मो ह्यन्यथा भवेद्'' (त.दी.नि. २।४१) इति वाक्यात्. **सम्यक् सिद्धिः** फलम्. यद्यपि ''धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा'' (तैत्ति.आर. १०।६३) इत्यादिश्रुत्या बहूनि धर्मस्य फलानि सन्ति तथापि भगवान् चेत् तेन परितुष्यति तदा सफलो[२], नो चेद् धर्मो व्यर्थः इति अर्थः. आत्मार्थं हि सर्वं, सर्वेषाम्

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

काल इति, कालादीनां विभागो वा. तथाच ''काल-देश-द्रव्य-कर्तृ-मन्त्र-कर्मविभेदतः'' (त.दी.नि. २।४०) इति वाक्यात् वर्णाश्रमधर्मविभागेन कालादिविभागेन वा स्वनुष्ठितस्य इति अर्थः ॥१३॥

प्रकाशः

अर्थः. **शमादयः** इति ''शमो दमः तपः शौचम्'' (भग.गीता १८।४२) इति गीताद्युक्ताः. **काल-द्रव्य-यज्ञादिभेदाः** इति. **कालयज्ञभेदाः** अग्निहोत्रादयः, **द्रव्ययज्ञादिभेदाः** ''द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञाः'' (भग.गीता ४।२८) इति वाक्योक्ताः. **शस्प्रत्ययेन** इति. मङ्गलवचने एव 'शस्'प्रत्ययस्य प्राचुर्येण प्रयोगात् तेन तथा इति अर्थः. **स एव वा धर्मः** इति. यः स्वनुष्ठितः स एव धर्मः इति उद्देश्यविधेयभावाद् इति अर्थः. सुबोधिन्यां **संसिद्धिर्ह्यात्मतोषणम्** इति पाठो भाति ॥१३॥

लेखः

अर्थः. **कर्मणि प्रयोगेण** इति. ... . **तदैव हि** इति, कर्मणि उपक्षीणे एव इति अर्थः. **शस्प्रत्ययेन** इति. ... . **अधर्मो ह्यन्यथा** इति. ''धर्मो सम्पद्यते षड्भिः ह्यधर्मो ह्यन्यथा भवेद्'' (त.दी.नि. २।४१) इति. **येषां न तुष्टो भगवान्** इति. ... ॥१३॥

---

१. आश्रमादय इति ग. शमदमादयः इति घ. २. सफलम् इति टिप्पणीमातृकान्तरपाठः - सम्पा.

आत्मा च भगवान्. "येषां न तुष्टो भगवान्" (भाग.पुरा. ३।१३।१३) इति वाक्यार्थो हिशब्देन सूचितः ॥१३॥

तत्र एवं सन्देहः— बहवो[१] वर्णाश्रमविभागेन धर्मान् कुर्वन्ति ; नच तेषु भगवच्छास्त्रानुसारिणी भक्तिः उपलभ्यते. अतो ज्ञायते भगवान् न परितुष्टः इति. तथाच कर्मकरणदशायां व्यभिचारदर्शनात् कथं निर्विचिकित्सा प्रवृत्तिः? अतो येषु धर्मेषु न व्यभिचारः ते विशेषेण कर्तव्याः इति आह.

तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्त्वतां पतिः ॥
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा ॥१४॥

तस्माद् इति, यस्माद् अन्यत्र व्यभिचारोऽपि सम्भवति अतः श्रवणादिकमेव कर्तव्यम्[२]. श्रवणादिकम् अपि धर्मः, "शृणुयाच्छ्रावयेद्" (भाग.पुरा. ४।२३।३७) इति विधिस्पर्शात्. **एकेन मनसा** इति वैयग्र्याभावयुक्तेन. श्रवणस्य यथा न व्यभिचारः तथा अग्रे वक्ष्यति. अन्यधर्मपरित्यागो वा सूच्यते **एकेन** इति. **भगवान्** इति श्रवणविषयत्वं न जीवपुरस्सरतया किन्तु साक्षाद् ब्रह्मणः, तथापि वैष्णवशास्त्रानुसारेण. एतदेव सूचयति **सात्त्वतां पतिः** इति. शुद्धे सत्त्वे आविर्भूतः सात्त्वो भगवान्, सः वर्तते येषां ते सात्त्वन्तः– तत्र "बहुलं छन्दसि" (पाणि.सूत्र २।४।७३) इति वकारलोपः तेषाम् अलौकिकत्वाय– तेषां **पतिः** सर्वनिर्वाहकः. स्वस्यापि तथात्वे न काचित् चिन्ता इति भावः. श्रवणादीनां सुलभत्वाय वा, यतः स्वपतिः सर्वैरेव (**श्रोतव्यः कीर्तितव्यः**!) श्रूयते कीर्त्यते च. इदं च श्रवणादिकं धर्मरूपं, प्रकरणाद्, द्वितीयस्कन्धे तु भक्तिरूपो वक्ष्यते. भगवद्वाचकैः पदैः वाक्यैश्च भगवति शक्ति-तात्पर्यनिर्धारः श्रवणम्. शक्ति-तात्पर्य-निर्धारबोधनं कीर्तनं, तथा

लेखः

तस्माद् इत्यत्र. **अग्रे** इति, "को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः" (भाग.पुरा. १।५।१७) इति प्रकरणे. **उभयं सङ्गृहीतम्** इति. कीर्तनेन

---

१. बहव एव इति ख-ग-घ. २. कर्तव्यमिति इति ख.

ज्ञातानां वा स्वत एव उच्चारणम्. उभयं सङ्गृहीतं **चकारेण**. अन्योन्यनिर्वाहकत्वं च, तद् अग्रे वक्ष्यते. इदं द्वयं बाह्येन्द्रियसाध्यम्, आन्तरम् आह **ध्येयः पूज्यश्च** इति. ध्यानं भगवति चित्तस्थिरीकरणं, भगवन्मूर्तेः अनुसन्धानं वा. पूजा बाह्यान्तरभेदेन[१] द्विधा **चकारेण** सङ्गृहीता. व्यासङ्गान्तराभावाय **नित्यदा** इति. तस्माद् अयमेव मुख्यो धर्मः सर्वथा कर्तव्यः इति ॥१४॥

ननु तथापि रुच्यभावात् कथम् एतत् सेत्स्यति इति आशङ्क्य आह.

यदनुध्याऽसिना युक्ताः कर्म ग्रन्थिनिबन्धनम् ॥
छिन्दन्ति कोविदास्तस्य को न कुर्यात् कथारतिम् ॥१५॥

यदनुध्याऽसिना इति. सर्वत्र अलौकिकेषु पदार्थेषु माहात्म्यश्रवणाद् रुचिः उत्पद्यते. तत्र भगवच्छास्त्रस्य अप्रसिद्धौ अपि योगादीनां प्रसिद्धत्वाद् भगवद्ध्यानं प्रसिद्धं, तस्यापि एवं माहात्म्यम् अङ्गभूतस्यापि इति **असिपदप्रयोगः**. यस्य अनुध्यानमेव[२] असिः. नचापि तेन भगवत्प्रसादः किन्तु तेनैव **युक्ताः कर्म छिन्दन्ति**. कर्मसु विद्यमानेषु जन्मानुच्छेदात् तेषां च अभुक्तानाम् अक्षयाद्, भोगेन वा तत्क्षये तद्धेतुना पुनः कर्मान्तरार्जनात्, कर्मविच्छेदः कठिनः. तदपि ध्यानेन भवति इति **छिन्दन्ति** इति उक्तम्. ननु किं कर्मच्छेदमात्रेण, जीवभावस्य विद्यमानत्वाद् इति आशङ्क्य आह **ग्रन्थिनिबन्धनम्** इति. **ग्रन्थिः** अविद्यया चिदचिद्-ग्रन्थिः मोहग्रन्थिश्च,

---

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

यदनुध्यासिना इत्यत्र. **तद्धेतुना** इति, भोगहेतुना शरीरेण इति

प्रकाशः

यदनुध्यासिना इत्यत्र. **तद्धेतुना** इति, क्षयहेतुना भोगेन इति अर्थः.

लेखः

अन्यस्मै बोधनं, स्वतः उच्चारणं च इति उभयम् इति अर्थः. **अग्रे** तस्मिन्नेव प्रकरणे ॥१४॥

---

१. बाह्याभ्यन्तर इति क. २. यस्य अनुध्या अनुध्यानम् इति ख.

तन्नितरां बध्नाति इति ग्रन्थिनिबन्धनम्. पूर्वं वासनारूपेण विद्यमानस्य कर्मणैव दृढीकरणम् अतः तदभावे सोऽपि गमिष्यति इति भावः. घुणाक्षरन्यायं वारयति बहुवचनम्. अत्र हि नैपुण्यम् अपेक्ष्यते, अनुध्यानस्य अन्यत्र विनियोगसम्भवाद्. अतो योगसिद्धिम् अनपेक्ष्य ज्ञानेन अविद्यामेव निवर्तयन्ति ते **कोविदाः**. तत्र ध्यानस्य स्वतो माहात्म्यजनकत्वं नास्ति, विषयध्यानस्य सुतरां बन्धहेतुत्वाद्, अतो भगवन्माहात्म्येनैव तस्य तथात्वम् इति आह **तस्य** इति, तादृशस्य इति अर्थः. यत्र तद्धर्मेणापि कार्यसिद्धिः तत्र यदा कथाभिः स एव चित्ते युक्तो भवति इति अभिप्रायेण आह **को** [1]**न कुर्याद्** इति. अकर्तृणां माहात्म्यज्ञानाभावः. एवं द्वितीया भक्तिः निरूपिता ॥१५॥

एवं ज्ञान-भक्ती मध्यमे निरूप्य उत्तमे निरूपयति **शुश्रूषोः** इत्यादि सप्तभिः.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

अर्थः. **विद्यमानस्य** इति, मोहस्य इति अर्थः. **तत्र ध्यानस्य** इति, ध्यानत्वेन न माहात्म्यजनकता इति अर्थः. अत्रैव उपोद्बलकं **विषय** इति. ध्यानत्वं समम् इति भावः. **तद्धर्मेण** इति, तद्ध्यानेन इति भावः ॥१५॥

प्रकाशः

विद्यमानस्य इति, चिदचिद्-ग्रन्थेः मोहग्रन्थेश्च इति अर्थः. **घुणाक्षरन्यायम्** इति. घुणः कीटः, तच्चरणेन यदृच्छया कदाचिद् भूमौ अक्षराणि भवन्ति, तन्न्यायम् इति अर्थः. **बहुवचनम्** इति. यदि एकएव यदनुध्यानेन कर्मग्रन्थिनिबन्धनं छिनत्ति तदा अयं न्यायः प्रसरेत् किन्तु बहवः इति **कोविदाः** इति अर्थः. **स्वतः** इति ध्यानत्वेन रूपेण. **तद्धर्मेण** इति, ध्यानरूपेण इति अर्थः. **एवम्** इत्यादि. कामादि-भगवत्तोषान्तया श्रवणादिधर्मपरम्परया ॥१५॥

शुश्रूषोः इत्यत्र. **निरूपयति** इति, गृहत्यागादि-शुश्रूषान्तकथनेन

---

१. को नु कुर्याद् इति ख.

शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः ॥
स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात् ॥१६॥

अत्र हि फलमुखानि साधनानि निरूप्यन्ते, येषु व्यभिचारशङ्काऽपि नास्ति. वैराग्यं च हेतुः. तत्र अयं क्रमः — आदौ गृहत्यागेन तीर्थपर्यटनम्— अन्यथा महत्सेवायाम् उद्वेगः स्यात्— ततो महत्सङ्गः ततः तेषां सेवा ततो भगवत्कथाश्रवणं ततः **कथारुचिः** ततः कथायां तेषु च **श्रद्धा** ततः **शुश्रूषा** इति. एवम् एतादृशधर्मेण स्वरूपोपकारेण[१] अव्यभिचारिणी[२] शुश्रूषा उत्पद्यते. अत्र पूर्व-पूर्वसाधनानां दृढत्वात् न उत्तरेषां निवृत्तिः. (**स्याद्!**) तादृशाधिकारो दुर्लभः इति सूचितम्. शुद्धसत्त्वे हि आविर्भूतस्य श्रवणे सद्यः चित्तप्रसादः इति **वासुदेवेति** उक्तम्. अस्य अङ्गीकाराय महत्पदप्रयोगः. पुण्यरूपं तीर्थं **पुण्यतीर्थं** कुरुक्षेत्रं गङ्गा च, तयोः **नितरां**

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

शुश्रूषोः इत्यत्र. **अस्याङ्गीकाराय** इति. भगवदङ्गीकारेणैव महत्त्वम् अपेक्षितं, न लौकिकप्रतिष्ठया. तथाच भगवदङ्गीकृतसेवया इति **महत्पदतात्पर्यम्** इति भावः ॥१६॥

प्रकाशः

निरूपयति इति अर्थः. **सूचितम्** इति वाक्येन सूचितम्. **अस्य अङ्गीकाराय** इति. "किरातहूणान्ध्र" (भाग.पुरा. २।४।१८) इति वाक्याद् भगवदाश्रिताश्रयणे शुद्धिः इति **महत्पदेन** भगवदाश्रिता एव गृह्यन्ते. तथाच तत्सेवने अस्यापि अङ्गीकारो भवति इति ज्ञापनाय तथा प्रयोगः इति अर्थः ॥१६॥

लेखः

शुश्रूषोः इत्यत्र. **तत्रायं क्रमः** इति. अयं हि क्रमः **पुण्यतीर्थनिषेवणाद्** इत्यादिपदानां प्रातिलोम्येन अर्थानुसन्धानात् सिद्धः. **ततो भगवत्कथाश्रवणम्** इति. कथारुचिरूप-कार्योक्त्या तत्कारणत्वेन कथाश्रवणम् अर्थाक्षिप्तम् इति भावः. **सूचितम्** इति. विशेषणभूतानां धर्माणाम् अत्युत्कृष्टानाम् उक्त्या एकवचनोक्त्या च सूचितम् इति अर्थः ॥१६॥

---

१. स्वरूपोपकारिणा इति घ.	२. अव्यभिचारिणा इति ख. अव्यभिचारिणाम् इति ग.

सेवनं देववद् जलस्य सेवनं, नतु अवहेलनं कथञ्चिदपि ॥१६॥

ततः किम् अतः आह.

शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः ॥
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम् ॥१७॥

शृण्वताम् इति. एतादृशसाधनेन उत्पन्नायां शुश्रूषायां न श्रवणादिनिवृत्तिः कदाचिदपि इति **शृण्वताम्** इति उक्तम्. **स्वकथाः** इति स्वरूपभूताः कथाः. स्वीयकथात्वे भगवतः स्वतन्त्रत्वात् न कार्यकरणं सम्भवति, कथायाः अपि स्वतो माहात्म्ये तु तयैव वशीकृतः सर्वं कुर्याद् इति. एतादृश-कथाबाहुल्यं कृष्णावतारे एव इति **कृष्ण** इति उक्तम्. भक्तियोगविधानार्थं च अवतारः. निरन्तरम् उत्पन्नानां पापानां निवृत्तौ न अन्यद् अपेक्ष्यते साधनं किन्तु श्रवण-कीर्तनाभ्यामेव[१] भवति इति शुद्धं हृदयं भगवान् प्रविशति इति

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

शृण्वताम् इत्यत्र **स्वीय** इति. कथाः स्वाधीनाः नतु स्वयं कथाधीनः इति स्वतन्त्रता 'स्वीयाः कथाः' इति व्याख्याने आयाति. तथाच यावत् वशो न भवति तावत् कार्यं करोति, न करोति अपि, इति 'स्वीयाः कथाः' इति न व्याख्येयम् इति भावः. स्वरूपभूत-कथासेवने स्वस्यैव सेवनम् इति वशो भवति इति भावः. अयमेव अर्थः **कथायाः अपि**

प्रकाशः

शृण्वताम् इत्यत्र. **स्वशब्दस्य** आत्मीयेऽपि रूढत्वात् तद् विहाय कुतः एवं व्याख्यायते इत्यतः आहुः **स्वीयेत्यादि**. 'स्वीयाः' इति व्याख्याने 'स्वस्य इमाः' इति अर्थात् कथासम्बन्धिनो भगवतः स्वातन्त्र्यम् आयाति इति स्वातन्त्र्याद् हृदि आयाति, न आयाति वा. ततश्च अभद्रधूननमपि सन्दिग्धं स्याद्, अतः तद् विहाय एवं व्याख्यायते इति अर्थः. **पुण्यशब्दार्थम्**

लेखः

शृण्वताम् इत्यत्र. **स्वीयकथात्वे** इति. **स्वपदं** तत्र आत्मवाचि, नतु आत्मीयवाचि इति भावः. **भवति** इति, पापनिवृत्तिः भवति इति

---

१. श्रवणकीर्तनाभ्यासे इति ख.

अभिप्रायेण आह **पुण्यश्रवणकीर्तन** इति. श्रोतृ-वक्तृदोषैः न श्रवण-कीर्तने सम्बध्येते, अपहतपाप्मत्वात् तयोः. ततः च श्रवण-कीर्तने उत्पद्यमाने पापसामानाधिकरण्ये (?) न उत्पद्येते एव. सूर्योदयसम्भावनायामेव तमोनिवृत्तिवत् श्रवणसम्भावनायामेव पापनिवृत्तिः इति अर्थः. बहिःस्थितस्य अन्तःकार्यकरणा-सम्भवाद्, इच्छामात्रेण तत्करणे लोकानां प्रतीत्यभावेन अभजनापत्तेः, दृष्टे सम्भवति अदृष्टकल्पनायाः असम्भवात्, सर्वत्र स्थितस्य क्लेशाभावाच्च **हृद्यन्तः**स्थितएव करोति. हृदये हि केचन पदार्थाः बहिःस्थिताः अपि भवन्ति, केचन अन्तःस्थिताः. तत्र येषु विस्मरणसम्भावना ते बहिःस्थिताः. प्रकृते भगवतो विस्मरणसम्भावनापि नास्ति इति अन्तःस्थितः इति उक्तम्.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इत्यनेन उक्तः. **अपहत** इति, (**तयोः!**) श्रोतृ-वक्त्रोः **अपहतपाप्मत्वात् सम्बध्येते** इति अर्थः. तथाच यतो निष्पापत्वे एव सम्बध्येते अतः **पापसमानाधिकरणे न उत्पद्येते एव** इति ग्रन्थार्थः. यद् वा **अपहत** इति अपगतं हतपाप्मत्वं यतः इति वा अर्थः. **सर्वत्र** इति. स्वल्पत्वं विशालत्वं वा स्थलस्य दुःख-सुखाधानाय न भवति, व्यापकत्वाद् इति भावः. **हृदये हि** इति. येषां विस्मरणं सम्भाव्यते अपि ते बहिःस्थिताः, येषां तत् न सम्भाव्यते ते अन्तःस्थिताः इति. तथाच भगवान् **पुण्यश्रवणकीर्तनः** इति निर्दिष्टे हृदये प्रकटः इति कदाचिदपि न विस्मर्यते इति मूले **अन्तःस्थः** इति भगवद्विशेषणम् इति. अयमेव अर्थः **हृदये हि** इत्यारभ्य **अन्तःस्थितः**

प्रकाशः

आहुः **अपहतेत्यादि**. **कामादीनि** इति **आदिपदेन** अविद्या कर्म च.

लेखः

अर्थः. **प्रतीत्यभावेन** इति, भजनाविर्भूत-भगवद्धेतुक-पापनिवृत्ति-प्रतीत्यभावेन इति अर्थः. तर्हि अन्यएव अदृष्टादि कारणत्वेन कल्प्यताम् अतः आहुः **दृष्टे** इत्यादि. दृष्टे भजनादौ भगवति वा इति अर्थः. **सर्वत्र** इति. भगवतः सर्वत्र वर्तमानत्वादेव हृदयदेशे स्थितौ अपि न क्लेशः अतः हृद्यन्तःस्थः एव तथा इति अर्थः. ननु 'हृदिस्थ' इत्येव वक्तव्यम्, अन्तःपदं तु व्यर्थमेव इत्यतः आहुः **हृदये हि** इत्यादि. **यथा जल**

तादृशस्य तथाकरणम् उचितम् इति भावः. **अभद्राणि** कामादीनि[1], पापस्य पूर्वमेव निवृत्तत्वात्. **विशेषेण धूननं** शिथिलीकरणं, यथा जलकश्मलवत् पुनर्मेलनं न भवति तथा इति अर्थः. तथाच अस्मिन् पक्षे प्रथमशृङ्खला स्वसाध्या, द्वितीया भगवत्साध्या, तदैव तृतीया स्वस्मिन् भवति इति क्रमेण बोध्यते, कामादीनाम् अशिथिलत्वे भक्तिः न उत्पत्स्यते इति. ननु भगवतः एवं करणे को हेतुः? तत्र आह **सुहृत्सताम्** इति. **सुहृत्** सहकार्यकर्ता, मित्रम् इति यावत्. सुहृद्भिः (/सद्भिः) श्रवणाद्युपदेशेन

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इति उक्तम् इत्यन्तेन ग्रन्थेन उक्तः. **तादृश** इति, कदापि अविस्मृतस्य इति भावः ॥१७॥

प्रकाशः

क्रमेण इति. "शुश्रूषोः" (श्लो. १६), **शृण्वतां,** "नष्टप्रायेषु" (श्लो. १८) इति श्लोकक्रमेण इति अर्थः ॥१७॥

लेखः

इति. जले आलोडिते हि तत्कश्मलम् इतस्ततः तत्रैव लीयते, पुनः कालान्तरे जलमिलितं च भवति. एवञ्च **जलकश्मलवत् पुनर्मेलनं** यथा **न भवति तथा** विधूननम् इति अर्थः. **तथाच अस्मिन्पक्षे** इत्येतस्य **बोध्यते** इत्यनेन सम्बन्धो ज्ञेयः. **प्रथमशृङ्खला** इति, "स वै पुंसाम्" (श्लो. ६) इत्यारभ्य "वासुदेवे भगवति" (श्लो. ७) इत्यन्तेन ग्रन्थेन उक्ता इति अर्थः. **स्वसाध्या** इति, "स वै पुंसाम्" इति 'पुरुष'पदोक्त्या "वासुदेवे भगवति प्रयोजित" इत्युक्त्या च तथा इति अर्थः. **द्वितीया** इति. "धर्मः स्वनुष्ठितः" (श्लो. ८) इत्यारभ्य "यदनुध्यासिना" (श्लो. १५) इत्यन्तेन उक्ता इति अर्थः. **भगवत्साध्या** इति. तत्र शृङ्खलायां हि "संसिद्धिर्हरितोषणम्" (श्लो. १३) इत्युक्त्या तस्यैव सकलसाधनसाध्यत्वम् उच्यते. एवञ्च हरितोषणस्य भगवदधीनत्वेन तत्साध्या इति अर्थः. **तृतीया** इति, मुख्य-ज्ञानभक्तिपरम्परा इति अर्थः. **भवति** इति, स्वतएव भवति

---

१. कर्मादीनि इति क-घ.

प्रथमपरम्परायां कृतायां द्वितीयां[१] चेद् भगवान् न कुर्यात् तदा मित्रत्वं भज्येत इति ॥१७॥

धुतेषु कामादिषु यत् स्यात् तद् आह.

नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया ॥
भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी ॥१८॥

नष्टप्रायेषु इति, धुताएव (**अभद्रेषु!**) कामादयो न नाशिताः इति क्वचित् क्वचित् तेषां सत्त्वं प्रतीयते ; श्रवणे आग्रहः इव, प्रतिबन्धे क्रोधः इव, सत्सङ्गे लोभः इव —इत्यादि बोधयितुं **प्रायग्रहणम्**. तथाच तेषां प्रतिबन्धकत्वाभावाद् (**भागवतसेवया!**) भगवत्कथायाः नित्यं श्रवणं भगवद्भक्तानां च सेवनं च नित्यं भवति इति आह **नित्यम्** इति. पूर्वं[२] कथायाः श्रवणमेव, इदानीं देववत् सम्भावनम् इति **सेवा**ऽर्थः. एवं कथायां क्रियमाणायां भगवति परमप्रेम उत्पद्यते इति आह **भगवति** इति. अत्र सर्वत्र **भगवच्**छब्देन शुद्धं परं ब्रह्म उच्यते. **उत्तमश्लोके** इति, उत्तमैः श्लोक्यते इति उत्तमाः वा श्लोकाः यस्य इति सद्भिः कथया च सहिते **भक्तिः भवति** इति अर्थः. ततः च जातायामपि

प्रकाशः

नष्टप्रायेषु इत्यत्र. **भगवद्भक्तानां च** इति **चकारेण** तत्कथा समुच्चीयते ॥१८॥

लेखः

इति अर्थः. **सुहृद्भिः** इति, सद्भिः इति अर्थः. 'सद्भिः' इति पाठस्तु मुख्यः ॥१७॥

नष्टप्रायेषु इत्यत्र. **आग्रह इव** इति. "इदं तु अत्र भवता वक्तव्यमेव, युष्मदुक्तौ मया यद् बुद्धं तद् इत्थमेव" इत्यादिस्वरूपः आग्रहः श्रवणे सति भवति इति श्रोतृविषयको दोषः उक्तः. **प्रतिबन्धे** इति. पुनः पुनः प्रश्नादिना तत्प्रसङ्गप्रतिबन्धे क्रोधः इति वक्तृनिष्ठो दोषः उक्तः. **सत्सङ्गे** इति स्पष्टम्. **पूर्वम्** इति. ... . **सहिते** इति, भगवति इति अर्थः.

---

१. द्वितीयायाम् इति ख.   २. शृङ्खलायाम् इति भा.पाठे पादटिप्पणी -सम्पा.

भक्तौ सन्तः कथाः च न त्यज्यन्ते[१] इति भावः. महताऽपि बाधकेन अचलनं निष्ठा, निष्ठां प्राप्ता **नैष्ठिकी ;** तदा[२] हि कालाद्युपद्रवाः न स्फुरिष्यन्ति इति अर्थः ॥१८॥

एतावत्पर्यन्तं पुरुषप्रयत्नः ; अग्रिमं स्वयमेव भवति इत्याह **तदा** इति त्रिभिः.

तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये ।।
चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति ॥१९॥

तदा तु चित्तस्य स्वरूपं[३] नश्यति. त्रिगुणात्मकं हि तत्. तथाच स्व-स्वकार्यं गुणाः कुर्वन्त्येव. तथाच तद्धृदयं कदाचिदपि भगवदासनं न भवति. यदा पुनः रजस्तमसोः कारणभूतयोः सत्त्वता भवति, यथा स्पर्शमणि-स्पर्शेन ताम्र-लोहयोः सुवर्णता भवति. तथाच त्रिभिः निर्मितं पात्रं सर्वं सुवर्णं भवति. तथा भक्त्या स्पृष्टं चित्तं सर्वं सत्त्वं भवति.

लेखः

उत्तमैः श्लोक्यते इति व्युत्पत्त्या **उत्तमपदेन** सन्तो अभिहिताः इति तत्साहित्यम् उक्तं, **श्लोकपदेन** कथासाहित्यम् —एवञ्च सत्सु कथायां भगवति च रतिः भवति इति अर्थः. अत्र **उत्तमश्लोके** इति विशेषणविशिष्टे **भगवति भक्तिः भवति** इत्युक्त्या सूचितम् अर्थम् आहुः **ततश्च जातायामपि** इति. एतादृशफलाधिकारिभिः पुरुषैः **उत्तमपदवाच्याः** सत्पुरुषाः **कथाश्च न त्यज्यन्ते** इति अर्थः ॥१८॥

तदा इत्यत्र. **त्रिभिर्निर्मितम्** इति. यथा ताम्र-लोहप्रचुरे यत्किञ्चित्सुवर्णभागेन च युक्ते पात्रे पूर्वं लोहादिभागस्य प्रचुरत्वेन तन्मयतयैव भासमाने पश्चात् मणिस्पर्शे सति सर्वं सुवर्णमेव भवति, तथा गुणत्रयप्रचुरेऽपि अन्तःकरणे रजस्तमोभ्यां सत्त्वस्य उपमर्दे लय-विक्षेपाभ्यां तमो-रजोरूपतैव प्रतीयते, पश्चाद् भक्त्या स्पृष्टं सर्वं सत्त्वमयं भवति इति अर्थः. **कामलोभादयश्च** इति. लोभमिश्रतमसो यत्किञ्चित्-सत्त्वमिश्रत्वसम्भवाद्

---

१. त्यजन्ते इति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु लेख-भा.पाठानुरोधात् - सम्पा.

२. तथाहि इति क-घ. ३. रूपम् इति ख.

रजस्तमोभावाः काम-क्रोधादयः, **काम-लोभादयश्च** मिश्रसत्त्वभावाः, चकाराद् मिश्रा अन्येऽपि भावाः ते तटस्थतया निर्दिष्टाः, **ये** च प्रसिद्धाः मोहादयः —तान् सर्वान् गतगृहान् इव निर्दिशति. अतएव न प्रथमार्धे क्रियासम्बन्धः. ननु ते आगन्तुकत्वं प्राप्ता अपि पूर्ववासनया कथं चित्तेन न सम्बध्यन्ते इत्यतः आह **चेतः** इति. एते हि सूत्ररूपा मूलगुण-सूची[१]-व्यतिरेकेण न वेधनसमर्थाः अतः **एतैः अनाविद्धं चित्तं स्थितं** भवति.

प्रकाशः

तदा इत्यत्र. काम-लोभादीनां मिश्रसत्त्वभावस्य आनुभाविकत्वाद् आहुः **कामक्रोधादयः** इति. **तटस्थतया** इति. तद्वाचकशब्दाकथनात् तथा इति अर्थः. **यत्**पदस्य कामादिविशेषणत्वे 'तत्'पदाध्याहारापत्तिः, अतः तन्निवृत्तये यत्पदार्थम् आहुः **ये च** इति. कामक्रोधादि कामलोभादि मोहादयः —एतैः अनाविद्धम् इति योजना. **गतगृहानिव** इति. गृहाणि रजस्तमसी, तद्रहितानि वा इति अर्थः. कथम् इत्यतः आहुः **अतएव** इत्यादि. रजस्तमोरूप-गृहाभावादेव तद्धर्माणां सत्ताभावाद् भवन्ति इति **न क्रियासम्बन्धः** इति अर्थः. **मूलगुणसूचिव्यतिरेकेण** इति. अन्तःस्थो भगवान् अभद्राणि धुन्वन् तानपि कुण्ठितान् करोति इति तेषां सूचित्वाभावो ज्ञेयः.

लेखः

ज्ञानजननांशे सत्त्वोपयोगाद् इति भावः. **तटस्थतया** इति, सर्वसाधारणत्वेन उदासीनतया इति अर्थः. अन्यथा तत्तद्वाचकपदमेव बूयात्, नतु चकारमात्रम् इति भावः. **अतएव** इति. यतः कारणाद् भक्त्या अन्तःकरणस्य सत्त्वात्मकतायां कामादयो भावाः निराश्रयाः एव **अतः** कारणाद् इदमेव बोधयितुं **कामलोभादयश्च ये** इत्यत्र 'सन्ति' इत्यादिरूपेण श्रूयमाणक्रियापदेन **न सम्बन्धः** इति अर्थः. "क्रियाश्रयो हि कारकम्" इति सिद्धान्ताद् अत्र च आश्रयीभूतक्रियायाः अश्रूयमाणत्वात् तथैव सूच्यते इति भावः. **एते हि** इति, काम-क्रोधादयो भावाः इति अर्थः. **मूल** इति. एतेषां मूलभूताः ये रजस्तमोगुणाः ते एव सूचीरूपाः, तद्व्यतिरेकेण इति अर्थः.

---

१. -सूचि- इति पाठः प्रकाशे -सम्पा.

तदा लयावस्थां प्राप्नुवदपि चित्तं निरन्तरोत्पन्न-भक्त्यनुरोधेन तस्याः स्थानभूत-**सत्त्वनिमित्तं** भगवदावेशेन **प्रसीदति.** प्रसादो हि तेन कार्यकर्तॄणां सर्वकार्यसिद्धिहेतुः प्रकाशविशेषः ॥१९॥

तेन यज्जातं तद् आह.

एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः ॥
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते ॥२०॥

एवम् इति. **एवं** पूर्वोक्तप्रकारेण स्थिर-साधनपरम्परया **प्रसन्नं मनो यस्य.** मनसः सत्त्वात्मकत्वे "सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम्" (भग.गीता १४।१७) इति सर्ववस्तूनां तत्त्वज्ञानं भवति. नतु भगवत्स्वरूपज्ञानं, तस्य गुणातीतत्वेन गुणकार्यगम्यत्वाभावाद्, अतः आह **भगवद्भक्तियोगतः** इति. अन्तःकरण-

---

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

तदा रज इत्यत्र. **तदा लय** इति. भगवति लीनं भवदपि भक्त्यनुरोधाद् न लीयते इति अर्थः. तथाच लये जाते भक्तिः कुत्र उत्पद्येत इति तदधिकरणीभूत-सत्त्वस्थित्यर्थं प्रसीदति एव नतु लीयते. एवञ्च **सत्त्वे** इति मूलपदं निमित्तसप्तम्यन्तत्वेन व्याख्यातम् इति ध्येयम्. इत्थञ्च **सत्त्वपदेन** विशिष्टा स्थितिः उक्ता इति भावः. प्रसादे किं कारणम् अतः आहुः **भगवदावेशेन** इति. तथाच अव्यभिचारितकारणेन भक्तिरूपेण जातो भगवदावेशः इति सर्वं सुस्थम्. वक्ष्यन्ति च अग्रे "अन्तःकरणप्रसादो भक्त्यर्थमेव" (श्लो. २० सुबो.) इति. स को वा प्रसादः इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **प्रसादो हि** इति. **तेन** चित्तेन इति अर्थः. सामर्थ्यविशेषः इति आशयः ॥१९॥

प्रकाशः

तदा लयावस्थाम् इत्यादि. रजस्तमोरूप-मूलगुणकौण्ठ्ये भगवता कृते सत्त्वस्थे भगवति लीयमानम् इति अर्थः. **सत्त्वनिमित्तम्** इति सत्त्वार्थं ; **सत्त्वे** इति मूलस्थ-सप्तमीव्याख्यानम् इदम्. **तेन** इति चित्तेन ॥१९॥

लेखः

लयावस्थां प्राप्नुवदपि इति. चित्तस्य त्रिगुणात्मकत्वेन गुणद्वयस्य च अत्र तिरोधानात् तथा इति भावः ॥१९॥

प्रसादो भक्त्यर्थमेव. भक्त्यैव तु **भगवज्ज्ञानं,** "भक्त्या मामभिजानाति" (भग.गीता १८।५५) इति वाक्यात्. **तत्त्वपदेन** "यावान्" (तत्रैव) इत्याद्यर्थः परिगृहीतः. **विपदेन** करतलामलक-ज्ञानवद् ज्ञानविशेषो विवक्षितः. अत्र संन्यासोऽपि अङ्गत्वेन अपेक्ष्यते इति आह **मुक्तसङ्गस्य** इति, अन्तर्बहिःसङ्गनिवृत्तिः. "विषयाविष्टचित्तानां विष्ण्वावेशस्तु दूरतः" (. । ।) इति न्यायेन परित्यागव्यतिरेकेण न भगवदावेशः अतो न साक्षात्कारः इति संन्यासस्य कारणत्वम् ॥२०॥

एवं विज्ञाने जाते यत् फलं तद् आह.

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ॥
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे ॥२१॥

भिद्यते इति. (**हृदयग्रन्थिः!**) चिदचिद्ग्रन्थिः अविद्याकार्यं, तद् ज्ञानेन निवर्तते. "यस्मिन् ज्ञाते सर्वम् इदं विज्ञातं भवति" (बृहदा.उप. २।४।५) इति सर्ववस्तूनां याथार्थ्यज्ञाने[१] (**सर्वसंशयाः छिद्यन्ते!**) सर्वे सन्देहाः निवर्तन्ते. मिथ्याज्ञान-सलिलावसिक्तायाम् आत्मभूमौ कर्मबीजं प्ररोहति, नतु तत्त्वज्ञाननिदाघ-निष्पीतसलिलतया ऊषरायाम्[२] इति **कर्माणि** अपि **क्षीयन्ते.** एतत्सर्वं न येन केनापि प्रकारेण जात-ज्ञानकार्यं किन्तु ब्रह्मात्मैक्यानुभवकार्यम् इति आह (**आत्मनि ईश्वरे!**) **दृष्ट एव** इति. आत्मत्वेन भगवदनुभवे, न अन्यथा इति एवकारार्थः. आत्मनो हि अनीश्वरत्वेन

प्रकाशः

भिद्यते इत्यत्र. विद्यया अविद्यानाश इव पुनः अविद्यया विद्यानाशोऽपि भवति इति आहुः **आत्मनो हि** इत्यादि. "पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ" (ब्रह्मसूत्र ३।२।५) इति **जाताः पदार्था** इति अर्थः.

लेखः

एवम् इत्यत्र. **यावानित्याद्यर्थः** इति. "भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः, ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्" इति वाक्योक्त-'यावान्' इत्यादिपदानाम् अर्थः इति अर्थः ॥२०॥

---

१. यथार्थेति क. २. सलिलतयौषरायामिति ख-घ.

जाताः (/ज्ञाताः?) पदार्थाः ईश्वरत्वेन[१] निवर्तन्ते, अन्यस्य ईश्वरत्वेऽज्ञातेऽपि[२]. नहि अन्यस्य ईश्वरत्वाज्ञानं स्वस्य संसारहेतुः भवति ॥२१॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

दृष्ट एवात्मनि इत्यत्र. **अन्यस्य ईश्वरत्वे** इति. यस्य प्रपञ्चे मिथ्यात्वेन ज्ञानं तस्य स्वस्य **ईश्वरत्वे ज्ञातेऽपि न** कर्मक्षयः इति अर्थः. अयमर्थः — "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा" (छान्दो.उप. ६।८।७) इत्यत्र प्रपञ्चस्य सत्यत्वं प्रतिपादितम्. तथाच मिथ्यात्वाभाववति मिथ्यात्वप्रकारकं ज्ञानं भ्रमः. तत्त्वज्ञानं तु प्रमारूपं, न भ्रमरूपम् इति एतस्य तत्त्वज्ञानमेव नास्ति इति न कर्मक्षयः. तथाच न संसारनिवृत्तिः इति भावः. ननु ईश्वरत्वेन ज्ञानं न संसारनिवर्तकम् इति प्रकृते कथं

प्रकाशः

न निवर्तन्ते इति, नारदेन तथात्वस्य अग्रे वक्ष्यमाणत्वात्. **ज्ञातेऽपि**[३] इति **न निवर्तन्ते** इति पूर्वेण सम्बन्धः ॥२१॥

लेखः

भिद्यते इत्यत्र. **आत्मनीश्वरे** इत्यस्य अर्थम्, **आत्मनि** इत्युक्तेः स्वारस्यं च वदन्ति **आत्मनो हि** इत्यादि. काम-क्रोधाऽनीश्वरत्व-दुःखित्वादयो धर्माः यद्देहावच्छिन्नस्य आत्मनो अनीश्वरत्वे ज्ञाते सति जायन्ते, "पराभिध्यानाद्" (ब्रह्मसूत्र ३।२।५) इति न्यायात्, तद्देहावच्छिन्नस्य आत्मनः ईश्वरत्वज्ञाने सत्येव ते धर्माः निवर्तन्ते इति अर्थः. तदेव आहुः **अन्यस्य** इति, अन्यदेहावच्छिन्नस्य आत्मनः **ईश्वरत्वे** तावद् **अज्ञातेऽपि** स्वशरीरावच्छिन्नात्मनि ईश्वरत्वज्ञानमात्रेण ते **निवर्तन्ते** इति अर्थः. इदमेव उत्तानतया आहुः **न हि** इति. अन्यदेहावच्छिन्नात्मनः ईश्वरत्वस्य अज्ञानं स्वदेहावच्छिन्नात्मनः **संसारहेतुः न भवति** इति अर्थः. अपि तु स्वात्मनि एव ईश्वरत्वस्य अज्ञानं स्वात्मनः संसारहेतुः इति भावः ॥२१॥

---

१. ईश्वरत्वे न इति पाठः टिप्पण्यां प्रकाशे च, लेखानुसारी पाठः गृहीतः -सम्पा.

२. ज्ञातेऽपि इति पाठः टिप्पण्यां प्रकाशे च. लेखानुसारी पाठः गृहीतः -सम्पा.

३. जातेऽपि इति मुद्रितपाठः. कि.पाठे तु एवम् -सम्पा.

एवं सर्वप्रकरणार्थं[1] निरूप्य कुत्र पुरुषप्रयत्नः पर्यवसितः इति सन्देहे प्रयत्नविषयम् आह.

अतो वै कवयो नित्यं भक्तिं परमया मुदा ॥
वासुदेवे भगवति कुर्वन्त्यात्मप्रसादनीम् ॥२२॥

अतो वै कवयः इति. (**वासुदेवे!**) शुद्धसत्त्वात्मके अन्तःकरणे आविर्भूते **भगवति** परमप्रेम कर्तव्यम् इति प्रयत्ननिष्कर्षः. तेन भगवत्प्रसादः अन्तःकरणे भगवत्साक्षात्कारो वा इति फलम्. **वै** निश्चयेन ; स्वस्य एवं निश्चयः. **कवयः** शब्दतात्पर्याभिज्ञाः. शब्दबलविवेकाद् एवम् अर्थप्रत्ययः इति भावः. (**आत्मप्रसादनीं!**) साधनस्य सुखात्मकत्वादपि सदा **भक्तिं कुर्वन्ति.** (**नित्यं!**) क्षणे क्षणे प्रतिक्षणं भगवदाविर्भावेन **परमा मुद्**

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

संसारनिवृत्तिः इति आपाततः आशङ्क्य दूषयन्ति **न हि** इति. मिथ्यावादिभिस्तु ईश्वरो अन्यादृशः एव स्वीक्रियते. तथाच तादृशेश्वरात्मकत्वज्ञानम् आचार्याणां मते नास्ति इति सर्वं सुस्थम्. मिथ्यावादिनां तु अन्यादृशेश्वरस्वीकारात् पापम् उत्पद्यते. उक्तञ्च "योऽन्यथा सन्तमात्मानम् अन्यथा प्रतिपद्यते, किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा" (महाभा. १।६८।२६) इति. तथा अन्यादृशेश्वरात्मत्वज्ञानं पापजनकत्वात् संसारहेतुः एव. आचार्याणां मते सर्वसारभूत-भगवच्छास्त्रोक्त-ब्रह्मात्मकत्वज्ञानेन सर्वं सुगमम्. तथाच तेषां **ज्ञानं** तेषामेव **संसारहेतुः, न स्वस्य** इति ग्रन्थार्थः ॥२१॥

अतो वै इत्यत्र. **क्षणे** इति. **क्षणे क्षणे** इति पदद्वयेन "अष्टादशनिमेषा अस्तु" (अम.कोश १।४।१०) इत्यादिनिरूपितः कालः उच्यते, **प्रतिक्षणम्** इत्यनेन निमेषाद् अपि सूक्ष्मः उच्यते इति न पुनरुक्तिः ॥२२॥

प्रकाशः

अतो वै इत्यत्र. कृतेः अनित्यत्वाद् नित्यं कृत्यसम्भवेन यावज्जीवाग्निहोत्रे सायं प्रातःकालवद् अत्र कालविशेषो विवक्षितः ; तस्य वाक्ये अदर्शनात् सदापदव्याख्यातमपि कालं पुनः व्याकुर्वन्ति **क्षणे क्षणे** इति. एवमपि

[1] सर्वप्रकारेण अर्थं निरूप्येति ग.

च उत्पद्यते. विषयस्तु सत्त्वगुणाविर्भूतः, भक्तिश्च ज्ञानजनिका, प्रयत्नश्च भक्तौ साधनत्वेन इति, शब्दबलविवेकश्च इति प्रथमाधिकारः ॥२२॥

तत्र विषये सन्देहः— कोऽयं नियमः, सत्त्वमूर्तौ एव भक्तिः कर्तव्या इति? रजस्तमोमूर्तौ अपि भक्तिकरणं ब्रह्मत्वाद् ज्ञानसाधकं– तथाच विष्णुभक्तिवत् शिवादिभक्तिः अपि ज्ञानसाधिका, ब्रह्मणः तुल्यत्वाद्– इति आशङ्क्य तत्र निर्धारम् आह पञ्चभिः **सत्त्वम्** इत्यादिभिः.

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तैः
युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते ॥
स्थित्यादये हरिविरञ्चिहरेति सञ्ज्ञाः
श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः ॥२३॥

ब्रह्मणोऽपि[१] विशेषत्वाभावेऽपि उपाधिवैशिष्ट्येन फलवैशिष्ट्यम्. नतु चैतन्यस्वरूपं भिद्यते, केषाञ्चिद् वैष्णवानां मत[२] इव. तेऽपि गुणाः (**प्रकृतेः** !)

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

सत्त्वं रजः इत्यत्र. **केषाञ्चिद्** इति. केचन चैतन्ये एवं वैशिष्ट्यं स्वीकुर्वन्ति, तद् न साधीय इति भावः. **तथा सति** इति. ''स आत्मानं

प्रकाशः

अपुष्टार्थत्वम् इत्यतो मुत्पदेन तद् योजयन्ति **प्रतिक्षणम्** इत्यादि. सूतादीनाम् अधिकारस्य स्वरूपम् आहुः **विषय** इत्यादि. **विषय** इति भक्तिविषयः ॥२२॥

सत्त्वम् इत्यत्र. **ब्रह्मणोऽपि** इत्यत्र **अपिः** शङ्का-गर्हायाम्. **शेषत्वाभावेऽपि** इति गुणशेषत्वाभावेऽपि. **उपाधीत्यादि**. तथाच उपाधीनां सत्त्वादीनां प्रयोजकत्वात् तथा इत्यतो नियमः इति अर्थः. **केषाञ्चिद्** इति माध्वानाम्. **इव** इति वैधर्म्ये दृष्टान्तः. **न ब्रह्मणः** इति, ''निर्गुणस्य

लेखः

सत्त्वं रजः इत्यत्र. **केषाञ्चिद् वैष्णवानाम्** इति. माध्वादयो हि शिवं जीवकोटौ गणयित्वा तद्भजनं निषेधन्ति इति न इदं सिद्धान्तसम्मतम्

१. ब्रह्मणो विशेषत्वादिति ग-घ. शेषत्वाभावेऽपि इति पाठः प्रकाशे - सम्पा.

२. मत एवेति ख-ङ.

न ब्रह्मणः, तथा सति उच्चावचगुण-जनकत्वेन स्वरूपमपि विलक्षणं स्यात्. कार्यवशात् तथा अपेक्षायां न दोषः, एकस्यैव स्नान-भोजनाऽन्तःपुरकार्य-दर्शनात्. ननु[१] पुरुषः त्रिगुणः – तस्माद् गुणप्रेरणया तत्तत्कार्यकरणं सम्भवति. प्रकृतेऽपि तथा चेद्, गुणान्तरपरम्परया अनवस्था स्यात्. तथाच क्वचित् सहजो गुणसम्बन्धो वक्तव्यः –तथा सति स्वरूपमपि भिद्येत इति चेद्,

---

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

स्वयमकुरुत" (बृहदा.उप. १।४।३) इति श्रुतेः **उच्चावचगुणजनकत्वेन स्वरूपमपि** विषमं **स्यात्**. तथाच एते प्रकृतिजन्याः एव. **कार्य** इति. स्वरूपविषमता न इति अर्थः. **ननु** इति. **पुरुषः** जीवः **त्रिगुणः**, **तस्माद्** जीवाद् गुणैः प्रेरितात् विचित्र**कार्यकरणं सम्भवति** इति प्रसिद्धम् इति अर्थः. **प्रकृते अपि** ब्रह्मणि अपि **तथा चेत्** त्रिगुणता चेद्. तथाच यथा जीवो गुणप्रेरितः सर्वं करोति तथा ब्रह्म अपि इति चेद् इति अर्थः. समाधानम् आहुः **गुणान्तर** इति. ब्रह्मप्रेरकगुणस्वीकारे गुणस्य स्वतःप्रेरकत्वाभावात् तस्यापि गुणान्तरं प्रेरकं, तस्य अन्यद् इति **अनवस्था.** तथाच सर्वकार्यजननार्थं यत्र कुत्रचित् सम्बन्धो वक्तव्यः ; स च सर्वसमर्थस्य

प्रकाशः

गुणास्त्रयः" (भाग.पुरा. २।५।१८) इत्यत्र द्वितीयस्कन्धे वक्ष्यमाणा न इति अर्थः. अत्र चैतन्य-स्वरूपभेदवादी शङ्कते **ननु** इत्यादि. **पुरुष** इति शारीरः. **गुणप्रेरणया** इति गुणकृतप्रेरणया. [२]**प्रकृतेऽपि तथा चेद्** इति, ब्रह्मणि अपि तत्तद्गुणप्रेरणया कार्यकरणं चेद्[२]. **साङ्ख्यास्तु** इत्यादि. तेषां

लेखः

इति भावः. गुणानां प्रकृतिधर्मत्वं दृढयितुं पुरुषस्य सगुणत्वम् आक्षिप्य दूषयन्ति **ननु पुरुष** इति. सृष्टिकर्ता पुरुषो हि त्रिगुणः. ते च गुणाः न स्वाभाविकाः इति तद्गुणानां प्रेरकाः कारणभूताः गुणाः वाच्याः एव. एवं तत्रापि प्रसक्तौ गुणानन्तपरम्परा इति अर्थः. तदेतद् आहुः **प्रकृतेऽपि तथा चेद्** इति. पुरुषस्वीकृतगुणप्रेरकत्वेन गुणान्तराङ्गीकारः, पुनः तत्प्रेरकत्वेन

---

१. नतु इति ख-ग. २-२. कि.पाठे एषा अधिका: पङ्क्तिः, मुद्रितपाठे नोपलभ्यते - सम्पा.

अत्र हि बहवो वादिनः पृथक्-पृथङ् निरूपयन्ति. साङ्ख्यास्तु नित्यसम्बन्धं प्रकृतेः आहुः. अन्ये तु नास्त्येव सम्बन्धः, भ्रमादेव प्रतीयते इति आहुः. भागवतसिद्धान्ते तु भगवति सहजं कर्तृत्वम्. तत्र किञ्चिद्रूपं प्रकृति-पुरुषविभेदेन द्विरूपत्वम् आपद्यते. यथा भौतिकनिर्माणे भूतापेक्षा, न भूतनिर्माणे, तथा प्राकृतनिर्माणे करणत्वेन प्रकृत्यपेक्षा. न एतावता

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

ब्रह्मणएव भवितुम् अर्हति, न अन्यस्य इति ब्रह्मैव गुणाधिष्ठानः. तथाच जीवदृष्टान्तेन न ब्रह्मणः त्रिगुणता इति भावः. आशङ्कान्तरम् आहुः **तथा सति** इति. अधिष्ठातृत्वे सिद्धेऽपि अधिष्ठानगुणभेदात् **स्वरूपमपि** चैतन्यमपि भिन्नमेव स्यात्, तथाच एकत्वं न स्याद् इति अर्थः. **तत्र किञ्चिद्** इति. **रूपं** स्वरूपं **किञ्चिद्** अनिर्वचनीयं **द्विरूपत्वं** प्राप्नोति. स्वस्य प्रकृतिनिरपेक्षकर्तृत्वेन तत्सापेक्षकर्तृत्वं न. तदेव स्पष्टयति **यथा** इति. भूतानां जनने भूतापेक्षा नास्ति. **भौतिकनिर्माणे** स्थूलकार्य-शरीरादिजनने

प्रकाशः

कार्येश्वरवादात् प्रकृत्या नित्यसम्बद्धं चैतन्यमेव ईश्वरः इति तेषां मतम्. **अन्ये** इति पातञ्जलाः मायावादिनश्च. **भ्रमाद्** इति उपधानप्रयुक्ताद् भ्रमात्. **किञ्चिद्रूपम्** इति कूटस्थ-चैतन्यस्य अक्षरात्मनः एकदेशः. ननु प्रकृति-पुरुषौ विना कार्यादर्शनात् करणरूपौ तौ विना तयोः निर्माणासम्भवात् तौ नित्यौ एव स्वीकार्यौ, ततः च साङ्ख्यवत् तत्रैव विश्रान्तिः आपद्येत इति को विशेषः साङ्ख्यात्? अथ भ्रमात् सम्बन्धो वाच्यः तर्हि को विशेषो मायावादिभ्यः? इति आकाङ्क्षायां तौ विनापि तयोः जननं दृष्टान्तेन समर्थयन्ति **यथा** इत्यादि. **प्रकृत्यपेक्षा** इति, न प्रकृति-पुरुषनिर्माणे इति शेषः. **न एतावता** इति, न तज्जननोत्तरं सत्येनापि तत्सम्बन्धेन. **लुग्वा**

लेखः

गुणान्तराङ्गीकारः, पुनः तत्प्रेरकत्वेन तदङ्गीकारः चेद् इति अर्थः. **तथा सति** इति, सत्त्वादीनां निरूढतत्तद्गुणत्वे सति इति अर्थः. एतावता सगुणत्वम् आक्षिप्तं, तद् दूषयन्ति **अत्र हि बहवो** इत्यादिना. **किञ्चिद्रूपम्** इति, सकलकारण-कारणभूतम् अक्षरात्मकं रूपम् इति अर्थः. **यथा भौतिक**

स्वरूपे[१] भेदाः दोषाः[२] वा सम्भवन्ति इति **एक** एव **पुरुषः अस्य** जगतः (**स्थित्यादये!**) उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयार्थं गुणत्रयम् आददानः **पर** एव पुरुषो ब्रह्मभूतः **हरि-विरञ्चि-हर इति** "सर्वो द्वन्द्वो विभाषैकवद् भवति" (परिभा.पा. ६८) इति न्यायेन **सञ्ज्ञात्रयं धत्ते**. "सुपां सुलुग्" (पाणि.सूत्र ७।१।३९) इति लुग् वा. **इतिशब्दो** वा द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणः सर्वत्रापि सम्बध्यते. सञ्ज्ञायाः स्वरूपमात्रत्वात् न प्रत्ययोत्पत्तिः, यथा 'देवदत्त इति सञ्ज्ञा'. **इतिशब्दः** प्रकारार्थश्च, तेन अन्याः अपि सञ्ज्ञाः एकस्य बह्व्यः सन्ति इति अर्थः. तथाच एते गुणाः कार्यार्थं करणत्वेन गृहीताः अपि निरन्तरग्रहणाद् उपाधिरूपाः जाताः. तेन यद् भजनं तद् उपाधौ एव पर्यवसितं भवति इति सत्त्वोपाधिः एव सेव्यः इति अभिप्रायेण आह **श्रेयांसि** इति. तत्र एवं निर्णयः— सेवकः सेव्यं यादृशं रूपं[३] पश्यति, स्वस्यापि तादृशं[४] रूपं सम्पादयति. साधनानि च तानि यद्यपि अपहतपाप्मानं भगवन्तम् अन्यथाकर्तुं न शक्नुवन्ति तथापि जीवम् अन्यथा कुर्वन्त्येव. ततः च यादृशेन रूपेण साधनेन वा न अन्यथाभावः तादृशरूपवान् एव ईश्वरः सेव्यः, नाशशङ्काभावात्. यदि पुनः सेवकस्य बुद्धिः न

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

करणत्वेन भूतोपयोगो यथा तथा प्रकृतिजन्यकार्यजनने करणत्वेन प्रकृत्युपयोगः इति. तथाच स्वाधीनस्य अपेक्षायां तेन कार्यसम्पादनेन स्वरूपभेदः इति अर्थः. यथा भृत्यैः सह गमने तैः विनापि गमने राज्ञः स्वरूपभेदो नास्ति. **साधनानि** इति, राजस-भावादीनि इति अर्थः.

प्रकाशः

इति, 'हर्यादि'शब्दाद् जातस्य सोर्लुक्. **न प्रत्ययोत्पत्तिः** इति. "डुदाञ् दाने" (पाणि.धा.पा. जुहो.उ.अ. १११६), "अत सातत्यगमने" (पाणि.-धा.पा.भ्वा.प.से. ३८) इत्यादौ इव द्वन्द्वान्तादपि सा न इति अर्थः. **सम्पादयति** इति, तत्क्रतुन्यायेन सम्पादयति. **तानि** इति सत्त्वादीनि.

---

१. स्वरूपभेद इति ख. २. दोषो वा सम्भवतीति क-ग. ३. यादृशरूपम् इति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु क-गपाठानुसारेण. ४. तादृशरूपम् इति टिप्पणीमातृकान्तरपाठः - सम्पा.

उपाधिपर्यवसायिनी तत्र यत्र क्वचित् सेवायामपि न काचित् चिन्ता, यथा ब्रह्मविदः, ''तं यथा यथोपासते'' (मुद्गलोप. ३।३) इत्यत्र तथा निर्णयात्. **श्रेयांसि** शुभफलानि. **तत्र** भजनीयरूपेषु. **खलु** इति सम्मतिः ; सोपपत्तिका सा निरूपिता. **सत्त्वतनोः** इति **तनु**शब्दाद् दृढोपाधित्वम् उक्तम्. **नृणां** साधारणजीवानाम्. नियतानां तु तेन सह उपाधिः इति सर्वं सुस्थम् ॥२३॥

अयम् अर्थो गूढः इति दृष्टान्तम् आह.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

सोपपत्तिका सयुक्तिका, ''सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम्'' (भग.गीता १४।१७) इति. **नियता** इति. नियमेन ये सात्त्विकाः राजसाः तामसाश्च तेषां पुनः **तेन** सेव्येन **सह** सार्धम् **उपाधिः** निवृत्ता भविष्यति इति अर्थः. तथाच न काऽपि अनुपपत्तिः. अयमर्थः— ''देवान् देवयजो यान्ति'' (भग.गीता ७।२३) इति वाक्यात् तत्तत्-सालोक्यादि तत्तत्सेवकस्य फलम् ; एवञ्च सेव्यस्य उपाधिनिवृत्तौ सेवकस्यापि सह इति उक्तम् ॥२३॥

पार्थिवाद् इत्येतस्य सङ्गतौ **अयमर्थः** इति. एकस्य विचित्रकार्यजनकत्वं कथम् इति सन्देहाद् निश्चयेन ज्ञातुम् अशक्यः इति गुप्तः दृष्टान्तेन

प्रकाशः

नाशशङ्काभावाद् इति. सत्त्वोपाधेः स्थापकत्वात् तथा इति अर्थः. मुख्यपक्षम् आहुः **यदीत्यादि**. **तेन सहोपाधिः** इति. यादृशं यं भजन्ति तेन सह स एव उपाधिः तेषामपि भवति. तथाच तस्य उपाधिनिवृत्तौ तत्सायुज्यं प्राप्तानां तेषामपि उपाधिनिवृत्तिः, नतु ततः पूर्वम् इति अर्थः ॥२३॥

लेखः

इति. यथा भौतिकपदार्थनिर्माणे पञ्चमहाभूतापेक्षा, यथा वा भूतनिर्माणे भूतसूक्ष्माहङ्काराद्यपेक्षा तथा प्राकृतनिर्माणे तदपेक्षा इति अर्थः. **तेन सहोपाधिः** इति. **तेन** ब्रह्मणा उपाधेः सहभावमात्रम् अङ्गीकुर्वन्ति, तदपि कार्यार्थमेव इति, नतु साधारणानाम् इव दृढोपाधिज्ञानम् इति अर्थः. अज्ञानां कदापि तद्राहित्यज्ञानाभावाद् दृढत्वम् इति ज्ञेयम् ॥२३॥

अयमर्थः इति स्वरूपैक्येऽपि उपाधिवैशिष्ट्येन फलवैशिष्ट्यरूपः.

पार्थिवाद् दारुणोऽधूमः तस्मादग्निस्त्रयीमयः ॥
तमसस्तु रजस्तस्मात् सत्त्वं यद्ब्रह्मदर्शनम् ॥२४॥

पार्थिवाद् इति. प्रकाशापेक्षिणो(/णा?) हि तेजो मृग्यते, तत्रापि अग्निसाध्येषु अग्निः. स च लोके (**दारुणः**!) दारुषु प्रतिष्ठितः. तानि पुनः पृथिवी-प्रकृतिकानि. तेषां पूर्वरूपं पृथिवीसम्बन्धः, वृक्षरूपता इति यावत्. तत्र च्छेदनेन शोषेण वा काष्ठता, जलांशेन[1] धूमजनकत्वं तेजोंऽशेन अग्निजनकत्वम् इति. तत्रापि अलौकिकाऽऽहवनीयादि-देवतासम्बन्धे

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

स्फुटीकृतः इति भावः. **पार्थिवाद्** इत्यत्र **प्रकाश** इति. तथाच तेजोऽर्थिनः काष्ठे प्रवृत्तिदर्शनाद् वह्निपर्यन्तं काष्ठस्यैव हेतुता इति बोधनाय **प्रकाश** इति उक्तम् इति ज्ञेयम्. **तत्र** इति, प्रकाशेषु इति अर्थः. **तानि** इति, दारूणि इति अर्थः. **प्रकाश** इत्यारभ्य **वेदप्रतिपाद्यत्वम्** इत्यन्तम्. अयम् अर्थः— एकस्माद् एव पदार्थात् नानाकार्योत्पत्तिः भवति इत्यत्र दृष्टान्तः **पार्थिवाद्** इति. यथा वृक्षरूपात् पदार्थाद् छेदेन शोषेण वा दारुत्वं

प्रकाशः

पार्थिवाद् इत्यत्र. **अयम् अर्थो गूढः** इत्यादि. स्वरूपैक्येऽपि उपाधिवैशिष्ट्येन फलवैशिष्ट्यरूपो अर्थः उपाधेः अप्रयोजकत्वस्फूर्त्या सन्देहेन ज्ञातुम् अशक्यः **इति** दृढोपाधित्वेन तत्तत्कार्यजननत्वे **दृष्टान्तम् आह** इति अर्थः. **तत्रापि** इति तेजोमार्गणेऽपि. **तेषाम्** इति तेजोदृढोपाधिभूतानां दारूणाम्. **इति** इति, उपाधिभूतानां तेषाम् एवं स्वनिष्ठोपाधिवशेन तत्तत्कार्यजनकत्वम्. **तत्रापि** इति तदुपहिते अग्नौ अपि. एवं तेजोदृढोपाधिभूतानां

लेखः

पार्थिवाद् इत्यत्र. **प्रकाशापेक्षिण** इति. एवमेव आत्मापेक्षिणा आत्मा मृग्यते इति भावः. **तत्रापि** तेजसां सूर्य-चन्द्र-जातवेदादित्वेन बहुविधत्वेऽपि अग्न्यापेक्षिकसाध्यताक-पाकयज्ञादिषु अपेक्षितेषु **अग्निः** एव अपेक्ष्यते, तेनैव तन्निवर्तनाद् इति भावः. **प्रतिपाद्यत्वम्** इत्यन्तेन पूर्वरूपं सर्वमपि प्रदर्शितं

१. जलांशकत्वेनेति क-घ.

वेदप्रतिपाद्यत्वम्. तत्र लोके कालान्तराग्नीच्छायां सार्द्रभू-सम्बद्ध-काष्ठसङ्ग्रहः. तत् **पार्थिव**शब्देन उक्तम्. **तस्माद् अधूमः** शुष्कः ततोऽपि ज्वलन्

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

भवति, ततः किञ्चिद् आर्द्रत्वाद् धूमो भवति, ततः मथनादिना अग्निः उत्पद्यते. एवं जलांशेन पूर्वं धूमः, पश्चात् तेजोंऽशेन अग्निः उत्पद्यते, ततः अग्नौ अपि अलौकिकाऽऽहवनीयादि-देवतासम्बन्धेन वेदप्रतिपाद्यत्वं भवति, इति वृक्षाद् एतावन्ति कार्याणि सिद्धानि. तथा एकस्माद् ब्रह्मणो विचित्रकार्योत्पत्तिः. ननु वृक्षस्य दारुत्वे कारणता, दारुणे अग्नौ, अग्नेः देवतासम्बन्धे, तस्य वेदप्रतिपाद्यत्वे इति पृथक्पृथक्-कारणता अस्तु, नतु आहवनीयपर्यन्तं वृक्ष एव कारणम् इति आशङ्क्य आहुः **तत्र लोके** इति. यथा घटार्थिनो दण्डे प्रवृत्तिः तथा लोके कालान्तरकर्तव्येऽपि अग्निष्टोमे आहवनीयाद्यग्निनिमित्तम् आर्द्रारणिसङ्ग्रहः क्रियते इति दण्डवद् वृक्षः कारणम् इति फलितम्. मूलार्थम् आहुः **तत्पार्थिव** इत्यारभ्य **आहवनीयः** इत्यन्तेन. **तद्** आर्द्रारणिकाष्ठं **'पार्थिव'शब्देन उक्तम्** इति अर्थः. एवञ्च आर्द्रकाष्ठाद् मथनेन यत्किञ्चित् तेजस्सम्बन्धे धूमः, ततो अत्यन्तं तेजस्सम्बन्धेन आर्द्रतानाशाद् अधूमो जातः, ततः शुष्काद् ज्वलने अग्निः, ततः परलोके

प्रकाशः

दारूणां स्वाऽवान्तरोपाधिवशेन त्रयीमयत्वपर्यन्तं हीन-मध्यमोत्तम-कार्यजनकत्वं व्याख्यातम्. एवं व्याख्याने उपाधेः एव कार्यजनकत्वम् आयाति नतु उपहितस्य इत्यतः प्रकारान्तरेण आहुः **तत्र लोके** इत्यादि. **तद्** इति सामान्ये नपुंसकम्. **अधूमः शुष्कः** इति, सङ्ग्रहः इति शेषः. **पूर्वं**

लेखः

ज्ञेयं, **तत्र** इत्यादिना व्याख्यानम् उच्यते. तथाच एवं मूलार्थः— **पार्थिवात्** सार्द्राद् **दारुणः** सकाशाद् **अधूमो** धूमाजनको वह्निमात्रजनकः शुष्कः काष्ठसङ्ग्रहः उत्तमः, अलौकिकाऽऽहवनीयाग्नि-प्रत्यासत्तेः इति पूरणीयम्. **तस्माद्** अपि **अग्निः** ज्वलन् लौकिकः उत्तमः, अधिक-तत्प्रत्यासत्तेः. ततोऽपि **त्रयीमयः** उत्तमः ; स्वरूपाद् अलौकिकत्वेन फलतश्च उत्तमः इति अर्थः. एवमेव **यद् ब्रह्मतमः तस्मात् यद् ब्रह्मरजः** तद् उत्तमं,

अग्निः ततोऽपि लोकान्तरे प्रकाशार्थं **त्रयीमयः**. ततः पूर्वं रूपं मृत्पिण्डसमान-काष्ठता, अन्तिमम् आहवनीयः इति. अथवा. जले हि आधारमात्रत्वं दारु सम्पादयति, धूमः शोषणं, पाकम् अग्निः —एवं

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

सुखजननार्थम् आहवनीयादिरूपः. ततः अयमर्थो मे सिद्धः— मृत्पिण्डसमाना काष्ठता, घटसमाना आहवनीयादयः. ननु जलांशेन धूमजनकत्वे एकस्य सर्वकार्यजनकत्वं नायाति इति अरुच्या प्रकारान्तरेण व्याचक्षते **अथवा** इति. तथाच उपष्टम्भकरत्वेन जलांशः तत्र, नतु जलत्वेन कार्यजनकत्वम् इति आशयः. तथाच आर्द्रत्वबोधक-'पार्थिव'पदेन जलसत्त्वमात्रं बोध्यते, नतु जलांशस्य कारणत्वम् इति अर्थः सम्पन्नः. एवञ्च एतादृशकाष्ठाद् जातो यो वह्निः स एव घटस्य शोष-पाकरूपं नानाकार्यं सम्पादयति यथा तथा ब्रह्मणि इति भावः. तर्हि **धूम**पदेन किम् उच्यते अतः आहुः **धूमः** इति. **धूम**पदं **शोषणं** वदति, तथा **अग्नि**पदं **पाकं** वदति.

प्रकाशः

रूपम् इति अग्नेः प्राथमिकं रूपम्. अस्मिन्नपि पक्षे प्राथमिकरूपस्य तथोपकारकत्वं न आयाति इत्यतः पक्षान्तरम् आहुः **अथवा जले** इत्यादि. भूयसो जलस्य स्वल्पाग्नि-नाशकत्वाद् आर्द्राऽऽमघटे विद्यमानेऽपि **जले**

लेखः

तस्माद् अपि **सत्त्वं ब्रह्म** इति ज्ञेयम्. **लोकान्तरे** इति, स्वर्गादिलोके इति अर्थः. **त्रयीमयः** वैदिककर्मप्रचुरः. तदेवम् उपाधिरूपेषु अपि तारतम्यं ग्राहयितुं पूर्वान्तिमावस्थे स्मारयन्ति **ततः पूर्वं रूपम्** इत्यादिना. पूर्वस्मिन् पक्षे एकस्यैव उपाधिभेदेन नानात्वं न स्फुटम् इति तदर्थं पक्षान्तरम् उच्यते **अथवा** इति. **जले हि** इति. निरूपितत्वं सप्तम्यर्थः ; जलनिरूपिताधारमात्रत्वम् इति अर्थः. अयमर्थः— आमघटादिके हि जलपिच्छलतया सूक्ष्माग्न्युपरि स्थापिते अग्निरेव शाम्यति इति दूरापास्तं तत्पाकादिकम्. काष्ठैः सहकृतस्य अग्नेस्तु भूयस्त्वेन आमघटजलाधारता सुखेन सम्भवति इति काष्ठं जलनिरूपिताधिकरणतामात्रम् अग्नेः सम्पादयति इति उपपन्नम्. ततो **धूमो** मृत्पिण्डजलं शोषयति, मृद्वि**पाकं** च **अग्निः**

घटस्य नानोपकार-सम्पादकत्वं तेजसएव, उपाधिवैलक्षण्यात्. तथा ब्रह्मणोऽपि— तमसा लौकिकभोग-सम्पादकत्वं, रजसा कर्म, सत्त्वेन ज्ञानम् इति. **यद् ब्रह्म** इति पूर्वोक्तरूपता उक्ता. **यद् ब्रह्मतमः तस्माद् यद् ब्रह्मरजः** तद् उत्तमं, ततोऽपि **सत्त्वम्**. तत्तु ज्ञानरूपमेव इति **दर्शनम्** अनुभवः. अदूर-विप्रकर्षेण एतद् उक्तम् इति अर्थः. अनेन सोपहितं कार्यमपि विलक्षणं जनयति इति उक्तम्. पूर्वश्लोके जीवपुरस्सरेण त्रैविध्यं निरूपितम्, अनेन तु ब्रह्मपुरस्सरेण इति विशेषः ॥२४॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

तथाच सिद्धम् अर्थम् आहुः **एवम्** इति. अयमर्थः— तेज एव उपाधिविशेषाद् इन्धनरूपात् काष्ठाद् घटस्य शोष-पाकरूपं विचित्रोपकारं करोति. दार्ष्टान्तिके साम्यम् आहुः **तथा ब्रह्मणोऽपि** इति. एवञ्च यथा उपाधिविशेषात् तेजो विचित्रकार्यं करोति तथा ब्रह्म अपि **तमसा लौकिकभोगं, रजसा कर्म, सत्त्वेन ज्ञानं** सम्पादयति इति अर्थः. **पूर्वोक्त** इति, नामत्रयवत्त्वम् इति अर्थः. **अनेन** इति. उपाधिविशिष्टं ब्रह्म स्वयं यथा **विलक्षणं** तामसत्वादिना, तथा **कार्यम् अपि** विचित्रं **जनयति** इति अर्थः. **पूर्वश्लोके** इति. ''सत्त्वतनोः'' इति 'तनु'पदेन दृढोपाधिः सूचितः इति तथा. अत्र तु **यद्ब्रह्म** इति 'ब्रह्म'पदप्रयोगात् तथा इति अर्थः ॥२४॥

प्रकाशः

तस्य घटस्य अग्न्याधारत्वं **दारु सम्पादयति** इति अर्थः. **पूर्वोक्तरूपता** इति दृढोपाधिरूपता. **कार्यम्** इति सेवककार्यम्. **जीवपुरःसरेण** इति, ''नृणाम्'' इत्युक्त्या तथा इति अर्थः ॥२४॥

लेखः

जनयति, ततो घटसिद्धिः इति अर्थः. तदेतद् दार्ष्टान्तिके योजयितुम् आहुः **एवं घटस्य** इत्यादि. **तेजसो** अग्नेः **एव** यथा दारुरूपोपाधिना जलाधारतासम्पादकत्वं, धूमेन उपाधिनाशः, स्वरूपेण भौतिकेन पाकः **तथा** एकस्यैव **ब्रह्मणः तमसाद्युपाधिना लौकिकभोगादिसम्पादकत्वम्** इति अर्थः. **पूर्वोक्तरूपता** इति, पूर्वश्लोकोक्तः ''परः पुरुष'' इति पदद्वयबोधिता मूलरूपता इति अर्थः. मूलान्वयप्रकारं बोधयन्ति **यद् ब्रह्मतमः** इत्यादि.

अत्र सदाचारं प्रमाणयति

भेजिरे मुनयोऽथाऽग्रे भगवन्तमधोक्षजम् ।।
सत्त्वं विशुद्धं क्षेमाय कल्पन्ते येऽनु तानिह ।।२५।।

भेजिरे इति. आत्मार्थं भजनेन[१] **भगवन्तम्** एव **भेजिरे** इति आत्मनेपदाद् बहुवचनाद् आचारदार्ढ्यम्. कर्तृदोषाभावम् आह **मुनयः** इति. मननपर्यन्तं पदार्थानुष्ठानेन[२] सत्त्वम् उक्तम्. **अथ** इति अज्ञानदशायां भजनं निवारितं ; मुनयो भूत्वा पश्चाद् भजन्ते इति अर्थः. **अग्रे** सत्ययुगे, "पुरा कृतयुग" (रामायण १।१८।१८) इत्यादिवाक्यात्. ब्रह्मरूपताम् अलौकिकरूपताञ्च आह पदद्वयेन **भगवन्तम् अधोक्षजम्** इति. उपाधेः

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

भेजिरे इत्यत्र. **आत्मार्थम्** इति. कर्तृगामिनि क्रियाफले आत्मनेपदं भवति इति भावः. **मनन** इति. सत्त्वगुणं विना मननं न सम्भवति इति कार्येण कारणानुमानम् इति अर्थः. **सामानाधिकरण्येन** इति.

प्रकाशः

भेजिरे इत्यत्र. **सत्त्वम् उक्तम्** इति, कार्योक्त्या अनुमापितम् इति

लेखः

तथाच यथा पार्थिवाद् दारुणः अधूमः उत्तमः बहूपकारकत्वेन, एवं ततोऽपि अग्निः बहूपकारकः उत्तमः. तस्यैव वैदिकसम्बन्धेन त्रयीमयत्वेन अत्युपकारकत्वम् उक्तं भवति. तथा **यद् ब्रह्मतमः तस्माद् रजः** उत्तमः इत्याद्यर्थः. **जीवपुरस्सरेण** इति. "श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः" (पूर्वश्लोके) इति जीवानां फलदान-तारतम्य-पुरस्सरतया **ब्रह्मस्वरूप-त्रैविध्यम्** उक्तम्. न तथा अत्र कश्चन जीवानुरोधः अपितु सदृष्टान्तं ब्रह्मैव निरूप्यते इति भावः ।।२४।।

अत्र इति, सत्त्वमूर्तिभजने इति अर्थः.

भेजिरे मुनय इत्यत्र. **अग्रे सत्ययुगे "पुरा कृतयुगे"** इति वाक्यं ... ।।२५।।

---

१. भजने इति ख-घ. २. वेदार्थानुष्ठानेनेति ग.

मुख्यताप्रतिपादनार्थं **सत्त्वम्** इति सामानाधिकरण्येन प्रतिपादनम्. **विशुद्धम्** इति ब्रह्मादिषु विद्यमानसत्त्वनिवृत्तिः. तेषां किं फलं जातम् इति जिज्ञासायां किं तेषां फलं वक्तव्यं, तत्सेवकाः अपि मुच्यन्ते इति आह **कल्पन्ते** इति. **तान् अनु ये** तत्सेवकाः ये, तन्मार्गवर्तिनो वा, तेऽपि **क्षेमाय** स्वरूपानन्दाय **कल्पन्ते** इति अर्थः. तत्रापि **इहैव,** न भवान्तरे. तस्मात् शीघ्रं शुभफलसाधकत्वात् सत्त्वरूपमेव सेव्यम् इति उक्तम् ॥२५॥

इदानीं रजस्तमसोरपि सेवक-भजन-फलानां भेदेन स्वरूपं[१] वक्तुं सत्त्वस्य स्वरूपम् अनुवदति **मुमुक्षवः** इति. अथवा. कालस्य प्राधान्यात् सत्ययुगे सत्त्वस्य भजनम् अस्तु नाम, कथं त्रेतादिषु तद्भजनम् इति आशङ्क्य आह.

मुमुक्षवो घोररूपान् हित्वा भूतपतीनथ ॥
नारायणकलाः शान्ता भजन्ति ह्यनसूयवः ॥२६॥

मुमुक्षवः इति. सत्त्वस्य फलं मोक्षः, सः ज्ञानसाध्यः. ज्ञानं च **शान्ता**न्तःकरणसाध्यम्. भजनीयं च रूपं ध्येयं, तेन घोररूपध्यानेन चित्तमपि तथा भवति. अतो अभेदेऽपि सत्त्वमूर्तेः अपि (**भूतपतीन् हित्वा**!) घोराणि रूपाणि परित्यज्य **घोररूपां**श्च पूर्वं मोक्षसाधनत्वेन कुलाचारेण

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

विरुद्ध-नामार्थयोः अभेदान्वये समानविभक्तिकत्वं विरुद्धविभक्ति-राहित्यं वा तन्त्रम् इति **सत्त्वम्** इति समानविभक्तिकत्वाद् **भगवन्तम्** इत्यनेन अभेदान्वयः इति भावः. **ब्रह्मादि** इति. ब्रह्मेशयोः रजस्तमोभ्यां संकलितम् इति अर्थः. **स्वरूपानन्द** इति, जीवानन्दाय इति अर्थः ॥२५॥

मुमुक्षवो इत्यत्र. **अभेदे** इति. चैतन्यस्य अभिन्नत्वाद् अभेदः इति

प्रकाशः

अर्थः. **सामानाधिकरण्येन प्रतिपादनम्** इति. विरुद्धार्थयोः अभेदान्वये समानविभक्तिकत्वस्य तन्त्रत्वात् तथा इति अर्थः. **स्वरूपानन्दाय** इति जीवानन्दाय ॥२५॥

---

१. रूपमिति ख.

श्रद्धया वा प्राप्तं राजसादि भजनं गुणानां स्वरूपज्ञानानन्तरं परित्यज्य **अथ** भिन्नक्रमेण ब्रह्माण्डान्तर्वर्तित्वात् पुरुषरूप-**नारायणस्य कलाः** धर्मावताराः ज्ञान-क्रियाशक्तिरूपाः मत्स्याद्यवतारान् रामादिरूपं वा (**अनसूयवः!**) रूपान्तरेषु दुष्टबुद्धिरहिताः **भजन्ते** इति अर्थः. न इदं भक्तिमार्गभजनं किन्तु जीवानां स्वपुरुषार्थसिद्धये धर्ममार्गेण. तथा सति सर्वथा निःसन्दिग्धमेव भजन्ते, न नृसिंहादिरूपम्. भक्तिमार्गे तु विषयस्य प्राधान्यात्[१] प्रयोजनस्य दुर्बलत्वात् सर्वाण्येव रूपाणि भजनीयानि ॥२६॥

रूपान्तरे भजनसामग्र्याः स्वरूपम् आह.

रजस्तमःप्रकृतयः समशीलान् भजन्ति वै ॥
पितृभूतप्रजेशादीन् श्रियैश्वर्यप्रजेप्सवः ॥२७॥

रजः इति. शरीर-गुण-स्वभावभेदेन गुणाः त्रिविधाः. तत्र स्वाभाविकाः अनुल्लङ्घनीयाः. शरीररूपाः मौढ्यदशायामेव बलिष्ठाः. धर्मरूपास्तु

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

भावः. **किन्तु** इति. स्वपुरुषार्थसिद्धिस्तु जीवानन्दप्राप्तिः, तथाच एतादृशानां पुरुषोत्तमसायुज्यं न भवति इति भावः. **तथा सति** इति. भयानकत्वात् न भजन्ते इति भावः. **भक्तिमार्गे** तु इति तुशब्देन पूर्वव्यावृत्तिः. तत्र कलाः विषयत्वेन उक्ताः, प्रयोजनम् अपि जीवानन्दः. प्रकृते तु विषयो भगवान्, भक्तिः एव प्रयोजनं, तस्या एव पुरुषार्थत्वात् प्रयोजनान्तरस्य तुच्छत्वात्. तथाच भक्तिमार्गे भगवत्त्वेन भयानकानि अपि नृसिंहादिस्वरूपाणि भजनीयानि. न हि भयानकोऽपि भयङ्करः इति अर्थः ॥२६॥

रूपान्तरे इति, काल-शिव-ब्रह्मादिषु **भजनस्य सामग्र्याश्च** इति अर्थः. **रजः** इत्यत्र. **धर्मः** इति, सङ्गगुणाः इति अर्थः.

प्रकाशः

मुमुक्षवः इत्यत्र. **तथा सति** इति धर्मे सति. **न** इति, शान्तत्वसन्देहाद् न इति अर्थः. **भजनीयानि** इति, भक्ताऽभयङ्करत्वाद् भजनीयानि इति अर्थः ॥२६॥

---

१. प्राधान्यत्वादिति क-ख-ग.

सङ्ग-शास्त्रैः वर्धन्ते क्षीयन्ते च. तत्र ये विवेकिनोऽपि सच्छास्त्रं सत्सङ्गं ज्ञात्वाऽपि (**रजस्तमःप्रकृतयः!**) स्वभावतो राजसाः तामसाश्च (**समशीलान्!**) तादृशानेव भजन्ते. भजनं हि सख्यपर्यवसायि, तच्च समानरूपे एव भवति इति समानशीलान् एव भजन्ते इति (**वै!**) निश्चयार्थः. तयोः परिकरोऽपि तादृशः इति ज्ञापयितुं **पितरो भूतानि प्रजाः** च तेषाम् **ईशाः** काल-शिव-ब्रह्मरूपाः ते **आदिभूताः** येषां तान् क्षुद्रदेवान् भजन्ते. तत्र श्राद्धादिना पितृभजने शक्तिभजने च (**श्रीः!**) धनप्राप्तिः फलम्, ईश्वरभजने तु **ऐश्वर्यप्राप्तिः**, प्रजेशभजने **प्रजायाः**. तत्रापि ईप्सितैव[१] प्राप्तिस्तु दुर्लभा, दातॄणां तामसत्वात् ॥२७॥

एवं सत्त्वमूर्तौ भजनं सोपपत्तिकम् उपपाद्य तत्रैव सर्वप्रमाणानां, साधनानाञ्च तत्रैव, परिसमाप्तिः इति आह **वासुदेवपराः वेदाः** इति श्लोकद्वयेन.

वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः ॥
वासुदेवपरा योगा वासुदेवपराः क्रियाः ॥२८॥
वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः ॥
वासुदेवपरो धर्मो वासुदेवपरा गतिः ॥२९॥

प्रथमाधिकारे सर्वं[२] गुणमयम् इति ज्ञानं मुख्यं, युक्तेः प्राधान्याद्, अतः सत्त्वपरत्वं सर्वेषाम् इति. तत्र **वेदः** सात्त्विकं प्रमाणं, (**मखाः!**) यज्ञाः च सात्त्विकाः, **योगाः** स्नानादि-**क्रियाः** च. **ज्ञानं, तप,** (**धर्मः!**)

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

ईश्वर इति, शिवभजने इति अर्थः ॥२७॥

प्रकाशः

रजः इत्यत्र. **निश्चयार्थः** इति, वैशब्दः इति अर्थः. **ईश्वरभजने** इति भूतेशभजने ॥२७॥

वासुदेवेत्यत्र. सर्वगुणमयम् इति सत्त्वम् इति अर्थात्. **गुण**शब्दः अत्र दोषविरुद्धपरः. **युक्तेः प्राधान्याद्** इति, **प्रथमाधिकारे युक्तेः प्राधान्याद्**

---

१. ईप्सैव इति भा.पाठः -सम्पा. २. सर्वगुणमयम् इति पाठः प्रकाशे -सम्पा.

आचारः, (**गतिः!**) स्वर्गश्च सात्त्विकः. अन्यप्राधान्य-प्रतिपादकानि तु शास्त्राणि न प्रमाणानि किन्तु राजसानि तामसानि. एवं साधनानि अपि. एवं सर्वसात्त्विकभावः कर्तव्यः इति प्रथमाधिकारः. एते एव मध्यमाधिकारे अन्यथा वक्तव्याः, उत्तमाधिकारे च. सर्वेषाम् एषाञ्च अन्तःकरणशोधकत्वात् सत्त्वपरत्वं, सुखफलत्वाच्च. सुखस्य सात्त्विकत्वात् शुद्धान्तःकरणे स्फुरित-ब्रह्मानन्दस्यापि सात्त्विकत्वम्. सर्वाणि पञ्चशास्त्राणि श्रुति-साङ्ख्य-योग-पशुपति-वैष्णवाख्यानि मुख्यानि. अङ्गभूतं च धर्मशास्त्रं सर्वेषाम्. तत्र इदं वैष्णवं शास्त्रम्. पशुपतिमतं तु परमतोपन्यासेन उक्तम् अपेक्षितरूपेण प्रमाणं, नतु सर्वथा. तत्र यावद् अन्येषां त्रयाणां धर्मशास्त्रस्य च न एकवाक्यता तावत् न वैष्णवशास्त्रस्य दार्ढ्यम् इति एकवाक्यता निरूप्यते. तत्र प्रथमं **वेदः** वेदार्थो (**मखाः!**) यज्ञश्च, तथा **योग**शास्त्रं (**क्रिया!**)

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

वासुदेव इत्यत्र. **स्वर्गश्च** इति, आत्मसुखम् इति अर्थः. **किन्तु** इति. राजसत्वेन तामसत्वेन च अप्रामाण्यं, न शास्त्रत्वेन इति अर्थः. राजसानि तामसानि तु अप्रमाणानि इति अर्थः. तथाच सर्वेषां वासुदेवपरत्वकथने युक्तिम् आहुः **सर्वाणि** इति. **अपेक्षित** इति. अपेक्षितत्वेन प्रमाणं, नतु स्वतः प्रमाजनकम्. तथाच पशुपतिशास्त्रस्य मोहजनकत्वेन अपेक्षा इति भावः. यद् वा "इदं परमतं, इदं स्वमतम्" इति ज्ञानार्थं वा अपेक्षा ॥२८-२९॥

प्रकाशः

इति अन्वयः. **सर्वाणि पञ्च** इति. "साङ्ख्यं योगः पञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा" (महाभा. १२।३५९।१) इति मोक्षधर्मवाक्यात् तथा इति अर्थः. **परमतोपन्यासेन** इति. "एकं साङ्ख्यं च योगं च वेदारण्यकमेव च, परस्पराङ्गान्येतानि पञ्चरात्रं च कथ्यते" (महाभा. १२।३३६।७६) इति परस्पराङ्गकथने तत्रैव पाशुपतानुक्तेः तथा इति अर्थः. **अपेक्षितरूपेण** इति, "सर्वेषु च नृपश्रेष्ठ ज्ञानेष्वेतेषु दृश्यते, यथागतं तथा ज्ञानं निष्ठा नारायणः परः" (महाभा. १२।३५९।६८) इति तत्रैव वाक्यात् पाशुपतस्यापि वासुदेवपरत्वे सिद्धे पुरःस्फूर्तिकस्य पशुपतिभजनस्य प्रथमाधिकारत्वबोधकेन

यमादयश्च, तथा (**ज्ञानं!**) साङ्ख्यं तदुक्तं परमसाधनं **तपश्च**, **धर्मशास्त्रं** तदुक्तोच्च**गतिश्च** —तदेतत्सर्वं **वासुदेवपरम्** इति अर्थः. एवं सोपपत्तिकं फल-साधनस्वरूपं निर्णीतम् ॥२८-२९॥

तृतीयं कृष्णावतार-प्रयोजनप्रश्नं प्रथमाधिकाराद् अवतारतुल्यत्वेन अत्र अनुक्त्वा पश्चाद् अवतारेषु एव कथयिष्यति. ततश्चतुर्थः प्रश्नः "तस्य कर्माणि उदाराणि" (भाग.पुरा. १।१।१७) इति, तत्र उत्तरम् आह **सएव इदम्** इति पञ्चभिः. सृष्टि-प्रवेश-नानात्व-भोग-रक्षारूपाः पञ्चलीलाः क्रमेण पञ्चभिः प्रतिपाद्याः.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

तृतीयम् इति. अयमर्थः— सूतस्तु हीनाधिकारी इति दशावतारेषु कथयिष्यति. तथाच पूर्वं भगवति पूर्णत्वेन ज्ञानाभावात् साधारण्येन उक्तवान् इति अर्थः.

प्रकाशः

रूपेण इति अर्थः. **वासुदेवपरम्** इति, पूर्वोक्तरीत्या प्रमाण-प्रमेय-साधनानां सत्त्वेन फलस्य सुखांशत्वेन च वासुदेवतात्पर्यकम्. **एवम्** इति. फल-साधनयोः बोधकत्वेन परम्परात्रयेण विषयादिबोधनेन च इति अर्थः. **निर्णीतम्** इति. फलं वासुदेवसाक्षात्कारः सर्वेषां श्रेयः, तत्साधनं च धर्मादि कथारत्यन्तम् आत्मप्रसादनम् इति निर्णीतम् इति अर्थः ॥२८-२९॥

अवतारतुल्यत्वेन इति अवतारान्तरतुल्यत्व-ज्ञानेन. **कथयिष्यति** इति. अवसरसङ्गत्या अत्र वक्तुम् उचितमपि[१] तत्र कथयिष्यति इति अर्थः.

लेखः

स एवेदम् इत्यत्र आभासे **कृष्णावतारप्रयोजनप्रश्नम्** इति, "सूत जानासि भद्रं ते" (भाग.पुरा. १।१।१२) इत्यनेन उक्तम् इति अर्थः. **पश्चाद्** इति, तृतीयाध्याये इति अर्थः. **कथयिष्यति** इति, "स वा इदं विश्वममोघलीलः" (भाग.पुरा. १।३।३६) इत्यादिना कथयिष्यति इति अर्थः. एवञ्च प्रश्नत्रयस्य उत्तरम् अत्र अध्याये त्रयस्य च तृतीये इति

---

१. उचितम् इति इति मुद्रितपाठः. कि.पाठे तु एवम् -सम्पा.

स एवेदं ससर्जाऽग्रे भगवान् आत्ममायया ॥
सदसद्रूपया चाऽसौ गुणमय्याऽगुणो विभुः ॥३०॥

सगुण-निर्गुणयोः भेदाभावाय **स एव** इति. सृष्टिस्तु अगुणाद् एव गुणत्रयेण अपि— सृष्टिः रजोमिश्रितेन, तमोमिश्रितेन त्रयेणापि संहारः,

प्रकाशः

स एवेदम् इत्यत्र. **पञ्चभिः** इति. एतेन "पञ्चमः श्लोकः कृष्णावतारप्रयोजन-प्रश्नोत्तररूपः" इति श्रीधरमतं निवारितं, तत्र सामान्यतः कथनेन विशेषाकाङ्क्षाया अपूरणात्. **सृष्टिस्तु अगुणादेव** इति. मूलसृष्टिः प्राथमिकी सा तथा, अगुणादेव गुणसृष्टेः वक्तव्यत्वाद् इति अर्थः. **गुणत्रयेणापि** इत्यादि. ब्रह्मणः शिवस्य विष्णोश्च शुद्धरजस्तमःसत्त्व-रूपत्वात् तादृशेभ्यः प्रत्येकं रजस्तमःसत्त्व-मिश्रणे सृष्टि-संहार-पालनानि भवन्ति इति अर्थः. एतच्च वायुसंहितादौ ब्रह्मा पुरुष-काल-विराड्भिः, विष्णुः अनिरुद्ध-प्रद्युम्न-सङ्कर्षणैः, शिवो भव-मृड-हरैः सृष्टि-स्थिति-संहारान् करोति इत्येवं प्रकारेण बोधितम्. कौर्मेऽपि "एका भगवतो मूर्तिर्ज्ञानरूपा शिवामला, वासुदेवाभिधाना सा गुणातीता सुनिष्कला, द्वितीया रुद्रसंज्ञा स्यात् तामसी शेषसञ्ज्ञिता, विहन्ति सकलं चान्या वैष्णवी परमा तनुः, सत्त्वोद्रिक्ता तृतीयान्या प्रद्युम्नेति च सञ्ज्ञिता, जगत् पालयते सर्वं सा विष्णुप्रकृतिर्ध्रुवा, चतुर्थी वासुदेवस्य मूर्तिर्ब्रह्मेति सञ्ज्ञिता, राजसी चानिरुद्धाख्या पुरुषसृष्टिकारिता" (कूर्मपुरा. पूर्वा. ५१।४०-४३) इति. एतेनैव सगुण-निर्गुणयोः अभेदोऽपि सिद्धो ज्ञेयः, गुणस्य आसनत्वस्फूर्तौ अगुणत्वात् तदभिमानित्वस्फूर्तौ तस्यैव सगुणत्वाद् इति. एवमेव ब्रह्म-शिवयोः अपि निर्गुण-सगुणभावो ज्ञेयः. ननु त्रिभ्योऽपि

लेखः

अध्यायद्वयेन षण्णां प्रश्नानाम् उत्तरम् इति ज्ञेयम्. **गुणत्रयेणापि सृष्टिः रजोमिश्रितेन** इति. अयमर्थः— तमोगुणाधिष्ठातापि शिवो यदा रजः आलम्बते तदा तेनापि सृष्टिः सम्भवति. एवं रजःप्रधानोऽपि ब्रह्मा यदा विशेषतो रजः आददाति तदा सृष्टिः. एवं विष्णुः सत्त्वप्रधानोऽपि रजः आददानो जगत्कर्ता भवति इति अर्थः. अत एव वासुदेवात् सृष्टिः सूत्रे स्मर्यते. सत्त्वादित्र**येणापि तमोमिश्रितेन संहारः**. तथा रजआदित्रयेणापि

तथा सत्त्वमिश्रितेन[१] पालनम् इति. शुद्धास्तु अधिष्ठातृदेवता-शरीररूपाः. **इदं** जगद् ; दृश्यस्य सर्वस्यापि जगतः कार्यत्वं, नतु आकाशादेः नित्यता इति. **अग्रे** प्रथमं ; "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च, खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी" (मुण्डकोप. २।१।३) इति श्रुत्या साक्षात् सर्वकरणं प्रथमा सृष्टिः. अन्येऽपि सृष्टिभेदाः सन्ति, ते निबन्धे निरूपिताः. **भगवान्** इति वैष्णवशास्त्रे एव इयं प्रथमा सृष्टिः, वैदिके

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

स एव इत्यत्र. **शुद्धास्तु** इति, **नतु आकाश** इति. आन्वीक्षिक्याम् आकाशस्य नित्यता उक्ता सा अत्र न सम्मता. तथाच आकाशादेः कार्यत्वमेव, न नित्यत्वम् इति भावः. **आदिपदात्** कालादेः अपि. **पुनश्च**

प्रकाशः

कार्यत्रये शुद्धा गुणाः कथं बोद्धव्याः इत्यतः आहुः **शुद्धा** इत्यादि. **इयम्** इति मायाकरणिका. वैदिक-प्रथमसृष्टेः सकाशाद् अस्याः को भेदः ?

लेखः

सत्त्वमिश्रितेन पालनम् इति अर्थः. तद् आहुः **तथा सत्त्वमिश्रितेन** इति. ननु सृष्ट्यादिकमपि मिश्रितगुणैरेव चेत्, तदा शुद्धाः गुणाः कुत्र सन्ति इत्यतः तत्स्थलं निर्दिशन्ति **शुद्धास्तु** इति. सत्त्वाधिष्ठातुः विष्णोः शरीरभूतं शुद्धं सत्त्वम् इति अर्थः. अत एव "विशुद्धसत्त्वं तव धाम" (भाग.पुरा. १०।२४।४) इति स्मृतिः. तथा पालनानुकूलं तु सत्त्वं मिश्रितमेव इति भावः. एवं हिरण्यगर्भस्य शरीरं शुद्धरजोरूपं, सृष्ट्यनुकूलं तु मिश्रितमेव. तथा शङ्करस्यापि ज्ञेयम्. अत एव "रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा" (भग.गीता १४।१०) इति प्रकरणे अन्योन्योपमर्द्योपमर्दकभाव एव उच्यते, नतु सर्वात्मना सहानवस्थानरूपो विरोधोऽपि इति ज्ञेयम्. **निबन्धे** इति. ते च "कदाचित् पुरुषद्वारा कदाचित् पुनरन्यथा" (त.दी.नि. १।३६-४०) इत्यादिकारिकाभिः सर्वनिर्णये (/शास्त्रार्थे!) उक्ताः. **वैष्णवशास्त्रे** इति, श्रीमद्भागवतादि-रूपपुराणे इति अर्थः.

---

१. -मिश्रेण पालनमिति ख.

तु [1]स्वधर्म-स्वशक्ति-काल-कर्म-स्वभावानां सृष्टिः प्रथमा. अतो अनन्तगुणपूर्ण एव **भगवान् (आत्मनः!)** स्वस्य **मायया** शक्त्या सर्वभवनसामर्थ्यरूपया **इदम्** आत्मभूतं जगत् (**ससर्ज!**) सृष्टवान्. मायायाः स्वरूपम् आह **सदसद्रूपया** इति. सा हि उच्च-नीच-सर्वप्रतिकृतिरूपा ; तस्याम् आत्मानं संयोज्य प्रकटीकुर्वन् जगद्रूपेण जायते. एवं सति सुगमा सृष्टिः भवति, सुवर्णकाराणां प्रतिमादिनिर्माणवत्. सा हि भगवन्निकटे तिष्ठति. निद्रापि शक्तिः, सा जीवं भगवत्समीपे नयति. तत्र मायापर्यन्तं गमने स्वप्नः, भगवत्पर्यन्तं गमने सुषुप्तिः. पुनः च सा यथास्थानम् आनयति. विद्या

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

सा इति. सा पूर्वं गुणासत्त्वात् ; निद्रया गमने पुनरागमनं, विद्यया गमने न इति भावः. **घटित-पूरणपात्र** इति. यथा घटितं पात्रं भिन्नं, पूरणेन जातं भिन्नम् इति. एवं यथा एकएव मूर्तिकारः कदाचिद् घटनेन प्रतिमादिनिर्माणं करोति, कदाचिद् भरणेन करोति. तथाच वेदे घटनप्रकारेण इति. अयम् अर्थः पूर्वमेव उक्तः **एवं सति सुगमा सृष्टिः भवति**

प्रकाशः

इत्यतः आहुः **वैदिके तु** इत्यादि. तथाच वेदे शक्तेः जननम्, अस्यां तु सा करणं, तेन सा सृष्टिः इतः प्राथमिकी इति अर्थः. **प्रतिकृतिरूपा** इति सञ्चायकरूपा. **संयोज्य** इति पूरयित्वा. **चकारसूचितम्** अर्थं वक्तुं प्रसङ्गाद् आहुः **निद्रापि** इत्यादि. वैदिक-पौराणिकजगतोः भगवद्रूपत्वाविशेषे-

लेखः

स्वधर्म इत्यादि. ‘‘स ईक्षाञ्चक्रे’’ (प्रश्नोप. ६।३), ‘‘एकोऽहं बहु स्याम्’’ (द्रष्ट. तैत्ति.उप. २।६) इति इच्छादि**स्वधर्म**प्रकटनम्. ‘‘स तपो तप्यते’’ (तैत्ति.उप. २।६) इत्यादिषु तपआदि**स्वशक्ति**प्रकटनम्. ‘‘सदेव सौम्य इदमग्र आसीद्’’ (छान्दो.उप. ६।२।१) इत्यादिषु **काल**सृष्टिः. ‘‘इदं सर्वमसृजत्’’ (तैत्ति.उप. २।६) (**कर्म**सृष्टिः!), ‘‘सच्च त्यच्चाभवद्’’ (तैत्ति.उप. २।६) इत्यादिषु (**स्वभाव**सृष्टिः!) तथा ॥३०॥

---

१. स्वधर्मत्वेति ग-घ.

तु भगवत्समीपमेव नयति, न आनयति. एवम् अनन्ताः शक्तयो भगवतः. वेदे तु मायासाधनराहित्येन एव स्वतएव आत्मानं जगद्रूपं करोति इति उच्यते. घटित-पूरणपात्रभेदवत् वैदिक-पौराणिकजगतोः भेदः. व्यलीकपक्षस्तु न प्रामाणिकः. चकाराद् अन्येऽपि सृष्टिप्रकाराः सूच्यन्ते. **असौ** इति भगवद्धर्मनिरूपणेन हृदये स्फुरितं भगवन्तं बहिः पश्यन्निव अङ्गुल्या निर्दिशति. स्वस्य अनन्तगुणस्य स्पर्शेन तादृशाकृतिरूपा **गुणमयी** भवति. तेषाम् उत्तम-मध्यम-निकृष्टभेदेन त्रिराशित्वात् सत्त्वरजस्तमोगुण-वाच्यता. अस्याः पुनःस्पर्शेन भगवति गुणाकृतित्वम् अतः **अगुणः** प्राकृतगुणरहितः. कथं स्वसम्बन्धेनैव मायायाः गुणवत्त्वम्? कथं वा मायायां प्रविष्टोऽपि जगद्रूपेण जातोऽपि अगुणः? तत्र आह **विभुः** इति. सर्वसमर्थः इति अर्थः ॥३०॥

एवं सद्रूपेण जडसृष्टिम् उक्त्वा आनन्दरूपेण अन्तर्यामिसृष्टिम् आह.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इति. घटने भूयान् श्रमः, भरणे स्वल्पः इति भावः. **स्वस्य** इत्यारभ्य **प्राकृतगुणरहितः** इत्यन्तम्. **अनन्तगुणस्य स्वस्य** भगवतः **स्पर्शेन** सर्वभवनसामर्थ्यरूपा **गुणमयी भवति**. तथाच सर्वभवनसमर्थाया अपि भगवतः स्पर्शेन सत्त्वादिगुणमयता यत्र तत्र भगवतः प्राकृतगुणवत्त्वं कुतः इति अर्थः. **अस्या पुनः** इति. **पुनःस्पर्शेन** गुणोत्पत्त्यनन्तरं द्वितीयस्पर्शेन इति अर्थः. तथाच उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयार्थं तत्तत्कर्तृत्वेन आविर्भवनार्थं पुनः सामर्थ्यस्पर्शेन गुणत्रयाकृतित्वम्. एवञ्च प्रथमसम्बन्धस्य गुणोत्पत्तिहेतुत्वं, द्वितीयस्य गुणाकृतिहेतुत्वम् इति साहजिकगुणत्वमेव इति आशयः ॥३०॥

प्रकाशः

ऽपि यो भेदः तं प्रकारं बोधयितुम् आहुः **वेदे तु** इत्यादि. **स्वस्य अनन्तेत्यादि**. वैदिक्यां सृष्टौ उत्पन्ना सा भगवत्**स्पर्शेन** सङ्क्रान्तभगवद्गुणा सती **गुणमयी भवति** इति अर्थः. **गुणाकृतित्वम्** इति, पूरितपात्रन्यायेन तथात्वम्. **प्राकृतगुणरहितः** इति. गुणानां प्राकृतत्वस्य भगवत्सम्बन्धानन्तर-भावित्वात् तथा इति अर्थः ॥३०॥

तया विलसितेष्वेषु गुणेषु गुणवानिव ॥
अन्तःप्रविष्ट आभाति विज्ञानेन विजृम्भितः ॥३१॥

तया इति. **तया** मायया आकारसमर्पणेन **विलसितेषु** चित्रितेषु देवादिदेहेषु (**एषु!**) भूतेषु च **गुणेषु** येषु परिदृश्यमानेषु **गुणवानिव,** तेषां तेषां तत्र तत्रैव प्रवर्तनात्. खदिराङ्गार-रक्तिमा इव **अन्तःप्रविष्टः** स एव **आभाति** अयोगोलक-निविष्टाग्निवद् बहिरपि स्फुरति = आसमन्ताद् भाति. चिज्जडांशयोः ज्ञानशक्ति-तिरोभावो अस्ति तद्वद् अत्रापि भविष्यति इति आशङ्क्य आह **विज्ञानेन विजृम्भितः** इति. अत्र अन्तर्यामिणः

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

तया इत्यत्र. **गुणवानिव** इति. यद्यपि सत्त्वादिगुणवत्त्वम् अन्तर्यामिणि नास्ति तथापि सात्त्विकं भगवति, राजसं ब्रह्मणि, तामसं शिवे प्रेरयति इति गुणनिर्बन्धेन कार्यकरणाद् **गुणवानिव** इति मूले अन्तर्यामिविशेषणम् इति भावः. **खदिर** इति. खदिराङ्गारे कारणीभूत-खदिरस्य आरक्तता अङ्गारे ईषद् भाति. तथा कारणीभूत-ब्रह्मणः आनन्दः कार्ये अन्तर्यामिणि ईषद् भासते. अर्थान्तरम् आहुः **अयोगोलक** इति. यथा अयोगोलके अन्तर्बहिः सर्वत्र अग्निः स्फुरति. तथाच **अन्तःप्रविष्ट आभाति** इत्यनेन कार्यरूपेऽपि अन्तर्यामिणि आनन्दस्य अतिरोभावः उक्तः इति आचार्याणाम्

प्रकाशः

तया इत्यत्र. अन्तर्यामिणो अन्तःप्रविष्टस्य क्वचिद् ईषत् क्वचिद् भूयः स्फुरणे दृष्टान्तद्वयम् आहुः **खदिरेत्यादि**. तथाच प्रेरकत्वस्य तद्धर्मत्वाद् यत्र स्वल्पं तद्, यथा अस्मदादिषु, तत्र ईषद्भानं, यत्र भूयः तत्र आसमन्ताद् भानं, यथा नृपादिषु इति भावः. प्रथमे **आङ्** ईषदर्थः.

लेखः

तया विलसितेषु इत्यत्र. **तेषां तेषां तत्र तत्रैव प्रवर्तनाद्** इति. **तेषां तेषां** गुणानां गौर-श्याम-काणत्व-खञ्जत्वादीनां **तत्रैव** आत्मादिषु अध्यासेन **प्रवर्तनाद्** इति अर्थः. औपाधिकत्वे दृष्टान्तः **खदिरा** इति. पृथ्वीगता रक्तिमा एव स्वसमवायिसंयुक्तत्व-सम्बन्धेन अग्नौ प्रतीयते तथा इति अर्थः ॥३१॥

सर्वज्ञस्य जीवं सर्वत्र प्रेरयतः तद्विधज्ञानवतः[१] कार्यावेशेन स्फुरणमिव[२] विजृम्भा, तद्वान् इति अर्थः ॥३१॥

एवम् अन्तर्यामिभावं निरूप्य जीवभावं निरूपयन् नानात्वलीलाम् आह.

यथा ह्यवस्थितो वह्निर्दारुष्वेकः स्वयोनिषु ॥
नानेव भाति विश्वात्मा भूतेषु च तथा पुमान् ॥३२॥

यथा इति. "अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः" (ब्रह्मसूत्र १।४।२२) इतिवत् केनचिद् रूपेण **अवस्थितो** भगवानेव जीवः इति तद्रूपम् उच्यते. **दारुषु यथा वह्निः तथा** भूतभौतिकेषु जीवः. सच **एकः**, उपाधिव्यतिरेकेण स्वतो वैलक्षण्याभावात्. यथा मथनव्यतिरेकेण काष्ठेषु अग्निः न प्रतीयते तथा योगव्यतिरेकेण अन्तःकरणे जीवः. यथा कर-चरणाद्यवयवाः शरीरेभ्यो न भिद्यन्ते तथा महाकाष्ठे सर्वत्र **एक** एव विद्यमानो मथनस्थानेषु उद्गच्छति. तथा प्रतीयते च भेदः, स च न प्रामाणिकः, महाकाष्ठे एकस्यैव वह्नेः सिद्धत्वात्. तथा काष्ठबहुत्वेऽपि अनुमन्तव्यम्. एवं (**स्वयोनिषु**!) सर्वेषु देहेषु सर्वेषु **भूतेषु च** तिरोहितः समवस्थितः स जीवः इति हिशब्दार्थः. किञ्च यत्र हि आविर्भवति तत्र तिष्ठति इति निश्चितम्. योगेन ज्ञानेन वा अयं सर्वत्र आविर्भवति, अतः तानि भूतानि योनिरूपाणि, तेषु **एक** एव **वह्निः नाना** (**भाति**!) प्रतीयते इति अर्थः. किञ्च **विश्वात्मा** च अयम्. विश्वस्य एकमेव हि स्वरूपम्,

---

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

आशयः. **कार्यावेशेन** इति. "अयम् एवं प्रेरणीयो, अयम् एवम्" इति ज्ञानवतः प्रेरणरूप-कार्यावेशात् "प्रेरयिता अहम्" इति स्फूर्तिः इव जाता इति तथा ॥३१॥

प्रकाशः

स्फुरणम् इति तत्तज्ज्ञानस्य प्रकाशः. अस्मिन् मते जीववद् उपाधिवशेन एकस्यैव अन्तर्यामिणोऽपि नानात्वं ज्ञेयम् ॥३१॥

---

१. तद्विविधेति ख.　　२. स्फुरणमेव इति ख.

एकवचनप्रयोगात् ; तस्य आत्मा कथम् अनेको भवेत्? उपाधिभेदाद् भेद **इव** प्रतीयते. चकाराद् भौतिकेषु. किञ्च **पुमान्** अयम्. ब्रह्माण्डविग्रहः स्वराट् पुरुषः एक एव सर्वत्र ब्रह्माण्डे. तस्य च अवयवभूतानि मध्यस्थानि भूतानि भौतिकानि च. तेषां भेदप्रतीतौ अपि पुरुषो न भिद्यते. यथा कर-चरणादिषु नानाभेदप्रतीतौ अपि न अधिष्ठातुः भेदः तथा सर्वत्र ब्रह्माण्डे पुरुषस्य, इति एकएव सर्वत्र गुप्तो नाना इव प्रतीयमानो जीवः इति उक्तं भवति ॥३२॥

तद्रूपेणैव भोगलीला इति आह.

असौ गुणमयैर्भावैः भूतसूक्ष्मेन्द्रियात्मभिः ॥
स्वनिर्मितेषु निर्विष्टो भुङ्क्ते भूतेषु तद्गुणान् ॥३३॥

असौ इति. चतुर्विधा हि सदंशसृष्टिः — (**भूत-सूक्ष्मेन्द्रियात्मभिः !**) अन्तःकरणम् इन्द्रियाणि तन्मात्राणि भूतानि च इति. तानि त्रिगुणात्मकानि. **गुणमय**त्वकथनात् स्वांशरूपता निरूपिता, तैः **निर्मितेषु** देव-तिर्यङ्-नरादिषु

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

असौ इत्यत्र. मूले **गुणमयैः** इति विशेषणम् उक्तं तत्सूचितम् अर्थम् आहुः **गुणमय** इति. प्रकृतिकरणकत्वात् 'प्राकृतैः' इति अनुक्त्वा **गुणमयैः** इत्युक्तेः अयम् आशयः. भूतादिकारणीभूतायाः प्रकृतेः अपि गुणमयत्वं भगवत्सम्बन्धादेव इति **गुणमय**पदं साक्षाद्भगवज्जन्यतां बोधयति इति **स्वांशरूपता निरूपिता** इत्यनेन उक्तम्. यद्वा गुणास्तु भगवत्स्पर्शेन प्रकृतौ जाताः इति तदीयाः भवन्ति. तथाच **स्वांशाः** गुणाः, **तद्रूपता** इति. एवञ्च प्रकृतिकरणकत्वेऽपि गुणास्तु भगवदीयत्वेन प्रविष्टाः इति

प्रकाशः

असौ इत्यत्र. **स्वांशरूपता** इति, गुणानां भगवदंशत्वात् तथा

लेखः

यथा ह्यवस्थितो वह्निः इत्यत्र **एकवचनप्रयोगाद्** इति. ''स एव इदं ससर्ज अग्रे'' (श्लो. ३०) इति श्लोके 'इदम्' इति एकवचनप्रयोगाद् इति अर्थः. **विश्वात्मा** इत्यत्र एकवचनं वा. **ब्रह्माण्डविग्रहः** इति, ब्रह्माण्डो विग्रहो देहो यस्य स स्वराड् इति अर्थः ॥३२॥

भूतेषु नितरां विष्टः अनध्यासेन[१] स्थितो **भुङ्क्ते** विषयान् आत्मसात् करोति. भोगम् उत्तरत्र स्पष्टीकरिष्यामः. एतावता भोगसृष्टिभेदः[२] उक्तो भवति, साक्षात् सृष्टेः पूर्वं निरूपणात्. मायाकरणकत्वाच्च अपि[३] हेतुभूतादीनां

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

भावः. तृतीयाविभक्तेः अर्थद्वयमपि सङ्गच्छते इति आहुः **मायाकरण** इति. करणजन्यत्वात् करणत्वं, कर्तृजन्यत्वात् कर्तृत्वम् इति **चकारेण** परिगृहीतम्. **अपि हेतुभूतादीनाम्** इति. हेतवश्च ते भूतादयश्च इति कर्मधारयः. तथाच भूतादयः कारणानि एव, न कर्तारो यद्यपि तथापि विभक्तिवाच्यं तृतीयादिविभक्त्या कर्तृत्वं बोध्यते इति **अपिशब्दार्थः**. **तद्गुणान्** इत्यस्य

प्रकाशः

इति अर्थः. **नितराम्** इति. एतेन **निर्विष्टपदे** (र!) वर्णागमो बोधितः. कर्तृ-करणयोः भेदेन सृष्टिभेदं समर्थयन्ति **साक्षाद्** इत्यादिना. **हेतुः** इत्यत्र 'इह तु' इति पाठो भाति. सप्तमीसमासे चतुर्थीसमासे च करणत्वं,

लेखः

असौ इत्यत्र. **उत्तरत्र** इति, तृतीयाध्याये "स वा इदं विश्वममोघलीलः" (भाग.पुरा. १।३।३६) इति श्लोकव्याख्याने इति अर्थः. **भोगे सृष्टिभेदः उक्तः** इति, भोगलीलाकथनमुखेन सृष्टिभेदः उक्तः इति अर्थः. भेदं ग्राहयन्ति **साक्षात्सृष्टेः** इति. "स एवेदम्" (श्लो. ३०) इत्यत्र साक्षात्सृष्टेः उक्तत्वाद्, अत्र तु भूतसूक्ष्मेन्द्रियद्वारा इति भेदः इति भावः. अन्यदपि भेदे निमित्तम् आहुः **माया** इति. "आत्ममायया" (श्लो. ३०) इत्युक्त्वा तत्र मायाया करणत्वोक्त्या अत्र च तदनुक्त्यापि भेदः इति भावः. परन्तु तत्र माया हि स्वसामर्थ्यरूपैव इति साक्षात्सृष्टिः अबाधितैव इति ध्येयम्. प्रकृतसृष्टेः भूतेन्द्रियादिद्वारकत्वं स्पष्टयन्ति **हेतुभूतादीनाम्** इत्यादि. तथाच हेतुत्वेन प्रसिद्धा ये भूतादयः तेषां देहनिर्माणे करणत्वं बोध्यते तृतीयया इति अर्थः. करणत्वञ्च असाधारणकारणत्वमेव. असाधारणत्वं

१. अध्यासेनेति ख. २. भोगे सृष्टिभेद इति पाठः लेखे -सम्पा.

३. मायाकरणकत्वाच्चेह इति ग.

करणत्वं कर्तृत्वं वा. स्वस्मिन् निर्मितेषु, स्वार्थं वा निर्मितेषु, स्वेन वा निर्मितेषु इति. गुणाः त्रयः, तत्र सात्त्विकम् (**आत्मा!**) अन्तःकरणं, सात्त्विक-राजसानि **इन्द्रियाणि,** राजस-तामसानि (**सूक्ष्म!**) तन्मात्राणि, तामसानि भूतानि च इति. धर्मार्थकाममोक्ष-चतुर्विध-पुरुषार्थसिद्ध्यर्थं चतुर्धा भेदः— देहेन धर्मः, तन्मात्रैः अर्थः, इन्द्रियैः कामः, अन्तःकरणेन मोक्षः इति. तत्र जीवस्य एकत्र मुख्यतया स्थितौ अन्ये हि अङ्गभावं प्राप्नुवन्ति. अतएव **तद्गुणान्** चतुर्विधपुरुषार्थरूपान् **भुङ्क्ते** इति उक्तम् ॥३३॥

एवं भोगलक्षण-लीलाम् उपपाद्य तत्सिद्धये पालनलक्षण-लीलाम् आह.

भावयत्येष सत्त्वेन लोकान् वै लोकभावनः ॥
लीलावतारानुरतो देवतिर्यङ्नरादिषु ॥३४॥

॥ इति श्रीभागवत-प्रथमस्कन्धे द्वितीयोऽध्यायः ॥

भावयति इति. **भावयति** पालयति **एष** एव जीवरूपेण अभिन्नः. पालने **सत्त्वगुणः** एकएव करणम्. **लोकान्** भुवन-जनरूपान्. अथवा

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

गुणपदस्य चतुर्विधपुरुषार्थवाचकत्वे हेतुम् आहुः **तत्र जीवस्य** इति. पुरुषार्थचतुष्टयमध्ये एकस्मिन् प्रवृत्तौ **अन्ये** त्रयोऽपि **अङ्गभावम्** अप्रधानत्वं **प्राप्नुवन्ति** इति अनया रीत्या चत्वारोऽपि अप्रधानाः स्युः इति **गुणपदस्य** चतुष्टयवाचकता अस्ति ॥३३॥

प्रकाशः

तृतीयासमासे कर्तृत्वम् इति त्रिधापि सृष्ट्योः भेदएव इति अर्थः. **मुख्यतया स्थितौ** इति दृढाध्यासे ॥३३॥

लेखः

तु यद्व्यापारानन्तरं कार्यनिष्पत्तिः तत्त्वमेव. अतः तद्द्वारैव सृष्टिः इति फलितम्. अथ भगवतो निर्गुणत्वेन औदासीन्यतया साक्षित्वमात्रमेव इति पक्षे तु तृतीयया कर्तृत्वबोधनमपि अविरुद्धमेव इति आशयेन आहुः **कर्तृत्वं वा** इति ॥३३॥

भावयति इत्यत्र. **एकएव करणम्** इति. मुख्यतो अत्र **सत्त्व**पदोक्त्या एकवचनेन च इदं ज्ञापितम् इति भावः. **भुवन** इति, चतुर्दशभुवनरूपान्

सत्त्वेन भावयति सत्त्वयुक्तान् करोति इति अर्थः. उभयत्र हेतुम् आह **लीलावतारानुरतः** इति. अवतारैः दैत्यानां वधं विधाय सर्वलोकान्[१] पालयति, अवतारैः चरित्राणि विधाय सर्वान् लोकान्[२] सत्त्वयुक्तान् करोति मुक्तये. ननु सत्त्वमात्रेण कथं मुक्तिः ? अवतारैः वा कथं पालनं? तत्र आह **लोकभावनः** इति. लोकैः भावनं यस्य इति मुक्तिप्रकारः. अवताराणाम् अविद्यमानदशायाम् अपि भावनेनैव[३] सर्वानिष्टनिवृत्तेः पालनम् इति अर्थः. अथवा. लोकान् भावयति इति ; सर्वदा लोकानां चिन्तया तेषामेव दुःखनिवारणाय अवतारान् कृत्वा पालयति इति अर्थः. ननु कथं तमःप्रकृतिषु लीला इत्यतः आह **अनुरत** इति. यथा जीवाः तत्र तत्र रताः – रतिव्यतिरेकेण तादृश-शरीराभावात् – तदनु स्वयमपि रतः इति अर्थः. **देवादयः** सत्त्वादिभेदाः, **आदिशब्देन** मिश्रभेदाः. अनेन अनुक्तेषु अपि सर्वेषु भगवदवताराः[४] ज्ञातव्याः. वक्ष्यति च "अवताराः ह्यसङ्ख्येयाः" (भाग.पुरा. १।३।२६) इति. देवेषु वामनः तिर्यक्षु मत्स्यादयः नरेषु रामादयः मिश्रेषु नृसिंहादयः इति ॥३४॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मज-श्रीवल्लभदीक्षितविरचित्तायां प्रथमस्कन्धे द्वितीयो अध्यायः ॥

प्रकाशः

भावयति इत्यत्र. **उभयत्र हेतुम् आह** इति. एतेन लीलाभिः अवतारैः इति तृतीययोः लुका पदभेदो बोधितः ॥३४॥

॥ इति प्रथमस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे द्वितीयाध्यायविवरणम् ॥

लेखः

तत्रत्य जीवांश्च जनरूपान् इति अर्थः. **उभयत्र** इति, सत्त्वेन पालने भावने च इति उभयत्र इति अर्थः ॥३४॥ इति श्रीद्वितीयाध्यायव्याख्या ॥

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः ॥

---

१. भुवनान् इति अर्थः - सम्पा. २. जनान् इति अर्थः - सम्पा.

३. भावनयैव इति मुद्रितपाठः. भा.पाठे तु एवम् - सम्पा. ४. भगवदवतारो ज्ञातव्य इति क-ग.

॥ अथ तृतीयोऽध्यायः ॥

निरूपिताः पञ्चलीलाः फलसाधननिर्णये ॥
तृतीये त्ववशिष्टानाम् अवतारार्थधर्मिणाम् ॥(१)॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

तृतीयाध्याये **निरूपिता** इति. फल-साधन-कर्मणां निरूपणं कृतं द्वितीयाध्याये, तृतीये तु अवतारकथाः कृष्णावतार-प्रयोजनं धर्मशरणञ्च —एतेषाम् उत्तरम् उच्यते इति (१).

प्रकाशः

अथ तृतीयाध्यायं विवरिषवः सङ्गतिं वदन्तः कृष्णावतार-प्रयोजनस्य अनुक्तत्वं ज्ञापयितुं पूर्वोक्तम् अनुवदन्ति **निरूपिता** इत्यादि. निर्णयः उच्यते इति शेषः. **अवतार** इति. **अवताराः** रामादयः **अर्थाः** सर्वप्रार्थ्यो भगवान् **धर्मी** पुरुषः तेषाम् इति अर्थः. तेन अवसरसङ्गतिः इति अर्थः. अनुक्तत्वे श्रोतृजिज्ञासापूर्तिः कथम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **कृष्णे**त्यादिसार्धम्.

लेखः

अथ तृतीयाध्यायं व्याख्यातुं पूर्वेण तत्सङ्गतिम् आहुः **निरूपिता** इति. तथाच अवसरएव सङ्गतिः इति भावः. वैराग्य-ज्ञान-भक्त्यात्मक**फल-साधनयोः निर्णये** कृते सति ''स एवेदम्'' (श्लो. ३०) इत्यादिभिः सृष्टि-प्रवेश-नानात्व-भोग-रक्षारूपा **पञ्चलीलाश्च निरूपिताः**. अथ **तृतीये अवशिष्टानाम्** इति प्रतिज्ञातानाम् **अवतारार्थधर्मिणां** निर्णयो निरूप्यते इति अर्थः. **अवताराः** शूकराद्यवतारकथाः. **अर्थो** अवतारप्रयोजनम्. धर्मो अस्य अस्ति रक्ष्यत्वेन इति **धर्मी,** धर्माश्रयः तद्रक्षकः इति यावत्. स च ''पुराणार्कोऽधुनोदितः'' (श्लो. ४३) इति वक्ष्यमाणः पुराणात्मको भगवान् इति फलिष्यति. एवञ्च प्रश्नत्रयस्य उत्तरम् अत्र अध्याये इति भावः (१).

ननु अवतारकथाप्रसङ्गेऽपि कृष्णावतारकथातु प्रक्रमान्तरेण वक्तव्या, नतु सकलावतारसाम्यतया, अन्यावतारापेक्षया तस्य श्रैष्ठ्याद् इत्यतः आहुः

कृष्णावतारकार्यं[१] हि न सूतो ज्ञातवान् स्फुटम् ॥
अतः साधारणं प्रोक्तं निर्णयश्च तथाधिकः ॥(२)॥
षट्प्रश्नपूरणं तेन वस्तुतः पञ्चपूरणम् ॥

"अथाख्याहि हरेर्धीमन्" (भाग.पुरा. १।१।१८) इति पृथक्तया अवतारप्रश्नाद् अध्यायान्तरेण अवतारान् आह **जगृहे** इत्यादिषड्विंशत्या. अवतरणम् अवतारः = व्यापिवैकुण्ठाद् भगवतः प्रपञ्चे समागमनम्. तत्र यद्यपि अक्षर-काल-कर्म-स्वभाव-तत्त्वेषु भगवदवतरणम् अस्ति तथापि तेषु

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

जगृहे इत्यत्र. **तत्र यद्यपि** इति. अक्षरस्य काल-कर्म-स्वभावादिभेदाः इति निबन्धे निरूपितम्. तथा अक्षरब्रह्मभेदत्वाद् एषु अवतारत्वं सम्भवति **यद्यपि तथापि द्विरूपता** कार्यत्वेन द्वितीयं रूपं जातम् **इति न** अवताराः.

प्रकाशः

साधारणम् इति. सामान्यम् उत्तरम् "असौ" (भाग.पुरा. १।२।३३) इति श्लोके. **निर्णयः** इति. देव-तिर्यङ्-नरादिषु अवतार**निर्णयो अधिकः** विशेषः इति पूर्वश्लोके इति अर्थः. **तेन** इति निर्णयेन. षष्ठस्य उत्तरम् अत्र अध्याये कथ्यते इत्यतः आहुः **वस्तुतः** इति (१ - २ १/२).

लेखः

कृष्णावतारः इति. तथापि "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" (श्लो. २८) इत्यादिना अन्येभ्यो वैशिष्ट्यनिर्णयस्तु **अधिकः प्रोक्त**एव इति अर्थः. **षड्** इति. पूर्वोक्तरीत्या प्रश्नत्रयस्य द्वितीयाध्याये त्रयस्य च अत्र अध्याये पूरणम् उक्तं, **तेन षट्प्रश्नपूरणम्** इति अर्थः. वस्तुतस्तु अवतारप्रयोजन-प्रश्नोत्तरे साधारण्येन जातेऽपि मुख्यतया कृष्णावतार-प्रयोजनस्य अविवृतत्वाद् अवतारप्रयोजन-प्रश्नस्य सन्दिग्धप्रायतया न सर्वथा पूर्तिः, अतः एवं विचार्यमाणे तु वस्तुतः पञ्चानामेव पूर्तिः इति आशयेन आहुः **वस्तुतः** इति. तथाच अवतारप्रयोजन-प्रश्नपूर्तिस्तु तृतीयादिस्कन्धैः भविष्यत्येव इति भावः (२ १/२).

---

१. कार्यार्थमिति घ.

द्विरूपता[१] वर्ततइति न अवतारत्वम्. "लीला विदधतः स्वैरम्" (भाग.पुरा. १।१।१८) इति प्रश्ने विशेषकथनाद् वा. नहि तेषु स्वेच्छालीला अस्ति.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

कार्येऽपि अवतारत्वं स्वीक्रियते चेत्, तदा कार्यरूपे नीचे घटादौ च अवतारत्वेन व्यवहारः स्याद् इति आचार्याणाम् आशयः. एषाम् अवतारत्वे दूषणान्तरम् आहुः **लीला** इति. तथाच यत्र स्वेच्छया लीलाविधानं तत्र अवतारत्वम् इति कालादिषु स्वेच्छया लीलाकरणाभावात् न अवतारत्वम् इति अवतारेषु न गणिताः इति भावः. **तथापि द्वैतरूपता** इत्यपि पाठः साधीयान्, एकार्थवाचकत्वात्. **जगृहे** इति श्लोकस्य पूर्वपीठिकाम् आहुः

प्रकाशः

जगृहे इत्यत्र. अवतारकथोत्तरस्य पुरुषम् आरभ्यैव कथने बीजम् आहुः **यद्यपि** इति. "अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तः" (भग.गीता ८।२१) इति गीतावाक्ये परमधामत्वकथनाद् अक्षरं व्यापिवैकुण्ठात्मकम्. तस्य आधिभौतिकम् आध्यात्मिकं वा प्रकृति-पुरुषजनकम्. तदंशाः काल-कर्म-स्वभावाः, कार्याणि तत्त्वानि. तेषु "मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहं" (भग.गीता १४।३), "कालरूपोऽवतीर्णः" (भाग.पुरा. १।१३।४८) इत्यादिवाक्यैः **अवतरणम् अस्ति तथापि द्विरूपता** योनित्वाधिकारित्वादिरूपता **वर्तते इति** तथा इति अर्थः. **द्वैतरूपता** इत्यपि पाठे अयमेव अर्थः. ननु मनुष्यत्वादिना द्विरूपता अग्रे वक्ष्यमाणेषु कुमाराद्यवतारेषु वर्ततइति द्विरूपता न अक्षरादित्याग-बीजत्वेन शक्यवचना इति अरुच्या पक्षान्तरम् आहुः **लीला** इत्यादि. केचिद् अत्र "विराड्-जीवान्तर्यामिणो भगवतो विराड्रूपेण उपासनार्थं ब्रह्माण्डस्य भगवच्छरीरत्वं कल्पनया उच्यते" इति आहुः. तथा सति **जगृहे** इति भूतप्रयोगो विरुध्येत इति तदभावाय विराजो वस्तुतो भगवच्छरीरत्वं

लेखः

जगृहे इत्यत्र. **द्विरूपता** इति. कारणरूपतायामपि सत्यां कार्यरूपतापि तत्र अस्ति, अवतारेतु कार्यत्वाभावाद् न तथा इति भावः. **तेषु** अक्षरादिषु.

१. द्वैतरूपतेति ग.

भूतलीला द्विविधा साक्षात्-परम्पराभेदेन. भौतिकलीलापि द्विविधा ब्रह्माण्डं निर्माय अनिर्माय च. निर्माणपक्षेऽपि यथा दशरथपुत्रेषु कश्चिद् अवतारः कश्चित् न. तथा विश्वसृजां गर्भो विराट् कदाचिद् ब्रह्मशरीरं कदाचिद् जीवशरीरम्. तत्र ब्रह्मशरीरपक्षे तत्रत्यानां मुक्तिः सुलभा. अतः प्रथमं

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

भूत इत्यारभ्य **पञ्चभिः** इत्यन्तेन. **भूत** इति. "स एवेदम्" (भाग.पुरा. १।२।३०) इत्यनेन सा **साक्षात्**. प्रकृतेः महान् महतोः अहङ्कारः इति **परम्परा** ब्रह्माण्डम्. विराड्रूपं कदाचिद् ब्रह्माण्डं सृष्ट्वा कदाचिद् असृष्ट्वा इति सर्गपक्षेऽपि द्वैविध्यम्. रामे अवतारत्वं, न भरते. सर्गपक्षे द्वितीयं द्वैविध्यं दर्शयति **तथा** इति. **विश्वसृजां** विरञ्चि-मरीचिप्रभृतीनां **गर्भः** कारणं **विराड्** ब्रह्माण्डरूपं शरीरं **कदाचिद्** ईश्वरेण अधिष्ठितं भवति **कदाचिद्** जीवेन इति द्वैविध्यम्. ब्रह्माण्डाधिष्ठातुः 'महाजीव'शब्दवाच्यता निबन्धे उक्ता. **तत्र** इति पक्षद्वये. ईश्वराधिष्ठितत्वपक्षे **तत्रत्यानां** जीवानां मोक्षः सुगमः, जीवाधिष्ठितत्वपक्षे दुर्लभः **अतो** हेतोः **प्रथमं पुरुषस्य**

प्रकाशः

वक्तुं पीठिकाम् आहुः **भूते**त्यादि. अत्र **साक्षाल्**लीला "एतस्माद् जायते प्राणः" (मुण्डकोप. २।१।३) इत्यादिश्रुत्युक्ता. द्वितीयातु "तस्माद्वा एतस्माद् आत्मनः आकाशः सम्भूतः" (तैत्ति.उप. २।१) इत्याद्युक्ता. **ब्रह्माण्डं** विराड्रूपम्. निर्माणपक्षः पुरुषसूक्ते, अनिर्माणस्तु उक्तश्रुतिषु ज्ञेयः. ननु पुंसूक्ते ब्रह्माण्डस्य जीवशरीरतापि उच्यते तस्य का गतिः इत्यतः आहुः **निर्माणपक्षे** इत्यादि. **कश्चिद् न** इति. भारते सभापर्वाणि यमसभायां दाशरथरामस्य[1] कथनात् कस्मिंश्चित् कल्पे रामो अवतारो न इति अर्थः. **मुक्तिः सुलभा** इति. भगवत्त्वेन ज्ञानादि दत्वापि मोचयति इति सुलभा.

लेखः

कश्चिन्न इति, भरतादिः न इति अर्थः. **विश्व** इति. **विश्वसृजां** गर्भरूपो यो **विराट्** स **कदाचिद् ब्रह्मशरीरं कदाचिद् जीवशरीरम्**.

---

१. दाशरथे रामस्य इति मुद्रितपाठः अशुद्धः प्रतिभाति - सम्पा.

पुरुषावतारत्वम्[१] आह पञ्चभिः.

॥ सूतः उवाच ॥

जगृहे पौरुषं रूपं भगवान् महदादिभिः ॥
सम्भूतं षोडशकलम् आदौ लोकसिसृक्षया ॥१॥

अत्र तादृशाधिकारि-जीवस्य अभावात् स्वयमेव पुरुषो जातः. "विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यानि" (सात्त्वततन्त्र । ।) इत्यपि एतादृशविषयम्. 'पुरुष'शब्दः त्रेधा व्युत्पद्यते— पुरि (शेते!) वसति

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

ईश्वरस्य **अवतारं** ब्रह्माण्डरूपं देहग्रहणम् आहुः इति अर्थः. **अत्र** इति. **तादृशो** ब्रह्माण्डरूप-देहग्रहणसमर्थः. **पुरुषः** ईश्वरः इति अर्थः. **प्रथमपक्षे**

प्रकाशः

जीवत्वेतु "युक्तं भगैः स्वैरितरत्र चाध्रुवैः" (भाग.पुरा. २।९।१६) इति ध्रुवत्वाभावाद् एकांशस्थितविश्वो ददाति इति एतदपेक्षया सा मुक्तिः न सुलभा. किञ्च तत्तद्वर्षस्थानां श्रीकृष्णावतारातिरिक्तोपासकानां जीवोपासकतया न मुक्तिः सुलभा, "एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम्" (श्लो. ५) इति श्रीकृष्णावतारातिरिक्तावताराणां पुरुषावतार-निधानत्वात्. ब्रह्मत्वेतु ब्रह्मनिधानत्वाद् अवताराणाम् इति तदुपासकानां मुक्तिः सुलभा इति अर्थः. अस्तु एवं द्वैविध्यं तथापि अत्र ब्रह्मशरीरत्वं कुतः इति अपेक्षायाम् आहुः **अत्र** इत्यादि. प्रमाणम् अत्र आहुः **विष्णोः** इत्यादि. इदं वाक्यं श्रीधरीये "विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदुः, प्रथमं महतः सृष्टृ द्वितीयं त्वण्डसंस्थितं, तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते" इति. रूपत्रित्वे बीजम् आहुः **'पुरुष'शब्दः** इत्यादि. एताः तिस्रोऽपि

लेखः

तत्रत्यानां ब्रह्माण्डस्थानाम्. **एतादृशविषयम्** इति. विराजो ब्रह्मशरीरत्वं यदा तद्विषयम् इति अर्थः. **विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि** इति वाक्यार्थस्तु— प्रथमं महत्तत्त्वतः सृष्टिः यस्य, महत्तत्त्वस्य सृष्टिभूतो वा, ब्रह्माण्डात्मको

---

१. पुरुषस्यावतारत्वम् इति ख. पुरुषस्यावतारम् इति टिप्पण्याम् - सम्पा.

इति, पुरम् उषति[१] इति, पुरा आस्ते इति च. 'पुरास' इति 'आ'कारे "व्यत्ययो बहुलम्" (पाणि.सूत्र ३।१।८५) इति 'उ'कारः. अस्मिन् पक्षे न शरीरसम्बन्धः. प्रथमपक्षे सम्प्रसारण-षत्वे[२]. "उष[३] दाहे" (पाणि.धा.पा. भ्वा.प.से. ६९७) इति. प्रथमे जीवोऽपि भवति, द्वितीय-तृतीययोस्तु **भगवान्**

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इति. **पुरि वसति** इति पक्षे सम्प्रसारणेन वकारस्य उत्वं सकारस्य षत्वम् इति. **प्रथमे** इति, **पुरि वसति** इति पक्षे **जीवोऽपि** 'पुरुष'शब्दवाच्यो **भवति** देहवाचित्वात्. **द्वितीय** इति, **पुरम् उषति, पुरा आस्ते** इति पक्षद्वये **भगवानेव** 'पुरुष'पदवाच्यः इति **पुरम् उषति** इति पक्षम् आह

प्रकाशः

व्युत्पत्तयः श्रौत्यः. 'पुरा आसे'ति 'पुरम् उषति' इति द्वयं बृहदारण्यके पुरुषविधब्राह्मणे "स यत्पूर्वोऽस्मात् सर्वस्मात् सर्वान् पाप्मनः औषत् तस्माद् उच्यते पुरुषः" (बृहदा.उप. १।४।१) इति. तृतीयापि तत्रैव मधुब्राह्मणे "पुरः पुरुषः आविशद्" (बृहदा.उप. २।५।१८) इति. **अस्मिन् पक्षे** इति, तृतीयपक्षे देहाध्यासो न इति अर्थः, पुरा विद्यमानत्वेन शरीरोत्पत्तेः पूर्वमेव तत्सत्ताज्ञापनाद् मधुब्राह्मणश्रुतेः. अध्यासस्तु परमाणूनां रेतःकणाश्रयजीवेन मिलने रजस्वला...वकरणे भवति, प्रकृतेतु तदभावः. **उश दाहे इति** इति पक्षे उत्वम्[४] इति शेषः. **जीवोऽपि** इति, पुरि वसनसम्भवाद् जीवोऽपि भवति इति अर्थः. **भगवानेव** इति. पुरदाह-पुरासनयोः जीवे अभावाद्

लेखः

अण्डरूपः पुरुषः. द्वितीयः तदन्तः क्षेत्रज्ञत्वेन प्रविष्टो विराडधिष्ठाता पुरुषः. तृतीयो विराड्रूपो यो अण्डं विनिर्भिद्य निर्गतः स उच्यते. अत्र "महत" इति उपलक्षणं ; महदादयः सप्त एकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतानि च ज्ञेयानि. **न शरीरसम्बन्धः** इति, "पुरा आस" इति शरीरोत्पत्तेः पूर्वमेव तत्सत्ताज्ञापनाद् इति भावः. **जीवोऽपि** इति, हृदयपुर्यां जीवस्यापि वासाद् इति भावः. **द्वितीय-तृतीययोः** इति. जीवे पूर्दाहकत्वस्य तत्पूर्वसत्ताकत्वस्य

---

१. उशतीति ख-ग. २. न सम्प्रसारणेति ग. ३. उश इति ख-ग. ४. त्वम् इति मुद्रितपाठः -सम्पा.

एव. तत्र द्वितीयम् आह. तप्तायःपिण्डे अग्निरिव अण्डजत्वाद् अन्तरेव सर्वनिर्माणं सर्वस्यापि मुक्तिदानार्थम् इति. अस्य ब्रह्माण्डस्य पुरुषाकृतिरूपत्वं,

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इति अर्थः. दाहत्वे दृष्टान्तम् आहुः **तप्त** इति. **अयःपिण्डे** यथा **अग्निः** तथा ब्रह्माण्डे भगवान्. पूर्वं सूक्ष्मरूपेण सर्वेन्धनेषु वह्निः अस्ति स च न दहति, तेजःसंयोगेन उद्बुद्धः सन् दाहको भवति इति **तप्त** इति उक्तम्. तथाच यं पुरं शरीरं दहति=मोक्षं जनयति इति भावः. **अण्डज** इति. अण्डजेषु खगादिषु सर्वे अवयवा अण्डमध्यएव उत्पद्यन्ते तथा सर्वस्यापि ब्रह्माण्डान्तर्गतत्वेन अण्डजत्वाद् ब्रह्माण्डमध्यएव सर्वे पदार्थाः क्रियन्ते इति अर्थः. स्वयं करणे हेतुः **सर्वस्यापि** मोक्षदानम्. तथाच जीवकर्तृकत्वे अमोक्षः स्याद् इति स्वयं निर्माणम्. **अस्य** इति. मूले

प्रकाशः

इति भावः. द्वितीयएव अत्र उच्यते इत्यत्र गमकम् आहुः **अण्डजत्वाद्** इत्यादि. प्रकरणानुरोधेन मुक्त्यर्थमेव अवतारकथाप्रश्नस्यापि सिद्धेः तदर्थकस्यैव उत्तरस्य वाच्यत्वाद् अन्तःनिर्माणस्य खगादिषु अन्तरेव दृष्टत्वाद् अतो अत्र द्वितीयएव उच्यते इति अर्थः. ननु एवं सति तृतीयपक्षएव अङ्गीकार्यः इत्यतः आहुः **अस्य** इत्यादि. मूले **पौरुषं रूपम्** इत्यनेन पुरुषसम्बन्धित्वम् उच्यते, तेन पुरुषविधम् अभिप्रेतम्. तदेव एकादशेऽपि ‘‘तन्मायाफलरूपेण’’ (भाग.पुरा. ११।२४।३) इत्यादिना भगवता निरूपितम् अतः तथा इति

लेखः

च बाधाद् इति भावः. शरीरसम्बन्धाद् वा जीवस्य तृतीयपक्षेण अग्रहणम् इति ज्ञेयम्. अतएव अत्र प्रथमव्युत्पत्तिपक्षम् अनादृत्य द्वितीयं तृतीयं वा ग्राह्यम् इति आशयेन आहुः **तत्र** इति. तत्र द्वितीयपक्षम् आदृत्य मूले ‘पुरुष’पदम् आह इति अर्थः. अत्र दाहकत्वं कीदृशं विवक्षितम् अतः तत्स्वरूपम् आहुः **तप्तायः** इति. तथाच दाहे यथा अग्निसात् सम्पद्यते तथा अत्र सर्वं भगवदधिष्ठितम् इत्येव विवक्षितं, नतु सर्वदाहोऽपि इति भावः. **अण्डजत्वाद्** इति. ... . **पुरुषाकृतिरूपत्वम्** इति. अतएव **पौरुषं रूपम्** इति उक्तम् इति भावः.

न पुरुषत्वं, ''ममायतनमुत्तमम्'' (भाग.पुरा. ११।२४।९) इति वचनात्. शुद्धसत्त्वात्मकं शरीरमिव (**पौरुषं!**) पुरुषरूपं (**महदादिभिः सम्भूतं!**) तत्त्वैः निर्मितं (**जगृहे!**) स्वयं गृहीतवान्. अधिकारिव्यावृत्त्यर्थं **भगवान्** इति. अप्सु बीजज-ब्रह्माण्डवैलक्षण्याय आह **महदादिभिः** इति. महदहङ्कार-पञ्चतन्मात्राभिः सप्तभिः, एकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतानि च[1]

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

पौरुषपदेन पुरुषप्रतिरूपत्वम् उच्यते, न ईश्वरत्वम् इति अर्थः. तत्र प्रमाणं **ममायतनमुत्तमम्** इति. **शुद्धसत्त्वात्मकम्** इति. यथा शुद्धसत्त्वे आविर्भवति तथा अत्रापि शरीरे, तथाच आविर्भावप्रकारस्तु एकएव इति भावः. **अधिकारि** इति, जीवव्यावृत्त्यर्थम् इति अर्थः. **अप्सु बीज** इति. अयं तु जले वर्तते इति अप्सु बीजं विकृतं भवति इति बीजविकारात् कार्ये ब्रह्माण्डे विलक्षणता भविष्यति इति शङ्कापरिहाराय आह इति अर्थः. तथाच

प्रकाशः

अर्थः. यदि तृतीयपक्षः स्याद्, अन्तर्यामीव प्रविशेत्, प्रकृतेतु सर्वनिर्माणं भोगश्च इति द्वितीयपक्षएव इति भावः. **अधिकारीति**, अधिकारी जीवो नास्ति इति बोधनार्थम्. व्याख्यानेतु वाक्यार्थः उक्तः इति अपौनरुक्त्यम्. **अप्सु** इति. तृतीयस्कन्धे षष्ठे ''हिरण्मयः स पुरुषः सहस्रपरिवत्सरान्, आण्डकोशमुवासाऽप्सु सर्वसत्त्वोपबृंहितः, स वै विश्वसृजां गर्भो देवकर्मात्मशक्तिमान्, विबभाजात्मना आत्मानम् एकधा दशधा त्रिधा, एष ह्यशेषसत्त्वानाम् आत्मांशः परमात्मनः, आद्योऽवतारो यत्र असौ भूतग्रामो विभाव्यते'' (भाग.पुरा. ३।६।६-८) इत्यत्र उक्ता **अप्सु बीजज-ब्रह्माण्डम्**. एवं त्रयोविंशे सिद्धे सत्त्वादिगुणानां पुरुषस्य च ब्रह्माण्डे न्यूनतां परिहरन्ति

लेखः

अप्सु इति. स्वरूपात्मके जले बीजत्वेन वर्तमानम् अमूर्तब्रह्माण्डम् इति अर्थः. **महदादिभिः** इत्यस्य अर्थः **महदहङ्कार** इत्यादि. षोडशकलाः का इत्यतः ता आहुः **एकादश** इति ॥१॥

---

१. चकारो नास्ति ख.

षोडशकलाः —एवं प्राकृतिको गणः त्रयोविंशः अस्यां सृष्टौ ; प्रकृति-पुरुषौ स्वयमेव अतो न किञ्चिद् अवशिष्टम्. (**आदौ**!) इयं हि आद्या सृष्टिः, द्वितीयादिसृष्टौ अधिकारिपुरुषाणां सुलभत्वात्. अवतारस्य[१] प्रयोजनम् आह **लोकसिसृक्षया** इति. लोकास्तु स्वोदरस्थिताः. तेषां सृष्टिः उदरे च स्थितिः (इति!) द्वयं यथा भवति तथाकरणार्थं ब्रह्माण्डदेहः परिगृहीतः ॥१॥

ननु का अनुपपत्तिः ? कीदृशस्य कर्तृत्वम् ? इत्यतः आह.

यस्याम्भसि शयानस्य योगनिद्रां वितन्वतः ॥
नाभीह्रदाम्बुजादासीद् ब्रह्मा विश्वसृजां पतिः ॥२॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

महदादयो विकृताः न भवन्ति इति भावः. **एवम्** इति. भगवतः सकाशाद् जातो यथा त्रयोविंशः तथा प्रकृतेरपि इति अर्थः. जीवाधिष्ठितो देहः प्राकृतैरिव निर्मितो भवति. **इयं हि** इति. विरञ्चि-मरीच्यादीनाम् अग्रिमसृष्टिः सुगमा भवेद् इति हेतोः गुह्य(/ण!)सृष्टिः कृता इति अर्थः ॥१॥

ननु इति. देहपरिग्रहं विना किं कार्यं न जायते? कर्तृत्वञ्च कीदृशस्य? इति आशङ्काद्वय-परिहारार्थम् आह इति अर्थः. **यस्याम्भसि**

प्रकाशः

अस्यां सृष्टौ इति. **स्वयम्** इति, “आसीज्ज्ञानमयो ह्यर्थः” (भाग.पुरा. ११।२४।२) इत्यादिवाक्येभ्यः. **न किञ्चिद्** इति. प्रकृतेः अंशत्रयं, पुरुषः, स्वयञ्च इति अष्टाविंशतितत्त्वेषु न किञ्चिद् अवशिष्टम् इति अर्थः. अवशिष्टानाम् अत्रैव अन्तर्भावे वा. **अधिकारीति**, ब्रह्मादीनाम् इति अर्थः ॥१॥

यस्य अम्भसि इत्यत्र. **ननु का** इति, देहपरिग्रहं विना का

लेखः

यस्याम्भसि इत्यत्र आभासे **का अनुपपत्तिः** इति, यदि ब्रह्माण्डदेहो न अङ्गीक्रियते तदा का अनुपपत्तिः इति अर्थः. **आसीदुदारगुणवारिधिः**

---

१. अवतारप्रयोजनमिति क-घ.

यस्याम्भसि इति. न इदं दैनन्दिनप्रलय-शयनं किन्तु वैष्णवतन्त्रोक्तं चतुर्मूर्तिसृष्टिहेतुभूत-नारायणशयनम्. तदुक्तम् "आसीदुदारगुणवारिधिः" (महाभा.ता.नि. १।२) इत्यादौ. स हि स्वोदरस्थान् जीवान् निर्मिमीते. तत्र उदरात् सर्वथा बहिःनिर्गमने सायुज्यसृष्टिवद् अयुक्तं स्याद् अतो ब्रह्माण्डरूपं द्वितीयं कोशम् उत्पाद्य तत्र सर्वान् सृजति. ननु शयानस्य शयनपरित्यागेन सृष्टिकरणे महान् क्लेशः इति आशङ्क्य शयानादेव सर्वं जातम् इति आह **अम्भसि शयानस्य** इति. भगवान् शयानएव स्थितः. **अम्भसि** इति शीतल-कोमलत्वे शय्यायाः सूचिते. ननु शयनं नाम स्वरूपविस्मरणेन मायायाः भगवतो वा समीपगमनं, तत् कथं भगवति सम्भवति इति आशङ्क्य आह **योगनिद्राम्** इति. नहि भगवान् शेते वस्तुतः. अस्ति च योगभूता निद्रा काचित् शक्तिः. साहि जीवानां क्लेशनाशिनी, स्वसमीपं च जीवान्[१] आनयति, गुह्यञ्च प्रकटीकरोति.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इत्यत्र. देहस्य अपरिग्रहे अनुपपत्तिम् आहुः **सर्वथा** इति. ब्रह्माण्डं विना कस्यापि व्यवधायकस्य अभावात् सायुज्यमिव स्यात्, नतु इच्छाविषयीभूतः सर्गः इति **अयुक्तं स्याद्** इति भावः. **अतः** इति, अतो हेतो इति अर्थः. यद्यपि जीवे अन्ये कोशाः सिद्धा एव तथापि विशेषव्यवधानार्थं **ब्रह्माण्डरूपं द्वितीयं कोशम्** उत्पादितवान् इति अर्थः. **योगनिद्राम्** इत्यत्र **निद्रापदस्य** अर्थम् उक्त्वा **योगपदस्य** अर्थम् आहुः **गुह्यम्** इति. योगेन

प्रकाशः

इति अर्थः. **दैनन्दिनेति**, ब्रह्मकल्पान्ते नैमित्तिकप्रलयः इति अर्थः. **सायुज्यसृष्टिवद्** इति, सायुज्योत्तरं पुनः तेषां सृष्टिवद् इति अर्थः. योगभूतत्वं

लेखः

इति वाक्यं ... . **द्वितीयं कोशम्** इति. एवञ्च स्वरूपात् स्वरूपान्तरे एव नयति नतु अन्यत्रापि इति "न स पुनरावर्तते" (बृहज्जाबालोप. ६।२) इत्यादिना न विरोधः इति अर्थः. एतावता **का अनुपपत्तिः** इत्यस्य

१. जीवानिति नास्ति ग.

ताम् (**वितन्वतः!**) अल्पभूतां स्व-स्वरूपे प्रसार्य महतीं कार्यक्षमां च सृष्ट्युपयोगाय करोति इति अर्थः. तदर्थं प्रयतमानैरेव सृष्टिः क्रियते इति भावः. तथा भगवत्यपि जातम् इति आह **नाभीह्रदाम्बुजाद्** इति. उदरस्थ-जगज्ज्ञापनाय[१] **नाभिपदं**, पङ्कजाशोषाय **ह्रदः**, **अम्बुजं** च त्रैलोक्यात्मकम्. तेन भगवतो माहात्म्यमपि सूचितम्. प्रथमकार्यत्वाद् ब्रह्मशब्दवाच्यएव ; कर्तृत्वेन स्वातन्त्र्यख्यापनाय परं पुल्लिङ्गनिर्देशः. ततो मरीच्यादयोऽपि जाताः, तेषाम् अयम् आज्ञापकश्च जातः इति आह

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

हि गुप्तो अर्थः प्रकटीक्रियते, तथा अनयापि **गुह्यं** गुप्तं प्रकटीक्रियते इति भावः. **तदर्थम्** इति, गुप्तावयवार्थमेव प्रयत्नं कुर्वद्भिः सर्वैः जनैः **सृष्टिः क्रियते इति तथा** भगवानपि शक्तिं रमयमाणः सृष्टिं कृतवान् इति आचार्याणाम् आशयः ॥२॥

प्रकाशः

तस्याः स्फुटीकुर्वन्ति **गुह्यं च** इत्यादि. यथा योगो गुप्तं जीवं प्रकटीकरोति तथा इयं सुषुप्तौ प्राज्ञसम्बन्ध्यानन्दं प्रकटीकरोति इति तथा इति अर्थः. **तदर्थम्** इति, आनन्दार्थं योगार्थं वा इति अर्थः ॥२॥

लेखः

उत्तरं जातम्. **कीदृशस्य कर्तृत्वम्** इत्यस्य उत्तरं शिष्टेन. **तदर्थं प्रयतमानैः** इति, आनन्दार्थं प्रयतमानैः महदादिभिः इति अर्थः. इदं हि **योग**पदतात्पर्यम्. **भगवत्यपि** इति, ब्रह्माण्डे इव **भगवति अपि** जगद् **जातम्** इत्याह इति अर्थः. **उदरस्थ** इति. नाभेः उदरसामीप्यात् ततो अम्बुजात् सृष्टिः इत्युक्तौ जगताम् उदरस्थत्वं ज्ञाप्यते इति. अन्यथा **नाभिपदं** न वदेद्, आवश्यकत्वाद् **अम्बुजपदमात्रम्** एव वदेद् इति भावः. **प्रथम** इति. प्रथमसृष्टिः परब्रह्मव्यतिरिक्तन्ता इति **'ब्रह्म'शब्दवाच्यः** एवं **विश्वसृजां पतिः** उच्यते इति अर्थः. तर्हि हिरण्यज-वाचक-पुल्लिङ्ग-ब्रह्मशब्दनिर्देशः कथम्? अतः आहुः **कर्तृत्वेन** इति ॥२॥

---

१. जगदाज्ञापनायेति ग.

विश्वसृजां पतिः इति. **पतिशब्देन** अनुल्लङ्घ्या तस्य आज्ञा इति सूचितम् ॥२॥

अनेन हि शयानादेव सर्वे[१] लोकाः उत्पन्नाः इति उक्तम्. तेषां स्थानं वक्तुं 'लोक'शब्दस्य भुवनवाचित्वात् तेषां जडत्वेन स्वतो जननाभावाद् निद्रितस्य तज्जननम् अशक्यम् इति आशङ्क्य पुरुषशरीर-स्थूलावयवाएव तथाविधाः जाताः इति आह.

यस्याऽवयवसंस्थानैः कल्पितो लोकविस्तरः ॥
तद् वै भगवतो रूपं विशुद्धं सत्त्वमूर्जितम् ॥३॥

यस्य अवयवसंस्थानैः इति. सच (**कल्पितः!**) युक्त्या मध्यभावे[२] तिष्ठति इति ज्ञायते. वस्तुतस्तु बीजात्मकः सर्वगतिः[३] सर्वकार्येषु निविष्टः

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

यस्यावयवसंस्थानैः इत्यत्र. **युक्त्या मध्य** इति. लोकविस्तारः ब्रह्माण्डस्य कटिप्रदेशे वर्तते इति युक्त्या ज्ञायते. युक्तिस्तु महता प्रबन्धेन निबन्धे निरूपिता ; विस्तारभयाद् न अत्र उच्यते. **वस्तुतः** इति. **अवयवसंस्थानैः लोकविस्तरः कल्पितः** इति तु आपाततः उक्तं,

प्रकाशः

यस्यावयवेत्यत्र. सच इति विराड्देहः. **मध्यभावे** इति वृक्षभावे जरायुभावे वा इति प्रतिभाति. बीजं पूर्वभावः, वृक्षो मध्यभावः, फलम् उत्तरभावः. बीजं पूर्वभावः, जरायुः मध्यभावः, देहः उत्तरभावः इति. जरायुभावे जरायोः अन्तः अव्याप्तौ अत्रापि तथात्वसिद्ध्या **अवयवसंस्थानैः कल्पितः** इति विरुद्धं स्याद् अतः आहुः **वस्तुतस्तु** इति.

लेखः

यस्यावयव इत्यत्र. ननु पुरुषावयवैः लोककल्पना इति सत्यं परन्तु पुरुषस्थितिः क्व स्थले इत्यतः आहुः **स च युक्त्या** इति. यथा जीवः सर्वदेहाधिष्ठातापि मध्यभागे हृदयदेशे एव तिष्ठति तथा इति **युक्त्या स** पुरुषोऽपि **मध्यभागे** एव **तिष्ठति** इति अर्थः. **अयमूर्ध्वगोलः** इति,

१. सर्वलोका इति ख-ग. २. मध्यभागे इति पाठः टिप्पण्यां लेखे च -सम्पा. ३. सर्वगत इति ख.

इति. अयम् ऊर्ध्वगोलो देहः. यैः यैः यथा यथा स्थितैः ये ये लोकाः तान् अग्रे वक्ष्यति ''पातालमेतस्य हि पादमूलम्'' (भाग.पुरा. २।१।२६) इत्यादिभिः. शरीरे लोकनिर्माणे लोकानाम् अल्पत्वम् आशङ्क्य निराकरोति **विस्तर** इति. एवं भुवन-जननिर्माणेन अवतारप्रयोजनम् उक्त्वा ब्रह्माण्डान्तरवद् इदमपि केवलं जडम् इति आशङ्क्य पूर्वोक्तम् अवताररूपम् उपसंहारार्थम् अनुवदति **तद्वै भगवत** इति. तत् पूर्वोक्तं ब्रह्माण्डरूपम्. उक्तोपपत्तिः वैशब्देन उच्यते. **तद् भगवत** एव **रूपं,** न अन्यत् किञ्चिद् इति अर्थः. ननु भगवतः प्राकृतं रूपमेव नास्ति, शुद्धसत्त्वात्मकं वा भवति ; तत् कथं ब्रह्माण्डस्य देहत्वम् अतः आह **विशुद्धं सत्त्वम्** इति. शुद्धसत्त्वात्मकमेव इदं शरीरम् इति अर्थः.**ऊर्जितम्** इति, न शान्तं किन्तु सर्वकार्यकरणोन्मुखम्

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

वस्तुतो भगवान् सर्वसामर्थ्ययुक्तो भवति इति निद्रितोऽपि गच्छति, शयानएव सर्वं करोति. **अयम्** इति, ऊर्ध्वगोलत्वं निबन्धे प्रपञ्चितम्. **ब्रह्माण्डान्तर** इति. **केवलं जडं** प्राकृतम् इति अर्थः. **पूर्वोक्तं** ''जगृहे पौरूषं रूपम्'' (श्लो. १) इत्यत्र उक्तम् इति. **उक्तोपपत्तिः** इति. **उक्ते** प्राकृतत्वसंशये **उपपत्तिः** युक्तिः **वै** इत्यनेन उच्यते. युक्तिम् आहुः **तद् भगवत** इति. अयमर्थः— **वै** निश्चयेन **तद्रूपं भगवतएव** साक्षाज्जातैः महदादिभिः जातम् इति **अन्यत्** कारणान्तरं **किञ्चिद्** अपि **न** अस्ति इति न प्राकृतत्वम् इति अर्थः. **शुद्धसत्त्वात्मकमेव** इति. यद्यपि तत्त्वैः निर्मितं तथापि शुद्धसत्त्वात्मकमेव इति भावः ॥३॥

प्रकाशः

उक्तोपपत्तिः इति, बीजत्वरूपा इति अर्थः. तथाच भगवतो रूपं तद्, भगवतो बीजत्वाद् इति भावः. रजोऽनुवेधाभावेऽपि कार्योन्मुखत्वे हेतुं व्याकुर्वन्ति

लेखः

गोलात्मको अयं देहएव लोकाः इति अर्थः. ते च **यैः यैः** जीवादिभिः तत्र तत्र **स्थितैः** अधिष्ठिताः सन्तो यथानामानः **तान् वक्ष्यति** इति अर्थः. **ब्रह्माण्डान्तर** इति, मायिकसृष्टिवद् इति अर्थः ॥३॥

इति अर्थः. हर्षेण उत्फुल्लता ऊर्जः, तद् रजोगुणव्यतिरेकेणापि भगवदावेशेन भवति ॥३॥

ननु ब्रह्माण्डस्य परिग्रहः करणत्वेनापि सम्भवति; तत् कथम् एकान्ततो देहत्वम् इति आशङ्क्य आह.

पश्यन्त्यदो रूपमदभ्रचक्षुषा सहस्रपादोरुभुजाननाद्भुतम् ॥
सहस्रमूर्द्धश्रवणाक्षिनासिकं सहस्रमौल्यम्बरकुण्डलोल्लसत् ॥४॥

पश्यन्तीति. योगिनां योगजधर्म-साक्षात्कारएव भगवदवतारत्वे प्रमाणम्. प्राकृतचक्षुषा हि इदं जगद् दृश्यते, नतु **अदः** परोक्षत्वेन प्रसिद्धम्. तच्च **रूपं** नतु पृथिव्यादिवत् केवलं[1] जडम्. किञ्च योगिनामपि सदा न भासते किन्तु **अदभ्रचक्षुषा** महता ज्ञानचक्षुषा. भगवतः प्रतिकृतिरूपत्वेन[2] वेदप्रतिपाद्यस्य[3] सम्बन्धे शरीरमपि "विश्वतश्चक्षुः" (श्वेताश्वतरोप. ३।३)

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

ननु ब्रह्माण्डस्य इति. यथा प्रकृतेः करणत्वेन उपादानं तथा एतस्यापि इति भावः. **पश्यन्ति** इत्यत्र **योगिनाम्** इति. तेषां योगजधर्मेण साक्षात्कारे भगवदवतारत्वे न एतस्य साक्षात्कारः इति ब्रह्माण्डस्य देहत्वमेव, न करणत्वम्. **तच्च** इति. यत् पश्यन्ति तत् पुरुषाकृतिः **नतु पृथिव्यादिवद्** हस्तपादादिरहितं प्राकृतम् इति भावः. **भगवतः प्रतिकृति** इति. सृष्टिकर्तृत्वात् प्रतिकृतिरूपत्वं ; "विश्वतश्चक्षुः उत विश्वतो मुख" इत्यादिश्रुति**प्रतिपाद्य-**

प्रकाशः

हर्षेण इत्यादि ॥३॥

पश्यन्ति इत्यत्र. **करणत्वेन** इति लोकरचनायां करणत्वेन. यतो लोकरचना ब्रह्माण्डेन जायते इत्यतो न पुरुषो न अवतारः इति अर्थः. **रूपम्** इति. करादिविशिष्टं रूपं व्यवहारयोग्यम्. साकारता च आनन्दयोगात्.

लेखः

पश्यन्ति इत्यत्र. **भगवतः** इति. "विश्वतश्चक्षुः" इत्यादिवे**दप्रतिपा-द्यस्य भगवतः प्रतिकृतिः** इति अर्थः. **द्विदैवत्यानि** इति. श्रवणादित्रयाण्यपि

---

१. केवलजडमिति क. २. प्रतिकृतरूपत्वेनेति क. ३. वेदप्रतिपाद्यसम्बन्धशरीरमपीति ग.

इति श्रुतिप्रतिपादितरूपवद् ध्येयं जातम् इति आह **सहस्रपादोरुभुजाननाद्भुतम्** इति. **सहस्रम्** इति अपरिमितनाम. ''अनेकवक्त्रनयनम्'' (भग.गीता ११।१०) इति गीताप्रतिपादित-रूपवत् सहस्रपादोरुभुजाननैः अत्यद्भुतम्. अत्र क्रियाशक्तिप्रधानानि चत्वारि अङ्गानि निरूपितानि ; गतिश्च, सृष्टिजननं, कृतिश्च, परिभाषणम्[१] इति. ज्ञानशक्तिप्रधानानि आह **सहस्रमूर्द्धश्रवणाक्षि-नासिकम्** इति. सहस्रं[२] मूर्द्धसु श्रवणे अक्षिणी नासिके च यस्य. त्रीण्येव द्विदैवत्यानि ज्ञानाङ्गानि बहिः प्रसिद्धानि, रसनेन्द्रियन्तु अन्तरेव आननपदेनैव सङ्गृहीतम्. त्वचो न नानात्वम्. परिकरम् आह

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

भगवतः सम्बन्धे जाते ब्रह्माण्डरूपं **शरीरमपि** सहस्रपादोरुभुजाननं जातं, **ध्येयम्** अपि तत्सम्बन्धेनैव **जातम्** इति भावः. त्वचः अकथने बीजम् आहुः **त्रीण्येव** इत्यारभ्य **त्वचो न नानात्वम्** इत्यन्तेन. **द्विदैवत्यानि** द्वि-द्वि सङ्ख्या दैवतम् अधिष्ठात्री यस्य. द्विदैवतस्य भावो द्विदैवत्यम् इति द्वित्वविशिष्टानि इति अर्थः. **ज्ञानाङ्गानि** ज्ञानजनकानि इति अर्थः.

प्रकाशः

तथाच सदानन्दम् इति अर्थः. **सृष्टिजननम्** इति. गुह्यादिस्थानानाम् **उरुपदेनैव** ग्रहणात् तत्र सृष्टिजननम् उक्तम्. **न नानात्वम्** इति. श्रोत्रातिरिक्तेन्द्रियाणि अपेक्ष्यापि न नानात्वं किन्तु एकत्वमेव, सर्वत्र स्पर्शोपलब्धेः इति अर्थः. **पादपदेन भुजपदेन** वा उपलक्षितं न नानात्वम् इति. तथाच असङ्ग्रहेऽपि अर्थादेव त्वगिन्द्रियमपि सिद्धम् इति अर्थः. एवमेव शिष्टं कर्मेन्द्रियं बोध्यम् ॥४॥

लेखः

इन्द्रियाणि देवताधिष्ठानानि भूत-गोलकद्वयवन्ती इति अर्थः. **न नानात्वम्** इति. अतो नानापदार्थग्रहणावसरे तद् नोक्तमपि ज्ञेयन्तु खलु [३]एकत्वविशिष्टम् इति अर्थः ॥४॥

---

१. प्रतिभाषणमिति ग. २. सहस्रमूर्द्धसु इति क. ३. उभयोः मातृकयोः ''एकत्वविशिष्टं तद् ... खलु'' इति पदक्रमव्यत्यासो स्वारसिकार्थानुरोधात् शोधितः -सम्पा.

सहस्रमौल्यम्बरकुण्डलोल्लसद् इति. सहस्रं मौलयः = मुकुटानि अम्बराणि कुण्डलानि च, तैः उल्लसद् = अतिशोभायुक्तम् इति अर्थः. परिकराणाम् अवरोहप्रकारेण प्रतीतत्वाद् यथाक्रमं निर्देशः ॥४॥

ननु "वाचं धेनुम् उपासीत" (बृहदा.उप. ५।८।१) इतिवद् उपासनाप्रकारेण भगवद्रूपत्वेन जगतो ध्यानसम्भवात् कथम् एकान्ततो अवतारत्वम् इति आशङ्क्य आह.

एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम् ॥
यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देवतिर्यङ्नरादयः ॥५॥

एतन्नानावताराणाम् इति. अयम् अर्थः — अवताराणां मूलं भगवान्, मूलावतरणं वा. तत्र तत्त्वनिर्मितत्वाद् न भगवान्. तद् यदि अवताररूपम्

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

रसना तु मुखमध्यएव इति **'आनन'पदेनैव** गृहीतवान्. त्वक्तु न उक्ता, नानात्वाभावात्. अयमर्थः — पादादिषु श्रवणादिषु च द्वित्वं सर्वत्र स्पष्टम्. आननस्य रसनावत्त्वेन इन्द्रियद्वयात्मकत्वाद् (द्वित्वम्!). द्वित्वविशिष्टान्येव इन्द्रियाणि कथितानि इति त्वचो द्वित्वविशिष्टत्वाभावाद् न कथनम् इति भावः ॥४॥

ननु इति. "वाचं धेनुम्" इत्यत्र यथा लक्षणया अर्थः उच्यते तथा अत्रापि उपासनार्थं तत्र अवयवान् कल्पयित्वा ध्यानं क्रियते, नतु वास्तवावतारः **इत्याशङ्क्याह** इति अर्थः. **एतन्नानावताराणाम्** इत्यत्र. **अवताराणां मूलम्** इत्यारभ्य **न सन्देहः** इत्यन्तम्. अत्र अयम् आशयः — नियतपूर्ववर्तितया **अवताराणां (मूलं!)** कारणं **भगवान्**. मूलावताराणां ब्रह्माण्डं वा कारणम्. **तत्र** उभयोः मध्ये ब्रह्माण्डस्य **तत्त्वनिर्मितत्वाद्** ब्रह्माण्डं **न** मूलं, **भगवान्** मूलम् इति अर्थः. समवायिकारणधर्माः कार्यधर्मान्

लेखः

एतन्नाना इत्यत्र. **न भगवान्** इति. पुरुषस्य तत्त्वनिर्मितत्वेन साक्षाद्भगवत्त्वन्तु न वक्तुं शक्यम् इति अर्थः. तथाच पूर्णत्वस्य असम्भवाद् अवतारत्वन्तु अवश्यम् अभ्युपेयमेव इति आहुः **तद्यदि** इति. पुरुषरूपम् इति अर्थः ॥५॥

अपि न भवेद्, अन्यावताराणां मूलम् अपि न भवेद्, अवतारोत्कर्षश्च. अतः पुरुषस्य अवतारत्वे न सन्देहः. **नानावताराणां** मत्स्यादीनाम्. निधीयते अस्मिन् इति **निधानं** स्थानम्. **बीजम्** उद्गमहेतुः. तच्च (**अव्ययम्**!) अविनाशि कन्दवद् अङ्कुरोत्पत्तौ न नश्यति इति अर्थः. अवतारप्रयोजनं सूचितं विस्तारयति **यस्य अंशांशेन** इति. **अंशो** ब्रह्मा, तस्य **अंशो** मरीच्यादिः जघनादयो वा. **देवादयः** सात्त्विकादिप्रधानाः (**सृज्यन्ते**!) ॥५॥

एवं पुरुषावतारम् उक्त्वा तत्प्रकृतिरूपान् तदंशसृष्टावपि अवतारान् आह **स एव** इत्याद्येकविंशतिश्लोकैः[१]. सर्वत्र अवतारनाम प्रयोजनञ्च उच्यते. अवतरणरूपस्य तुल्यत्वेन आवेशावतारयोः अविशेषेण निरूपणम्.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

आरभन्ते इति **तत्** मूलं भगवद्रूपं मूलं **यदि अवताररूपमपि न** स्यात् तदा मत्स्याद्यवताराणां समवायिकारणम् **अपि न** स्यात्. स्वस्मिन् अवतारत्वधर्मं विना मत्स्यादिषु अवतारत्वं कुतः उत्पादयेत्? ननु भगवान् मूलं मास्तु इति आशङ्क्य **अवतारोत्कर्षश्च न भवेद्** इति आहुः. भगवन्मूलकएव सर्वत्र उत्कर्षः इति भावः. **अतः** उक्तार्थान्यथानुपपत्तौ **पुरुषस्य अवतारत्वे न सन्देहः** इति आचार्याणाम् आशयः. **देवादयः** इति. सात्त्विकप्रधानाः देवाः, राजसप्रधानाः तिर्यञ्चः, तामसप्रधानाः मनुष्याः इति ॥५॥

एवम् इति. **तत्प्रकृतिरूपां** = तत् नारायणरूपं **प्रकृतिरूपं** 'प्रकृति'पदेन प्रकृतेः आदिभूतं स्वरूपम् इति यावत्. तथाच कारणस्वरूपं यस्य तान् इति अर्थः. **सएव** इत्यत्र. **अवतरण** इति. अवतरणस्य स्वरूपं भगवत्प्राकट्यं, तत्तु अवतारे आवेशे च समानम् इति आवेशावतारयोः सामान्यतः कथनम् इति अर्थः.

प्रकाशः

एतन्नाना इत्यत्र. **जघनादयः** इति. ब्रह्मणो अंशाः जघनादयः, तेभ्योऽपि सृष्टिस्मरणात् ॥५॥

---

१. एकविंशेति ख-ग.

सत्त्वरूपशरीरेषु ब्रह्मणः सङ्क्रमः स्मृतः ॥(३)॥
अशुद्ध-शुद्धभेदेन[१] शरीराणाम् अतो द्विधा ॥
कार्यकाले सङ्क्रमणम् आवेशः सर्वदा परम् ॥(४)॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

अशुद्धशुद्ध इति. शुद्धसत्त्वं केवलं सत्त्वमेव, अशुद्धं राजसादिमिश्रम्. अवतारावेशयोः लक्षणम् आहुः **कार्य** इति. **कार्यकाले** प्रयोजने उपस्थिते सति यत्र **सङ्क्रमणं** प्राकट्यं तद् 'आवेश'पदेन उच्यते, यथा सनकादिषु ब्रह्मचर्यार्थं भगवदावेशः. अवतारलक्षणम् आहुः **सर्वदा परम्** इति. कार्योपस्थितौ अनुपस्थितावपि प्राकट्यं **परम्** अवतरणम् इति अर्थः, यथा रामचन्द्रादिषु रावणमारणादि-कार्यानुपस्थितावपि भगवत्त्वमेव. अवतारान् गणयन्ति **मत्स्य**

प्रकाशः

सएव प्रथमम् इत्यत्र. **स्मृतः** इति, अवतारत्वेन पञ्चरात्रस्मृतौ उक्तः. **अशुद्धशुद्धभावेन** इति, शुद्धसत्त्वात्मक-मिश्रसत्त्वात्मक-भावेन द्वैविध्यम् इति शेषः. **द्विधा** इति, अवतारो द्विधा. **परम्** इति अवतरणम्. ननु

लेखः

सएव इत्यादि. **कौमारं सर्गमाश्रितः** इत्युक्त्या भारतएव वर्षे सृष्टिजनकं तपः आरब्धम् इति ज्ञापितम्.

अत्र आवेशावतारयोः निरूपणात् तयोः भेदं ग्राहयितुम् आहुः **सत्त्वरूप** इति. **अशुद्धशुद्धभेदेन शरीराणां** द्वैविध्यम् **अतो** हेतोः **ब्रह्मणः सङ्क्रमो**ऽपि अवतारावेशाभ्यां **द्विधा स्मृतः** इति अर्थः. तथाच शुद्धसत्त्वात्मके शरीरे ब्रह्मणः सङ्क्रमः अवतारः, अशुद्धसत्त्वात्मके शरीरे सङ्क्रमः आवेशः इति भावः. अशुद्धत्वं च सत्त्वे रजआदिमिश्रत्वं; तदमिश्रत्वं शुद्धत्वम् इति ज्ञेयम्. अधिकरणभेदेन तद्द्वैविध्यम् उपपाद्य पुनः प्रकारान्तरेणापि परिचाययन्ति **कार्यकाले** इत्यादि. कार्यस्य काले सति यत्र सङ्क्रमणं तत्र आवेशः, यथा सनकादिषु ब्रह्मचर्यमात्रार्थः. **सर्वदा सङ्क्रमणं** तु **परम्** अवतरणम् इति अर्थः, यथा मत्स्यादौ (३-४).

---

१. अशुद्धशुद्धभावेन इति पाठः प्रकाशे - सम्पा.

तत्र निर्णयो वैष्णवतन्त्रे[१] निरूपितः —

क्रियाशक्त्या ज्ञानशक्त्या चावतारं करोत्यजः ॥
वाराहादिस्वरूपेषु बलकार्यं जनार्दनः ॥(५)॥
दत्त-व्यासादिरूपेषु ज्ञानकार्यं तथा प्रभुः[२] ॥
मत्स्य-कूर्म-वराहश्च[३] सिंह-वामन-भार्गवाः ॥(६)॥
राघवः कृष्ण-बुद्धौ[४] च कृष्णद्वैपायनस्तथा ॥
कपिलो दत्त ऋषभः शिशुमारो रुचेः सुतः ॥(७)॥
नारायणो हरिः कृष्णस्तापसो मनुरेव च ॥
महिदासस्तथा हंसः स्त्रीरूपो हयशीर्षवान् ॥(८)॥
तथैव वडवावक्त्रः कल्की धन्वन्तरिः प्रभुः ॥
इत्याद्याः केवलो विष्णुर्न विशेषोऽत्र कश्चन ॥(९)॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इत्यारभ्य **इत्याद्याः केवलो विष्णुः** इत्यन्तेन. **कृष्णबुद्धौ** इति. भागवते[५] बुद्धौ सत्याम् अवतारः, नतु सर्वेऽपि व्यासाः अवताररूपाः इति अर्थः. इदं सर्वं प्रतियुगं व्यासा भवन्ति (त.दी.नि. २।५६) इत्यत्र निबन्धे निरूपितम्. **कृष्णस्तापसः** येन रूपेण तपः कृतवान् अग्रे इति अर्थः. **इत्याद्याः केवलो विष्णुः** भगवदवताराः, **अत्र** कोऽपि **विशेषम्** आवेशो

प्रकाशः

अत्र अविशेषेण कथनाद्[६] अवतारावेशभेदः कुतो निश्चेयः इत्यतः आहुः **तत्र निर्णयः** इत्यादि. **नारायणः** इति धर्मपुत्रः. **कृष्णस्तापसः** इति

---

१. सर्वेऽपि इमे श्लोकाः श्रीमन्मध्वाचार्यकृत-महाभारततात्पर्यनिर्णयस्य द्वितीयाध्याये यथानुपूर्व्या उपलभ्यन्ते. यथोदितं तैः "कलावेवं व्याकुलिते निर्णयाय प्रचोदितः, हरिणा निर्णयान् वच्मि विजानन् तत्प्रसादतः, शास्त्रान्तराणि सञ्जानन् वेदांश्चास्य प्रसादतः, देशे देशे तथा ग्रन्थान् दृष्ट्वा चैव" (महाभा.ता.नि. २।५-७) इत्यादिना. २. पुनरिति ख. ३. मत्स्यः कूर्मो वराहश्चेति ख. ४. कृष्णबुद्धौ इति कृष्णे बुद्ध्याविष्टो वेदव्यासं महाभारतं प्रकटीकर्तुं तत्परो अभवद् इति आशयः - सम्पा.

५. भागवते इति भागवतपुराणे - सम्पा. ६. "अग्रे 'विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि ... विमुच्यते' इति विशेषेण कथनाद्" इति कि.पाठे अत्र अधिकः - सम्पा.

श्री-ब्रह्म-रुद्र-शेषाश्च वीन्द्रेन्द्रः[1] काम एव च ॥
कामपुत्रोऽनिरुद्धश्च सूर्यश्चन्द्रो बृहस्पतिः ॥(१०)॥
धर्म एषां तथा भार्या दक्षाद्या मनवस्तथा ॥
मनुपुत्राश्च ऋषयो नारदः पर्वतस्तथा ॥(११)॥
कश्यपः सनकाद्याश्च ब्रह्माद्याश्चैव देवताः ॥
भरतः कार्तवीर्यश्च वैन्याद्याश्चक्रवर्तिनः[2] ॥(१२)॥
गयश्च लक्ष्मणाद्याश्च त्रयो रोहिणिनन्दनः ॥
प्रद्युम्नो रौक्मिणेयश्च तत्पुत्राश्चानिरुद्धतः[3] ॥(१३)॥
नरः फाल्गुन इत्याद्या विशेषावेशिनो हरेः ॥
इहोक्तिरविशेषेण सामान्यत इति स्फुटम् ॥(१४)॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

न अस्ति इति अर्थः. आवेशान् गणयन्ति **श्री** इत्यारभ्य **फाल्गुनः** इत्यन्तेन. **विशेषावेशिनः** इति. अवतारकथावक्तृत्वेन कदाचित् सूतादीनां हृदये भगवदावेशो भवति, यथा "असौ गुणमय" (भाग.पुरा. १।२।३३) इत्यत्र "असौ" इति भगवन्तं प्रकटमिव उक्तवान् इति. सोऽपि आवेशो भवति इति तद्व्यावृत्त्यर्थं **विशेष**पदम्. तथाच एतेषु विशेषावेशित्वम् इति भावः. **इह** इति. **इह** मूले **अविशेषेण उक्तिः**. तथाच आवेशेन कस्यापि उक्तिः नास्ति इति अर्थः, सर्वेषां **सामान्यतः** साधारण्येन कथनात्. यद्वा **इह** इति. **अविशेषेण उक्तिः** इत्यस्यैव विवरणं **सामान्यतः इति स्फुटम्** इति भावः (३-१४).

प्रकाशः

कूर्मपुराणादौ साम्बजननार्थं तपः कुर्वाणः. **मनुः** इति स्वायम्भुवः. **काम-कामपुत्रौ** व्यूहरूपौ. **नरो** धर्मपुत्रः. **विशेषावेशिनः** इत्यत्र **विशेष**पदं सूतादिव्यावृत्त्यर्थं, कथावदनादिकाले तेष्वपि आवेशाद् इति. **अविशेषेण** इति. सङ्क्रमणतौल्येन, नतु कालविचारेण इति अर्थः. तत्र गमकम् आहुः **स्फुटम्** इति. "एते चांशकला" (श्लो. २८) इत्यत्र पदद्वयोक्त्या निर्णयात् तथा इति अर्थः (३-१४).

---

१. कवीन्द्रेति ग-घ. २. वैनाद्या इति ग. ३. तत्पुत्र इति ख-ङ.

स एव प्रथमं देवः कौमारं सर्गमाश्रितः ॥
चचार दुश्चरं ब्रह्मा ब्रह्मचर्यमखण्डितम् ॥६॥

प्रथमं ब्रह्मणः सनकादयः उत्पन्नाः. तेषु आवेशः[१]. तस्य प्रयोजनं **ब्रह्मचर्यम्** इति. नहि जीवस्य ब्रह्मचर्यं सम्भवति, इन्द्रियवत्त्वात्. यथा हि क्षुदग्निः आविर्भूतः सोढुम् अशक्यः एवं बीजाधार-कामाग्निरपि. तत्र यथा जलपानं तथा स्त्रीप्रेक्षणादि. यथा अन्नतृप्तिः तथा स्त्रिया रेतोनिवृत्तिः. तत्र मनसापि स्त्रीणाम् अस्मरणेन रेतोधारणं ब्रह्मचर्यम्. तद् भगवदावेशेनैव भवति इति प्रथमं सनत्कुमारावतारः. **सएव देवो** नारायणः. **कौमारं** सनत्कुमाररूपम्. स्त्रीभिः जलरूपैः[२] बीजे वृद्धे[३] यौवनं भवति ; तदभावात् तेषु सर्वदा कौमारमेव, कुत्सितो मारो यस्माद् इति. **दुश्चरम्** इति लोके अस्य चरणम् अप्रसिद्धम्. **अखण्डितं** यथा भवति तथा ; अस्य हि प्रतिक्षणं नाशसम्भवः ॥६॥

द्वितीयं तु भवायाऽस्य रसातलगतां महीम् ॥
उद्धरिष्यन्नुपादत्त यज्ञेशः सौकरं वपुः ॥७॥

स्वर्गादौ जगन्निर्माणे **अस्य** प्रपञ्चस्य भूयस्त्वं न भवेद् इति वराहेण

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

श्लोकं व्याचष्टे **एवं बीज** इति. वीर्याधिकरणकः कामाग्निः इति अर्थः. **तत्र** इति, बीजे इति अर्थः. **तथा स्त्रिया** इति, स्त्रिया कारणीभूतया इति भावः. **प्रथमं सनत्कुमार** इति, भगवदावेशो जातः इति अर्थः ॥६॥

द्वितीयम् इति मूलश्लोकं व्याचष्टे **स्वर्गादौ** इति. अवयवसंस्थानैः एव स्वर्गादयो जाताइति तत्रैव जगतो निर्माणे विस्तारो **न भवेद् इति वराहेण भूम्युद्धरणं द्वितीयं** प्रयोजनम् इति भावः. तथाच प्रथमं प्रयोजनं

प्रकाशः

द्वितीयम् इत्यत्र. एतस्य अवतारिका **स्वर्गादौ** इत्यादि. **न भवेद्**

---

१. तथाऽऽवेश इति ग. २. **स्त्रीभिः** कर्तृरूपाभिः **जलरूपैः** वृद्धिकरणरूपैः **बीजे वृद्धे** बीजवृद्धौ **यौवनं भवति** इति आशयः -सम्पा. जलरूपे इति क. ३. वृद्धयौवनमिति ख.

भूम्युद्धरणं **द्वितीयम्**. एषाम् अवताराणां विचारो द्वितीयस्कन्धे करिष्यते[१], अत्रतु उद्देशमात्रेण निरूपणम्. आदिवराहकल्पे निर्मिता भूमिः वराहकल्पे उद्धृता, तद् आह **रसातलगताम्** इति. विरोधपरिहारं च अग्रे वक्ष्यामः. (**उद्धरिष्यन्!**) उद्धारं करिष्यन् **सौकरं वपुः उपादत्त.** न अयं पुरुषावतारः किन्तु (**यज्ञेशः!**) यज्ञाधिष्ठातृ-धर्मरूप-भगवदवतारः[२], क्रियायाः तन्मूलकत्वात्. अयं मन्युरूपः क्षत्रिये[३] प्रतिष्ठितइति द्वितीयत्वम् ॥७॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

ब्रह्मचर्यं, द्वितीयम् इदम् इति अर्थः. अत्र सङ्ख्यावाचकानि पदानि अवतारस्य प्रयोजनस्य च सङ्ख्याबोधकानि ज्ञेयानि सर्वत्र. **यज्ञेशपदं** व्याचष्टे **नाऽयम्** इति. **अयं मन्युरूप** इति, **मन्युरूपो** यज्ञरूपः. अयमर्थः — यज्ञेषु मुख्यो

प्रकाशः

इति, स्वर्गादिः कर्मभूमित्वाभावात् न भवेद् इति अर्थः. **द्वितीयस्कन्धे** इति सप्तमाध्याये. **आदिवराह** इत्यादि. एतच्च तृतीयस्कन्धे त्रयोदशाध्याये वर्तते. आदिस्तु सर्वेषां च कल्पानाम् आधिदैविकं रूपं, "सृजतोर्मोक्षनिर्वार्भिः प्लाव्यमाना रसां गता" (भाग.पुरा. ३।१३।१७) इति वाक्यात्. **वराहकल्पे** वराहजन्मदिने **निर्मिता. अग्रे** इति तृतीयस्कन्ध-त्रयोदशाध्याये. **विरोधेति.** अत्र विराजो वराहोत्पत्तिः तत्र ब्रह्मणः इति विरोधः, तत्परिहारम्. अत्र "प्रथम-द्वितीया"दिशब्दो निर्देशमात्रापेक्षया श्रीधरीये उक्तः ; तद् न किन्तु हेत्वन्तरेण इति तं बोधयितुम् आहुः **अयं मन्युरूपः** इत्यादि. "पशूनां वा एष मन्युर्यद् वराहः" (तैत्ति.ब्रा. १।७।९।४) इति श्रुतेः तद्रूपः

लेखः

द्वितीयं तु इत्यत्र. अत्र आशङ्का : ननु स्वर्गएव तपः कुतः न आरब्धम्? अतः आहुः **स्वर्गादौ** इति. **भूयस्त्वं न भवेद्** इति. तत्र कर्माभावाद् जगद्वत् सौकर्याभावाद् अत्रैव तद् इति अर्थः. **आदिवराहकल्पे** इति. ... . **नायं पुरुषावतारः** इति. अत्र पुरुषांशत्वमात्रमेव अन्यावतारवत् न अपितु यज्ञाधिष्ठातृ-धर्मरूपत्वम् अपि इति अर्थः ॥७॥

---

१. करिष्यति इति क-ग-घ. २. भगवदावेश इति ग. ३. क्षत्रियै इति ग.

तृतीयमृषिसर्गञ्च देवर्षित्वमुपेत्य सः ॥
तन्त्रं सात्त्वतमाचष्ट नैष्कर्म्यं कर्मणां यतः ॥८॥

नारदे हि भगवदावेशः. ऋषयो हि मन्त्रद्रष्टारः. तेच कर्माङ्गभूताः इति **तृतीयत्वं** ; द्रव्य-देवता-मन्त्रभेदेन वा. **सः** पुरुषएव प्रथमतः **ऋषिसर्गम् उपेत्य,** तत्र अवतारकार्यम् अपश्यन् ततो **देवर्षित्वम् उपेत्य** नारदे आवेशं प्राप्य **सात्त्वतं** वैष्णवं **तन्त्रं** पञ्चरात्ररूपम् **आचष्ट,** भगवत्परिचर्यानिरूपणं

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

अश्वमेधः, सच क्षत्रियेणैव कर्तव्यः. तथा अयमपि यज्ञेशः, एतस्य अधिकरणं क्षत्रियः. तथाच "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः" (ऋक्संहि. १०।९०।१२) इत्यत्र प्रथमं ब्राह्मणस्य अवतरणं, द्वितीयं क्षत्रियस्य इति. एवञ्च दैविकद्वितीयाधिकरणकत्वाद् अयमपि द्वितीयावतारत्वेन कथितः इति भावः ॥७॥

तृतीयमृषिसर्गम् इति श्लोकं व्याचष्टे **नारदे हि** इति. **तेच** इति. **कर्माङ्गभूताः** कर्मकरणीभूताः त्रिजन्मानो जाताः इति अयमपि ऋषित्वात् त्रिजन्मा **इति तृतीयत्वेन** उक्तः इति अर्थः. तृतीयत्वेन उक्तौ हेत्वन्तरम् आहुः **द्रव्य** इति. ऋषित्वं मन्त्रद्रष्टृत्वं, तथाच **द्रव्यदेवतामन्त्र** इत्यत्र

प्रकाशः

अश्वमेधादिरूपेण क्षत्रिये प्रतिष्ठितः इति ब्राह्मणोत्तरभावित्वाद् द्वितीयत्वम् इति अर्थः. नारदस्य पूर्वभावित्वात् सङ्ख्या विरुध्यते इत्यतः एवम् उक्तम्. एवम् अग्रेऽपि बोद्धव्यम् ॥७॥

तृतीयम् इत्यत्र. **इति तृतीयत्वम्** इति. अधिकरण-कर्मणोः अपेक्षया[१] तथा इति अर्थः. अधिकरणत्वस्य नारदेऽपि सत्त्वात् पक्षान्तरम् आहुः **द्रव्येत्यादि. तेन** इति परिचरणेन ॥८॥

लेखः

तृतीयम् इत्यत्र. **ते च कर्माङ्गभूताः** इति. एवञ्च कर्माणां वेदत्रयप्रतिपाद्यत्वेन तत्तत्पूरका सङ्ख्या अत्र अङ्गीकृता इति भावः, एवम्

१. अपेक्षतया इति मुद्रितपाठः. कि.पाठे तु एवम् - सम्पा.

न भगवद्व्यतिरेकेण अन्यशक्यम् इति. **(यतः!) कर्मणां (नैष्कर्म्यं!) प्रोहनाशः** तेन इति. परिचर्यायां सर्वाणि कर्माणि अङ्गभावं भजन्ते. परिचर्यायाः भगवद्भक्तित्वेन भगवत्त्वे सर्वेषामेव **नैष्कर्म्यम्** ॥८॥

तुर्ये धर्मकलासर्गे नरनारायणावृषी ॥
भूत्वाऽऽत्मोपशमोपेतम् अकरोद् दुश्चरं तपः ॥९॥

नर-नारायणयोः चतुर्थाश्रम-धर्मप्रतिपादकत्वेन तुरीयत्वम्. अथवा ब्रह्मचर्य-यज्ञ-भगवत्परिचर्योपशमाः क्रमेण आश्रमधर्माः. **धर्मकलाः**[१] श्रद्धादयः,

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

मन्त्रस्तु तृतीयेन उक्तः इति द्रष्टृत्वेन उक्तः इति भावः. **अङ्गभावम्** इति, गौणत्वम् इति अर्थः. **परिचर्यायाः** इति. भक्तिस्तु भगवान् एव इति भगवत्त्वम् ॥८॥

तुर्ये धर्मकला इति श्लोकं व्याचष्टे **नरनारायण** इति.

प्रकाशः

तुर्ये धर्मकलेति श्लोकं व्याचक्षते **नरनारायणे**त्यादि. अत्र तुरीयत्वोपपादनाय **ब्रह्मचर्ये**त्यादि फक्किका अपेक्षिता, तद् अग्रे **अथवा** इत्यादि, **धर्माकरा** इत्यत्र **धर्मकला** — इत्येवं क्रमः पाठश्च प्रतिभाति. पक्षान्तरम् उपपादयन्ति **श्रद्धे**त्यादिना **द्विविध** इत्यन्तैः. **श्रद्धादयः** स्वायम्भुव-दक्षसुताः धर्मपत्न्यः. ताः च धर्मकलाः, "अर्धो वा एषः आत्मनो यत् पत्नी" (तैत्ति.ब्रा. ३।३।३।५) इति श्रुतेः. **द्विविधः** इति,

लेखः

अग्रेऽपि. **प्रोह** इति. प्रोहो बीजम्. **तेन** परिचर्यात्मक-कर्मणा अन्य**कर्मणां प्रोहनाशः** इति अर्थः ॥८॥

तुर्ये इत्यत्र. **अथवा** इति. तथाच उपशमात्मक-तुरीयधर्मप्रतिपादकत्वात् वा तुरीयत्वम्. अयं क्रमः प्रथमश्लोकम् आरभ्य अपि सिद्ध्यति— प्रथमाश्रमधर्म-प्रतिपादकत्वात् प्रथमत्वं कौमारावतारस्य, यज्ञात्मक-द्वितीयाश्रमधर्म-प्रतिपादकत्वात् शूकरस्य द्वितीयत्वम्, एवम् अग्रे.

१. धर्माकरा इति पाठः प्रकाशे ; धर्मकला इति तैः सम्भावितः - सम्पा.

तासां **सर्गे** जाते पश्चात् मूर्तीभूतधर्मरूपा मूर्तिः. धर्मस्तु वेदमूलः इति मूर्त्या **ऋषिरूपेण आविर्भूतौ, पारमहंस्यधर्मो द्विविधः इति. सहस्र-कवच-वधार्थम्** इति अन्यत्र. **नारायणो** अवतारः **नरे** आवेशः, तयोः **तपो** ज्ञानसहितम् इति आह **आत्मोपशमम्** इति. **आत्मनः उपशमः** शान्तिः ज्ञानं ज्ञानसाध्या वा. सर्वत्र हि तपः क्रोधसहितं , शान्तिसहितन्तु लोके दुर्लभम् इति **दुश्चरम्** इति उक्तम् ॥९॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

वराहावतार-नरनारायणावतारयोः प्रकारभेदम् आहुः **पश्चान्मूर्तीभूत** इति. **मूर्तीभूतो** यो **धर्मः** तद्रूपा **मूर्तिः पश्चाद्** उक्ता इति अर्थः. तथाच वराहावतारस्तु यज्ञाधिष्ठातृ-धर्मरूप-भगवदवतारः इति पूर्वमेव उक्तम् इति अर्थः. वराहात् प्रकृते वैलक्षण्यम् आहुः **धर्मस्तु** इति. वराहस्तु धर्ममूर्तेः अवतारः, एतौतु धर्ममूर्तीएव इति तुशब्देन पूर्ववैलक्षण्यम् उक्तम्. **वेदमूलः** इति ऋषित्वेन आविर्भावे हेतुः उक्तः. अयमर्थः— धर्मस्य मूलं वेदः, तद्द्रष्टारः ऋषयः इति तत्त्वेन आविर्भूतौ इति अर्थः. रूपद्वयेन आविर्भावे हेतुम् आहुः **पारम** इति. एको भक्तिः अपरो वैराग्यम् इति द्वैविध्यम्. यद्वा असंस्कृतेन शुकेन कृतः एकः, अपरः क्रमप्राप्तः. तथाच धर्मो द्विविधः इति रूपद्वयेन आविर्भावः इति अर्थः. हेत्वन्तरं न इति आहुः **सहस्र** इति. **अन्यत्र** अन्यमते इति अर्थः. **ज्ञानसाध्या** इति, मुक्तिः इति भावः ॥९॥

पञ्चमः कपिलः इति श्लोकं व्याचष्टे **साङ्ख्यस्य** इति.

प्रकाशः

भक्तियुक्तः एकः वैराग्ययुक्तो अपरः इति तथा. तथाच धर्मचातुर्विध्यात् तुरीयत्वम् इति अर्थः. **अन्यत्र** इति, न अत्र तद् विवक्षितम् इति अर्थः. **ज्ञानसाध्या** इति सुखरूपा ॥९॥

लेखः

अवतारद्वयकथनप्रयोजनम् आहुः **पारमहंस्य** इति. **सहस्रकवच** इति. ... ॥९॥

पञ्चमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम् ॥
प्रोवाचाऽऽसुरये साङ्ख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम् ॥१०॥

साङ्ख्यस्य वेदानन्तरभावित्वाद् आश्रमानन्तरत्वेन **पञ्चमत्वम्**. पूर्वं हि पुराणेषु साङ्ख्यं सिद्धं ; तत् पुराणानाम् अप्रचाराद् योगादिभिः साङ्कर्यात् च संन्यासस्य च अङ्गभूतस्य अभावात् **साङ्ख्यं कालेन विप्लुतम्**. पुनः कालविप्लवशङ्कां वारयति **सिद्धेशः** इति. सिद्धियुक्ताः सिद्धाः, तेषां मनःसिद्ध्यैव न विप्लुतं भविष्यति इति भावः. **आसुरिः** ऋषिः. इदं ज्ञानं स्त्री-शूद्रसाधारणम् इति प्रवर्तकस्य तादृशं नाम. सङ्ख्या हि पदार्थानाम् असाङ्कर्यप्रतिपादिका भवति साधर्म्य-वैधर्म्यरूपा. तस्याः फलम् आह **तत्त्वग्रामविनिर्णयम्** इति, तत्त्वानां समूहस्य विशेषेण निर्णायकम् ॥१०॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

न च अयं वैदिकधर्मो नवा आश्रमधर्मः इति भावः. **इदम्** इति. प्रवर्तकस्य कपिलस्य **सिद्धेशः** इति नाम्ना अयमर्थः सूचितः इति भावः. सिद्धिस्तु स्त्री भवति इति स्त्रीसाधारणम्. योगस्य गौणं फलं सिद्धिः इति शूद्रोऽपि गौणः, तत्साधारणम्. यद्वा 'कपिल'पदस्य वर्णद्वयात्मकवस्तु-वाचकत्वाद् उभयाधिकारः **कपिलपदेन** द्योत्यते इति अर्थः. **साधर्म्य** इति. यथा पृथिव्यप्तेजसां रूपवत्त्वं साधर्म्यं, यथा पाकजरूपवत्त्वम् अप्तेजसोः वैधर्म्यम्. तथाच साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यां पृथक्पृथक्तया ज्ञानं भवति इति **असाङ्कर्य-प्रतिपादिका भवति** इति अर्थः ॥१०॥

प्रकाशः

तादृशम् इति. कपीन् विषयात्मकान् लाति इति स्त्री-शूद्रयोः पापयोनित्वेन विषयात्मकत्वात् तयोः हितम् **इति** ज्ञापनाय **कपिलः** इति **नाम** इति अर्थः ॥१०॥

लेखः

साङ्ख्यस्य इति. आश्रमपर्यन्तं वेदोक्तधर्मप्राप्तेः साङ्ख्यस्य तदानन्तर्यं ज्ञेयम् ॥१०॥

षष्ठमत्रेरपत्यत्वं वृतः प्राप्तोऽनसूयया ॥
आन्वीक्षिकीमलर्काय प्रह्लादादिभ्य उक्तवान् ॥११॥

योगस्य षष्ठत्वात् तत्प्रवर्तकम् आह **षष्ठम्** इति. **अनसूयया** "मत्सदृशव्याजेन मामेव वृतवती" इति ईर्ष्याभावेन ; मात्रा वा. **आन्वीक्षिकी** योगपुरस्सरा आत्मविद्या. **अलर्को** राजा, स हि राजसः. तत्र शास्त्रपरिनिष्ठायाः सन्दिग्धत्वात् **प्रह्लादादिभ्यः उक्तवान्**. प्रह्लादस्तु स्पष्टः. एवं ब्राह्मणानां षड्विधत्वम् उक्तम् ॥११॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

षष्ठमत्रेरपत्य इति श्लोकं व्याचष्टे **योगस्य** इति. यद्यपि साङ्ख्य-योगयोः न भेदः, "एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति" (भग.गीता ५।५) इति वाक्यात्, तथापि षट्शास्त्रमध्ये भिन्नतया गणितत्वाद् एतस्य प्रवर्तकं भिन्नतया आह इति अर्थः. **अनसूयया** इति. असूयायां हेतुः **मत्सदृश** इति. ईश्वरसदृशपुत्रेच्छया उभाभ्यां तपः कृतम्. तथाच ईश्वरस्य मनसि इदं न आगतं यत् "मम पुत्रस्य मिषेण मामेव पुत्रलाभार्थं याचितवती" इति. कपटेन वरयाचने असूया भवति इति अर्थः. तथाच कपटेन वरयाचनेऽपि भगवन्मनसि असूया न जाता इति अपत्यत्वं प्राप्तः इति भावः. असूयायाः अभावो अनसूया. यथा पापाभावो अपापम् इत्यत्र अभावो नञर्थः तथा अत्रापि इति. **मात्रा वा** इति. अनसूया मातुः नाम, तथाच तया पुत्रत्वेन वृतः. **प्रह्लादस्तु** इति. प्रकर्षेण आह्लादयति इति सुखजनकत्वात्

प्रकाशः

ततः सप्तमः इत्यत्र. **ब्राह्मणानां षड्विधत्वम्** इति. यद्यपि वराहस्य क्षत्रिये प्रतिष्ठितत्वं तथापि प्राकट्यं ब्रह्मणः सकाशाद् ब्रह्मभावेन इति सङ्ख्यापूर्तिः ॥१२॥

लेखः

षष्ठम् इत्यत्र. **षष्ठत्वाद्** इति. चतुर्वेदानन्तर्येण अप्राप्त्या योगस्य पञ्चमत्वं पूर्वम् उक्तम्. साङ्ख्यस्य च योगानन्तरभावित्वात् साङ्ख्यस्य वा षष्ठत्वं, श्रुति-पुराणयोः श्रूयते धर्मशास्त्रयोगाणां साङ्ख्ये इति. श्रुति-पुराण-पाशुपत-धर्मशास्त्र-साङ्ख्य-योगाणाम् इति वा षष्ठत्वम् ॥११॥

षट्कर्माणि ब्राह्मणे प्रसिद्धानि, त्रीणि क्षत्रिये. तदर्थं त्रीन्[१] आह यज्ञ-ऋषभ-पृथुरूपान् ; शत्रुजयो धर्मनिष्ठा प्रजापालनञ्च इति त्रिषु प्रतिष्ठितम्. अतो भिन्नप्रक्रमं वक्तुं **ततः** इति आह.

ततः सप्तम आकूत्यां रुचेर्यज्ञोऽभ्यजायत ॥
स यामाद्यैः सुरगणैरपात् स्वायम्भुवान्तरम् ॥१२॥

आकूतिः मनुकन्या. **स च यज्ञो रुचेः** जातोऽपि पुत्रिकापुत्रः. यज्ञोहि ब्राह्मणैः क्रियमाणः क्षत्रिये फलति. तथा **सोऽपि यामाद्यैः (सुरगणैः !)** प्रथम-मन्वन्तर-देवादिभिः चतुर्विधैः समं **(स्वायम्भुवान्तरम् अपात्!)** तपसि स्थितम् अनुरक्षां विधाय तदनन्तरं पालितवान् इति अवतारप्रयोजनम्. प्रियव्रतादयस्तु कल्पान्तरे राजानः प्रथमम् असमर्थाः इति अग्रे उपपादयिष्यते ॥१२॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

सात्त्विकत्वेन **स्पष्ट**एव इति अर्थः ॥११॥

यज्ञो हि इति. अश्वमेधादिषु ब्राह्मणैः सर्वं कर्म क्रियते, फलन्तु यजमाने क्षत्रिये भवति इति. तथा अयमपि ब्राह्मणाद् जातो देवादिभिः मिलित्वा मन्वन्तरं रक्षितवान् इति रक्षाख्यं फलं क्षत्रिये उत्पादितवान्. तथाच दोहित्रत्वम् एव प्रधानं जातं, न पुत्रत्वम् इति **स च** इत्यारभ्य **पालितवान्** इत्यन्तस्य अयम् आशयः. **इत्यवतारप्रयोजनम्** इति. एतादृशः पालनम् अवतारव्यतिरेकेण न भवति इति भावः ॥१२॥

लेखः

ततः इत्यत्र. **पुत्रिकापुत्रः** इति. मनोः क्षत्रियत्वात् तत्पुत्रिकापुत्रो अतः **क्षत्रिये फलति** इति अर्थः. **चतुर्विधैः** इति. ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा महौजसः च इति चतुर्भिः इति अर्थः. प्रियव्रतादयः पालयिष्यन्ति इति किम् अनेन इत्यतः आहुः **प्रियव्रतादयः** इति. **प्रथमम्** इति यज्ञोत्पत्तेः पूर्वम् इति अर्थः. तथाच प्रियव्रतादीनां सामर्थ्यमपि यज्ञाधीनमिति यज्ञेन विना असिद्धिः इति भावः ॥१२॥

---

१. त्रीण्याहेति क-ख.

अष्टमे मेरुदेव्यां तु नाभेर्जात उरुक्रमः ॥
दर्शयन् वर्त्म धीराणां सर्वाश्रमनमस्कृतम् ॥१३॥

स्वस्थे हि देशकाले सर्वाश्रमधर्माः[1] इति यज्ञानन्तरम् ऋषभकथा. पूर्वोक्तक्रमस्य उत्तरत्र विवक्षितत्वाद् **अष्टमादिपदप्रयोगः**. **मेरुदेवी** मेरुदुहिता. मातृपुत्रत्वं वारयितुं तुशब्दः, प्रतिपक्षशङ्काभावार्थं वा. अयन्तु गुणावतारस्य विष्णोः अवतारः, तद् आह **उरुक्रम** इति. (**दर्शयन् वर्त्म धीराणाम्!**) ऋषभनिरूपित-संन्यासधर्मे मुख्यं धैर्यं साधनम्. अन्त्याश्रमत्वात्[2] **सर्वाश्रमनमस्कृतम्**. एषा[3] हि पराकाष्ठा निवृत्तिमार्गे. नतु अन्त्याश्रमित्वेन पाषण्डत्वसम्भावना इति **नमस्कृतम्** ॥१३॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

अष्टमे मेरुदेव्याम् इति श्लोकं व्याचष्टे **स्वस्थे हि** इति. **पूर्वोक्त** इति. अयम् अर्थः— पूर्वे सर्वत्र सङ्ख्यावाचकपदैः अवतार-प्रयोजनयोः सङ्ख्या उक्ता सा अत्रापि विवक्षिता. तथाच अयम् अष्टमो अवतारः, अन्त्याश्रमधर्मदर्शनं च अष्टमं प्रयोजनम् इति **अष्टमादिप्रयोगेण** उक्तम् इति भावः. नतु अन्त्येति एकदण्डादीनां वेदबाह्यत्वेन पाषण्डता, तथाच एकदण्डादिकं न उक्तम् इति **नमस्कृतपदेन** सूचितम् इति भावः ॥१३॥

ऋषिभिः याचितः इति श्लोकं व्याचष्टे **पृथुस्तु** इति. **पृथोः** इति, **पार्थिवं वपुः** इति कथनाद् इति अर्थः. पार्थिवस्य इदं **पार्थिवम्** इति. तथाच **पार्थिवं वपुः भेजे** इति कथनाद् अयम् आवेशः इति

प्रकाशः

अष्टमे इत्यत्र. **प्रतिपक्षशङ्काम्** इति बुद्धावतारवद् वेदविरुद्धशङ्काम्. **अन्त्याश्रमित्वात् च** इति. श्वेताश्वतरोपनिषदि अन्त्याश्रमः प्रसिद्धः, तद्वत्त्वाच्च **चकारेण** धैर्यात्. सर्वाश्रमनमस्कृतत्वे बीजम् आहुः **एषा हि** इत्यादिना ॥१३॥

लेखः

अष्टमे इत्यत्र. ... ॥१३॥

---

१. सर्ववर्णाश्रमेति क. २. अन्त्याश्रमित्वात् च इति पाठः प्रकाशे - सम्पा. ३. एषामिति ग.

ऋषिभिर्याचितो भेजे नवमं पार्थिवं वपुः ॥
दुग्धेमामोषधीर्विप्रास्तेनायं स उशत्तमः ॥१४॥

पृथुस्तु आवेशी, (**पार्थिवं!**) पृथोः सम्बन्धि **वपुः** इति वचनात्[१]. अयन्तु पुमानेव, **स** इति वचनात्. "श्रेयः प्रजापालनमेव राज्ञाम्" (भाग.पुरा. ४।२०।१४) इति वचनात् सर्वात्मकत्वाच्च भगवतः सर्वहितकारी धर्मः – ऋषभः धर्मादपि उत्तमः – इति पृथोः नवमत्वम्. ननु कथं वेनाद् अवतारः? तत्र आह **ऋषिभिः याचितः** इति. तत्रापि न साक्षात् किन्तु पृथुशरीरे. **दुग्धा** अदुग्ध, दोग्धा वा ; अलौकिकत्वार्थं छान्दसपदप्रयोगः. **इमाम् ओषधीः** इति द्विकर्मकं, कर्मद्वयस्यापि अभीष्टत्वात्. एवं सर्वेषु द्विकर्मकेषु

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

अर्थः. आवेशित्वे हेतुः **"श्रेयः" इति वचनाद्.** राज्ञा प्रजापालनमेव कर्तुं शक्यं, दोहनन्तु आवेशादेव इति हेतोरपि आवेशः इति अर्थः. आवेशित्वे हेतुः **सर्वात्मकत्वाच्च** इति. तथाच भगवान् सर्वात्मा, अत्र आवेशे का अनुपपत्तिः! इति भावः. **नवमपदसूचितम्** अर्थम् आहुः **सर्वहितकारी** इति. अयम् अर्थः— 'नव'पदं नवीनपदवाचकम्. तथाच सर्वहितजनकत्वात् **नवीनम्** इति 'नव'पदं सङ्ख्यावाचकं श्लेषेण नूतनत्वं सूचयति इति भावः. यद्वा अयं पूर्वधर्माद् उत्तमः इति अष्टमाद् अधिकसङ्ख्यावान् जातः इति भावः. **एवं सर्वेषु** इति. अयम् अर्थः— लोके "तथा युक्तं चानीप्सितम्" (पाणि.सूत्र १।४।५०) इत्यनेन अनीप्सितस्य कर्मत्वं भवति. भागवतन्तु अलौकिकमिति यत्र अस्मिन् ग्रन्थे द्विकर्मकधातुप्रयोगः

प्रकाशः

ऋषिभिः इत्यत्र. **कर्मद्वयस्य** इत्यादि. "अकथितं च" (पाणि.सूत्र १।४।५१) इति सूत्रे अपादानादिविशेषैः अविवक्षितस्य कर्मसञ्ज्ञाविधानेऽपि उदासीनस्य कर्मत्वादर्शनाद् अकथितेऽपि ईप्सितत्वम् ईष्यते एव, अन्यथा अयोग्यस्यापि कर्मत्वेन ग्रहणापत्तेः अतः तथा इति अर्थः ॥१४॥

---

१. वचनाच्चेति क-ख.

बोद्धव्यम्. (**विप्राः!**) विशेषेण पूरकाइति सम्बोधने भवद्भिरेव बहुदोहेन[१] सर्वं पूरितम् इति ज्ञापितम्. दोहनमेव अवतारकार्यं न जीवसाध्यम् इति **तेन अयं सः** तेन हेतुना पृथुः नारायणः इति अर्थः. विशेषम् आह **उशत्तमः** एवं सर्वोपकारको अवतारान्तरेष्वपि[२] दुर्लभः इति अतिकमनीयः इति अर्थः ॥१४॥

एवं क्षत्रियभावेन त्रितयं निरूप्य वैश्यभावेन चतुष्टयम् आह **रूपम्** इत्यादित्रिभिः.

रूपं स जगृहे मात्स्यं चाक्षुषान्तररसम्प्लवे ॥
नाव्यारोप्य महीमय्याम् अपाद् वैवस्वतं मनुम् ॥१५॥

वञ्चनेन कार्यसिद्धिः वैश्यता. "सत्यानृतन्तु वाणिज्यम्" (भाग.पुरा. ७।११।२०) इति वचनाद् एकं वञ्चकम् अपरं न, विपरीतञ्च. (**चाक्षुषान्तरसम्प्लवे!**) चाक्षुष-मन्वन्तरानन्तरं प्रलयो बाधितइति मायिकत्वं

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

तत्र कर्मद्वयमपि अभीष्टमेव ज्ञेयं, नतु एकमपि अनीप्सितम् इति. तथाच यथा **दुग्धा** इति छान्दसः प्रयोगः तथा द्वितीयं कर्मापि ईप्सितत्वेनैव कर्मसञ्ज्ञकं, नतु अनीप्सितत्वेन इति भावः. **विप्रपदस्य** अर्थम् आहुः **विशेषेण** इति ॥१४॥

रूपं स इत्यत्र. **अपरम्** इति. मन्वन्तरेषु अयं विवस्वतः सकाशाद् जातः एव भवति. तथाच प्रलयस्य मायिकत्वे अग्रिममन्वन्तरे एतस्य उत्पत्तिः न स्यात्, प्रलयस्य मायिकत्वेन अवास्तवत्वाद् इति भावः. **चाक्षुष** इति. चाक्षुषस्य महान् प्रलयस्तु अष्टममारभ्य चतुर्दशपर्यन्तं न

प्रकाशः

रूपं स इत्यत्र. **एकम्** इति रूपम्. **अपरम्** इति वचनम्. **विपरीतम्** इति वैश्याद् विपरीतम्. वैश्ये हि रूपम् अवञ्चकं वचनं वञ्चकं, प्रकृतेषु तु रूपं वञ्चकं वचनं मात्स्य-कौर्मायुर्वेदरूपम् अवञ्चकम् अतः तथा इति अर्थः. **बाधितः** इति. कल्पसमाप्तौ दैनन्दिनप्रलयात्

---

१. बहुदोहने इति ख-ग. २. अवान्तरेष्विति क-ग-घ.

केचिद् आहुः. वस्तुतस्तु स्वायम्भुवादीनां क्रमनियमेन न प्रतिकल्पं चतुर्दशत्वम्, अधिकारिणां मुक्तिसम्भवात्. तस्मात् चाक्षुषएव कदाचित् चतुर्दशो भवति. कल्पेषु सात्त्विकादिविभेदात् मुख्यस्य प्राथम्यम्. सात्त्विकानि चत्वारि, इतरयोः

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

भवति इति षष्ठे बाधितः इति अर्थः. **अधिकारिणाम्** इति, मन्वादीनाम् इति अर्थः. अयम् अर्थः— स्वायम्भुव-वैवस्वतादीनां मुक्तिरपि भवति इति यस्यैव अधिकारे मुक्तिः जाता तदधिकारकं मन्वन्तरमपि न प्रवर्तते. तथाच कदाचित् स्वायम्भुवात् कदाचित् वैवस्वात् कदाचिद् उत्तमा प्रवृत्तिः इति भावः. **मुख्यस्य** इति, सात्त्विकस्य इति अर्थः. **इतरयोः पञ्च**

प्रकाशः

कल्पस्य च चतुर्दशमन्वन्तरात्मकत्वात् तत्समाप्तिः चतुर्दशमन्वन्तरोत्तरं भवति, चाक्षुषस्तु षष्ठः इत्यतो बाधितः इति अर्थः. **केचिद्** इति श्रीधरादयः. **क्रमनियमेन** इति. वैवस्वतोत्तरं सावर्णि-रौच्य-भौत्यमेकसावर्णि-ऋतु-ऋतुधाम-विष्वक्सेनाः मात्स्ये. तथैव ‘‘सावर्णाः पञ्च रौच्यश्च भौत्यस्त्वागामिनस्त्वमी’’ (मार्क.पुरा. । ।) इति मार्कण्डेये (द्रष्ट. वायुपुरा. २।१।४) च अन्येषां क्रमान्तरेण दर्शनात्. **अधिकारिणाम्** इति भक्तत्वाद् इति शेषः. तथाच उक्तं मात्स्ये ‘‘स्वकीर्तये सर्वमिदमुत्पाद्य सचराचरं, कल्पक्षये विनिर्वृत्ते मुच्यन्ते ब्रह्मणा सह’’ (मत्स्य.पुरा. १।९।३८) इति. तथापि चाक्षुषस्य चतुर्दशत्वे का वा युक्तिः इत्यतः आहुः **कल्पेषु** इत्यादि. तथाच सात्त्विके सात्त्विकमन्वन्तरस्य, राजसे राजसस्य इत्येवं प्राथम्ये कदाचिद् राजसस्यापि प्राथम्यात् चाक्षुषस्यापि चतुर्दशत्वम् अविरुद्धम् इति अर्थः. **मन्वन्तरान्तरे**

लेखः

रूपम् इत्यत्र. **प्रतिकल्पं चतुर्दशत्वम्** इति. सङ्ख्यायाः अपेक्षाबुद्ध्यात्मकत्वाद् यत्र अपेक्षाबुद्धिविषयत्वं यथा तत्र तथा प्रतीतिः इति भावः. ननु प्रलयस्य वास्तवत्वे ऋषि-राजादीनां कथं तत्र उक्तिः संगच्छताम् अतः आहुः **अधिकारिणाम्** इति. ननु तथापि प्राथम्यं कथम् उपपाद्यताम् अतः आहुः **मुख्यस्य** इति. सात्त्विकस्य कल्पस्य इति अर्थः. **इतरयोः** इति, राजस-तामसयोः इति अर्थः. नौका सा पृथिवी एव

पञ्च पञ्च. अतो बहुवाक्यानुरोधाद् उपपत्तिसम्भवाच्च न प्रलयस्य मायिकत्वम्. मार्कण्डेयदृष्टस्य तु तत्रैव स्फुटं प्रतिपादितमिति अदोषः. (**महीमय्यां नावि!**) पृथिव्याः देवरूपत्वाद् नौकारूपतापि भवति. सच मन्वन्तरान्तरे (**वैवस्वतं!**) विवस्वतः उत्पन्नएव अस्मिन् मन्वन्तरे अधिकारी भवति, अतोऽपि न मायिकत्वम्. (**अपाद्!**) भक्तपरिपालनम् अवतारधर्मः. **वैवस्वतमनुः** इति भाविनी सञ्ज्ञा ॥१५॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

पञ्च इति, रजस्तमसोः इति अर्थः. तथाच सात्त्विककल्पेषु मन्वन्तराणां मध्ये स्वायम्भुवस्वारोचिषा उत्तमैरेव, न अन्यतमस्य प्राथम्यम् इति अर्थः. एवञ्च राजसादिकल्पेषु कदाचित् चाक्षुषमन्वन्तरं चतुर्दशमपि भवति इति चतुर्दशमन्वन्तरस्य प्रलयाधिकरणत्वात् प्रलयो न बाधितः इति यथार्थएव प्रलयः इति **वस्तुतः** इत्यारभ्य **न प्रलयस्य मायिकत्वम्** इत्यन्तस्य अर्थः. तर्हि मार्कण्डेयदृष्टस्य कथं मायिकत्वम् अतः आहुः **मार्कण्डेय** इति. प्रामाणिकत्वाद् इति भावः. सिंहावलोकनेन प्रलयस्य अमायिकत्वे हेतुम् आहुः **स च मन्वन्तर** इति. अग्रिमभाविम् इति अर्थः ॥१५॥

प्रकाशः

उत्पन्नः इति. उत्तमतामसवद् इति अर्थः. **भाविनी सञ्ज्ञा** इति. वाग्दानोत्तरं विवाहाभावेऽपि 'स्नुषा' इतिवद् इति अर्थः ॥१५॥

लेखः

तद्रूपेण जाता, नतु भिन्नैव इत्यत्र उपपत्तिम् आहुः **देवरूपत्वाद्** इति. **स च** सत्यव्रतः इति अर्थः. **मन्वन्तरान्तरे** पूर्वमन्वन्तरे. **अस्मिन्** वैवस्वतमन्वन्तरे इति अर्थः. **विवस्वतः** इति पञ्चम्यन्तम्. एतत्प्रलयद्रष्टुः एव तत्रापि सत्त्वात् **न मायिकत्वं प्रलयस्य** इति भावः. **भाविनी सञ्ज्ञा** इति. चाक्षुषमन्वन्तरे हि प्रलये मत्स्यावतारः, तदानीं च 'सत्यव्रत' इत्येव सञ्ज्ञा. 'वैवस्वत' इति सञ्ज्ञा तु भाविनी, "स तु सत्यव्रतो राजा ज्ञानविज्ञानसंयुतो, विष्णोः प्रसादात् कल्पेऽस्मिन् आसीद् वैवस्वतो मनुः" (भाग.पुरा. ८।२४।५८) इति विष्णोः प्रसादात् ॥१५॥

सुरासुराणामुदधिं मथ्नतां मन्दराचलम् ॥
दध्रे कमठरूपेण पृष्ठे एकादशे विभुः ॥१६॥

कापट्येनैव अमृतमथनार्थं प्रवृत्तेः कूर्मस्यापि वञ्चक-हितकारित्वाद् अत्र प्रवेशः. पूर्वकल्पस्थत्वात् मत्स्यस्य न क्रमो बाधकः. वञ्चनाधिक्याद्

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

सुरासुराणाम् इति श्लोकं व्याचष्टे **कापट्येन** इति. कापट्यन्तु लक्ष्मीं कौस्तुभं च स्वयं गृहीतवान्, विषादिकम् अन्येभ्यः प्रायच्छद् इति. ननु "रूपं स" (श्लो. १५) इत्यस्मिन् श्लोके 'दशे' इति सङ्ख्या नोक्ता, **सुरासुर** इत्यत्र **एकादशे** इति सङ्ख्या उक्ता ; तथाच नवमाग्रे 'दशम' इति वक्तव्ये **एकादश** इत्युक्तम् ; एवञ्च क्रमो व्युत्क्रमएवेति क्रमस्य बाधकताम् आशङ्क्य आहुः **पूर्वकल्प** इति. पूर्वकल्पस्थितेन

प्रकाशः

सुरासुराणाम् इत्यत्र. ननु मत्स्यस्य वञ्चकहितकारित्वं मूले स्पष्टं, न कूर्मस्य इति कथम् अस्य वैश्यकोटौ निवेशः इत्यतः आहुः **कापट्येन** इत्यादि. **कापट्येन** इति, "क्लेशभाजो भविष्यन्ति दैत्या यूयं फलग्रहाः" (भाग.पुरा. ८।६।२३) इति [१]वाक्यबोधितेन. ननु मत्स्यावतारं चाक्षुषे प्रलये उक्त्वा कूर्मः एकादशः उक्तः, ततश्च दशमत्वं मत्स्ये आयाति, नवमसङ्ख्यासन्दंशात् च, ततश्च क्रमविचारे चाक्षुषमन्वन्तरीयस्य कूर्मस्य पाश्चात्यत्वात् पूर्वप्रलयो मायिकएव सेत्स्यति, न वास्तवः, क्रमेण बाधाद् इत्यतः आहुः **पूर्वेत्यादि**. तथाच कल्पान्तरे कूर्मावतारइति न प्रलयो मायिकः इति भावः. **वञ्चनाधिक्याद्** इति, पूर्वम् अहिमुखग्रहणादिना तथात्वाद् इति अर्थः ॥१६॥

लेखः

सुरासुराणाम् इत्यत्र. **अत्र प्रवेशः** इति, वैश्यभावे प्रवेशः इति अर्थः. **क्रमो न बाधकः** इति. अतएव अत्र सङ्ख्या न उक्ता इति भावः. ननु कूर्मे एकादशत्वोक्तौ किं बीजम् अतः आहुः **वञ्चनाधिक्याद्**

---

१. बोधितेन इति मुद्रितपाठः. कि.पाठे तु एवम् - सम्पा.

एकादशत्वम्. एवम् उत्तरत्रापि. **उदधिं मथ्नतां सुरासुराणां** सम्बन्धि मथनसाधनं **मन्दराचलं (दध्रे!)** धृतवान्. **कमठः** कच्छपः. **पृष्ठेन** धारणम् अवतारसाध्यं जले हि अनाधारे. ननु पृष्ठस्य पिच्छलत्वात् कथं धारणं सम्भवति? तत्र आह **विभुः** इति ॥१६॥

एकस्य द्विरूपत्वम् आह **धान्वन्तरम्** इति.

धान्वन्तरं द्वादशमं त्रयोदशमम् एव च ॥
अपाययत् सुरानन्यान् मोहिन्याऽमोहयत् स्त्रिया ॥१७॥

अत्र माऽऽदेशः छान्दसः. द्वादशे माति इति वा. 'धन्वन्तरि'पदेनैव आयुर्वेदप्रवर्तनादेः स्पष्टत्वात् प्रकृतेतु अन्यार्थकथनाद् न अवतारप्रयोजनम्

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

मत्स्येन दशसङ्ख्या पूर्णा कृतेति क्रमः सत्क्रमइति न बाधकः इति अर्थः. एकादशत्वे युक्तिम् आहुः **वञ्चन** इति. एकाधिको दशः एकादशः इति एकादशत्वम्. तथाच अयम् अधिको वञ्चकः इति एकादशो जातः इति अर्थः. **एवम् उत्तरत्र** इति, ऊह्यम् इति अर्थः ॥१६॥

एकस्य इति. मोहिनीरूपं धन्वन्तरिरूपञ्च इति **द्विरूपत्वम्**. **धान्वन्तरम्** इत्यत्र. **धन्वन्तरि** इति. आयुर्वेदप्रवर्तनमेव प्रयोजनम् इति अर्थः. ननु मूलोक्तप्रयोजनमेव धन्वन्तरिप्रयोजनं, न आयुर्वेदप्रवर्तनम् इति आशङ्क्य आहुः **प्रकृते तु अन्यार्थ** इति. **प्रकृते** मूले **अन्यस्य** त्रयोदशरूपस्य **अर्थस्य** प्रयोजनस्य **कथनाद् अवतारप्रयोजनं** धन्वन्तर्यवतारस्य प्रयोजनं

प्रकाशः

धान्वन्तरम् इत्यत्र. धन्वन्तर्यवतारस्य किं प्रयोजनम्, अमृतपानादेः मोहिन्यवतारकार्यत्वेन अष्टमे कथितत्वाद् इति आशङ्कायाम् आहुः **धन्वन्तरीत्यादि**. तथाच आयुर्वेदप्रवर्तनादिकमेव प्रयोजनम् इति अर्थः स्फुटम्. तर्हि प्रकृते कुतो न उक्तम् इत्यतः आहुः **प्रकृते** इत्यादि. आयुर्वेदस्य

लेखः

इति. तथाच पूर्वस्मात् मत्स्यावताराद् आधिक्यबोधनार्थमेव एका सङ्ख्या अधिका इति भावः. वञ्चने आधिक्यम् **एवम्** एव **उत्तरत्रापि** तत्तद्धर्माधिक्यबोधायैव ततो अधिका सङ्ख्या उच्यते इति अर्थः ॥१६॥

इति उक्तम्. **धान्वन्तरम् एव त्रयोदशम्. एव-चशब्दौ** सन्देह-विरोध-निवारकौ. **धान्वन्तरं** रूपं धन्वन्तरेः सम्बन्धि. देवकर्तृक-पानकर्मत्वाद् अमृतस्य न भगवत्कार्यम् इति प्रयोजककर्तरि **सुरा** एव कर्मत्वेन उक्ताः. अर्थाद् अमृतम्. अत्र त्रयोदशस्यैव चरित्रम् उच्यते **अपाययद्** इति. **अन्यान्** असुरान् **(मोहिन्या!) स्त्रिया** करणभूतया **अमोहयद्** इति च. अयम् अभिप्रायः— नहि भगवान् स्त्रीरूपेण सर्वैः दृश्यते. सुरैः भगवद्रूपेणैव दृश्यते. राहुसूचनात् च. अतो वस्तुतो धन्वन्तरिरूपमेव. आकृत्यन्तरबोधनं

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

न इति अर्थः. तथाच मूले अमृतदानम् असुरमोहनञ्च प्रयोजनम् उक्तं तत् प्रयोजनद्वयं त्रयोदशरूपस्यैव, न धन्वन्तरेः इति आयुर्वेदप्रवर्तनमेव धन्वन्तरेः प्रयोजनम् उक्तम् इति भावः. **न भगवत्कार्यं** भगवता न पीतम् इति अर्थः. **प्रयोजक** इति, प्रयोजककर्ता त्रयोदशं रूपं **सुरा एव** न भगवान् इति अर्थः. **राहुसूचनाच्च** इति. सूर्येण चन्द्रेण च राहुः ज्ञापितः. तथाच सुरैः धन्वन्तरिरूपएव भगवान् दृश्यते, स्त्रीरूपदर्शने राहुज्ञापनम् अनुपपन्नं स्याद् इति भावः. त्रयोदशत्वे हेतुम् आहुः **अमृतहस्तस्य** इति. अयम् अर्थः— भगवान् एकेन हस्तेन देवान् अमृतं प्राशयमानो मोहिनीरूपेण असुरान् मोहितवान्. तथाच अमृतयुक्त-भगवद्धस्तस्य देवान्

प्रकाशः

जीवार्थत्वेन तदवतारे अनुपयोगाद् न तत्त्वेन स्फुटम् उक्तम् इति अर्थः. ननु पानकर्मत्वेन अमृते वक्तव्ये देवाएव किमिति उक्ता इति अपेक्षायाम् आहुः **देवेत्यादि. न भगवत्कार्यम्** इति, तत्पानम् इति शेषः. **प्रयोजककर्तरि** इति पाययितरि मोहिनीरूपे. **कर्मत्वेन** इति, कर्तुः ईप्सिततमत्वेन इति भावः. **सर्वैः न दृश्यते** इत्यत्र मानम् आहुः **सुरैः** इत्यादि. मूले **मोहिन्या अन्यान् अमोहयद्** इति उक्त्वा देवानां मोहाभावात् तथा इति अर्थः. ननु मोहस्य भावजनकत्वेन उक्तत्वात् तदभावएव सुराणाम् अस्तु, स्त्रीरूपादर्शने किं मानम् अतः आहुः **राहुसूचनाद्** इति. यदि चन्द्रार्काभ्यां स्त्रीरूपं दृष्टं स्यात् तदा तस्यां राहुदण्डसामर्थ्याभावात् तस्यै सूचनम् असङ्गतं स्यात्. अतः तदन्यथानुपपत्तिरेव तथा इति अर्थः. ननु एवं सति एकमेव

तु सामर्थ्यात्. अमृतहस्तस्य निर्गतस्य विच्छेदेन अस्य रूपस्य दर्शनात् त्रयोदशत्वम् ॥१७॥

एवं चतुष्टयं निरूप्य पुनः अन्येन उत्कृष्टप्रकारेण परम्परां निरूपयितुं नारायणवद् नृसिंहं निरूपयति.

चतुर्दशं नारसिंहं बिभ्रद् दैत्येन्द्रम् ऊर्जितम् ॥
ददार करजैरूरावेरकान् कटकृद्यथा ॥१८॥

[१]पुष्टिमार्गो अयम् इति पूर्वस्माद् विशेषः. पूर्वस्य क्रमस्य विवक्षितत्वात् चतुर्दशत्वम्. नरसिंहसम्बन्धि **नारसिंहं** रूपम्. द्विरूपत्वेन अलौकिकत्वात् पुष्टित्वम्. अत्र हि भक्तिरेव मुख्या यतः स्वीयमपि हत्वा तदीयं पालितवान्,

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

अमृतं प्राशयितुं **निर्गतस्य विच्छेदेन अस्य** मोहिनी**रूपस्य दर्शनात्** – विच्छेदेन दर्शनन्तु हस्तस्य अदर्शनं रूपस्य दर्शनं ; तथाच रूपान्तरदर्शनाद् हस्तादर्शनात् च – **त्रयोदशत्वम्** इति भावः ॥१७॥

चतुर्दशं नारसिंहम् इत्यत्र. **नारायणवद्** इति. यथा नारायणः साक्षाद्भगवदवतारः तथा नृसिंहः इति. **पूर्व** इति. अवतारप्रकारे परं वैलक्षण्यं, सङ्ख्याक्रमस्तु विवक्षितएव इति भावः. **यतः स्वीयम्** इति, द्वारपालं हत्वा (**तदीयं!**) तत्पुत्रं **पालितवान्** इति अर्थः. भक्तेः मुख्यत्वे

प्रकाशः

रूपम् इति सङ्ख्याविरोधः इत्यतः आहुः **अमृतेत्यादि. विच्छेदेन** इति विभागेन. तथाच धन्वन्तरिविभक्तत्वेन दैत्यैः दर्शनात् सङ्ख्यायाः अविरोधः इति अर्थः ॥१७॥

चतुर्दशम् इत्यत्र. **नारायणवद्** इति. यथा नारायणः साक्षाद्भगवदवतारः तथा नृसिंहः इति अर्थः. **स्वीयम्** इति द्वारपालम्. **तदीयम्** इति पुत्रम्.

लेखः

चतुर्दशम् इत्यत्र. **तदीयम्** इति, तत्पुत्रम् इति अर्थः. तथाच स्वीयपार्षदमपि यत्र त्यक्त्वा असुरसम्बन्धित्वेन प्रह्लादस्य अपाल्यत्वेऽपि

१. इतः प्राक् 'चतुर्दशम्' इति प्रतीकमस्ति क-ङ.

दैत्येन्द्रं हत्वा दैत्यञ्च. **इन्द्रपदेन** अवध्यता च सूचिता. वधे हेतुः **ऊर्जितम्** इति. **करजैः** नखैः. **ऊरौ** इति ब्रह्मवाक्य-सत्यकरणार्थम्. **एरकाः** कटतृणविशेषः. नखैः अनादरेण विदारणे दृष्टान्तः **कटकृद्यथा** इति. लोकहितार्थं तद्वधः इति सूचितम्. एवं भक्तिमार्गे[1] नव अवतारान् कथयन् प्रथमं प्रह्लादरक्षको नृसिंहो मुख्यइति मूलत्वेन कथितः. ततो ब्रह्मभावेन त्रयः, त्रयः च क्षत्रभावेन, एको वैश्यभावेन, पुनः अग्रिमस्य मूलरूपम् एकेन

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

हेत्वन्तरम् आहुः **दैत्य** इति. **दैत्यं** प्रह्लादम् इति अर्थः. **ब्रह्मवाक्य** इति. ब्रह्मदत्तवर-सत्यकरणार्थम् इति भावः. **लोक** इति. कटादिकमपि अन्यार्थम् इति दृष्टान्तेन सूचितम् इति अर्थः. **एको वैश्य** इति, जिनस्तु वञ्चकः इति अर्थः. **पुनरग्रिम** इति, प्रपञ्चस्य इति अर्थः. नवसङ्ख्याक-निरूपणसूचितम् अर्थम् आहुः **भक्तिः** इति. नवधा भक्तावपि

प्रकाशः

ऊर्जितम् इति अवध्यत्वहर्षेण भिन्नमर्यादम्. ननु पुनः मूलरूपनिरूपणे अस्य किं प्रयोजनम् इति आकाङ्क्षायां तद् आहुः **भक्तिः** इत्यादि. मूलरूपे जाता[2] **भक्तिः** मूलरूपा **अनवच्छिन्ना** अंशमात्रपर्यवसाने **न**

लेखः

भक्तिसम्बन्धमात्रेण पालितवान् इति भक्त्युत्कर्षः. एवञ्च **तदीयम्** इत्यस्य भक्तिसम्बन्धिनम् इति अर्थोऽपि स्वारसिकः. पदान्तरेणापि तन्माहात्म्यं सूच्यते इति आशयेन आहुः **दैत्येन्द्रम्** इत्यादि. इन्द्रत्वेन अवध्यमपि **दैत्येन्द्रं हत्वा** भक्तिसम्बन्धमात्रेण **दैत्यं** तत्पुत्रं प्रह्लादं **च पालितवान्** इति अर्थः. **दैत्यम्** इति पदेन तद्वधेऽपि अविगीतत्वम् उक्तम्. तेन विरोधः, तेन भक्तमाहात्म्यम् इति. **पुनरग्रिमस्य मूलरूपम्** इति. पुनः **अग्रिमयुगादिक्रमेण** अवतार-तल्लीलापदार्थजातस्य **मूलरूपं** कल्किरूपम् **एकेन** श्लोकेन उच्यते इति अर्थः. भक्त्यवताराणां नवानाम् अपि एकोपक्रमेण अनवच्छेदेन निरूपणेन सूचितम् अर्थम् आहुः **भक्तिः** इति. कल्केरपि प्रारम्भे हेतुत्वं दृष्टान्तेन

---

१. मार्गेण वा अवतारानिति ख.   २. जातभक्तिः इति मुद्रितपाठः. कि.पाठे तु एवम् - सम्पा.

—इति नवधा निरूपणम्. भक्तिः अनवच्छिन्ना न निवर्तते इति सायुज्ये सेवाऽऽरम्भवत् कल्किः अग्रिमारम्भः इति हेतुः ॥१८॥

पञ्चदशं वामनकं कृत्वाऽऽगादध्वरं बलेः ॥
पदत्रयं याचमानः प्रत्यादित्सुः त्रिविष्टपम् ॥१९॥

कश्यपाद् अदित्यां जातो वामनरूपो[१] ब्रह्मचारी **पञ्चदशः**. अवामनोऽपि

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

एकस्यापि विच्छेदे भक्तेः विच्छेदएव भवेत्, तथाच नवविधा समूलत्वेन इति प्रथमत्वेन कथितः इति अर्थः. समग्रा कर्तव्या इति सूचितम् इति भावः. **सायुज्ये सेवारम्भ** इति. अयम् अर्थः — **आरम्भ**पदेन समवायिकारणम्. एवं नवविधभक्त्यन्तर्गता सेवैव आरम्भः सायुज्ये यथा तथा नवसङ्ख्यान्तर्गतोऽपि **कल्किः अग्रिमप्रपञ्चे आरम्भे हेतुः** "अथासौ युग" (श्लो. २५) इति श्लोके "जगत्पति"पदेन हेतुत्वेन उक्तः इति भावः ॥१८॥

पञ्चदशं वामन इति श्लोकं व्याचष्टे **कश्यपाद्** इति. **भक्त**

प्रकाशः

निवर्तते इति ज्ञापनाय पुनः तदुक्तिः इति अर्थः. कल्केः मूलरूपत्वं कथम् इत्यतः उपपत्तिम् आहुः **सायुज्ये** इत्यादि. भगवत्स्वरूपैक्ये सेव्य-सेवकभावनिवृत्तावपि भगवत्सामर्थ्येनैव पुनः भेदाद् यथा सेवारम्भः तथा अत्र सकलसाधननिवृत्तावपि भगवदङ्गराग-सुगन्धसंसर्ग-मात्रेण पुनः कृतारम्भः इति तादृशसामर्थ्यम् एव मूलरूपत्वे[२] हेतुः इति अर्थः ॥१८॥

लेखः

स्पष्टयन्ति **सायुज्ये** इत्यादि. यथा सेवारम्भः सायुज्ये हेतुः तथा अग्रिमारम्भे कल्किः हेतुः इति अर्थः. यद् वा सायुज्ये सति एव "मुक्ताअपि लीलाविग्रहं कृत्वा भजन्ते" (. । ।) इति वाक्यात् सकलपापक्षयएव सेवाधिकारः तथा कल्किरपि मारणेन सकलजीवानां दोषान् दूरीकुर्वन् भगवत्सङ्गार्थं पुनः कृतयुगादिक्रमेण धर्मादि कारयन् अग्रिमहेतुः भवति इति अर्थः ॥१८॥

---

१. वामनरूपेणेति क. २. मूलत्वे इति मुद्रितपाठः. कि.पाठे तु एवम् -सम्पा.

वामनकं रूपं **कृत्वा बलेः अध्वरम् अगाद्** इति भक्तहितार्थं स्वस्य धर्मस्य च अन्यथाकरणं पूर्वस्माद् विशेषः. प्रत्यादानं=दत्तस्य पुनः ग्रहणम्. इहपरात्मनः[१] **पदत्रयम्**. गमने कामितो अर्थः उत्तरार्धे निरूपितः, चरित्रन्तु गमनमेव ॥१९॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इति. अवामनस्य वामनीकरणं **पूर्वस्मात्** सनत्कुमारादि-त्रयोदशावतारेभ्यो **विशेषः** इति अर्थः. जात्यभिप्रायेण एकवचनम्. तथाच त्रयोदशावतारेषु ईदृशभक्तहितकरणाभावाद् अत्र विशेषः इति अर्थः. भगवतो मनोभिप्रेतं पदत्रयम् आहुः **इह** इति. **इह**शब्देन राज्यं, **पर**शब्देन परलोकः, **आत्म**शब्देन बलिस्वरूपम्, तथाच पदत्रयं याचमानेन एतत्पदत्रयं मनसि कृत्वा याचितम् इति भावः. **चरित्रम्** इति. **तु**शब्देन वामनीकरण-पदत्रययाचन-प्रत्यादानानां व्यावृत्तिः कृता. लीलया कृतं कर्म **चरित्र**शब्देन उच्यते. तथाच वामनीकरणादयो भक्तहिताय कृताः, गमनन्तु लीलया कृतम् इति भावः ॥१९॥

अवतारे षोडश इति श्लोकं व्याचष्टे **क्षत्रिय** इति ॥२०॥

प्रकाशः

पञ्चदशम् इत्यत्र. **धर्मस्य** इति, ऐश्वर्यस्य इति अर्थः. **पूर्वस्माद्** इति नृसिंहस्वरूपात्, पूर्वोक्तेभ्यः चतुर्दशभ्यो वा. **इहपरात्मानः** इति इहलोक-परलोक-देहाः ॥१९॥

लेखः

पञ्चदशं वामनकम् इत्यत्र. **इहपरात्मनः** इति. इहलोकः परलोकः स्वात्मा च इति **पदत्रयम्**. तथाच भगवता बलिसम्बन्धि इहलोक-परलोकात्मानः त्रयोऽपि स्वात्मसात् करणीयाः इति पदत्रयं याचमानः इति अर्थः. **गमने कामितोऽर्थः** इति. वामनस्य अध्वरगमने **कामितोऽर्थः** त्रिविष्टपादानं, तच्च उत्तरार्धे निरूपितम् इति अर्थः. **गमनमेव** इति. अध्वरगमनमात्रम् अवतारचरित्रम्, अन्यथा बलिभक्तोद्धारो न स्यात्. त्रिविष्टप-प्रत्यादानन्तु अन्येनापि शक्यत्वाद् न असाधारणं कार्यं तद् इति अर्थः. **गमनम्** इति भगवतः ॥१९॥

---

१. -परमात्मन इति घ. -पर आत्मान इति क-ग-प्रकाशे -सम्पा.

अवतारे षोडशमे पश्यन् ब्रह्मद्रुहो नृपान् ॥
त्रिःसप्तकृत्वः कुपितो निःक्षत्राम् अकरोन्महीम् ॥२०॥

क्षत्रियायां जातं परशुरामरूपं षोडशम्. सप्तधा हनने निर्बीजत्वं जातं, पुनः ब्राह्मणाद् उत्पन्नाः समृद्धाः, पुनः सप्तधा —एवम् एकविंशतिधा निःक्षत्रिया पृथिवी कृता. पितृवधस्य निमित्तत्वेऽपि ब्रह्मरक्षैव हेतुः ॥२०॥

ततः सप्तदशे जातः सत्यवत्यां पराशरात् ॥
चक्रे वेदतरोः शाखा दृष्ट्वा पुंसोऽल्पमेधसः ॥२१॥

ततः (सत्यवत्यां!) उपरिचरवसोः मत्स्यगर्भाद् जातायां दाशकन्यायां तथा **पराशराद् जातो** वेदव्यासः **सप्तदशः** प्रकृते तृतीयः. **वेदस्य तरुत्वं** पूर्वं निरूपितम्. अनन्तमूर्तेः यज्ञस्य ब्रह्मशिरसः एका मूर्तिः यावता वेदभागेन प्रतिपाद्यते सा एका **शाखा,** एवम् अन्याश्च. यद्यपि ब्राह्मणेन सर्वो वेदः पठनीयः तथापि प्रमेयबलम् आलम्ब्य एकैव मूर्तिः सर्वाः मूर्तयः

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

ततः सप्तदशे इति श्लोकं व्याचष्टे **ततः उपरि** इति. **प्रकृते** इति, ब्राह्मभावेन निरूपितेषु **तृतीय** इति अर्थः. **वेदस्य** इति, "निगमकल्पतरोः" (भाग.पुरा. १।१।३) इत्यत्र **निरूपितम्** इति अर्थः. **अनन्तमूर्तेः** इति. **यज्ञस्य** वेदस्य **ब्रह्मशिरसः** उपनिषच्छिरसः, "ऋचां मूर्धानं यजुषाम् उत्तमाङ्गं साम्नां शिरो अथर्वणां मुण्डम्" (सांख्यायन.आर. १४।१) इति श्रुतेः इति अर्थः. **प्रमेय** इति, स्वरूपबलम् **आलम्ब्य** इति अर्थः. **एकैव मूर्तिः** इति. अयम् अर्थः— यथा सर्षपमात्रोऽपि अग्निः सर्वोऽपि अग्निः भवति, तत्र दाहकत्वादयो वर्तन्ते इति, तथा वेदस्यापि **एकैव मूर्तिः सर्वा मूर्तयः**. तथाच एकमूर्त्यध्ययनेऽपि सर्ववेदाध्ययनं भवति. अल्पबुद्धिभिः

प्रकाशः

ततः सप्तदशे इत्यत्र. (**प्रकृते** इति, ब्रह्मभावेन निरूपणे तृतीयः इति अर्थः). **प्रमेयबलम् आलम्ब्य** इति. **प्रमेयस्य** यज्ञब्रह्मरूपस्य **बलं**

लेखः

ततः सप्तदशे इत्यत्र. **प्रकृते तृतीयः** इति. ब्रह्मभावेन अवतारत्रयनिरूपणस्य प्रतिज्ञातत्वात् तत्क्रमेण अयं तृतीयो ब्रह्मभावेन अवतारः

इति **अल्पमेधसोऽपि** (**पुंसः!**) पुरुषस्य वेदाध्ययनं- भक्त्यर्थम् अपरश्च कालो यथा अवशिष्यते तदर्थं- खण्डशः (**चक्रे!**) कृतवान् इति अर्थः ॥२१॥

नरदेवत्वमापन्नः सुरकार्यचिकीर्षया ॥
समुद्रनिग्रहादीनि चक्रे वीर्याण्यतः परम् ॥२२॥

भिन्नप्रक्रमार्थे रघुनाथादि-रूपत्रयं वक्तुम् **अतः परम्** इति उक्तम्. क्षत्रियभावो अत्र विवक्षितो यद्यपि सोम-सूर्यभावेन द्विविधः तथापि सोमस्य वृद्धि-क्षयरूपेण द्विरूपत्वात् त्रेधा निरूपणम्. **नरदेवत्वं** राजत्वम्. **सुरकार्यं** रावणवधः. अवतारचरित्रं तु **समुद्रनिग्रहः**. तथा मरुस्थलीकरणं, परशुरामजयो, वालिवधश्च इति **आदि**शब्दार्थः ॥२२॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

सम्पूर्णो वेदो अध्येतुम् अशक्यइति शाखाप्रणयनेन **खण्डशः कृतवान्**. जन्मपर्यन्तं वेदाध्ययने भक्तिनिमित्तं कालो न अवशिष्येतइति खण्डशः करणे द्वितीयो हेतुः इति भावः ॥२१॥

नरदेवत्वम् इति श्लोकं व्याचष्टे **भिन्न** इति. त्रेधा निरूपणे युक्तिम् आहुः **यद्यपि** इति. क्षत्रियभावेन निरूपणं द्विधैव कर्तव्यं, क्षत्रियाणाम् उभयजन्यत्वाद् यद्यपि, तथापि एकविधः सूर्यो द्विविधः सोमः इति त्रेधा निरूपणम् इति भावः ॥२२॥

एकोनविंशे इति श्लोकं व्याचष्टे **बलरामे** इति. **कृष्ण**पदस्य अर्थञ्च

प्रकाशः

भुक्ति-मुक्तिदातृत्व-रूपम् **आलम्ब्य** विचार्य इति अर्थः. **भक्त्यर्थम्** इत्यनेन प्रयोजनान्तरम् उक्तम्. (**अपरश्च** इति स्वशाखातिरिक्तो वेदभागः.)[१] ॥२१॥

लेखः

इति अर्थः. **भक्त्यर्थमपरश्च कालो यथावशिष्यते** इति. वैदिककर्मणां विस्तारेण किञ्चिदपि कालो न उपलभ्येत इति भावः ॥२१॥

---

१. कोष्ठकान्तर्गतो अंशः कि.पाठे नोपलभ्यते - सम्पा.

एकोनविंशे विंशतिमे वृष्णिषु प्राप्य जन्मनी ॥
रामकृष्णाविति भुवो भगवान् अहरद् भरम् ॥२३॥

अतः परम् अष्टादशे बलरामे आवेशः, कृष्णो अवतारः **एकोनविंशे (विंशतिमे!)** विंशतितमे. अत्र 'त'कारलोपः छान्दसः. वस्तुतः सोमस्य एकत्वाद् एकश्लोकेन निरूपणम्. 'वार्ष्णेय' इति वक्तव्ये "ञ्यादयस्तद्राजा" (पाणि.सूत्र ५।३।११९) इति तद्राजसञ्ज्ञायां "तद्राजस्य बहुषु" (पाणि.सूत्र २।४।६२) इति प्रत्ययलोपे **वृष्णिषु** इति उक्तम्. अत्र हि चतुर्णाम् अवताराणां कृष्णरूपं स्थानं– नारायणांशस्य, केशस्य, सुतपा-पृश्नि[१]-प्रसन्नस्य, भगवतश्च तत्र एकमेव रूपं बहुरूपत्वेन विवक्षितं– बलरामस्तु एकएव —एवं पञ्चावताराः, जन्मद्वयम्. तद् उक्तं **वृष्णिषु प्राप्य जन्मनी**

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

आहुः **अत्र हि** इत्यारभ्य **जन्मविशेषणम्** इत्यन्तेन. **कृष्णरूपं** स्वरूपं **स्थानम्** इति. अवतारचतुष्टयं गणयति **नारायण** इति. सित-कृष्णकेशः इति अवतारद्वयं, **सुतपा-पृश्नि-प्रसन्नस्य** तत्पुत्रत्वेन एको अवतारः, अवतारिणे **भगवतश्च** एकः इति. **एकमेव रूपं** पञ्चावतार**रूपत्वेन विवक्षितम्.** बलरामे द्वितीयं रूपं नास्ति. अयम् अर्थः— १) नारायणांशः, २-३) केशांशद्वयं, ४) पुत्रत्वेन एकोंऽशो, ५) अवतारी भगवांश्च इति पञ्चः. तत्र (श्वेत!) केशांशावेशो बलरामो, नारायणांशः श्यामकेशांशः, पुत्रांशः

प्रकाशः

एकोनविंशे इत्यत्र. **अत्र तकारलोपः** इति **विंशतिम**शब्दे तमप्प्रत्यय-तकारलोपः ॥२३॥

लेखः

एकोनविंशे इत्यत्र. **वार्ष्णेय** इति. सकलवृष्णिषु जन्मनो बाधात् तत्कुले एव जन्म इति वक्तव्यम्, अतः तद्बोधकः तद्धितः अपेक्षितएव इति भावः. **नारायणांशस्य** इति. सित-कृष्णभेदेन अवतारद्वयः, सुतपा-पृश्न्योः प्रसन्नः तृतीयः, भगवान् अवतारी तुरीयः इति प्रतिभाति ॥२३॥

---

१. अत्र 'वृष्णिः' इति मुद्रितपाठः अशुद्धः प्रतिभाति - सम्पा.

इति. ततश्च लोकेऽपि नामद्वयं प्रसिद्धम् इति आह **राम-कृष्णौ** इति. जन्मविशेषणम्. कार्यन्तु[१] भगवतैव कृतम् इति आह **भगवान् अहरद् भरम्** इति. भूभारहरणम् अवतारकार्यं सामान्यतो लोकप्रसिद्धम् ॥२३॥

ततः कलौ सम्प्रवृत्ते संमोहाय सुरद्विषाम् ॥
बुद्धो नाम्ना जिनसुतः कीकटेषु भविष्यति ॥२४॥

(ततः!) भिन्नप्रक्रमार्थं **कलौ सम्यक्प्रवृत्ते** तद्धर्मप्रचारे जाते **सुरद्विषां** दैत्य-राक्षसानां वैदिकेषु उत्पन्नानां (**संमोहाय!**) वेदत्याजनार्थं **कीकटदेशेषु जिनस्य अजिनस्य**[२] **वा सुतो बुद्धो** जातः इति अर्थः ॥२४॥

अथाऽसौ युगसन्ध्यायां दस्युप्रायेषु राजसु ॥
जनिता विष्णुयशसो नाम्ना कल्किर्जगत्पतिः ॥२५॥

अथ इति महान् भिन्नक्रमः. कूर्मम् आरभ्य बुद्धान्तं न पुरुषस्य अवताराः, **कल्कीतु** पुरुषस्य अवतारः इति आह **असौ** इति. तत्र

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इति त्रितयम्, एतद्देशएव मायोद्धाटनेन प्रकटएव अवतारी च इति चतुष्टयात्मकः कृष्णः इति अर्थः. तथाच यद्यपि मथनलक्षणोपाधिना काष्ठस्थितवह्निवद् भक्तिलक्षणोपाधिना आविर्भावशीलः सर्वत्र वर्ततइति आधारता न सम्भवति, तथापि सर्वाधारत्वात् **कृष्णरूपं स्थानम्** इति उक्तम्. एवञ्च अंशचतुष्टयस्य भगवतश्च जन्माधिकरणं मायोद्धाटनेन प्राकट्याधिकरणञ्च भगवानेव इति, बलरामाख्यम् एकं, जन्मांशत्रयसहित-भगवत्प्राकट्यसहितं कृष्णाख्यं द्वितीयम् इति भावः. **ततः** इति, जन्मद्वयवत् नामद्वयम्. **कार्यन्तु** इति, भूभारहरणम् इति. इदमेव लोकप्रसिद्धम् इति सामान्यतः उक्तम् ; वस्तुतस्तु सङ्कर्षणेन भूभारहरणम् इति भावः ॥२३॥

ततः कलौ इति श्लोकं व्याचष्टे **भिन्नप्रक्रम** इति ॥२४॥

अथासौ युग इति श्लोकं व्याचष्टे **अथ** इति. **विष्णोः ज्ञानस्य**

---

१. जन्मविशेषकार्यन्तु इति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु क-ग-घ-ङ-भा-टिप्पण्यनुरोधाद् - सम्पा.

२. अञ्जनस्येति ख-ग.

कूर्मः आदिकूर्मस्य, धन्वन्तरिः विष्णोः, नृसिंहः कालस्य, वामनो विष्णोः, वैश्वानरस्य परशुरामः, व्यासो विष्णोः ज्ञानस्य, वासुदेवस्य रामः, सङ्कर्षणस्य बलरामः, चतुर्णां कृष्णः, वासुदेवस्य बुद्धः इति. **युगसन्ध्यायां** जातायां समाप्तायां न सन्त्येव राजानः, भूमिश्च शून्यप्राया. तथापि विद्यमाना अपि **राजानो दस्यवः**. **प्राय**ग्रहणं विष्णुभक्ति-प्रतिपादक-ब्राह्मणसङ्गेन केषाञ्चिद् अतथात्वम् इति. अतएव **विष्णुयशा** नाम शम्भलग्रामे वैष्णवः, तस्य गृहे पत्न्यां भविष्यति इति अर्थः. **जगत्पतिः** इति अवताप्रयोजनं ; जगतः क्षीणत्वात् पुनरुद्भवकर्ता इति अर्थः ॥२५॥

अवताराणाम् एतावत्त्वं निवारयति.

अवतारा ह्यसङ्ख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः ॥
यथाऽविदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः ॥२६॥

अवतारा इति. **सत्त्वनिधेः** इति हेतुः ; पालनोद्भवादेः आवश्यकं

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इति, व्यासो ज्ञानावतारः इति अर्थः. **चतुर्णां कृष्णः** इति, पूर्वोक्त-चतुष्टयात्मकं स्वरूपम् इति अर्थः ॥२५॥

अवताराः ह्यसङ्ख्येयाः इत्यत्र. मूले **सत्त्वनिधेः** इति शब्दस्य तात्पर्यम् आहुः **सत्त्वनिधेः** इति. हेतौ पञ्चमी. अर्थस्तु— यथा धूमाद्

प्रकाशः

[१](**अथ असौ** इत्यत्र. **आदिकूर्मस्य** इति. ''विलोक्य विघ्नेशविधिं तदेश्वरो दुरन्तवीर्यो वितथाभिसन्धिः, कृत्वा वपुः काच्छपमद्भुतं महत् प्रविश्य तोयं गिरिमुज्जहार'' (भाग.पुरा. ८।७।८) इति अष्टमे पुरुषोत्तमस्य उक्तः, तथापि भक्तिदानाद्यभावाद् **आदिकूर्मस्य** इति. सतु पञ्चमे अष्टादशे ''हिरण्मयेऽपि भगवान्निवसति कूर्मतनुं बिभ्राण'' (भाग.पुरा. ५।१८।२९) इत्यादिना स्तुतो अस्ति. **विष्णोः** इति. आयुर्वेदप्रणेतृत्वेन पालकत्वाद् विष्णोः इति अर्थः. एवम् अग्रेऽपि) ॥२५॥

---

१. अयं कोष्ठकान्तर्गतो अंशः कि.पाठे नास्ति. प्रकाशे यत्र तत्र गद्यांशाः आद्यसम्पादक-संग्रहीतासु बहुषु मातृकास्वपि नासीद् इति आद्यसम्पादकैः कोष्ठके योजिता इति भाति - सम्पा.

सत्त्वम्. **द्विजाः** इति सम्मत्यर्थं सम्बोधनं बहुकालदर्शित्वात्[१]. अवताराणां स्वरूपम् आह **यथाऽविदासिन** इति. **अविदासिनः** अक्षयजलस्य **कुल्याः** क्षुद्रप्रवाहाः दक्षिणदेशे प्रसिद्धाः ॥२६॥

सर्वेषां सामान्यतः स्वरूपं प्रकृतिं[२] फलञ्च आह **ऋषयः** इति द्वाभ्याम्.

ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा महौजसः ॥
कलाः सर्वे हरेरेव सप्रजापतयः स्मृताः ॥२७॥
एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ॥
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे ॥२८॥

ऋषयः अर्यमादयः **मनवः** स्वायम्भुवादयः **देवाः** वस्वादयः **मनुपुत्राः** प्रियव्रतादयः **महौजसः** अन्येऽपि अतिवीर्यवन्तः —**एते सर्वे** (**हरेः**!) सत्त्वमूर्तेः भगवतो विष्णो रिरक्षिषोः **कलाः** धर्माविशिनः इति अर्थः. **प्रजापतयो** मरीच्यादयः. एवकारेण अन्यसम्बन्धं वारयति. **स्मृताः** इति प्रमाणम्. पूर्वोक्ताः कुमारादयस्तु केचन **अंशाः** केचन **कलाः**. ते च अवतारावेशभेदेन निरूपिताः. **चकाराद्** अनुक्ताअपि **पुंसो** नारायणस्य ब्रह्माण्डमूर्तेः **अंशाः कलाश्च**. कृष्णेऽपि तथात्वं सामान्यतः प्राप्तं तुशब्देन व्यावर्तयति. यस्य अंशाः पुरुषादयः स **भगवान् कृष्ण** इति अर्थः. सामान्यतः प्रयोजनम् आह **इन्द्रेति**. **इन्द्रारयो** दैत्याः, तैः **व्याकुलं** (**लोकं**!)

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इति तथा पालनोद्भवादेः इति. एवञ्च वह्निवत् पालनोद्भवाभ्यां सत्त्वम् आवश्यकं सिद्धं तत् मत्स्यादिषु भगवतो जातम् इति **'सत्त्वनिधेः'** इति हेतुः उक्तः इति अर्थः ॥२६॥

एते चांश इति श्लोकं व्याचष्टे **पूर्वोक्ताः** इति. **कृष्णे** इति, भगवति **तथात्वम्** अवतारत्वं **सामान्यतो** लोकप्रसिद्ध्या **प्राप्तं**, वस्तुतस्तु अवतारत्वं प्राप्तमेव नास्ति पूर्णत्वाद् इति भावः. **सामान्यतः प्रयोजनम्** इति, लोकप्रसिद्धम् इति अर्थः ॥२८॥

---

१. बहुकालर्षित्वादिति मुद्रितपाठः. ख.पाठो गृहीतः -सम्पा. २. प्रकृतिफलमिति क-ग.

जगत् **मृडयन्ति** सुखयन्ति. (**युगे युगे!**) प्रतियुगं च एते अवताराः, प्रतिकल्पं चतुर्दश मन्वन्तराणीव. असङ्ख्यातानाम् उक्तत्वाद् यथाप्रयोजनं सर्वत्र अवतारः इति बोद्धव्यम् ॥२७-२८॥

कृष्णावतारप्रयोजनं न उक्तम् इति स्वस्य अज्ञानदोषं निवारयन् अवताराणां दुर्ज्ञेयत्वम् आह.

जन्म गुह्यं भगवतो य एतत्प्रयतः शुचिः ॥
सायं प्रातर्गृणन् भक्त्या दुःखग्रामाद् विमुच्यते ॥२९॥

जन्म गुह्यं भगवतः इति. **भगवतः** कृष्णस्य **जन्म गुह्यं** गोप्यं, न प्रकटतया च वक्तव्यम् इति अर्थः. तर्हि कथं निस्तारः इति आशङ्क्य आह **य एतद्** इति. **एतद्** अवताररूपं सामान्यतो अस्मदुक्तं **प्रयतः** सावधानः **शुचिः** शुद्धः **सायं प्रातः भक्त्या** (**गृणन्!**) स्तोत्रपाठं कुर्वन् **दुःखग्रामाद्** दुःखसमूहाद् **विशेषेण मुच्यते** जन्मरहस्यज्ञानाभावेऽपि केवलं जन्मकीर्तनमात्रेणापि सर्वदुःखनिवृत्तिः इति अर्थः. श्रद्धया गृणन् मुच्यतएव ॥२९॥

एवं पुरुषावतारं स्वांशावतारैः सपरिकरं निरूप्य तस्य विचारम् आह **एतद्रूपम्** इत्यादि पञ्चभिः.

एतद् रूपं भगवतो ह्यरूपस्य चिदात्मनः ॥
मायागुणैर्विरचितं महदादिभिरात्मनि ॥३०॥

एतद् ब्रह्माण्डात्मकं **भगवतो रूपं** पूर्णब्रह्मणएव सत्त्वोपहितस्य रूपं,

---

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

एतद्रूपम् इत्यत्र. **भगवतो रूपम्** इति, स्वरूपम् इति अर्थः. **सत्त्वोपहितस्य** इति, सत्त्वगुणोपाधिविशिष्टस्य **रूपं** स्वरूपम् इति अर्थः.

प्रकाशः

एतद्रूपम् इत्यत्र. **विचारम् आह** इति. ऊहापोहेन विवक्षितसाधनं विचारः. तथाच ऊहापोहेन तस्य भगवत्त्वसाधनप्रकारम्[१] आह इति अर्थः. **रूपम्** इति, शरीरम् इति अर्थः. तेन आधिदैवादिकवादो विशिष्टाद्वैताऽपरपर्यायो

---

१. -शासन- इति मुद्रितपाठः. कि.पाठे तु एवम् -सम्पा.

शरीरव्यतिरेकेण आत्मनो अन्यत्र वृत्तिलाभाभावात्. (**अरूपस्य!**) "अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वाद्" (ब्रह्मसूत्र ३।२।१४) इति न्यायेन ब्रह्मणि स्वतो रूपं नास्ति. तत्र हेतुः **चिदात्मनः** इति. जडमेव हि रूपं भवति,

---

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

अयम् अर्थः— पूर्णब्रह्मणो भगवतो ब्रह्माण्डात्मकं शरीरं शुद्धसत्त्वाविर्भूत-भगवदात्मकम् इति भावः. इदन्तु "विशुद्धं सत्त्वमूर्जितम्" (श्लो. ३) इति विशेषणेन पूर्वम् उक्तमपि विषयः उच्यते. शरीरस्य भगवदुपलब्धौ कारणत्वम् आहुः **शरीर** इति. शरीरं विना ईश्वरस्य **अन्यत्र** शरीरप्रदेशाद् अन्यत्र स्थितस्य **वृत्तिलाभाभावात्** सत्ता न लभ्यते इति भावः. मूले अरूपमपि रूपविशेषणम् उक्तं तत्र प्रमाणान्तरसम्मतिम् आहुः **अरूपवद्** इति. स्वतः साहजिकम् इयत्तावच्छिन्नपरिमाणं स्वरूपं नास्ति इति अर्थः. यद्यपि "सर्वतः पाणिपादान्तम्" (श्वेताश्व.उप. ३।१६) इत्यत्र अन्तोऽपि व्यापकः उक्तः तथापि हीनाधिकारित्वाद् एवं वदति इति भावः. यद् वा साक्षात्श्रीकृष्णएव सा रीतिः, इदन्तु स्वरूपान्तरम् इति सर्वम् उपपद्यते. **जडमेव हि** इति, प्राकृतमेव मूर्तं भवति इति अर्थः.

प्रकाशः

अत्र ज्ञाप्यते, तद् आहुः **अरूपवद्** इति. अयं न्यायः उत्तरतन्त्रे साधनाध्याये द्वितीयपादे उभयलिङ्गाधिकरणे अस्ति. तदर्थस्तु— **तद्** ब्रह्म **अरूपवदेव हि**. रूप्यते निरूप्यते व्यवह्रियते इति **रूपं** सर्वव्यवहारविषयत्वं, तद्युक्तं **रूपवद्** विश्वम्. ब्रह्मतु तद्विलक्षणमेव, कार्याद् अंशात् च कारणस्य अंशिनो वैलक्षण्यस्य युक्तत्वात्. ननु कारणत्वाद् अवैलक्षण्यमपि युक्तम् अतः आह **तत्प्रधानत्वात्** तस्य = प्रकरणिनः प्रधानत्वात् = मुख्यत्वात्. यत्रहि यत् प्रतिपाद्यते तत्र तदेव हि मुख्यम्. अत्र ब्रह्म प्रतिपाद्यते इति ब्रह्मधर्माः प्रशासनादयएव, नतु जड-जीवधर्माः इति. अत्र शरीरप्रकरणाद् 'रूप'पदेन शरीरम् उच्यते. इदञ्च एकदेशिमतं सूताधिकारानुसारेण उच्यते, सिद्धान्तेतु

लेखः

एतद्रूपम् इत्यत्र **जडमेव हि रूपम्** इति. रूपम् अस्य अस्ति इति रूपम् ; अर्श आद्यच्. **स्वशरीरएव** इति. **तैः** महदादिभिः स्वनिर्मिते

चैतन्यमात्रस्य अमूर्तस्य रूपाभावाद्[१] इति **हिशब्दार्थः**. तर्हि कथं ब्रह्माण्डशरीरत्वम् उक्तम्? **मायागुणैः विरचितम्** इति. वैष्णवतन्त्रे आधिदैविकस्य शक्तिः **माया,** तस्याएव त्रयो **गुणाः** सत्त्व-रजस्तमांसि. तैरेव **महदादयो** जाताः. तैः (**आत्मनि!**) स्वशरीरएव भगवच्छरीरं निष्पादितम्— इदं हि भगवच्छरीरम्, अत्र भगवान् समाहितो भजनीयो भविष्यति इति. ततश्च महदादिकृपया भगवान् अत्र सन्निहितः आविर्भूतः तप्तायोगोलके वह्निरिव तिष्ठति इति बोद्धव्यम् ॥३०॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

रूपत्वाभावाद् इति, मूर्तित्वाभावाद् इति अर्थः. **ब्रह्माण्डशरीरत्वमुक्तम्** इति, ब्रह्माण्डस्वरूपत्वं **कथम् उक्तम्** इति भावः. **मूलस्थाऽऽत्मनि** इति पदस्य व्याख्यानं **स्वशरीर** इति. **इदं हि** इति, ब्रह्माण्डरूपं शरीरं शुद्धसत्त्वाविर्भूत-भगवदात्मकम्. **अत्र** तदात्मके **समाहितः** सन्निहितो **भजनीयो** भजनयोग्यो **भविष्यति.** "पश्यन्त्यदो रूपम्" (श्लो. ४) इत्यत्र योगिभजनीयत्वेन उक्तः इति **भविष्यति** इति औदासीन्येन उक्तम्. तथाच इदं स्वरूपं योगिभजनीयमेव, न अस्मद्भजनीयम् इति आचार्याणाम् आशयः. **ततश्च** इति, शरीरोत्पत्त्यनन्तरं महदादिभिः श्रमः कृतइति **कृपया.** सन्निधानेन आविर्भावे दृष्टान्तः **तप्तायोगोलके वह्निरिव** इति. अयम् अर्थः— यथा अयोगोलके अग्निः अन्तर्बहिः सर्वत्र आविर्भवति तद्रूपत्वेनापि आविर्भवति तथा भगवान् अपि इति ज्ञातव्यम् इति अर्थः ॥३०॥

प्रकाशः

अहिकुण्डलन्यायः, सतु मुख्यसिद्धान्ते वक्ष्यते. **तस्याएव** इति, जाताः इति अर्थः. नतु सा अत्र गुणमयी. **निष्पादितम्** इति, मन्दिरवत् निष्पादितम्. **सन्निहितः** इत्यस्यैव व्याख्यानम् **आविर्भूतः** इत्यादि ॥३०॥

लेखः

शरीरएव इति अर्थः. **तप्तायोगोलके** इति. नतु आत्मनि आरोपन्यायेनापि महदादि-स्थूलशरीरसम्बन्धो मायावादिवद् इति अर्थः. "स्वदेहं प्रतिपन्नेव

१. रूपत्वाभावादिति क-ग-घ-ङ-टिप्पण्याम् - सम्पा.

ननु जडरूपे कथम् अस्मिन् ब्रह्मप्रतीतिः? तथा सति चेतनत्वं प्रतीयेत. ततश्च दृश्यत्वाद् जडत्वात् च न भगदावेशो अत्र अस्ति इति कथम् इदं शरीरं? तत्र आह.

यथा नभसि मेघौघो रेणुर्वा पार्थिवोऽनिले ॥
एवं द्रष्टरि दृश्यत्वम् आरोपितम् अबुद्धिभिः ॥३१॥

यथा नभसि इति. अयं हि द्रष्टा देवदत्तवद् भगवान् सर्वं पश्यति.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

ननु इति. महदादिनिर्मितत्वाद् जडरूपता इति भावः. ननु ब्रह्मरूपमेव इति आशङ्क्य आहुः **तथा सति** इति, ब्रह्मत्वे इति अर्थः. **दृश्यत्वाद्** इति, योगिप्रत्यक्षविषयत्वाद् इति अर्थः. **न भगवदावेशोऽत्र** इति. शुद्धसत्त्वाविर्भूत-भगवदात्मकं नास्ति, पूर्वोक्तहेतुद्वयाद् इति अर्थः. **कथमिदम्** इति. जडं दृश्यं च ब्रह्मणः **शरीरं कथं** भवेद् इति अर्थः. **यथा नभसि** इत्यत्र. मूलस्थ**द्रष्टरि** इति पदविवक्षितम् अर्थम् आहुः **अयं हि** इति. अयम् अर्थः— यथा देवदत्तः चक्षुषा रूपं, स्पर्शेन वायुं, रसनया रसम् इत्यादिकं जानाति तथा अयमपि सर्वेन्द्रियैः सर्वं जानाति, नतु नित्यज्ञानवत्त्वेन इति अर्थो 'द्रष्टृ'पदस्य विवक्षितः इति भावः. तथाच **द्रष्टरि** भगवति इति अर्थः सिद्धः इति भावः. **यद्यपि** इति. अयम्

प्रकाशः

यथा नभसि इत्यत्र. **तथा सति** इति ब्रह्मणो वह्निवद् आविर्भूतत्वे सति. **ततश्च** इति प्रतीतिविरोधात्. **अयम्** इति एतच्छरीरविशिष्टो भगवान्.

लेखः

विराजं प्रतपत्यसौ'' (. । ।) इति वाक्यविरोधाद् इति भावः ॥३०॥

चेतनत्वम् इति. महदादिशरीरे तत्प्रत्यये इति अर्थः. **यथा नभसि** इत्यत्र. ननु ''द्रष्टरि दृश्यत्वम् आरोपितम्'' इति उक्तं तद् न संगच्छते. तथाहि— अत्र हि महदादिशरीरे दृश्यत्वम् आरोपितम् उच्यते. तत्र महदादिनिर्मितं शरीरमपि जडत्वेन दृश्यमेव भवति इति कथं तत्र दृश्यत्वारोपः? किञ्च एवं सिद्धे दृश्यत्वे तत्र द्रष्टृत्वं न वक्तुं युज्यते, तथा सति

यद्यपि शरीरमपि दृश्यं तथापि द्रष्ट्रा व्याप्तमिति तद्व्यतिरिक्तस्यैव दृश्यत्वप्रतीतिः लोके. तत्र ये महान्तः ते सर्वे[1] अत्र ब्रह्माण्डे अयोगोलके वह्निमिव भगवन्तं पश्यन्ति. (**अबुद्धिभिः आरोपितं!**) ये पुनः मूढाः ते तस्मिन् **द्रष्टरि दृश्यत्वम्** आरोपयन्ति. ननु कथम् अन्यस्मिन् अन्यधर्माध्यारोपः इति आशङ्क्य सदृष्टान्तम् आह **यथा नभसि मेघौघः** इति. वस्तुतस्तु

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

अर्थः— 'द्रष्टृ'पदेन ब्रह्माण्डात्मक-शरीरविशिष्टं ब्रह्म उच्यते. तथाच महदादिनिर्मितत्वात् शरीरं दृश्यमपि भवति. एवञ्च 'द्रष्टृ'पदवाच्यस्य एकदेशे आरोपो न सम्भवति यद्यपि इति अर्थः. समाधानम् आहुः **तथापि** इति. **द्रष्ट्रा** भगवता **व्याप्तम्** अयोगोलकवद् अन्तर्बहिः तद्रूपं जातम् इति. ततः किम् अतः आहुः **तद्व्यतिरिक्तस्यैव** इति. ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य इति अर्थः. तथाच शरीरस्यापि ब्रह्मरूपत्वाद् न दृश्यत्वम् इति भावः. **द्रष्टरि दृश्यत्वम्** इति पदद्वयं व्याख्याय **आरोपितम् अबुद्धिभिः** इति पदद्वयं व्याचष्टे **तत्र ये महान्तः** इति. तथाच सतां मते ब्रह्मणो दृश्यत्वं यथार्थमेव, नतु आरोपितं ; तपसा पश्यन्त्येवेति न प्रमाणान्तरापेक्षा इति

प्रकाशः

तद्व्यतिरिक्तस्य इति द्रष्टृव्यतिरिक्तस्य. **कथम्** इति, अदृश्ये अध्यारोपासम्भवात् कथम् इति अर्थः. **वस्तुतः** इत्यादि. तथाच अदृश्ये आकाशे यथा मेघाः आरोपिताः तथा ब्रह्मशरीरे ब्रह्माण्डे दृश्यत्वमपि आरोपितम्. ततश्च यथा मेघद्रष्टॄणाम् आकाशधर्मो[2] अवकाशो न प्रतीयते तथा प्राकृतत्वेन द्रष्टॄणां चेतनत्वमपि न प्रतीयते इति तद्प्रत्ययमात्रेण

लेखः

द्रष्टृत्वोक्तिरपि मूले असङ्गता इत्यतः आहुः **यद्यपि शरीरम्** इति. महदादिभिः रचितं विराड्रूपम् इति अर्थः. **व्याप्तम्** इति, अयोगोलकं वह्निनेव इति अर्थः. **तद्व्यतिरिक्तस्य** इति, चेतनानधिष्ठितस्य केवलभौतिकस्य शरीरादेः इति अर्थः. **तस्मिन् द्रष्टरि** इति. **द्रष्टरि** महदादिनिर्मिते ब्रह्माण्डे

---

१. सर्वत्र इति ख. २. आकाशस्य धर्मः आकाशधर्मः इति षष्ठीतत्पुरुषः, नतु बहुव्रीहिः - सम्पा.

आकाशो अदृश्यः, ततश्च तदाधारत्वेन कथं मेघाः दृश्याः भवेयुः? येषामपि मते दृश्यः तेषामपि मते न आकाशे मेघाः किन्तु वायावेव. तत्र यथा अन्यत्र स्थितानाम् अन्यत्र प्रतीतिः; अत्र विशिष्टप्रतीतिः आरोपितेन सह तथा नास्तीति दृष्टान्तान्तरम् आह **रेणुर्वा पार्थिवो**

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

भावः. **ततश्च तदाधार** इति. यतः आकाशो अदृश्यः **ततः तदाधारत्वेन** आकाशाधिकरणकत्वेन **मेघाः** केन प्रकारेण द्रष्टुं योग्या **भवेयुः?** तथाच येन प्रकारेण अदृश्ये आकाशे मेघाः दृश्यन्ते तेन प्रकारेण अदृश्ये ब्रह्मणि स्वरूपं वाच्यं दृश्यते इति भावः. येषां मते आकाशो दृश्यते तेषामपि मते दृष्टान्तः संगच्छते इति आहुः **येषामपि** इति. तेषां मते मेघाः वायौ वर्तन्ते. ततः किम् अतः आहुः **तत्र यथा** इति. एवञ्च वायौ स्थिताः मेघाः यथा आकाशे प्रतीयन्ते तथा अन्यत्र स्थितं स्वरूपं भगवति प्रतीयते इति दृष्टान्तसङ्गतिः इति भावः. **यथा नभसि मेघौघो** इति दृष्टान्ते प्रकृतानुपयोगित्वम् आहुः **अत्र विशिष्ट** इति. **विशिष्टप्रतीतिः** आकाशे मेघः इति प्रतीतिः **आरोपितेन** दृश्यत्वेन **सह** साकं **न तथा**

प्रकाशः

भगवदनाविष्टत्वस्य न सिद्धिः इति अर्थः. ननु "पराञ्चि खानि" (कठोप. २।१।१) इति श्रुतेः भगवान् पराचाम् अदृश्यः, आकाशस्तु केषाञ्चित् मते पराचामपि दृश्यः इति विरुद्धो दृष्टान्तः इत्यतः आहुः **येषाम्** इत्यादि. तथाच आकाशे असम्भवदाधाराणां वायुस्थितानाम् आकाशस्थत्व-प्रतीतिवत् स्वविषयस्थित-दृश्यत्वस्य ब्रह्मशरीरे प्रतीतिः इति अस्मिन् अंशे दृष्टान्तः इति अर्थः. तर्हि द्वितीयदृष्टान्तस्य किं प्रयोजनम् अतः आहुः **अत्र** इत्यादि. **अत्र** इति उक्तदृष्टान्ते. **तथा नास्ति** इति

लेखः

इति अर्थः. अस्य द्रष्टृत्वं द्रष्टृव्याप्तत्वादेव[१] बोध्यम्. **आरोपितेन सह** इति. तत्र आरोपाधिकरणीभूताऽऽकाशस्य अप्रत्यक्षत्वाद् न इति भावः.

---

१. नहि द्रष्टुः अभावे द्रष्टृत्वं सम्भवतीति हेतोः -सम्पा.

अनिले इति. यथा वात्यादौ तद्विशिष्टरेणुप्रतीतिः ततो भ्रान्ताः 'वात्यायाः' इति रेणुं मन्यन्ते. वस्तुतस्तु **पार्थिवो रेणुः** ॥३१॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

न सदृशी **इति** हेतोः अन्यो दृष्टान्तः उच्यते इति. अयम् अर्थः— भगवति दृश्यत्वं मूढैः आरोपितम्. तत्र दृष्टान्तः **यथा नभसि** इति. तथाच आकाशे मेघस्य आरोपो नास्ति इति सादृश्याभावाद् इयं प्रतीतिः दृश्यत्वे दृष्टान्तएव न भवति इति **दृष्टान्तान्तरमाह** इति भावः. दूषणान्तरमपि ज्ञेयम्. तथाहि आकाशे मेघः इति दृष्टान्तेन वैपरीत्यम् आयाति– यथा आकाशे मेघो वस्तुतः प्रतीयते तथा ब्रह्मणि दृश्यत्वमपि– इति विपर्ययाद् न दृष्टान्तः इति भावः. एवञ्च **कथम् अन्यस्मिन् अन्यधर्माध्यारोपः** इति आशङ्कायां **यथा नभसि** इति न समीचीनो दृष्टान्तः इति आचार्याणाम् आशयः. **यथा वात्यादौ** इति. यद्विशिष्टा वात्या तद्विशिष्टा **रेणुप्रतीतिः** सर्वेषां जायते **ततः** तेभ्यो **भ्रान्ताः वात्यायाः इति** वात्यासम्बन्धी तां **रेणुं मन्यन्ते** इति. **यथा वात्या** इति तु प्रमा-भ्रमयोः वैलक्षण्यज्ञापनाय उक्तम्. अयम् अर्थः— भ्रान्तानान्तु वायुसम्बन्धी रेणुः इति प्रतीतिः. एवञ्च प्रकृते समीचीनो दृष्टान्तः. तथाहि यथा भ्रान्तैः रेणोः वायवीयत्वं

प्रकाशः

दार्ष्टान्तिकसमाना[१] नास्ति. दृष्टान्ते हि अदृश्यधर्मो[२] दृश्ये आरोप्यते, दार्ष्टान्तिके तु दृश्यधर्मस्य अदृश्ये आरोपो विवक्षितः इति असमानता. तेन अस्वरसेन दृष्टान्तान्तरम् उच्यते इति अर्थः. **यथा वात्येत्यादि.** वायुः सर्वमतेऽपि अदृश्यः. तत्र यथा पृथिव्याः दृश्यायाः रेणुः आरोपितः

लेखः

वात्यायाः इति. **इतिप्रकारको रेणुं वात्यायाः मन्यन्ते,** नतु पार्थिवोऽपि इति अर्थः. एवञ्च अत्र वायोः स्पार्शनप्रत्यक्षत्वेन रेणोः चाक्षुषत्वेन च विशिष्टप्रतीतिः अत्र इति भावः ॥३१॥

---

१. दार्ष्टान्तिकसमाना प्रतीतिः इति अर्थः -सम्पा. २. दृष्टान्ते आकाशस्तु अरूपः, तस्य अदृश्यधर्मो दृश्ये मेघे आरोप्यते. दार्ष्टान्तिके तु दृश्यत्वरूप-दृश्यधर्मः अदृश्ये ब्रह्मणि आरोप्यते इति भावः -सम्पा.

एवं प्रपञ्चे जडबुद्धिः भ्रान्ता, भगवद्बुद्धिः मुख्या इति निरूप्य जीवेऽपि भगवद्बुद्धिरेव मुख्या, न जीवबुद्धिः इति निरूपयति.

अतः परं यदव्यक्तम् अव्यूढगुणबृंहितम् ।।
अदृष्टाश्रुतवस्तुत्वात् स जीवो यत्पुनर्भवः ।।३२।।

अतः परम् इति. **अतो (परं!)** ब्रह्माण्डविग्रहात् सूक्ष्मं **(अव्यक्तं!)** सर्वेन्द्रियागोचरम् अव्यक्तापरपर्यायं **(अव्यूढगुणबृंहितम्!)** कर-चरणाद्याकारेण

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

वाच्यते तथा भगवति दृश्यत्वम् आरोपितं, यथा रेणोः पार्थिवत्वं वास्तवं तथा भगवति अदृश्यत्वम् इति भावः. श्लोकार्थस्तु— **अबुद्धिभिः** मूढैः **द्रष्टरि** भगवति **एवं** मेघ-रेणुदृष्टान्तेन **दृश्यत्वं** दर्शनयोग्यत्वम् **आरोपितम्** इति अर्थः. तथाच मूढानामेव एतादृशं ज्ञानं, सतान्तु सर्वत्र ब्रह्माण्डरूपदेहे अयोगोलक-वह्निवद् भगवज्ज्ञानं भवति इति अर्थः ।।३१।।

अयमेव अर्थः **एवं प्रपञ्चे जडबुद्धिर्भ्रान्ता** इत्यनेन स्पष्टीक्रियते. **न जीवबुद्धिः** इति, जीवत्वेन बुद्धिः इति अर्थः.

अतः परम् इत्यत्र. **अव्यक्ताऽपर** इति, अक्षरब्रह्मापरं स्वरूपम् इति अर्थः. **अव्यूढपदं** व्याचष्टे **कर-चरणाद्याकारेणापरिणतैः** इत्यनेन. पक्षिरूपे करो नास्ति यद्यपि तथापि कीटादयः चरणेन भक्षयन्ति ; भक्षणन्तु हस्तकार्यम् इति तस्यैव चरणत्वं हस्तत्वञ्च इति अभिप्रायेण **कर** इत्युक्तम्

प्रकाशः

तथा इति अर्थः. तथाच यदि वाचो धेनुत्ववद् भगवतो ब्रह्माण्डत्वेन उपासनार्थं ब्रह्माण्डं भगवति आरोपितम् इति अभिप्रेयात् तदा "द्रष्टरि दृश्यम् आरोपितम्" इति ब्रूयात्, नतु दृश्यत्वम्[१] इति. तेन दृश्यत्वादिधर्मकं शरीरम् आरोपितम् इति व्याख्यानं[२] न युक्तं, 'दृश्य'पदे लक्षणाप्रसङ्गाद्, "जगृहे" (श्लो. १) इति भूतार्थवादस्य योगजधर्मीय-दर्शनादेश्च बाधप्रसङ्गाद् इति अर्थः ।।३१।।

अतः परम् इत्यत्र. **इति निरूपयति** इति, इति वक्तुं भगवदुपाध्यन्तरं

---

१. दृश्यम् इति मुद्रितपाठः. कि.पाठे तु एवम् - सम्पा.   २. श्रीधर्याम् - सम्पा.

अपरिणतैः गुणैः स्वाभाविकैः व्याप्तम् अस्ति इति सम्बन्धः. ततः किम् इति आकाङ्क्षायां (आह!) **स जीवएव,** जीव-जड-भगवद्व्यतिरेकेण चतुर्थपदार्थस्य अभावात्. ननु तथापि जीवत्वं कुतः? अतः आह **अदृष्टाश्रुतवस्तुत्वाद्** इति. यदि तद् जडं स्याद्, दृश्यं स्यात्. यदि वा भगवद्रूपं स्याद्, वेदादौ श्रुतं स्यात्. न वा निःस्वभावं शशशृङ्गवत्, वस्तुत्वात्. तस्मात् पारिशेष्याद् जीवएव. केचन तं जीवोपाधिं मन्यन्ते. तथा प्राप्ताप्राप्तविवेकेन भगवद्व्यतिरिक्तस्य जीवस्य अभावात् कस्य[1] उपाधिः

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

आचार्यैः. अयम् अर्थः — "द्वा सुपर्णा सयुजा सखायौ" (मुण्डकोप. ३।१।१) इति श्रुतौ जीवस्य पक्षिरूपता निरूपिता. एवञ्च हंसाकृतित्वाद् जीवस्य कर-चरणाद्याकारत्वं सिद्धम्. कर-चरणादयस्तु जीवे स्वाभाविकाः ब्रह्मरूपाएव, नतु ब्रह्मणः तदंशे परिणामः. तथाच **अव्यूढैः अपरिणतैः** वास्तवब्रह्मरूपैः इति यावद् **गुणैः** कर-चरणादिधर्मैः **व्याप्तं** युक्तम् इति अर्थः. इत्थञ्च दुग्धं यथा दधि भवति तथा ब्रह्म न जातम् इति अर्थः. **ननु तथापि** इति. ब्रह्मत्वं जडत्वं वा भविष्यति, **जीवत्वन्तु कुतः** इति अर्थः. **न वा निःस्वभावम्** इति. निर्गतः स्वभावः = स्वस्य सत्ता यस्य तादृशं न. यथा शशशृङ्गं तथा न इति अर्थः. **पारिशेष्याद्** इति, परिशेषानुमानेन इति अर्थः. **केचन** इति, भ्रान्ताः इति अर्थः. **तं** जीवं जीवान्तरकार्यं **मन्यन्ते** इति अर्थः. **तथा** इति, जीवान्तरस्वीकारे इति अर्थः. तर्केण दूषणम् आहुः **प्राप्त** इति. अयम् अर्थः — यदि जीवान्तरं

प्रकाशः

जीवं निरूपयति इति अर्थः. **वस्तुत्वाद्** इति चेष्टाद्यनुमेय-वस्तुत्वात्. **केचन** इत्यादि. श्रीधराद्याः "जीवो जीवेन निर्मुक्तः" (भाग.पुरा. ११।२५।३६) इत्यादौ जीवोपाधौ लिङ्गशरीरेऽपि 'जीव'पदप्रयोगदर्शनाद् 'जीव'पदेन लिङ्गशरीरं मन्यन्ते इति अर्थः. तद् दूषयन्ति **तथा** इत्यादि. तथा सति **प्राप्ताप्राप्तविवेकेन** भगवान् उपक्रान्तत्वात् प्राप्तः, जीवस्तु अनुपक्रान्तत्वाद्

१. कस्योपाधित्वमिति ख.

स्यात्? तस्माद् जीवएव सः. किञ्च (**यत्**!) यस्मात् **पुनर्भवः**. पुराणे लोके च एवं प्रतीयते— पूर्वम् अयं देवः स्थितः इदानीं मनुष्यत्वम् आपन्नः इति. अतः पुनर्भवान्यथानुपपत्त्या भगवदुपाधिः सूक्ष्मो जीवः कश्चिद् अस्ति इति मन्तव्यम् ॥३२॥

किमतो यदि एवम्? तत्र आह.

यत्रेमे सदसद्रूपे प्रतिषिद्धे स्वसंविदा ॥
अविद्ययाऽऽत्मनि कृते इति तद् ब्रह्मदर्शनम् ॥३३॥

यत्रेमे इति. वस्तुतस्तु सर्वो भगवान् एव ; न जीवो नापि जडः. प्रतीतिस्तु आविद्यकी. यदा पुनः (**यत्र**!) स्वस्मिन्नेव अधिष्ठाने **इमे**

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

प्राप्तं = दृश्यं स्यात् तदा खण्डजः स्याद् इति अर्थः. यदि अप्राप्तम् = अदृश्यं स्यात् तदा ब्रह्मैव स्याद्, अस्मदुक्तजीवो वा. तथाच जीवान्तरस्वीकारे प्रमाणं नास्ति इति भावः. जीवस्य सूक्ष्मत्वे हेतुम् आहुः **किञ्च** इति. **भगवदुपाधिः** इति, भगवत्कार्यम् इति अर्थः. विवर्तस्य अनङ्गीकाराद् इति भावः ॥३२॥

यत्रेमे इत्यत्र. **आविद्यकी** इति, जडत्वेन जीवत्वेन च प्रतीतिः

प्रकाशः

अप्राप्तः इति तद्विचारेण तथा इति न अत्र लिङ्गशरीरम् उच्यते इति अर्थः. तथाच ब्रह्मणो अंशतो लिङ्गशरीरसम्बन्धो अनुचितो, जीवतुल्यता-मतिश्च इति भावः. **पुनर्भव** इति अस्ति इति शेषः. तथाच "तमुत्क्रामन्तं प्राणो अनूत्क्रामति" (बृहदा.उप. ४।४।२) इत्यादिना श्रुतौ लिङ्गभूतानाम् अनूत्क्रमः श्राव्यते, नतु उत्क्रमः, अतः उत्क्रमणलिङ्गेनापि न जीवोपाधिः अत्र उच्यते इति तथा इति अर्थः. **भगवदुपाधिः** इति. भगवता अन्तर्यामिरूपेण उप समीपे धीयते पोष्यते इति तथा ॥३२॥

लेखः

अतः परम् इत्यत्र. **प्राप्ताप्राप्तविवेकेन** इति. भगवान् उपक्रान्तत्वात् प्राप्तः, जीवस्य तदतिरिक्तत्वेन अनुपक्रान्तत्वाद् अप्राप्तः इति **कस्य उपाधिः स्याद्** इति अर्थः ॥३२॥

(सदसद्रूपे !) स्थूल-सूक्ष्मे **(स्वसंविदा !)** ब्रह्मानुभवेन **प्रतिषिद्धे** भवतः चेत्. प्रतिषेधे हेतुम् आह **अविद्यया आत्मनि कृते** इति. ब्रह्मानुभवव्यतिरेकेण **आत्मनि कृते** आत्मस्थाने तत् प्रतीयते इति अर्थः. **इतिशब्दो** हेतौ, **तत्** तदेव **ब्रह्मदर्शनं** ब्रह्मानुभवो भवति इति अर्थः. सर्वत्र ब्रह्मप्रतीतिः तिष्ठति ; जड-जीवप्रतीतिः गच्छति इति भावः ॥३३॥

किं तावता? कदा वा प्रतीतिः एषा गच्छति? इति तद्द्वयं निरूपयति.

यद्येषोपरता देवी माया वैशारदी मतिः ॥
तदा सम्पन्न एवायं महिम्नि स्वे महीयते ॥३४॥

यद्येषा इति. **एषा माया** भगवतो **(वैशारदी !)** विशारदस्य सम्बन्धिनी **देवी** देवतारूपा पूर्वावस्थातः **उपरता** भवति. तथापि तस्याः न निःस्वभावत्वं भवेत् किन्तु सा **मति**रूपा भवति. यदा प्रवृत्तिरूपा भवति तदा माया,

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

अविद्याजनिता इति भावः. **यत्र** इत्यस्य व्याख्यानं **स्वस्मिन्** इति. **अधिष्ठाने** प्रतीत्यधिकरणे इति अर्थः. **इमे** परिदृश्यमाने इति अर्थः. **सदसद्रूपे** इत्यस्य व्याख्यानं **स्थूल-सूक्ष्मे** इति. जडस्य स्थूलत्वाद् जडत्वेन प्रतीतिः स्थूला, जीवस्य सूक्ष्मत्वाद् जीवत्वेन प्रतीतिः सूक्ष्मा इति. **स्वसंविदा** इत्यस्य व्याख्यानं **ब्रह्मानुभवेन** इति. **चेद्** इति, प्रतिषेधो दुर्लभः इति भावः. **प्रतिषेधे** इति, प्रतिषेधस्य कर्तव्यत्वे **हेतुम् आह** इति अर्थः. मूलस्थाऽऽ**त्मनि** इत्यस्य अधिकरणस्य अयम् अर्थः इति आह **आत्मस्थाने** इति. प्रतीतिद्वयस्य आत्मा अधिकरणम् इति अर्थः. **इतिशब्दो** इति. **इति** हेतोः इति अर्थः. अयम् अर्थः— प्रतीतिद्वयम् अविद्याकृतम् **इति** हेतोः प्रतिषेधः कर्तव्यम् इति भावः ॥३३॥

यद्येषोपरता इत्यत्र. न **निःस्वभावत्वम्** इति, वस्तुतो न नष्टत्वम् इति. **किन्तु** इति, तथाच **उपरत**पदेन न वास्तवो नाशः किन्तु अवस्थान्तरम् इति भावः. ननु माया तु तिष्ठत्येव, वास्तवनाशाभावात्, तथाच मायासद्भावएव,

प्रकाशः

यद्येषा इत्यत्र. न **निस्स्वभावत्वम्** इति न असत्त्वम्. तस्याः

निवृत्तिरूपा मतिः इति विशेषः. **तदा अयं** जीवः **स्वे महिम्नि सम्पन्नएव** स्वरूपं प्राप्तएव[१] **महीयते** स्वाराज्यं करोति इति अर्थः. एवं सर्वं हरिः इत्येतदर्थं सपरिकरः पुरुषावतारो निरूपितः ॥३४॥

एवम् अन्यत्रापि कृष्णे पुरुषोत्तमे जन्म-कर्मनिरूपणं तस्य तस्य[२] भगवत्त्वज्ञानार्थमेव इति आह **एवम्** इति.

एवं जन्मानि कर्माणि ह्यकर्तुरजनस्य च ॥
वर्णयन्ति स्म कवयो वेदगुह्यानि हृत्पतेः ॥३५॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

जड-जीवप्रतीतिः गच्छति इति आशङ्क्य आहुः **यदा** इति. यदा जीवं बध्नाति **तदा माया** इति व्यवहारः. **निवृत्ति** इति. यदा जीवं मोचयति तदा **मतिः इति**. तथाच अयमेव **विशेषः** मायासत्त्वासत्त्वयोः वैलक्षण्यम् इति भावः ॥३४॥

अन्यत्रापि इति. अन्यग्रन्थेष्वपि यत्र यत्र "साक्षात् श्रीकृष्णएव अयम् अवतारः" एतादृशं कथनं तत्र तत्र तदवतारस्य भगवत्त्वज्ञापनार्थमेव, नतु प्राकृतशरीराभिमानी यः कश्चन अपि श्रीकृष्णो भवितुम् अर्हति इति भावः. सतु अजएव इति तत्त्वार्थः. **एवं जन्मानि** इत्यत्र **ननु** इति.

प्रकाशः

पूर्वावस्थाम् आहुः **यदा** इति. **मतिः** इति विद्या. **स्वाराज्यं करोति** इति, इति विदुः तत्त्वज्ञाः इति शेषः. तथाच मायाया विद्यारूपेण परिणामे "जीवो अयं, जडो अयम्" इति भेदबुद्धिः गच्छति, तावता स्वरूपलाभो अस्य भवति इति अवतारकथायां शुभं फलम् उक्तं **सर्वं हरिः इत्येतदर्थम्** इति. द्वितीयाध्याये "सत्त्वं यद् ब्रह्मदर्शनम्" (भाग.पुरा. १।२।२४) इत्यनेन सत्त्वस्य अदूरत्वेन ब्रह्मानुभवरूपत्वं यद् उक्तम् आसीत् तस्य अनुभवस्य आकारः "सर्वं हरिः" इति तत्प्रदर्शनार्थम् इति अर्थः ॥३४॥

एवं जन्मानि इत्यत्र. **अन्यत्रापि** इति अवतारान्तरेऽपि. **उपदेशातिदेशयोः** इत्यादि. उपदेशः प्राथमिकं कथनम्, अतिदेशस्तु अन्यत्र

---

१. इवेति क. २. आम्रेडनं / वीप्सा भा.पाठानुरोधात्. मुद्रितपाठे नास्ति - सम्पा.

ननु उपदेशातिदेशयोः को विशेषः इत्यतः आह **अजनस्य जन्मानि, अकर्तुः कर्माणि** इति. विरुद्धधर्माश्रयत्वेन माहात्म्यं विशेषः, "एतावान् अस्य महिमा" (ऋक्संहि. १०।९०।३) इति वचनात्. एवमेव हि **कवयो वर्णयन्ति** विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वेन. ननु कथं प्रतीतिः अविरोधेन? तत्र आह **वेदगुह्यानि** इति, वेदेऽपि गोप्यानि. भ्रान्तानां विरुद्धवत्-प्रतीत्यर्थं तथा वचनम्. वस्तुतस्तु सर्वभवनसमर्थे ब्रह्मणि विरोधएव नास्ति. किञ्च **हृत्पतेः** सर्वेषां हृदयानां सएव प्रेरकः. तत्र यथा अनेकविधं प्रेरयति तथा अनेकविधो भवति इति अर्थः ॥३५॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

तद्वद् इति **अतिदेशः**[१], कथनम् **उपदेशः**. तथाच **एवम्** इत्युक्ते सर्वम् आयाति, कथनं किमर्थम् इति भावः ॥३५॥

प्रकाशः

प्रसिद्धस्य धर्मस्य अन्यत्र कार्यवशात् प्राप्तिः. प्रकृतेतु पुरुषावतार-जन्मादि-कथनम् उपदेशः, **एवं जन्मानि** इत्यनेन अन्यत्र तदतिदेशः. तयोः **को विशेषः** इति, अवतारकथाप्रश्नेन भगवत्त्वादेः अपृष्टत्वात् तत्कथनस्य किं प्रयोजनम् इति अर्थः. **नास्ति** इति, "नहि विरोध उभयम्" (भाग.पुरा. ६।९।३६) इति वाक्याद् नास्ति इति अर्थः. **अनेकविधो भवति** इति. तेन मायिकरूप-मायावादयोरपि एकदेशत्वेन सङ्ग्रहः. अथवा प्रेरणाविशेषरूप-धर्मभेदाद् अनेकविधो भवति इति अर्थः ॥३५॥

लेखः

एवम् इत्यत्र. **उपदेशातिदेशयोः** इति. उपदेशः प्राथमिकं कथनं, सच "जगृहे पौरुषं रूपम्" (श्लो. १) इत्यादिवाक्यैः उक्तः. अतिदेशस्तु अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्य अन्यत्र कार्यवशात् प्राप्तिः. सच **एवं जन्मानि कर्माणि** इत्यनेन उक्तः. **वेदेऽपि गोप्यानि** इति. तथाच वेदेनैव. तत्रापि अभ्रान्तानामेव अविरोधेन प्रतीतिः इति भावः ॥३५॥

---

१. द्रष्ट. "समासचवनमुद्देशः, विस्तरवचनं निर्देशः, एवमेव इति उपदेशः ... अतिक्रमणेन अतिदेशः" (विष्णुधर्मो.पुरा.काण्ड ३।६७) - सम्पा.

कथं वर्णयन्ति? का वा तस्य लीला? किं स्वरूपम्? कथं ज्ञायते? इति आकाङ्क्षायाम् आह **स वै इदम्** इति त्रिभिः. अथवा "सूत जानासि" (भाग.पुरा. १।१।१२) इत्यस्य वा उत्तरम्.

स वै इदं विश्वममोघलीलः सृजत्यवत्यत्ति न सज्जतेऽस्मिन् ॥
भूतेषु चान्तर्हित आत्मतन्त्रः षाड्वर्गिकं जिघ्रति षड्गुणेशः ॥३६॥

सः पुरुषोत्तमः. **वै** निश्चयेन, कालादीनां तत्प्रेर्यत्वात्. **इदं विश्वम्** इति प्रपञ्चे भेदो निवारितः. अक्षर-काल-कर्म-स्वभाव-प्रकृति-पुरुषैः क्रियते जगद् इति यद् बहुधा निरूपितं तद् वस्तुतो भगवानेव करोति. तत्र हेतुः **अमोघलीलः** इति. केवलम् अक्षरादिभिः कृते स्वतन्त्रस्य भगवतः इच्छाभावे सति क्रिया व्यर्था स्यात्, कार्यव्यापृतत्वेन सम्यक्स्फुरणाभावात्

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

स वा इत्यत्र. **कालादीनाम्** इति, काल-कर्म-स्वभावानाम् इति अर्थः. **क्रिया व्यर्था** इति, कार्यजनिका न भवेद् इति अर्थः. **व्रीहीनिव**

प्रकाशः

स वा इत्यत्र. **वर्णयन्ति** इति यद् उक्तं तस्यैव अग्रिमश्लोकत्रयं प्रपञ्चः इति बोधयन्ति **कथं वर्णयन्ति** इत्यादि. तथाच जगत्कर्तृत्वादिना **वर्णयन्ति, "सृजति"** इति सर्गादिलीलाः, **"अमोघलीलः"** इति **स्वरूपं,** सृष्टिद्वारा च **ज्ञायते** इति बोध्यम्. ननु द्वितीयाध्याये "सएव इदम्" (भाग.पुरा. १।२।३०) इत्यादिना लीलानाम् उक्तत्वात् पुनः तत्कथने प्रयोजनं तथा न दृश्यतइति, षट्प्रश्नपूरणं च न जातम् इति च अरुच्योः निवृत्तये पक्षान्तरम् आहुः **अथवा** इत्यादि. अत्र 'तच्'छब्दः प्रसिद्धार्थविषयः, नतु प्रक्रान्तविषयः इति आशयेन आहुः **पुरुषोत्तमः** इति. "अतोऽस्मि लोके वेदे च" (भग.गीता १५।१८) इति वाक्याद्, अत्रापि पूर्वं "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" (श्लो. २८) इति कथनाद् अवसरस्यापि सत्त्वाच्च. **इदम्** इति, परिदृश्यमाने विश्वत्वे अस्य. **निवारितः** इति, समभिव्याहारेण

लेखः

स वा इदम् इत्यत्र. **"सूत जानासी"त्यस्य वा** इति. अनेन उक्तस्य अवतारप्रयोजन-प्रश्नस्यैव उत्तरम् इति अर्थः. **व्यर्था स्याद्** इति.

च. भगवतस्तु लीला सा. जगतो भोग्यत्वाद् व्रीहीनिव वा **सृजति अवति अत्ति.** भक्षणकथनाद् अन्येषां कर्मकरत्वेन अप्रयोजकत्वम् उक्तम्. जीवानामपि तथात्वेन वैलक्षण्यम् आह **न सज्जते** इति. तत्कृतगुण-दोषाः

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इति, कृषीवलइव सर्वं करोति इति भावः. **अन्येषाम्** इति, अक्षरादीनाम् इति अर्थः. **तथात्वेन** इति, कर्मत्रयकर्तृत्वेन इति भावः. **वैलक्षण्यमाह**

प्रकाशः

भगवत्कृत-परिदृश्यमानयोः विधेयत्वबोधनात्[१] निवारितः. **व्यर्था स्याद्** इति. फलासिद्ध्या तथा. न अत्र अनित्यत्वं जगतो भविष्यति तत्कृता फलासिद्धिः, अपितु भगवतीव अक्षरादिषु हि अमोघलीलत्वं न भवतीति निष्फललीलया फलासिद्धिः इति भावः. हेतुम् आहुः **कार्येति,** कालाक्षरपुरुषाणां स्यात्. **लीला सा** इति, तेन सम्यक् स्फुरणम् इति अर्थः. **अन्येषाम्** इति, अक्षर-काल-पुरुषाणां कार्यव्यापृतत्वेन इति अर्थः. **तथात्वेन** इति, भोक्तृत्वेन इति अर्थः. जीवाः सज्जन्ते, भगवांस्तु अभिचाकशीति[२], अतो **न सज्जते**

लेखः

अक्षरादीनां क्रिया हि फलपर्यवसायित्वाभावाद् व्यर्था भवेद्, भगवदिच्छां विना फलं न भवेत् प्रपञ्चे इति अर्थः, "फलमत उपपत्तेः" (ब्रह्मसूत्र ३।२।३८) इति सिद्धान्तात्. अत्र भगवत्क्रियात्वेतु अमोघत्वमेव इति भावः. अमोघत्वञ्च फलोन्मुखत्वमेव इति. **लीलापदतात्पर्य-**विचारेणापि भगवत्येव प्रपञ्चानुकूला क्रिया सिद्ध्यति, नतु अक्षरादिषु इति आशयेन आहुः **कार्य** इति. अक्षरादीनां स्फुरणाभावे इति अर्थः. तर्हि भगवत्यपि तथाङ्गीकारे स दोषः कथं वार्यः इति आशङ्कायां **लीलापदे**नैव तन्निवृत्तिः सूचिता भवति इति आहुः **भगवतस्तु लीला सा** इति. नहि लीलायां कश्चन मलीनो भवति इति भावः. **व्रीहीनिव** इति. यथा कृषकः स्वयमेव **व्रीहीन् सृजत्यवत्यत्ति** तथा इति अर्थः. एकस्यैव सृजन-पालन-

१. परिदृश्यमानत्वं भगवत्कृतत्वम् इति उभे विधेये विश्वत्वाधिकरणीभूते उद्देश्ये विधीयेते इति भावः -सम्पा. २. प्रकाशते इति अर्थः -सम्पा.

मोह-हर्षादयः सङ्गः ; तन्नास्ति. तत्र प्रमाणमिव कथयन् **अस्मिन्** इति निर्दिशति. **भूतेषु** स्वांशभूतेषु जीवेषु **च न** सङ्गः. जीव-जडयोः अनासक्तिः उक्ता. ननु सर्वत्र कार्य-कारणयोः दर्शनाद् भगवतश्च अदर्शनात् कथं भगवान् करोति? दृष्टे सम्भवति अदृष्टकल्पनायाः अन्याय्यत्वात् (द्रष्ट. लौ.न्या.सा. ५५९) च. तत्र आह **अन्तर्हितः आत्मतन्त्रः** इति. अन्तर्हितत्वाद् अदर्शनम्. आत्मतन्त्रत्वात् न दृष्टसम्भवः, दृष्टानां परतन्त्रत्वात्. ननु सर्वत्र अन्तर्हितः अनुप्रविष्टः चेत् करोति तदा भोगे दोषः, जीवैः सह भोगात्, प्रथमतएव वा भोगे भुज्यमानानाम् अभावापत्तिः[१] इति आशङ्क्य

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इति, पुरुषोत्तमे वैलक्षण्यम् आह इति अर्थः. **स्वांशभूतेषु** इति, पञ्चमहाभूतेषु इति अर्थः. **कथं भगवान्** इति, भगवतः कर्तृत्वं कथम् इति अर्थः. **ननु सर्वत्रान्तर्हितः अनुप्रविष्टश्चेद्** इति. जीवानुचरो भूत्वा भुनक्ति चेत् **तदा** उच्छिष्टभोजित्वाद् **भोगे दोषः** इति अर्थः. **प्रथमतः** इति, जीवभोगात् पूर्वमेव इति अर्थः. भुज्यमाने येषां भोगः क्रियते ते पदार्थाएव नष्टाः स्युः, पूर्वम् ईश्वरेण भुक्तत्वाद् इति भावः. नहि एकेन भुक्तो अपरेण

प्रकाशः

इति जीवेभ्यो **वैलक्षण्यम्. प्रमाणमिव** इति. सूतः स्वानुभवं कथयन् इति अर्थः. **उक्तेति**. तथाच देहेषु जीवानाम् अध्यासः **सम्बन्धः. न दृष्टसम्भवः** इति, न दृष्टे निरंकुशकारणत्वसम्भवः इति अर्थः. **तदा भोगे दोषः** इति. **अत्ति** इत्यनेन भोगस्यापि उक्तत्वात् तत्समये[२] भोगे जीवतुल्यत्वम्. **अभावत्वापत्तिः इति आशङ्क्य आह** इति. क्षयाद्

लेखः

भोगकर्मताप्रसिद्ध्यर्थम् अयं दृष्टान्तः उक्तः. **आत्मतन्त्रत्वाद्** इति. स्वतन्त्रत्वेन अदृष्टः सन्नपि कार्यकरणक्षमः इति अर्थः. तथाच "दृष्टे सम्भवति" (लौ.न्या.सा. ५५९) इत्यादिन्यायः परतन्त्रस्थलएव समबलविचारएव संचार्यो, न एवमादिस्थले इति भावः. तदेतद् आहुः **दृष्टानाम्** इति, दण्डादीनाम्

---

१. अभावत्वापत्तिरिति क-ग-प्रकाशे -सम्पा. २. समये इति मुद्रितपाठः. कि.पाठे तु एवम् -सम्पा.

आह **षाड्वर्गिकं जिघ्रति.** भोगो हि इन्द्रियसाध्यः. इन्द्रियाणितु धर्मानेव गृह्णन्ति, न धर्मिणः. तत्र केवलानां ग्रहणं जीवैः अशक्यम्. इन्द्रियाणां

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

भोक्तुं शक्यः. ईश्वरे जीवविलक्षणं रूपादिभोक्तृत्वं साधयन्ति **भोगो हि** इत्यारभ्य **भगवत्साध्यः** इत्यन्तेन. **भोगो हि इन्द्रियसाध्यः** इति. ज्ञातानां रूपादीनां भोगः सम्भवति, ज्ञानन्तु इन्द्रियसाध्यम् इति अर्थः. अयम् आशयः— दर्शने रूपमपि गृह्यते घटोऽपि गृह्यते ; अन्यत्रापि एवं ऊह्यम्. घ्राणेनतु गन्धएव गृह्यते, न गन्धाधिकरणम्. तथाच भोगस्तु जीवात्मन्येवेति ग्रहण-भोग-वैयधिकरण्यम्. **धर्मानेव** इति, रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दानेव **गृह्णन्ति. न धर्मिणः** इति, भोगविशिष्टान् न इति अर्थः. **तत्र** इति, भोगविशिष्टरूपादिषु **केवलानां** रूपाद्याधार-पृथिव्यंशरहितानां रूपादीनाम् इति अर्थः. तथाच निःशेषविषयग्रहणं भगवतएव शक्यम् इति भावः. **इन्द्रियाणाम्** इति. जन्यज्ञानस्य त्रिक्षणावस्थायित्वाद् ज्ञायमानैरपि रूपादिभिः अल्पकालिकएव सम्बन्धः, सर्वविषयक-ज्ञानवत्त्वाभावाद् एकदेशस्य च. एवञ्च भगवत्कर्तृक-

प्रकाशः

असत्त्वापत्तिः इति आशङ्क्य तदुभयाभावप्रकारम् आह इति अर्थः. **भोगः** इति जीवकर्तृकभोगः. **तत्र** इत्यादि. जीवकर्तृके भोगे **केवलानां** धर्मरहितानां धर्मिणां **ग्रहणं जीवैः अशक्यम्**. तथाच धर्मरहिताः धर्मिणो, धर्मिरहिताः धर्माश्च भगवद्भोग्याः ; इतरेतरसंसृष्टा गन्धवत्-पुष्परूपाः धर्म-धर्मिणस्तु जीवभोग्याः इति भोग्यभेदः इति अर्थः. प्रकारभेदम् आहुः **इन्द्रियाणाम्**

लेखः

इति अर्थः. **धर्मानेव** इति. रूपादिधर्मानेव गृह्णन्ति, नतु धर्मिणम् इति अर्थः. **न धर्मिणः** इति. धर्मव्यतिरेकेण **धर्मिणः** कर्मभूतान् **न गृह्णन्ति** इति अर्थः. **तत्र** इति, ग्रहणस्य इन्द्रियसाध्यत्वे सति इति अर्थः. **केवलानां** रूपादिधर्मरहित-स्वच्छधर्मिणाम् इति अर्थः. **जीवैरशक्यम्** इति. इन्द्रियद्वारैव जीवानां भोगाद् इन्द्रियाणां च धर्ममात्रग्राहकत्वाद् इति तथा इति भावः. धर्मिग्रहणे सामर्थ्यं नास्त्येव इति किमु वाच्यं, यतो धर्मेष्वपि युगपत्सकलधर्माणां च ग्रहणमपि अशक्यम् इत्याहुः **इन्द्रियाणां च** इति. **क्षणमात्रम्** इति,

च क्षणमात्रं धर्मैकदेशसम्बन्धः. तथाच पञ्चविषयाणां भोगो भगवत्साध्यएव. **जिघ्रति** इति धर्माणामेव ग्रहणम्. लोके केवलधर्मग्रहणं[1] घ्राणएवेति (तथा!)

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

भोगाद् महद्वैलक्षण्यम् इति भावः. इत्थञ्च नित्यसर्वविषयकापरोक्षज्ञानवतो भगवतएव मुख्यं भोक्तृत्वम् इति आशयेन आहुः **तथाच** इति. यद्यपि जीवेऽपि भोक्तृत्वम् अस्ति तथापि अन्यानपेक्षतया सर्वांशेन च रूपादिस्वरूपं ज्ञात्वा भोक्तृत्वं भगवत्येव, जीवे तु इन्द्रियसापेक्षं स्वरूपज्ञानरहितम् एकदेशेन च भोक्तृत्वम् इति भावः. **जिघ्रति** इति पदसूचितम् अर्थम् आहुः **जिघ्रति** इति. तदेव उक्तं **केवलधर्म** इत्यनेन. एवञ्च भगवान् रूपादिकमेव गृह्णाति,

प्रकाशः

इत्यादि. **भोगः** इति सर्वांशेन भोगः. **जिघ्रति** इत्यादि. तथाच गन्धम् उपाददाति इति अर्थात् केवलधर्ममात्रं गृह्णाति इति अर्थः. लक्षणां वारयितुम् आहुः **लोके** इत्यादि. **इत्युक्तम्** इति, **इति** हेतोः **जिघ्रति** इति **उक्तम्.** तथाच केवलधर्मग्रहणस्य अनुभवसंवादित्वाय धर्मग्रहणबोधकः शब्दो अत्र प्रयुक्तो अतो न लाक्षणिकः इति अर्थः. **एवकारेण** रसनादयो व्यवच्छिद्यन्ते, तत्र धर्मिणोपि ग्रहात्. षडिन्द्रियाणां वर्गत्वं साधयित्वा तद्विषयाणां तावत्त्वं

लेखः

येन इन्द्रियेण यत्कालावधि मनःसम्बन्धः तावद् इति अर्थः. तत्रापि धर्मैकदेशएव सम्बन्धः, नतु सकलधर्मेषु, इन्द्रियाणां परिच्छिन्नत्वेन यावत्सम्बद्ध-ग्राहकत्वाद् इति भावः. **भगवत्साध्यः** इति, युगपत्सकलविषयभोगो भगवत्साध्यः इति अर्थः. **लोके** इति. तथाच लोके केवलं धर्माणामेव ग्रहणदर्शनाद् लोकप्रतीतिम् अनुरुद्ध्यैव अत्र **जिघ्रति** इति धर्ममात्रग्रहणम् उक्तम् इति अर्थः. तर्हि घ्राणमात्रमेव उक्तम् इति किं नहि घ्राणेन विषयमात्रं गृह्यते? अतः आहुः **केवलधर्म** इति. त्वगिन्द्रियादिकं हि मृदुत्वादि-स्पर्शादिकं गृह्णन्नपि धर्मिसामीप्येनैव गृह्णन् यथाकथञ्चिद् धर्मिणमपि गृह्णाति. न तथा घ्राणेन्द्रियं ; धर्मिसन्निकर्षाभावेऽपि उग्रगन्धाद्युपलम्भः. इतः केवलधर्मग्रहणं घ्राणेन्द्रियएव

---

१. धर्मसंग्रहणमिति ख.

उक्तम्. षण्णाम् इन्द्रियाणां पञ्चपर्वाऽविद्याव्याप्तत्वेन प्रत्येकं पञ्चरूपत्वात् पञ्चविधत्वं = **वर्गत्वम्**. तथाच त्रिंशद् भेदाः भवन्ति — अष्टाविंशतिभेदानि[१] तत्त्वानि, स्वयं, भक्तिश्च इति. तेषां रसान् स्वयमेव अनुभवति इति अर्थः. ज्ञानसहितानां रूपादीनां न जीवं प्रति सर्वभावेन आत्मसमर्पणं

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

नतु तदधिकरणम् इति भावः. **षाड्वर्गिकम्** इतिपदं व्याचष्टे **षण्णाम्** इति. **वर्ग**पदस्य व्याख्यानं **पञ्चपर्वा** इति. अयम् अर्थः— कवर्गादयो वर्गाः पञ्चाक्षरात्मकाः इति पञ्चविधाः भवन्ति. तथाच प्रकृते 'वर्ग'पदवाच्यता **पञ्चपर्वाविद्याव्याप्तत्वेन** पञ्च पञ्च भवन्ति. तथाच षण्णां पञ्चत्वे त्रिंशत्त्वं स्फुटमेव. इदमेव उक्तं **तथाच** इत्यनेन. एवम् इन्द्रियाणां त्रिंशत्त्वम् उक्त्वा इन्द्रियग्राह्यविषयाणां त्रिंशत्त्वम् उपपादयन्ति **अष्टाविंशति** इति. 'षड्वर्ग'पदेन त्रिंशद् इन्द्रियाणि, **षाड्वर्गिकं**पदेन एते त्रिंशत्, तथाच ग्राह्य-ग्राहकयोः समानसङ्ख्याकत्वम्. ततः किम् अतः आहुः **तेषाम्** इति, तत्त्वादित्रिंशताम् इति अर्थः. **ज्ञानसहितानाम्** इति. तत्त्वतो ज्ञातानां रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दानां **सर्वभावत्वेन** सर्वत्वेन **आत्मनः समर्पणं**

प्रकाशः

बोधयन्ति **अष्टाविंशतीत्यादि**. **अष्टाविंशतिभेदानि** इति पाठे तत्त्वानि इति शेषः. तेषु भगवद्भोग्यत्वम् आहुः **तेषां रसान्** इति, सारभूतान् अंशान्. तथाच प्रकारभेदाद् न जीवतुल्यत्वं, भोग्यभेदाद् न क्षयः इति अर्थः. जीवानाम् एकदेशसम्बन्धे हेतुम् आहुः **ज्ञानसहितानाम्** इत्यादि.

लेखः

इति तदेव उक्तम् इति अर्थः. तथाच भगवांस्तु सर्वं भुङ्क्ते इति फलितम्. **षाड्वर्गिकम्** इत्यत्र "षडिन्द्रियविषयं जिघ्रति" इति श्रैधरव्याख्याने **वर्ग**पदं निरर्थकं भवति, अतः प्रकारान्तरेण व्याकुर्वन्ति **षण्णाम्** इत्यादि. **तथाच त्रिंशद्भेदाः** इति. तथाच **वर्ग**शब्देन भेदः इति अर्थः. **ज्ञानसहितानाम्** इति. मनसो विषयभूतं ज्ञानं, तत्सहितानां चक्षुरादिविषयभूतानां **रूपादीनाम्**

१. अष्टाविंशतितत्त्वानि स्वयं, अष्टाविंशतिभेदानि स्वयम् इति पाठद्वयं प्रकाशे - सम्पा.

किन्तु एकदेशेन कथञ्चिदेव ; न तथा भगवति इति आह **षड्गुणेशः** इति. ईशत्वेन नियामकत्वं [१]तदधीनत्वञ्च उक्तम्. इति अत्यन्तसूक्ष्मेक्षिकया[२] पदार्थो निरूपितः ॥३६॥

वस्तुतस्तु न सम्यग् ज्ञायतएव इति आह **नच अस्य** इति.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

तदीयत्वेन करणं **जीवं प्रति न किन्तु एकदेशेन** एकांशावच्छेदेन केनापि तुच्छप्रकारेणैव इति. **तथा** तुच्छप्रकारेण **भगवति न** इति अर्थः. अयम् अर्थः— यादृशं स्वरूपं रूपादीनां तादृशं जीवेन न ज्ञायते. तथाच अज्ञानवत्त्वात् समग्रभोक्तृत्वं जीवे नास्ति, यत्किञ्चिद्भोक्तृत्वं वर्तते इति भावः. **तदधीनत्वम्** इति, इन्द्रियाणां भगवदधीनत्वम् इति अर्थः. **इत्यन्ते** इति, निकटे **सूक्ष्मेक्षिकया** इति तथाबुद्ध्या आनुमानिक्या उक्तः इति अर्थः ॥३६॥

प्रकाशः

मुख्यतया मनोग्राह्यं ज्ञानमेव इत्यतो रूपादीनां तत्साहित्यम् अत्र उक्तम्. **तदधीनत्वम्** इति. ईशएव रसाधीनः इति अर्थः. एवञ्च अस्मिन् श्लोके प्रथमावतरणिकोक्तं वर्णनं लीला च प्रतिपादिता, द्वितीयपक्षेतु रसभोगात्मकम् अवतारप्रयोजनम् उक्तं ज्ञेयम् ॥३६॥

नच अस्य इत्यत्र. **वस्तुतस्तु** इति. "अविज्ञातं विजानताम्" (केनोप. २।३) इति श्रुतेः इति अर्थः. **स्वतः** आम्रादयः कर्कटीविशेषप्रभृतयः,

लेखः

इति अर्थः. **न सर्वभावेन** इति. इदञ्च अनुपदं व्युत्पादितमेव इति ॥३६॥

न चास्य इत्यत्र. "षाड्वर्गिकं जिघ्रति" (श्लो. ३६) इत्यनेन भोगः स्पष्टं प्रतिपादितएव इति **न चास्य** इत्यादिना तदूत्यवेदनं यद् उक्तं तत् कथं संगच्छताम् इति आशङ्कानिरासाय प्रतिपादितेऽपि भोगे संशयएव इति आशयेन संशयं व्युत्पादयन्ति **अयमभिप्रायः** इत्यादिना.

---

१. व्यवहितपरामर्शी अयं 'तद्'शब्दः - सम्पा.

२. -क्षिकतयेति ख. इति अन्ते सूक्ष्मेक्षिकया इति टिप्पण्याम् - सम्पा.

न चास्य कश्चिन्निपुणेन धातुरवैति जन्तुः कुमनीष ऊतीः ॥
नामानि रूपाणि मनोवचोभिः सन्तन्वतो नटचर्यामिवाज्ञः ॥३७॥

अयम् अभिप्रायः— सर्वरसास्वादनं भगवतः उक्तम्. तेच रसाः उत्कृष्टाः अपकृष्टाः स्वतः आधारतो अधिकारिभेदेन च भवन्ति. तेच भगवता अनुभूयन्ते न वा इति सन्देहः. सर्ववस्तुषु रसरूपेण भगवतएव प्रविष्टत्वाद् न स्वात्मानं प्रति उत्कृष्टता अपकृष्टता वा. सर्वरूपत्वात् च द्वितीयापि कोटिः. चकारात् प्रमाणान्तरस्यापि निवृत्तिः. एवं निरूपणेन

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

न चास्य इत्यत्र. संशयम् उपपादयन्ति **सर्वरस** इत्यन्तेन. **आधारतः** इति, सत्त्वादिगुणत्रयाद् इति भावः. **अधिकारिभेदेन** इति, जीवभेदेन इति अर्थः. तथाच उत्कर्षे हेतुः **स्वतः** इति, अपकर्षे हेतुद्वयम् **आधारतः** इति **अधिकारिभेदेन** इति. अयम् अर्थः— तत्त्वानां रसभोक्ता भगवान्. सच राजस-तामसानां भोगं न कुर्यात् कदाचिद् इति एका कोटिः. द्वितीयाम् आहुः **सर्ववस्तु** इति. तथाच भगवत्सम्बन्धिनः सर्वे पदार्थाः सन्दिग्धाएव,

प्रकाशः

(**आधारतः !**) अधिकरणतः श्वदृतौ भृतं दुग्धादि, **अधिकारिभेदेन** कीटादिदूषितान्नादि. **द्वितीयापि कोटिः** इति **न अनुभूयन्ते** इति कोटिः. तथाच साकारव्यापकत्वाद् रूपान्तरेण अनुभूयन्ते, नतु स्वेन इति अर्थः. **प्रमाणान्तरस्य** इति. "यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च" (कठोप. १।२।२५) इति शब्दाद् अतिरिक्तस्य. तथाच कालरूपेण ब्रह्म-क्षत्रादि भुनक्ति, नतु

लेखः

भावाभावप्रकारकं ज्ञानं संशयः. तत्र **ते च रसाः** इत्यादिग्रन्थेन अपकृष्टत्वोत्कृष्टत्वादिना विकृतत्वाद् भगवता न अनुभूयन्तइति तदनुभवाभावः उक्तः. **सर्ववस्तुषु** रसस्वरूपत्वेन **भगवतएव प्रविष्टत्वाद्** इत्यादिग्रन्थेन तद्रूपताप्रतिपादनात् निकृष्टतादूरीकरणेन तदनुभवसत्ता प्रतिपादिता. तावता द्वितीयापि कोटिः उक्ता भवति इति आशयेन आहुः **द्वितीयापि कोटिः** इति. संभाव्यते इति शेषः. **प्रमाणान्तरस्य** इति, भोगनिश्चायकस्य तस्य इति अर्थः. **एवम्** इति, तत्त्वनिरूपणेन इति अर्थः.

भक्त्या भगवदाविर्भावात् पश्यन् आह **अस्य** इति, कृष्णस्य. **कश्चिद्** इति, ब्रह्मापि **निपुणेनापि** प्रमाकरणेन. तत्र हेतुः **धातुः** इति. उत्पादको हि भगवान् ; तदुपादानोपलम्भकः कस्मै प्रयोजनाय कथं सृष्टवान् इति कथम् अन्यो (**अवैति**!) विजानीयात्? तत्रापि **जन्तुः** कृमितुल्यः (**कुमनीषः**!) ऊहापोह-कौशल्यरहितः ? भगवतोऽपि न स्वाभाविक्यः क्रियाः किन्तु **ऊतीः**. निपातप्रयोगः च अवान्तरभेदाऽपरिज्ञानाय. सर्वथा अज्ञाने

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

न निर्णेतुं शक्याः इति भावः. **प्रमाकरणेन** इति, निर्दुष्टेनापि प्रमाणेन इति अर्थः. **उत्पादकः** इति, कारणम् इति अर्थः. **उपादान** इति, उपादानविषयकापरोक्षज्ञानवान् कर्ता इति भावः. तथाच कारणत्वं कर्तृत्वञ्च एकस्य कथमपि (न!) इति सन्देहः. **किन्तु ऊतीः** इति, सर्गक्रिया इति अर्थः. **निपातप्रयोगः** इति. "ऊतियूतिजूतिसातिहेतिहीर्त्तयश्च" (पाणि.सूत्र ३।३।९७) इति सूत्रेण 'ऊति'शब्दः निपातितः. निपाते च साधनप्रकारज्ञानं न जायते. एवञ्च प्रकृते **ऊति**शब्देन अयम् अर्थः सूच्यते— यथा स्वनिष्पत्तौ प्रकारो न ज्ञायते तथा भगवान् कथं सृजति इति प्रकारो

प्रकाशः

स्वयम् इति भावः. **कस्मै प्रयोजनाय** इत्यादि. "अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथ को वेद यत आबभूव" (ऋक्संहि. १०।१२९।६) इति श्रुतेः इति अर्थः. **कौशल्येति** ब्राह्मणादेः आकृतिगणत्वात् ष्यञ्. **कौशलेन** इति वा पाठः. **ऊतीः** इति. ऊतयः कर्मवासनाः कर्माभिव्यङ्ग्याः अदृष्टरूपाः इति अर्थः. **निपातेत्यादि**. "ऊतियूति" (पाणि.सूत्र. ३।३।९७) इत्यादिना 'ऊति'शब्दो निपातितः. तत्र यथा "उ शब्दः" इति धातोः उपूर्वस्य क्तिनि 'ऊतिः' इति भवति, ज्वरेत्यू अवतेः रूपं, तथापि नितरां विचारात् पातनाद् अज्ञानं तद्भेदानां प्रेमपरवशतां वा द्योतयति अयं ग्रन्थः. अथवा 'लीला'पदं

लेखः

तदुपादान इति, जगदुपादान इति अर्थः. **निपातप्रयोगश्च** इति. "ऊतियूतिहेति-सातिकीर्तयश्च" (पाणि.सूत्र ३।३।९७) इति निपातित'ऊति'शब्दात् तत्र धातु-प्रत्ययविभागो यथा दुरूहः तथा अत्र विशेषापरिज्ञानम् इति अर्थः ॥३७॥

हेतुः — **मनोवचोभिः** सह **नामानि** वेदान् **रूपाणि** विषयान् **सन्तन्वतो** विस्तारयतः.

चतुर्भिश्च महारोगैः व्याप्ता ऊतीः न जानते ।
नटवच्चापि करणमन्यथा प्रतिभासनात् ॥(१५)॥

प्रमाणबलेन हि परिज्ञानं ; प्रमाणव्यामोहार्थमेव नटप्रवृत्तिः इति आह **नटचर्याम्** इति. सुतराम् **अज्ञः** पुष्टिमार्गानभिज्ञः इति अर्थः ॥३७॥

तर्हि कथं निस्तारः इति आशङ्क्य आह.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

न ज्ञायते इति भावः. **चतुर्भिः** इति. एतेषां महारोगत्वन्तु जीवभ्रामकत्वेन इति भावः. **अन्यथा** इति, अन्यथा प्रतिभासनं भवतु इति हेतोः **नटवच्चापि करणम्** इति अर्थः. इममेव अर्थं **प्रमाणव्यामोहार्थम्** इत्यनेन आहुः. **पुष्टिमार्गानभिज्ञः** इति. पुष्टिमार्गाभिज्ञस्तु सर्वं जानात्येव इति भावः ॥३७॥

स वेद धातुः इत्यत्र. **पूर्ववद्** इति, पूर्ववद् व्याख्येयम् इति अर्थः. कारणं कर्ता च इति व्याख्यानम्. **पदवीम्** इति पदं व्याचष्टे

प्रकाशः

'स्वरूप'पदं वा परित्यज्य 'ऊति'पदं प्रयुक्तं ; कर्मवासनाऽवान्तरभेदाः न ज्ञायन्ते यथा तथा भगवतोऽपि इति बोधयति. अथवा सूत्रकृता स्वरप्रक्रियायाम् ऊतिः उदात्तः इति अनुक्ताः अत्र पठिताः ; सूत्रकृदादिमते प्रकृति-प्रत्ययभेदाज्ञानं द्योतयति तद्वद् इति अर्थः. **विस्तारयतः** इति. तथाच वेदादीनामपि अर्वाचीनतया न तैरपि ज्ञायतइति अज्ञाने हेतुः इति अर्थः. **चतुर्भिः** इति धातृपदसूचिताऽर्वाचीनत्व-जन्तुत्व-कुमनीषित्वा-ऽज्ञत्वैः. अत्रापि यथायथं स्वरूपाज्ञानं— कथं करोति, किमर्थं वा करोति ; कथं किमर्थं वा जिघ्रति इति— भोगादिप्रकाराज्ञानञ्च उक्तं ज्ञेयम् ॥३७॥

स वेद इत्यत्र. ननु धातृत्वाद् अज्ञानेऽपि कार्यलिङ्गकानुमानेन

लेखः

स वेद इत्यत्र. **पूर्ववद्** इति. पूर्वश्लोकोक्त-'धातृ'पदेन यथा सकलकारणत्वोक्त्या तदज्ञाने उपपत्तिः उक्ता तथा अत्रापि धातृस्वरूपविचारे तदज्ञानमेव सिद्ध्यति. तथापि भक्तिबलेन वेदनं, न तु जीवस्वरूपविचारेणापि

स वेद धातुः पदवीं परस्य दुरन्तवीर्यस्य रथाङ्गपाणेः ॥
योऽमायया सन्ततयाऽनुवृत्त्या भजेत तत्पादसरोजगन्धम् ॥३८॥

स वेद इति. **धातुः** इति पूर्ववत्. **सतु न** ज्ञायतएव[१], अज्ञायमानस्वरूपत्वात्. कार्यं तु लौकिकम्. तन्मार्गपरिज्ञाने समागमनं बुद्ध्वा[२]

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

कार्यं तु इति. अज्ञेयस्वरूपत्वात् कर्म-कारणे न ज्ञाते, कार्यं पुनः लौकिकत्वेन ज्ञातम्. **तन्मार्गपरिज्ञाने** इति, कर्तृकारणीभूत-भगवन्मार्गपरिज्ञाने सति **समागमनं** वैकुण्ठात् समागमनम्, अवतारप्रकारम् इति यावत्. **बुद्ध्वा** ज्ञात्वा **सहभावात्**

प्रकाशः

ज्ञातो भविष्यति इत्यतः आहुः **कार्यन्तु लौकिकम्** इति. "कर्मगुणप्रवाह" (भाग.पुरा. २।१।३३) इति वाक्यात् कार्यं लोकान्तःपाति, अतो यथाकथञ्चिद् ज्ञापकं, नतु वस्तुतः इदमित्थतया[३] ज्ञानजनकम् इति अर्थः. तर्हि कथं ज्ञानम् इति आकाङ्क्षायां तदुपायम् आहुः **तदित्यादि. तत्** कार्यं **मार्गपरिज्ञाने** सति ज्ञापकं भवति इति शेषः. **तन्मार्ग** इत्यनेन **पदवीपदप्रयोगतात्पर्यम्** उक्तं भवति. **मार्गो** भक्तिः. कथम् एवम् इति अपेक्षायां तत्प्रकारम् आहुः **समेत्यादि. सहभावाद्** इति गतिसहभावात्. तथाच गत्याधारभूतो मार्गः कार्यभूतः इति गतिज्ञाने तदाधारभूत-कार्यतत्त्वज्ञानं भवति. तेन ज्ञानेन धूमप्रमित्या वह्नेरिव भगवतो ज्ञानं भवति इति तदर्थं **गतिः मार्गः** 'पदवी'पदोक्तो ज्ञातुम् आवश्यकम् इति अर्थः. मनआदौ भगवतः आविर्भावे तत्प्राप्तिः इति अर्थः. ननु विवर्ते मनआदौ आविर्भूतमपि तथा इति किम् अनेन इत्यतः आहुः **बुद्ध्या** इति. बुद्ध्या सहभावं प्राप्य **कार्याणां**

लेखः

इति भावः. पदव्याः वेदनकर्मत्वोक्तितात्पर्यम् आहुः **स तु न** इति. **लौकिकम्** इति. तथाच नापि तद्भानेन तज्ज्ञानम् इति अर्थः. **तन्मार्गपरिज्ञाने** इति, **तत्** तस्मात् कारणाद् भक्तिमार्गपरिज्ञाने सति **समागमनं** तज्ज्ञानम्

---

१. ज्ञातएवेति मुद्रितपाठः. भा.पाठः गृहीतः -सम्पा. २. बुद्ध्या इति पाठः प्रकाशे लेखे च-सम्पा. ३. इदमित्थम् इति मुद्रितपाठः. कि.पाठे तु एवम् -सम्पा.

सहभावात् कार्याणां तत्त्वं ज्ञायेत इति तस्य (**पदवीं!**) गतिमार्गो[१] ज्ञातव्यः. लौकिक-वैदिक-प्रमाणज्ञानाभावे[२] हेतुम् आह **परस्य** इति, सर्वप्रमाणाद् दूरे वर्तमानस्य इति अर्थः. कदाचिद् अशक्तौ अल्पचलने तत्रत्यैः ज्ञायेत इति आशङ्क्य आह **दुरन्तवीर्यस्य** इति. दुष्टो अन्तो यस्य वीर्यस्य ;

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

समानप्रकारकत्वात् **कार्याणां तत्त्वं** जानीयाद् इति अर्थः. अयम् अर्थः— भगवन्मार्गज्ञाने सति भगवदवतारप्रकारज्ञानम्. तदनन्तरं कार्यतत्त्वज्ञानं भवति, अवतारप्रकार-कार्यप्रकारयोः समानत्वात्. यथा भगवतो अवतारः तथा कर्तृकारणीभूताद् भगवतः कार्यं जायते इति तत्त्वज्ञानार्थं भगवन्मार्गो ज्ञातव्यः इति अर्थः. **पदवीम्** इत्यस्य व्याख्यानं **गतिः मार्ग** इति यावद्, भाव इति अर्थः. **अल्पचलने** इति. कार्याणाम् अखण्डदण्डायमाना परम्परा चलनम्. तथाच भगवतः **कदाचिद् अशक्तौ** सत्यां ततः **अल्पचलने** परम्परायां न्यूनायां सत्यां **तत्रत्यैः** प्रपञ्चस्थितैः **ज्ञायेत** इति. अयम् अर्थः— पूर्वं सर्वप्रमाणदूरवर्तित्वम् उक्तम्. एवञ्च भगवच्छक्त्या कार्यस्तम्भे जाते अनुमानेन प्रपञ्चस्थानां भगवति अशक्तत्वज्ञानं भविष्यति इति न सर्वप्रमाणदूरवर्तित्वम् **इत्याशङ्क्याह** इति आचार्याणाम् आशयः. दुष्टत्वम्

प्रकाशः

तत्त्वं परमार्थतत्त्वं **ज्ञायेत** इति अर्थः. **तस्य** इत्यादि **धातुः पदवीं वेद** इत्यस्य तात्पर्यम्. **प्रमाणाज्ञानभावे** इति. प्रमाणैः अज्ञानसत्तायाम् इति अर्थः. ननु वैकुण्ठादिस्थैः ज्ञातो भगवान् उपदेष्टव्यः इति वक्तुम् आहुः **कदाचिद्** इति. **न समाप्यते** इति. तथाच अतिवेगवशाद् मनोवत्

लेखः

इति अर्थः. तत्र प्रकारम् आहुः **बुद्ध्या** इत्यादि. मार्गज्ञाने सति बुद्धिवैशद्येन सकलकार्यतत्त्वज्ञान-पुरःसरं तज्ज्ञानं भवतीति तद्गतिः ज्ञातव्या इति अर्थः. तथा पुस्तकेषु **बुद्ध्वा** इति क्तान्तपाठोऽपि दृश्यते. तस्मिन् पाठे समागमस्य

१. गतिर्मार्ग इति क-टिप्पण्यां-प्रकाशे - सम्पा.　२. प्रमाणाज्ञानाभावे इति मुद्रितपाठः. प्रमाणाज्ञानभावे इति पाठः प्रकाशे. गृहीतपाठस्तु सम्भाव्यते - सम्पा.

पराक्रमो न समाप्यतएव कदाचिदपि. समाप्तिः चेत् प्रलयएव इति दुरन्तता. प्रलयानन्तरन्तु ज्ञातैव नास्ति इति भावः. किञ्च (**रथाङ्गपाणेः!**) कालस्येव (?) परिज्ञानं सम्भवति, तच्च कालचक्रं पाणौ यस्य. कालमपि स्थिरीकृत्य तिष्ठति. अथवा सर्वमेव जगद् रथः, तस्यापि अधः चक्रं, तत् पाणौ यस्य इति– हस्तचालनेन चलति, हस्ताधारश्च– सः कथं

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

आहुः **समाप्तिः** इति. समाप्तौ दुष्टत्वम् इति अर्थः. ननु समाप्तौ जातायां तत्रत्यानाम् अशक्तत्वज्ञानं भविष्यति इति आशङ्क्य आहुः **प्रलय** इति. प्रलये सर्वस्यापि नाशात् को जानीयाद् इति अर्थः. **रथाङ्गपाणेः** इति पदं व्याचष्टे **किञ्च कालस्येव** इति. यथा अतीन्द्रियस्य कालस्य आप्तवाक्यादिना अनुमानेन च ज्ञानं जायते तथा भगवतोऽपि ज्ञानसम्भावना, अतीन्द्रियत्वेन समानत्वात्. दूषयन्ति **तच्च** इति. तथाच कालनियामकत्वात् कालवद् ज्ञेयो न इति भावः. नियामकत्वम् आहुः **कालमपि** इति. तादृशवेगवतः कालरूपचक्रस्य स्थिरीकरणात् नियामकत्वम् इति भावः.

प्रकाशः

साकारोऽपि न ज्ञायतेऽपि, अधिकाराभावात् च न उपदिश्यते इति अर्थः. **प्रलय एव** इति. जगदनुकूलक्रियाभावात् प्रलयः इति अर्थः. ननु गतिज्ञानाय किमिति साधनोपदेशः, "गतिर्वय" (भाग.पुरा. २।१।३३) इति वाक्यात् कालस्य गतित्वेन तस्येव गत्यन्तरस्यापि अनुमानेन शक्यज्ञानत्वाद् इत्यतः आहुः **किञ्चे**त्यादि. तथाच कालोऽपि दुर्ज्ञेयः चेत् तद्दृष्टान्तेन गत्यन्तरज्ञानं दुर्घटम् इति साधनोपदेशः आवश्यकएव इति अर्थः. कालस्य दुर्ज्ञेयत्वन्तु ब्रह्मपुराणोपान्त्ये मायानुकीर्तनाध्याये द्रष्टव्यम्. अथवा कालरूप-दृष्टान्ताभावादेव न तद्वद् ज्ञानम् इति अर्थः. 'काल'शब्दाभिजप्यस्य सत्त्वात् पक्षान्तरम् आहुः **अथवा** इति. **हस्ते**त्यादि. लोके तथा प्रसिद्धिः अवयवित्वेन.

लेखः

... . **कदाचिदशक्तौ** इति, ... **हस्तचालनेन** इति. भगवद्धस्तचालनेन जगत् चलति इति अर्थः. तादृश**हस्ताधारो** भगवान् अतिदूरवर्ती जगद्रथस्थैः जीवैः **कथं ज्ञातुं शक्यः** इति भावः ॥३८॥

शकटस्थैः ज्ञातुं शक्यते? अतो भगवदनुवृत्तिरेव ज्ञानहेतुः इति आह **यो अमायया** इति. दीर्घकालादर-नैरन्तर्य-सेवायां मायाभावोऽपि अङ्गम्. सर्वो हि लौकिको वैदिकश्च मायया भगवन्तं भजते, "एवं हि कृते अयम् अस्मभ्यम् इदं[१] दास्यति" इति बुद्ध्या भगवतः सकाशात् पदार्थान् ग्रहीतुं भगवद्वञ्चनार्थं प्रयत्नकरणात्. भगवांस्तु ततोऽपि चतुरः. अतो माया त्याज्या. स्वयुक्तिविचारो माया इति पर्यायः. **सन्तता** निरन्तरा **अनु** पश्चाद् **वृत्तिः** इति गतिपश्चाद्भावोक्तेः दीर्घकालादरौ बोधितौ. (**तत्पादसरोजगन्धम्!**) चरणपरिज्ञानं हि मार्गज्ञाने हेतुः. तदेव पङ्कजं, तस्य गन्धः. भगवतः शयने पादसंवाहने ऊर्ध्वमुखस्य चरणस्य आघ्राणे[२] गन्धो अनुभूयते. तथा येषां हृदये भगवान् स्वच्छन्दं शेते. बहिरिन्द्रियाणि च गन्धेन आकृष्टानि तत्रैव प्रविशन्ति. सच भगवन्मार्गं जानाति इति ज्ञानपक्षः. भक्तिपक्षेतु (**तत्पादः!**) तस्य चरणो भक्तिमार्गः, सच शुद्धे विशदे[३] अन्तःकरणे आविर्भूतं **सरोजं,** तत्र **गन्धः** सन्तः, प्रेम वा. तस्य भजनं निरन्तरानुवृत्तिः इति ॥३८॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

सर्वो हि इति. **लौकिको** भक्तिमार्गीयः **वैदिको** ज्ञानमार्गीयः. चरणस्य भजनीयत्वे हेतुम् आहुः **चरण** इति. मार्गज्ञानार्थं हि भजनं, मार्गस्तु चरणसाध्यएवेति श्लेषेण अर्थः उक्तः ॥३८॥

प्रकाशः

हस्ताधारो विरुद्धधर्मवत्त्वज्ञापनाय इदम्. **शकटस्थैः** इति, शकटं जगत्. **गतीति,** मायाज्ञान-पश्चाद्भावः इति अर्थः. **बोधितौ** इति **सन्तताऽनुवृत्ति-**पदाभ्यां बोधितौ. **चरणेति.** यः तत्पादसरोजगन्धं भजेत स तत्पदवीं वेद इति तथा. लोकेऽपि एवम्. **स च** इति **स वेद** इत्यादेः अर्थः. **भक्तिपक्षे तु** इत्यादि. अस्मिन् पक्षे परोक्षवादः इति लक्षणा न दोषाय इति ज्ञेयम्. **भक्तिमार्गः** इति. "भवत्पदाम्भोरुहनावम्" (भाग.पुरा. १०।२।३१) इत्यत्र व्याख्यातः ॥३८॥

---

१. इदमिहेति घ. २. घ्राणे इति ख. ३. विषदे इति ख. विशुद्धे इति घ.

एवं प्रासङ्गिकम् उक्त्वा भिन्नोपक्रमेण प्रस्तुतम् आह **अथ** इति.

अथेह धन्या भगवन्त इत्थं यद् वासुदेवेऽखिललोकनाथे ॥
कुर्वन्ति सर्वात्मक आत्मभावं पुनः न [1]पातः परिवर्त उग्रः ॥३९॥

प्रश्नेन एवं ज्ञायते— भवन्तो भगवन्निष्ठा इति. इह संसारे **भगवन्तो** भवन्तः, "यो यच्छ्रद्धः स एव सः" (भग.गीता १७।३) इति वचनात्. **धन्या** इति. धनं भगवद्भक्तिं ज्ञानं वा अर्हन्ति इति धन्याः. **इत्थम्** इति, हीनमपि सम्बोध्य अनवसरम् अवसरीकृत्य तन्मुखादपि परमादरेण श्रवणम् —एवम्प्रकारः. **वासुदेवे** इति देवान्तराभजनं[2] निरूपितम्. **अखिललोकनाथे** इति तस्य सर्वेश्वरत्वं च ज्ञात्वा, (**सर्वात्मके**!) वेदान्तवेद्यतां च. एवं माहात्म्यज्ञानार्थं सुदृढस्नेहार्थञ्च विशेषणद्वयम् उक्त्वा,

---

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

एवं प्रासङ्गिकम् इति. स्मृतस्य उपेक्षानर्हत्वं प्रसङ्गः, तत्सम्बन्धी इति अर्थः. **अथेह** इत्यत्र. **हीनमपि** इति, सूतत्वेन हीनता इति भावः. **अनवसरम्** इति, यागासमये इति अनवसरे इति अर्थः. **तन्मुखादपि** इति, हीनमुखादपि इति अर्थः. **सर्वात्मके** इत्यस्य व्याख्यानं **वेदान्त**

प्रकाशः

अथ इत्यत्र. **हीनमपि** इति सूतम्. "यानि वेदविदां श्रेष्ठः" (भाग.पुरा. १।१।७) इत्यत्र, "कथायां सक्षणा हरेः" (भाग.पुरा. १।१।२१) इत्यत्र च सिद्ध्यति. **एवम्प्रकारः** इति धन्यत्वस्य इति अर्थात्. मूलस्थ-**सर्वात्मक**पदे ऐकान्तिकम् इति अर्थः श्रीधरीये व्याख्यातः, अत्रतु **सर्वात्मके** इति सप्तम्यन्तं **वेदान्तवेद्यताञ्च** इत्यनेन व्याख्यातम्. सर्वात्मकएव

लेखः

अथेह धन्या इत्यत्र. **एवं माहात्म्यज्ञानार्थम्** इत्यादि. **आत्मपदं प्रयुज्य** इत्येतदन्ते भक्तिनिष्कर्षं बोधितवान् व्यासः इति शेषः ज्ञेयः ॥३९॥

॥ इति श्रीतृतीयाध्यायव्याख्यानम् ॥

---

१. पुनर्न भूयः इति विजयध्वजे, न यत्र भूयः इति श्रीधरीये. भा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

२. देवतान्तराभजनमिति क-घ-ङ.

(आत्मभावं!) रुच्यर्थम् **आत्मपदं** प्रयुज्य **भावं** देवत्वेन रतिं **कुर्वन्ति (यद्!)** यतः अतो **धन्या** इति पूर्वेण सम्बन्धः. अस्य फलं पुनः **(परिवर्ते!)** कालसंसारचक्रे महावर्तरूपे पुनः **(न पातः!)** पतनाभावः. एतद्देहावसानपर्यन्तं यथा भवतु तथा इति **पुनः**शब्दार्थः. अनादराभावाय **उग्रः** इति ॥३९॥

कुतः इदम् उद्धृतम् इति आकाङ्क्षायाम् आह.

इदं भागवतं नाम पुराणं वेदसम्मितम् ॥
उत्तमश्लोकचरितं चकार भगवान् ऋषिः ॥४०॥

इदं भागवतम् इति. भगवतः सर्वसम्बन्धि[१] भागवतम्. **नाम**

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इति. **आत्मभावम्** इति **रुच्यर्थम्** इति. न पुत्रः पुत्राय प्रियो भवति, आत्मने वै पुत्रः प्रियो भवति (द्रष्ट. बृहदा.उप. २।४।५) इति श्रुतेः सर्वत्र आत्मोपाधिकं प्रियत्वम् अस्ति इति रुचिविशेषज्ञापनार्थम् **आत्मपदप्रयोगः. भावपदेन देवत्वेन** प्रभुत्वेन प्रीतिः, ''रतिर्देवादिविषया 'भाव' इत्यभिधीयते'' (त.दी.नि. १।४२) इति निबन्धे उक्तम्. तथाच **आत्मभावम्** आत्मप्रभुत्वेन[२] **रतिं कुर्वन्ति** इति भावः ॥३९॥

प्रकाशः

वेदान्तवेद्यता, 'आकाशादि'पदानां श्रवणात्. तथाच **सर्वात्मके आत्मभावम्** इति पाठः. **सुदृढेति**, वेदान्तवेद्यएव सुदृढस्नेहः इति बोधार्थम्. **प्रयुज्य** इति. तथाच आत्मनि भावः = **आत्मभावः** इति समासे एकदेशान्वयः सप्तम्यन्तानाम्. **'पुनः'शब्दार्थः** इति, अर्थैक्यात्[३] **पुनः**शब्दः ॥३९॥

---

१. सर्वं सम्बन्धीति ख.   २. आत्मा च प्रभुश्च आत्मप्रभू, तयोः भावे त्वप्रत्ययः द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वात् प्रत्येकम् अभिसम्बध्यते - सम्पा.

३. सर्वात्मके नाम सर्वेषां वस्तुतः आत्मरूपे भावतोऽपि पुनः आत्मत्वबुद्धिः करणीया इति अर्थैक्यात् 'पुनः'शब्दस्य तात्पर्यवर्णनम् - सम्पा.

इति प्रसिद्धम्. पुरातनं **पुराणम्** इति, जातिशब्दो वा. **वेदेन सम्यङ्‍मितं** मतान्तरेष्विव न अत्र वेदविप्रतिषेधः. वस्तुनिरूपणार्थं प्रासङ्गिककथापि पुरुषोत्तमकथैव इति आह **उत्तमश्लोकचरितम्** इति, उत्तमश्लोकस्य चरित्रं यत्र. (**ऋषिः**!) आर्षज्ञानेन **भगवान्** वेदव्यासः (**चकार**!) अनुभूय आह ॥४०॥

निःश्रेयसाय लोकानां धन्यं स्वस्त्ययनं महत् ॥
तदिदं ग्राहयामास सुतम् आत्मवतां वरम् ॥४१॥

ग्रन्थप्रवृत्तिः[१] (**निःश्रेयसाय**!) सर्वमुक्तये. (**लोकानां धन्यं**!) धनप्राप्तिः (**स्वस्त्ययनं**!) कल्याणञ्च, लक्ष्म्याः सर्वगतायाः[२] भक्तायाः श्रवणात्. **महद्** इति स्वतो गुणतो अर्थतश्च. स्वस्य ज्ञानार्थं परम्पराम्

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इदं भागवतम् इत्यत्र. **जातिशब्दो वा** इति. अष्टादशपुराणेषु गणनात् पुराणत्वेन वा **पुराणम्** इति विशेषणम् उक्तम् इति भावः ॥४०॥

निःश्रेयसाय इति श्लोकं व्याचष्टे **ग्रन्थप्रवृत्तिः** इति ॥४१॥

प्रकाशः

इदम् इत्यत्र. **जातिशब्दः** इति. पुराणत्वं जातिः इति अर्थः ॥४०॥

निःश्रेयसाय इत्यत्र. **लक्ष्म्याः** इति. **लक्ष्म्याः श्रवणात्**. भागवते भगवतः श्रवणम् आशङ्क्य आहुः **सर्वगतायाः** इति. तथाच भगवच्छ्रवणेऽपि लक्ष्मीश्रवणम् इति भावः. कथं कल्याणहेतुत्वं लक्ष्म्याः श्रवणस्य इत्यतः आहुः **भक्तायाः** इति. तथाच भक्तायाः श्रवणाद् भक्त्या कल्याणम् इति अर्थः. **स्वतः** इति, "सारं सारं समुद्धृतम्" (श्लो. ४२) इति श्लोकात्. **गुणतः** इति वास्तव-वस्तु-वेद्यत्वतः. **अर्थतः** इति. अर्थो हि भगवान्, ततः ॥४१॥

---

१. इतः प्राक् निःश्रेयसायेति इति प्रतीकमस्ति क-ग-घ. २. आत्मरतिरूपायाः सर्वगतायाः लक्ष्म्याः इति तात्पर्यम्. द्रष्ट. "अतः स्नेहः पदार्थान्तरं ; स भगवन्निष्ठएव भगवद्विषयको ज्ञानवद् वा ऐश्वर्यवद् वा भगवत्सम्बन्धाद् अन्यत्रापि भासते" (सुबो. १।१५।१६). "इयं कामनाभेदेन भक्तिः साक्षात्परब्रह्मणो वासुदेवस्य असाधारणो धर्मः स्नेहात्मा. ... वेदेन ब्रह्ममात्रं प्रकाशयितुं शक्यं, नतु ब्रह्मधर्मः साक्षात् ... प्रत्यक्षसमवेताअपि अभिव्यञ्जकाभावे न प्रकाशन्ते" (सुबो. २।३।२-९) - सम्पा.

आह. व्यासः शुकं वेदवत् (**ग्राहयामास!**) पाठितवान्. गोप्यत्वाय **सुतम्** इति. जितेन्द्रियता ज्ञानञ्च अत्र अङ्गं, तस्य उत्कर्षे भागवतं फलति इति अभिप्रायेण आह **आत्मवतां वरम्** इति ॥४१॥

प्रमाणान्तरचिन्ता न कर्तव्या इति आह **सर्ववेदेति.**

सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम् ।
स च संश्रावयामास महाराजं परीक्षितम् ॥
प्रायोपविष्टं गङ्गायां परीतं परमर्षिभिः ॥४२॥

त्रैवर्णिकानाम् उद्धारार्थे **वेदः**, स्त्री-शूद्राणाम् **इतिहासः** ; उभयसारोद्धारत्वात् सर्वोद्धारकम्. परम्पराम् आह **स च** इति. स्पष्टम्. **प्रायो** मरणपर्यन्तम् अन्ननिवृत्तिः. **गङ्गायाम्** इति देशोत्कर्षः. **परमर्षिभिः (परीतं!)** इति सत्सङ्गः ॥४२॥

"धर्मः कं शरणं गतः" (भाग.पुरा. १।१।२३) इति षष्ठप्रश्नस्य उत्तरम् आह.

कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभिः सह ॥
कलौ नष्टदृशाम् एष पुराणार्कोऽधुनोदितः ॥४३॥

कृष्णे इति. **धर्मः** तु भगवतैव **सह गतः** ; स्थिते शरणचिन्ता! **कलिः** अन्धकारतुल्यः, तेन (**नष्टदृशां!**) पिहितदृष्टीनां, नतु अन्धानाम्.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

सर्ववेद इत्यत्र. **स्पष्टम्** इति, अर्थः स्पष्टमेव इति भावः. **प्रायोपविष्टम्** इति श्लोकं व्याचष्टे **प्रायो मरण** इति ॥४२॥

कृष्णे स्वधामोप इत्यत्र **कलिः** इति. अन्धकारवत् पदार्थम् आच्छाद्य तिष्ठति, नतु नाशयति इति भावः. **तेन** इति अन्धकारतुल्यत्वेन. **नष्टदृशाम्** इति पदं **पिहितदृष्टीनाम्** इति व्याख्येयम् इति भावः. **नष्ट**पदेन ध्वंसो न इत्याहुः **नतु अन्धानाम्** इति. तथाच येषां दृष्टिरेव नास्ति तेषां

प्रकाशः

कृष्णे इत्यत्र. **स्थिते** इति. धर्मे **स्थिते** धर्मस्य **शरणचिन्ता** ॥४३॥

स्वतो अदुष्टानां पुनः धर्मादिज्ञापनार्थं **पुराणरूपो अर्को अधुना उदितः** स्थितएव लोके प्रकटीभूतः इति अर्थः ॥४३॥

स्वस्य प्राप्तिप्रकारम् आह.

तत्र कीर्तयतो विप्रा विप्रर्षेर्भूरितेजसः ।
अहं चाध्यगमं तत्र निविष्टस्तदनुग्रहात् ॥
सोऽहं वः श्रावयिष्यामि यथाधीतं यथामति ॥४४॥

॥ इति श्रीभागवत-प्रथमस्कन्धे तृतीयोऽध्यायः ॥

तत्र इति. **विप्रा** इति सम्बोधनेन सर्वपूरकत्वात् शुकः प्रथमं पूरितवान्[१], अधुना पुनः स्मरणेन भवन्तः पूरयन्ति इति. लौकिकत्वाभावाय **ऋषिः** इति. असन्दिग्धार्थकथनाय उत्तरत्र प्रकाशनाय च **भूरितेजसः** इति, भूरि तेजः ज्ञानप्रकाशो यस्य. ब्रह्मवित्त्वेन तेजोविशेषो वा सर्वज्ञत्वाय. ततः सर्वतोमुखं भागवतं जातम् इति आह **अहं च** इति. सर्वएव (**अध्यगमं**!) अधीतवन्तः, अहं च. तत्र उपदेशसभायां प्रसङ्गाद् न श्रुतं किन्तु (**तदनुग्रहात्**!) शुकानुग्रहात् **तत्र** उपविश्य अनुग्रहं प्राप्य तत्र **निविष्टः**. **सो** अहम् उपदेशात् प्राप्तभागवतो **वः** युष्मान् (**श्रावयिष्यामि यथाधीतं**!) अध्ययनम् अनतिक्रम्य तन्मध्ये **यथामति** स्वबुद्ध्यनुसारेण. अनेन गर्वपरिहारः. उक्तादपि अधिको अर्थो अस्य अस्ति इति ज्ञाप्यते ॥४४॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मज-श्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां प्रथमस्कन्धे तृतीयो अध्यायः ॥

प्रकाशः

तत्र इत्यत्र. **पूरितवान्** इति, भगवद्रसेन शुकं पूरितवान्. **अहं च** इत्यत्र. **अस्य** इति, श्रीभागवतस्य इति अर्थः ॥४४॥

॥ इति श्रीप्रथमस्कन्धे सुबोधिनीप्रकाशे तृतीयाध्यायविवरणम् ॥

---

१. परिपूरितवानिति ख.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

किम् अर्कोदयेन इति भावः. **स्थितएव** इति. व्यासेन अन्यपुराणवत् न कृतः इति भावः ॥४३॥

तत्र कीर्तयतो इत्यत्र. **विप्रा** इति विशेषणेन आत्मानं वक्तारं च आनन्देन पूरयन्ति इति अर्थो अनुसन्धेयः. **उत्तरत्र** इति, अध्येतरि **प्रकाशनाय** इति अर्थः. **भूरितेजसः** इति पदस्य व्याख्यानान्तरम् आहुः **भूरि तेजो ज्ञानप्रकाशः** इति. ''सर्वज्ञत्वं च तस्येष्टं लिङ्गं तेजोऽप्यलौकिकम्'' (त.दी.नि. १।६४) इत्यत्र निबन्धे उक्तम्. **अहं चाध्यगमम्** इत्यत्र **यथामति** इत्यस्य द्वितीयम् अर्थम् आहुः **उक्तादपि** इति. **यथामति** इति पदेन मया स्वबुद्ध्या शुकोक्ताद् **अपि अधिको अर्थो** ज्ञातः इति वा सूतेन **ज्ञाप्यते** इति भावः ॥४४॥ श्रीकृष्णः शरणं मम ॥

॥ इति तृतीयोऽध्यायः ॥

॥ अथ चतुर्थोऽध्यायः ॥

[१]एवं भागवतार्थस्य निर्धारः स्वाधिकारतः ॥
त्रिभिः कृतो द्वितीये तु त्रिभिस्त्याज्यसमत्वतः[२] ॥(१)॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

चतुर्थाध्याये **एवं भागवतेति. स्वाधिकारतः** हीनाधिकारतः इति अर्थः. **त्रिभिः** इति, **त्रिभिः** उत्तरैः तृतीयाध्याये **कृतः** इति अर्थः. **द्वितीये तु त्रिभिः** इति, द्वितीयाध्यायेऽपि **त्रिभिः** उत्तरैः **कृतः** इति भावः. ननु द्वितीये उत्तरचतुष्टयं भविष्यति इति आहुः **त्याज्यसमत्वतः** इति. भगवदवतारप्रयोजन-प्रश्नस्य उत्तरं त्यक्त्वा अग्रिमप्रश्नस्य उत्तरं दत्तवान् इति प्रयोजनोत्तरस्य त्याज्यत्वम्. तथाच त्याज्येन कृत्वा समत्वं जातम्, अन्यथा द्वितीये उत्तरचतुष्टयं स्याद् इति द्वितीय-तृतीययोः समानोत्तरत्वं न स्याद् इति भावः (१).

प्रकाशः

अथ चतुर्थाध्यायं विवरषवः पूर्वप्रकरणस्य समाप्तत्वाद् अग्रिमस्य प्रारप्स्यमाणत्वात् तयोः पूर्वापरीभावे हेतुं स्फुटीकर्तुं द्वयोः अर्थम् आहुः **एवम्** इत्यादि. **स्वाधिकारतः** इति ल्यब्लोपे पञ्चमी ; स्वाधिकारम् आश्रित्य इति अर्थः. **त्रिभिः** इति अध्यायैः. **त्याज्यसमत्वतः** इति. अदृष्टद्वारेण उपकारी धर्मः फलव्यभिचारत्वात् त्याज्यः, तस्य अत्रापि

लेखः

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥ पूर्वम् अध्यायत्रयेण हीनाधिकारः उक्तइति इदानीं पुनः त्रयेण मध्यमाधिकारो अवसरप्राप्तइति पूर्वाध्यायार्थम् अनुवदन्ति **एवम्** इति. **स्वाधिकारत**इति, हीनाधिकारतः इति अर्थः. **द्वितीये** इति. अत्र **द्वितीये** मध्यमप्रकरणे **मध्याधिकारे यच्छास्त्रं** निरूपणीयं **तद्** अध्यायत्रयेण **निरूप्यते** इति अर्थः. ननु उभयोरपि प्रकरणयोः त्रिभिः त्रिभिः निरूपणे

---

१. इतः प्राग् एकः श्लोकोऽभ्यधिको दृश्यते घपुस्तके. स यथा "तुर्ये भागवतारम्भकारणत्वेन वर्ण्यते । व्यासस्यापरितोषस्तु तपःप्रवचनादिभिः ॥" इति. २. समन्वित इति घ.

मध्याधिकारे यच्छास्त्रं तदत्र विनिरूप्यते ॥
नारदस्याधिकारित्वात् श्रोतुश्चिन्ताकुलत्वतः ॥(२)॥
[१]तत्राध्याये चतुर्थे तु व्यासचिन्ता निरूप्यते ॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

मध्यमाधिकारे इति. **अत्र** चतुर्थाध्याये इति अर्थः. **नारदस्य** इति, मध्यमाधिकारित्वाद् इति अर्थः. **चिन्ताकुलत्वतः** इति तु श्रोतुः मध्यमाधिकारत्वे हेतुः ज्ञेयः (२).

अत्राध्याये इति. **उत्तमप्रक्रिया** श्रीभागवतम्. चिन्ताकथनस्य प्रयोजनम्

प्रकाशः

तेन रूपेण तुल्यत्वात्. **शास्त्रम्** इति उपदेशः. त्याज्यसाम्याद् अत्र प्रथमत्वं वा अवतारत्वाद्[२] उत्तमत्वं वा वक्तव्यं, नतु मध्यमत्वम् इति आशङ्क्य मध्यमत्वे उपपत्तिम् आहुः **नारदे**त्यादि. 'नारं = नरसम्बन्धिज्ञानं ददाति इति नारदः' इति निरुक्त्या ज्ञानदाने नारदस्य अधिकारो ज्ञेयः. सच अध्यायसमाप्तौ स्फुटिष्यति. तथाच उत्तमत्वस्य औचित्येऽपि उक्तहेतुभ्यां मध्यमत्वम् इति अर्थः. एतेन पूर्वापरीभावे हेतुरपि उक्तएव, तेन व्यासोक्तिविचारे प्रसङ्गः सङ्गतिः स्फुटति (१-२).

अतः परं सूतोक्तौ सङ्गतिं वदिष्यन्तो अध्यायार्थम् आहुः **तत्र**

लेखः

किं बीजम् अतः आहुः **त्याज्यसमत्वतः** इति. प्रथमाधिकारे सम्पन्ने अधिकारद्वयशास्त्रेऽपि त्याज्यत्वं समानं ; तत्समत्वबोधायैव समाध्यायाः इति अर्थः (१ १/२).

ननु एवं नारद-व्यासयोः मध्याधिकारत्वे किं गमकम् अतः आहुः **नारदस्य** इति. **नारदस्य अधिकारित्वात्** मध्यमत्वम् इति अर्थः. **चिन्ताकुलत्वतः** इति. **श्रोतुः** व्यासस्य चिन्ताकुलत्वात् मध्यमत्वम् इति अर्थः (२).

प्रकृतचतुर्थाध्यायार्थम् आहुः **तत्र** इति. व्यासचिन्तानिरूपणस्य प्रयोजनं

---

१. अत्र इति पाठः टिप्पण्याम् -सम्पा. २. अवताराद् इति मुद्रितपाठः. कि.पाठे तु एवम् -सम्पा.

उत्तमप्रक्रियायाश्च वक्तुर्हेतुनिरूपणात् ॥(३)॥

पूर्वप्रकरणे स्वाधिकारानुसारेण शास्त्रार्थो निरूपितः. तत्र मूलत्वेन भागवतम् उक्तम्. यस्मिन् भागवते श्रुते सूतस्य अयं शास्त्रार्थः प्रतिभातः तदेव अस्माभिरपि श्रोतव्यम् इति अभिप्रायेण शौनकः सूतं पृच्छति इति आह व्यासः (इति!).

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

आहुः **हेतुनिरूपणाद्** इति. व्यासस्य चिन्तायां जातायां नारदेन उपदेशः कृत इति भागवतप्रकारे चिन्ता हेतुः (जाता!) इति चतुर्थाध्याये निरूपिता इति भावः (३).

पूर्वाध्यायप्रकरणार्थम् अनुवदन् व्याख्याम् आरभते **पूर्वप्रकरणे** इति. **अयं शास्त्रार्थः** इति. एतावत्पर्यन्तं सूतेन यः उक्तः स शास्त्रार्थः इति अर्थः. **इत्याह व्यासः** इति. "तत्सर्वं भावि हृद्गतम्" (त.दी.नि. ३।१।१६) इत्यत्र निबन्धे समर्थितम्.

प्रकाशः

इत्यादि. **हेतुः** वैराग्यम्. "तस्य पुत्रो" (श्लो. ४), "दृष्ट्वानुयान्तम्" (श्लो. ५) इत्यादिभिः शुकस्यापि[१] विरक्तताबोधनात् स्वापेक्षया व्यासस्य[२] उत्कृष्टत्वात् च तत्कथायाः मध्यमत्वं तत्रापि स्फुटति इति तद्विचारेऽपि सएव अर्थः इति अर्थः (३).

इतीत्यत्र. पृच्छति इति आह व्यासः इति. एतेन प्रसङ्गः प्रश्नसङ्गतिः इति उक्तम्. **पृष्टे** इति भावे क्तः ॥१॥

लेखः

वदन्ति **उत्तमप्रक्रियायाः** इति. **उत्तमप्रक्रिया** समाधिभाषात्मिका भागवती संहिता, तस्याः **वक्तुः** व्यासस्य **हेतुनिरूपणात्**. व्यासस्य उत्तमप्रक्रियायाः वक्तृत्वे हेतुनिरूपणार्थं व्यासचिन्ता निरूप्यते इति परमार्थः. चिन्तायाः हेतुत्वन्तु अग्रिमाध्यायेषु स्फुटमेव (३).

---

१. शुकस्याविरक्ततेति पाठः. २. आयासस्य इति मुद्रितपाठः. कि.पाठे तु एवम् -सम्पा.

॥ व्यासः उवाच ॥

इति ब्रुवाणं संस्तूय मुनीनां दीर्घसत्रिणाम् ॥

वृद्धः कुलपतिः सूतं वह्वृचः शौनकोऽब्रवीत् ॥१॥

इति ब्रुवाणम् इति. सर्वत्र हि वक्तुः वाक्यसमाप्त्यनन्तरं श्रोतुः प्रश्नः, अत्युत्कण्ठयातु इह असमाप्तावेव प्रश्नः इति आह **ब्रुवाणम्** इति. सम्भावनामात्रेण पृष्टे, समूले शास्त्रार्थे निरूपिते, वक्तरि महत्या श्रद्धया सम्यक् स्तोत्रं कृतवन्तः इति आह **संस्तूय** इति. संस्तवनं ग्रन्थाद् बहिः. पूर्वम् आकाङ्क्षायाः प्राबल्यात् सर्वैरेव पृष्टम्. अधुना किञ्चिद् उत्कृष्टम् अस्ति इति बुद्ध्वा (**मुनीनां**!) मननेन च तन्निर्धार्य (**दीर्घसत्रिणां**!) सहस्रसंवत्सरे च भगवदवतारनिश्चयात् [१]तदर्थमेव च सत्रारम्भात् कोलाहले

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इति ब्रुवाणम् इत्यत्र **पूर्वमाकाङ्क्षायाः** इति. "ब्रूहि नः श्रद्दधानानां" (भाग.पुरा. १।१।१७), "तन्नः शंसितुमर्हसि" (भाग.पुरा. १।१।९) इत्यादौ बहुवचनात् पूर्वं **सर्वैरेव पृष्टम्** इति भावः. **मुनिनां दीर्घसत्रिणाम्** इति पदद्वयस्य अर्थं वदन्तः, एकस्य शौनकस्य प्रश्नकरणे हेतुं च आहुः **अधुना** इत्यारभ्य **पृच्छति** इत्यन्तेन. **मुनीनाम्** इत्यस्य व्याख्यानं **किञ्चिद्** इत्यारभ्य **निर्धार्य** इत्यन्तम्. मननशीला मुनयः, तथाच श्रवणेनापि ततः उत्कृष्टत्वेन ज्ञानेऽपि मननेन निर्धारितः इति **मुनिशब्दस्य** अभिप्रायः इति अर्थः. **दीर्घसत्रिणाम्** इत्यस्य व्याख्यानं **सहस्र** इत्यारभ्य **सत्रारम्भाद्** इत्यन्तेन. "सहस्रसममासत" (भाग.पुरा. १।१।४) इति पूर्वं सहस्रसंवत्सरसाध्यो यागः उक्तः इति **दीर्घपदेन** सहस्रसंवत्सराः. एवं **सहस्रसंवत्सरे** काले

लेखः

व्याख्याने **ग्रन्थाद् बहिः** इति, वक्ष्यमाणप्रश्नग्रन्थाद् बहिः इति अर्थः. **पूर्वम्** इति, प्रथमाध्याये "त्वया खलु पुराणानि" (भाग.पुरा. १।१।६) इत्यादिना **पृष्टम्** इति अर्थः. **उत्कृष्टम्** इति. पूर्वापेक्षया अत्र प्रश्नविषयम् उत्कृष्टम् अस्ति इति अर्थः ॥१॥

१. एतदर्थमेव इति पाठः टिप्पण्याम् - सम्पा.

सम्यक् श्रवणं न भविष्यति इति सर्वेषु शृण्वत्सु[1] तत्सम्बन्धी (बह्वृचः!) देवतास्वरूपाभिज्ञः **शौनकः** पृच्छति इति अर्थः. **वृद्धो** ज्ञानवृद्धः. **कुलस्य** ऋषिकुलस्य **पतिः** नियामकः. बुद्धेः निर्धारो ज्ञानवृद्धे भवति, उत्तरत्र प्रचारार्थं वचनविश्वासः कुलाचार्ये भवति इति **वृद्धः कुलपतिः** इति पदद्वयेन ज्ञापितम् ॥१॥

चतुर्धा हि अत्र प्रश्नः— भागवतविषयकः, कर्तृविषयको, वक्तृविषयकः, श्रोतृविषयकश्च इति. तत्र प्रथमम् आह.

॥ शौनकः उवाच ॥

सूत सूत महाभाग वद नो वदतां वर ॥
कथां भागवतीं पुण्यां यदाह भगवान् शुकः ॥२॥

सूत सूत इति आदरे वीप्सा. तव तु महाभाग्यं यद् भागवतं

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

जाते **भगवदवतारनिश्चयात्** यज्ञरूपो यो भगवान् तदाविर्भावनिश्चयाद् इति अर्थः. यज्ञरूपस्य भगवतः आविर्भावो भवेद् न वा इति संशयं वारयन्ति **एतदर्थमेव सत्रारम्भाद्** इत्यनेन. तथाच एतद् दीर्घसत्रं भगवत्सन्तोषार्थमेव ; सर्वथा सन्तुष्टो भगवान् आविर्भवति इति भावः. शौनकस्य प्रश्ने अन्येषाम् अप्रश्ने हेतुम् आहुः **कोलाहले** इत्यारभ्य **पृच्छति** इत्यन्तेन. कोलाहलभयेन सर्वे न पृष्टवन्तो, नतु अरुच्या इति भावः. **सत्रिणाम्** इति षष्ठीविभक्त्यर्थम् आहुः **तत्सम्बन्धी** इत्यनेन. यथा 'राजपुरुष' इत्यत्र राज्ञः उत्कर्षः पुरुषस्य अपकर्षः तथा अत्र नास्ति इति ज्ञापनार्थं **देवतास्वरूपाभिज्ञः** इत्युक्तम्. **देवता** यज्ञदेवता भगवान्, तत्स्वरूपाभिज्ञः इति अर्थः. तथाच न अपकृष्टः इति भावः. **उत्तरत्र** इति. **उत्तरत्र प्रचारार्थम्** अग्रे भागवतस्य प्रचारज्ञापनार्थम्. **वृद्धः** इति विशेषणं ज्ञानवृद्धेन हि बुधा सर्वत्र श्रुतं प्रचार्यते इति भावः (सूचयति!). **कुलाचार्ये** इति. ऋषिकुलनियामकत्वेन अलौकिकवचनविश्वासः इति ज्ञापनाय **कुलपतिः** इति विशेषणम् इति भावः ॥१॥

---

१. शृण्वत्सु इति नास्ति ख. श्रूयमाणेषु इति टिप्पणीमातृकान्तरपाठः -सम्पा.

श्रुतवान् असि इति **महाभाग** इति सम्बोधनम्. **नः** अस्मभ्यं ; न श्रोतृत्वमात्रम् अस्मासु किन्तु अस्मभ्यं भागवतं देयम् इति चतुर्थीप्रयोगः. **वदतां** मध्ये (**वरः!**) श्रेष्ठः. निर्धारणात् न समासः. वदतां मध्ये त्वमेव श्रेष्ठः. (**भागवर्ती!**) यस्यां कथायां श्रुतायां त्वया एवं शास्त्रार्थो निरूपितः तामेव **कथां वद. पुण्यां** धर्मरूपां ; विहितत्वाद् यागवत्. श्रद्धाधिक्ये हेतुः **यद्** यस्मात् कारणाद् **भगवान् शुकः आह. शुकः** इति मुक्तः, **भगवान्** इति पूर्णगुणः ॥२॥

द्वितीयं प्रश्नम् आह.

कस्मिन्युगे प्रवृत्तेयं स्थाने वा केन हेतुना ॥
कुतः सञ्चोदितः कृष्णः कृतवान् संहितां मुनिः ॥३॥

कस्मिन् युगे इति. कर्तुः परिकरापेक्षत्वात् कर्तृप्रश्ने परिकराणामपि प्रश्नः. काल-देश-हेतवो हि परिकराः, प्रयोजककर्ता[१] च ; त्रिषु प्रवृत्ता

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

सूत सूत इत्यत्र. **निर्धारणाद्** इति. समासेन पदैक्यं भवति. तत्र अन्ये सन्दिग्धं वदन्ति, सूतस्तु निःसन्दिग्धवक्ता इति ज्ञापयितुं समासेन पदैक्यं न कृतम् इति भावः ॥२॥

कस्मिन् युगे इत्यत्र. अयं प्रश्नस्तु कालादिविषयको, नतु कर्तृविषयकः इत्याशङ्क्य समाधानम् आहुः **कर्तुः परिकरेति**. कर्तुः सामग्रीसापेक्षत्वात् **कर्तृप्रश्ने** सामग्र्याः **अपि प्रश्नः** इति भावः. परिकरान् गणयन्ति **कालः** इति. **प्रयोजनकर्ता** इति प्रयोजकः = प्रेरकः. प्रेरककर्तापि परिकरः इति अर्थः. **कुतः सञ्चोदितः** इत्यनेन प्रेरकः पृष्टः. तथाच प्रेरकोऽपि परिकरएव

प्रकाशः

सूत सूत इत्यत्र. **निर्धारणाद्** इत्यादि. "न निर्धारणे" (पाणि.सूत्र २।२।१०) इति सूत्रेण समासनिषेधात् तथा इति अर्थः ॥२॥

लेखः

कस्मिन् इत्यत्र. **त्रिषु प्रवृत्तेयम्** इति, कालादिषु त्रिषु सत्सु

१. प्रयोजनं कर्ता च इति ख. प्रयोजनकर्ता इति टिप्पण्याम् - सम्पा.

इयम् इति सम्बन्धः. **कस्मिन् युगे इयं सम्प्रवृत्ता, कस्मिन् वा स्थाने, केन वा हेतुना?** यथा अत्र चित्तवैयग्र्यं, तदभावो हेतुः. **केन वा (सञ्चोदितो!)** प्रेरितो भवतु[१], **कुतो वा** हेतोः प्रेरितः? प्रवृत्तौ त्रयः

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इति भावः. पूर्वार्धं व्याचष्टे **त्रिषु** इति. त्रितयनिबन्धना भगवद्वृत्तिः इति अर्थः. त्रीन् आहुः **कस्मिन्** इति. **सम्प्रवृत्ता** प्रचरिता इति अर्थः. उत्तरार्धं व्याचष्टे **यथात्र** इति. यत्-तदोः नित्यसम्बन्धात् 'तथा' इत्यस्य अध्याहारः कर्तव्यः. एवञ्च **यथात्र** भागवतप्रचारे व्याप्तस्य **चित्तवैयग्र्यं हेतुः** तथा **तदभावः** चित्तवैयग्र्याभावो **हेतुः** भागवतनिर्माणार्थप्रवृत्तौ इति अर्थः. तथाच **कुतः**शब्दवाच्ये प्रश्नत्रितये **तदभावो हेतुः** इत्यनेन हेतुप्रश्नः उक्तः इति भावः. एवञ्च प्रवृत्तौ को हेतुः इति एकः प्रश्नः. शिष्टं प्रश्नद्वितीयम् आहुः **केन वा** इति. तृतीयप्रश्ने अवतारिकाम् आहुः **भवतु** इति.

प्रकाशः

कस्मिन् युगे इत्यत्र. **हेतुना** इति निमित्तेन प्रयोजकेन च. उदाहरणेन तं स्फुटीकुर्वन्ति **यथा** इत्यादि. श्रीभागवतप्रवृत्तौ **चित्तवैयग्र्यं** निमित्तं, **तदभावः (हेतुः!)** प्रयोजकः इति. **भवतु** इति. प्रेरणं भवतु तथापि प्रेरकः कुतः प्रेरितवान् इति अर्थः. **एकः** इति प्रेरकप्रश्नः ॥३॥

लेखः

प्रवृत्ता इयम् इति अर्थः. प्रयोजकस्यतु ग्रन्थकरणे हेतुत्वं, नतु प्रवृत्तौ. **कुतः सञ्चोदितः कृष्णः कृतवान्** इति समभिव्याहाराद् इति भावः. अनुपदं च इदं वक्ष्यन्ति. हेतुभूतं प्रमेयम् उद्घाटयन्ति स्पष्टप्रतिपत्त्यर्थं **यथात्र** इति. **अत्र** श्रीभागवतप्रवृत्तौ व्यास**चित्तवैयग्र्यं** ततो नारदोपदेशेन पदार्थनिश्चयात् वैयग्र्याभावश्च **हेतुः** इति अर्थः. **यथा** इति कथनन्तु हेत्वन्तरसत्ता-सूचनाय. **कुतः सञ्चोदितः** इत्यस्य अर्थम् आहुः **केन वा प्रेरितो भवतु** इत्यादि. येन केनचिद् वा व्यासः प्रेरितो भवतु नाम, परन्तु प्रेरकेण किमर्थं प्रेरितः इति अर्थः ॥३॥

१. अभवद् इति टिप्पणीमातृकान्तरपाठः - सम्पा.

प्रश्नाः, करणे च एकः. **(संहितां कृतवान्!) मुनिः** इति मनन-प्रतिबन्धिकायाः संहितायाः कथं करणम्? ॥३॥

तृतीयम् आह पञ्चभिः.

तस्य पुत्रो महायोगी समदृक् निर्विकल्पकः ॥

एकान्तमतिरुन्निद्रो गूढो मूढ इवेयते ॥४॥

तस्य पुत्रः इति. वक्तृत्वेन [१]प्रकृष्टत्वाद् न अध्येतृत्वनिमित्तसन्देहाः इह उच्यन्ते. तेच अग्रे वक्तव्याः. **महायोगी** समाधिस्थः. प्रथमं योगो दुःखदोऽपि भवति, प्रवृद्धस्तु सुखदः. तादृशस्य कथाकथनम् अयुक्तम् इति भावः. किञ्च **समदृग्** ब्रह्मविद् इति अर्थः. उच्चावचबुद्धिसाध्यं च प्रवचनम्! किञ्च **निर्विकल्पकः** साङ्ख्यप्रोक्तज्ञानसिद्धः. निर्गताः विकल्पाः

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

येन केनापि प्रेरणं सम्भवतु इति अर्थः. **कुतः** इति. प्रेरकः कोऽपि भवतु परन्तु प्रेरकस्य व्यासप्रेरणे किं प्रयोजनम् इति भावः. **त्रयः प्रश्नाः** इति. को हेतुः, केन प्रेरितः, किमर्थं प्रेरितः इति **कुतः**शब्दवाच्या **त्रयः प्रश्नाः प्रवृत्तौ** ज्ञेयाः. **करणे** इति, निर्माणे इति अर्थः ॥३॥

तस्य पुत्रः इत्यत्र. **वक्तृत्वेन पृष्टत्वाद्** इति. वक्तृविषयको अयं प्रश्नः इति एते सन्देहाः अध्येतृत्वनिबन्धने न इति अर्थः. तथाच "स वै निवृत्तिनिरतः" (भाग.पुरा. १।७।९) इत्यनेन अध्येतृत्वविषयक-सन्देहो **अग्रे** वक्तव्यः इति भावः. **उच्चावच** इति, विषम**बुद्धिसाध्यं प्रवचनं,**

लेखः

तस्य इत्यत्र **वक्तृत्वेन** इति. शुकस्य वक्तृत्वेन अत्र उच्यमानत्वात् "कुतः इत्यधीतवान्?" इत्यादिप्रश्नाः अध्येतृत्वविषयाः न उक्ताः अपितु तस्य अत्युत्कृष्टाधिकार-प्रतिपादनेन वक्तृत्वमेव पोष्यते इति भावः. परन्तु तादृशावस्थायां वक्तृत्वं दुर्लभं मत्वा प्रश्नः. **अग्रे** इति, सप्तमाध्याये "स वै निवृत्तिनिरतः" (भाग.पुरा. १।७।९) इत्यादिना इति अर्थः. **प्रवचनम्** इति, परीक्षितो अध्यापनम् इति अर्थः ॥४॥

---

१. पृष्टत्वादिति घ-टिप्पण्याम् - सम्पा.

प्राकृताः यस्य. किञ्च **एकान्तमतिः** विरक्तः. एकान्ते मतिः यस्य. किञ्च **उन्निद्रः** उद्गता निद्रा यस्य इति [1]स्वप्नदृष्टारिष्ट-निवृत्त्यपेक्षारहितोऽपि. किञ्च **गूढः** सङ्गाद् भृशम् उद्विजमानः. अतएव च लोके अप्रसिद्धः. किन्तु **मूढ इव ईयते** ज्ञायते ।।४।।

किञ्च सर्वदा असम्प्रज्ञातसमाधिस्थो बहिःसंवेदनरहितः इति वक्तुम् उपाख्यानम् आह **दृष्ट्वा अनुयान्तम्** इति.

दृष्ट्वाऽनुयान्तमृषिमात्मजमप्यनग्नं
देव्यो ह्रिया परिदधुर्न सुतस्य चित्रम् ।।
तद्वीक्ष्य पृच्छति मुनौ जगदुस्तवास्ति
स्त्रीपुम्भिदा न तु सुतस्य विविक्तदृष्टेः ।।५।।

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

प्रकर्षेण कथनम् इति. ब्रह्मज्ञानार्थं हि सर्वोऽपि यतते. तथाच तद्वतः कथनम् अयुक्तम् इति भावः. **प्राकृताः** इति, घटत्वादिप्रकारकाः **विकल्पाः** यस्मिन् न सन्ति इति अर्थः. **स्वप्नदृष्टारिष्ट** इति, प्राप्तिरेव नास्ति इति भावः ।।४।।

असम्प्रज्ञात इत्यस्य व्याख्यानं **बहिःसंवेदनरहितः** इति.

प्रकाशः

तस्य पुत्रः इत्यत्र. **स्वप्नदृष्टे**त्यादि. इदं ब्रह्मवित्त्वपोषकं, ब्रह्मविदः स्वप्नाभावस्य तृतीयस्कन्धनिबन्धे उपपादितत्वात्. श्रुत्युक्तासु हिताख्यासु नाडीषु जीवस्य इन्द्रियैः सह प्रवेशे ‘‘तत्र एनं घ्नन्तीव जिनन्तीव’’ (बृहदा.उप. ४।३।२०) इत्यादिश्रुत्युक्तानि यानि स्वप्नदृष्टानि अरिष्टानि तान्यपि ‘‘मन एव मनुष्याणां पूर्वरूपाणि शंसति, भविष्याणि च भद्रं ते’’ (भाग.पुरा. ४।२९।६६) इति वाक्याद् भूत-भावीन्येव. तथा तेषां ज्ञाने तन्निवृत्त्यपेक्षा स्यात्. जाते ज्ञानेतु मूलाविद्यानाशात् तदाधिभौतिक्याः निद्रायाअपि निवृत्तेः मनसा तेषाम् अशंसने तन्निवृत्तिज्ञानात् तदपेक्षारहितः इति अर्थः ।।४।।

---

१. स्वप्नदृष्टानिष्टेत्यादि ख.

अत्र हि एवं कथा— क्वचित् सरोवरे नग्नाः अप्सरसः स्नान्ति. तत्र नग्नं शुकं (**आत्मजं!**) पुत्रम् **अनुयान्तं** (**अनग्नम् ऋषिं!**) व्यासं **दृष्ट्वा** (**देव्यो ह्रिया परिदधुः!**) वस्त्राणि पर्यधुः. ततो (**तत् चित्रं वीक्ष्य!**) व्यासस्य सन्देहो जातः "कथं मां वृद्धम् **अनग्नं दृष्ट्वा** वस्त्राणि परिदधति, पुत्रं तरुणं नग्नं दृष्ट्वा न?" इति सन्देहात् ताः पृष्टवान्. (**मुनौ जगदु!**) तासाम् उत्तरं "**तव अस्ति स्त्री-पुम्भिदा, नतु सुतस्य**" इति. यद्यपि शाब्दं ज्ञानं वेदव्यासस्य निर्विचिकित्सं, स्वरूपज्ञानञ्च, तथापि बहिःसंवेदनम् अस्ति, अधिकारित्वात्. पुत्रस्यतु नित्यारूढसमाधित्वाद् न बहिःसंवेदनम् अस्ति. तद् आह **विविक्तदृष्टेः** इति. विविक्ता अनात्मस्पर्शरहिता दृष्टिः यस्य इति. एवम् अष्टगुणानां भगवत्कथाबाधकानां विद्यमानत्वात् कथं कथाप्रवचनम्? इति ॥५॥

यद्यपि प्रव्राजकधर्मकरणात्— "कीटवत् पर्यटेन्महीम्" (. । ।) इति वाक्यात् समाधेः उत्थितः कैश्चिद् दृष्टः प्रार्थितो निर्बन्धेन कथां कथयति इति न मन्तव्यम्— लोकानां ज्ञापकधर्मो

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

दृष्ट्वानुयान्तम् इत्यत्र. **अधिकारित्वाद्** इति, सगुणत्वाद् इति भावः ॥५॥

यद्यपि इति. "प्रव्रजेत् कीटवद्" (. । ।) इति वाक्याद् एतस्य परमहंसत्वेन पर्यटनम् आवश्यकम्. तथाच भ्रमणसमये **कैश्चित्** कदाचिद् **दृष्टः** ततः कथनार्थं **प्रार्थितः** सन् **कथयति** इति कथनं **यद्यपि** सम्भवति इति अर्थः. दूषयन्ति **न मन्तव्यम्** इति. इयं सम्भावना नास्ति इति भावः. अभावे हेतुम् आहुः **लोक** इति. लोकाः हि महापुरुषं प्रार्थयन्ति. तथाच "**अयं महान्** भवति" **इति ज्ञापको**

लेखः

असम्प्रज्ञातसमाधिस्थो इति. ... . **दृष्ट्वा** इत्यत्र. **यद्यपि शाब्दं ज्ञानम्** इति. **ऋषि**पदेन सर्ववेदज्ञानं निर्विचिकित्सम् उक्तं, **मुनि**पदेन च स्वरूपं ज्ञातम् इति ज्ञेयम्. **अष्टगुणानाम्** इति. "तस्य पुत्रः" (श्लो. ४) इति श्लोकोक्ता महायोगित्वादयः सप्तः, **दृष्ट्वानुयान्तम्** इति श्लोकोक्त-नित्यारूढसमाधिस्थत्वं च एकः इत्येवम् अष्टः इति ज्ञेयम् ॥५॥

''महान् अयम्'' इति न[१] अस्मिन् विद्यते इति आह.

कथमालक्षितः पौरैः सम्प्राप्तः कुरुजाङ्गलान् ॥
उन्मत्तमूकजडवद् विचरन् गजसाह्वये ॥६॥

कथम् आलक्षितः इति. **कुरुजाङ्गलान्** हस्तिनापुरदेशम्. आसमन्तात् (**लक्षितः!**) ''शुको अयम्'' इति. **पौरैः** इति, पुरवासाद् बुद्धिः वक्रा भवति. ज्ञानं हि त्रेधा भवति— बहिःस्थैर्यादिना वचनेन सदाचारेण च. तत् त्रितयं नास्ति इति आह **उन्मत्त-मूक-जडवद्** इति. गजेन समान आह्वयो[२] नाम यस्य तत् **गजसाह्वयम्**[३]. नगरनामनिरुक्त्या तत्रत्याः मत्ताः इति लक्ष्यन्ते. अत एव ज्ञानभयाभावात् तीर्थविशेषत्वात् (**विचरन्!**) शुकस्य परिभ्रमणम् ॥६॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

धर्मो अस्मिन् नास्ति इति भावः. तथाच महापुरुषत्वेन ज्ञानाभावात् प्रार्थनायाः अभावेन कथनं न सम्भवति इति भावः.

कथमालक्षितः इत्यत्र. **पुरवासाद्** इति, हस्तिनापुरस्य वक्रत्वात् तत्स्थानां बुद्धिरपि वक्रा भवति इति भावः. **बहिःस्थैर्य** इति, बाह्यस्थिरचेष्टया इति भावः. अयं तु पर्यटनेन अवतिष्ठति इति भावः. **तत्रत्याः मत्ताः**

प्रकाशः

कथम् इत्यस्य आभासे. **कथयति इति न मन्तव्यम्** इति. कथयति इति सम्भवति, तथापि न मन्तव्यम् इति अर्थः. विवृतौ **बहिःस्थैर्यादिना** इति बाह्यायां स्थिरचेष्टायाम् ॥६॥

लेखः

कथम् इत्यस्य आभासे **लोकानां ज्ञापकधर्मः** इति. **अयं** शुको **महान्** भवति **इति** अतो हेतोः क्षुद्रवत् स्वात्मानं ज्ञापयति ; तादृशो **धर्मो अस्मिन् न** इति अर्थः. **उन्मत्तः** इत्यत्र **मत्ताः** इति. हस्तिसमानधर्मम् आदाय इदम् उक्तम्. **ज्ञानभयाभावाद्** इति. ''कश्चित् मां ज्ञास्यति'' इति शुकस्य भयाभावः इति अर्थः. **तीर्थविशेषत्वाद्** इति. ... ॥६॥

---

१. नान्यस्मिन्निति क. २. आह्वो यस्येति क-ख-ग-ङ. ३. गजाह्वयमिति ख.

कथं वा पाण्डवेयस्य राजर्षेर्मुनिना सह ॥
संवादः समभूत् तात यत्रैषा सात्त्वती श्रुतिः ॥७॥

अस्तु वा नगरे केषाञ्चिद् ज्ञानं तथापि राज्ञा **सह संवादो** अनुचितः. राज्ञो **राजर्षित्वाद्** अनाचारिषु श्रद्धाभावः[१]. शुकस्य च **मुनित्वात्** सर्वज्ञत्वेन संवादसम्भावनायां[२] गमनाभावः. स च सम्बन्धो बहुकालसाध्यः, तद् आह **यत्र एषा सात्त्वती श्रुतिः** वैष्णवो वेदः ॥७॥

स गोदोहनमात्रं हि गृहेषु गृहमेधिनाम् ॥
अवेक्षते महाभागस्तीर्थीकुर्वंस्तदाश्रमम् ॥८॥

अस्तु वा. तथापि गोदोहनकालाद् अधिककाले गृहस्थगृहे संन्यासिनो वासो अनुचितः. सोऽपि वासो न रागात्– तथा सति रागपूर्त्यर्थं चिरकालमपि वासः सम्भाव्येत– किन्तु गृहस्थानाम् **आश्रमं तीर्थीकुर्वन्. गृहे मेधा**

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इति. गजाः उन्मत्ताः भवन्ति इति भावः. **ज्ञानभयाभावाद्** इति. "मां ज्ञास्यति कोऽपि" इति शुकस्य भयाभावाद् इति अर्थः ॥६॥

कथं वा पाण्डवेयस्य इति श्लोकं व्याचष्टे **अस्तु वा** इति. **अनाचारिषु** इति. रजोगुणप्रधानत्वाद् अनाचारित्वम् इति भावः, सर्पप्रक्षेपाद् वा. **सम्भावनायाम्** इति. राज्ञा समं साकं संवादो भविष्यति इति ज्ञात्वा न गच्छेद् इति भावः. **बहुकालसाध्यः** इति, बहुकालपर्यन्तम् इति अर्थः. **वैष्णवो वेदः** इति. भागवतरूपो वेदः प्रचरितः इति अर्थः ॥७॥

स गोदोहन इति श्लोकं व्याचष्टे **अस्तु वा** इति. **न रागाद्** इति, इच्छातो न इति अर्थः. यद् वा अनुरागाद् न इति अर्थः. **तथा सति** इति, इच्छायां सत्याम्, अनुरागे सति वा. **गृहमेधिनाम्** इत्यस्य अर्थं वदन्ति **गृहे मेधा** इति. **मेधा** इत्यस्य व्याख्यानम् **अतिप्रवृत्तिनिष्ठा**

प्रकाशः

कथं वा इत्यस्य आभासः **अस्तु वा नगरे** इत्यादि ॥७॥

स गोदोहनेत्यत्र. अस्तु वा इति, संवादः इति शेषः.

१. शुद्धाभाव इति ख. २. संवादसम्भावनया इति ख.

बुद्धिः अतिप्रवृत्तिनिष्ठा. तथा तेषामेव च अग्रे संन्यासः. तथा सति पूर्वदोषस्य विद्यमानत्वाद् न अधिकारः, सङ्गदोषाच्च. अतः परमहंसैः गृहस्थाश्रमो अतीर्थोऽपि तीर्थीक्रियते. ततो दोषद्वयं गच्छति इति आह **स गोदोहनमात्रम्** इति. यथा हि गौः धर्मदोहार्थं तावत् कालं निर्बन्धं सहते तथा जगन्मित्रैरपि सोढव्यम् इति **हि**शब्दार्थः. इयम् अवस्था महाभाग्येन प्राप्यते इति **महाभाग**विशेषणम् ॥८॥

श्रोतुः प्रश्नम् आह चतुर्भिः.

अभिमन्युसुतं सूत प्राहुर्भागवतोत्तमम् ॥
तस्य जन्म महाश्चर्यं कर्माणि च गृणीहि नः ॥९॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इति. परमहंसस्य शुकस्य गृहमेधिनां गृहेषु स्थितेः प्रयोजनम् आहुः **तथा तेषामेव** इति. **तेषामेव** गृहमेधिनामेव **अग्रे** शुकस्थित्यनन्तरं **तथा** शुकस्येव सन्यासेन प्रयोजनम्[१] इति अर्थः. वक्ष्यन्ति च **जगन्मित्रैः** इत्यनेन. **तथा सति** इति, शुकस्थित्यभावे **पूर्वदोषस्य** पूर्वोक्त-प्रवृत्तिनिष्ठारूप-दोषस्य **विद्यमानत्वात्** सत्त्वाद् **न अधिकारः** सन्यासे न अधिकारः इति अर्थः. **सङ्गदोषाच्च** इति, गृहासक्तेः इति अर्थः. **अतः** इति, तेषाम् अधिकारो अस्ति इति हेतोः इति अर्थः. **ततः** इति, तीर्थीकरणाद् इति अर्थः. **दोषद्वयम्** इति, अतिप्रवृत्तिनिष्ठा गृहासक्तिश्च गच्छति इति भावः. **गोदोहनपदसूचितम्** अर्थं, **हिशब्दार्थं** च आहुः **यथा** इत्यारभ्य **इति 'हि'शब्दार्थ** इत्यन्तेन. **धर्मदोह** इति, अग्निहोत्रार्थं दोहनं धर्मदोहः ॥८॥

प्रकाशः

तीर्थीकरणप्रयोजनम् आहुः **तथा** इत्यादिना. **तथा** इति. यथा इदानीम् अतिप्रवृत्तिनिष्ठा तथा इति अर्थः. **सङ्गदोषाद्** इति **गृहेषु** इत्यनेन सूचितात्. **धर्मदोहार्थम्** इति अग्निहोत्रोपयोगि-दोहार्थम् ॥८॥

---

१. प्रयोजनपूर्तिः इति तात्पर्यम् - सम्पा.

अभिमन्युसुतम् इति.

पितृनाम्ना महत्त्वं हि मातृनाम्ना तु हीनता ।
इति सर्वत्र बोद्धव्यं श्रीमद्भागवतेऽपि च ॥(४)॥

अभितः सर्वतो[१] **मन्युः** यस्य, नतु अन्तः. क्षत्रियस्य च अयं धर्मः. अन्तःक्रोधाभावात् च वैष्णवः. **सूत** इति सम्बोधनं वृत्तान्तपरिज्ञानाय. (**भागवतोत्तमं!**) लोकवृत्तपरित्यागेन भगवदेकपरायणो महाभागवतः. "विसृजति हृदयं न यस्य" (भाग.पुरा. ११।२।५५) इति वा. **प्राहुः** इति सर्वलोकप्रसिद्धः. पूर्वमेव तादृशस्य भागवतेन यो विशेषः तत्परिज्ञानाय पूर्वं विशेषं पृच्छति **तस्य जन्म** इति. **महद् आश्चर्यं** यत्र, मृतस्य गर्भात् पतितस्य पुनर्जीवनम् इति. भारतादिषु एवमेव कथा. कलिनिग्रहादीनि **कर्माणि** ॥९॥

वैष्णवस्य प्रायो अनुचितः इति अभिप्रायेण आह.

स सम्राट् कस्य वा हेतोः पाण्डूनां मानवर्धनः ॥
प्रायोपविष्टो गङ्गायाम् अनादृत्याधिराट्श्रियम् ॥१०॥

परीक्षिति[२] लौकिकोऽपि उत्कर्षो अस्ति. **सम्राट्** चक्रवर्ती. **पाण्डूनाम्** अपि[३] **मानं वर्धयति** पाण्डवप्रतिष्ठया न अस्य प्रतिष्ठा किन्तु विपरीता इति अर्थः. गङ्गयैव च सर्वपुरुषार्थसिद्धिः ; किं **गङ्गायां प्रायोपवेशनेन**? पराजयस्तु असम्भावितएव यतः **अधिका राज्ञाम्** अपि **श्रीः** गृहे यस्य वर्तते. तामपि **अनादृत्य.** एवं लोक-वैष्णवाभ्यां प्रायो अनुचितः ॥१०॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

अभिमन्युसुतम् इत्यत्र. **वृत्तपरित्यागेन** इति. वृत्तं कुलपरम्परागतं चरित्रं, तत्परित्यागेन इति अर्थः. **विसृजति** इति. एतच्छ्लोकोक्त-धर्मवत्त्वं वा महाभागवतत्वम् इति अर्थः ॥९॥

स सम्राड् इति श्लोकं व्याचष्टे **वैष्णवस्य** इति. **पराजयः** इति, गङ्गासान्निध्यात् कालकृतो न. ननु शत्रुकृतो भविष्यति इति आशङ्क्य आहुः **यतः** इति ॥१०॥

---

१. परित इति ख. २. इतः प्राक् 'स इति' इति प्रतीकमस्ति घ. ३. अभिमानमिति ख.

किञ्च[१] लज्जातु सर्वतो महती, विशेषतः स्वेषु. तत् कथं राज्ञां मध्ये प्रायोपवेशनम् इति अभिप्रायेण आह.

नमन्ति यत्पादनिपीठमात्मनः शिवाय हाऽऽनीय धनानि शत्रवः ।।
कथं स वीरः श्रियमङ्ग दुस्त्यजां युवैषतोत्स्रष्टुमहो सहाऽसुभिः ।।११।।

नमन्ति इति. **पादनिपीठं** पादुके वा. सर्वत्र देशेषु अस्य सिंहासने गत्वा स्वापराध-मार्जनार्थं **धनानि आनीय,** ह इति आश्चर्ये, **शत्रवो** अपि **नमन्ति आत्मनः शिवाय** इति. देशस्तु पूर्वमेव अपहृतः, स्वयं च सङ्कटे पतिताः पुनः स्वदेशप्राप्त्यर्थं धनानि प्रयच्छन्ति इति अर्थः. अयम् अर्थः तस्य पुरुषार्थो न भवति इति न मन्तव्यं यतो **वीरः,** वीररसस्य विद्यमानत्वात्. वीरस्य हि प्रायोपवेशेन मरणं लज्जाकरं भवति. किञ्च धनाद्यर्थं(१) प्रायश्चित्तार्थं(२) वा लोके प्रायोपवेशनं सिद्धम्. (१)तत् सार्वभौमश्रियाः त्यागविषयत्वाद् धनार्थं न भवति. तदर्थत्वे च **कथं श्रियं** त्यक्तवान् इति? तत्रापि (**असुभिः!**) प्राणैः **सह** को वा भोक्ष्यति? (**दुस्त्यजां!**) लोके हि प्राणापेक्षयापि धनं दुस्त्यजं, तस्करादिषु निर्णयात्. तत्रापि (**उत्स्रष्टुमिषतो युवा!**) यूनः इच्छामात्रमपि दुर्लभं, किं पुनः करणम्! सत्यवार्तायाम् **अहो** इति आश्चर्यम् ।।११।।

(२)प्रायश्चित्तादिनातु परलोकसाधनार्थं वैष्णवस्य प्रायोपवेशनं न भवति किन्तु जीवनमेव इति आह.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

नमन्ति इत्यत्र. ननु जन्मान्तरे राज्यप्राप्त्यर्थं त्यक्तवान् इति आशङ्क्य आहुः **को वा भोक्ष्यति** इति. सतु भक्तएव इति भावः ।।११।।

लेखः

नमन्ति इत्यत्र. **अयमर्थः** इति पूर्वोक्तो धनाद्युपढौकणरूपः. **वीरपदस्य** उत्तरत्रापि तात्पर्यम् आहुः **वीरस्य हि** इति. **तदर्थत्वे** धनार्थत्वे. **को वा भोक्ष्यति** इति. प्राणैः सह त्यागे सति पुनः श्रियः को वा भोक्ष्यति इति अर्थः. तेन धनार्थं प्रायोपवेशनं न इति भावः ।।११।।

---

१. किन्तु इति ख.

शिवाय लोकस्य भवाय भूतये   य उत्तमश्लोकपरायणा जनाः ॥
जीवन्ति नात्मार्थम् असौ पराश्रयं मुमोच निर्विद्य कुतः कलेवरम् ॥१२॥

शिवाय इति. प्रमादात् महापातकसम्बन्धेऽपि वैष्णवस्य न देहत्यागः उचितः. तेषां स्वतः सेवासामर्थ्याभावेऽपि तान् पृष्ट्वा[१] लोकानां करणं सम्भवति. अतः (**उत्तमश्लोकपरायणाः जनाः न आत्मार्थं जीवन्ति!**) तेषां जीवनमेव (**लोकस्य!**) सर्वेषां **शिवाय** भवति. शिवं शान्तसुखम्. **भवः** उद्भवः लोके पुत्रपौत्राद्यभिवृद्धिः, "अमोघवीर्याः हि नृपाः" (भाग.पुरा. ४।१४।४२) इति वाक्यात्. **भूतये** ऐश्वर्याय. अणिमाद्यष्टैश्वर्यं भगवत्सेवायां प्रासङ्गिकं, "महापुरुषपूजायाः" (भाग.पुरा. ६।१८।७३) इति वचनात्. अतः सर्वेषां पुरुषार्थसाधकस्य देहस्य त्यागो अनुचितः. किञ्च निर्वेदेन देहादिपरित्यागो भूतहितार्थः, "अभयमभयं भूतेभ्यः" (.   । ।) इति वचनात्. तच्च वैष्णवानां विपरीतम् इति अभिप्रायेण आह **पराश्रयं**

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

शिवाय लोकस्य इत्यत्र. **अमोघवीर्याः हि** इति. अमोघं वीर्यं पराक्रमो येषाम् इति तथा. एवञ्च राज्ञः तथात्वे प्रजाः सदाचरणाः भवन्ति इति धर्मवृद्ध्या पुत्रपौत्राद्यभिवृद्धिः भवति इति भावः. **प्रासङ्गिकम्** इति, अवान्तरफलम् इति अर्थः. **पराश्रयम्** इत्यस्य अवतारिकाम् आहुः **किञ्च** इति. **निर्वेदेन** इति, वैराग्येण इति अर्थः. **भूतहितार्थः** इति प्राणिहितार्थः. अयम् अर्थः— "यद्यदाचरति" (भग.गीता ३।२१) इति वाक्याद् महापुरुषेण वैराग्येन चेत् शरीरं त्यज्यते तदा सर्वैः एवमेव क्रियते. तथाच सर्वेषां प्राणिनां हितं भवति इति भावः. प्रमाणम् आहुः **अभयम्** इति. **विपरीतम्** इति. देहादित्यागकरणं हितं न इति भावः. इदञ्च **शिवाय** इत्यत्र उक्तं **तेषां जीवनमेव** इत्यनेन. तथाच वैष्णवत्वाद् एतस्य शरीरं परेषां प्राणिनाम् आश्रयः इति त्यागकरणे न हितम् इति

प्रकाशः

शिवाय लोकस्य इत्यत्र. **पराश्रयम्** इति परेषां शरणभूतम्.

---

१. दृष्ट्वेति घ.

निर्विद्य इति. निर्वेदे[१] हेतुरेव परित्यक्तव्यः[२], नतु **कलेवरम्**. कस्यचिदेव हि धर्मस्य हेतुत्वम्. **कले** च अव्यक्त-मधुरे **वरम्** इति नामनिरुक्त्या

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

भावः. **निर्विद्येति. कुतो** हेतोः **पराश्रये** शरीरे विरक्तो अभूद् इति भावः. एवञ्च **कुतो निर्विद्य** इति सम्बन्धः. वैराग्येणैव हि शरीरपरित्यागः. तथाच एतादृशदेह-परित्याजकम् इति वैष्णवेन तन्मूलोच्छेदएव कर्तव्यो भवति **इत्यभिप्रायेण** इति आहुः **निर्वेदे हेतुरेव** इति. निर्वेदजनको हेतुः इति अर्थः. ननु धर्मेण वैराग्यम् उत्पाद्यते इति कथं वक्तव्यम् इति आशङ्क्य आहुः **कस्यचिदेव हि** इति. यावद्धर्मत्यागो न कार्यते किन्तु एतादृशशरीरत्याजक-हेतुभूतस्य त्यागः. तथाच ईदृशस्य त्यागेऽपि न क्षतिः,

प्रकाशः

निर्वेदहेतुः इत्यादि. "राज्ञां वृत्तिं करादान-दण्डशुल्कादिदारूणां, मन्यमानो दीर्घसत्रव्याजेन विससर्ज ह" (भाग.पुरा. ४।२४।६) इतिवत् स त्यक्तव्यः इति अर्थः. ननु राजधर्मस्यापि द्विषद्भयजनकत्वाद् अस्ति निर्वेदहेतुत्वम् इति चेत्, तत्र आहुः **कस्य** इत्यादि. **हेतुत्वम्** इति निर्वेदहेतुत्वम्. तथाच तद्विचारेऽपि शस्त्रसंन्यासः उचितः नतु देहत्यागः इति अर्थः. देहस्य पाल्यस्य[३] अत्याज्यत्वे हेतुम् आहुः **कले** इत्यादि ॥१२॥

लेखः

शिवाय इत्यत्र. **अभयमभयं भूतस्य** इति वचनम् ... "पुंसां किलैकात्मधियाम्" (भाग.पुरा. ६।११।२२) इति वाक्यम्. **निर्वेदे हेतुरेव** इति. **निर्वेदे** वैराग्ये सति **हेतुः** संसारासक्तिहेतुः अहंताममतादिरूपो धर्म **एव परित्यक्तव्यो, नतु** सकलधर्माश्रयमपि शरीरम् इति अर्थः. तदेतत् तारतम्यं प्रकटयन्ति **कस्यचिदेव** इति. **हेतुत्वं** संसारासक्तिहेतुत्वम्. तथाच एकधर्मत्यागेन सिद्ध्यते अर्थाय सकलधर्माश्रय-शरीरत्यागः अनुचितः इति भावः ॥१२॥

---

१. निर्वेदहेतुः इति पाठः प्रकाशे - सम्पा.	२. परिवक्तव्य इति ख.

३. मुद्रितपाठे नास्ति. कि.पाठानुरोधाद् गृहीतम् - सम्पा.

अव्यक्तरसाविर्भावहेतुः इति प्रतिभाति. स च भक्तिरसः, अन्यस्य लोक-वेदयोः प्रसिद्धत्वात्. अतो भक्तिरसाविर्भावकं शरीरं (**कुतः मुमोच!**) कथं त्यक्तवान् इति अर्थः ॥१२॥

एवं प्रश्नचतुष्टयम् उक्त्वा उपसंहरति **तत्सर्वम्** इति.

तत्सर्वं नः समाचक्ष्व पृष्टो यदिह किञ्चन ॥
मन्ये त्वां विषये वाचां स्नातमन्यत्र छान्दसात् ॥१३॥

उत्तरोत्तरप्रश्नेऽपि पूर्वस्य न दौर्बल्यं, तद् आह **सर्वम्** इति. ननु "भागवतार्थे अस्माकं परिचयो, न अन्यत्र" इति न वक्तव्यम् इति आह (**वाचां विषये त्वां स्नातं!**) **मन्ये** इति. अत्रैवर्णिकत्वाद् वेदे परं न परिचयः, तद् आह **अन्यत्र छान्दसाद्** इति ॥१३॥

प्रथमप्रश्नस्य स्कन्धान्तरेषु उत्तरं, तृतीय-चतुर्थयोः उत्तमप्रकरणे. अतो हेतुभूतत्वाद् द्वितीयप्रश्नस्य उत्तरम् आह.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

"अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्ममप्याचरेन्न हि" (नारद.पुरा. १।२४।१२) इति वचनाद् इति भावः. तथाच अयं धर्मो वैष्णवविद्विष्टो भवति इति त्यागेऽपि न दोषः. कलेवरस्य अत्यागे हेतुम् आहुः **कले च** इति. **स च** इति, 'अव्यक्त'पदवाच्यः इति अर्थः. **अन्यस्य** इति, रसस्य इति अर्थः. भागवते 'रस'पदवाच्यता भक्तेरेव इति भावः. उपसंहरति **अतो भक्तिरस** इति. अयम् आशयः— महद्भिः सर्वप्राणिहितं स्वहितं च कर्तव्यम्. एवं पराश्रयस्य त्यागो न सर्वहितः, कलेवरस्य त्यागो न आत्महितः इति **कथं त्यक्तवान्** इति अर्थः. उक्तं च निबन्धे ब्रह्मभावाद्धि सर्वेषां गृहमेव विशिष्यते (द्रष्ट. त.दी.नि. १।५१) ॥१२॥

द्वापरे इत्यस्य अवतारिकायां **प्रथमप्रश्न** इति, भागवतप्रश्नस्य इति अर्थः. **तृतीयचतुर्थयोः** इति, वक्तृ-श्रोत्रोः इति अर्थः. **हेतुभूतत्वाद्** इति, भागवतहेतुभूतत्वाद् इति अर्थः. **द्वितीयप्रश्नः** इति, कर्तृप्रश्नः इति अर्थः. **द्वापरे समनुप्राप्ते** इत्यत्र **ब्रह्मकल्पस्य** इति. "मन्वन्तरं तु दिव्यानां युगानाम् एकसप्ततिः" (ब्रह्मवै.पुरा. १।५।७) इति एकसप्ततिवारं युगचतुष्टयस्य आवृत्तौ मन्वन्तरं भवति. मन्वन्तराणि च ब्रह्मणः अहोरात्रमध्ये चतुर्दशः

॥ सूतः उवाच ॥

द्वापरे समनुप्राप्ते तृतीये युगपर्यये ॥
जातः पराशराद् योगी वासव्यां कलया हरेः ॥१४॥

द्वापरे इति. भागवतनिर्माणार्थमेव मुख्यतया तस्य अवतारः इति प्रथमं जन्म आह. ब्रह्मकल्पस्य प्रथम-मन्वन्तरस्य **तृतीययुगपर्यावृत्तौ** व्यासस्य जन्म. प्रथमयुगपर्यायो[१] ज्ञानस्य ससाधनस्य कालः, द्वितीयः कर्मणः, तृतीयस्तु

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

भवन्ति. तथाच **प्रथममन्वन्तरस्य** एकसप्ततियुगपर्यावृत्तिमध्ये युगचतुष्टयस्य **तृतीयावृत्तौ व्यासस्य जन्म** इति अर्थः. **प्रथमयुगपर्यायः** इति. एकसप्ततिसङ्ख्यायां मन्वन्तरस्य आरम्भ एव एकत्वेन गणितः इति अर्थः.

प्रकाशः

द्वापरे इत्यत्र. कर्तृप्रश्ने सपरिकरः कर्ता वक्तव्यः नतु तज्जन्मापि इति शङ्कायां जन्मकथनप्रयोजनम् आहुः **भागवतेत्यादि**. **ब्रह्मकल्पस्य** इत्यादि. अत्र अयम् आशयः— मूले **तृतीये युगपर्यये** इति कथनाद्* अष्टाविंशतिपर्याय-द्वापरस्य निवृत्तौ तत्र उत्पन्नायाः सत्यवत्याः एतन्मन्वन्तरीय-तृतीयपर्याय-द्वापरे अभावात्, तस्यापि निवृत्तौ तस्याः सोमवंशीयत्वेन तद्रहित-मन्वन्तराणामपि निवृत्तौ एतत्कल्पस्यैव निवृत्तेः भूतस्य कल्पान्तरस्य अवश्यं मृग्यत्वात् तस्मिन् विचार्यमाणे रजोगुणस्यैव प्रथमं क्षोभात् प्रथमः कल्पो राजसइति ब्रह्मकल्पस्य राजसत्वे "चाक्षुषोदधिसम्प्लव" (भाग.पुरा. १।३।१५) इत्यत्र उक्तन्यायेन तत्र राजस-मन्वन्तर-प्राथम्ये प्राप्ते, तत्र सूर्याद्यपेक्षासत्त्वात् "मृतेऽण्ड एष एतस्मिन् यदभूत् ततो मार्तण्ड" (भाग.पुरा. ५।२०।४४) इति निरुक्त्या जगतो अग्नि-षोमात्मकत्वेन च सोमस्यापि तदा सत्त्वेन तद्वंशे जाते तृतीयपर्याय-द्वापरएव सत्यवत्याः उत्पत्तौ, वक्ष्यमाणयुक्त्या पराशरस्यापि तदानीं सत्त्वात्, ***तृतीयपर्यावृत्तौ व्यासजन्म** इति अर्थः. **तृतीय** इत्यादिकथनस्य प्रयोजनम् आहुः **प्रथमम्** इत्यादि. तथाच भक्तिप्रचारार्थत्वात् तृतीये पर्यये जन्म इति भावः. माध्वास्तु

१. प्रथमम् इति क-घ-प्रकाशे -सम्पा.

भक्तेः. तथापि धर्माणां बाधकत्वात् कृते त्रेतायां च न जन्म किन्तु (**द्वापरे!**) धर्मस्य द्विपरतायां सन्देहे. सर्वेषामेव सन्देहः संशब्दार्थः. **पराशरस्य**

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

ज्ञानस्य इति. तत्र ज्ञानार्थं प्रवृत्तौ ज्ञानं सिद्ध्यति इति भावः. **तथापि** इति. तृतीया युगचतुष्टयावृत्तिः सर्वापि भक्तेः साधिका तथापि **कृते त्रेतायां च न जन्म** इति. तत्र हेतुः **धर्माणाम्** इति. कृते त्रेतायां च धर्मादीनां निश्चितानां बाधकत्वं भक्तिप्रवृत्तौ इति अर्थः. "नानुपलब्धेन निर्णीते अर्थे न्यायः प्रवर्तते अपितु सन्दिग्धे" (न्यायवार्ति.तात्प. १।२।९) इति न्यायात्. तथाच जन्मप्रयोजनं भक्तिप्रवृत्तिः, तदभावात् न जन्म इति भावः. द्वापरे जन्मनि हेतुम् आहुः **किन्तु** इति. **धर्मस्य द्विपरतायाम्** इति **द्वापरपदस्य** व्याख्या तु "द्वापरौ युगसंशयौ" (अम.कोश ३।३।६८५) इति कोशात्. तथाच तात्पर्यवशाद् अर्थद्वयस्यापि बोधकं **द्वापरपदम्** इति भावः. एवञ्च "गङ्गायां घोष-मत्स्यौ स्तः" इत्यत्र इव अत्र द्वयमपि भक्त्या बोध्यते इति आशयः. एवञ्च तदधिकरणकधर्म-सन्दिग्धत्व-निबन्धनमेव युगस्य **द्वापरपदवाच्यत्वम्** इति ध्येयम्. "अपितु सन्दिग्धे" इति न्यायाद् धर्मसम्बन्धे हि भक्तिः प्रवृत्ता भवति इति ज्ञात्वा व्यासस्य द्वापरे जन्म

प्रकाशः

"अधीतवान् द्वापरादौ" (भाग.पुरा. २।१।८) इत्यस्य व्याख्याने "व्यासः षट्शतवर्षीयो धृतराष्ट्रमजीजनद्" (.   । ।) इति वाक्याद् अस्मिन् कल्पे व्यासजन्म आहुः[१]. द्वापरस्य तात्पर्यम् आहुः **तथापि** इत्यादि. **धर्माणां बाधकत्वाद्** इति. कृत-त्रेतयोः धर्मसन्देहाभावेन असन्दिग्धतया क्रियमाणानां तेषां भक्तिबोधकत्वात्. **द्विपरतायां सन्देहे** इति. "द्वापरौ युगसंशयौ" (अम.कोश ३।३।६८५) इति कोशाद् 'द्वापर'शब्दः उभयार्थः प्रकृते शक्तिनियन्त्रणाभावाद् एकया उक्त्या 'पुष्पवच्'छब्दवद् उभयं वक्ति. द्विपरता तु उक्ता मात्स्ये "द्वैधमुत्पद्यते चैव युगे तस्मिन् श्रुतौ स्मृतौ" (मत्स्यपुरा.   । । , द्रष्ट. वायुपुरा. १।५८।६) इत्यादिना. एवञ्च

---

१. श्रीराधारमणदासगोस्वामिविरचिता दीपनीव्याख्यायां - सम्पा.

भक्तत्वं पुराणान्तरेष्वेव संसिद्धं, मार्कण्डेयनमस्कारे “वयोवृद्ध”वचनात्. उपरिचरवसोः पुत्री **वासवी** मत्स्यगर्भे जाताऽपि बीजधर्मयुक्तैव. अवतारप्रयोजनं **योगी** इति, योगः प्रवर्तनीयः. तत्रापि **हरेः कलया** सर्वदुःखदूरीकर्तुः ज्ञानकलया. योगस्तु भक्तियोगः. ज्ञानस्यतु अवतारादेव तस्यापि फलं भक्तिः प्रयोजनम्. एवं भक्तिप्रवर्तनार्थमेव अवतारः इति उक्तं भवति ॥१४॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इति भावः. **सम्प्राप्तपदं** व्याचष्टे **सर्वेषामेव** इति. भगवदाविर्भावे भक्तिः कारणं, तथाच पराशरे भक्तिः वर्ततएव इति आशयेन आहुः **पराशरस्य** इति. ननु व्यासस्य अष्टचिरजीविषु गणनात् व्यासस्तु बहुकालिको भवति, कथं पराशराद् जातः इति आशङ्क्य आहुः **मार्कण्डेय** इति. चिरजीविश्रेष्ठेन मार्कण्डेयेन नमस्कृतौ **“वयोवृद्ध”** इति उक्तत्वात् सर्वेभ्यो अयम् अधिकवयाश्चेति व्यासस्य जन्मनि न अनुपपत्तिः कदाचिद् इति भावः. **बीजधर्म** इति. उपरिचरवसोः वीर्यम् एतदुत्पत्तौ बीजं, तद्धर्मयुक्ताएव इति अर्थः. तथाच कन्येव दृश्यते, नतु मत्स्यजातेव इति भावः. ननु अवतारेण ज्ञानमेव प्रवर्तनीयं, तथाच **योगी** इति ‘योग’पदेन ज्ञानमेव इति आशङ्क्य आहुः **ज्ञानस्य तु** इति. स्वयमेव ज्ञानावतारः इति भावः. **तस्यापि** इति, योगरूपं **फलं तस्यापि** ज्ञानस्यापि इति भावः. तत् किं फलम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **भक्तिः** इति. तथाच ‘योग’पदवाच्यता भक्तेरेव इति भावः. **प्रयोजनम्** इति, अवतारप्रयोजनम् इति अर्थः. फलितार्थम् आहुः **एवम्** इति ॥१४॥

प्रकाशः

द्वापरान्ते व्यासावतारः आयाति. तद् आहुः **सर्वेषाम्** इति, ऋषीणाम्. एवं जन्मकालस्वरूपं निर्णीय अधिकरणस्वरूपम् आहुः **पराशरस्य** इत्यादि. **पुराणान्तरेषु** इति विष्णुपुराणादिषु. मातुः भक्तत्वाय आहुः **उपरीत्यादि**. उपरिचरस्य वैष्णवत्वं मात्स्यएव प्रसिद्धम्. **बीजधर्मयुक्ता** इति वैष्णवत्वयुक्ता. तथाच एतयोः एतादृशत्वात् तत्र व्यासावतारः इति अर्थः. **ज्ञानस्य तु** इति, प्रवृत्तिः इति शेषः. **प्रयोजनम्** इति अवतारप्रयोजनम् ॥१४॥

तस्य प्रासङ्गिकम् आह **स कदाचिद्** इति.

स कदाचित् सरस्वत्या उपस्पृश्य जलं शुचिः ॥

विविक्ते एक आसीन उदिते रविमण्डले ॥१५॥

स भक्त्यर्थम् अवतीर्णएव **कदाचिद्** मार्गत्रयनाशे सति स्वस्यापि ज्ञानविस्मरणे **सरस्वत्याः** शुचिजलम् **उपस्पृश्य** तेन प्रबुद्धसार्वज्ञ्यः. पाप-पराजितमिव[१] न भवति इति आह **शुचिः** इति. अनेन ज्ञानकलायां धर्मांशएव अभिव्यक्तः. ततः स्वावतारप्रयोजनं विचारयन् सर्वेषां हितार्थे धर्मम् अपश्यद् इति आह **विविक्ते** इत्यारभ्य "कृपया मुनिना कृतम्" (श्लो. २५) इत्यन्तम्. **विविक्ते** एकान्ते ; मनःस्थैर्यार्थम् एतत्. तदा **एकः आसीनः** भौतिक-दैविकात्मीय-दोषत्रयाभावः उक्तः. **उदिते रविमण्डले**

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

तस्य इति, **प्रासङ्गिकम्** अवान्तरप्रयोजनम् इति अर्थः. **स कदाचिद्** इत्यत्र. **मार्गत्रय** इति. ज्ञान-कर्म-भक्तिमार्गाः मार्गत्रयम्. **स्वस्यापि** इति, ज्ञानावतारस्यापि इति अर्थः. **प्रबुद्धसार्वज्ञ्यः** इति, **प्रबुद्धम्** आविर्भूतं **सार्वज्ञ्यं** सर्वज्ञत्वं यस्य स तथा इति अर्थः. **शुचिः** इति पदं व्याचष्टे **पापपराजितम्** इति. सार्वज्ञ्यं **पापपराजयमिव न भवति इति** आशयेन **आह** इति अर्थः. **शुचिरिति** इति. तथाच शुचेः पापस्पर्शो नास्ति इति भावः. **अनेन** इति, जलस्पर्शेन बोधकथनेन इति अर्थः. **धर्मांशएव** इति. ज्ञानमेव आविर्भूतं नतु ज्ञानकलावान् इति अर्थः. अयम् अर्थः — ज्ञानकलावतो भगवतः आविर्भावेन शुद्धसर्वज्ञत्वं न स्याद् इति भावः. **ततः** इति, अभिव्यक्त्यनन्तरम् इति अर्थः. **तदा** इति, मनःस्थैर्यकाले इति अर्थः. **भौतिकः** इति. **एकः** इति कथनेन **भौतिकः, आसीनः** इति कथनेन

प्रकाशः

स कदाचिद् इत्यत्र. **प्रासङ्गिकम्** इति अवतारकार्यम्. **अनेन** इति पापाऽपराजित-सरस्वतीजलोपस्पर्शनेन. **पुण्यनक्षत्रस्य** इत्यादि. "यत्पुण्यं

---

१. श्रीकृष्णाश्रयग्रन्थोक्त- "गंगादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह तिरोहिताधिदैवेषु"-न्यायेन तदानीं सरस्वतीजलस्य पापापराजितत्वे तात्पर्यम् - सम्पा.

इति आवश्यककर्म-कालाभावः उक्तः, पुण्यनक्षत्रस्य कालगुणानां च ज्ञापकं वा ॥१५॥

परावरज्ञः स ऋषिः कालेनाव्यक्तरंहसा ॥
युगधर्मव्यतिकरं प्राप्तं भुवि युगे युगे ॥१६॥

परे[1] कालादयः **अवरे** अस्मदादयः. करिष्यमाणे अर्थे कालादीनां प्रतिबन्धकाभावं प्राणिनां तथा अदृष्टं च[2] (ज्ञ!) ज्ञातवान् इति अर्थः.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

दैविकः, विविक्तः इति कथनेन **आत्मीयः**. भूतानि प्राणिनः, तत्सम्बन्धी (**भौतिकः**!). तथाच **एकः** इति द्वितीयस्य अभावादेव न दोषः इति भावः. **दैविको** दैवाद् वृथा चेष्टादिना जातः. तथाच **आसीनः** इति चेष्टादि-कारणाभावाद् न दोषः इति भावः. **आत्मीयः** आत्मसम्बन्धी. तथाच मनःस्थैर्ये आत्मनि संशयाद्यनुत्पत्तेः न दोषः इति भावः. **पुण्यनक्षत्र** इति. **पुण्यं** पावित्र्यजनकं **नक्षत्रं,** विष्णुदैवतं श्रवणादिनक्षत्रम् इति यावत्. तथाच रविमण्डलस्य उदितत्वं पुण्यनक्षत्र-भोक्तृत्वम् इति भावः. **कालगुण** इति. **उदिते** इति कथनाद् मेघादिना दुर्दिनं नास्ति इति भावः ॥१५॥

परावर इति श्लोकं व्याचष्टे **परे इति कालादि** इति. कालकृतः प्रतिबन्धो न भविष्यति इति ज्ञानवान् इति अर्थः. **प्राणिनाम्** इति. अस्मदादीनामपि प्रतिबन्धकता न भविष्यति इति भावः. **परावरज्ञः** इत्यस्य अर्थान्तरम् आहुः **पृष्टं च** इति. "अनागतकथारूपम्" (त.दी.नि. ३।१।१७) इति निबन्धे निरूपितं, तथा "तत्सर्वं भावि हृद्गतम्" (त.दी.नि. ३।१।१६) इति च. एवञ्च शौनकादीनां सूतस्य विदुरस्य मैत्रेयस्य च भागवतनिर्माणसमये

प्रकाशः

नक्षत्रम्" (तैत्ति.ब्रा. १।५।२।१) इत्यत्र श्रुतौ आदिम-जघन्य-पुण्यनक्षत्राङ्कितमार्गे[3] यावत् सूर्यगतिः तावत्कालस्य पुण्याहरूपस्य **ज्ञापकं, कालगुणाः** आर्तवाः तेषां **च ज्ञापकम्** इति अर्थः ॥१५॥

१. परे इति कालादि इति पाठः टिप्पण्याम् - सम्पा. २. चेति नास्ति ख. पृष्टं/दृष्टं/दुष्टं च इति पाठः टिप्पण्याम् - सम्पा. ३. नक्षत्रान्तिकेति पाठः.

एतदनन्तरं **स ऋषिः** जातः, धर्मांशस्यैव प्रकटत्वात्. कालो हि महान् अधिकारी भगवतः ; सर्वकर्ता सर्वनिमित्तञ्च. एवं सति व्यर्थः प्रयासो अन्येषाम् इति कालनियन्तुः भगवतो अवतारः इति ज्ञापयितुं कालकृतम् उपद्रवं प्रथमतः आह **कालेन अव्यक्तरंहसा** इति. **अव्यक्तेन** अक्षरेण **रंहो** वेगो यस्य, **अव्यक्ते** वा प्रकृतौ **रंहो** वेगो यस्य इति प्रकृतिप्रभृतीनां कालाधीनत्वम् उक्तम्, अक्षरसम्मतिः वा. **अव्यक्तो रंहो** यस्य इति

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

अनुत्पन्नत्वाद् व्यासेन पूर्वमेव तेषां **पृष्टं** प्रश्नः **चकाराद्** उत्तरं च भागवते निरूपितम् इति **परावरज्ञः** इति विशेषणेन त्रैकालिकज्ञातृत्वम् उक्तम् इति भावः. यद् वा पुराणादिषु अतीतानागत-वक्तृश्रोत्रोः प्रश्नोत्तरनिरूपणात् तथा इति भावः. **दृष्टम् (/दुष्टम्!)** इति पाठे **प्राणिनां दृष्टं (/दुष्टं!)** ज्ञानम् इति अर्थः. तथाच अस्मदादीनां विपरीतज्ञानम् अस्तीति व्यासो **ज्ञातवान्** इति अर्थः. **एतदनन्तरम्** इति, त्रैकालिकज्ञानानन्तरम् इति अर्थः. **ऋषिः जातः** इति. ज्ञातृत्वमेव ऋषित्वे प्रयोजकम् इति भावः. ज्ञातृत्वस्य ऋषित्वप्रयोजकत्वे हेतुम् आहुः **धर्मांशस्य** इति. **एवकारेण** ज्ञानतो व्यवच्छेदः. तथाच ज्ञानसद्भावएव अयम् उत्कृष्टः इति भावः. **कालेन अव्यक्त** इत्यस्य अवतारिकाम् आहुः **कालो हि** इति. **व्यर्थः प्रयासोऽन्येषाम्** इति. भगवदतिरिक्तानां **प्रयासः** श्रमः **व्यर्थः** स्याद् ; अन्यस्य ग्रन्थकरणे सर्वनिमित्तेन कालेन प्रतिबन्धः स्याद् इति अर्थः. **भगवतो अवतारः** इति, ज्ञानकलावतारः इति अर्थः. **अव्यक्तेन अक्षरेण रंहो वेगो यस्य** इति विग्रहार्थम् आहुः **अक्षरसम्मतिर्वा** इति. कालस्य अक्षरजन्यत्वात् तत्सम्मतः सर्वं करोति इति भावः. विग्रहान्तरम् आहुः **अव्यक्तो** इति.

प्रकाशः

परावरेत्यत्र. अवतारः इति व्यासावतारः. **व्यतिकर**शब्दस्य नाशे

लेखः

परावरज्ञः इत्यत्र. **कालनियन्तुर्भगवतः** इति. तथाच अन्येषां प्रयासस्य वैयर्थ्यं ज्ञापयितुं कालकृतोपद्रवनिरूपणं ; व्यासस्यतु भगवदवतारत्वात् कालः प्रयोजकः इति भावः. प्रथमपक्षेण सिद्धम् अर्थम् आहुः **अक्षरसम्मतिः**

वा इति प्रतिक्रियाऽकरणार्थे[१] हेतुः उक्तः. एतावता भगवद्व्यतिरिक्ताः तदधीनाः तदनुगुणाः वा इति निरूपितम्. फलितम् आह **युगधर्मेति.** **चतुर्युगाणां धर्माः** तपो-यज्ञ-स्वाध्याय-दानादयः, तेषां **व्यतिकरो** नाशः, अनधिकारिषु वा प्रवृत्तिः[२]. स च व्यतिकरो न आकस्मिकः किन्तु नियतः. **भुवि** एव, न स्वर्गे. न आकस्मिकं[३] किन्तु **युगे**[४] **युगे प्राप्तम्** ॥१६॥

कालेन धर्मनाशम् उक्त्वा पदार्थनाशमपि आह **भौतिकानाम्** इति.

भौतिकानां च भावानां शक्तिह्रासं च तत्कृतम् ॥
अश्रद्दधानान् निःसत्त्वान् दुर्मेधान् ह्रसितायुषः ॥१७॥

भौतिकानाम् अस्मदादीनाम्. **चकाराद्** भूतानाम्. **शक्तिः**

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इति वा इति, अयं वा विग्रहः इति अर्थः. एतद्विग्रहसिद्धाऽ**व्यक्त**पदस्य अभिप्रायम् आहुः **प्रतिक्रियाऽकरणार्थम्** इति. प्रतिक्रिया प्रतीकारः. तथाच अदृश्यवेगवत्त्वात् कालस्य तत्कृतोपद्रवे भगवदन्येन प्रतीकारः कर्तुं न शक्यते इति ज्ञापनार्थम् **अव्यक्तरंहसा** इति कालविशेषणं हेतुत्वेन उक्तम् इति. तथाच अनेन विशेषणेन अयमर्थो ज्ञायते इति हेतुम् इति आशयः. विग्रहत्रयस्यापि फलितार्थम् आहुः **अनधिकारिषु** इति. शूद्रादिषु तपआदीनां **प्रवृत्तिः वा व्यतिकर**शब्दार्थः इति अर्थः ॥१६॥

प्रकाशः

प्रसिद्ध्यभावात् पक्षान्तरम् आहुः **अनधीत्यादि.** तथाच अनधिकारसम्मिश्रणम् इति अर्थे अङ्गीकृते अर्थादेव नाशप्राप्तिः इति अर्थः ॥१६॥

लेखः

इति. **अव्यक्तेन रंहो यस्य** इति तृतीयया कालवेगे अक्षरस्यैव हेतुत्वकथनाद् अक्षरसम्मत्या एवं वेगो अस्य, नतु तदसम्मत्यापि इति भावः. **हेतुरुक्तः** इति. अव्यक्तरंहस्त्वाद् अवश्यं प्रतिविधेयः कालः इति भावः ॥१६॥

---

१. प्रतिक्रियाऽकरणार्थम् इति पाठः टिप्पण्याम्. प्रतिक्रियाकरणार्थम् इति पाठः लेखे - सम्पा.

२. प्रवृत्त इति क-घ. ३. नाकस्मिकः इति ख. ४. युगेषु प्राप्तमिति ख.

स्वाध्यायादीनां, कृषि-वृष्ट्यादीनां वा. **तत्कृतं** कालकृतम्. कर्तृदोषान् आह **अश्रद्दधानान्** इति, सर्वत्र श्रद्धारहितान्. **सत्त्वं** बलं विवेको वा. **दुर्मेधान्** बुद्धिरहितान्. चित्त-मनो-बुद्धिनाशाः उक्ताः, अन्तःकरणेषु अहङ्कारएव पुष्टः इति अर्थः. अतएव आयुषोऽपि अपचयः इति आह **ह्रसितायुषः**[1] इति ॥१७॥

दुर्भगांश्च जनान् वीक्ष्य मुनिर्दिव्येन चक्षुषा ॥
सर्ववर्णाश्रमाणां च दध्यौ हितम् अमोघदृक् ॥१८॥

कर्मणा हि भाग्यम् उत्पद्यते. तत् कालादीनां शुद्धितारतम्येन महाभाग्यजनकत्वं, द्वापरादौतु षण्णां दुष्टत्वाद् **दुर्भाग्यत्वम्**. एतत् सर्वं न तर्कितं किन्तु (**दिव्येन चक्षुषा वीक्ष्य!**) आर्षज्ञानेन प्रमितम्. तथा सति उपायज्ञानं भवति इति अर्थः. पाषण्डधर्माः स्वतएव उत्पत्स्यन्ते इति तद्व्यावृत्त्यर्थम् आह **सर्ववर्णाश्रमाणाम्** इति. चकाराद् अवान्तरदेशादि-

---

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

भौतिकानाम् इत्यत्र. **निःसत्त्वान्** इति पदं व्याचष्टे **सत्त्वं बलम्** इति. तथाच बलरहितान् विवेकरहितान् इति **निःसत्त्वशब्दार्थः**. **इत्याह** इति, **ह्रसितायुषः** इति जनविशेषणम् आह इति अर्थः ॥१७॥

दुर्भगांश्च इति श्लोकं व्याचष्टे **कर्मणा हि** इति. **कालादीनाम्** इति, काल-देश-द्रव्य-कर्तृ-मन्त्र-कर्मणाम् इति अर्थः. **वीक्ष्य** इति पदं व्याचष्टे **एतत्सर्वम्** इति. आपाततो अनुमानेन न ज्ञातम् इति अर्थः. **तथा सति** इति, प्रमायां जातायाम् इति भावः. अयम् अर्थः— यथा रोगनिश्चये तदुपायोऽपि निश्चितो भवति तथा धर्मव्यतिकरस्य प्रमारूपे निश्चये सति तत्र **उपायज्ञानम्** अपि प्रमारूपं **भवति** "एतादृशव्यतिरेके एतादृशः उपायः कर्तव्यः" इत्यादिरूपम् इति भावः. **स्वतएव उत्पत्स्यन्ते**

प्रकाशः

अश्रद्दधानान् इत्यत्र. **इति आह** इति. **ह्रसितायुषः** इति विशेषणम् आह इति अर्थः ॥१७॥

---

१. 'ह्रसितायुष इति' इति नास्ति क-ख-ग-ङ-टिप्पण्यां-प्रकाशे - सम्पा.

धर्माः. अनेन वर्णाश्रम-देश-व्यतिरिक्ताः धर्माः पाषण्डाः इति निरूपितम्. तेषाम् अपाषण्डानाम् इदं **दध्यौ**. सत्यसङ्कल्पाद् **हितं** स्फुरति इत्यतः आह **अमोघदृग्** इति ॥१८॥

यज्ञएव सर्ववर्णाश्रमहितकरः इति आह **चातुर्होत्रम्** इति.

चातुर्होत्रं कर्म शुद्धं प्रजानां वीक्ष्य वैदिकम् ॥
व्यदधाद् यज्ञसन्तत्यै वेदम् एकं चतुर्विधम् ॥१९॥

आर्षज्ञानत्वाद् न युक्तिः अपेक्ष्यते. युक्तिस्तु— आधिदैविकः कालो वा "स विष्ण्वाख्योऽधियज्ञोऽसौ" (भाग.पुरा. ३।२९।३८) इति वाक्याद् भौतिककालकृत-दोषदूरीकरणसमर्थः. अथवा. कालनियामको विष्णुः ; तदुभयात्मकत्वाद् यज्ञस्य स च श्रौतो विष्णुः. प्रमाणान्तरात् च वेदो

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इति, तदर्थम् उपायो न कर्तव्यः इति भावः. **सर्ववर्णाश्रम** इत्यत्र **तेषाम्** इति, धर्माणाम् इति अर्थः ॥१८॥

चातुर्होत्रम् इत्यत्र **शुद्धम्** इति **कर्म**विशेषणम् उक्तम्. तथाच चातुर्होत्रस्य शुद्धौ युक्तिः न अपेक्षिता इति भावः. युक्तिरपि अस्ति इति आशयेन आहुः **युक्तिस्तु** इति. **आधिदैविककालः** स्थूलकालशुद्धौ हेतुः. **अथवा** इति, **अथवा विष्णुः** इति अर्थः. **तदुभय** इति. तथाच तदुभयात्मकत्वात् स्वतएव यज्ञः शुद्धः इति भावः. **स च** इति, **श्रौतो**

प्रकाशः

चातुर्होत्रम् इत्यत्र. ननु कालकृते दोषे तदधीनस्य यज्ञस्य कथं सर्वहितकरत्वम् इत्यतः आहुः **आर्षे**त्यादि. तथापि मन्दबोधनाय ताम् आहुः

लेखः

चातुर्होत्रम् इत्यत्र. **तदुभयात्मकत्वाद्** इति, विष्णु-कालोभयात्मकत्वाद् इति अर्थः. तत्र कालरूपत्वन्तु कर्मणां कालपरिच्छेदकत्वात्. भगवदात्मक-कालस्य अन्येन परिच्छेदासम्भवात् तदाधिदैविकत्वं कर्मणाम्. विष्ण्वात्मकत्वन्तु "यज्ञो वै विष्णुः" (तैत्ति.संहि. १।७।४।५) इति श्रुतिप्रतिपाद्यमेव ज्ञेयम्. तदाहुः **स च** इति, यज्ञश्च श्रुतिप्रतिपाद्य-कर्मरूपो **विष्णुः** इति अर्थः ॥१९॥

बलिष्ठः. सर्ववेदैकवाक्यतां वक्तुं तस्य स्वरूपम् आह (**चातुर्होत्रं!**) चत्वारो होतारो यत्र इति. ते गणनायकाः 'होतृ'शब्देन उच्यन्ते अध्वर्युप्रभृतयः. अथवा "दशहोता चतुर्होता पञ्चहोता षड्ढोता सप्तहोता" (तैत्ति.ब्रा.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

यागः इति अर्थः. **गणनायकाः** इति, स्व-स्वगणाध्यक्षाः इति भावः. **चातुर्होत्रम्** इत्यस्य व्याख्यानान्तरम् आहुः **अथवा** इति. **चतुर्होतारः** इति,

प्रकाशः

युक्तिः इति. **तदुभयात्मकत्वाद्** इति. "स विष्ण्वाख्योऽधियज्ञोऽसौ कालः कलयतां प्रभुः[1]" (भाग.पुरा. ३।२९।३८) इति वाक्याद् इति अर्थः. **स च** इति यज्ञः च, "यज्ञो वै विष्णुः" (तैत्ति.संहि. १।७।४।५) इति श्रुतेः. तथाच प्रमाणतः प्रमेयतश्च यज्ञस्य बलिष्ठत्वं युक्तिः इति अर्थः. **सर्ववेदैकवाक्यताम्** इत्यादि. यज्ञस्य सर्ववेदार्थतां वक्तुं यज्ञस्य **स्वरूपम् आह** इति अर्थः. **ते** इति, अध्वर्यूद्गातृ-होतृ-ब्रह्माणः. एवं व्याख्याने सोममात्र-प्रतिपादकत्वं स्याद्, नतु अग्निहोत्रादि-प्रतिपादकत्वमपीति अरुच्या पक्षान्तरम् आहुः **अथवा** इत्यादि. "चित्तिः स्रुग्" (तैत्ति.आर. ३।१) इत्यादिः "सामाध्वर्युः" (तैत्ति.आर. ३।१) इत्यन्तो दशहोतृमन्त्रः. "पृथिवी होता" (तैत्ति.आर. ३।२) इत्यादि "रूपवक्ता" (तैत्ति.आर. ३।२) इत्यन्तः चतुर्होत्राख्यः. "अग्निर्होता" (तैत्ति.आर. ३।३) इत्यादि "उपवक्ता" (तैत्ति.आर. ३।३) इत्यन्तः पञ्चहोत्राख्यः. "सूर्यं ते चक्षुः" (तैत्ति.आर. ३।४) इत्यादिः "शरीरैः" (तैत्ति.आर. ३।४) इत्यन्तः, "वाग्घोता" (तैत्ति.आर. ३।६) इत्यादिः "जुहोमि" (तैत्ति.आर. ३।६) इत्यन्तश्च इति द्वौ षड्ढोतृमन्त्रौ. "महाहविः" (तैत्ति.आर. ३।५) इत्यादिः "उद्गाता" (तैत्ति.आर. ३।५) अन्तो मन्त्रः सप्तहोत्राख्यः. एतेषां मन्त्राणां यज्ञहेतुत्वं 'चातुर्होत्र'शब्दवाच्यत्वं च ब्राह्मणे दर्शितं "चतुर्होतृभ्योऽधियज्ञो निर्मितः" (तैत्ति.ब्रा. ३।१२।५।१) इत्यादिना, "त्वं वै मे नेदिष्ठं हूतः प्रत्यश्रौषीः" (तैत्ति.ब्रा. २।३।११।४) इत्यादिना च तत्र हि. तद् एतद्

१. वरः इति मुद्रितपाठः भागवतपाठानुरोधात् संशोधितः - सम्पा.

२।२।३।२) इति चतुर्होतारः. ते अग्निहोत्रादीनां मूलम् इति **चातुर्होत्रम्** अग्निहोत्रादिपञ्चकं यत्[१] **कर्म. कर्म** इति नामधेयम्. तद्धि ससाधनं नित्यम् इति कालास्पर्शात् **शुद्धं (प्रजानां!)** प्रकर्षेण जातानाम्. तत्र वेदः प्रमाणम् इति आह **वैदिकम्** इति. तेषां यज्ञानां विस्तारार्थं **वेदं (एकं चतुर्विधं!)** चतुर्धा कृतवान् इति आह **व्यदधाद्** इति. अकृशरतया[२] निरूपणाद् बुद्धिसौकर्येण **यज्ञसन्ततिः**, अभिन्नेषु अंशभेदव्यवस्थया वा ॥१९॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

'चतुर्होतारः' इति मन्त्रनाम इति अर्थः ; यथा 'दशहोतारः' 'पञ्चहोतारः' इत्यादयः तथा, इति **इतिशब्दार्थः**. तथाच चतुर्होत्रमूलकं चातुर्होत्रम् इति व्युत्पत्तिः इति भावः. **कर्मेति नामधेयम्** इति. 'कर्म' इति यज्ञस्य नाम, नतु 'क्रियते तत् कर्म' इति निरुक्त्या 'कर्म'पदवाच्यता इति भावः. तदेव आहुः **नित्यम्** इति. नतु केनापि जन्यतइति आद्यक्षणकाल-स्पर्शाभावात् **शुद्धम्** इति अर्थः. **प्रजानाम्** इति पदं व्याचष्टे **प्रकर्षेण** इति. **अकृशरतया** इति, अमिश्रतया इति अर्थः. **अभिन्नेषु** इति. वस्तुतस्तु एकएव वेदः इति अर्थः. **अंशभेदः** इति. "एतदंशे ऋक्त्वम्, एतदंशे यजुष्ट्वम्, एतदंशे सामत्वम्, एतदंशे अथर्वत्वम्" इति एकस्यैव वेदस्य व्यवस्थां कृत्वा चतुर्विधत्वं कृतवान् इति भावः ॥१९॥

प्रकाशः

अभिसन्धाय उक्तं **ते अग्निहोत्रादीनां मूलम्** इति. ननु कर्मणः त्रिक्षणावस्थायित्व-नियमदर्शनात् प्रत्यक्षविरोधः इत्यतः आहुः **कर्मेति नामधेयम्** इत्यादि. तथाच स्वरूपस्य भेदाद् न तस्य तथात्वम्. लौकिकक्रियायां तु तदभिव्यञ्जकत्वेन 'यागा'दिप्रयोगो भाक्तः इति अदोषः. **अकृशरतया** इति तत्तद्यागप्रकरणभेदनेन अमिश्रतया. एवं सति पञ्चविधत्वं स्यात्, ततः च 'चतुर्विध'पदं विरुध्येत इति पक्षान्तरम् आहुः **अभिन्नेत्यादि** ॥१९॥

---

१. तत्कर्मेति ख. २. अकृशतयेति क-ग-घ-ङ.

तान् भेदान् आह.

ऋग्यजुःसामाथर्वाख्या वेदाश्चत्वार उद्धृताः ॥
इतिहासपुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते ॥२०॥

ऋग्यजुःसामाथर्वाख्या (चत्वारः !) इति. ऋग्वेदेन होता करोति, यजुर्वेदेन अध्वर्युः, सामवेदेन उद्गाता, चतुर्थेन ब्रह्मा. तत्तत्कर्मप्रतिपादकानां मन्त्राणां ब्राह्मणानाञ्च खण्डाः **उद्धृताः (वेदाः !)** 'वेद'शब्दवाच्याः जाताः. तेषाम् अपेक्षितधर्मप्रतिपादकः **पञ्चमो वेदः इतिहासपुराणा**ख्यः ॥२०॥

भिन्नेषु अंशप्रतिष्ठापनार्थम् आह **तत्र** इति.

तत्रर्ग्वेदधरः पैलः सामगो जैमिनिः कविः ॥
वैशम्पायन एवैको निष्णातो यजुषामुत ॥२१॥
अथर्वाङ्गिरसाम् आसीत् सुमन्तुर्दारुणो मुनिः ॥
इतिहासपुराणानां पिता मे रोमहर्षणः ॥२२॥

अत्रतु क्रमो मन्त्राणाम् इति न विरोधः. **पैला**दयः ऋषयः. **सुमन्तुः दारुणः** इति आभिचारिकबाहुल्याद् इति केचित्. वस्तुतस्तु स्वाभाविकदुष्टत्वाद्

प्रकाशः

ऋग्यजुः इत्यत्र. **वेदशब्दे**त्यादि. वेदानां लक्षणम् एवं ज्ञेयं— सच्छन्दस्कं वाक्यम् ऋक्, तद्भूयिष्ठो वेदः ऋग्वेदः. एवम् अग्रेऽपि— तद्रहितं यजुः, गानप्रयुक्तम् उभयं साम, वेदत्रितयभिन्नो वेदो अथर्वः इति. तस्य एभ्यएव निर्गतत्वात् पृथग्लक्षणं प्रसिद्धं नास्ति ॥२०॥

तत्र इत्यत्र. ननु धर्मस्य चोदनालक्षणत्वात् तस्याः च यजुर्वेदसिद्धत्वात् पूर्वं यजुर्वेदः कुतो न उक्तः? किञ्च विभागोक्तौ ऋग्-यजुः-सामेति क्रमः, अत्रतु ऋक्-साम-यजुषाम् इति विरोधः इत्यतः आहुः **अत्रतु** इत्यादि. तथाच "आदित्यो वा एष एतन्मण्डलम्" (महाना.उप. १२।२) इत्यत्र ऋक्-साम-यजुषामेव क्रमः उक्तः इति तं मन्त्रक्रमम् आदाय अत्र तथा उक्तम् इति अर्थः ॥२१॥

लेखः

तत्र इत्यत्र आभासे **भिन्नेषु** इति. भिन्नेषु वेदेषु प्रत्येकं शाखाभेदैः अंशानां प्रतिष्ठाम् आह इति अर्थः ॥२१॥

अग्रे यज्ञेषु तस्य अप्रवेशः इति[१]. तथापि पाठने हेतुः **मुनिः** इति. **इतिहासपुराणानां** सर्वाधिकाराय **रोमहर्षणः** उक्तः ॥२१-२२॥

तैः पञ्चभिरपि स्वांशः खण्डशो बहुधा व्यस्तः इति आह.

त एनमृषयो वेदं स्वं स्वं व्यस्यन्ननेकधा ॥
शिष्यैः प्रशिष्यैस्तच्छिष्यैर्वेदास्ते शाखिनोऽभवन् ॥२३॥

ते एनम् इति. **ऋषित्वात्** खण्डशो व्यासे न दोषः. शाखानां शाखित्वम् ॥२३॥

बहुधा व्यस्ताऽपि एका शाखा धारणे अशक्या जाता इति आह.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

तत्रर्ग्वेदधरः इत्यत्र. ननु ऋग्-यजुः-साम इति क्रमः, तथाच पूर्वं **सामगः पैलः** उक्तः पश्चात् **वैशम्पायनः** इति व्युत्क्रमं कथनम् आशङ्क्य आहुः **अत्रतु** इति. ऋग्-यजुः-साम इति क्रमो न विवक्षितः किन्तु मन्त्रक्रमः. तथाच मन्त्रपाठे पूर्वम् ऋचाम् अनन्तरं साम्नाम् इति अर्थः. **यज्ञेषु तस्य अप्रवेशः** इति. सुमन्तोः यज्ञेषु अप्रवेशः इति अर्थः. **सर्वाधिकाराय** इति, स्त्रीशूद्रादीनाम् इति अर्थः. तथाच यत्र सूतस्य प्रतिलोमस्यापि अधिकारः तत्र स्त्री-शूद्राणाम् अनुलोमानां किं वक्तव्यम् इति कैमुतिकन्यायः इति भावः ॥२१-२२॥

त एनम् इत्यत्र. **व्यासे** इति, विस्तरे **न दोषः** इति अर्थः. **शाखानाम्** इति. वेदरूपैकवृक्षस्य चत्वारो वेदाः शाखारूपाः, तथाच तेषां कठ-तैत्तिरीयादि-शाखावत्त्वं जातम् इति भावः ॥२३॥

प्रकाशः

त एनम् इत्यत्र. **खण्डशो व्यासे** इति खण्डशो विस्तारे ॥२३॥

लेखः

त एनम् इत्यत्र. **शाखानां शाखित्वम्** इति. शाखासम्बन्धेन ऋषीणां शाखित्वम् इति अर्थः ॥२३॥

---

१. इतीति नास्ति क-ख-ग.

त एव वेदा दुर्मेधैर्धार्यन्ते पुरुषैर्यथा ॥
एवं चकार भगवान् व्यासः कृपणवत्सलः ॥२४॥

त एव इति. **दुर्मेधैः** बुद्धिरहितैरपि **(पुरुषैः!) यथा** यथावदर्थज्ञानाभावेऽपि लक्षणैः समानादिभिः बहुकालाभ्यासेन कथञ्चिद् **धार्यन्ते** इति अर्थः. अवान्तरम् उपसंहरति **एवम्** इति. मूर्खसन्धारणपर्यन्तम् **एवं (चकार!)** कृतवान्. तत्र हेतुः **भगवान्** इति, भगवतः तथैव इच्छा यद् मूर्खपर्यवसानं भविष्यति इति. तर्हि न कर्तव्यं स्याद्, अव्रतानर्थज्ञधारणे वेदानां निर्वीर्यत्वप्रसङ्गः इत्यतः आह **व्यासः** इति. व्यासत्वात् कृतवान् इति अर्थः. तथापि महतो अधिकारिणोऽपि न अन्यथाकरणम् उचितम् इत्यतः आह **कृपणवत्सलः** इति. अपहतपाप्मत्वात् स्वाध्यायस्य तावन्मात्रेणापि कृतार्थता भविष्यति इति प्रजासु दयया कृतवान् इति अर्थः ॥२४॥

अन्येषाम् उपायम् आह.

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरः ।
कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह ॥
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम् ॥२५॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

त एव इत्यत्र. **अवान्तरम्** इति. शाखाप्रणयनम् अस्मिन् प्रबन्धे मध्ये उक्तं तद् **उपसंहरति,** नतु सम्पूर्णप्रबन्धम् इति भावः. स्पष्टम् अर्थम् आहुः **मूर्खसन्धारण** इति. मूर्खाणामपि सम्यक्तया वेदस्य सन्धारणं भवति तावत्पर्यन्तं शाखाप्रणयनं कृतवान् इति अर्थः. इच्छास्वरूपम् आहुः **यन्मूर्खपर्यवसानम्** इति. मूर्खेषु वेदस्य पर्यवसानं भविष्यति इत्येवं रूपम् इति अर्थः. **व्यासत्वाद्** इति, महाधिकारित्वाद् इति अर्थः. **अपहतपाप्मत्वाद्** इति. लोकेषु अव्रतेषु अनर्थज्ञेष्वपि वेदस्तु स्वयं पवित्रइति तानपि पावयिष्यति इति भावः ॥२४॥

प्रकाशः

ते एव वेदाः इत्यत्र. **लक्षणैः समानादिभिः** इति. **लक्षणैः** प्रातिशाख्यग्रन्थैः तत्रोक्तैः **समानादिभिः** इति अर्थः. **व्यासत्वाद्** इति, तदर्थम् अधिकारित्वात् ॥२४॥

स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धूनाम् इति. यज्ञद्वारा हि वेदे **स्त्रीणाम्** उपयोगः. अवीरवतीनान्तु तदभावात्, त्रैवर्णिकस्त्रीणामपि वेदश्रवणनिषेधः. **शूद्राः** स्वतन्त्राः नतु सेवकाः, त्रैवर्णिक-याज्ञिक-सेवकानां तदन्नभक्षणेन वेदार्थोपयोगिनाम् आपाततो वेदश्रवणस्य आवश्यकत्वात्. **द्विजबन्धवः** कुण्डगोलकाः संस्काररहिताश्च, तेषामपि श्रुतिश्रवणे न अधिकारः. **गोचर**शब्दस्तु नियतपुंल्लिङ्गः. केचन **गोचरे**ति छान्दसत्वात् पठन्ति. **कर्मश्रेयसि** कर्मसाध्ये श्रेयसि पुत्र-स्वर्गादौ. **मूढानां** साधनज्ञानरहितानाम्. **एवं** मनसि विचारितेन प्रकारेण **इह** अस्मिन्नेव अर्थे. यद्यपि अलौकिकप्रकारेण वेदसाध्यं फलमपि अलौकिकं तथापि न अन्येन तत्सिद्धिः. अथापि अर्धलौकिकन्यायेन

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

स्त्रीशूद्रद्विज इत्यत्र. कासाञ्चित् स्त्रीणामपि त्रयीश्रुतिः गोचरा अस्ति इति अनुवदन्ति **यज्ञद्वारा** इति. **अवीरवतीनाम्** इति. वीरो अग्निः विद्यते यस्य स वीरवान्, तस्य स्त्री वीरवती. तथाच वीरवतीनां वेदे उपयोगो, नतु अवीरवतीनाम् इति अर्थः. **कर्मश्रेयसि** इति श्लोकं व्याचष्टे **कर्मश्रेयसि कर्मसाध्ये** इति. **अस्मिन्नेवार्थे** इति, पुत्र-स्वर्गादौ इति अर्थः. **यद्यपि अलौकिक** इति. **अलौकिकप्रकारेण** अदृष्टविशेषद्वारा **वेदसाध्यं** वेदोक्तकर्मसाध्यं **फलमपि अलौकिकम्** अदृष्टविशेषजन्यम् इति अर्थः. समाधानम् आहुः **तथापि** इति. **अन्येन** भारताद् अन्येन कदाचित् कापि फलसिद्धिः न. **अथापि** अपि चेत् फलसिद्धिः भवति तदा भारतादिना भवति, इति **भारतादिना कार्यं सेत्स्यति इति भावः** एतस्य अर्थः. तत्र दृष्टान्तम् आहुः **अर्धलौकिकन्यायेन** इति. "यावज्जीवम् अग्निहोत्रं जुहुयाद्" (वाराह श्रौ.सूत्र १।१।१।८६) "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम" (मैत्रा.संहि. १।८।६) इति स्वर्गकामनायां स्वर्गलोकजनकत्वे अलौकिकत्वं,

प्रकाशः

स्त्रीशूद्रेत्यत्र. **अवीरवतीनाम्** इति पतिपुत्रहीनानाम्. **अस्मिन् अर्थे** इति, मनसि विचारितएव अर्थे इति अर्थः. ननु त्रयीसाध्यस्य फलस्य भारतेन कथं सिद्धिः इति आकाङ्क्षायाम् **एवंपदोक्तं** विचारितप्रकारम् आहुः **यद्यपि** इत्यादि. **अर्धलौकिकन्यायेन भट्टेषु** इति. भट्टमते यथा

भट्टेष्विव[१], पुराणेऽपि अलौकिकन्यायेन वा, भारतादिना कार्यं सेत्स्यति इति भावः. एवम् अभिप्रेत्य यत् कृतवान् तद् आह **इति भारतम्** इति. भरतवंशोत्पन्नानां सम्बन्धि **भारतम्. आख्यानम्** इति वचनाद् न केवलं ग्रन्थनाम किन्तु अन्यार्थम्. तेन भारतश्रवणात् मायामोहाभावाद् धर्मादीनां तत्त्वावगतिः[२] सुगमा इति (**मुनिना** !) मननाद् अवगत्य (**कृपया** !) परदुःख-प्रहाणेच्छया **कृतम्** इति अर्थः ॥२५॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

चित्तशुद्धिजनकत्वे लौकिकत्वम् इति अर्धलौकिकता. तथाच एकमेव अग्निहोत्रं कार्यद्वयसमर्थम्. तद्वद् भारतमपि वेदोक्त-साध्यफलजनकं स्व-साध्यफलजनकमपि इति अर्थः. **भद्रेषु** इति. **भद्रेषु** मीमांसकेषु इति अर्थः. तथाच मीमांसकेषु यथा अर्धलौकिकत्व-स्वीकारः तथा अत्रापि इति भावः. **भाट्टेषु** इति पाठभेदे तत्प्रोक्तेषु ग्रन्थेषु मतेषु वा इति अर्थः. दृष्टान्तान्तरम् आहुः **पुराणेऽपि** इति. पुराणमपि अदृष्टजनकम् इति अदृष्टद्वारा फलजनकम्. तथा इतिहासोऽपि इति अलौकिकफलजनकता. तथाच वेदेनापि अलौकिकप्रकारेण कार्यं जन्यते तथा इतिहासेनापि जन्यते इति अर्थः. एवञ्च **फलमपि अलौकिकम्** इति आशङ्का निरस्ता इति भावः. **आख्यानम् इति वचनाद्** इति, मूले **आख्यानम्** इति कथनाद् इति अर्थः. **न केवलम्** इति. "आख्यायते इति आख्यानम्" इति व्युत्पत्तिः **न किन्तु** "आख्यायते धर्मो येन इति आख्यानम्" इति **अन्यार्थम्** इति अर्थः. **मुनिपदस्य** अर्थम् आहुः **मननाद् अवगत्य** इति. **कृपापदस्य** अर्थम् आहुः **परदुःख** इति ॥२५॥

प्रकाशः

लौकिकक्रियारूपस्य यागस्य अपूर्वरूपाऽलौकिकव्यापारवत्तया अर्धलौकिकत्वं तथा पुराणेषु भारते च सर्वाधिकारिकत्वाद् वेदव्याख्यानरूपत्वाच्च तथा इति तेन न्यायेन इति अर्थः. **अन्यार्थम्** इति प्रकथनार्थम्. **तथात्वावगतिः** इति अलौकिकत्वावगतिः ॥२५॥

---

१. भद्रेषु, भाट्टेषु इति पाठभेदाः टिप्पण्याम् -सम्पा. २. तथात्वावगतिः इति पाठः प्रकाशे -सम्पा.

एवं प्रवृत्तस्य सदा भूतानां श्रेयसि द्विजाः ॥
सर्वात्मकेनापि यदा नातुष्यद्धृदयं ततः ॥२६॥
नातिप्रसीदद्धृदयः सरस्वत्यास्तटे शुचौ ॥
वितर्कयन् विविक्तस्थ इदं प्रोवाच धर्मवित् ॥२७॥

एवं (**सदा भूतानां श्रेयसि प्रवृत्तस्य!**) व्यासस्य[१] परोपकारलक्षणो धर्मो महान् वेदव्यासे[२] सिद्धः. धर्मस्य च अन्तःकरणपरितोषः फलं, तदभावे धर्मः श्रमः इति पूर्वम् उक्तम्. अत्र दुःखहेतुः इति वक्तुं पूर्वोक्तस्मारणार्थं **द्विजाः** इति सम्बोधनम् ; अधीतावधारणं हि द्विजधर्मः. किञ्च केवलधर्मस्य व्यभिचारेऽपि ज्ञानसहितस्य न तथात्वम्, इहतु तादृशोऽपि **न (अतुष्यद् हृदयं!)** अन्तःकरणसुखजनको जातः इति आह **सर्वात्मकेनापि** इति. सर्वत्र आत्मा येन तत् सर्वात्मकं = ज्ञानम्. अथवा दयावद् अन्ये प्रकाराः सर्वे कृताः, सर्वप्रकारेणापि धर्मेण[३] इति अर्थः. अधिकारित्वात्

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

एवं प्रवृत्तस्य इति श्लोकं व्याचष्टे **एवं व्यासस्य** इति. **व्यासस्य** विस्तरस्य इति अर्थः. **सर्वत्र आत्मा येन** इति, सर्ववस्तुषु **आत्मा** ईश्वरो येन ज्ञायते इति अर्थः. **सर्वात्मकः** इत्यस्य अर्थान्तरम् आहुः **अथवा** इति. **दयावद्** इति. **सर्वात्मक**शब्देन दया, तथाच दयात्मकेन ज्ञानेन इति अर्थः. **अन्ये** इति, अपरेतु एवमर्थम् आहुः इति अर्थः. **अधिकारित्वाद्** इति, सगुणत्वात् प्राकृतगुणत्वाद् इति अर्थः ॥२६॥

प्रकाशः

एवं प्रवृत्तस्य इत्यत्र. **वेदव्यासे** इति भारतरूपे वेदव्याख्याने. श्रीधरोक्तं व्याख्यानं सङ्गृह्णते **अथवा** इत्यादि. तथाच सर्वप्रकारेण (दया) यथा कृता तथा अत्र अनुक्ताअपि धर्मस्य **प्रकाराः** तदर्थं **कृताः** इति धर्मस्यैव सर्वात्मकत्वम् इति भावः ॥२६॥

नातिप्रसीदद् इत्यत्र. **अधिकारित्वाद्** इत्यादि. यो हि यत्र अधिकृतः

---

१. महर्षेः व्यासस्य - सम्पा. २. वेदव्यासरूप-वेदशास्त्रविभाजनरूपे कर्मणि - सम्पा.

३. धर्मेत्यर्थ इति ख.

फलाभावो जातः इति आह **ततो नातिप्रसीदद्धृदयः** इति. धर्मात् स्वस्यापि फलाभावे कथम् अन्यस्य भविष्यति इति सर्वनाशाद् अप्रसादः. भगवदिच्छा काचिद् अन्यथा वर्ततइति ज्ञानावतारत्वेन ज्ञात्वा किञ्चित् प्रसीदद्धृदयो जातो, नतु अत्यन्तं प्रसीदद्धृदयः इति. पूर्ववद् ज्ञानोदयो भविष्यति इति **सरस्वत्याः तटे** इति उक्तम्. **शुचौ** इति पापसम्बन्धाभावः उक्तः. एवं शुद्धदेशे स्वार्थं[१] चिन्तायां तर्केण कश्चित् निर्धारः उत्पन्नः इति आह **वितर्कयन्** इति. **विविक्तस्थः** एकान्तस्थः, महाधिकारित्वात्. **इदं** वक्ष्यमाणं (**प्रोवाच**!). **धर्मविद्** धर्मस्य अव्यभिचारिसाधनत्वं जानाति इति अर्थः ॥२६-२७॥

तत्र प्रथमं धर्मम् आह **धृतव्रतेन** इति द्वाभ्याम्.

॥ व्यासः उवाच ॥

धृतव्रतेन हि मया छन्दांसि गुरवोऽग्नयः ॥
मानिता निर्व्यलीकेन गृहीतं चानुशासनम् ॥२८॥

ब्रह्मचर्यव्रतानि वेदव्रतानि च धृतानि येन. **छन्दांसि** वेदाः. (**मानिता**!) तेषां सन्माननं = तदुक्तार्थस्य ज्ञात्वा अनुष्ठानम्. **गुरवोऽपि** प्रसादिताः **अग्नयः** सुहुताः, एतदेव सन्माननम्. **व्यलीकं** कपटम् ईश्वरवत् लोकप्रवर्तनार्थं पाषण्डिवद् वञ्चनार्थं वा. **अनुशासनम्** अध्यापनम् ॥२८॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

नातिप्रसन्नहृदयः इति श्लोकं व्याचष्टे **नातिप्रसीदद्धृदयः** इति ॥२७॥

धृतव्रत इत्यत्र. **ईश्वरवद्** इति. "न मे पार्थास्ति कर्तव्यम्" (भग.गीता ३।२२) इति वचनाद् भगवता यत् कर्म क्रियते तत् कपटेन क्रियते. तथाच ईश्वरवद् मया न कृतं किन्तु सद्भावेन इति अर्थः ॥२८॥

प्रकाशः

तस्य पूर्णे स्वकार्ये निष्पन्ने तोषइति तदभावात् **फलाभावः** इति अर्थः. **महाधिकारित्वाद्** इति. एकान्तस्थित्यभावे धर्मादिप्रश्नकर्तॄणां बहूनाम् आगमनादिना वैयग्र्यापत्तेः इति भावः ॥२७॥

---

१. स्वार्थचिन्तायामिति ख.

भारतकरणं च धर्मार्थमेव इति आह.

भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः ॥
दृश्यते यत्र धर्मादिः स्त्रीशूद्रादिभिरप्युत ॥२९॥

भारतव्यपदेशेन इति. वस्तुतः कल्पसूत्रवद् (**आम्नायार्थः दर्शितः !**) वेदार्थप्रतिपादकएव, इतिहासवाचक-शब्दकरणन्तु व्याजमात्रम्. तद् आह **भारत** इति **व्यपदेश**मात्रम्. अन्यथा शूद्रादीनाम् अधिकारो न स्याद् इति **हि**शब्दार्थः. आम्नाये दृष्टान्तार्थम् उक्तो धर्मो लौकिको अत्र प्रयुक्तः, नतु यज्ञादिः. "धन्वन्निव प्रपा असि" (ऋक्संहि. १०।४।१) इत्यादौ यथा. अतएव वेदे प्रतिपादितो[१] धर्मो न शूद्रादिभिः ज्ञातुं शक्यः. अत्रतु शक्यः इति आह (**यत्र स्त्रीशूद्रादिभिः अपि उत धर्मादिः !**) **दृश्यते** इति. उपदेशव्यतिरेकेणापि ज्ञायते इति अर्थः ॥२९॥

एवं धर्मान् निरूप्य तेषां फलव्यभिचारम् आह.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

भारतव्यपदेशेन इत्यत्र. **अन्यथा** इति, व्यपदेशाकरणे इति अर्थः. तथाच यथा कल्पसूत्रे शूद्रादीनां न अधिकारः तथा अत्रापि न स्याद् इति भावः. **दर्शित**पदं व्याचष्टे **आम्नाये** इति. **आम्नाये** वेदे **दृष्टान्तार्थम् उक्तो लौकिको धर्मो अत्र** भारते **प्रयुक्तः** विहितः. पुनः वेदविहितः **यज्ञादिः न** प्रयुक्तः इति अर्थः. वेदे दृष्टान्तितं धर्मम् आहुः **धन्वन्निव** इति. **अतएव** इति. **वेदे** दृष्टान्तत्वेन उक्तः **प्रपादिधर्मः** शूद्रैः **न ज्ञातुं शक्यः** इति भारते प्रयुक्तः इति अर्थः ॥२९॥

प्रकाशः

भारतव्यपदेशेन इत्यत्र. कल्पसूत्रवद् मुख्यवेदार्थप्रतिपादकत्वे शूद्रादीनां द्रष्टृत्वं न स्याद्, अन्यप्रतिपादकत्वे आम्नायार्थदर्शकत्वं भारते न स्याद् इति उभयसामञ्जस्यार्थं यादृशो धर्मो भारते प्रतिपादितः तम् आहुः **आम्नाये** इत्यादिना. तथाच अतएव अर्धालौकिकत्वं तदुक्तधर्मस्य इति भावः ॥२९॥

---

१. प्रपादिधर्म इति क-घ-टिप्पण्याम्. प्रपादितधर्म इति ग.

अथापि बत मे दैह्यो ह्यात्मा चैवात्मना विभुः ॥
असम्पन्न इवाभाति ब्रह्मवर्चस्व्यसत्तमः ॥३०॥

अथापि इति. धर्मकरणे प्रयासस्मरणाद् **बत** इति. आत्मनाम्[१] उपाधिभेदाद् भेदं मन्यते. [२]ब्राह्मणदेहएव आत्मनो "ब्राह्मणो अहम्" इति बुद्धिः, न देहान्तरे. मानसः च योगी भवति, अन्नमयत्वात्. नैयायिकवद्

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

अथापि बत इत्यत्र. **दैह्य**पदं व्याचष्टे **आत्मनाम्** इति. **उपाधिः** अविद्यासम्बन्धः, तज्जनितो यो **भेदः** भेदप्रतीतिः तस्माद् हेतोः **भेदं** सर्वजीवात्मप्रतियोगिकं भेदं **मन्यते**. तथाच "अहं न सर्वे" इति जानाति इति भावः. इमम् अर्थम् स्पष्टम् आहुः **ब्राह्मदेहएव** इति. "सर्वो अहम्" इति ज्ञानेतु सर्वदेहेषु स्वदेहबुद्धिः भवति. तथाच आत्मप्रतियोगिक-भेदनिश्चयात् स्वदेहएव अस्य "ब्राह्मणो अहम्" इति ज्ञानं, नतु देहान्तरेऽपि "अहं ब्राह्मणः" इति ज्ञानम् इति अर्थः. ननु देहाभिमानिनः आत्मप्रतियोगिक-भेदनिश्चयो अस्तु, अन्तःकरणाभिमानिनो न इति आशङ्क्य आहुः **मानसश्च** इति. **मानसो** अन्तःकरणाभिमानी, सोऽपि **योगी** योगः संयोगः सम्बन्धः इति यावत् तद्वान् **भवति**. एवञ्च यथा देहाभिमानिनो देहान्तरे न

प्रकाशः

अथापि इत्यत्र. फलव्यभिचारम् उपपादयन्ति **आत्मनाम्** इत्यादि. अयम् अर्थः — सत्त्वशुद्धौ कैवल्यस्फूर्तेः तदभावे भेदस्फुरणाद् देहाद्युपाधिभेदम् आदाय आत्मनां भेदं मन्यते. तथाच **दैह्य** इत्यादिप्रयोगेण सर्वात्मभावतिरोभावो ज्ञाप्यते, तेन फलव्यभिचारः उपपन्नः इति भावः. दैह्यत्वे उपपत्तिम् आहुः **ब्राह्मणे**त्यादि. ननु आत्मनो दैह्यत्वं देहात्मस्फूर्तौ, व्यासस्यतु योगित्वात् तदभावइति कथम् इयम् उक्तिः इत्यतः आहुः **मानसश्च योगी** इति. मनसि साधुः मानसः. तथाच योगिनो मानसत्वेन योगिमतेऽपि पुरुषभेदाङ्गीकारात्

लेखः

अथापि इत्यत्र. ... ॥३०॥

---

१. नित्यात्मनाम् इति टिप्पणीमातृकान्तरपाठः - सम्पा. २. ब्राह्मदेहे इति पाठः टिप्पण्याम् - सम्पा.

वा मानसो[१] भेदः, अध्यासेन वा भेदः, अग्निवत् सङ्क्रमणेन वा. तद् आह **दैह्यो हि आत्मा (आत्मना!)** तेनैव देहाभिमानिना न

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

स्वदेहबुद्धिः तथा अन्तःकरणाभिमानिनो अन्यान्तःकरणे न स्वीयबुद्धिः इति अर्थः. वक्ष्यन्ति च अग्रे **तथा अन्तःकरणाभिमानी तद्विषयान्** इति. तथाच उभयोः समानशीलत्वात् केनापि अंशेन न भ्रमनिवृत्तिः इति भावः. देहाद् मनसो भेदे युक्तिम् आहुः **अन्नमयत्वाद्** इति. अन्नमयादिकोशाः भिन्नतया उक्ताइति मनो भिन्नं भवति[२]. भेदे द्वितीयं प्रकारम् आहुः **नैयायिक** इति. यथा नैयायिकैः नवमद्रव्यत्वेन मनः स्वीक्रियते तथा स्वीकर्तव्यम् इति भावः. ननु देहाद् मनसो भेदो अस्तु, देहाभिमान्यन्तःकरणाभिमानिनोः कथं भेदः इति आशङ्क्य आहुः **अध्यासेन** इति. अध्यासाद् भेदः इति अर्थः. वस्तुतस्तु द्वयोः ऐक्यमेव इति भावः. अभिमानिनोः भेदे प्रकारान्तरम् आहुः **अग्निवद्** इति. यथा अग्निः यादृशे इन्धने सङ्क्रामति तादृशो भवति– पलाशे पलाशः, खदिरे खदिरः, अयोगोलके अयोगोलकीयः– तथा आत्मापि देहे सम्बद्धो देहाभिमानी, अन्तःकरणे अन्तःकरणाभिमानी इति अर्थः. **आत्मना** इत्यस्य व्याख्यानं **तेन** इति.

प्रकाशः

ततोऽपि न सर्वात्मभावः इति भावः. तन्मतेऽपि पुरुषाणां व्यापकत्वाद् विवक्षितो भेदो न उपपन्नइति अरुच्या पक्षान्तरम् आहुः **अन्ने**त्यादि. श्रौतविचारे अन्नांशभेदाद्[३] नैयायिकविचारे द्रव्यान्तरत्वात् मनसो भेदः इति तम् उपाधीकृत्य वा आत्मभेदः इति अर्थः. एवमपि एकस्य आत्मनः एकस्यैव मनसः उपाधित्वाद् **मे दैह्य** इति स्वस्य देहाद् भेदो न सङ्गच्छते इत्यतः पक्षद्वयम् अन्यद् आहुः **अध्यासेन** इत्यादि. **अग्निवत् सङ्क्रमणं** नाम चिदात्मनः तत्तद्वृत्त्युपारोहः. तथा सति तत्तद्वृत्तिभेदात् सङ्क्रान्तस्यापि

---

१. मनस इति ख-घ. २. द्रष्ट. छान्दो.उप. ६।५।१ –सम्पा. ३. "अन्नम् अशितं त्रेधा विधीयते. तस्य यः स्थविष्ठः धातुः तत् पुरीषं भवति, यो मध्यमः तद् मांसं, यो अणिष्ठः तद् मनो भवति" (छान्दो.उप. ६।५।१) इति अंशभेदाद् मध्यमांशाद् देहः अणिष्ठांशाद् मनः इति विवेकः –सम्पा.

सन्तुष्यति, **चकारात्** मानसश्च. यथा देहाभिमानी दैहिकान् विषयान् प्राप्य तुष्यति तथा अन्तःकरणाभिमानी तद्विषयान्. तत्र विषयाभावं निवारयति[१] **विभुः** इति, सर्वसमर्थो अयम् आत्मा. **असम्पन्नइव** प्राप्यापि सर्वविषयान् असम्पन्नः. **इव** इति कदाचित् कदाचित् तथा स्फुरणात्. स्वस्मिन् विरुद्धधर्मावभासम् आह **ब्रह्मवर्चस्व्यसत्तम** इति. वस्तुतो **ब्रह्मवर्चस्वी, (आभाति!)** प्रतीतिः **असत्तमः** इति. पाठान्तरेतु **ब्रह्मवर्चस्येन सत्तमः**.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

देहाभिमानिना इति, भावप्रधानो अयं निर्देशः. तथाच देहाभिमानित्वेन न तुष्यति इति भावः. इत्थञ्च मूलस्थ **आत्मना** इति पदं स्वेन इत्यर्थकम्. एवञ्च अप्रसादे हेत्वन्तरं नास्ति किन्तु अध्यासविशिष्टेन स्वेनैव स्वाप्रसाद इति तत्त्वम्. तथाच भागवतधर्माणां निरूपणं विना न अध्यासनिवृत्तिः, तां विना च न प्रसादः इति फलितार्थो ध्येयः. **चकाराद्** इति. **चैव** इति **चकारात् मानसः** अन्तःकरणाभिमान्यपि तदभिमानित्वेन न तुष्यति इति भावः. ननु प्राप्तौ निषेधः ; अन्तःकरणाभिमानिनः कथं सन्तोषनिषेधः क्रियते इत्यतः आहुः **यथा देह** इति. तथाच एतस्यापि सन्तोषो जायते इति निषेधः कृतः इति भावः. **तत्र विषयाभावम्** इति. **तत्र** प्रसादाभावे **विषयाभावम्** अधिकरणाभावं वारयति इति अर्थः. तथाच प्रसादयोग्याधाराभावाद् न प्रसादः इति न किन्तु कारणान्तरभावादेव प्रसादाभावः इति भावः. 'अप्रसन्न'पदं त्यक्त्वा **असम्पन्न**पदोपादान-तात्पर्यम् आहुः **प्राप्यापि** इति. तथाच लौकिकविषयाप्राप्त्या अप्रसन्नो न इति सूचनया **असम्पन्न**पदोपादानम् इति आशयः. निषेधकथनात् प्राप्तिः आवश्यकी इति ध्येयम्. **पाठान्तरे** इति. **ब्रह्मवर्चस्यसत्तमः** इति पाठेतु एवं व्याख्येयम्

प्रकाशः

भेदः इति प्रयोगोपपत्तिः इति अर्थः. **तत्र** इति दैह्ये. **तथास्फुरणाद** इति असम्पन्नत्वस्फुरणात्. **स्वस्मिन्** इति **मे** इत्यनेन उक्ते सङ्घातरूपात्मनि. **ब्रह्मवर्चस्येन** इति "ब्रह्मवर्चसाद् उपसङ्ख्यानम्" (पाणि.वार्ति. ५।१।३९)

---

१. निर्द्धारयतीति क-ग-ङ.

ब्राह्मणानां हि ब्रह्मवर्चस्यमेव फलं, तत्सम्पत्तावपि असम्पन्नएवेति वा विरोधः ॥३०॥

कार्ये सति कारणस्य आवश्यकत्वात् कारणजिज्ञासायां योगजधर्मेण स्फुरितं कारणम् आह.

किं वा भागवता धर्मा न प्रायेण निरूपिताः ॥
प्रियाः परमहंसानां त एव ह्यच्युतप्रियाः ॥३१॥

किं वा इति. **भागवताः** प्रमाणतः साधनतः फलतश्च भगवत्सम्बन्धिनः (**धर्माः** !), ते अनुष्ठिताअपि **न निरूपिताः**. अधिकारो हि निरूपणे, सर्वे धर्माः निरूपिताः सर्वेषां, **न परमहंसानाम्**. यद्यपि तुर्याश्रमधर्माः निरूपिताः अवधूतधर्माश्च तथापि ते न तेषां प्रियाः, क्लेशभूर्यल्पसारत्वात्. ननु आनुशासनिके तेऽपि निरूपिताः, ततः[1] आह **प्रायेण** इति. भागवताः धर्मास्तु स्वतन्त्राः ; ते हि अन्यशेषेण निरूपिता न निरूपिताएव. आनुशासनिके[2] हि कालादिशेषत्वेन निरूपिताः. परमस्य हंसाः **परमहंसाः**. परमाः च

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इति अर्थः. **इति वा विरोधः** इति, एवं विरुद्धधर्मावभासो ज्ञातव्यः इति अर्थः ॥३०॥

कार्ये सति इति. कार्यम् असन्तोषः, तथाच कार्येण व्याप्त्या कारणम् साध्यतइति आवश्यकत्वम् इति अर्थः. **किं वा** इत्यत्र **अनुष्ठिताः अपि** इति. यद्यपि अनुष्ठानं कृतं तथापि निरूपणं न कृतम् इति अर्थः. नकारः देहलीदीपन्यायेन उभयत्र सम्बध्यते. तथाच नापि निरूपिताः नापि अनुष्ठिताः इति भावः. ननु असामर्थ्याद् न निरूपिताः इति आशङ्क्य आहुः **अधिकारो हि** इति. **कालादिशेषत्वेन** इति, कालादीनाम् अङ्गत्वेन

प्रकाशः

इति वार्तिकेन निमित्तार्थे यत्. निमित्तं च अत्र संयोगः. तथाच वेदाध्ययनाध्यापनाद्युत्कर्षजन्या चेतनकान्तिः ब्रह्मवर्चसं, तत्संयोगेन इति अर्थः ॥३०॥

---

१. तन्नेति ख. २. भारतपर्वणि इति भा.पाठे पाददिप्पणी - सम्पा.

ते हंसाः च इत्यत्रापि परमत्वं भगवदीयत्वेनैव. परमहंसत्वसाधकाएव अन्ये धर्माः ; सिद्धे पुनः परमहंसत्वे भगवद्धर्माएव **प्रियाः**, परमात्मत्वाद् भगवतः. गङ्गादर्शनानन्तरं यथा गङ्गादेवता-दिदृक्षा तथा आत्मज्ञानानन्तरं परमात्म-दिदृक्षा. सा[१] धर्मैरेव[२] सम्पद्यते[३]. ननु तथापि को अयम् अत्याग्रहः ? तत्र आह **त एव हि अच्युतप्रिया** इति. **तएव** धर्माएव. **हि** इति आत्मपर्यवसानात्. यदि ते परमहंसाः तदा पारम्पर्याद् गौणता.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इति अर्थः. **इत्यत्रापि** इति, कर्मधारयेऽपि इति अर्थः. तथाच कथमपि व्याख्येयं, परमत्वेतु भगवत्त्वमेव कारणम् इति भावः. **अन्ये धर्माः** इति, भगवदीयत्वसाधकाः इति अर्थः. **गङ्गादेवता** इति, आधिदैविकगङ्गा-स्वरूपदर्शनेच्छा इति भावः. **आत्मज्ञान** इति. आत्मज्ञानं = जीवात्मज्ञानम् अक्षरज्ञानं वा, तदनन्तरं **परमात्मनः** पुरुषोत्तमस्य दर्शनेच्छा इति भावः. **सा** इति. **सा** इच्छा **धर्मैरेव** भागवतधर्मैरेव **सम्पद्यते** ज्ञायते इति अर्थः. **साधनैः** इति पाठे दिदृक्षासाधनैः जायतइति हेतोः भागवतधर्मनिरूपणम् आवश्यकम् इति अर्थः. धर्माणां भगवत्प्रियत्वे हेतुम् आहुः **आत्मपर्यवसानाद्** इति. स्वस्मिन् पर्यवसानादिति प्रियाः इति अर्थः. **यदि ते** इति. ते अक्षरज्ञानिनः **परमहंसाः** भगवदीयाः **तदा** भागवतधर्माभावे **पारम्पर्यात्** परम्परासम्बन्धाद् **गौणता** अप्राधान्यं स्याद् इति अर्थः.

प्रकाशः

किं वा इत्यत्र. **तएव** इत्यत्र **ते** इत्यनेन धर्माएव उच्यन्ते नतु सन्निहिताअपि परमहंसाः इति आहुः **यदि** इत्यादि. **पारम्पर्याद्** अक्षरनिष्ठत्वाद् **गौणता** नतु मुख्यत्वम्. तथाच तेषु अच्युतप्रियत्वस्य असम्भवाद् मूलविरोधः स्याद् इति **तच्छब्दस्य** व्यवहितपरामर्शित्वमेव युक्तम् इति अर्थः ॥३१॥

लेखः

त एव ह्यच्युतप्रिया इत्यत्र. ... ॥३१॥

---

१. साधनैरेवेति क. २. "सा दिदृक्षा भागवतधर्मैरेव सम्पद्यते पूर्णा भवति, दर्शनं भवति इति अर्थः" इति भा.पाठे पादटिप्पणी - सम्पा. ३. सम्पद्यत इतीति क-ग-घ-ङ.

भगवतो भगवदीयानां च प्रियाः इति अर्थः ॥३१॥

॥ सूतः उवाच ॥

तस्यैवं खिलमात्मानं मन्यमानस्य खिद्यतः ॥

कृष्णस्य नारदोऽभ्यगादाश्रमं प्रागुदाहृतम् ॥३२॥

[१]पाषण्डनिवृत्तये आश्रमपदप्रयोगः, मुख्ये सम्प्रत्ययः इति च[१]. एतादृशे

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

अयम् आशयः — भागवतधर्माभावे भगवदीयेषु साक्षात्पूर्णपुरुषोत्तमसम्बन्धि-धर्माभावाद् गौणतैव भवेत्. साक्षाद्भगवत्सम्बन्धि-धर्मानुष्ठानमेव तेषाम् उचितम् इति अर्थः. यद्यपि अक्षरमपि भगवानेव तथापि "अक्षरादपि चोत्तमः" (भग.गीता १५।१८) इति भगवद्वचनात् तद्विषयक-ज्ञानोपासना पुरुषोत्तमविषयिणी नेति पारम्पर्यम् इति भावः. तथाच भगवदीयानाम् अक्षरविषयकं ज्ञानं न प्रियं पुरुषोत्तम-विषयकत्वाभावाद्, भगवतश्च न प्रियं साक्षात्स्व-विषयकत्वाभावाद् इति अर्थः. फलितार्थम् आहुः **भगवतः** इति. भागवतधर्मास्तु साक्षात्सम्बन्धाद् उभयोरपि प्रियाः इति भावः. तथाच ते न निरूपिताः इति हेतोः सन्तोषो नास्ति इति मूलाभिप्रायः ॥३१॥

तस्यैवं खिलमात्मानम् इति श्लोकं व्याचष्टे **पाषण्डनिवृत्तये** इति. चिन्तायाः वेदबाह्यकृतत्वाभाव-ज्ञापनाय **'आश्रम'पदप्रयोगः** कृतः इति. ननु **तस्याश्रमम्** इति कथम् उक्तम्, अयञ्च बहूनाम् आश्रमः इति आशङ्क्य आहुः **मुख्ये च** इति. तथाच व्यासो मुख्यः इति **तस्याश्रमम्**

प्रकाशः

आश्रमपदप्रयोगः इति 'परमहंस'पदप्रयोगः. ननु भागवतधर्माणां सर्वाधिकारत्वात् कथं 'परमहंस'पदप्रयोगः इत्यतः आहुः **मुख्येत्यादि**.

लेखः

तस्यैवम् इत्यत्र आभासे **एतादृशे विषये** इति. मुख्याधिकारि-ज्ञानदानविषये नारदस्य भगवद्गुण-वर्णनाधिकारित्वाद् आगतः इति अर्थः.

१-१. प्रकाशकारैः इमा पङ्क्तिः पूर्वश्लोकशेषत्वेन व्याख्याता - सम्पा.

विषये नारदस्य अधिकारात् प्रथमम्[१] आगतः इति आह **तस्य** इति. **खिलं** न्यूनम्. स्वतएव भगवद्धर्मनिरूपणेतु पूर्वोक्त-भारतादेः अस्य च विरोधाद् विरुद्धवक्तृत्वेन अप्रामाण्यं स्याद् अतः **खिद्यतः**[२]. नारदवचनात्तु तथा कथने न विरोधः. **कृष्णस्य** इति वाच्यनाम्ना उत्तमवक्तृत्वं बोधयति. अथवा **कृष्णस्य नारदः** इति. **प्राग् उदाहृतं** सरस्वतीतटे ॥३२॥

साकाङ्क्षस्य कृत्यम् आह

तमभिज्ञाय सहसा प्रत्युत्थायागतं मुनिः ॥
पूजयामास विधिवन्नारदं सुरपूजितम् ॥३३॥

॥ इति श्रीभागवत-प्रथमस्कन्धे चतुर्थोऽध्यायः ॥

तम् अभिज्ञाय इति नारदम् इति. स्व[३] इति, अत्र व्यासकार्यसाधकः[४] इति वा, स्वकार्यसाधकः[५] इति वा. **सहसा** इति अनभ्युत्थानकालेऽपि. **मुनिः** अकालाभ्युत्थानयोः गुण-दोषद्रष्टा[६]. **विधिवद्** गुरुजनपूजायां यो

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इति उक्तम् इति अर्थः. **कथम्** इति, किमर्थम् आगतः इति भावः ॥३२॥

साकाङ्क्षस्य इति, उपदेष्टरि आकाङ्क्षावतः इति अर्थः.

प्रकाशः

एतादृशे इति योग्यज्ञानदानरूपे. **तस्य** इत्यत्र. **कथम्** इति, किमर्थम् इति अर्थः. **न विरोधः** इति, पश्चाद् ज्ञानेन कथनाद् न विरोधः ॥३२॥

तम् इत्यत्र. **साकाङ्क्षस्य** इति खेदनिवृत्ति-साकाङ्क्षस्य. अभिज्ञायाः त्रिविधं स्वरूपम् आहुः **नारदेत्यादि**. **स्व** इति आत्मीयः. **अत्र** इति

लेखः

अत्र **कथम्** इत्यव्ययम् आश्चर्यार्थं वदन् अलभ्यलाभत्वं सूचयति नारदागमने. एतादृशे विषये अहो नारदोऽपि आगतः इति हर्षविवशोक्तिः ॥३२॥

---

१. कथमागत इति क-ग-घ-टिप्पण्यां-प्रकाशे-लेखे - सम्पा. २. खिद्यता इति तृतीयान्तं घ.

३. स्व इत्यत्रेति नास्ति ग-घ-ङ. ४. व्यासेत्यादि नास्ति ग-घ-ङ.

५. स्वकार्येत्यादि नास्ति ख. ६. गुणदोषदृग् द्रष्टा इति ख.

विधिः. अथवा विधिमिव नारदस्य, ब्रह्मपूजेव. शुद्ध-सात्त्विकानामपि किञ्चिद् ज्ञेयम् अस्ति, अतएव (**सुरपूजितं!**) देवैः नारदपूजनम्. अतएव स्वस्यापीति न[1] अत्र अलौकिकं किञ्चित् ॥३३॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मज-श्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां प्रथमस्कन्धे चतुर्थोऽध्यायः ॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

तमभिज्ञाय इत्यत्र. **नारदस्य ब्रह्मपूजेव** नारदस्यापि पूजा इति अर्थः. **स्वस्यापि** इति. यतः सात्त्विकानामपि कस्मिंश्चिद् विषये अज्ञानम् अतएव व्यासेनापि जिज्ञासया पूजा कृता इति अर्थः. **नात्रालौकिकम्** इति. **अत्र** पूजायां किञ्चिदपि **अलौकिकम्** अदृष्टं प्रयोजनं **न** इति अर्थः. तथाच जिज्ञासैव प्रयोजनम् इति भावः ॥३३॥ श्रीकृष्णः शरणं मम ॥

प्रकाशः

उक्तविधे खेदे. **अलौकिकम्** इति अदृष्टार्थम् ॥३३॥

॥ इति श्रीप्रथमस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे चतुर्थाध्यायविवरणम् ॥

लेखः

तमभिज्ञाय इत्यत्र. **नारदस्य** इति. नारदेन ब्रह्मा पूज्यते तद्वद् इति अर्थः. अस्मिन् अर्थे द्वितीयायां वति. **सुरपूजितम्** इत्यस्य अर्थम् आहुः **शुद्ध** इति. **स्वस्यापि** इति. व्यासस्यापि सर्वैरेव देवैः कृतत्वात् नारदपूजाकृतिः अतो न अपूर्वं किञ्चिद् इति अर्थः ॥३३॥

॥ इति तुरीयाध्यायटिप्पणम् ॥

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः ॥

---

१. न तत्राऽलौकिकमिति ख.

॥ अथ पञ्चमोऽध्यायः ॥

चतुर्थे सर्वधर्माणां सन्देहो विनिरूपितः ॥
निरूप्यते भक्तिमार्गे पञ्चमे तस्य निर्णयः ॥(१)॥
उट्टङ्कनं[1] मध्यमत्वाद् दृष्टान्तस्य प्रदर्शनम् ॥
आदावन्ते निर्णयार्थं हेतुत्वादुत्तरस्य[2] हि ॥(२)॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

पञ्चमाध्याये वक्ष्यमाणाध्यायाभिधेयम् आहुः **उट्टङ्कनम्** इति. **आदौ उट्टङ्कनम् अन्ते दृष्टान्तस्य प्रदर्शनम्** इति योजना. उट्टङ्कितव्यासचिन्तां नारदः प्रथमं दृष्टवान्, ततः तच्चिन्तां निश्चिन्त्यै स्ववृत्तान्तं निदर्शनत्वेन अतः उक्तवान् इति अध्यायार्थः इति अर्थः (२).

प्रकाशः

अथ पञ्चमाध्यायं विवरिषवः सङ्गतिं वक्तुं पूर्वाध्यायार्थानुवादपूर्वकं ताम् आहुः **चतुर्थे** इत्यादि. **सन्देहः** इति. फलाजननाद् धर्मस्य अपरत्वं, यथोक्तरीत्या करणात् परत्वं च अवगाहमानः स्वरूपविषयकः संशयः इति अर्थः. **निर्णयः** इति, अपरत्वरूपः सः. तेन सूतोक्तौ शेष-शेषिभावः, व्यासोक्तौतु सामान्य-विशेषभावः सङ्गतिः इति अर्थः. अवान्तरवाक्यसङ्गतिम् आहुः **उट्टङ्कणम्** इत्यादि. **मध्यमत्वम्** अधिकारित्वं, तस्माद्

लेखः

पञ्चमाध्यायं विवृण्वन्तः पूर्वोत्तरयोः सङ्गतिं वक्तुम् अनुवदन्ति **चतुर्थे** इति. **सन्देहः** इति, फलव्यभिचारः इति अर्थः. **पञ्चमे तस्य** धर्मस्य **निर्णयः**. कथं वा निर्णयः अतः उक्तं **भक्तिमार्गे** इति. तथाच भक्तिमार्गे तन्निर्णयः इति अर्थः. भक्त्या भगवद्गुणवर्णनमेव प्रसन्नतायाम् अव्यभिचारिहेतुः इति फलितम् (१).

अध्यायार्थम् आहुः **उट्टङ्कनम् आदौ** "पाराशर्य" (श्लो. २) इति श्लोके. तथा **अन्ते दृष्टान्तस्य प्रदर्शनं** सत्सङ्गेन भगवत्कथादिफलं

१. उट्टङ्कणम् इति पाठः प्रकाशे -सम्पा. २. दुस्तरस्येति ग-घ-ङ.

पूर्वाध्यायान्ते नारदः पूजितः इति उक्तम्. तत्र प्रतिपूजनादिकम्[१] अकृत्वा भिन्नप्रक्रमेण पृच्छति **अथ** इति.

॥ सूतः उवाच ॥

अथ तं सुखमासीन उपासीनं बृहच्छ्रवाः ॥
देवर्षिः प्राह विप्रर्षिं वीणापाणिः स्मयन्निव ॥१॥

तं पूर्वोक्तधर्मवन्तम्. उत्तरपरिज्ञानाद् निर्भयः **सुखम् आसीनः**. उत्तरप्रश्नार्थम् **उपासीनम्**. महतो न्यूनताप्रश्नः साधारणस्य न घटते इति आह **बृहच्छ्रवाः**. बृहत्कीर्तित्वाद् उक्तविश्वासार्थं वा. **देवर्षिः**[२] देवानामपि देवप्रतिपादक-मन्त्रद्रष्टा. सहि अलौकिको भवति. **विप्रर्षिं** पश्चिमबुद्धीनाम् उपायवक्तारं, सर्वपूरकाणां पूरकं वा. भागवतधर्माणाम् उत्तमत्वं ख्यापयन्निव

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

अथ तम् इत्यत्र **पश्चिमबुद्धीनाम्** इति. "विप्राः पश्चिमबुद्धयः" (. । ।) इति वाक्यात् **पश्चिम** इति उक्तम्. **विप्रपदस्य** अर्थान्तरम् आहुः **सर्व** इति. पूर्ववद् ज्ञेयम्. हासे हेतुम् आहुः **महानपि** इति ॥१॥

प्रकाशः

उट्टङ्कणं[३] खेददूरीकरणाय तर्ककरणम्. "पाराशर्य" (श्लो. २) इत्यादिभिः त्रिभिः **आदौ दृष्टान्तस्य** स्वदृष्टान्तस्य, "अहं पुरा" (श्लो. २३) इत्यादिभिः **अन्ते** यद् निरूपणं तद् **हि** यतो हेतोः **उत्तरस्य हेतुत्वाद्** निर्णयहेतुत्वाद् अस्ति. तेन हेतुता उपोद्घातश्च सङ्गतिः इति अर्थः (१-२).

लेखः

भवति इत्यत्र स्ववृत्तान्तमेव दृष्टान्तीकृतः "अहं पुरातीतभवेऽभवं मुने" (श्लो. २३) इत्यादिना इति अर्थः. ननु उपदेशमात्रेण ज्ञानं कुतः इत्यतः आहुः **मध्यमत्वाद्** इति. मध्यमाधिकाराद् व्यासस्य. अतः उपदेशमात्रेण बोधः इति दृष्टान्तप्रदर्शनम् इति अर्थः. **उत्तरस्य** ग्रन्थस्य **हेतुत्वाद्** उभयोः इति अर्थः (२).

१. प्रतिपूजनादि कर्म कृत्वेति ख-ङ. २. देवऋषिरिति क-ख-ङ.

३. उट्टङ्कणं न इति मुद्रितपाठः. कि.पाठे तु एवम् - सम्पा.

वीणापाणिः. स्वावसरं प्राप्य ऊर्जितो विकसन्मुखो लोकैः (**स्मयन्निव!**) हसन्निव दृष्टः, महानपि मुह्यति इति, वृद्धिम् इच्छतो मूलमपि नष्टम् इति अभिप्रायेण ॥१॥

स्वाभाविकं कुशलं पृच्छति.

॥ नारदः उवाच ॥

पाराशर्य महाभाग भवतः कच्चिदात्मना ॥
परितुष्यति शारीर आत्मा मानस एव वा ॥२॥

पाराशर्य इति. पराशरस्तु अतिवैष्णवः ; तत्पुत्रः कथं भगवन्मार्गे सन्दिग्धे इति पितृनाम्ना सम्बोधनेन तद् उद्बोधितं, समर्थस्य अधिकारे भगवन्मार्ग-बोधनसम्भवात्. कृतार्थत्वम् आह हे **महाभाग** इति. **कच्चिद्** इति कोमलप्रश्ने. **शारीरः आत्मा आत्मना** भवता स्वेन वा. **भवतः** इति तु समुदायः. विषयाप्राप्तौतु स्वेनैव अपरितोषः,

---

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

पाराशर्य इत्यत्र. **तदुद्बोधितम्** इति. **तद्** वैष्णवत्वं बोधितम् इति भावः. **आत्मना भवता स्वेन वा** इति. मूलस्थाऽऽ**त्मना** इत्यस्य व्याख्यानं द्वयं कृतं; **भवता** इति एकं, **स्वेन वा** इति द्वितीयम्. तथाच **आत्मना** इति मूलम् अनूद्य **भवता स्वेन वा** इति द्विधा व्याख्यातम्. **भवतः इति तु** इति. **भवतः इति** मूलस्थं पदं **तु** स तु **समुदायवाचकम्** इति अर्थः. तथाच शारीरात्मक-मानसादयो मूलस्थ-**भवतः**

प्रकाशः

पाराशर्य इत्यत्र. **सन्दिग्धे** इति, तिङन्तम् इदम्. सम्बोधनमात्रेण कथम् उद्बोधः इत्यतः आहुः **समर्थस्य** इत्यादि. **अधिकारे** इति योग्यतायाम्. **कृतार्थत्वम्** इति कृतकार्यत्वम्. **समुदायः** इति. व्यासचिन्तायां "मे दैह्य" (भाग.पुरा. १।४।३०) इत्यत्र 'मे' इत्यनेन यथा सङ्घातः परामृश्यते

लेखः

व्याख्याने. **लोकैर्हसन्निव** इति. **इवपदाद्** हास्यपूर्वास्यरूपो मुखविकासः इति उच्यते, लोकदृष्ट्यातु हास्यमेव इति भावः. हास्यबीजम् आहुः **महान्** इति. इदमपि लोकप्रतीतिम् अनुरुध्य ॥१॥

भगवतातु भवता. अनेन लौकिकम् अलौकिकं वा निमित्तं पृष्टं भवति. एवं **मानसः**. **एवशब्देन** पूर्वरूपे गौणता सूचिता ॥२॥

उत्तरार्थं तत्कृतं पूर्वपक्षेण अभिनन्दति.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इति पदेन समुदायेन उक्ताः इति अर्थः. व्याख्यानद्वयस्य सङ्गतिम् आहुः **विषयाप्राप्तौ** इति. तथाच अपरितोषस्तु विषयाप्राप्तौ स्वयमेव भवति इति **स्वेन** इति व्याख्यानाद् विषयाप्राप्तौ; **भवता** इति व्याख्यानात् प्राप्तावपि अपरितोषो **भगवता** भवति. एवञ्च **आत्मना** इत्यनेन पदेन नारदेन उभयविधोऽपि अपरितोषः पृष्टः इति भावः. इममेव अर्थं प्रकारान्तरेण आहुः **अनेन** इति. **लौकिकं स्वेन** इत्यनेन व्याख्यानेन, **अलौकिकं** भगवदर्थकं **भवता** इत्यनेन **निमित्तम्** अपरितोषे कारणं **पृष्टं भवति** इति भावः. **एवं मानसः** इति. मानसेऽपि अपरितोषे द्विविधं निमित्तं वर्तते इति भावः. **'एव'शब्देन** इति. मूलवर्ति **एवशब्देन पूर्वरूपे** शारीरे **गौणता** ज्ञापिता. तथाच शारीरात्मनि परितोषाभावो गौणः, मानसो अपरितोषो मुख्यः. एवञ्च मानसएव अपरितोषो मुख्यतया पृष्टः इति भावः ॥२॥

तत्कृतम् इति, व्यासकृतम् इति अर्थः. **जिज्ञासितं सुसम्पन्नम्**

प्रकाशः

तथा अत्र **भवतः** इत्यनेन सङ्घातः परामृश्यते इति अर्थः. **स्वेनैव** इत्यादि, सङ्घाताभिमानिनैव **अपरितोषः** इति अर्थः. अस्मिन् पक्षे तुशब्दकथनेन अग्रिमे पक्षे विषयप्राप्तौ अपरितोषो बोध्यते. **अनेन** इति अर्थद्वयसङ्ग्राहकेण **आत्मना** इति पदेन. **एवं मानसः** इति, उभयथा अपरितुष्यति इति शेषः. **पूर्वरूपे** इति शारीररूपे ॥२॥

लेखः

पाराशर्य इत्यत्र. **भगवता** इति. **भवतः कच्चिद्** इत्यत्र **भवता** इति पाठम् आदृत्य इदम् उक्तं भाति. इत्यर्थकेन तेन भगवता न उच्यते इति तथा इति भावः ॥२॥

जिज्ञासितं सुसम्पन्नमपि[१] **(/ मिति !) ते महदद्भुतम् ॥**
कृतवान् भारतं यस्त्वं सर्वार्थपरिबृंहितम् ॥३॥

जिज्ञासितम् इति विचारितम्. सर्वलोकहिताचरणं **सुष्ठु सम्पन्नम्**, एककृत्यैव आकल्पकरणसिद्धेः. **अपि** इति आश्चर्ये. भगवतोऽपि प्रत्येककृत्यपेक्षा[२], तवतु तदपि नास्ति इति आह. (अथवा!) **इति ते महदद्भुतम्** इति. इतीति समाप्तौ. अद्भुतस्यैव महत्त्वम्. सम्पत्तिमेव आह **कृतवान्** इति. एकं हि शास्त्रम् एकपुरुषार्थप्रतिपादकं, भारतन्तु धर्मादिचतुष्टय-प्रतिपादकम् इति आह **सर्वैः (अर्थैः!)** धर्मादिपुरुषार्थैः **परितः** साधनसहितैः **बृंहितं** सम्बद्धम् इति अर्थः ॥३॥

स्वाभाविकधर्मेऽपि[३] विशेषम् आह.

जिज्ञासितमधीतं च ब्रह्म यत्तत्सनातनम् ॥
तथापि शोचस्यात्मानमकृतार्थ इव प्रभो ॥४॥

जिज्ञासितम् इति. **ब्रह्म** परब्रह्म वेदश्च, तत्र एकं **जिज्ञासितम्** अपरम् **अधीतं**, चकाराद् अध्यापितम्. धर्मश्च, जैमिनेरपि तदुक्तार्थोपनिबन्ध-

---

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इत्यत्र. **प्रत्येककृति** इति. **प्रत्येककृतिः** पृथक् पृथग् ग्रन्थे सर्ववर्णाश्रमधर्मनिरूपणं भगवता कृतं, त्वयातु एतद् भारतलक्षणम् इति भावः. **अद्भुतस्यैव** इति, आश्चर्यएव महत्त्वं, नतु कृतौ[४] इति अर्थः. सर्वेषां निरूपणं कृतम् इति भावः ॥३॥

जिज्ञासितमधीतम् इत्यत्र. **धर्मश्च** इति, धर्मश्च उक्तः इति अर्थः.

प्रकाशः

जिज्ञासितं सुसम्पन्नम् इत्यत्र. पाठान्तरम् आहुः **इति ते महद्** इति ॥३॥

जिज्ञासितम् अधीतं च इत्यत्र. धर्माध्यापने गमकम् आहुः **जैमिनेः**

---

१. 'इति' इत्यपि वैकल्पिकः पाठः प्रकाशकारैः सुबोधिन्यां सूचितः - सम्पा.

२. प्रकृत्यपेक्षेति मुद्रितपाठः. क-ग-घ-ङ-भा-टिप्पण्याम् एवम् - सम्पा.

३. धर्मे विशेषमिति ग. धर्मैर्विशेषमिति घ-ङ.

४. अद्भुततायां विशेषो 'महद्' इति, नतु पाराशर्यव्यासस्य कर्तृतायां कश्चन विशेषो, ज्ञानकलावतारत्वात् - सम्पा.

नात्. अथवा प्रथमा जिज्ञासा ब्रह्मविषयिणी, द्वितीया वेदस्य. **यत्तद्** इति अतिप्रसिद्धम्. **सनातनम्** अविकृतम्. **ब्रह्म**शब्देन बृहत्त्वमेव उक्तम्. फलविपर्ययेण दूषयति **तथापि** इति. "तरति शोकम् आत्मविद्" (छान्दो.उप. ७।१।३) इति श्रुतेः – "अनीहया शोचति मुह्यमानः" (मुण्डकोप. ३।१।२) इति च– ज्ञानधर्मसम्पत्तौ शोकाभावः श्रुतिसिद्धः. स च अनुभवेन बाध्यते. नच अयं शोको लौकिकः इत्यतः[१] आह **अकृतार्थ इव** इति, यथा जिज्ञासाद्वयाभावे असिद्धपुरुषार्थस्य शोकः तथा सम्पन्न-दशायामपि[२] इति. अत्र उत्तरकथनसामर्थ्यं तव अस्ति इत्यतः आह **प्रभो** इति ॥४॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

प्रथमा जिज्ञासा इति. प्रथमं ब्रह्मविषयिणी जिज्ञासा जाता, तदनन्तरं वेदविषयिणी इति अर्थः. तथाच **जिज्ञासितम्** इति ब्रह्मणो वेदस्य च विशेषणम् इति भावः. **बृहत्त्वमेवोक्तम्** इति. तथाच बृहत्वात् सर्वस्य अध्ययनं कर्तुं न शक्यते इति नारदस्य अभिप्रायः इति अर्थः. **विपर्ययेण** इति, व्यभिचारेण इति अर्थः. **जिज्ञासाद्वय** इति, ब्रह्मणो वेदस्य इति जिज्ञासाद्वयम्, एतस्याः अभावे अज्ञानम् इति अर्थः. **सम्पन्नायाम्** इति, सिद्धौ इति अर्थः ॥४॥

प्रकाशः

इत्यादि. औत्पत्तिकसूत्रादौ व्यासोक्तानुवादाद् इति अर्थः. **द्वितीया वेदस्य** इति. एतेन पूर्वमीमांसासूत्राण्यपि प्रणीतानि बोध्यन्ते. **सनातन**पदवैयर्थ्य-परिहाराय आहुः **बृहत्त्वमेव उक्तम्** इति. **अनीहया** इति धर्माभिव्यञ्जक-चेष्टाराहित्येन. **इति च** इति, इति श्रुतेः च इति अर्थः ॥४॥

लेखः

जिज्ञासितम् इत्यत्र. **प्रथमा** इति. तथाच **ब्रह्म**पदेन ब्रह्म वेदं च परिगृह्य उभयत्रापि **जिज्ञासितम् अधीतं च** इति विशेषणकथनमपि ज्ञेयम् इति अर्थः. एवं धर्मजिज्ञासापि, जैमिनेः व्यासशिष्यत्वाद् इति भावः. **अनीहया शोचति मुह्यमानः** इति वाक्यं ... . **अत्रोत्तरकथनसामर्थ्यं**

---

१. इत्याहेति घ-ङ.   २. सम्पन्नायामपीति क-ख-ग-ङ-टिप्पण्याम् - सम्पा.

प्रमाणबलविचारकाणां न अत्र उत्तरस्फूर्तिः इति आह.

॥ व्यासः उवाच ॥

अस्त्येव मे सर्वमिदं त्वयोक्तं तथापि नात्मा परितुष्यते मे ॥

तन्मूलमव्यक्तमगाधबोधं पृच्छामहे त्वात्मभवात्मभूतम् ॥५॥

अस्त्येव इति. साधनस्य फलव्यभिचारे यद् **मूलं तद् अव्यक्तं** न प्रकटं, लोक-वेदयोः असिद्धत्वात्. अतः **अगाधबोधं त्वां पृच्छामहे. अगाधं** प्रमाणागम्यं, तत्रापि प्रमेयबलाद् **बोधः**. तद् आह **आत्मभवात्मभूतम्** इति. **आत्मा** नारायणः, तद्**भवो** ब्रह्मा, तस्य **आत्मनो** देहाद् (भूतं!) जातम्. **आत्मभव** इति सम्बोधनं वा, हे भगवदवतार! आत्मविद् "ब्रह्म

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

अस्त्येव मे इत्यस्य अवतरणिकाम् आहुः **प्रमाणबल** इति. **अस्त्येव मे** इत्यत्र. **तत्रापि प्रमेय** इति. अज्ञेयत्वेऽपि स्वरूपबलाद् ज्ञानं भवति इति अर्थः. **तदाह** इति, स्वरूपम् आह इति अर्थः. **आत्मभूतम्** इत्यस्य अर्थम् आहुः **आत्मविद्** इति. तथाच "तरति शोकमात्मविद्" (छान्दो.उप. ७।१।३) इति श्रुतेः "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" (मुण्डकोप. ३।२।९) इति दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयोः बहुधा समानता इति भावः[१] ॥५॥

प्रकाशः

अस्ति इत्यत्र. **तन्मूलपदं** व्याकुर्वन्ति **साधनेत्यादि. प्रमेयबलाद्** इति. भगवन्नप्तृत्वेन भगवन्नैकट्यतः तत्स्वरूपबलाद् इति अर्थः.

लेखः

तवास्ति इति. तथाच "मम अशक्यत्वाद् उत्तरदानं तवैव शक्यम्" इति न वक्तव्यं, यतः त्वमपि प्रभुः उत्तरदानसमर्थः ॥४॥

तर्हि कथं न उत्तरम् इत्याशङ्कायाम् अग्रिमम् अवतारयन्ति **प्रमाणबल** इति. **अस्त्येव** इत्यत्र **आत्मभवेति सम्बोधनं वा** इति. आत्मनः स्वतएव भवम् उद्भवो यस्य इति. ननु आत्ममात्रस्य भगवद्रूपस्य स्वतः उद्भवेऽपि देहाभिमानेन अत्र कथं स्वतः उद्भवः इत्यतः आहुः **आत्मवित्तु**

१. आत्मवित् कथम् आत्मैव भवति इत्यत्र दृष्टान्तो यथा ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति. तथाच दृष्टान्तीभूतस्य आत्मविदः दार्ष्टान्तिकस्य च ब्रह्मविदः बहुधा समानता इति अभिप्रायः - सम्पा.

वेद[१] ब्रह्मैव भवति" (मुण्डकोप. ३।२।९) इति श्रुतेः (**आत्मभूतम्!**) आत्मैव जातः. असाधनकफल-सम्बन्धो[२] वा सूचितः. भगवत्सेवकं वा, "भूतानि विष्णोः सुरपूजितानि" (भाग.पुरा. ६।३।१८) इति वाक्यात् ॥५॥

तस्य प्रमेयबलम् आह.

स वै भवान् वेद समस्तगुह्यमुपासितो यत्पुरुषः पुराणः ॥
परावरेशो मनसैव विश्वं सृजत्यवत्यत्ति गुणैरसङ्गः ॥६॥

स वै भवान् इति. **वेदानां समस्तं गुह्यं भवान्** इति वा. उभयत्रापि हेतुः **उपासितः** इति. **पुराणत्वम्** उत्तमत्वाय. तेन पुरुषोत्तमः सेवितः इति कालादिनिरपेक्षः. सेव्यसामर्थ्येन सेवकसामर्थ्यं वक्तुं भगवद्गुणान् आह **परेति**. (**परावरेशो!**) सर्वेश्वरत्वं (**विश्वं सृजत्यवत्यत्ति!**) सर्वकर्तृत्वं

प्रकाशः

असाधनफलसम्बन्धः इति, साधनाभावेऽपि भगवदैक्यप्राप्तिः इति अर्थः. श्रुतिविरोधमिव आशङ्क्य पक्षान्तरम् आहुः **भगवत्सेवकम्** इति ॥५॥

सः वै भवान् इत्यत्र. **कालादिनिरपेक्षः** इति. इदं वेदगुह्यत्वज्ञापकम् इति अर्थः ॥६॥

लेखः

आत्मैव जातः इति[३]. अत्र हेतुत्वेन श्रुतिम् उपन्यस्यन्ति **ब्रह्म वेद** इत्यादि. **असाधनकफल** इति. न विद्यते साधनं यत्र इति "शेषाद् विभाषा" (पाणि.सूत्र ५।४।१५४) इति कप्प्रत्ययः. **आत्मभवपदोक्त्या** साधनं विनैव तादृशफलरूप-जन्मसम्बन्ध-स्फोरणात् तथा सूचितः इति अर्थः. **सेवकम्** इति. ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य सेवकत्वेन तदुद्भवत्वाद् अयमपि तथा इति भावः. **भूतानि विष्णोः सुरपूजितानि** इति वाक्यं षष्ठे तृतीये अस्ति ॥५॥

---

१. ब्रह्मविदिति घ. २. असाधनकसम्बन्ध इति घ-ङ.

३. अत्र लेखकाराभिमत-सुबोधिनीपाठे भिन्नः क्रमो भाति. तद्यथा— आत्मवित्तु आत्मैव जातः, "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" इति श्रुतेः इति - सम्पा.

(**गुणैः असङ्गः!**) निर्दोषत्वं च कर्तृत्वञ्च (**मनसैव!**) चिन्तनमात्रेण इति गुणाः ॥६॥

नारदस्य स्वतोऽपि सामर्थ्ये हेतुम् आह.

त्वं पर्यटन्नर्क इव त्रिलोकीमन्तश्चरो वायुरिवात्मसाक्षी ॥
परावरे ब्रह्मणि धर्मतो व्रतैः स्नातस्य मे न्यूनमलं विचक्ष्व ॥७॥

त्वं पर्यटन् इति. बहिरन्तःसर्वपरिज्ञानार्थं (अर्क-वायु!) दृष्टान्तद्वयम्. अपेक्षितरूपं च— क्रियया सर्वलोकगमनं, योगेन अन्तःप्रवेशः, ज्ञानेन सर्वसाक्षित्वम्. एवं सार्धश्लोकेन भक्त्यादिभिः सर्वसामर्थ्यं प्रतिपाद्य स्वसन्देहं पृच्छति **परावरे ब्रह्मणि** इति. **परं** वेदान्तप्रतिपाद्यम् **अवरं** वेदः. तत्र क्रमेणैव **धर्मतो** यज्ञादिकरणाद् **ब्रह्मणि** निष्णातः, (**व्रतैः!**) वेदव्रतादिना वेदे निष्णातः. (**स्नातस्य!**) तदुभयनिष्णातस्य यद् **न्यूनं** तद् (**विचक्ष्व!**) विचारय. आपाततो विचारितं न भविष्यति इति आह **अलम्** इति ॥७॥

नारदस्तु विचारितमेव वर्तते इति सिद्धवत्कारेण आह[१].

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

सर्वसाक्षित्वम् इत्यनेन साम्यमपि उक्तम्, **आत्मसाक्षी** इति मूलम् अपि व्याख्यातम् इति ध्येयम्. **आपाततः** इति, सामान्यतो विचारे **विचारितं** समीचीनतया विचारितं **न भविष्यति** इति अर्थः. **अलमिति** इति, पूर्णतया विचार्य इति भावः ॥७॥

प्रकाशः

त्वम् इत्यत्र. **स्वतोऽपि** इति, भगवदवतारत्वाद् इति अर्थः. **अपेक्षितरूपम्** इति. व्यासस्य नारदे यादृशं ज्ञानं स्वखेदनिवृत्त्यर्थम् अपेक्षितं तादृग्रूपं ज्ञानं नारदे वर्तते इति अर्थः ॥७॥

लेखः

स वै इत्यत्र. **चिन्तनमात्रेण** इति, भगवद्विचारमात्रेण अनायासेन इति अर्थः. अतएव गुणानां ग्रहणम् इति भावः ॥६॥

---

१. सिद्धवत्कारणेनेति ग.

॥ नारदः उवाच ॥

भवतानुदितप्रायं यशो भगवतोऽमलम् ॥
येनैवासौ न तुष्येत मन्ये तद्दर्शनं खिलम् ॥८॥

भवतेति. [१]अग्निहोत्र-सुवर्ण-स्त्री-ज्ञानसद्भावेऽपि यथा दीप-सूर्यादिव्यतिरेकेण न बहिःप्रकाशः तथा भगवद्यशोव्यतिरेकेण न अन्तःप्रकाशः. भगवदीयास्तु धर्माः न ज्ञानादिभिः प्रकाश्याः. तेच महान्तो बहवः च

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

भवतानुदितप्रायम् इत्यत्र. **अग्निहोत्र** इत्यारभ्य **नान्तःप्रकाशः** इत्यन्तम्. यथा बहिःपदार्थानां घटादीनां सूर्य-दीपादिकं विना न प्रकाशनं चाक्षुषां तथा अत्रापि तवैव सुवर्णस्त्रीज्ञानाग्निहोत्रयोः सत्त्वेऽपि अग्निहोत्रज्ञानं सुवर्णज्ञानं वा न अन्तःप्रकाशजनकम्. भगवद्यशस्तु सूर्य-दीपादिवत् प्रकाशकम् इति भावः. अग्निहोत्रेण सहोक्त्या **स्त्री** इति उक्तं, मुख्यपत्न्यभावे अग्निहोत्रादौ सौवर्णस्त्री क्रियते इति. ननु अग्निहोत्रादीनां मा अस्तु अन्तःप्रकाशकता, आत्मज्ञानेन कथं न अन्तःप्रकाशः इति आशङ्क्य आहुः **भगवदीयास्तु** इति. आत्मज्ञानं जीवज्ञानं, जीवस्तु अणुः एकश्च, तथाच अणुज्ञानं महद्विषयकं न भवति इति भावः. एतदेव उक्तं **ते च** इत्यारभ्य **प्रकाश्यते** इत्यन्तेन.

प्रकाशः

भवता इत्यत्र. **सिद्धवत्कारेण आह** इति, हेतुपूर्वकं तज्ज्ञानन्यूनत्वस्य कारणम् आह इति अर्थः. न्यूनत्वहेतुं व्याकर्तुम् उपपादयन्ति **अग्निहोत्रे**त्यादि. तथाच यथा अग्निहोत्रादि-बाह्यविषयक-ज्ञानस्य सत्त्वेऽपि दीपादिव्यतिरेकेण तदलाभात् सतोऽपि ज्ञानस्य खिलता तथा अन्तःप्रकाशव्यतिरेकेण आन्तरार्थालाभात् तज्ज्ञानस्यापि सा इति यशःकथनाभावो न्यूनत्वहेतुः इति अर्थः. ननु तदकथनाभावेऽपि ज्ञानादिभिः आन्तराणाम् अहमादीनां प्रकाशात् न तस्य न्यूनत्वहेतुता इत्यतः आहुः **भगवदीये**त्यादि. कुतः इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **ते च** इत्यादि. तथाच यथा स्वल्पेन दीपेन न महागृहादिप्रकाशः

---

१. ''अग्निहोत्रसुवर्णेत्यादिना पुरुषार्थचतुष्टयसाधनत्वम् उक्तम्'' इति भा.पाठीया पादटिप्पणी टिप्पणीमातृकान्तरानुसारिणी - सम्पा.

यद्विषयं व्याप्य तिष्ठन्ति सच विषयो न ज्ञानादिभिः प्रकाश्यते. (**अनुदितप्रायं** !) यद्यपि भारते भगवद्यशः प्रतिपादितं, गीतायां च विशेषतः, तथापि इतरशेषत्वेन प्रतिपादनात्, व्यामोहक-लीलात्वेऽपि हृदये तथैव आवेशात्. पूर्वकाण्डशेषत्वेन उत्तरकाण्डनिरूपणे न वेदान्तैः स्वातन्त्र्येण ब्रह्मप्रतिपादनं, तथा भगवद्यशोऽपि गीतादौ. तदेव[१] आह. **अमलं यशः**.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इतरशेषत्वेन इति. अन्याङ्गेन प्रतिपादितम् अप्रतिपादितमेव इति भावः. तत्र प्रतिपादने दूषणम् आहुः **व्यामोहक** इति. मुशलपर्वणि व्यामोहलीला उक्ता. तथा तत्र व्यासस्य हृदये सएव अर्थो भातइति तद्यशःप्रतिपादनमेव भवति इति भावः. अन्याङ्गत्वेन निरूपणम् अनिरूपणम् इत्यत्र अनुकूलं तर्कम् आहुः **पूर्वकाण्ड** इति. पूर्वकाण्डाङ्गत्वेन उत्तरकाण्डनिरूपणं यदि स्यात् तदा **वेदान्तैः** उपनिषद्भिः **स्वातन्त्र्येण** भिन्नत्वेन **ब्रह्मप्रतिपादनं न** स्यात्. अयम् अर्थः— तदा उपनिषद्भागोऽपि कर्मकाण्डमध्ये एव कथितः स्यात् यदि पूर्वकाण्डमध्यगतोपनिषद्रूपनिरूपणेऽपि ब्रह्मनिरूपणं स्याद् इति अर्थः. तथातु नास्ति इति अन्याङ्गत्वेन कथनम् अकथनमेव इति भावः. प्रकृतोपयोगम् आहुः **तथा** इति. **गीतादौ भगवद्यशोऽपि तथा**

प्रकाशः

तथा स्वल्पेन ज्ञानेन तेषाम् इति तथा इति अर्थः. ननु यशस्तु गीतम् अतः कथम् अप्रकाशः, कथं वा दर्शनस्य खिलत्वम्? अतः आहुः **यद्यपि** इत्यादि. **व्यामोहकलीलात्वेऽपि** इति, सारथ्यादेः इति अर्थः. अतएव "यच्चावहासार्थम्" (भग.गीता ११।४२) इत्याद्यर्जुनवाक्यम्. **तथैव** इति, व्यामोहकत्वेन इति अर्थः. दृष्टान्तम् आहुः **पूर्वेत्यादि**. **आह** इति **अनुदितप्रायपदेन** आह. खिलत्व-स्वरूपम् आहुः **अमलम्** इत्यादिना. **अमलम्** इति. मलम् आवरकं, तद्रहितम्. तथाच भारते इतरशेषत्वाद्यावरक-सत्त्वाद् यशसो अमलत्वाभावः खिलत्वहेतुः इति तेन तथा इति अर्थः ॥८॥

१. तदेव हीति घ-टिप्पण्याम्.

तेनैव[१] अन्तःकरणदोषाभावः. तद्व्यतिरेकेणापि सर्वं भविष्यति इति ज्ञाने खिलता ॥८॥

"सर्वेषामेव भूतानां पिता माता स माधवः, तमेव शरणं यात शरण्यं कौरवर्षभाः" (महाभा. ३।१९२।५६), "अच्युताच्युत मा मैवं व्याहरामित्रकर्षण, पाण्डवानां भवान्नाथो भवन्तं चाश्रिता वयम्" (महाभा. २।२०।९), "करिष्ये वचनं तव" (भग.गीता १८।७३) इत्यादिश्लोकसहस्रैः स्वातन्त्र्येण भगवद्यशसः प्रतिपादनात् कथम् उच्यते "अनुदितप्रायम्" (श्लो. ८) इति? तत्र आह.

यथा धर्मादयश्चार्था मुनिवर्यानुकीर्तिताः ॥
न तथा वासुदेवस्य महिमा ह्यनुवर्णितः ॥९॥

यथा इति. सत्यं, प्रतिपादितं, तथापि प्रकरणाभावात्– "प्रकरणेन विधयः बध्यन्ते" (आप.श्रौ.सूत्र २४।२।२७) इति न्यायात्– तत्रत्यानां तच्छेषत्वम्. आनुशासनिकेऽपि भगवद्धर्माणां धर्मत्वेन प्रतिपादनं, न यशस्त्वेन. तद् आह (**धर्मादयः!**) धर्मार्थकाममोक्षाः **यथा** प्रकरणभेदेन (**अनुकीर्तिताः!**) प्रतिपादिताः **न तथा (वासुदेवस्य!)** भगवन्**महिमा** प्रकरणभेदेन (**अनुवर्णितः!**) प्रतिपादितः इति अर्थः ॥९॥

ननु प्रतिपादकानां[२] कथं न फलसाधकत्वम्? तत्र आह.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

अन्याङ्गत्वेन प्रतिपादितमिति अप्रतिपादितमेव इति भावः. मूलस्थाऽ**मल**पदं **यशः**पदं च **भगवतः** इति षष्ठ्यर्थसहितं व्याचष्टे **तदेव हि** इति. **तद्** भगवद्यशएव निर्मलम् इति अर्थः. **तेनैव** भगवद्यशसैव इति अर्थः. मूलन्तु **येनैव** इति, **येन** दर्शनेन आत्मा **न** तुष्यत्येव **तद्दर्शनं** ज्ञानं **खिलं** शून्यम् इति अर्थः. ज्ञाने का न्यूनता इति आहुः **तद्व्यतिरेकेण** इति. यशो विनापि इति अर्थः ॥८॥

न यद्वचः इत्यस्य अवतारिकायां **ननु प्रतिपादकानाम्** इति. भगवद्यशःप्रतिपादकानां केषाञ्चिद्वाक्यानां **फलसाधकत्वं न** इति अर्थः.

---

१. तेनान्तःकरणेति ख. २. प्रतिपादितानाम् इति भा.पाठः –सम्पा.

न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित् ॥
तद्वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा न यत्र हंसा निरमन्त्युशिक्क्षयाः ॥१०॥

न यद्वचः चित्रपदम् इति. कीदृशम् अत्र फलं मृग्यते? कृतार्थता अन्तःकरणप्रसादः परमानन्दश्च इति चेद्, न तस्य इदं तीर्थं किन्तु काव्यवत् शृङ्गारादि-रसाविष्टानां कामिनाम् आश्चर्यरसजनकं काकानामिव उच्छिष्टगर्तः. प्रमाणबलं दुर्बलम् इति वक्तुम् आह **चित्रपदम्** इति. अर्थविशेषाभावे पदचित्रता हीनत्वबोधिका, "शब्दचित्रं वाच्यचित्रम् अव्यङ्ग्यन्तु अवरं स्मृतम्" (काव्यप्रका. १।४।५) इति वाक्यात्. विषपत्रैः भोजनवत् च तत्रत्यं प्रमेयं न हरिरूपं किन्तु उत्कृष्टत्वेन प्रतिपादितम्. तद् आह **हरेः यशः** इति. **जगत्पवित्रम्** इति. साधारणानां हि भारतं पावित्र्यजनकं, न पतितानां न वा शुकादितुल्यानाम्. तेन न सर्वाकाङ्क्षापूरकम्, इदन्तु जगतएव पवित्रम्. **वचः** इति शब्दमात्रं, तेन साम-रागादीनामपि निवृत्तिः.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

न यद्वचः इत्यत्र **विषपत्रैः** इति. यथा विषपत्रैः भोजनं न कर्तव्यं तथा तादृशग्रन्थैः भगवद्यशोवर्णनं न श्रोतव्यम् इति अर्थः. **प्रतिपादितम्** इति, वस्तुतो न उत्कृष्टम् इति अर्थः. **सामराग** इति. "निवृत्ततर्षैः

प्रकाशः

न यद् इत्यत्र. **प्रतिपादकानाम्** इति इतरशेषत्वेन यशःप्रतिपादकानाम्. **प्रमाणे**त्यादि. भारतस्य आम्नायार्थत्वाद् न एवम् इति शङ्कायाम् इति शेषः. **विषपत्रैः भोजनवद्** इति. तैः भोजने तृप्तिमात्रं, परम् अग्रे अनिष्टं, तथा अत्र अन्यशेषत्वेन श्रवणे श्रवणाभिमानमात्रं, परम् अग्रे न कृतार्थत्वादिकं किन्तु धर्मादयएव इति अर्थः. कथम् अर्थविशेषाभावः इत्यतः आहुः **तत्रत्यम्** इत्यादि. **हरेः यशः** इति हरेः यशो न किन्तु तत्त्वेन[१] प्रतिपादितं, वाचो धेनुवद् इति अर्थः. प्रकारान्तरेणापि फलाभावं व्युत्पादयन्ति **वचः** इत्यादि. तथाच साम्नो भगवत्प्रियत्वाद् रागादीनाञ्च

---

१. यथा हरेः यशः उत्कृष्टं तथा धर्मादीनामपि उत्कृष्टत्वम्. वाचो धेनुवद् अर्थं दुहन्ति (द्रष्ट. ऋक्संहि. १०।७१।५) इति उत्कर्षो द्योतितः - सम्पा.

कर्हिचिद् इति मुख्य-गौण-लक्षणा-प्रकरणादि-भेदेषु एकस्मिन्नपि अंशे भगवत्प्रतिपादने न दोषः इति सूचितम्. **तत्** काव्यवत् पदार्थप्रतिपादकं **वायसं तीर्थं** काकतीर्थम् इति यावत्. वायसाः वृद्धाः काकाः, लोके[१] चतुराः च. तथा कामिनो राजपुत्रादयो भारते श्रद्धालवो, नतु परमहंसाः.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

उपगीयमानाद्" (भाग.पुरा. १०।१।४) इति वाक्याद् भागवतन्तु सामवेदस्य रागेण गीयते, इदन्तु वचोमात्रम् इति गानाभावेन श्रोत्ररञ्जकमपि न भवति इति भावः. **मुख्य** इति. मुख्यवृत्त्या शक्त्या गौणवृत्त्या लक्षणया वा प्रकरणभेदेन निरूपणं चेत् स्यात् तदा भगवद्यशःप्रतिपादनात् निर्दोषत्वं स्याद् इति अर्थः. तथाच अयं प्रकारो नास्ति इति सूचनार्थं **कर्हिचिद्** इति उक्तम् इति आशयः. **प्रवेशन** इति, परलोकप्रवेशनमार्गः इति अर्थः.

प्रकाशः

मोक्षमार्गत्वात् तदभावेनापि तथा इति अर्थः. **मुख्येत्यादि**. भारतानां प्रतिपादकम् इदम् इति, भारतवद् इति च 'भारत'पदव्युत्पत्त्या भगवत्प्रतिपादकत्वाभावेन भगवतः शास्त्रार्थत्वाभावाद् न मुख्यतया प्रतिपादकत्वम्. तत्प्रमेयस्य भगवत्कार्यकर्तृत्वाभावाद् भगवज्जातीयत्वाभावात् तत्सारूप्याभावाद् एकत्र मुख्यतया प्रतिपादितस्य प्रशंसार्थत्वाभावात् "छत्रिणो यान्ति, कुन्ताः प्रविशन्ति" इतिवद् लिङ्गभूमभ्यामपि तदभावात् च न गौण्यापि. शैत्य-पावनत्वादिप्रतीत्यर्थं 'गङ्गा'पदेन तीरवद् न तत्पदैः कृतार्थताद्यर्थं भगवान् लक्ष्यतइति न लक्षणयापि. प्रकरणभेदाभावाद् न तेनापि. **आदिपदेन** व्यञ्जना-तात्पर्ये. नच "मुनिर्विवक्षुः" (भाग.पुरा. ३।५।१२) इति वाक्यात् तात्पर्यं भगवति इति वाच्यं, तत्रापि 'धर्मत्वेन विवक्षुः' इति अर्थस्य विवक्षितत्वात्, यथाकथञ्चिद् आपादनेऽपि 'मोक्षधर्म' इत्यादिसमाख्यया फलव्यभिचारेण च तथा निर्णयात्. तदेतद् अभिसन्धाय आहुः **न दोषः** इति. अकृतार्थत्वादिदोषो न इति अर्थः. "वयसः इमे वायसाः" इति योगं रूढिञ्च पुरस्कृत्य आहुः **वृद्धाः काकाः** इति ॥१०॥

---

१. लोकचतुराश्चेति ग.

तीर्थं प्रवेशनमार्गः, दोषनिवारकं वा. तत्र उच्छिष्टगर्तादिः काकानां क्षुन्निवारकः, नतु अन्येषाम्. काकानां च न ततोऽधिकदोष-निवृत्तीच्छा. नवा तादृशगर्तनिर्मातुः ततः क्षुन्निवृत्तिः, हंसत्वात् च तस्य. **उशन्ति** वदन्ति. **मानसा** इति मनस्येव तिष्ठन्ति, न देहादौ. देहहितकरं च भारतम्. 'अहं'-'स' इति ब्रह्मात्मबुद्धिः, तद्युक्ताः परोक्षेण **हंसाः** इति उच्यन्ते. क्षीर-नीर-विवेकिनः च सहजसिद्धमपि संश्लेषं त्याजयन्ति, नतु (**निरमन्ति**!) संश्लेषजनके रमन्ते, "पुंसां किल एकान्तधियाम्" (भाग.पुरा. ६।११।२२) इति वाक्यात्. भगवच्चरित्रं तादृशम् **उशिक्** कमनीयं **क्षयो** निवासस्थानं येषाम्. यथा यथा कमनीयता स्वरूपतो ज्ञानतश्च तथा तथा हंसनिवासत्वम्. ततः च युक्तितो दृष्टान्ताच्च न भारतादेः अन्तःकरणशोधकत्वम् ॥१०॥

किञ्च यद्यपि अस्मदादीनां न तादृशवक्तृत्वं नवा पदानां चित्रता प्रत्युत आलापार्थं पदानाम् अन्यथाकरणं तथापि भगवद्विषयकत्वात्

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

ततः क्षुन्निवृत्तिः इति, तादृशगर्ताद् इति अर्थः. **गर्त**पदेन भारतं; तन्निर्माता व्यासः इति अर्थः. **तस्य** इति, व्यासस्य इति अर्थः. **न देहादौ** इति. आत्मरामाएव, न देहाध्यासिनः. **देहहितकरं च** इति, देहाध्यासिहितकरम् इति अर्थः. धर्मादिषु देहाध्यासिनामेव अधिकारः इति भावः. **हंस**शब्दसूचितम् अर्थम् आहुः **परोक्ष** इति. अकारात्यागेन[१] परोक्षतया उच्यन्ते इति अर्थः. **क्षीर** इति. **भगवच्चरित्रं तादृशम्** इति, परमहंसतीर्थम् इति अर्थः. परमहंस-रमणस्थलस्य लक्षणम् आहुः **यथा यथा** इति ॥१०॥

तद्वाग्विसर्गः इत्यस्य अवतारिकायां **पदानामन्यथा** इति. श्लोकादिषु छन्दोभङ्गभिया सङ्कल्प्यकथनम् **अन्यथाकरणं,** यथा "हर्यर्थमेवं कुरु" इत्यादौ 'हरि'पदस्य अन्यथाकरणम् इति अर्थः. **पूर्वोक्त** इति, भारतादिविपरीतम्

लेखः

न यद्वचः इत्यत्र. **पुंसां किलैकान्तधियाम्** इति षष्ठे एकादशे अस्ति ॥१०॥

---

१. सुबोधिन्याम् 'अहं'-'स' इति ब्रह्मात्मबुद्धिद्योतकेन पदेन विवरणात् -सम्पा.

पूर्वोक्तविपरीतम् अस्मदादीनां वचनम् इति आह.

तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो
यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि ॥
नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि यच्
छृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः ॥११॥

तद्वाग् इति. स च असौ **वाग्विसर्गः** च. स इति प्रसिद्ध्या[१] भक्तकृतः भाषागीत-गीतगोविन्दादिरपि. **जनतायाः** प्राणिमात्रस्य **अघं विशेषेण प्लावयति.** सर्वथा अत्र शब्दबलम् अप्रयोजकम् इति आह **यस्मिन्** इति. **यस्मिन्** वाग्विसर्गे **(प्रतिश्लोकं!)** भाषाग्रन्थश्लोकेषु. व्याकरणदुष्टस्य प्रयोगः **अबद्धम्**[२]. तानार्थं[३] वा **अबद्ध**प्रयोगः[४]. अभ्युपगमेन वा मूर्खहृदये. तत्र हेतुः **नामानि अनन्तस्य** इति. एकस्मिन्नपि अर्थे बहूनि नामानि प्रयुज्यन्ते. यथा[५] 'त्रिभुवन'-'आत्मभुवन'-इत्यादिः. सर्वतो अनन्तस्य

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इति अर्थः. भारतन्तु मुख्यत्वेन धर्मादिप्रतिपादकमिति यत्रकुत्रचिद् भगवत्प्रतिपादकं, तदपि धर्माङ्गत्वेन. अस्मदादिवचनन्तु न तथा इति भावः. **तद्वाग्** इत्यत्र **अबद्ध** इति पदं व्याचष्टे **व्याकरण** इति. अर्थान्तरम् आहुः **तान** इति. शुद्धकूटतानैः धातुः न बद्धो गीतगोविन्दादिवद् इति अर्थः. अर्थान्तरम् आहुः **अभ्युपगमेन वा** इति. अङ्गीकारेण इति अर्थः. **अपि** इत्यस्य अर्थो अङ्गीकारः, **अबद्धवति** इत्यस्य अर्थो **मूर्खहृदये** इति. तथाच **अबद्धवत्यपि** मूर्खहृदयेऽपि पापविप्लवो भवति इति अर्थः. **तत्र** इति, विप्लवे इति अर्थः. **सर्वतोऽनन्तस्य** इति नामनिरुक्तिः उक्ता.

प्रकाशः

तद्वाग् इत्यत्र. **अभ्युपगमेन वा** इति, अबद्धत्वाभ्युपगमेन इति अर्थः. प्रथमपक्षे अबद्धत्वं कर्तृदोषाद्, द्वितीये बुद्धिपूर्वकं, तृतीये आरोपितम् इति ज्ञेयम्. **तत्र** इति अघविप्लावने. अस्मिन् श्लोके सिद्धम् अर्थम्

---

१. प्रसिद्ध्या भक्त्या इति ख. २. अबद्ध इति ग. ३. नानार्थमिति घ.

४. अर्द्धप्रयोग इति क-घ-ङ. ५. तथा इति टिप्पणीमातृकान्तरपाठः -सम्पा.

अनन्तान्येव नामानि भवन्ति. न केवलं सञ्ज्ञाप्रतिपादकानि किन्तु **यशसा अङ्कितानि.** श्रवणे हेतुः **यत्** यानि यस्माद् वा वक्तरि सति **शृण्वन्ति,** श्रोतरि सति **गायन्ति,** अन्यथा **गृणन्ति.** एतच्च (**साधवः!**) पूर्वोक्त-हंसादि-सतां कृत्यम्. भगवत्सम्बन्धिनां धर्माणां भगवता सह अभेदाद् यत्र क्वचिद् अवतीर्णो भगवान् यथा सेव्यते तथा यत्र क्वचिदपि स्थितानि नामानि श्रूयन्ते इति अर्थबलं निरूपितम्. एवं शब्देषु भगवच्छब्दाएव उत्तमाः, न अन्ये इति निरूपितम् ॥११॥

इदानीम् अर्थे[१] विचारः क्रियते. तत्र ज्ञानं स्वरूपतः फलतश्च महत्, तथा[२] यज्ञादिः, तथैव आचारः, तथा अन्ये धर्मादयः. एते भगवता भगवदीयैश्च सह स्वरूपतः फलतः समा आहोस्विद् न इति भवति विचारणा.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

अनन्तपदसूचितम् अर्थम् आहुः **अनन्तान्येव** इति. **अन्यथा** इति, एतद्द्वयाभावे **गृणन्ति** इति अर्थः. श्लोकाभिप्रायम् आहुः **भगवत्सम्बन्धिनाम्** इति. **श्रूयन्ते** इति. यथा यत्रकुत्रचिदपि अवतारे सेवायां कृतायां भगवत्सेवा सम्पद्यते तथा यत्रकुत्रापि श्रवणे श्रवणं सम्पद्यते इति **इत्यर्थबलं निरूपितम्** एतस्य अभिप्रायः. तथाच श्रवणस्य सुगमता निरूपिता इति भावः ॥११॥

नैष्कर्म्यम् एतस्य अवतारिकाम् आहुः **इदानीम्** इति. **नैष्कर्म्यम्** इत्यत्र. **ज्ञानस्य** इति. विशेषणं चेत् स्वयं समीचीनं भवति तदा विशेष्ये वैशिष्ट्यम् उपपादयति. तथाच ज्ञानवति तदा समीचीनता यदा ज्ञाने समीचीनता

प्रकाशः

आहुः **भगवत्सम्बन्धिनाम्** इत्यारभ्य **इति निरूपितम्** इत्यन्तम्. **भगवच्छब्दाः** इति मुख्यतया भगवत्प्रतिपादकाः शब्दाः ॥११॥

नैष्कर्म्यम् इत्यत्र. **इदानीम्** इति. शब्दोत्तमत्वादेः अर्थोत्तमत्वाद्यधीनत्वात् तन्निकर्षनिरूपणानन्तरम् इति अर्थः. अत्र साङ्ख्यं वैदिकम् इति द्वैविध्यं **नैष्कर्म्य-निरञ्जन**पदबोधितम्. भक्त्यनलङ्कृतस्य केवलस्य तस्य उभयविधस्य

---

१. अर्थविचार इति ख.   २. यथेति ग-ङ.

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ।।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम् ।।१२।।

तत्र प्रथमं ज्ञानं निन्दति **नैष्कर्म्यम्** इति. भक्तिसहित-ज्ञानादौ फलसिद्धेः भवति सन्देहः— किं भक्तेः फलं, ज्ञानस्य वा इति? तदर्थं केवले निर्णयः उच्यते— (**अच्युतभाववर्जितं**!) अच्युतभक्तिरहितं ज्ञानं साङ्ख्यं वैदिकं वा भक्त्या अनलङ्कृतत्वाद् **न शोभते**. ज्ञानस्य शोभया तद्वतः शोभा भवति अज्ञाननिवृत्तिश्च, दीपवत्. सुवर्णपुत्तलिकापि अनलङ्कृता न शोभते! यद्यपि निरीश्वरसाङ्ख्यमते ईश्वराभावादेव भक्तिः नास्ति ; निरूप्ये अर्थे श्रद्धामात्रम्. सेश्वरेऽपि सगुणएव ईश्वरः. वैदिकेऽपि

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इति भावः. न केवलम् अलङ्कारादिवत् शोभामात्रं किन्तु सामर्थ्यमपि अविद्यानिवृत्तौ भक्त्यैव भवति इति आशयेन दृष्टान्तम् आहुः **सुवर्ण** इति. तथाच ज्ञानं भक्तिरहितं न शोभते इति भावः. **निरूप्ये अर्थे** इति. साङ्ख्यमते 'भक्ति'पदवाच्य**निरूप्ये अर्थे श्रद्धा**, नतु अन्यद् इति अर्थः. **सेश्वरेऽपि** इति. यैरपि ईश्वरः स्वीक्रियते तैरपि **सगुणः** प्रकृतिविशिष्टः स्वीक्रियते. तथाच भक्तिस्तु निर्गुणएव भवतीति सेश्वरेऽपि मते 'भक्ति'पदवाच्यं न पदार्थान्तरम् इति अर्थः. **यद्यपि** इत्यारभ्य **सगुण एव ईश्वरः** इत्यन्तेन

प्रकाशः

अशोभायां गमकम् आहुः **ज्ञानस्य** इत्यादि. तथाच गृहशोभया दीपस्येव ज्ञानवतो भवतो मनःप्रसादाभावेन अशोभया ज्ञानस्य अशोभा गम्यते इति अर्थः. अशोभा च अत्र अल्पप्रकाशकत्वरूपा विवक्षितफलाजनकत्वरूपा च ज्ञेया. ननु भक्त्यभावेऽपि भगवदवतारत्वाद् व्यासस्य कथम् अशोभा इत्यतः आहुः **सुवर्णे**त्यादि. ननु साङ्ख्ये पञ्चविंशतितत्त्व-ज्ञानेन, वेदे "तमेव विदित्वा" (श्वेताश्व.उप. ६।१५) इत्यादिषु ब्रह्मज्ञानेनैव फलस्य उक्तत्वात् ततएव तत्सिद्धेः कथम् अशोभा इति आकाङ्क्षायां तां व्युत्पादयन्ति **यद्यपि** इति. **निरूप्ये अर्थे** इति कार्येश्वरे. तथाच तदभावादेव "शैवान् पाशुपतान् स्पृष्ट्वा लोकायतिक-कापिलान्, विकर्मस्थान् द्विजान् शूद्रान् सवासा जलमाविशेद्" (द्रष्ट. ब्रह्मा.पुरा.मिताक्ष. ५।३०) इति पुराणेषु तस्य

यजमानादि-देवतावेशाभावे लौकिकत्वात् सर्वापेक्षायाश्च उक्तत्वाद् अन्तःकरण-

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

आशङ्काम् उक्त्वा **वैदिके** इत्यारभ्य **भक्तिः अपेक्ष्यते** इत्यन्तेन समाधानम् आहुः. **वैदिकेऽपि** इति वैदिके कर्मणि, यागे इति यावत्. तत्र **यजमानादिषु,** 'आदि'पदेन पत्नी, तेषु **देवतावेशाभावे** यज्ञरूप-भगवदनाविर्भावे **लौकिकत्वात्** स्वर्गलोकजनकत्वेन लौकिकत्वं स्यात्. यद्वा लौकिकत्वम् = अदृष्टाजनकत्वं स्याद् इति अर्थः. तस्माद् भगवदाविर्भावाय भक्तिः अवश्यम् अपेक्षिता; भक्तिं विना कस्यापि न निर्वाहः. उक्तं च "यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु, न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम्" (नारद.पुरा. पू. १७।१०८) इति. एवञ्च "एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थः अन्यत्रश्च तथा" (लौ.न्या.सा. २५८) इति न्यायेन **वैदिकेऽपि** इत्यस्य **यद्यपि** इत्युक्ताशङ्कासमाधानत्वम् इति ज्ञेयम्. द्वितीयं समाधानम् आहुः **सर्वापेक्षायाः** इति. **सर्वेषां** कर्मादीनां भक्त्यपेक्षायाः **उक्तत्वात्**. तथाच सर्वेषां भक्त्यपेक्षा अस्ति इति उक्तम्. एवञ्च "बहूनाम् अनुग्रहो न्याय्यः" (लौ.न्या.सा. ३६५) इति एकस्य अनङ्गीकारेऽपि न क्षतिः इति भावः. फलितम् आहुः

प्रकाशः

अशोभा इति अर्थः. तर्हि सेश्वरे कथम् अशोभा इत्यतः आहुः **सेश्वरेत्यादि.** 'तथा' इति अध्याहार्यम्; तथा सेश्वरेऽपि नास्ति इति अर्थः. तत्र हेतुः **सगुणएव** इति. तन्मते ईश्वरस्य सर्वदा सात्त्विकविग्रहाविनाभावाङ्गीकारात् तन्मतीयेश्वरस्य न अच्युतत्वम् इति प्रणिधानरूप-तद्भक्तेरपि न अच्युतभक्तित्वम्, अतएव तदशोभा इति अर्थः. तर्हि वैदिके कथम् अशोभा इत्यतः आहुः **वैदिके** इत्यादि. समन्वयाध्याये "शब्द इति चेद्" (ब्रह्मसूत्र १।३।२८) इति सूत्रे वैदिक्याः सृष्टेः नित्यायाः सिद्धत्वात् पुरुषसूक्ते च तथासिद्धत्वाद् ज्ञानपूर्वकं यज्ञादिकरणे यजमानादिरूप-देवतानां यजमानादिषु आवेशेन यज्ञस्य आधिदैविकत्वं, तदभावे यज्ञस्य **लौकिकत्वात्**. "सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेः अश्ववद्" (ब्रह्मसूत्र ३।४।२६) इति तार्तीयीके अधिकरणे ज्ञानस्वरूपोपकारार्थं **सर्वापेक्षायाश्च उक्तत्वात्** 'सर्व'पदे 'आदि'पदे च भक्तेः सङ्ग्राह्यत्वेन सा तथेति तदभावे ज्ञानाभावादेव अशोभा इति

शुद्ध्यर्थं भक्तिः अपेक्ष्यते. सा च भगवच्छास्त्रानुसारिण्येव. (**निरञ्जनं!**) निर्गतम् अञ्जनं यस्माद् इति अविद्यानिवर्तकं निरुपाधिकं वा. (**अलं!**) किं बहुना, सर्वेषु शास्त्रेषु यद् ज्ञानम् उक्तं तस्य स्वरूपोपकारिणी फलोपकारिणी वा भक्तिः इति भक्त्यभावे स्वरूपं फलं वा न सिद्ध्येद् इति अर्थः. कर्मापि भक्तिसापेक्षम् इति आह **कुतः पुनः** इति. तत्र कर्म त्रिविधं— कामनया क्रियमाणं, ज्ञानाङ्गम्, ईश्वराराधनलक्षणं वा. तत्र आद्ये भक्त्यपेक्षा नियता, तद् आह **शश्वदभद्रम्** इति. साधनकाले फलकाले च क्लेशरूपत्वाद् भक्त्यभावे न पुरुषार्थरूपं स्यात्. द्वितीये भगवति समर्पणव्यतिरेकेण ज्ञानाङ्गतैव नास्ति. समर्पणमेव भक्तिः, भक्तिसाध्यं वा. तद् आह **न च अर्पितं कर्म** इति. **न च (ईश्वरे!)** भगवति **अर्पितं कर्म** भवति इति

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

किम् इति. **साधनकाले** इति. भक्त्यभावे क्लेशाद् नास्तिकत्वे कर्मकरणमेव न स्याद् इति भक्तिः अवश्यम् अपेक्षिता. तथाच भगवति भक्तौ सत्यां कर्मणः तदुक्तत्वम् इति श्रद्धासत्त्वे कर्मणि पुरुषार्थत्वज्ञानात् प्रवृत्तिः सर्वेषाम् इति ध्येयम्. **न चार्पितं कर्म** इति वाक्यं व्याचष्टे **समर्पणमेव** इति. **न च** इति. अर्पितं कर्म कर्मैव न भवति इति अर्थः. यतः समर्पणमेव

प्रकाशः

अर्थः. ननु "तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः" (बृहदा.उप. ४।४।२१) इत्यादौ उपास्तिरूपायाः भक्तेः श्रावितत्वात् तत्सत्त्वे कथं भक्त्यभावः इति आकाङ्क्षायां **भावपदतात्पर्यम्** आहुः **सा च** इत्यादि. तथाच स्नेहरूपत्वाभावाद् न सा भक्तिः इति अर्थः. अपेः चार्थकत्वेन अनुक्तसमुच्चायकत्वम् अभिप्रेत्य आहुः **किं बहुना** इत्यादि. **इत्याह** इति, इति कैमुतिकन्यायेन आह इति अर्थः. **कुतः पुनः** इति, अत्रापि **शोभते** इति अनुषज्जते. विशेषणत्रय-तात्पर्यम् आहुः **तत्र** इत्यादि. **न** इति, अग्रे संसारजननात् तथा इति अर्थः. **नास्ति** इति. "यत्करोषि" (भग.गीता ९।२७) इत्यादिगीतावाक्ये अर्पणएव कर्मबन्धनमोक्षकथनात् तथा इति अर्थः. **तदाह** इति, तस्मात् तदभावे अशोभाम् आह इति अर्थः. **भवति** इति, फलसाधकं भवति इति अर्थः ॥१२॥

अर्थः. **चकाराद्** ईश्वरार्थं वा क्रियमाणम्[1]. **यदपि अकारणं** पञ्चरात्रोक्तं, तस्य लौकिककर्मवत् संसारकारणत्वाभावात्. तस्मात् सर्वकर्मसु भक्तिः सहकारिणी ॥१२॥

यतो भक्तिव्यतिरेकेण ज्ञानं कर्म वा न फलसाधकम् अतः आवश्यकत्वात् लाघवाच्च[2] मुख्यतया भक्तिरेव उपदेष्टव्या. साच श्रवणरूपा प्रथमं, श्रवणसापेक्षा वा. अतः श्रोतव्यविषयत्वेन भगवच्चरित्रं भक्तिमार्गानुसारि-योगजधर्मेण स्मृत्वा कथय इति आह.

अतो महाभाग भवानमोघदृक् शुचिश्रवाः सत्यरतो धृतव्रतः ॥
उरुक्रमस्याखिलबन्धमुक्तये समाधिनाऽनुस्मर तद्विचेष्टितम् ॥१३॥

अतो[3] **महाभाग** इति. यद्यपि[4] अस्माभिः ज्ञायते तथापि अधिकाराभावाद् वक्तुं न शक्यते, तवतु एतादृशे अर्थे अधिकारइति **महाभाग** इति सम्बोधनम्. मनसा भावितो अर्थः कदाचिद् अन्यथा भविष्यति इति न शङ्का कर्तव्या यतो **भवान् अमोघदृग्** अमोघा दृष्टिः यस्य इति. नापि त्वदुक्तम् अन्यैः न अङ्गीकर्तव्यम् इति शङ्कनीयम् इति अभिप्रायेण आह **शुचिश्रवाः** इति. **शुचि** पवित्रं **श्रवः** कीर्तिः

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

भक्तिः इति अर्थः. भक्तिसाध्यं समर्पणम् इति पक्षेऽपि कर्मणो भक्तित्वमेव, न कर्मत्वं, यतः भक्तिमता कृतं कर्म भक्तिरेव भवति. तथा भक्तेन स्वकृतं भगवत्येव समर्प्यतइति समर्पणेन भक्तित्वमेव भवति इति भावः. **कारणत्वाभावाद्** इति. बन्धाजनकत्वाद् न कर्मत्वम् इति भावः. त्रिविधमपि कर्म उक्त्वा उपसंहरति **तस्माद्** इति ॥१२॥

लाघवाद् इति. ज्ञानादिभिः भक्तिं विना किमपि कर्तुं न शक्यते, भक्तिस्तु असहायशूरइति लाघवम्. **योगजेन** समाधिना इति अर्थः. **अतो**

प्रकाशः

अतो महाभाग इत्यत्र. **इत्याह** इति, **इति** इदम् अनेन सन्दर्भेण

---

१. कृतमिति ख. २. लाघवत्वाच्चेति घ. ३. अथो इति मुद्रितपाठः. टिप्पण्यां प्रकाशे च एवम् - सम्पा. ४. यद्यस्माभिरिति ख.

यस्य इति लोके हि आदरणीयं रूपम् एतदेव. किञ्च तवापि एतदेव अभीष्टम् इति आह **सत्यरतः** इति. सत्ये रतः, भगवद्धर्मव्यतिरेकेण अन्येषाम् असत्यत्वात्. किञ्च यथा व्रताचरणं धर्महेतुः तथा भगवच्चरित्रश्रवणमपि इति अभिप्रायेण आह **धृतव्रतः** इति. **धृतानि व्रतानि** स्वाध्यायादीनि येन. भगवद्धर्मस्फुरणे वा हेतुः. नच तादृशधर्माः[१] भगवति न सन्ति इति मन्तव्यं यतो अयम् **उरुक्रमः**. **उरु** अधिकः **क्रमः** पादविक्षेपो यस्य. वामनस्य क्षणाद् एकेन पदा सर्वलोकाक्रमणम् इति अग्रे विस्तारयिष्यते[२]. सर्वे हि जीवाः स्वभावतो बद्धाः कालपाशेन ; तेषां बन्धननिवृत्तिः महान् उपकारः. साच कालनियामक-भगवच्चरित्रावेशादेव भवति इति आह **अखिलबन्धमुक्तये** इति. लोक-वेदयोः अप्रसिद्धत्वाद् उपायान्तरम् आह **समाधिना** इति. भगवानेव स्वयं सर्वोद्धारकः स्फुरिष्यति, **अनु** पश्चात् त्वयापि (**स्मर!**) स्मर्तव्यम्. **विशेषचेष्टितं** भक्तिजनकं, नतु व्यामोहकम्. तस्यापि व्यामोहकत्वे ज्ञाते विशेषचेष्टितत्वमेव ॥१३॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

महाभाग इत्यत्र. **भगवद्धर्म** इति, **धृतव्रतः** इति स्फुरणे हेतुः उक्तः इति अर्थः. **अनु** इति उपसर्गस्य अर्थम् आहुः **पश्चाद्** इति. **विशेषचेष्टितत्वमेव** इति. इयमपि भगवतः काचन चेष्टा इत्येव ज्ञातव्यं, नतु प्रकटतया यथा प्रतीयते तथा इति आशयः ॥१३॥

प्रकाशः

आह इति अर्थः. **तादृशाः** इति सर्वमोचकाः. **अप्रसिद्धत्वाद्** इति, चरित्रयाथात्म्यज्ञापनहेतोः तथात्वात्. ननु समाधौ भगवत्स्फुरणे व्यामोहकमपि स्फुरिष्यति इति चेत्, तत्र आहुः **तस्यापि** इत्यादि. तथाच तस्य तथात्वे

लेखः

अथो महा इत्यत्र. समाप्तौ **तस्यापि व्यामोहकत्वे** इति. यदि भक्तिजनकस्यापि चरित्रस्य व्यामोहकत्वं तदापि चेष्टायाः वैशिष्ट्यमेव गमयत् लोकोत्तरतामेव सूचयति इति भावः ॥१३॥

---

१. तादृशाः धर्माः इति पाठः प्रकाशे -सम्पा. २. विस्तारयिष्याम इति घ.

विपरीते बाधकम् आह

ततोऽन्यथा किञ्चन यद्विवक्षतः पृथग्दृशस्तत्कृतरूपनामभिः ।।
न कर्हिचित् क्वापि च दुःस्थिता मतिर्लभेत वाताहतनौरिवास्पदम् ।।१४।।

ततो अन्यथा इति. अभिधेयाऽपर्यवसानं हि सर्ववस्तुषु, मरुमरीचिकावत्

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

विपरीते बाधकम् इति, भगवच्चरित्राद् अन्यकथने इति अर्थः. **ततोऽन्यथा** इत्यत्र. **अभिधेय** इत्यारभ्य **नारम्भणीयम्** इत्यन्तम्. पुराणादिषु उक्ताः सर्वे पदार्थाः व्यासेन स्वबुद्ध्या कल्पयित्वा पुराणानि कृतानि. वेदशाखाश्च कृता. तथाच बुद्धिकल्पितेषु वस्तुषु **अभिधेयापर्यवसानं** वाच्यासमाप्तिः इति अर्थः. बुद्धिस्तु यावज्जीवन्तिषु इति. तथाच कल्पनायाः असमाप्तेः वाचस्य पुराणादेः असमाप्तिः इति भावः. बुद्धिकल्पितस्य असमाप्तौ दृष्टान्तम् आहुः **मरुमरीचिका** इति. मरुमरीचिका बुद्धिकल्पिता यथा अनियता यावज्जीवं न समाप्यते तथा बुद्धिकल्पितानां न नियतत्वम्. ननु भगवतो गुणानामपि यावज्जीवं वर्णने समाप्तिः नेति प्रकृतेऽपि अयं दोषः इति

प्रकाशः

ज्ञाते तदपि भक्तिमेव जनयिष्यति इति भावः. एवं पूर्वोक्तखेदनिवृत्त्यर्थं भगवद्गुणस्मरणं साधनम् उपदिष्टम् ।।१३।।

ततो अन्यथा इत्यत्र. **विपरीते बाधकम् आह** इति. अधिकारसार्थक्यनिष्पादकं भगवच्चेष्टितोपदेशरूपं साधनान्तरम् उपदेष्टुं चरित्रातिरिक्तकथने बाधकम् आह इति अर्थः. बाधकम् उपपादयन्ति **अभिधेयेत्यादिना**. **नियतत्वाभावाद्** इति, बुद्धिकल्पितत्वेन स्थिरत्वाभावात्. तथाच एकैकस्य धर्मादेः बुद्धिकल्पितत्वेन आनन्त्याद् एकस्यापि स्वरूपं

लेखः

अभिधेयापर्यवसानम् इति. कर्मादिवस्तुषु एकस्य फलस्य इदमित्थतया नियमेन असिद्ध्या मरुमरीचिकादर्शनेऽपि पिपासोः अनिवृत्तिरिव कर्मादिभ्यो न स्वास्थ्यम् इति अर्थः. ननु यथा कर्माद्यनैयत्यदर्शनात् तत्र व्यामोहः तथा भगवतोऽपि गुणादिभिः कृत्वा अनेकरूपत्वेन अनैयत्यमेव, ''नान्तोऽस्ति मम दिव्यानाम्'' (भग.गीता १०।४) इति वाक्याद्, इत्यतः आहुः

नियतत्वाभावात्. भगवतो गुणानाम् अनन्तत्वेऽपि नियतत्वम्. अतः कार्याऽसमाप्तिशङ्कया प्रथमतएव अन्यद् न आरम्भणीयम्. किञ्च विचारदशायामपि दुःखात्मकत्वात् तद्विचारिका बुद्धिरपि दुःखिता भवति,

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

आशङ्क्य आहुः **भगवतः** इति. अनन्ताअपि यावन्तः सिद्धौ अनन्ताः एतावन्तः सन्ति, नतु ततोऽधिका बुद्ध्या कल्पयितुं शक्यन्ते इति अर्थः. तथाच बुद्धिकल्पितेषु पदार्थेषु एकस्यामपि कल्पनायां क्रियमाणायां यावज्जीवसमाप्तिः, भगवद्गुणस्तु एकोऽपि वर्णनया समाप्तश्चेत् तदा गुणवर्णनसमाप्तिः भवति इति भावः. फलितार्थम् आहुः **अतः** इति. **कार्यं** पुराणादयः. **असमाप्तिस्तु** बुद्धिकल्पितकथनेन. तथाच पुराणादिकं कर्तव्यमेव न (इति!) स्थितम् इति भावः. तथाहि "अनारम्भो मनुष्याणां प्रथमं बुद्धिलक्षणम्, आरब्धस्यान्तगमनं द्वितीयं बुद्धिलक्षणम्" (समयोचित पद्यमालिका ७।३१) इति. एवञ्च उक्तयुक्तेः भगवद्गुणान्यवर्णनं न कर्तव्यम् इति **ततोऽन्यथा** इत्यस्य अर्थः इति भावः. **ततोऽन्यथा** इत्यस्य व्याख्यानान्तरम् आहुः **किञ्च** इति. **दुःखात्मक** इति, भगवच्चरित्रान्यस्य विचारदशायामपि दुःखात्मकत्वम् इति अर्थः. **तद्विचारिका** इति, भगवच्चरित्रान्यविचारिका

प्रकाशः

न सम्यग् निरूपयितुं शक्यं, "कर्मण्यकर्म यः पश्येद्" (भग.गीता ४।१८) इतिवत् च तथा, इति अभिधेयापर्यवसानम् अतिरिक्तकथने बाधकम् इति अर्थः. ननु भगवद्गुणेष्वपि आनन्त्यस्य भवद्भिः उक्तत्वाद् अयं दोषः तत्रापि तुल्यः इति चेत्, तत्र आहुः **भगवतः** इत्यादि. तथाच बुद्धिकल्पितत्वाभावेन स्थिरत्वात् तेषां सम्यक्कथनं सम्पद्यतइति न तत्र अयं दोषः इति अर्थः. **अतः** इति निरूपणीयविषयेयत्ताभावात्. दोषान्तरम् आहुः **किञ्च** इत्यादि. **दुःखात्मकत्वाद्** इति. "अतोऽन्यदार्तम्" (बृहदा.उप. ३।४।२) इति श्रुतेः तथा इति अर्थः. एवं वैयासज्ञानस्य

लेखः

भगवतः इत्यादि. तथाच "यदेकमव्यक्तमनन्तरूपम्" (महाना.उप. १।५) इति वाक्याद् विरुद्धधर्माश्रयत्वेन लोकोत्तरत्वाद् न तत्साम्यम् इति भावः.

तद् आह **अन्यथा** इति. **ततो** भगवच्चरित्रात्. यद्यपि सर्वमेव भगवच्चरित्रं तथापि भगवच्चरित्रत्वेन अनिरूपणात् तत्त्वेऽपि न तथात्वम् इति आह **अन्यथा** इति. **किञ्चन** इति अव्ययसमुदायः, यत्किञ्चिद् इति अर्थः ; अनादरणीयम् इति वाक्यसमाप्तिः. तद् अनूद्य दूषयति **यद्विवक्षतः**[१] इति.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इति अर्थः. **पृथग्दृशः** इत्येतस्य व्याख्याने बुद्धेः दुःखित्वं स्फुटीभविष्यति इति. **ततोऽन्यथा** इत्यस्य अन्यद् व्याख्यानम् आहुः **यद्यपि** इति. **सर्वम्** इति, पुराणाद्युक्तं सर्वं **भगवच्चरित्रमेव** इति अर्थः. **तत्त्वेऽपि न तथात्वम्** इति. **तत्त्वेऽपि** भगवच्चरित्रत्वेऽपि **न तथात्वं** न भगवच्चरित्रत्वम् इति अर्थः. यद् मुख्यतया भगवच्चरित्रत्वेन निरूप्यते तदेव भगवच्चरित्रम् इति भावः. तथाच पुराणाद्युक्तं चरित्राद् अन्यथा इति भावः. **समुदायः** इति, समूहः इति अर्थः. पक्षत्रयेण व्याख्यातस्य **ततोऽन्यथा** इत्यस्य फलितार्थम् आहुः **अनादरणीयम्** इति. यत् चरित्राद् अन्यथा तद् न आदरणीयम् इति अर्थः. वाक्यसमाप्तिस्तु **ततोऽन्यथा, किञ्चन** इत्येतावद् भिन्नं वाक्यम्. तथाच एतस्य अग्रिमवाक्येभ्यो भिन्नएव सम्बन्धः इति अर्थः. **तदनूद्य** इति, **तत्** पूर्ववाक्यार्थम् **अनूद्य** अनुवादं कृत्वा इति अर्थः. **तत्र** इति,

प्रकाशः

स्वरूप-खिलत्व-बोधकं दोषद्वयम् उक्त्वा मूलव्याख्यानेन स्फुटीकुर्वन्ति **तदाह** इत्यादि. **अन्यथा** इति आनन्दरूपात् चरित्राद् अन्यप्रकारकम्. ननु वास्तवविचारे तु न दोषः इति शङ्कायां तदविचारएव दोषः इति आहुः **यद्यपि** इत्यादि. ननु अस्तु अयं दोषः, परं तस्य कथं निवृत्तिः इति आकाङ्क्षायां **किञ्चन** इत्यस्य फलितार्थं वदन्तः तन्निवृत्तिप्रकारम् आहुः **अनादरणीयम्** इति. अत्र **ततो अन्यथा** इति उद्दिश्य **किञ्चन** इति अनादरणीयत्वं विधीयतइति अनादरणीयत्वकथनादेव **वाक्यसमाप्तिः** इति तद्दोषनिवृत्तिः

लेखः

तत्त्वेपि इति, भगवच्चरित्रत्वेऽपि इति अर्थः. **भगवत्त्वेन स्तोत्रे** इति

---

१. यद्विवक्षित इतीति क-ग.

वचनानन्तरं मध्ये वा दुःखं भविष्यति इति किं वक्तव्यं, तद्वक्तुम् इच्छतएव भवति. तत्र हेतुः **पृथग्दृशः**. भगवत्त्वेन स्तोत्रे तत्पर्यवसानाभावाद् भिन्नतया निरूपणम् आवश्यकम्. तथाच भगवद्धर्माऽस्फुरणाद् अन्यत्र उत्कर्षाभावाद् अविद्यमानविवक्षायां (**मतिः दुःस्थिता!**) बुद्धिः दुःस्था भवति. किञ्च

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इच्छायामेव दुःखे हेतुः इति अर्थः. व्यासकृत-पुराणादिषु निरूपितस्य अर्थस्य भगवद्धर्मात् पृथक्त्वम् उपपादयन्ति **भगवत्त्वेन** इत्यारभ्य **आवश्यकम्** इत्यन्तेन. **भिन्नतया निरूपणं** भगवद्धर्माद् भिन्नतया निरूपणम् इति यावत्. तथाच पुराणादिषु भगवद्धर्मभिन्न-पदार्थनिरूपणम् इति तु **आवश्यकम्** अवश्यं वक्तव्यम् इति अर्थः. भिन्नत्वे हेतुः **भगवत्त्वेन** इत्यारभ्य **अभावाद्** इत्यन्तः. **स्तोत्रे** पुराणादिषु फलस्तुतौ **तत्पर्यवसानं** फलपर्यवसानम्. तथाच भगवत्त्वेन फलपर्यवसानाभावाद् इति अर्थः. फलपर्यवसानन्तु फलस्तुतौ फलत्वेन भगवत्कथनम्. एवञ्च पुराणादिषु भगवान् फलत्वेन न उक्तइति तेषु न भगवद्धर्मनिरूपणम् इति सिद्धम्. इत्थञ्च **पृथग्दृशः** इत्यस्य **पृथग्** भगवद्धर्मभिन्न-पदविषयकं **दृग्** ज्ञानं यस्य स तथा, तस्य बुद्धिः **दुःस्थिता** भवति इति मूलार्थः. **पृथग्दृशः** इत्येतस्य बुद्धिदुःखहेतुत्वम् उपपादयन्ति **तथाच** इति. **अन्यत्र** इति, पुराणादिनिरूपिते अर्थे इति अर्थः. यद् वा भगवद्धर्माद् अन्यत्र इति अर्थः. **अविद्यमान** इति. उत्कृष्टं हि वक्तुम् इच्छा भवति. तथाच उत्कृष्टास्फुरणाद् इच्छाविषयस्य अविद्यमानता इति भावः. एवञ्च इच्छाविषयाप्राप्त्या बुद्धिः दुःस्था भवति इति अर्थः.

प्रकाशः

इति अर्थः. **तदनूद्य** इति, अन्यथाकथितम् अनादरणीयत्वेन अनूद्य. **तत्पर्यवसानाभावाद्** इति भगवत्पर्यवसानाभावात्. **दुःस्था** इति दुःखिता; **दुःस्थितपदस्य** अयम् अर्थः उक्तः. अनास्पदत्वे हेतुम् आहुः **किञ्च**

लेखः

अन्यपदार्थस्य इति शेषः. भगवत्त्वज्ञानेन स्तोत्रकरणे बुद्धेः पर्यवसानाभावाद् इति अर्थः. **भिन्नतया** भगवद्भिन्नतया. **अविद्यमानविवक्षायाम्** इति. तत्र मूर्त्यादौ अविद्यमानस्य भगवतो विवक्षायाम् इति अर्थः ॥१४॥

तत्कृतानि पृथग्दर्शनकृतानि पदार्थान्तरस्य **रूपनामानि,** न भगवत्कृतानि. ततः च सिद्धत्वाभावात् स्वयं कृत्वा स्वयं निरूपणे स्वयमेव पर्यवसानम् इति **कर्हिचिदपि** [१]कस्मिंश्चित् काले (**क्वापि!**) कस्मिंश्चिद् देशे **च** बुद्धिः **आस्पदं न लभेत,** सर्वस्यापि बुद्धिकृतत्वात्. अन्यद् अन्यस्य (इव!) आस्पदं न[२] भवति. अब्रह्मत्वेन स्वाश्रयत्वाभावात् च. (**दुःस्थिता!**) दुःखेन स्थिता, दुष्टतया वा स्थिता. स दोषो वायुवत् सर्वतारिकां बुद्धिं नौकामिव न अभीष्टदेशं प्रापयति इति आह **वाताहतेति. आहता** घूर्णिता. एवम् अपर्यवसानेन बुद्धिदुःखदातृत्वेन च अन्यद् न वक्तव्यम् इति उक्तम् ॥१४॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

यद्वा स्वबुद्धिकल्पित-पदार्थविवक्षायाम् इति अर्थः. **तत्कृत** इति पदं व्याचष्टे **किञ्च** इति. **पृथग्दर्शन** इति. भगवद्धर्मभिन्न-पदार्थविषयकज्ञानेन तत्कृतानि इति अर्थः. तथाच भगवद्बुद्धिकल्पितानि इति भावः. **सिद्धत्वाभावाद्** इति, पूर्वम् अस्थिततत्वाद् इति अर्थः. **स्वयमेव** इति, एतादृशनिरूपणस्य स्वयमेव पर्यवसानं, न ब्रह्म इति अर्थः. तथाच युक्तएव आस्पदालाभः इति भावः. **बुद्धिकृत** इति, बुद्धिकल्पितत्वाद् इति अर्थः. आस्पदालाभे युक्तिम् आहुः **अन्यद्** इति. नहि घटो घटे तिष्ठति, तथा बुद्धिरपि बुद्धौ न इति अर्थः. ननु बुद्धिः बुद्धौ तिष्ठतु इति आशङ्क्य आहुः **अब्रह्म** इति. ब्रह्मभिन्ने स्वाधारत्वं नास्ति इति भावः. **वायुवद्** इति. नौकायां यथा वायुः तथा अत्र दुःस्थिततत्वाख्यो दोषः. बुद्धौ नौकासाम्यम्

प्रकाशः

इत्यादि. **पृथग्दर्शनकृतानि** इत्यादि. प्रवाहे पदशक्त्यादरणात् तन्नित्यत्वे अभ्युपगते पदार्थानाम् अनित्यत्वात् तथा इति अर्थः. **स्वयम्**पदेन अत्र बुद्धिः ज्ञेया सर्वत्र. **अन्यद्** इत्यादि. तथाच अन्यस्य कल्पिततत्वेन अभिन्नत्वाद् बुद्धेः आस्पदालाभः इति अर्थः. एवं दृष्टिसृष्टिवादइव आपद्यतइति अर्थान्तरम् आहुः **दुःखेन स्थिता** इत्यादि ॥१४॥

---

१. क्वापि कस्मिंश्चिदिति क-घ.   २. नेति नास्ति क-ग-ङ.

इदानीं प्रतारकशास्त्रवद् अन्यकथनं पापहेतुः इति आह.

जुगुप्सितं धर्मकृतेऽनुशासतः स्वभावरक्तस्य महान् व्यतिक्रमः ।।
यद्वाक्यतो धर्म इतीतरः स्थितो न मन्यते तस्य निवारणं जनः ।।१५।।

जुगुप्सितम् इति. यथा "अपेयपानादिकं धर्मः" इति बोधकस्य नरकपातः तथा "देहादिषु आत्माध्यासं कृत्वा तन्निर्वाहार्थं यतनीयम्" इति वक्तुः नरकपातः. ननु दुष्टत्वात् स्वतएव लोको न[१] प्रवर्तेत ; किं कथनेन अनिष्टं स्याद् इत्यतः आह **स्वभावरक्तस्य** इति. "अनुरक्तो गुणान् ब्रूते विरक्तो दूषणान् यथा" (. । ।) इति न्यायाद् रागे विद्यमाने न दोषस्फूर्तिः. तस्यच स्वाभाविकत्वे ज्ञाते कदाचिद् न प्रवर्तेतापि, धर्मत्वेऽपि ज्ञाते कदाचिदपि न निवर्तेत इति भगवदाज्ञोल्लङ्घनरूपो **महान् व्यतिक्रमः**. कूपे अन्धपातनेन वा. ननु अन्यो निवारयतु, तथाच फलाभावाद्[२] न अतिक्रमो भविष्यति इत्यतः आह **यद्वाक्यतः** इति. **इतरः** स्वतो विचाराक्षमः पुरातनवक्तृ-विश्वासाद् "**धर्मो** अयम्" **इति** (**स्थितो**!) निश्चितबुद्धिः (**तस्य निवारणं**!) अन्येन अस्मदादिना क्रियमाणं

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

आहुः **सर्व** इति. उपसंहरति **एवम्** इति. **अपर्यवसानेन** वाच्यासमाप्त्या इति अर्थः ।।१४।।

जुगुप्सितम् इत्यत्र. **तथा देहादिषु** इति. अयमपि जुगुप्सितधर्मकथने दृष्टान्तएव. यथा अपेयपानप्रवर्तकस्य नरकः **तथा** तेन प्रकारेण यथा अध्यासनिर्वाहकस्य नरकः तथा जुगुप्सितकर्मवक्तुः नरकपातः इति अभिप्रायः. यद्वा **तथा देह** इति. भक्तेः उपदेशाभावाद् अध्यासो दृढएव कृतः, तं कृत्वा कर्मोपदेशात् शरीरान्तरस्य अवश्यं भाव्यत्वाद् अध्यासनिर्वाहार्थं **यतनीयम्** इत्यस्य अर्थस्य फलितत्वाद् एतद्वक्तुः इति अर्थः. तथाच नित्यबन्धनक-कर्मोपदेष्टुः नरकपातो युक्तएव इति भावः. **अनिष्टं स्याद्** इति, जुगुप्सितधर्मकथनेन का क्षतिः स्याद् इति अर्थः. **फलाभावाद्** इति. कथनस्य फलं प्रवृत्तिः, तस्याः अभावाद् इति अर्थः. **जनपदस्य**

---

१. नेति नास्ति क-घ-ङ. २. फलभावादिति क-घ-ङ.

निषेधं **न मन्यते**. यतो **जनः**[1] जननधर्मा जननएव अभिरतः. बहुधा श्रुत्वापि निषेधम्– ऊर्ध्वरेतसां प्रशंसेति वेदानधिकृतविषयः इति समप्रामाण्येऽपि– विकल्पः इति मन्यते नतु निषिद्धत्वेन. तथाच आपस्तम्बः — "ऊर्ध्वरेतसां प्रशंसा" इति. तथाच भट्टाः — "ये अन्धपङ्ग्वादयो नराः गार्हस्थ्यानर्हाः ते संन्यासादौ अधिकारिणः" इति. विकल्पो वा उभयं ब्राह्मणम् इतिवत्[2] ॥१५॥

ननु तथापि मीमांसाद्वयेन मार्गद्वयस्य सिद्धत्वात् किम् अनेन तृतीयेन इति आह.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

वाच्यार्थं च आहुः **यतो जनः** इति. अन्धस्य विषयव्यवस्थाम् आहुः **बहुधा** इति. समबलं प्रमाणद्वयम् आहुः **तथाच** इति. द्वितीयं प्रमाणम् आहुः **तथाच** इति. **विकल्पो वा** इति. विषयव्यवस्था कर्तव्या, विकल्पो वा वक्तव्यः इति अर्थः. विकल्पस्य स्थलम् आहुः **उभयम्** इति ॥१५॥

मीमांसा इति. पूर्वमीमांसोत्तरमीमांसाद्वयेन इति अर्थः. **मार्गद्वयन्तु**

प्रकाशः

जुगुप्सितम् इत्यत्र. **भट्टा** इति. "तत्रैवं शक्यते वक्तुं येऽन्धपङ्ग्वादयो नराः, गृहस्थत्वं न शक्ष्यन्ति कर्तुं तेषामयं विधिः, नैष्ठिकब्रह्मचर्यं वा परिव्राजकतापि[3] वा, तैः अवश्यं ग्रहीतव्या तेन आदौ एतद् उच्यते" (तन्त्रवार्ति. १।३।४) इति मतान्तरोपन्यासे आहुः इति अर्थः ॥१५॥

लेखः

जुगुप्सितम् इत्यत्र. **समप्रामाण्येऽपि** इति. निवृत्ति-प्रवृत्त्योः उभयोरपि वेदबोधितत्वात् समं प्रामाण्यम् इति अर्थः. **उभयं ब्राह्मणवद्** इति. यथा ब्राह्मणवाक्यं "व्रीहिभिः यजेत" (आप.श्रौ.सूत्र ६।३१।१४) "यवैः यजेत" (आप.श्रौ.सूत्र ६।३१।१३) इति द्वयं श्रूयते इति कदाचिद् यवैः कदाचिद् व्रीहिभिः यष्टव्यम् इति विकल्पः तथा इति अर्थः ॥१५॥

---

१. मुद्रितपाठे नास्ति. शोधितस्तु टिप्पण्यनुरोधात् - सम्पा. २. ब्राह्मणमिति वचनादिति ग. ब्राह्मणवदिति पाठः लेखे - सम्पा. ३. -ताथवा इति मुद्रितपाठः तन्त्रवार्तिकपाठानुरोधाद् संशोधितः - सम्पा.

विचक्षणोऽस्यार्हति वेदितुं विभोरनन्तपारस्य निवृत्तितः सुखम् ॥
प्रवर्तमानस्य गुणैरनात्मनस्ततो भवान् दर्शय चेष्टितं विभोः ॥१६॥

विचक्षणः इति. आत्मसुखं हि निवृत्तिमार्गे प्रकटीभवति, ब्रह्मसुखं च, परं शुकवत् सर्वपरित्यागिनः. वैराग्यं च न इदानीन्तनानां सम्भवति. तदर्थं च[१] नूतनप्रयत्ने "तद्धेतोरेवास्तु किं तेन[२]" (लौ.न्या.सा. ३९) इति न्यायेन स्वतन्त्रएव अयं मार्गो अस्तु इति अभिप्रायेण आह. **विचक्षणः** कश्चिदेव **अस्य** भगवतः **अनन्तपारस्य** देश-कालापरिच्छिन्नस्य

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

निवृत्ति-प्रवृत्तिभेदेन. **विचक्षणः** इत्यत्र. **आत्मसुखम्** इति. प्रवृत्तिमार्गे कर्मणा आत्मसुखं प्रकटीभवति, निवृत्तिमार्गे ब्रह्मसुखम् इति अर्थः. **नूतनप्रयत्ने** इति, कर्तव्ये सति इति अर्थः. मार्गद्वये सत्यपि वैराग्यार्थं नूतनपदार्थः कश्चन अपेक्षितः. तथाच वैराग्यनिरपेक्षं मोक्षसाधकं वा पदार्थान्तरं मिलति चेत् तदा तेनैव चारितार्थ्यमिति अलं मार्गद्वयेन इति. **नूतन** इत्यारभ्य **मार्गोऽस्तु** इत्यन्तस्य अयम् अभिप्रायः. **निवृत्तितः** इत्येतस्य व्याख्यानं **सर्वेहोपरतितनुः** इति. सर्वचेष्टानाम् उपरतिः विरामो यस्याम् इति, निश्चेष्टशरीरः इति यावत्. **तनुपदेन** सर्वसमुदायो गृहीतः. एवञ्च निरीहमना इत्यपि

प्रकाशः

विचक्षणः इत्यत्र. **इत्याह** इति, इति शङ्कायां तृतीयस्य प्रयोजनम् आह इति अर्थः. **निवृत्तिमार्गे** इति निष्कामं कर्म कार्यम् इति मार्गे. **ब्रह्मसुखं च** इति, ज्ञानमार्गे इति अर्थः. **निवृत्तिमार्गे** इत्यनेनैव विधान्तरस्यापि सङ्ग्रहाद् न तस्य पृथगुक्तिः. **प्रयत्ने** इति कर्तव्ये इति शेषः. **अस्तु** इति. "न निर्विण्णो नातिसक्तः" (भाग.पुरा. ११।२०।८) इति पृथगुक्तत्वाद् अस्तु इति अर्थः. **निवृत्तितः सुखम्** इत्यस्य अर्थः **सर्वेहोपरतिस्तनुः सुखम्** इति. "सुखमित्यात्मनो रूपं सर्वेहोपरतिस्तनुः" (भाग.पुरा. ७।१३।२६) इति सप्तमस्कन्धे दत्तवाक्यात्[३] **सर्वेहोपरतिः तनुः** स्थापिका यस्य इति

१. वा इति ख. २. 'तस्य' कपालादेः 'हेतोः' मृदादेः 'एव तद्' घटकारणत्वम् 'अस्तु, किं तेन' अन्तर्गडुना कपालादिरूपेण कार्येण इति न्यायः - सम्पा.

३. वाक्याद् इति मुद्रितपाठः. कि.पाठे तु एवम् - सम्पा.

(**निवृत्तितः** !) सर्वेहोपरतितनुः **सुखं वेदितुम् अर्हति**. तावतापि न कार्यसिद्धिः इति आह **विभोः** इति. **अनात्मनो** देहादेः **गुणैः** विषयैः **प्रवर्तमानस्य न तत्सुखम्** इति **पूर्वेण** सम्बन्धः. **न** इति अध्याहारः. अथवा तस्य **निवृत्तितः** तत्सङ्गाभावेन, नतु तेषामपि कृतार्थकरणे समर्थः. यद्वा **प्रवर्तमानस्य**

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

ज्ञेयम्. **न कार्यसिद्धिः** इति. ज्ञानम् अस्तु, सम्पूर्णप्राप्तिः न इति अर्थः. **पूर्वेण** इति, पूर्वार्धेन इति अर्थः. अनध्याहारेण व्याख्यानम् आहुः **अथवा** इति. **तस्य** इति, देहादिगुणैः प्रवर्तमानस्य इति अर्थः. **निवृत्तितः** इत्यस्य अर्थः सङ्गाभावः. तथाच प्रवर्तमानस्य सङ्गाभावेन **सुखं वेदितुम् अर्हति** इति सम्बन्धः. एवञ्च 'न' इत्यस्य न अध्याहारः. एतदाशयम् आहुः **नतु** इति. प्रकारान्तरेण सम्बन्धम् आहुः **यद् वा** इति. **प्रवर्तमानस्य**

प्रकाशः

अर्थः. **निवृत्तितः** इति सार्वविभक्तिकः तसिः प्रथमार्थे. तथाच **सर्वेहोपरतिः** निष्क्रियत्वं **तनुः** आकारो यस्य तादृशं सुखम् इति अर्थः. वाक्यसिद्धत्वाद् एवंशब्दः उक्तः. **तावतापि** इति, तादृशसुखज्ञानेऽपि इति अर्थः. **विभोः** इति. विष्णुः प्रभुः स्वतन्त्रः. तथाच ज्ञातेऽपि सुखे तददित्सायां तत्प्राप्त्यभावाद् न कार्यसिद्धिः इति अर्थः. उत्तरार्धं व्याचक्षते **अनात्मनः** इत्यादि. **पूर्वेण** इति पूर्वार्धे उक्तेन **सुखपदेन**. अध्याहारदोषाभावाय योजनान्तरम् आहुः **अथवा** इत्यादि. **अनात्मनो गुणैः प्रवर्तमानस्य निवृत्तितः** तत्सङ्गाभावेन **अनन्तपारस्य विभोः सुखं वेदितुं** को **विचक्षणो अर्हति** इति, **नतु तेषाम्** अनात्मगुणानां तथा **करणे समर्थः**. **ततः** तदर्थं **भवान्** दीप्तिमान् त्वं **विभोः चेष्टितं दर्शय** इति योजना. अस्मिन् पक्षे दूरान्वयदोषात् पक्षान्तरम् आहुः **यद् वा** इति. तथाच आत्मनो **निवृत्तिः सुखं** पूर्वोक्तो

लेखः

विचक्षणः इत्यत्र. **सर्वेह-** इति. सर्वेहानाम् उपरतिः यस्याः तादृशी तनुः इति अर्थः. **न कार्यसिद्धिः** इति आप्तानां भगवद्यशोवर्णनरूप-कार्यसिद्धिः. **अथवा तस्य निवृत्तितः** इति. तथाच **गुणैः प्रवर्तमानस्य** पुरुषस्य **निवृत्तितः सुखं** भवति इति मूलयोजना इति भावः. **नतु तेषाम्** इति. **तेषां**

अर्थे तत्सम्बन्धी वा **भवान्,** तदर्थं यत्नकरणात्. तदुद्धारार्थं (**विभोः चेष्टितं दर्शय!**) भगवद्गुणाः वक्तव्याः इति अर्थः. निर्वाहकम् आह

गोकुलनाथानां टिप्पणी

(अर्थे!) निमित्तं **विभोः चेष्टितं दर्शय** इति वा सम्बन्धः इति अर्थः. व्याख्यानान्तरम् आहुः **तत्सम्बन्धी** इति. **प्रवर्तमानस्य भवान्** इति वा व्याख्येयम्. **तत्सम्बन्धी** इति षष्ठ्यर्थः उक्तः. तेन सह व्यासस्य सम्बन्धं ज्ञापयन्ति **तदर्थम्** इति. प्रवर्तमानस्य जनस्य निमित्तं शाखादयः कृताः इति व्यासस्य तेन सह सम्बन्धः. तथाच षष्ठ्यर्थो युक्तः इति भावः. **तदुद्धारार्थम्** इति. भवत्कृत्येनैव प्रवृत्तौ पतितानाम् उद्धारनिमित्तं भगवद्गुणाः कथनीयाः इति अर्थः. **निर्वाहकम्** इति, भगवद्गुणानां सर्वोद्धारनिर्वाहकत्वे बीजभूतं विशेषणम् **आह** इति अर्थः ॥१६॥

प्रकाशः

वेदितुं योग्यः, नतु एतादृशः[१]. **ततो** हेतोः **प्रवर्तमानस्य अर्थे दर्शय** इति अर्थः. एवमपि तादर्थ्यस्य सम्बन्धत्वेन विवक्षायां षष्ठी इति क्लेशात् पक्षान्तरम् आहुः **तत्सम्बन्धी वा** इति. **विधिः निरूपितः** इति. एतेन अस्मिन्नपि सिद्धान्ते धर्मत्वम् इति प्रतिभाति ॥१६॥

लेखः

प्रवृत्तिनिष्ठानां **कृतार्थकरणे** निवृत्तिमार्गो **न समर्थः** इति अर्थः. अतएव तन्निवृत्तिः उक्ता इति भावः. अस्मिन् पक्षे प्रवृत्तिनिष्ठानाम् उद्धारः कदापि न प्राप्तइति अरुच्या तानपि संग्रहीतुं पक्षद्वयान्तरम् आहुः **यद्वा प्रवर्तमानस्य** इत्यादि. अत्र पक्षे **प्रवर्तमानस्य** इति षष्ठी **अर्थ**शब्दसापेक्षा. सच मूले अनुक्तोऽपि आक्षिप्तो ज्ञेयः. तथा च **प्रवर्तमानस्य** पुरुषस्य अर्थे **चेष्टितं दर्शय** इति मूलयोजना. **तत्सम्बन्धी वा** इति. **गुणैः प्रवर्तमानस्य भवान्** इति मूलसम्बन्धे इति भावः. ननु व्यासस्य प्रवृत्तिमार्गसम्बन्धित्वं कथम् अतः आह **तदर्थम्** इति. स्वस्वभावतः प्रवृत्तानां जीवानाम् अर्थे इति अर्थः ॥१६॥

१. अतादृशः इति कि.पाठः - सम्पा.

विभोः इति. एवं चतुर्भिः श्लोकैः उपक्रमोपसंहाराभ्यां चरित्रकथने विधिः निरूपितः ॥१६॥

तस्य मीमांसाम् आह द्वाभ्याम्.

त्यक्त्वाऽस्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि ॥
यत्र क्व वा भद्रमभूदमुष्य किं को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः ॥१७॥
तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो न लभ्यते यद् भ्रमतामुपर्यधः ॥
तल्लभ्यते दुःखवदन्यतः सुखं कालेन सर्वत्र गभीररंहसा ॥१८॥

त्यक्त्वा इति. ननु भगवत्कथा केन श्रोतव्या? किं धर्मकर्तृभिः, लौकिकैः, अधर्मकर्तृभिः वा? तत्र आद्यस्य अनवकाशः. द्वितीयस्य लौकिकव्यापारेण आविष्टस्य न प्रवृत्तिः. तृतीये दुष्टाधिकारित्वाद् असच्छास्त्रता स्यात्, सर्वाधिकारित्वाद्[1] न निवृत्तिमार्गनिष्ठत्वं, तथा सति वा[2] अवक्तव्यम् इति. तत्र उच्यते— धर्मकर्तृभिरेव श्रोतव्यं, परं धर्मपरित्यागेन, "जन्मान्तरसहस्रेषु" (पाण्डवगीता ४१) इति भगवद्वाक्यात्. यथा निवृत्तिमार्गे धर्मत्यागः तथा अत्रापि "तावत्कर्माणि कुर्वीत" (भाग.पुरा. ११।२०।९)

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

त्यक्त्वाऽस्व इत्यत्र **सर्वाधिकारत्वाद्** इति. सर्वेषाम् अधिकारो यस्मिन् तत् सर्वाधिकारं शास्त्रम्. तथाच शास्त्रस्य **निवृत्तिमार्गनिष्ठत्वं नास्ति, सर्वाधिकारत्वाद्** इति अर्थः. अधिकारित्वावच्छिन्नाभावे दूषणान्तरम् आहुः **तथा सति** इति. सर्वेषाम् अश्रोतव्यत्वाद् अकथनीयमिव स्याद्

प्रकाशः

त्यक्त्वा इत्यत्र. **तथा सति** इति सर्वाधिकारवत्त्वेन जघन्यत्वे सति. **जन्मान्तरे**त्यादि. अस्मिन् वाक्ये भक्त्युद्भवस्य उक्तरीत्यां पापापक्षये[3] उक्तत्वाद् लौकिकाधर्मिणोश्च पापक्षयाभावाद् अर्थबलेन कर्मकर्तुः अधिकारलाभइति विरोधात् तथा इति अर्थः. एवं लब्धेऽपि अधिकारे तुल्यबल-श्रवणाशक्तिरिति तत्परिहाराय आहुः **यथा** इत्यादि. **अत्रापि** इति विहितभक्तिमार्गेऽपि.

१. सर्वाधिकारत्वाद् इति टिप्पणीपाठः - सम्पा. २. वै इति टिप्पणीमातृकान्तरपाठः - सम्पा.

३. पापक्षये इति मुद्रितपाठः. कि.पाठे तु एवम् - सम्पा.

इति भगवद्वाक्याद् बाधकानां चिरकालसाध्यानां[१] वा परित्यागः. तथाच **त्यक्त्वा** इति विधिः. “न्यासादेशेषु धर्मत्यजनवचनतः[२]” (न्यासादेश १) इत्यत्र उक्तार्थाः अनुसन्धेयाः. तत्र हेतुः **अस्वधर्मम्** इति, देहादिधर्मं तदधिकारेण वा प्रवृत्तम्. स्वस्यतु जीवस्य दासत्वाद् भगवत्सेवैव स्वधर्मः[३]. “दाशकितवादिकमप्यधीयत एके” (ब्रह्मसूत्र २।३।४३), “ब्रह्म दाशा[४] ब्रह्म कितवा” (अथर्वपीप्पलादसंहि. ८।९।१०) इति. इदं विस्तृतम् अस्माभिः “अंशो नाना व्यपदेशाद्” (ब्रह्मसूत्र २।३।४३) इत्यत्र. **हरेः** भगवतः

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इति अर्थः. निवृत्तिमार्गे धर्मत्यागे प्रमाणम् आहुः **तावद्** इति. **त्यक्त्वा** इत्यस्य कर्मविशेषत्यागो वा अर्थः इति आहुः **बाधकानाम्** इति. यानि कथायां बाधकानि तेषां त्यागः इति अर्थः. बाधकत्वम् आहुः **चिरकाल** इति. **देहाधिधर्मम्** इति. स्वपदेन आत्मा, तथाच स्वभिन्नं धर्मम् इति त्यक्तव्यम् इति अर्थः. हेतुमाहुः **स्वस्य** इति. **दासत्वाद्** इति तु अधिकारे

प्रकाशः

ननु एवं सति आरम्भदशायाम् उच्छृङ्खलतेव आपतति इत्यतः आहुः **बाधकानाम्** इत्यादि. बाधकानि काम्यानि, चिरकालसाध्यानि[५] तीर्थसत्रादीनि ज्ञेयानि. **तथाच** इति. “तावत्कर्माणि” (भाग.पुरा. ११।२०।९) इति वाक्ये कर्मकरणस्य उत्तरावधेः उक्तत्वात् तद्विचारेण इति अर्थः. ननु दासत्वाद्युक्तिः

लेखः

त्यक्त्वाऽस्वधर्मम् इत्यत्र. **दाश-कितवादित्वम्** इति. इदं हि व्याससूत्रैकदेशः. तथा द्वितीयस्य तृतीये पादे सूत्रम् **“अंशो नानाव्यपदेशाद्, अन्यथा चापि दाश-कितवादित्वमपि अधीयत एके”** (ब्रह्मसूत्र २।३।४३) इति. अस्य अर्थः— जीवो ब्रह्मणो **अंशएव**. कुत? **नानाव्यपदेशात्** क्वचिद् ब्रह्मत्वेन क्वचिद् ईशितव्यत्वेन चिद्रूपत्वेन च नानाव्यपदेशात्. न हि एकस्यैव ब्रह्मातिरिक्तस्य सकलरूपत्वं सङ्गच्छते अतो ब्रह्मांशएव

१. वा चिरकालसाध्यानामिति ख-ग. २. त्यागवचनत इति क. ३. धर्म इति ख.

४. ब्रह्मदासा इति ख-ग. ५. -कालासाध्यानि इति मुद्रितपाठः मूलानुरोधात् संशोधितः - सम्पा.

परब्रह्मणो (**चरणाम्बुजं भजन्!**) भक्तिमार्गानुसारेण चरणसेवा जीवानां स्वाभाविको धर्मः. अंशत्वेऽपि अंशिनः सेवा मुख्या. येषामपि एतद् अवास्तवं तेषामपि देहधर्मापेक्षया अन्तरङ्गम्. अत्र मतान्तरम् अनूद्य दूषयति **यदि अपक्वः** इति **अथ यदि पतेद्** इति. जीवस्य दासत्वेन[१]

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

हेतुः उक्तः. ननु जीवस्तु ब्रह्मणो अंशो नतु दासः इति कथं सेवां कुर्याद् इति आशयेन आहुः **अंशत्वेऽपि** इति. मास्तु दासत्वम्, **अंशत्वेऽपि अंशिनः सेवा मुख्या** यथा पुत्रस्य पितुः सेवा तथा इति आशयः. **येषाम्** इति. **येषां** मते सेवादिकम् **अपि अवास्तवं** मिथ्यैव **तेषामपि** मते **देहधर्मापेक्षया** कर्माद्यपेक्षया सेवादिकमेव **अन्तरङ्गं** मुख्यम् इति अर्थः. सगुणोपासनारूपत्वाद् इति भावः. **यद्यपक्वः इति** इति, **अथ यदि पतेदिति. अथ यदि पतेद्** इत्यस्य व्याख्यानन्तु **जीवस्य** इत्यारभ्य

प्रकाशः

श्रुतौ अंशत्वसमर्थनार्था, नतु सेवकत्वार्था, ब्रह्मसूत्रे तथा निर्णयाद् इत्यतः आहुः **अंशत्वेऽपि** इत्यादि. **एतद्** इति अंशत्वम्. **अन्तरङ्गम्** इति, भजनं सगुणोपासनारूपत्वाद् धर्माद्यपेक्षया उत्कृष्टम् इति अर्थः. **भजन्नपक्वः** इति दूषयन्ति **जीवस्य** इत्यादि. **सायुज्यसाधनत्वाद्** इति, "भगवान्

लेखः

जीवः इति अर्थः. **अन्यथापि च** अन्यथा = नानात्वव्यपदेश-व्यतिरिक्त-प्रकारेणापि अंशत्वम् इति अर्थः. कथम् इति चेद्, **दाश** इति. **एके** शाखिनः आथर्वणिकाः अस्य जीवस्य **दाश-कितवादित्वम् अधीयते** पठन्ति इति अर्थः. "यो यदंशः स तं भजेद्" इति न्यायेन भगवद्दासत्वादिश्रावणात् तदंशएव इति अर्थः. तथाच श्रुतिः "ब्रह्मदाशा ब्रह्मदासा ब्रह्म इति कितवा" (अथर्वपीप्पलादसंहि. ८।९।१०) इति. "कैवर्ते दाश-धीवरौ" (अम.कोश १।१०।१५) इति कोशाद् दाशाः कैवर्त-नाविकाः इति यावत्. **दासाः** सेवकाः भृत्याः, **कितवाः** प्रतारणाय सृष्टाः इति अर्थः. **अयमेव**

---

१. दास्यत्वेनेति ख.

स्वधर्मत्वात् पतनशङ्कैव नास्ति, भगवत्सायुज्य-साधनत्वाच्च. अयमेव च तस्य पाकः, फलपर्यवसानात्. यदातु औपाधिकं जीवत्वं तदा अस्वाभाविकाधिकार-कृतत्वाद् अपक्वता स्यात्. तथापि न पतनशङ्का,

---

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

परमोपाधित्वाद् इत्यन्तेन कृतम्. तथाच बहिर्मुखमते भगवत्सेवया पतनं भवति इति आशङ्क्य जीवस्य दासत्वपक्षे पतनं प्राप्तमेव न इति अभिप्रायेण आहुः **जीवस्य** इति. **शङ्कैव नास्ति** इति. "परधर्मो भयावहः" (भग.गीता ३।३५) इति वचनात् स्वधर्मकरणे कथमपि न पातः इति अर्थः. अपतने हेत्वन्तरम् आहुः **भगवत्सायुज्य** इति. **अयमेव** इति. **तस्य** धर्मस्य **अयम्** उक्तः पदार्थो, भगवत्सायुज्यसाधनत्वम् इति यावत्, **पाकः** 'पाक'शब्दवाच्यः इति अर्थः. पाकस्तु उत्कर्षः. तथाच भगवत्सायुज्यसाधनत्वमेव धर्मस्य उत्कर्षः इति भावः. उत्कर्षे हेतुमाहुः **फल** इति. 'फल'पदस्य मुख्यं वाच्यं भगवत्सायुज्यमेव. तथाच तत्पर्यवसन्नं यत् साधनं तदेव उत्कृष्टम् इति भावः. एवञ्च जीवस्य दासत्वपक्षत्वे धर्मस्य पक्वत्वेन पतनं प्राप्तमेव न इति मूले अन्यमतेन **अपक्वः** इति उक्तम् इति आचार्याणाम् आशयः. पतनप्राप्तिस्थलं अनुवदन्ति **यदा तु** इति. तुशब्देन पूर्वोक्तपक्षव्यावृत्तिः. भजनस्य अपक्वतायां हेतुमाहुः **अस्वाभाविक** इति. दासत्वं हि स्वाभाविकं जीवस्य, अन्यथात्वम् अस्वाभाविकम्. तथाच औपाधिकत्वे अस्वाभाविका-

प्रकाशः

भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति" (भाग.पुरा. ५।६।१८) इत्यादिवाक्यैः तथा इति अर्थः. पाताभावेऽपि अपक्वतातु वर्तते इति शङ्कां निराकुर्वन्ति **अयमेव** इति. भजनधर्मएव, सायुज्यसाधनत्वरूपो अर्थो वा. **परमोपाधित्वाद्**

लेखः

च इति. सायुज्यप्राप्तिरूपएव इति अर्थः. **औपाधिकम्** इति. अयम् अर्थः — जीवस्य औपाधिकत्वं हि अत्र भजनोपाधिप्रयुक्तमेव, नतु मतान्तरवद् जीवो मायाद्युपहितः. एवञ्च फलपौष्कल्य-कामनाद्युपाधिना भजने क्रियमाणे स्वाभाविकाधिकार-प्रयुक्तत्वहानिः भजने. नहि तत्र जीवत्वेन भजने प्रवर्तते अपितु फलपौष्कल्यज्ञानेनैव इति तेन **अपक्वता** इति अर्थः. **परमोपाधित्वाद्**

परमोपाधिकत्वात्[१]. **अथ** भिन्नप्रक्रमेण विचार्यते— ब्रह्मभावं प्राप्तस्य न अयं धर्मः इति. तथा सति **पतेत्** पुनः जीवभावं प्राप्नुयात्. तत्रापि

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

धिकारेण कृतत्वाद् भजनरूपधर्मस्य अपक्वता स्यात्, तथा सति पतनं प्राप्तम् इति अर्थः. प्राप्तिम् अनूद्य दूषयन्ति **तथापि** इति. **परमोपाधित्वाद्** इति, ब्रह्मोपाधित्वाद्[२] इति अर्थः. **अंशत्वेऽपि अंशिनः सेवा** इत्यस्य अर्थो अनुसन्धेयः. तथाच जीवस्य औपाधिकत्वेऽपि स्वभावाधिकारकृतमेव धर्मस्य इति भावः. यद्यपि एतस्याः शङ्कायाः समाधानं **यत्र क्व वा भद्रम्** अनेन करिष्यते तथापि इदमपि एकं समाधानम् इति अभिप्रायेण समाहितम् इति ध्येयम्. पूर्वम् उक्तस्य **अथ यदि पतेद्** इति प्रतीकस्य अर्थम् आहुः **अथ भिन्न** इति. प्रक्रमम् आहुः **ब्रह्मभावम्** इति. अयमर्थः— **त्यक्त्वाऽस्वधर्मम्** इत्यनेन धर्मत्यागः उक्तः, तथाच त्यागपूर्वकभजने सर्वेषां पतनशङ्का उक्ता. इदानीं जीवन्मुक्तस्यापि भगवद्भजने कृते पतनं भवति इति भिन्नप्रक्रमेण आशङ्का उच्यते इति अर्थः. बन्धे कारणान्तरं भविष्यति इति आशङ्क्य आहुः **तत्रापि** इति. उपसंहरन्ति **एवम्** इति. **पूर्वावस्था**

प्रकाशः

इति. परं = सगुणं ब्रह्म मीयते अनेन इति **परमः**, तादृशोपाधित्वाद् इति

लेखः

इति. परः फलदाता मीयते अनेन इति तथा. नहि फलाभिकाङ्क्षाम् अन्तरा फलम् उदेति, नवा फलोदयम् अन्तरा फलदातुः निश्चयः. तस्मात् परमोपाधित्वात् फलाभिसन्धानस्य, सर्वैरेव प्रायशः फलकामनायामेव प्रवर्तनाद्, भक्तिमार्गाद् न भ्रंशः इति अर्थः. परन्तु परमफलस्य अभावो, भगवतः सर्वथा प्रसन्नाभावाद् इति ज्ञेयम्. **ब्रह्मभावं प्राप्तस्य** इति. तथाच सेवादिना ब्रह्मभावापर्यवसानेतु पातएव इति अभिप्रायः. **जीवभावम्** इति, जीवभावप्राप्तिरेव ब्रह्मात्मभावाद् भ्रंशः इति भावः.

---

१. परमोपाधित्वाद् इति पाठः मुद्रिते टीकासु च. भा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

२. ब्रह्म उपाधिः यस्य स इति ब्रह्मोपाधिः जीवः औपाधिकद्वैताद्वैतवादेन शंकासमाधाने - सम्पा.

भजनाद् न अन्यतः इति आह **ततः** इति. एवम् अपक्वपक्षं, ब्रह्मभावात् च भ्रंशपक्षम् अनूद्य दूषयति **यत्र क्व वा** इति. साक्षाद् भगवत्सायुज्यहेतु-भगवत्सेवायामपि[१] यदि पातः तदा **क्व** साधनान्तरे तस्य **भद्रं (अभूद्!)** भविष्यति? साधनं हि पूर्वावस्थासाध्यमेव. **वा** इति अनादरे, क्वापि साधने तस्य भद्रं न भविष्यति इति अर्थः. यदा स्वाभाविकभजन-ज्ञानादीनां न पुरुषार्थपर्यवसायित्वं तदा दूरापास्तम् अन्यधर्माणाम् इति आह **को वा अर्थः आप्तो अभजतां स्वधर्मतः** इति. **अभजताम्** असेवकानां केवलदेहाद्यध्यासेन प्रवृत्तानां लौकिकानां ब्राह्मण्याद्यधिकारेण प्रवृत्तानां वैदिकानां च ये धर्माः ते वस्तुतः सतां परधर्माः. ततः च अन्यधर्मैः को वा अर्थः प्राप्तः तैरपि को वा अर्थः प्राप्तः इति **स्वशब्देन** उच्यते. अभजतां हि फलं ब्रह्माण्डस्य

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इति, बन्धदशासाध्यमेव इति अर्थः. तथाच दशातोऽपि विशेषः साधनेषु वक्तुं न शक्यः इति भावः. अन्यमार्गीयानां स्वरूपम् आहुः **केवल** इति. तेषाम् अध्यासनिवृत्तिरपि न भवति इति अर्थः. अतएव **लौकिकानाम्** इति उक्तम्. कर्मासक्तानां स्वरूपम् आहुः **ब्राह्मण्य** इति. **स्वशब्देन** इति. येषां ते धर्माः तैः लौकिकैः वैदिकैरपि किं प्राप्तम्? तथाच यत्र तैः स्वधर्माचरणेऽपि न किञ्चित् प्राप्तं तत्र सद्भिः अन्यधर्माचरणे किं प्राप्तव्यम् इति कैमुतिकन्यायः सूचितः इति भावः. लौकिकानां वैदिकानां च यत्किञ्चित् फलं भवति तदपि नश्वरम् इति अभिप्रायेण आहुः **अभजताम्** इति. ब्रह्मस्थानं ब्रह्मलोकः. सत्पुरुषाणां त्याज्यपदार्थान् आहुः

प्रकाशः

अर्थः. **'स्व'शब्देन** इति. अभजतां ततः फलाभावं ज्ञापयितुं लौकिक-वैदिकधर्मस्य स्वधर्मत्वं 'स्व'शब्देन उच्यते इति अर्थः. तत्साध्यस्य अर्थस्य अनर्थत्वं बोधयन्ति **अभजताम्** इत्यादिना. देहाद्यधिकारेण प्रोक्तस्यापि धर्मस्य प्रमाणसिद्धत्वात् तत्त्यागे दोषोऽपि सम्भाव्यते इति आशङ्कायां

---

१. -हेतुरिति ख-ग.

मध्यस्थानप्राप्तिः, तद्गते ब्रह्मणि गच्छति. स्पर्धा असूयादयश्च नियताः. "विधर्मः परधर्मश्च आभास उपमा च्छलः, अधर्मशाखाः पञ्चेमा धर्मज्ञोऽधर्मवत् त्यजेद्" (भाग.पुरा. ७।१५।१२) इति भगवद्विमुखानां धर्मः परधर्मत्वात् त्याज्यएव. **अथ पतेद्** इत्यत्रापि न साधनानुष्ठानेन कश्चित् पतति,

---

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

स्पर्धा इति. **नियताः** नियमेन त्याज्याः इति अर्थः. अन्यानपि त्याज्यान् आहुः **विधर्मः** इति. **आभासस्तु** जीवस्य ब्रह्मासत्त्वम्. **उपमा** उपमानप्रमाणं, यद्वा प्रपञ्चस्वप्नः. **च्छलं** छलवादः, यथा "नवकम्बलोऽयं देवदत्तः" इति. इमाः शाखा अधर्मस्य त्यक्तव्याः इति अर्थः. अनेन **त्यक्त्वा** इत्यस्य त्यागविषयाः उक्ताः इति ज्ञेयम्. **अथ** इति. **अथ यदि पतेद्** इति आशङ्कायामपि इति अर्थः. ब्रह्मभावं प्राप्तस्य भजनात्यागतः इति

प्रकाशः

तयोः अधिकारिभेदेन दोषाभावाय आहुः **विधर्मः** इत्यादि. तथाच अन्तर्मुखत्वेन अधिकारभेदात् तैः त्याज्यएव इति अर्थः. इदं सप्तमस्कन्धे नारदवाक्यम्. एतेषां स्वरूपमपि तत्रैव उक्तं "धर्मबाधो विधर्मः स्यात् परधर्मो अन्यचोदितः, उपधर्मस्तु पाषण्डो दम्भो वा शब्दभिच्छलः, यस्तु इच्छया कृतः पुम्भिः आभासो ह्याश्रमात् पृथग्" (भाग.पुरा. ७।१५।१३) इति. श्रीधरीये विवृतः च— "धर्मबाधः = धर्मबुद्ध्यापि यस्मिन् क्रियमाणे स्वधर्मबाधः. अन्यस्य चोदितो अन्यस्य परधर्मः. उपमा इति व्याचष्टे उपधर्मस्तु इति. शब्दस्य भिद् भेदो अन्यथाव्याख्यानं यस्मिन्. यथा 'दशावरान् भोजयेद्' इत्युक्ते 'दशभ्यो अवरान्' इति. 'शब्दभृद्' इति पाठे धर्मशब्दमात्रं बिभर्ति इति तथा. यथा 'गां दद्याद्' इति उक्तेः मरिष्यन्त्याः गोः दानम्[१]" (श्रीधरी ७।१५।१३) इति. ननु भजने यदि पाताभावः तदा आशङ्कानुत्थानाद् अनुवादएव बाधितइति वैतण्डिकशङ्कायां तत्तात्पर्यम् आहुः **अथ** इत्यादि.

लेखः

अथ पतेद् इति. तथाच अत्र भक्तिमार्गीय-साधनानुष्ठानात् पातो न

---

१. किञ्चिद् व्यत्यासेन उपलब्धो मुद्रितपाठः श्रीधरीयपाठानुरोधात् संशोधितः - सम्पा.

स्थूणानिखनन-न्यायेन (लौ.न्या.सा. १२) दार्ढ्यात्. तस्माद् भगवद्भजने[1] न केनापि विरोधः.

किञ्च प्रमाणबलविचारेण साधनमुखतः एतद् उक्तं, प्रमेयबलविचारेण फलमुखतो अधुना निरूप्यते. तत्र एवं पदार्थाः— सर्वोत्तमः पुरुषोत्तमः, तदनु तस्यैव रूपान्तरम् अक्षरं सर्वकार्यकर्तृ, तस्यापि रूपान्तरं सर्वाधिकारी कालः, कालस्य अंशभूतौ कर्म-स्वभावौ, पुनः अक्षरस्य रूपान्तरं यज्ञाः, पुनः अक्षराद् रूपभेदे प्रकृति-पुरुषौ, ततः तत्त्वानि, ततो ब्रह्माण्डम्.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

उक्तम्. तथाच ब्रह्मभावेऽपि **साधनानुष्ठानेन** भजनेन **कश्चिद्** अपि **न पतति.** तत्र हेतुः **दार्ढ्याद्** इति. ननु ''ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति'' (भग.गीता १८।५४) इति वचनात् किं तस्य भजनेन इति आशङ्क्य आहुः **स्थूणा** इति. यथा निखाताऽपि स्थूणा ततोऽपि खननं कृत्वा निखाता क्रियते दार्ढ्यार्थं तथा स्थितोऽपि ब्रह्मभावो भजनेन पुनः दृढीक्रियते इति क्व पतनशङ्का इति आशयः. उपसंहरन्ति **तस्माद्** इति ॥१७॥

स्वकीयां युक्तिं वदन्तः **तस्यैव** इत्यस्य अवतारिकाम् आहुः **किञ्च** इति. **तेषां प्रयत्न** इति. **तेषाम्** अस्मदादीनां प्रयत्नं विना **अपि प्रलयेषु**

प्रकाशः

तथाच उक्तन्यायेन तत्कथनम् इति न शङ्कालेशः इति अर्थः. सिद्धम् आहुः **तस्माद्** इत्यादि. अधिकारभेदाद् **न केनापि** प्रमाणेन **विरोधः** इति अर्थः ॥१७॥

तस्यैव इति श्लोकम् अवतारयन्ति **किञ्च** इत्यादि. **साधनमुखतः**

लेखः

उच्यते किन्तु **यदि पतेद्** इत्याद्युक्तिस्वारस्यात् स्थूणानिखननन्यायेन पुनः भक्तिभार्गीयसाधनादेः दार्ढ्यमेव उच्यते, नतु पातोऽपि इति अर्थः. यथा असन्दिग्धेऽपि सन्देहम् उत्पाद्य तद्दार्ढ्यं स्थाप्यते तथा इति ॥१७॥

---

१. भगवद्भजनेनेति घ.

तत्र पुरुषांशाः अस्मदादयः. तेषां प्रयत्नव्यतिरेकेणापि प्रलये पुरुषता. मध्ये कालाधीनाः फेनबुद्बुदवद् नानाभावं प्राप्नुवन्ति. तत्र विचारयतु देवानां प्रियः, किं फलम् इति. तस्माद् अक्षरपर्यन्तम् अनित्यत्वेन तुच्छत्वात्, कालेनापि सिद्धेः, न तदर्थं यत्नः कर्तव्यः. भगवद्भजनन्तु[1] न कालसाध्यं, पुरुषोत्तमपर्यवसायि च. नहि पुरुषोत्तमसेवा तदन्तरङ्गैः क्रियमाणा बहिरधिकारिप्रेरिता भवति, कालगम्यत्वाभावात्, सर्वत्र भगवन्मार्गे भगवतएव साधनत्वेन विधानाच्च. दृश्यतेच लोके महाराजान्तरङ्गसेवकानां न अधिकार्यधीनत्वम्. ननु देहेन्द्रियाणां कालप्रवाहस्थानां परिग्रहात् कथं न कालाधीनत्वम् इति? पुरुषोत्तमपरिग्रहाद् इति ब्रूमः. तस्मात् **तस्यैव हेतोः**

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

पुरुषता पुरुषे लयो भवति इति अर्थः. **अक्षरपर्यन्तम्** इति अक्षरावधि, नतु अक्षरम् अभिव्याप्य इति अर्थः. यद्वा **अक्षरपदेन** अक्षरस्य रूपान्तरं पुरुषः, तत्पर्यन्तम् इति अर्थः. **कालेनापि** इति. प्रलये प्रयत्नं विनापि जीवानां पुरुषे लयो भवति इति अर्थः. तथाच "ऋजुमार्गेण सिद्ध्यतो अर्थस्य वक्रेण साधनायोगाद्" इति न्यायात् प्रयत्नो न कर्तव्यः इति अर्थः. यद्वा साधनेषु अन्यथासिद्धिः उक्ता **कालेनापि** इत्यनेन. प्रकृते साधने फले च वैलक्षण्यम् आहुः **भगवद्भजनन्तु** इति. **प्रवाहस्थानां परिग्रहाद्** इति, कालाधीन-देहेन्द्रियादिवत्त्वाद् इति अर्थः. **पुरुषोत्तम** इति. पुरुषोत्तमेन परिगृहीताः स्वीकृताइति न तदधीनत्वम् **इति ब्रूमः** वदामः

प्रकाशः

इति साधनस्वरूपद्वारा. **तत्र** इति प्रमेयबलविचारे. **तत्र विचारयतु** इति फेनबुद्बुदरूपत्वे विचारयतु. **अक्षरपर्यन्तम्** इति अक्षरप्राप्तिपर्यन्तम्, अक्षरावधि

लेखः

तस्यैव हेतोः इत्यत्र आभासविमर्शे **प्रयत्न** इति, साधन इति अर्थः. **देवानां प्रियः** इति. अयं मूर्खवचनः शब्दः, "देवानां प्रियः इति च मूर्खः" (पाणि.सूत्र ५।३।१४) इति अनुशासनाद् इति अर्थः.

१. तुर्नास्ति ख.

तदर्थमेव भगवत्परिग्रहार्थमेव **कोविदो यतेत,** न मूर्खान्[१] दृष्ट्वा यत्र क्वचित्. ननु कथम् अत्र विधिः, अप्राप्तांशाभावात्, लोक-वेदयोः ईश्वरभजनस्य सिद्धत्वात्? तत्र आह **न लभ्यते यद् भ्रमताम् उपर्यधः** इति. **उपरि** ब्रह्मपर्यन्तम् **अधः** स्थावरपर्यन्तं **भ्रमतां** जीवानां तत्तच्छरीरेण तत्तच्छरीरधर्मेण वा **यद् न लभ्यते** तदर्थं यत्नः कर्तव्यः. तद्धि[२] वैधम्. यत्नस्तु पूर्वोक्तचरणसेवा. धर्मरूपसेवायाः लोक-वेदसिद्धत्वेऽपि न भक्तिसेवा

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इति अर्थः. यद्वा पुरुषोत्तमः एभिः परिगृहीतइति न तदधीनता इति अर्थः. युक्तिसिद्धं अर्थम् आहुः **तस्माद्** इति. **तस्यैव** इति श्लोकं व्याचष्टे **तस्यैव हेतोः** इति. **परिग्रहार्थम्** इति, मुख्यभजननिमित्तम् इति अर्थः. **तद्धि** इति. **हि** निश्चयेन **तद्** धर्मरूपं भजनं **वैधं** विधिप्राप्तम्. तथाच धर्मरूप-भजनस्य विहितत्वं, नतु 'यत्न'पदवाच्य-भजनस्य इति यत्नस्य अप्राप्तत्वे **प्रयतेत** इति यत्नविषयको विधिः इति अर्थः. यत्नलक्षणम् आहुः **यत्नस्तु** इति. परधर्मत्यागपूर्वकं भगवच्चरणाम्बुजभजनम् इति अर्थः. फलितम् आहुः **धर्मरूप** इति. तथाच विधिलक्षणस्य न अव्याप्तिः इति

प्रकाशः

इति वा. **विधिः** इति **प्रयतेत** इत्युक्तो यत्नविधिः. **तद्धि वैधम्** इति. तथाच फलस्य अपूर्वत्वेन तत्साधनत्वस्य अप्राप्तत्वात् तत्साधनत्वं वैधम् इति अर्थः. पूर्वग्रन्थानुरोधेन धात्वर्थं सङ्कोच्य वैधस्वरूपम् आहुः **यत्नः** इत्यादि. "तं भजेद्" (गोपा.ता.पू.उप. २।१) इत्यादि श्रुत्यनुवादत्व-निरासाय आहुः **धर्मेत्यादि. भक्तिसेवा** इति भक्त्यर्थं सेवा, निरुपधिप्रेम्णा सेवा वा. ननु भगवत्प्रीतिहेतुना कर्मणा भक्तिजनकादृष्टाङ्गीकारे किं बाधकम्

लेखः

व्याख्याने **अप्राप्तांश** इति. अप्राप्तप्रयोजनवदर्थविधानेन अर्थवान् हि विधिः इति तल्लक्षणाद् इति भावः. ननु कुत्रचिद् भगवता परिचर्यात्मकेन कर्मणा प्रीतिरूप-फलाजनने व्यभिचारात् साक्षात्प्रीतिजनकत्वं तत्र कथम्

---

१. मूर्खो दृष्ट्वेति घ. २. तद्विविधमिति ग-घ-ङ.

तत्सिद्धा. यद्यपि ज्ञानार्थमपि प्रयत्नः एतादृशो भवति तथापि अक्षरपर्यवसानाद् न पुरुषोत्तमप्राप्तिः. ''अव्यक्तासक्तचेतसाम्'' (भग.गीता १२।५) इति वाक्याद् अव्यक्तस्वरूप-भगवद्रूपाक्षरप्राप्तिरेव[1] फलम्. ननु अदृष्टेन न कथं भक्तिसिद्धिः, सर्वोत्पत्तिमन्निमित्तकारणत्वात्? तत्र उच्यते— कालसाध्यएव कर्म-स्वभावयोः प्रवृत्तिः, न कालासाध्ये. किञ्च अदृष्टं नाम पूर्वजन्मनि कृतकर्मणो अवान्तरव्यापाररूप-धर्माधर्मलक्षणम्. तत् कस्य कर्मणः, किं भगवत्प्रीतिहेतोः[2] अहेतोः वा? आद्यस्तु न अदृष्टं जनयति, दृष्टेनैव भगवत्प्रीतिजननात्. फलविपर्ययस्तु असङ्गतः. न[3] अप्रीतिहेतोः;

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

भावः. आशङ्कान्तरम् आहुः **यद्यपि** इति. **एतादृशो** भगवत्प्रापकः इति अर्थः. तथाच **प्रयतेत** इत्यनेन अयमेव विहितः इति भावः. समाधानम् आहुः **तथापि** इति. **न पुरुषोत्तम** इति, फलानुत्कर्षाद् न इति भावः. ननु भगवत्प्रीतिहेतु-कर्मणा किञ्चित् फलान्तरं भविष्यति इति आशङ्क्य आहुः **फलविपर्ययः** इति. कस्यापि मते नास्ति सङ्गतः इति अर्थः.

प्रकाशः

इत्यतः आहुः **फलेत्यादि**. अकामितस्यापि अदृष्टस्य जन्मान्तरे फलसमर्पणार्थम् अङ्गीकारः. प्रकृतेतु भगवति अर्पितं कर्म भगवत्प्रीतिहेतुः. ''तत्कुरुष्व मदर्पणम्'' (भग.गीता ९।२७), ''शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः'' (भग.गीता ९।२८), ''एतान्यपि तु कर्माणि'' (भग.गीता १८।६) इत्यादिषु तादृशस्य भगवता उक्तत्वात् तथाकृतेन भगवानेव प्रीयते[4], आज्ञाकरणात्. सा च तेन आविर्भूता नित्या, नतु जन्या, भगवद्धर्मत्वाद्, अतएव च अनश्वरा. एवं सति जन्मान्तरे तथैव फलसिद्धौ अदृष्टोपगमो अप्रामाणिकत्वाद् गौरवग्रासाच्च **फलविपर्ययरूपो असङ्गतः** इति अर्थः. **अफलत्वेन** इत्यादि.

लेखः

अतः आहुः **फलविपर्ययः** इति. **असङ्गतः** इति. तत्र तादृशस्थले

---

१. अव्यक्तस्वरूपाक्षरेति ख. २. भगवत इति ख.

३. नापि प्रीतिहेतोरिति घ-ङ. ४. प्रतीयते इति पाठः.

अफलत्वेन तदर्थं न[१] व्यापारजननं सम्भवति. किञ्च कर्मणां प्ररोहैकस्वभावत्वाद् जन्मनो न अन्तिमत्वसाधकत्वम्. अन्तिमे च जन्मनि भगवद्भक्तिः, भगवत्प्रसादैकलभ्यत्वात्, "स एष साधो[२] चरमो भवानाम्" (भाग.पुरा. ३।४।१२) इति वाक्यात्. जातकेऽपि धर्मरूपसेवायाएव[३] फलत्वेन शुभग्रहैः ज्ञायमानत्वम्. तस्माद्[४] अनन्यसिद्धत्वाद् भगवद्भक्तावेव यत्नः कर्तव्यः.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

अफलत्वेन इति. भक्तेः कर्मसाध्यफल-भिन्नफलत्वेन **तदर्थं** भक्त्यर्थं **व्यापारजननम्** अदृष्टजननं **न सम्भवति** इति अर्थः. तथाच कर्मणा स्वसाध्यफलार्थमेव अदृष्टं जन्यते, नतु असाध्यार्थम् इति भावः. दूषणान्तरम् आहुः. ननु ज्योतिर्ग्रन्थे जातके "नवमस्थाने शनीश्वरो भवति चेत् तदा वैकुण्ठाद् आगतो नरः" (. । ।) इति उक्तं, पुनरपि तस्य भगवद्भजनकारणेन वैकुण्ठप्राप्तिः इत्यपि उक्तं, तथाच कथं लोकवेदाप्राप्तत्वं भजनस्य इति सिंहावलोकनन्यायेन आशङ्क्य आहुः **जातकेऽपि** इति. तथाच वेदादिविहितसेवायाएव इति अर्थः. परधर्मत्यागपूर्वकं दासत्वेन भजनम्

प्रकाशः

भक्तेः तत्फलत्वाभावेन भक्त्यर्थम् अदृष्टजननं न सम्भवति इति अर्थः. **न अन्तिमत्वसाधकम्** इति अदृष्टम् इति शेषः. ननु भक्तेः कालाद्यजन्यत्वं चेत् स्यात् तदा ज्योतिर्ग्रन्थे जातके देवपूजारतिः वैकुण्ठाद् आगतिः पुनः वैकुण्ठगतिश्च शुभग्रहफलतया न ज्ञायेत इत्यतः आहुः **जातकेऽपि** इत्यादि.

लेखः

परिचर्यायां साजात्येन भगवत्सेवायाः परिदृश्यमानत्वेऽपि न सा भगवत्परिचर्या, दुःसंगादिना चित्तस्य मालिन्येन वृथाकरणात्. तथाच तादृशस्थले कारणाभावादेव न कार्योत्पत्तिरिति स फलविपर्ययो न कार्यकारणभाव-विघटको अतो असङ्गतः इति अर्थः. **स एष साधो चरमो** इति वाक्यम् ... ॥१८॥

---

१. नेति नास्ति ख. २. साध्यो चरम इति क-घ.

३. धर्मरूपे इति ग. ४. अन्यसिद्धत्वाभावादिति क-घ.

नच लौकिकसुख-दुःखाभावार्थे यतनीयं, **कालेन** एव तत्सिद्धेः **दुःखवत्**. अतो देहप्राप्तावेव तद्भोगस्य[१] सिद्धत्वात् स्वस्य पिष्टपेषणम् इति आह **तल्लभ्यते** इति. **अन्यतः** पितृ-पुत्र-भार्यादिभ्यः. तेषामपि प्रेरकः कालः. सच कालः कृतिसाध्यो न भवति. नच देशः स्वतन्त्रतया साधनं, तस्यापि कालाधीनत्वात्, तुल्यत्वेऽपि नियतसहभावात्. तद् आह **सर्वत्र** इति.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

अप्राप्तमेव इति भावः. उपसंहरन्ति **तस्माद्** इति. **अनन्यसिद्धत्वाद्** अन्यत्र अप्राप्तत्वाद् इति अर्थः. उत्तरार्धं व्याचष्टे **न च** इति. **दुःखवद्** इति, यथा दुःखं सिद्ध्यति तथा इति अर्थः. **दुःखवद्** इति मूलं **न च** इत्यारभ्य **कालेनैव** इत्यन्तेन व्याख्यातम् इति ज्ञेयम्. ननु कालस्य प्रेरकत्वसम्पादनार्थं यतनीयम् इति आशङ्क्य आहुः **स च** इति. **सर्वत्र** इति पदस्य अवतारिकाम् आहुः **न च देशः** इति. तथाच देशानुकूल्यार्थं न यतनीयम् इति अर्थः. ननु देशः स्वतन्त्रः, कथं कालाधीनः इति आशङ्क्य आहुः **तुल्यत्वेऽपि** इति. नियमेन सहभावस्तु यत् कालेन क्रियते तदेव देशेनापि. तथाच स्वातन्त्र्येऽपि स दोषः तदवस्थएव इति अर्थः ॥१८॥

प्रकाशः

तस्माद् इति कालादृष्टाजन्यत्वात्[२]. उत्तरार्धं व्याचक्षते **न च** इत्यादि. ननु सुखार्थं पित्रादयो अनुकूलयितव्याः इति कथं भक्त्यर्थमेव यत्नः सिद्ध्यति इत्यतः आहुः **तेषाम्** इत्यादि. तथाच कालप्रातिकूल्ये क्रियायाः[३] न सिद्धिः इति अर्थः. तर्हि कालएव अनुकूलयितव्यः इति चेत्, तत्र आहुः **स च** इत्यादि. ननु सुखार्थं देशापेक्षासत्त्वात् न केवलं कालेन सुखसिद्धिरिति तत्सम्पादनायतु यतनीयमेवेति कथम् एकान्ततो भजनयत्नसिद्धिः इत्यतः आहुः **न च** इत्यादि. तथाच अकालाननुकूल्ये तदर्थोऽपि यत्नो व्यर्थः इति अर्थः. ननु कालोऽपि न स्वतन्त्रः, देशं विना फलानुत्पादकत्वाद् इति आशङ्कायाम् आहुः **तुल्यत्वे** इत्यादि. तथाच एवमपि कालापेक्षानपायाद्

१. तद्भोगसिद्धत्वादिति क-ग. २. कालादृष्टजन्यत्वादिति पाठः. ३. क्रियार्था.

प्रतीकाराकरणार्थम् आह **गभीररंहसा** इति. तस्माद् भगवद्भजनार्थं प्रयत्नः कर्तव्यः ॥१७-१८॥

तत्र तर्कम् आह.

न वै जनो जातु कथञ्चनाव्रजेन् मुकुन्दसेव्यन्यवदङ्ग संसृतिम् ॥
स्मरन् मुकुन्दाङ्घ्र्युपगूहनं पुनर्विहातुमिच्छेन्न रसग्रहो यतः ॥१९॥

न वै जनो जातु इति. ननु वैकुण्ठगतानामपि जय-विजयादीनां पुनरागमनश्रवणाद् न एकान्ततो भक्तिः फलसाधनं– भगवतोऽपि अवतरणात् तत्सङ्गेन अवतारसम्भवात् च, पराधीनत्वेन अपराधसम्भवाच्च– तस्माद् धर्मवद् भक्तिरपि न उत्कृष्टफला इति, तत्र आह **न वै जनो जातु** इति. अङ्गीकृत्यापि परिहारः. वस्तुतस्तु जय-विजययोः धर्ममार्गानुसारेण कृत्रिमवैकुण्ठप्राप्तिः. अतएव तत्रैव वर्णनायां "ये अनिमित्तनिमित्तेन धर्मेण

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

न वै जनो जातु इत्यत्र. **नैकान्ततो भक्तिः** इति, भक्तिः एकान्ततः फलसाधनं न इति अर्थः. एकान्ततः फलं = शाश्वतिकं फलम्. **तत्सङ्गेन** इति. भगवतः आगमने भगवदनुवर्तिनामपि आगमनं स्याद् इति अर्थः. **पराधीनत्वेन** इति **अङ्गीकृत्यापि** इति, "तुष्यतु दुर्जनः" इति न्यायेन इति अर्थः. **वस्तुतस्तु** इत्यारभ्य **कल्पितो येन इति च** इत्यन्तेन तु जय-विजययोः विजातीयसाधनकर्तृत्वाद् विजातीयफलप्राप्तिः इत्येव उक्तं, नतु पुनरागमने हेतुः उक्तः इति अवगम्यते. तथाहि "कृत्रिमेऽपि हि वैकुण्ठमुक्तिरेव तथापि तु, कृष्णेच्छयातु तज्जन्म नष्टानां गतिरीदृशी" (त.दी.नि. ३।३।१३०) इति निबन्धे उक्तम्. व्याख्यातं च— "वैकुण्ठे गताः पुनरावृत्तिराहित्यमेव प्राप्नुवन्ति, 'तथापि कृष्णेच्छया' जयविजययोः

प्रकाशः

व्यर्थएव यत्नः इति अर्थः. ननु मास्तु सुखार्थो यत्नः, दुःखाभावायतु प्रतिविधातव्यम् इत्यतः आहुः **प्रतीत्यादि** ॥१८॥

न वै इत्यत्र. **तर्कम्** इति बाधकनिवर्तकं तर्कम्. तं व्याख्यातुं बाधकं विशदयन्ति **ननु** इत्यादि. **पराधीनत्वेन** इति कालाद्यधीनत्वेन. **अङ्गीकृत्यापि** इति, "तुष्यतु दुर्जनः" इति न्यायेन इति अर्थः. ननु

आराधयन् हरिं" (भाग.पुरा. ३।१५।१४), "वैकुण्ठः कल्पितो येन" (भाग.पुरा. ८।५।४) इति[१]. भगवता सह तु आगमनं परमानन्दत्वात् फलमेव. साधारणानामपि भक्तानां भगवत्सेवकानां[२] दूषणम् अङ्गीकृत्यापि परिहारः उच्यते. यथा भरतादिः, यतो **मुकुन्दसेवी** सर्वेभ्यो मोक्षदातुः सेवकः. **अन्यवद्** असेवकवत्, यथा सत्यवादी ब्राह्मणः. तत्र हेतुः **स्मरन्**

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

'जन्म'. तत्र इच्छायाः प्रयोजनं लोकज्ञापनम्. तत्र किं ज्ञापयति इति आकाङ्क्षायाम् आहुः 'नष्टानां गतिः इदृशी' इति. त्रिलोक्यां हिरण्याक्षादिसुखम् इन्द्रादेः दुर्लभं; सा हि तेषां परम् आपत्! अनेन वैकुण्ठसुखम् उन्नेयम् इति भावः" इति. तथाच एतच्छ्लोके तद्व्याख्यानानुरोधाद् आगमने भगवदिच्छैव हेतुः इति अनुसन्धेयम्. **तत्सङ्गेन अवतारसम्भवाच्च** इति आशङ्कायाः समाधानम् आहुः **भगवता सह** इति. सहागमने परमानन्दरूपता तिरोहिता न भवति इति फलत्वमेव इति अर्थः. दुःखप्राप्तिः चेत् तदा

प्रकाशः

यदि एवं तर्हि तुष्यतु दुर्जनन्यायकस्यापि[३] परिहारस्य किं प्रयोजनम् अतः आहुः **साधारणेत्यादि. यथा भरतादिः** इति साधारणभक्तः. स यथा जन्म प्राप्तवान् तद्दृष्टान्तेन पातः शङ्क्येत इति तादृशस्थलेऽपि तदभावाय परिहारः इति अर्थः. **सत्यवादी ब्राह्मणः** इति. उद्योगपर्वणि "कौशिकः कश्चित् सत्यवादी चौरैः पृष्टः सार्थं क्वचिद् निलीनं तेभ्यः आचख्यौ, ततः ते सर्वे चौरैः लुण्टिताः मारिताश्च, ततः तेन सत्यवादेन सः नरके पपात" इति भगवता अर्जुनं प्रति उक्तम्. स यथा सत्येन तथा अभूद् एवं भगवत्सेवकोऽपि भगवदपराधाद् भगवता तथा भविष्यति भरतवत्. तथाच यदि भक्तिः एकान्ततः फलसाधिका स्याद्, भरतो न पतेत्. यतो न एवम् अतो न एवम् इति बाधकतर्कम् **अङ्गीकृत्यापि** इति अर्थो भवति. **परिहारतर्कस्तु— मुकुन्दसेवी** यदि **संसृतिम् आव्रजेद्,**

१. इति चेति ग-टिप्पण्याम्. २. भगवत्सेवकसेवकानाम् इति भा.पाठः - सम्पा.

३. -न्यायज्ञापकस्यापि इति कि.पाठः - सम्पा.

इति. वाक्शरीरसाध्य-भक्त्यभावेऽपि कामुकस्य कामिनीस्मरणमिव (**मुकुन्दाङ्घ्र्युपगूहनं!**) परमानन्दरूप-चरणालिङ्गनं पूर्वजन्मनि जातम् अधुना स्मरन् (**विहातुं नेच्छेत्!**) तच्चरणपरित्याजक-साधनं न कुर्यात्. यथा भरतहरिणेन स्वमात्रादयः परित्यक्ताः, न भगवन्मार्गः ; इच्छामपि न कृतवान्. **यतो रसग्रहः** रसेन ग्रहणं यस्य स तथोक्तः. भगवतः कृपाभावेऽपि मार्गस्यैव बलिष्ठता, तद् आह **यतः** इति ॥१९॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

अफलता स्याद् इति भावः. **उपगूहनपदस्य** अभिप्रेतम् अर्थम् आहुः **वाक्शरीर** इति. **विहातुमिच्छेन्न** इत्यस्य अर्थः **तच्चरण** इति. त्यागे दृष्टान्तम् आहुः **यथा भरत** इत्यारभ्य **न कृतवान्** इत्यन्तेन. **न भगवन्मार्गः** इति, भरतेन साकं स्नेहो न त्यक्तः इति अर्थः. एवञ्च यथा हरिणेन पशुनापि सर्वं त्यक्तं तथा भगवत्सेवकेनापि मार्गबाधकं त्यक्तव्यम् इति अभिप्रायः. **यतो रसग्रहः** इति पदद्वयम् अनूद्य **रसेन** इत्यनेन व्याचष्टे. **स तथोक्तः** इति, रसग्रहपदेन मार्गः इति अर्थः. **कृपाभावेऽपि** इति, कृपायाः अभावे असत्त्वे अपि इति अर्थः. तथाच भगवतः उदासीनत्वेऽपि इति भावः. **बलिष्ठता** इति, मार्गेणैव सर्वं भवति इति अर्थः. तसिल्प्रत्ययस्य हेतुवाचकत्वं व्याख्यातम्. एवं **यतो रसग्रहो** मार्गः, "तस्यैव हेतोः" (श्लो. १८) यतनीयम् इति मूलार्थः सम्पन्नः इति भावः ॥१९॥

वेदेति शास्त्रार्थत्वाय इति, एतादृशो वेद इति कथनस्य शास्त्रार्थत्वाय

प्रकाशः

अन्यसेवकवद् आव्रजेत्. यदि तथा स्यात् तदा **संसृतिं विहातुं न इच्छेद्**, इतरसेवकवत्. यतः संसृतिं विहातुम् इच्छति तस्माद् इतरवद् न संसृतिं व्रजति. यतः तथा न व्रजति ततो भक्तिः एकान्ततः फलसाधिका इति. **इच्छामपि** इति मात्रादीच्छाम् ॥१९॥

इदं हि इत्यत्र. **दुर्लभत्वे** इति भ्रमतां कालादिभिः अलभ्यत्वे. **भूयस्त्वकथनं च** इति **चो** अप्यर्थे. **इति शास्त्रार्थत्वाय** इति. इति श्रुतेः भगवतः शास्त्रार्थरूपत्वाय इति अर्थः. **निरूपणीयम्** इति, सुलभत्वाय भूयस्त्वकथनोपपत्तये च निरूपणीयम्. **कार्यम्** इति भगवत्समवेतं कार्यम्.

एवं सोपपत्तिकं भगवन्मार्गस्य उत्कृष्टत्वं प्रतिपाद्य– भगवतो दुर्लभत्वे तच्चरित्रस्य भूयस्त्वं[१] कथनं च अनुपपन्नम् इति को[२] भगवान् इति आकाङ्क्षापूरणाय, ''आचार्यवान् पुरुषो वेद'' (छान्दो.उप. ६।१४।२) इति[३] शास्त्रार्थत्वाय च[४]– भगवन्तं निरूपयति.

इदं हि विश्वं भगवानिवेतरो यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवाः ॥
तद्धि स्वयं वेद भवांस्तथापि वै प्रादेशमात्रं भवतः प्रदर्शितम् ॥२०॥

इदं हि विश्वम् इति. भगवतः स्वरूपं चरित्रञ्च निरूपणीयम्. तद्द्वयं भेदेन न[५] निरूपणीयं, तथा सति चरित्रस्य अनात्मत्वेन तद्भावनायां संसारः स्यात्. अतो द्वयम् अभेदेन निरूपयति. **इदं[६] विश्वं भगवान्** विश्वम् अनूद्य भगवत्त्वं विधीयते. तथा सति सर्वत्र भगवद्दृष्टिः चेत् कृतार्थो भवति इति कार्यं[७] भगवत्त्वेन निरूपितम्. ''सर्वं खलु इदं ब्रह्म तज्जलान्'' (छान्दो.उप. ३।१४।१) इति श्रुतिः हिशब्देन सूचिता. उत्तम-मध्यमाधमाधिकारिभेदेन त्रेधा अत्र निरूपणं कर्तव्यं, तत्र उत्तमे निरूपितम्. मध्यमेतु एवम्— **इदं विश्वं भगवानिव** नतु भगवान्. तेन अत्र सन्माननादिकं कर्तव्यं, न आसक्तिः इति. निकृष्टेतु **इदं विश्वं भगवानितरः** अस्माद् अन्यः, अतः प्रपञ्चदर्शी बहिर्मुखो भ्रष्टो भवति इति. एवं सर्वत्र प्रकारत्रयेण निरूपणीयम्. ननु एकस्य जगतः कथं त्रिरूपत्वं? तत्र आह **यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवाः** इति. तत्र (**जगत्स्थान!**) जगतः स्थितिः भगवत्येवेति भगवानेव जगतीति स्वाधारत्वाद् भगवतः **भगवानेव** जगत्. मध्यमेतु (**जगत्सम्भव!**) भगवतः सकाशाद् जगदुद्भवः[८], तेन कार्य-कारणयोः तादात्म्यात् कार्यात्मना भेदः कारणात्मना अभेदः

प्रकाशः

उत्तमे इति उत्तमाधिकारिविषये. **प्रकारत्रयेण निरूपणीयम्** इति. निरूपणीयो

---

१. भूयस्त्वकथनमिति ग-प्रकाशे -सम्पा. २. को वेति ग-घ. ३. इति चेति क-ग-घ-ङ.

४. चेति नास्ति ख. ५. नेति नास्ति ग. ६. इदं हीति क-ग.

७. विश्वम् इति अर्थ इति भा.पाठे पादटिप्पणी -सम्पा. ८. जगत उद्भव इति ख.

इति "भेदसहिष्णुरभेदस्तादात्म्यम्" इति वचनाद् जगद् **भगवानिव** इति. मूढेतु (**जगन्निरोध!**) भगवतः प्रलयकर्तृत्वात् नाशप्रतियोगि जगद्, भगवांश्च [१]सदातनइति **इतरः**. किञ्च पूर्वं भगवच्चरित्रं निरूपितम् **इदं हि विश्वं भगवानिवेतरः** इति, इदानीं भगवन्तं निरूपयति **यतो जगत्स्थान-निरोधसम्भवाः** इति. "जन्माद्यस्य यतः" (ब्रह्मसूत्र १।१।२) इति लक्षणं निरूपितं भवति. एवम् अर्थभेदम् अधिकारिभेदञ्च सङ्क्षेपतो निरूप्य गुप्तस्य अस्य विवरणं न कर्तव्यम् इति आह **तद्धि स्वयं वेद भवान्** इति. तत् पूर्वोक्तं **स्वयमेव भवान् वेद** न गुर्वपेक्षा. अथवा तद् जगत् **स्वयं भवान्** इति अर्थः. अतएव **भवान् वेद**. तर्हि ब्रह्मणः उपदेशो निष्फलः इत्यतः आह **तथापि वै प्रादेशमात्रम्** इति. **तथापि** ब्रह्मत्वेऽपि प्रमाणबलाद् **वै** निश्चयेन गुरूपदेशः अपेक्ष्यते. तत्र लौकिकपरिमाणे यथा प्रादेशे प्रदर्शिते तद्द्विगुणादिरूपं हस्तादिकं जानाति तथा जगत्कर्तृत्वे ज्ञाते सर्वेश्वरत्वादयो ज्ञाताः भवन्ति. अथवा **प्रकर्षेण आदेशः** उपदेशः

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इति भावः. **इदं हि विश्वम्** इत्यत्र. **भेदसहिष्णुः** इति. "अभेदः तादात्म्यम्" इति वाक्याद् **भेदसहिष्णुः** मध्यमाधिकारी **जगद् भगवानिव इति** मन्यते, नतु भगवानेव इति भावः. तथाच भगवतो जगतश्च तादात्म्याभावाद् भगवत्सादृश्यमेव, नतु भगवत्त्वं– यथा "चन्द्र इव मुखम्" इत्यत्र– इति आशयः. "गोसदृशो गवयः" इतिवद् वा. **जगत्स्थान** इत्यस्य व्याख्यानान्तरम् आहुः **किञ्च** इति. **तर्हि ब्रह्मणः** इति, ब्रह्मरूपस्य व्यासस्य इति अर्थः. **प्रमाणबलाद्** इति. "स गुरुमेव" (मुण्डकोप. १।२।१२) इति श्रुतेः गुरोः सकाशात् प्राप्तं ज्ञानं कार्यकरणे समर्थं भवति इति हेतोः उपदेशः कृतः इति भावः ॥२०॥

प्रकाशः

अर्थः प्रकारत्रयेण निरूप्यते इति अर्थः. **तर्हि** इति स्वस्य सर्वस्य च भगवत्त्वे ॥२०॥

---

१. सनातन इति ग.

तन्मात्रं गूढतया शास्त्रार्थनिरूपणं (**भवतः!**) भवदर्थे **प्रकर्षेण दर्शितम्**. अनेन गूढमेव स्पष्टमिव प्रदर्शनीयम् इति उपदेशः ॥२०॥

किञ्च स्वावतारप्रयोजनं जानीहि. किमर्थम् अवतीर्णो असि? भगवान् स्वयम् अवतीर्य सर्वभक्तोद्धारार्थं स्वात्मख्यापनार्थं स्वांशं ज्ञानकलारूपं[1] भवन्तम्[2] अवतारितवान्. अतः चरित्राकथने तव अवतारो निःप्रयोजनइति भगवदिच्छया तव अन्तःकरणविषादः. अतो भगवदाज्ञां परिपालय, स्वजन्मसाफल्यं च इति आह.

त्वमात्मनाऽऽत्मानमवेह्यमोघदृक् परस्य पुंसः परमात्मनः कलाम् ॥
अजं प्रजातं जगतः शिवाय तन्महानुभावाभ्युदयोऽधिगण्यताम् ॥२१॥

त्वम् आत्मना आत्मानम् इति. **त्वम् आत्मानं परस्य पुंसः कलाम्**[3] **अवेहि.** जीवस्य ब्रह्मोपदेशवद् अयम् उपदेशः इति निराकर्तुम् आह **कलाम्** इति. (**आत्मना!**) साधनं च तव स्वरूपमेव; (**आत्मानं!**) ज्ञातं स्वरूपं तथा ज्ञापयिष्यति इति अर्थः. तत्र सामर्थ्यम् आह **अमोघदृग्** इति. ननु सर्वे जीवा भगवदंशकलाः, को अयं मयि विशेषः? तत्र आह **परस्य पुंसः** पुरुषोत्तमस्य. अन्ये तु अक्षरस्य पुरुषस्य वा. ननु अक्षर-पुरुषयोः अपि भगवत्त्वात् को विशेषः? तत्र आह **परमात्मनः** इति. परमः च असौ आत्मा च इति गङ्गाजल-देवतयोः इव

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

त्वमात्मना इत्यस्य अवतारिकाम् आहुः **किञ्च** इति. **त्वमात्मना** इत्यत्र. **साधनं च** इति **आत्मना** इति पदं व्याख्यातम्. **ज्ञातं स्वरूपम्** इति, **स्वरूपम्** एव **ज्ञातं** सद् भगवत्कलात्वेन **ज्ञापयिष्यति** इति अर्थः. **तत्र** इति, स्वरूपज्ञाने इति अर्थः. **अधि** इति उपसर्गस्य अर्थम् आहुः

प्रकाशः

त्वम् आत्मना आत्मानम् इत्यत्र. **साफल्यं च** इति कुरु इति शेषः. **साधनम्** इति ज्ञानसाधनम्. **तथा** इति कलात्वम्. **तत्र** इति कलात्वज्ञाने. तथाच यथा धर्मादयो अर्थाः स्वतः स्फुरिताः तथा इदमपि

---

१. स्वांशज्ञानकलेति घ. २. भगवन्तमिति घ. ३. कलामवैहि इति ख-ग.

आत्म-परमात्मनोः स्वरूपम् इति भावः. तर्हि कथं मम उत्पत्तिः? तत्र आह **अजं प्रजातम्** इति, अनुत्पन्नः एव त्वम् आनन्दमात्र-करपादमुखोदरादिः व्यासरूपेण अवतीर्णः. (**तद्!**) अतः सर्वस्यापि **जगतः** (**शिवाय!**) शान्तसुखाय **महानुभावस्य** भगवतो **अभ्युदयः** चरित्रम् **अधिकं गण्यताम्** उद्देशमात्रेण उच्यताम्. अस्य भगवतः चरित्रं भक्तसम्बन्धिषु अपि परमम् अनुभावं सम्भावयति इति **महानुभावः**, तस्य **अभ्युदयः** परमोत्सवः, तस्य **आधिक्यं** ज्ञानादिभ्यः. अवाङ्मनो-गोचरत्वाद् इदमित्थतया निरूपणम् अशक्यम् अतः उद्देशमात्रं कर्तव्यम् इति ॥२१॥

ननु धर्मसहितं चरित्रम् उपदेष्टव्यं केवलं वा इति शङ्कायाम् आह.

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः ॥
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम् ॥२२॥

इदं हि इति. **इदं** चरित्रश्रवणं तपआदिभिः[१] तुल्यं, फलतः स्वरूपतः साधनतश्च भगवत्त्वात्, सर्वस्यापि तानि भगवान् इति. तत्र धर्मविशेषो वर्णाश्रमेषु प्रतिष्ठितः. तत्र **तपो** वानप्रस्थेषु संन्यासिषु वा, **श्रुतं** श्रवणं

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

अधिकम् इति. **तन्महानुभाव** इति पदं व्याचष्टे **अस्य भगवतः** इति ॥२१॥

इदं हि पुंसः इत्यत्र. **सर्वस्यापि तानि** इति, फल-स्वरूप-साधनानि

प्रकाशः

स्फुरिष्यति इति अर्थः. **अवतीर्णः** इति. अत्र व्यापिवैकुण्ठाद् अत्र आगमनरूपो 'अवतार'पदार्थो ज्ञातव्यः. **तत्**पदस्य अर्थः **अतः** इति. **शिव**पदस्य अर्थः **शान्तसुखाय** इति. **तन्महानुभाव** इति समस्तम् अभिप्रेत्य आहुः **अस्य** इत्यादि. **अवाङ्मनोगोचरत्वाद्** इत्यत्र वाक्सहितं मनः इत्येवं समासो बोध्यः ॥२१॥

इदं हि पुंसः इत्यत्र. **तानि** इति स्वरूप-साधन-फलानि. उक्तत्रिरूपतां

---

१. तपआदिस्तुल्यमिति क-ग.

वेदान्तानां तत् संन्यासिषु, **स्विष्टं** गृहस्थे, **सूक्तम्** अध्ययनं ब्रह्मचारिषु, क्षत्रिय-वैश्ययोः **बुद्धि-दाने** —एवं सर्वैः धर्मैः [१]यद् भवति तानि **च** **अविच्युतो अर्थः** न विच्युतः अर्थो येन. शास्त्रसिद्धौ अपि लोकसिद्धिः न भविष्यति इत्यतः आह **कविभिः** इति. **नितराम्** (**रूपणम्!**) इति युक्तिसहितम्. **उत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम्** अनूद्य **अविच्युतार्थत्वं** विधीयते. अतः एकेनैव सर्वसिद्धेः न तेषां पृथक्करणं नापि अकरणम् इति सिद्धान्तः. निषिद्धं तु न कर्तव्यम् ॥२२॥

एवं सामान्यतः[२] उपदेशम् उक्त्वा आदिसाधनम् आरभ्य फलपर्यन्तं पदार्थानां क्रमं वक्तुं निदर्शनेन स्वचरित्रम् आह सप्तदशभिः.

अहं पुराऽतीतभवेऽभवं मुने दास्यास्तु कस्याश्चन वेदवादिनाम् ॥
निरूपितो बालक एव योगिनां शुश्रूषणे प्रावृषि निर्विविक्षताम् ॥२३॥

अहम् इति. अतिहीनस्य अत्युत्कृष्ट-पदप्राप्तिः अस्मिन्नेव मार्गे,

---

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इति अर्थः. तथाच भगवत्त्वेन ऐक्यम् इति भावः. **निषिद्धं तु** इति, भजनबाधकं न कर्तव्यम् इति भावः ॥२२॥

प्रकाशः

विवृण्वन्ति **एवं सर्वैः** इत्यादिना. **अर्थ**शब्दस्य वस्तुनि प्रयोजने च रूढत्वात् तृतीयार्थे बहुव्रीहौ ''गूढो आत्मा'' इतिवद् वर्णविकृतौ **अविच्युतो अर्थः** इति पदं साधनमपि बोधयति इति त्रितयलाभः इति अर्थः. **अविच्युतार्थः** इति वा मूलपाठो अभिप्रेतः इति न कोऽपि शङ्कालेशः. **निषिद्धम्** इति. ''कः क्षेमो निजपरयोः'' (भाग.पुरा. ६।१६।४२), ''कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्रामम्'' (भग.गीता १७।६) इत्यादिषु यद् निन्दितं तद् इति अर्थः ॥२२॥

लेखः

इदं हि पुंसः इत्यत्र. **चकारार्थम्** आहुः **एवं सर्वैः धर्मैः सिद्ध्यति तानि च** इति. तानि अपि **चकारेण** सङ्गृहीतानि इति अर्थः ॥२२॥

---

१. धर्मैः सिद्ध्यति तानि इति पाठः लेखे -सम्पा. २. सामान्यं तमुपदेशमिति क.

न मार्गान्तरे, इति शापेन शूद्रत्वं प्राप्तस्य देवर्षित्वं निरूप्यते. **अतीतभवे** पूर्वजन्मनि. नैकट्यभ्रमव्यावृत्त्यर्थं **पुरा** इति, एतज्जन्मनो अजरामरत्वख्यापनाय. **मुने** इति उक्तविश्वासाय, संवादात्. पितृनाम न गृहीतं, तदानीम् अज्ञानात्, पितुः हीनत्वख्यापनाच्च. वस्तुतस्तु ब्राह्मणः, अन्यथा अनुमोदनादिकं न सम्भवति[1]. **कस्याश्चिद्** अप्रसिद्धायाः, अन्यथा आदरः सम्भवेत्, ततो बन्धः. अनेन अस्मिन् मार्गे यथा यथा निरादरत्वं तथा तथा कार्यसिद्धिः इति. **वेदवादिनः** श्रोत्रियाः, अनेन भगवन्मार्गापरिज्ञानम् उक्तम्. आश्रमिणां संन्यासिनाम् अयं धर्मो यद् मासाष्टकं कीटवत् पर्यटनं विधाय (**प्रावृषि!**)

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

अहं पुरा इत्यत्र **संवादाद्** इति. त्वया मननेन सर्वं ज्ञायते इव, संवादाद् विश्वासो भवति इति **मुनिपदम्** उक्तम् इति अर्थः. **तदानीमज्ञानाद्** इति, परमहंससेवातः पूर्वम् इति अर्थः. तथाच सेवाकथनात् प्रथमं न उक्तम् इति अर्थः. एवञ्च पूर्ववृत्तक्रमेणैव कथनम् इति भावः. **वस्तुतस्तु** इति. नारदो **वस्तुतो ब्राह्मणः** ब्राह्मणाद् उत्पन्नत्वाद् ब्राह्मणः इति अर्थः. युक्तिम् आहुः **अन्यथा** इति. अब्राह्मणत्वे उच्छिष्टभोजनार्थं परमहंसकृतम् **अनुमोदनं न सम्भवति** इति अर्थः. उत्तरार्धं व्याचष्टे **आश्रमिणाम्**

प्रकाशः

अहं पुरा इत्यत्र. **उक्तविश्वासाय संवादात्** मननेन ज्ञातस्य मज्जन्मनो वाक्येन संवादाद् उक्तविश्वासाय इति अर्थः. **तदानीम्** इति तस्मिन् जन्मनि वा परमहंससेवातः प्राग् वा. **न सम्भवति** इति शूद्रस्य उच्छिष्टदाननिषेधात्. **आश्रमिणाम्** इत्यादि. "वर्षासु ध्रुवशीलो अष्टौ एकाकी यतिः चरेद्" (आरुणि.उप. ४) इति आरुणीश्रुतेः, "चतुरो

लेखः

अहं पुरा इत्यत्र. **अन्यथा आदरः** इति. यदि सा प्रसिद्धा स्यात् तदा नारदस्य तस्याम् आदरो भवेद् अतो बन्धश्च भवेद् नारदस्य इति तथा उक्तिः इति भावः ॥२३॥

---

१. भवतीति क.

आषाढ्यां यत्र गच्छन्ति तत्र ब्राह्मणनिर्मित-विविक्तस्थाने तिष्ठन्ति इति. तथा दैवयोगाद् नारदस्य स्थितिगृहे प्रार्थनया ब्राह्मणानुज्ञया भावि-सनकादयः चत्वारः परमहंसाः स्थिताः. अपृथग्धर्मशीलत्वात् चतुर्णां सङ्गः. योगनिष्ठाः च, अतः सेवापेक्षा. तेषां शूश्रूषणार्थं ब्राह्मणैरेव **अहं निरूपितः** "त्वम् एतेषामेव सेवां कुरु, न अन्यत् किञ्चिद्" इति नियुक्तः. मत्स्वरूपम् अज्ञात्वापि **बालकएव** नियुक्तो **योगिनां (शुश्रूषणे!)** शुश्रूषार्थम्. "स्थास्यामश्चतुरो मासान्[१]" इति मासचतुष्टयम् एकत्रैव (**निर्विविक्षतां!**) नितरां वासम् इच्छताम्. एवम् एकेन सत्सम्बन्धः उक्तः. सेवार्थं सत्सङ्गः इति प्रथमं साधनम् ॥२३॥

ततः तेषां कृपाम् आह

ते मय्यपेताखिलचापलेऽर्भके दान्तेऽधृतक्रीडनकेऽनुवर्तिनि ॥
चक्रुः कृपां यद्यपि तुल्यदर्शनाः शुश्रूषमाणे मुनयोऽल्पभाषिणि ॥२४॥

ते मयि इति. सत्सेवकयोः गुण-दोषाभावाः अत्र निरूप्यन्ते. सतां गुणत्रयं— कृपालुत्वं, ब्रह्मविद्या, मननं च इति धर्मो, ज्ञानं, साधनञ्च

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इत्यारभ्य **वासमिच्छताम्** इत्यन्तेन. **मत्स्वरूपमज्ञात्वापि** इति. बालको अयं कथं योगिसेवां करिष्यति इति अविचार्य इति अर्थः. यद् वा दासीपुत्रत्वं ब्रह्मबीजत्वं वा अज्ञात्वा इति अर्थः. **सेवार्थम्** इति, भगवत्सेवार्थं सत्सङ्गः कर्तव्यः इति अर्थः ॥२३॥

प्रकाशः

मासान् वार्षिकान् ग्रामे नगरेऽपि वा वसेद्" (कठ. । । , द्रष्ट. संन्यासोप. १) इति कठश्रुतेश्च इति अर्थः ॥२३॥

---

१. "प्रायेण प्रावृषि प्राणिसंकुलवर्त्म दृश्यते, अतस्तेषाम् अहिंसार्थं पक्षा वै श्रुतिचोदनात्, स्थास्यामश्चतुरो मासान् अत्रैवासति बाधके, निवसन्तु सुखेनात्र गमिष्यामः कृतार्थतां, यथाविहितशुश्रूषां करिष्यामो वयं मुदा" इति यतीनां चातुर्मास्यसंकल्पः - सम्पा.

उक्तम्. अग्रे साधनकथनं ज्ञानानुवृत्तये. सेवकस्य दोषाभावाः त्रयः, गुणाः चत्वारः. चपलता दोषः. तद् देहेन्द्रियान्तःकरणानां प्रयत्नदार्ढ्याभावात् चपलतादोषः सहजः. स आदौ दृढप्रयत्नेन निवारणीयः. तद् आह **अपेतानि अखिलानि चापलानि** यस्माद् इति. **अर्भकत्वं** दीनत्वबोधको गुणः. तदनु दोषाभावद्वयम् आह **दान्ते अधृतक्रीडनके** इति. इन्द्रियाणां विषयाकाङ्क्षाराहित्यकरणं दमः, न धृतानि क्रीडनकानि येन. इन्द्रिय-कालकृतौ नियतौ दोषौ विषयसम्बन्धः क्रीडासाधनपरिग्रहश्च, तदभावे सर्वदोषनिवृत्तिः. ततो अन्तरङ्गं गुणम् आह **अनुवर्तिनि** इति. एवं स्वतः पञ्चसु सम्पन्नेषु तेषां परदुःखप्रहाणेच्छा जाता, परदुःखं[1] दृष्ट्वा दुःखितस्य कारुणिकस्य तन्निदानोच्छेदने तृष्णा भवति इति. ननु एतद् ब्रह्मविदो अनुचितं, तत्र आह **यद्यपि तुल्यदर्शनाः** इति. "निर्दोषं हि समं ब्रह्म" (भग.गीता ५।१९) तुल्यशब्दवाच्यम्. ब्रह्मज्ञानकृतं वा स्व-परयोः सुख-दुःखसमत्वज्ञानं **तुल्यं,** तस्य **दर्शनं** येषाम् इति. परदुःखं दृष्ट्वा तत्प्रहाणेच्छैव जाता, न ज्ञानम् अन्यथाजातम् इति अर्थः, दुर्बलत्वाद् इच्छामूलभूत-ज्ञानस्य.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

ते मयि इत्यत्र **दुर्बलत्वाद्** इति. **मुनयः** इत्यनेन साधनं उक्तमेव,

प्रकाशः

ते मयि इत्यत्र. **साधनकथनम्** इति गुणगानरूप-साधनकथनम्. **तदाह** इति, तस्य स्वत एव निवृत्तिम् आह इति अर्थः.

लेखः

ते मय्यपेता इत्यत्र. **कृपालुत्वम्** इत्यादि. इदं त्रयं चक्रुः. **कृपां तुल्यदर्शनाः मुनयः** इति त्रिभिः उक्तं क्रमेण **धर्मो** इत्यादि. इदमपि त्रयम् एतैः एव क्रमेण उक्तं— कृपारूपो **धर्मः**, तुल्यदर्शनरूपं **ज्ञानं,** मननात्मकं **च साधनम्** इति अर्थः. **अग्रे** इति. ... . **दोषाभावास्त्रयः** इति. ते च **अपेताखिलचापले दान्ते अधृतक्रीडनके** इति विशेषणत्रयेण उक्ताः. **चत्वारः** इति. ते च शिष्टैः चतुर्भिः विशेषणैः उक्ताः. **दुर्बलत्वाद्**

---

१. परं दुःखमिति ख.

ननु कार्यक्षमा कृपा न भविष्यति, बाधकज्ञानस्य विद्यमानत्वाद्, अतः आह **शुश्रूषमाणे** इति. सेवायाः सेच्छायाः[1] सेव्यवश्यत्वं[2] सर्वजनीनम्. ननु अनपेक्षायाः कथं वश्यताहेतुत्वं? तत्र आह **मुनयः** इति, मननबाधक-निवर्तिका सेवा अपेक्ष्यते एव. सेवायां सांसर्गिको दोषो बहुभाषणम् अभाषणं वा, तदुभयनिवर्तको गुणः **अल्पभाषणम्**. अनेन निर्दुष्टा सेवा द्वितीयं साधनम् इति ॥२४॥

ततो यद् जातं तद् आह.

उच्छिष्टलेपाद्यनुमोदितो द्विजैः सकृत् स्म भुञ्जे तदपास्तकिल्बिषः ॥
एवं प्रवृत्तस्य विशुद्धचेतसस्तद्धर्म एवात्मरुचिर्प्रजायते ॥२५॥

उच्छिष्टेति. पापनाशः तद्धर्मरुचिश्च ततोऽपि अन्तरङ्गं साधनम्. **उच्छिष्टं** भोजनशेषः, **लेपः** पात्र्यां लग्नं ; चतुर्णां तान् एकीकृत्य सकृद्भक्षणं

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

पुनः एतेषां ज्ञानादिकथनं कृपामूलकं भवति इति साहजिकत्वाभावाद् दुर्बलमेव इति भावः. **बाधकज्ञानस्य** इति. "न वयं दुःखिनः" इति बाधकज्ञानस्य सत्त्वाद् इति अर्थः. **अनपेक्षा** इति. न विद्यते अपेक्षा यस्याः सा तथा इति ॥२४॥

प्रकाशः

बाधकज्ञानस्य इति तुल्यदर्शनरूपस्य. **सेव्यवश्यत्वम्** इति फलम् इति शेषः. **अनपेक्षायाः** इति. न विद्यते अपेक्षा यस्याः सा अनपेक्षा. तुल्यदर्शनत्वेन अनपेक्षितायाः सेवायाः इति अर्थः. **द्वितीयम्** इति. निर्दुष्टा अनुवृत्तिः प्रथमं साधनं, तदपेक्षया इदं द्वितीयम् इति अर्थः ॥२४॥

लेखः

इति. दुःखप्रहाणेच्छायां मूलभूतं परदुःखदर्शनमेव. तच्च तादृशीम् इच्छाम् उत्पाद्यैव उपक्षीणं, नतु अग्रे भेदादिबुद्धिजननादिना मूलज्ञानान्यथाकरणे समर्थमपि, दुर्बलत्वाद् इति अर्थः ॥२४॥

उच्छिष्ट इत्यत्र. **चतुर्णाम्** इति, योगिनां चतुर्णां भावि-सनकादीनाम्

१. स्वेच्छाया इति ख. २. सेव्यवशत्वमिति ख.

पापक्षयसाधनम्. ननु "न शूद्राय मतिं दद्याद् नोच्छिष्टं न हविष्कृतम्"(मनुस्मृ. ४।८०) इत्यादि-मनुवाक्यैः निषिद्धम् उच्छिष्टादिदानं कथं कृतवन्तः ? तत्र आह **अनुमोदितः** इति. तस्यैव इयम् इच्छा उत्पन्ना "शुद्धसत्त्वान्धसा महापुरुषोच्छिष्टेन अतिपवित्रेण आत्मानं पावयिष्यामि" इति. ततः उच्छिष्टं दृष्ट्वा मोदो जातः. तत्र प्रार्थनायाम् (**द्विजैः!**) अनुमोदनमात्रं कृतं, नतु स्वयम् उद्यम्य दत्तम् इति. नच अयं सर्वथा शूद्रः, ब्रह्मबीजत्वात्. (**सकृद् भुञ्जे!**) गृहस्थानां च अयं धर्मः, तत्रापि साधारणेषु. सेवा च पुष्टिमार्गे सस्नेहा. कृपाफलं च एतत् ; यथा औषधेन अजीर्णनिवृत्तिः तथा अन्नमयस्य देहस्य उच्छिष्टान्न-साधितदेहेन दोषसन्ताननिवृत्तिः इति

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

उच्छिष्टलेप इत्यत्र **तस्यैवेयम्** इति. जन्मान्तरीयवृत्तान्तकथनात् **तस्यैव** इति उक्तम् इति ज्ञेयम्. इच्छास्वरूपम् आहुः **शुद्धसत्त्वान्धसा** इति. शुद्धसात्त्विकाभ्यवहार्यौदनेन इति अर्थः. स्वयं दानेऽपि न दोषः इति आहुः **न च** इति. प्रकारान्तरेण समाधानम् आहुः **गृहस्थानाम्** इति. "**न शूद्राय**" इति तु गृहस्थविषयम् इति अर्थः. **तत्रापि** इति, गृहस्थमध्येऽपि **साधारणेषु** गृहस्थधर्ममात्रनिष्ठेषु "न शूद्राय" इति उक्तं, नतु पुष्टिमार्गीयभक्तगृहस्थेषु अयं धर्मः इति भावः. पुष्टिमार्गीयप्रकारम् आहुः **सेवा च** इति. पुष्टिमार्गे महापुरुषसेवा स्नेहेन कर्तव्या भवति इति **सस्नेहाः**. महापुरुष**कृपाफलं च (एतद्!)** सेवकाय स्वोच्छिष्टदानम्. तथाच "न शूद्राय" इति धर्मः साधारणगृहस्थाधिकारेण उक्तः, नतु पुष्टिमार्गीयम् अधिकृत्य इति भावः. **उच्छिष्टभोजनैक** इति. लोके मुखदौर्गन्ध्यं

प्रकाशः

उच्छिष्टलेपेत्यत्र. **अयं धर्मः** इति शूद्राय मत्यदानादिरूपः[१]. **तत्रापि साधारणेषु** इति शूद्रेऽपि सेवकव्यतिरिक्तेषु. "**न शूद्राय**" इति वाक्यस्य स्नातकप्रकरणस्थत्वेन शूद्रस्य च अविशिष्टत्वेन तथा इति अर्थः. मार्गभेदेनापि अदोषम् आहुः **सेवा च** इत्यादि. **अस्य न्याय** इत्यादि. "यस्य

---

१. शूद्रायामत्य- इति मुद्रितपाठः. कि.पाठे तु एवम् - सम्पा.

अर्थः. तद् आह **तदपास्तकिल्बिषः** इति. उच्छिष्टभोजनैकनियमेनापि दोषनिवृत्तिः लोकसिद्धा इति **स्म** इति उक्तम्. रोचकद्रव्येण अरुचिनिवृत्तौ इव सद्धर्मरुचिप्रतिबन्धक-दोषनिवृत्तौ स्वतः एव रुचिः जाता इति आह **एवम्** इति. **प्रवृत्तस्य** इति निरन्तरकरणम् उक्तम्. नियमेन चित्तं शुद्धं जातम् इति आह **विशुद्धचेतसः** इति. (**तद्धर्मः!**) तेषां धर्मः अपरिग्रह-सङ्गनिवृत्ति-भगवच्चिन्तनादिः, तत्र प्रेरणाव्यतिरेकेण **आत्मनः एव रुचिः** (**प्रजायते!**) उत्पन्ना. सा च वृद्धिं प्राप्ता इति अर्थः. अस्य न्यायसिद्धत्वकथनाय लट्प्रयोगः[१] ॥२५॥

एवम् आन्तरं दोषाभावं गुणञ्च उक्त्वा बहिर्गुणम् आह.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

ब्राह्मणोच्छिष्टभोजनेन गच्छति इति प्रसिद्धिः. यद् वा सापराधसेवकेन तथाकरणे स्वामिनः सन्तोषो भवति इति. **अपरिग्रह** इति, अपरिग्रहश्च असौ सङ्गनिवृत्तिश्च इति कर्मधारयः. **अस्य न्यायसिद्धत्व** इति. **अस्य** उच्छिष्टभोजनस्य **न्यायसिद्धत्वकथनाय** सूत्रसिद्धत्वज्ञापनाय **भुञ्जे** इति लङ्लकारप्रयोगः कृतः. तथाच स्मयोगे भूतार्थोऽपि विशेषसूत्रेण लङ् भवति इति लटो विशेषसूत्रसिद्धत्वेन लट्प्रत्ययान्तवाच्यस्य भोजनस्यापि लटा लौकिकसूत्रोक्तत्वं ज्ञाप्यते इति भावः ॥२५॥

प्रकाशः

येन गुणः तस्य तत्र रुचिः” इति लोकन्यायसिद्धत्वकथनाय **स्म** इति अनुषज्य **प्रजायते** इति लट्प्रयोगः कृतः, अन्यथा ‘व्यजायत’ इत्येव प्रयुञ्ज्याद् इति अर्थः ॥२५॥

लेखः

इति अर्थः. **लट्प्रयोगः** इति. मूले **रुचिः स्म जायते** इति **प्रजायते** इति वा पाठम् अभिप्रेत्य इदम् उक्तम् ॥२५॥

---

१. लङ्प्रयोगः इति मुद्रितपाठः टीकात्रयानुरोधात् शोधितः - सम्पा.

**तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायताम् अनुग्रहेणाशृणवं मनोरमाः ॥
ताः श्रद्धया मेऽनुपदं विशृण्वतः प्रियश्रवस्यङ्ग ममाभवद् रुचिः ॥२६॥**

तत्र इति. **अन्वहम्** इति **अशृणवम्** इत्यनेन सम्बध्यते. परमहंसानां वा नित्यो अयं धर्मः इति ख्यापयितुं ; **कृष्ण**पदात् परमहंसाः अपि एते भक्ताः इति ज्ञापितम्. गानं प्रेमाधिक्यात्, **प्रकृष्टगानं**[1] तद्भावेन. **अनुग्रहेण** इति आज्ञया श्रवणं बोध्यते, नतु प्रासङ्गिकम्. **कथा-मनोरम**पदाभ्यां अर्थम् अभिप्रायं ते बोधयन्ति इति लक्ष्यते. निर्बन्धेन श्रवणाभावाय आह **मनोरमाः** इति, मनसो रमणं यासु. एवम् एका श्रवणभक्तिः सिद्धा. तस्याः नारदत्वपर्यन्तं[2] फलम्. ततः कीर्तनम् इति साम्प्रतं तु कीर्तनम्. एवम् अग्रे स्मरणादिवृद्धौ तावद्भिः कल्पैः नवविध-साधनभक्तौ सिद्धायां प्रेम्णा भगवत्सायुज्यं भवति इति शास्त्रार्थः. तत्र श्रवणफलम् आह **ताः श्रद्धया** इति. श्रवणादीनां न अदृष्टद्वारा फलसाधकत्वं किन्तु स्वरूपेणैव. फलं च भगवद्याथार्थ्यज्ञानम्. तदैव हि कीर्तने अधिकारः[3]. उत्तरस्य

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

तत्रान्वहम् इत्यत्र. **अन्वहं प्रगायताम्** इति वा सम्बन्धः इति अभिप्रायेण आहुः **परमहंसानां वा** इति. **तद्भावेन** इति, भगवति प्रेम्णा इति अर्थः. **नारदत्वपर्यन्तम्** इति, तया भक्त्या नारदत्वं मम सम्पादितम्. **ततः** इति, नारदत्वानन्तरं **कीर्तनं** फलम् इति अर्थः. **साम्प्रतं तु** इति तुशब्देन अन्यव्यावृत्तिः. इदानीं तु कीर्तनाख्यैव भक्तिः मम वर्तते इति भावः. **अनुपदं** पदस्य अभिप्रायम् आहुः **उत्तरस्य** इति. रुचिलक्षणम्

प्रकाशः

तत्र अन्वहम् इत्यत्र. **ख्यापयितुम्** इति, **अन्वहम्** इत्यस्य **प्रगायताम्** इत्यनेन सम्बन्धः इति शेषः. **तद्भावेन** इति, भगवति प्रेम्णा इति अर्थः. **तस्या** इत्यादि. तया श्रवणभक्त्या नारदत्वं सम्पादितम् इति सा अन्यस्यापि एतावत्त्वसम्पादिका इति अर्थः. **श्रवणफलम्** इति श्रवणस्य प्राथमिकं

---

१. प्रकृष्टज्ञानमिति घ. २. नादत्वेति ग. ३. कीर्तने वाऽधिकार इति क.

आदिना हि पूर्वस्य अवसानम् अतः श्रवणस्य नैरन्तर्यं कर्तव्यम्. तद् आह **ताः** कथाः. अत्यादरेण **अनुपदम्** इति, पदार्थाक्षरार्थसहितेन वाक्येन हि श्रवणम्. ततो भगवति **रुचिः**, परं श्रवणद्वारा, तद् आह **प्रियश्रवसि** इति, प्रियं श्रवः श्रवणं कीर्तिः वा यस्य. **अङ्ग** इति कोमलामन्त्रणम् अप्रतारणाय. प्रमाणबलं परित्यज्य इन्द्रियाणां स्वाभाविक-विषयग्रहणं **रुचिः** ॥२६॥

ततः किम् अतः आह

तस्मिंस्तदा लब्धरुचेर्महामुने प्रियश्रवस्यस्खलिता मतिर्मम ॥
ययाहमेतत्सदसत् स्वमायया पश्ये मयि ब्रह्मणि कल्पितं परं ॥२७॥

तस्मिन् इति. रुच्या हि भगवदनुभवार्थं यत्नो लोकसिद्धः. स च यत्नो ज्ञानात्मकः[1] इति तद् आह **रुचेः**. फलस्य कालान्तरत्वं व्यावर्तयति **तदा** इति. रुचेः दृढत्वाय **लब्धेति**. **महामुने** इति सम्बोधनं रुचि-मत्योः नियमार्थम्. प्रोषितभर्तृका इव[2] तदभिध्यानम् अत्र **मतिः**, शास्त्रतो वा

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

आहुः **प्रमाणबलम्** इति. श्रवणस्य विहितत्वेन कर्तव्यत्वज्ञानं परित्यज्य इति भावः ॥२६॥

तस्मिंस्तदा इत्यत्र. **रुच्या हि** इति. भगवति रुचौ सत्यां तदनुभवार्थं यत्नं कुर्याद् इति भावः. रुचेः यत्नसाधनत्वे प्रमाणम् आहुः **लोकसिद्धः** इति. लोके यत्र विषये रुचिः तदर्थं सर्वैः एव यत्नः क्रियते इति भावः. **तदाह** इति, **मतिः** इत्येतद् अनुसन्धेयम्. **नियमार्थम्** इति, अव्यभिचरित-कार्यकारणभावज्ञापनाय इति अर्थः. तथाच अस्मिन् अर्थे तव संवादो भविष्यति इति आशयेन इति भावः. प्रसंगात् पुष्टिमार्गीयमति-लक्षणम्

प्रकाशः

फलम्. **अतः** इति उत्तरारम्भाभावे पूर्वविच्छेदस्य अप्रयोजकत्वात्. **अनुपदम्** इति, पदं लक्षीकृत्य इति अर्थः. **हिः** हेतौ ॥२६॥

तस्मिन् इत्यत्र. **नियमार्थम्** इति कार्यकारणभावाऽव्यभिचारार्थम्.

१. दानात्मक इति घ. २. चेति ख.

याथार्थ्यज्ञानम्[१]. तत्र स्खलनं विषयान्तरानुसन्धानं सन्देहो वा, तदुभयं नास्ति इति **अस्खलिता.** तत्रापि श्रवणपुरस्सरेण इति **प्रियश्रवसि** इति उक्तम्. "यो यच्छ्रद्धः स एव स" (भग.गीता १७।३) इति वाक्यात् परमश्रद्धायाम् उत्पन्नायां सफलरुचिरूपायां तत्त्वम् आवश्यकम् इति तद् आह **यया अहम्** इति. प्रथमाधिकारार्थम् आह. **यया** मत्या **अहम्** एव ब्रह्म, **मयि** एव सकलं जातं, **परं मायया परिकल्पितम् एतत् (सदसत्!)** स्थूल-सूक्ष्मं शरीरं जगद् वा. **मायया** पूर्वोक्तया. "अस्य जगतः प्रतीतिमात्रस्य अहं ब्रह्म अधिकरणं, माया करणम्" इति (**पश्ये!**) ज्ञातवान् इति अर्थः. प्रपञ्चव्यतिरिक्ततया ब्रह्मात्मानुभवो[२] जातः इति यावत् ॥२७॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

आहुः **प्रोषित** इति. प्रकृतम् आहुः **शास्त्रतो वा** इति. पुष्टिमार्गीय-मतिस्खलन-लक्षणम् आहुः **विषयान्तर** इति. प्रकृतम् आहुः **सन्देहः** इति. **तदुभयम्** इति तु **अस्खलित**पदव्याख्यानुरोधेन **विषयान्तर** इति लक्षणोक्त-स्खलनस्य निषेधः कृतः. प्रकृते तु सन्देहाभावः एव अभिप्रेतः इति ज्ञेयम्. **तत्रापि श्रवणपुरःसरेण** इति. ज्ञानोत्पत्तौ अपि श्रवणसाहचर्येणैव ज्ञानम् उत्पादितं, नतु कारणान्तरसाहचर्येण इति अर्थः. **सफल** इति तु **परम** इत्येतस्यैव व्याख्यानम् इति ज्ञेयम्. फलं ज्ञानं, तत्सहितायां सत्याम् इति अर्थः. **तत्त्वम्** इति, अभेदज्ञातृत्वम् इति अर्थः. **अधिकारार्थम्** इति. तदानीं मम हीनाधिकारः स्थितः इति ज्ञापनाय एतादृशं ज्ञानम् आह इति अर्थः. **स्थूल** इति, **स्थूलं** दृश्यमानं **सूक्ष्मं** लिङ्गशरीरम् इति अर्थः. जगत्पक्षे **सूक्ष्मं** भूतानि **स्थूलं** भौतिकम्. **पूर्वोक्तया** इति, "स एवेदं ससर्जाग्रे" (भाग.पुरा. १।२।३०) इति प्रथमप्रकरण-श्लोकोक्तया इति अर्थः. **माया**

प्रकाशः

तत्त्वम् आवश्यकम् इति, तद्रूपता अवश्यभाविनी इति अर्थः. **पूर्वोक्तया** इति "स एवेदं ससर्ज" इत्यत्र उक्तया. **अस्य** इत्यारभ्य **यावद्** इत्यन्तेन

---

१. यथार्थज्ञानमिति क-ग. २. ब्रह्मानुभव इति ख.

एवं भगवद्भावम् आपन्नस्य निरन्तरम् अनुवर्तमान-श्रवणेन ज्ञान-भक्तिभ्यां परमस्नेहो जातः इति आह.

इत्थं शरत्प्रावृषिकावृतू हरेर्विशृण्वतो मेऽनुसवं यशोऽमलम् ॥
सङ्कीर्त्यमानं मुनिभिर्महात्मभिर्भक्तिः प्रवृत्तात्मरजस्तमोपहा ॥२८॥

इत्थम् इति. श्रवणस्य भेदान्तराणि सन्ति इति तन्निवृत्त्यर्थम् **इत्थम्** इति. **शरत्-प्रावृषिकौ ऋतू** मासचतुष्टयं पञ्चकं वा. देहादिक्लेशस्य अस्फुरणम् आह **हरेः** इति. **विशेषेण शृण्वतः** इति श्रवणानुवृत्तिः. न यतः कुतश्चित्, तथा सति निरङ्गत्वात् फलं न साधयेद्, अतो **मुनिभिः महात्मभिः सङ्कीर्त्यमानम्** इति. **मुनिभिः** इति, स्वफले श्रवणवत्

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

करणम् इति, साधकतमं करणम् इति अर्थः ॥२७॥

इत्थं शरद् इत्यत्र **पञ्चकं वा** इति. "पक्षा वै मासा" (संन्यासोप. १) इति श्रुतेः पञ्चपक्षपर्यन्तं स्थिताः. तत्र एको मासः शरदः चत्वारो वर्षाकालस्य इत्यभिप्रायेण **पञ्चकम्** इति उक्तम्. तथाच पितृपक्षानन्तरं ते चलिताः इति भावः. **मुनिपदस्य** व्यङ्ग्यम् आहुः **स्वफले** इति. स्वस्य यथा ज्ञाने श्रवणं साधनं तथा तेषां ज्ञाने मननम्

प्रकाशः

"इदं हि विश्वम्" (श्लो. २०) इति श्लोकोक्त-त्रेधानिरूपण-मध्ये "इतरो भगवान्" इति प्रथमाधिकारकज्ञानस्य अत्र स्वस्मिन् प्रथमं भवनं विवृतम् ॥२७॥

इत्थम् इत्यत्र. 'मासचतुष्टयम्' इति अनुक्त्वा **शरत्प्रावृषिकावृतू** इति उक्त्या सूचितम् अर्थान्तरम् आहुः **पञ्चकं वा** इति. वैद्यके "प्रावृण्मिथुन-कर्कटौ सिंह-कन्ये स्मृता वर्षा तुला-वृश्चिकयोः शरद्[1]" (भाव.प्रका. १।५।३२४) इति कथनात् शरदो वृश्चिकान्तत्वेन पञ्चर्तुपक्षे प्रावृषः चतुर्मासात्मकत्वेन षण्मासप्राप्तौ अपि आषाढीम् आरभ्यैव संन्यासिनः

---

१. "ग्रीष्मो मेष-वृषौ प्रोक्तः प्रावृण् मिथुन-कर्कटौ, सिंह-कन्ये स्मृता वर्षा तुला-वृश्चिकयोः शरद्, धनुर्ग्राहौ च हेमन्तौ वसन्तः कुम्भ-मीनयोः" (भावमिश्ररचित-भावप्रकाशे १।५।३२४-५) -सम्पा.

मननं ज्ञानसाधनम्. कीर्तनानुवृत्त्यर्थम् **महात्मभिः** इति. "महात्मानस्तु मां पार्थ" (भग.गीता ९।१०-११) इति श्लोकद्वयार्थो अत्र अनुसन्धेयः. सा **भक्तिः** स्पर्शमणिरूपा जाता इति आह **आत्मरजस्तमोपहा** इति. अन्तःकरणं वसुदेवरूपं जातम् इति अर्थः ॥२८॥

अत्र हि भगवदावेश-व्यतिरेकेण आविर्भावो[१] न भविष्यति[२] इति तेषां कृपया तज्जातम् इति आह **तस्यैवम्** इति द्वाभ्याम्.

तस्यैवं मेऽनुरक्तस्य प्रश्रितस्य हतैनसः ॥
श्रद्दधानस्य बालस्य दान्तस्यानुचरस्य च ॥२९॥
ज्ञानं गुह्यतमं यत्तत् साक्षाद्भगवतोदितम् ॥
अन्ववोचन् गमिष्यन्तः कृपया दीनवत्सलाः ॥३०॥

पूर्वजातसाधनानां वासुदेवपर्यन्तम् अनुवृत्तिः करणीया[३] इति तान् अनुवदति. **अनुरक्तस्य** इति अनुवृत्तिपर्यन्तानि गृहीतानि. (**प्रश्रितस्य!**)

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इति **मुनिपदस्य** व्यङ्ग्यम्. **महात्मपद**व्यङ्ग्यम् आहुः **कीर्तन** इति. **वसुदेवरूपम्** इति, शुद्धसत्त्वात्मकं जातम् इति अर्थः; "सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितम्" (भाग.पुरा. ४।३।२३) इति ॥२८॥

तस्यैवम् इत्यत्र. **पूर्वजात** इति. पूर्वकृतानां सात्त्विकत्वपर्यन्तमावृत्तिः कार्या इति अभिप्रायेण तेषाम् अनुवादं करोति इति अर्थः. **गृहीतानि**

प्रकाशः

स्थितेः उक्तत्वाद् गते मिथुने मासपञ्चकमेव ऋतुद्वयं भवति इति तथा इति अर्थः. **ज्ञानसाधनम्** इति तेषाम् इति अर्थात् ॥२८॥

लेखः

इत्थं शरद् इत्यत्र. **पञ्चकं वा** इति. ... . **स्वफले श्रवणवद्** इति. **स्वेन** नारदेन प्राप्ते **फले श्रवणं** साधनं तथा ऋषिणां **ज्ञाने मननं साधनम्** इति अर्थः. **श्लोकद्वयार्थः** इति. इदं श्लोकद्वयं गीतायां नवमाध्याये अस्ति ॥२८॥

---

१. आविर्भावा इति घ.   २. भविष्यन्तीति घ.   ३. कारणीयेतीति ग.

शुश्रूषालक्षणो विनयो भिन्नप्रक्रमेण इति पृथगुक्तः, तथा (**हतैनसः!**) पापनिवृत्तिः. अत्युपकारित्वाद् (**दान्तस्य!**) दीनत्वस्य पृथगुक्तिः. अनुक्तसर्वसमुच्चयार्थं **चकारः**. अनुवादे क्रमापेक्षाभावाद् विपर्ययेण कथनं न दोषः. अस्ति किञ्चिद् ज्ञानं सर्ववेदान्तप्रतिपाद्यं– पञ्चरात्राद्यागमैश्च गुरूपदेशेन च यद् अभिव्यज्यते, यथा "कं ब्रह्म"-"खं ब्रह्मो"पाख्याने (छान्दो.उप. ४।१०।५)– यस्मिन् जाते पुमान् ब्रह्मविद् भवति सर्वज्ञः तेजस्वी च. ततोऽपि महोपनिषत्प्रतिपाद्यं देवगुह्यत्वाद् गुह्यतरम्. ततोऽपि पुरुषोत्तमप्रतिपाद्यं "भक्त्या मामभिजानाति" (भग.गीता १८।५५) इति रूपं, यस्मिन् [1]अनुसंहिते भगवदाविर्भावो भवत्येव ; तद् **गुह्यतमं साक्षाद् भगवता** कृष्णेन उक्तम्. **यत्तदिति** विशेषतो अवक्तव्यम्. तेषामपि हृदये भगवदिच्छया उपदेशार्थम् आगतम् **अनु** पश्चाद् **अवोचन्**. एतस्य

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इति. "ते मय्यपेता" (श्लो. २४) इति श्लोके पूर्वार्धोक्तानाम् एव अत्र अनुवादः कृतः इति अर्थः. **प्रश्रितस्य** इत्यस्य न अनुवादः इति आहुः **अत्युपकारित्वाद्** इति. परमहंसानाम् उपदेशदाने कारणीभूत-परदुःखप्रहाणेच्छायां नारदस्य दीनत्वम् एव **अत्युपकारि** अत्यन्तकारणम् इति **पृथगुक्तिः** इति अर्थः. एवञ्च **प्रश्रितस्य हतैनसः** इति विशेषणद्वयं ज्ञानोपकारकत्वेन अस्मिन् श्लोके उक्तम्, अन्येषाम् अन्तःकरणस्य शुद्धसात्त्विकत्वसम्पत्तिपर्यन्तम् अनुवृत्तिः कर्तव्या इति अभिप्रायेण अनुवादः कृतः इति आशयः. ननु भिन्नत्वेन वक्तव्यस्य अनुवाच्यविशेषणोक्त्यनन्तरं कथनम् उचितम् इति आशङ्क्य आहुः **अनुवादे क्रम** इति ॥२९॥

ज्ञानं गुह्यतमम् इति श्लोकं व्याचष्टे **अस्ति किञ्चिद्** इति. **तमप्प्रत्ययार्थम्** आहुः **यथा कं ब्रह्म** इत्यारभ्य **तद् गुह्यतमम्** इत्यन्तेन.

प्रकाशः

तस्यैवम् इत्यत्र. **पृथगुक्तिः** इति बालपदेन पृथक्कथनम् ॥२९॥

ज्ञानं गुह्यतमम् इति श्लोकं व्याकुर्वन्ति **अस्ति किञ्चिद्** इत्यादिना.

---

१. अनुसान्धित इति ख-ग.

परमकाष्ठात्व-ज्ञापनाय आह **गमिष्यन्तः** इति. एतत्कथने प्रश्नान्तरं साधनान्तरञ्च नास्ति इति आह **कृपया** इति. तत्रापि हेतुः **दीनवत्सलाः** इति. वत्सं लाति इति वत्सलो ग्राहकः स्नेहः, तद्वान् वा. पिता पुत्रे इव दीनेषु ते इति अर्थः ॥२९-३०॥

ततः तव किं जातं तद् वक्तव्यम् इति आकाङ्क्षायाम् आह.

येनैवाहं (/ अहो !)[१] भगवतो वासुदेवस्य वेधसः ॥
मायानुभावमविदं येन गच्छन्ति तत्पदम् ॥३१॥

येनैव अहम् इति. **भगवतो वासुदेवस्य** इति हृदये विद्यमानस्यैव. **अहो** इति आश्चर्यम्. (**वेधसः !**) विद्यमानः प्रकाशमानएव न स्फुरति इति **मायानुभावः**. (**अविदं !**) लेखनदशा अनुसन्धेया. **येन गच्छन्ति**

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

परमकाष्ठात्व इति. लोके गृहस्थापन-परिचर्यादिना प्रसन्नतापादक-जनाय महापुरुषः अत्युत्तमं वस्तु गमनसमये प्रयच्छति इति अस्य उपदेशस्य गमनसमये दानात् परमकाष्ठापन्नत्वम् इति अर्थः. **तत्रापि** इति. सत्याम् अपि कृपायाम् उपदेशे हेतुः इति अर्थः. यद्वा कृपायाम् इति अर्थः. मत्वर्थीय-प्रत्ययान्तं वा **वत्सल**पदम् इति आशयेन आहुः **तद्वान् वा** इति ॥३०॥

येनैवाहम् इत्यत्र **येनैवाहो** इति पाठं व्याचष्टे **'अहो' इति आश्चर्यम्** इति. **अविदम्** इति पदं व्याचष्टे **लेखनदशा** इति. यथा विद्यमानोऽपि

प्रकाशः

वत्सं लाति इत्यादि. अत्र स्नेहपक्षे दीनेषु वत्सलो येषाम् इति व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः ॥३०॥

येनैव इत्यत्र. **अहो** इति पाठान्तरं ज्ञेयम्. ननु प्रकाशमानस्य कथम् अस्फूर्तिः इत्यतः आहुः **लेखनदशानुसन्धेया** इति. यथा हृदि विद्यमानानां प्रकाशमानानामपि वाक्यानां लेखनवैयग्र्येण न स्फूर्तिः तथा अत्र इति बोध्यम् इति अर्थः. भगवदुक्तज्ञानस्य फलं वदन्तो **येन** इति

---

१. येनैवाहो इति वैकल्पिकः पाठः - सम्पा.

तत्पदम् इति क्रममात्रेण हेतुना, नतु[1] तत्र कश्चन व्यापारो मृग्यः इति भावः ॥३१॥

एवं[2] भगवत्पदप्राप्तिपर्यन्तं पदार्थाः निरूपिताः. तत्र एवं सन्देहः— "ते मय्यपेताखिलचापलेऽर्भके" (श्लो. २४) इत्यादिसाधनानि कुतो भवन्ति इति, कर्म-कालादीनां प्रतिबन्धकत्वात्. तत्र कालस्य प्रतिबन्धकत्वाभावाय उपायम् आह.

एतत्संसूचितं ब्रह्मंस्तापत्रयचिकित्सितम् ॥
यदीश्वरे भगवति कर्म ब्रह्मणि भावितम् ॥३२॥

एतद् इति. कथारत्यभावे अशनादयः प्रतिबन्धकाः दृष्टाः, कर्म च अदृष्टद्वारा, तद्द्वारा हेतुः कालः. तत्र प्रथमं दृष्टप्रतिबन्धको दूरीकर्तव्यः. स च[3] तापत्रयात्मकः, "एतैरुपद्रुत"(भाग.पुरा. ४।२९।४) इति वचनात्.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

अर्थः पूर्वं न ज्ञायते, लेखनेन तु टीकादिना तस्य स्फुरणं, तथा प्रकाशमानएव भगवान् अज्ञातः तादृग्ज्ञानेन अवज्ञातः इति इयं **दशा** अयं प्रकारो अनुसन्धेयः इति अर्थः. तथाच मया इदं सर्वं ज्ञातम् इति भावः. यद् वा मनसि ज्ञायमानं वस्तू यथा लेखनेन चित्रलेखनेन साक्षाद् दृश्यते तथा अनेन इति अर्थः. तथाच मम मानससाक्षात्कारो जातः इति आशयः. **क्रममात्रेण** इति. सत्सङ्गम् आरभ्य क्रमस्य करणे सर्वथा साक्षात्कारिज्ञानं भवति इति अर्थः. **मात्रपदस्य** अर्थम् आहुः **नतु** इति. व्यापारो अदृष्टादिकारणान्तरं वा न अन्वेषणीयम् इति अर्थः ॥३१॥

एतत्संसूचितम् इत्यत्र. **अशनादयः** इति, क्रमेण प्रतिबन्धकाः इति

प्रकाशः

पदस्य अर्थम् आहुः **क्रमे**त्यादि. तथाच मायानुभावज्ञान-क्रममात्रेण, नतु तद् व्यापारीकृत्य इति अर्थः ॥३१॥

एतद् इत्यत्र. **"एतैरुपद्रुत"** इति. "तस्मिन् महन्मुखरिता मधुभिच्चरित्र-पीयूषशेषसरितः परितः स्रवन्ति, ता ये पिबन्त्यवितृषो नृप गाढकर्णैस्तान्न स्पृशन्त्यशनतृड्भयशोकमोहाः, एतैरुपद्रुतो नित्यं जीवलोकः

१. ननु इति ख. २. एवञ्चेति ख. ३. चेति नास्ति ख.

तत्र यद्यपि सत्सङ्गेन[१] कथासाधनत्वेन उक्ता तथापि बहुसापेक्षत्वात् सैव न भविष्यति इति स्वतन्त्रम् एकं साधनम् आह. **एतद्** वक्ष्यमाणं **सम्यक् सूचितं** न स्पष्टतया उक्तं नापि सन्दिग्धम्. तस्य परिज्ञानं तव भविष्यति इति अभिप्रायेण आह हे **ब्रह्मन्**. तापत्रयनिराकरणार्थं **चिकित्सितम्**. यथा विषं सर्वनाशकमपि सर्वरोगनिवर्तकत्वेन द्रव्यान्तरैः भावनया चिकित्स्यते तथा कर्मापि सर्वनाशकं सर्वदोषनिवृत्तये भगवद्रूपेण चिकित्स्यते[२] इति आह **यदीश्वरे** इति. (**ईश्वरे!**) प्रभुरूपे[३] (**भगवति!**) षड्गुणैश्वर्यसम्पन्ने[४] उत्कृष्टैः पदार्थैः सुन्दरे **ब्रह्मणि** अपाषण्डे वेदान्तवेद्ये **कर्म भावितं** योजितम् इति अर्थः. भावनया प्रापितं वा ॥३२॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

अर्थः. **तत्र यद्यपि** इति. **तत्र** दृष्टादृष्टप्रतिबन्धक-दूरीकरणे **तत्सङ्गेन** जायमाना **कथा** साधनं भवति इति अर्थः. **बहुसापेक्षत्वाद्** इति, बहुकारणसापेक्षत्वाद् इति अर्थः. चापलाद्यभावे हि कथाश्रवणं भवति इति आशयः. **वेदान्तवेद्ये** इति, **अपाषण्ड**पदव्याख्यानम् एतत्. तथाच त्रैलोक्यसुन्दरं ब्रह्म वेदान्तप्रतिपाद्यम्, अन्यादृशं तु पाषण्डम् इति आशयः ॥३२॥

प्रकाशः

स्वभावजैः, न करोति हरेर्नूनं कथामृतनिधौ रतिम्" (भाग.पुरा. ४।२९।३-४) इति वचनाद् इति अर्थः. **योजितम्** इति, "यत्करोषि यदश्नासि" (भग.गीता ९।२७) इत्युक्तया रीत्या भगवति अर्पितं, तत्र "शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः, सन्न्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि" (भग.गीता ९।२८)

लेखः

एतत्संसूचितम् इत्यत्र. "**एतैरुपद्रुत**" **इति वचनाद्** इति. ... **तत्र यद्यपि** इति. तापत्रयनाशे यद्यपि सत्सङ्गसहिता कथा साधनत्वेन उक्ता तथापि कथायाः वक्तृ-देशाद्यनेक-सापेक्षत्वात् सा एव दुर्लभा इति तदर्थं सरलं तस्य साधनम् आह इति अर्थः ॥३२॥

---

१. तत्सङ्गेनेति घ-टिप्पण्याम् -सम्पा. २. विचिकित्स्यत इति ख.

३. प्रभुरूपेणेति घ. ४. षडैश्वर्य्यैति घ.

तत्रैव[1] विशेषम् आह.

आमयो यश्च भूतानां जायते येन सुव्रत ॥
तदेव ह्यामयं द्रव्यं न पुनाति चिकित्सितम् ॥३३॥

आमयः इति. येनैव कर्मणा नाशः शङ्कनीयः तदेव भगवति भावनीयम् इति. **आमयः** कफ-पित्तादिः. **येन** माषादिना. **सुव्रत** इति सम्बोधनात् तादृशं तु तव नास्ति इति तव महद्भाग्यम् इति प्रशंसा. **तदेव चिकित्सितम् आमयद्रव्यं न** किन्तु अन्यदपि द्रव्यान्तरं पूर्वभक्षितं **पुनाति.** अतो येनैव कर्मणा बन्धः तदेव कर्म भगवति भावितं पुरुषं पुनाति इति अर्थः ॥३३॥

ननु पूर्वकृतकर्मणां बाधकानां विद्यमानत्वात् तैः तापत्रयजननाच्च किम् अग्रिमेण भावितेन इति? तत्र आह.

एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः ॥
त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे ॥३४॥

एवं नृणाम् इति. यथा भगवति सम्बद्धेन कर्मणा तापत्रयनाशः

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

तत्रैव विशेषम् इति. विशेषदृष्टान्तेन कर्मणः साधकत्वम् आह इति अर्थः ॥३३॥

प्रकाशः

इति कथनात्. **भावनया प्रापितम्** इति. यथा उक्तं राजधर्मे व्यासेन ''यथा हि पुरुषाः छिन्द्यात् वृक्षं परशुना वने, छेत्तुरेव भवेत् पापः परशोर्न कथञ्चन, न चैतदिष्टं कौन्तेय यदन्येन कृतं फलं, प्राप्नुयाद् इति यस्माच्च ईश्वरे तन्निवेशय'' (महाभा. ५।३२।१४,१६) इति. 'प्राप्नुयाद्' इति अन्यः प्राप्नुयात्. तथाच ईश्वरः कारयति इति भावनया ईश्वरे प्रापितम् इति अर्थः. अतः एवं प्रकारद्वयेन भगवत्सम्बद्धं कर्मैव तापत्रयचिकित्सितरूपम् इति तात्पर्यम् ॥३२॥

आमयः इत्यत्र. **तत्रैव** इति भगवति भावनीये कर्मण्येव ॥३३॥

---

१. तत्रैवमिति ख.

एवमेव पूर्वकर्मणामपि भगवति समर्पणात् स्वरूपनाशे सति तापाद्यनुत्पादकत्वम्. **नृणाम्** इति कर्माधिकारो द्योतितः. **सर्वे** पुण्यजनकाः अपि **संसृतिहेतवः** जनन-मरणहेतवः. **त एव सर्वे योगाः परे कल्पिताः** समर्पिताः **आत्मविनाशाय कल्पन्ते.** यथा प्रज्वलिते अग्नौ तृणादि. कुतः तस्य तापजनकत्वम् इति अर्थः ॥३४॥

एवं स्वाभाविकानां लौकिकानां संसारहेतुभूत-कर्मणां कृतानां क्रियमाणानां च विनियोगः उक्तः. अधुना विहितानां भगवत्प्रीत्यर्थं क्रियमाणानां किं फलम् इति आकाङ्क्षायाम्[1] आह.

यदत्र क्रियते कर्म भगवत्परितोषणम् ॥
ज्ञानं यत्तदधीनं हि भक्तियोगसमन्वितम् ॥३५॥

यद् अत्र इति. "यन्नः स्वधीतं गुरवः प्रसादिता" (भाग.पुरा. ४।३०।३९) इत्यत्र भगवत्प्रसादहेतुत्वेन प्रार्थनाद् नियतफलत्वाच्च "एकस्य

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

एवं नृणाम् इत्यत्र. आत्मविनाशे दृष्टान्तम् आहुः **यथा प्रज्वलिते** इति. कैमुतिकन्यायम् आहुः **कुतस्तस्य** इति. स्वरूपमेव नष्टं, पापजननं क्व वक्तव्यम् इति अर्थः ॥३४॥

यदत्र क्रियते इत्यत्र **यन्न** इत्यारभ्य **संसारः** इत्यन्ते. **नियतफल** इति, अव्यभिचारेण फलजनकत्वाद् इति अर्थः. तथाच भगवत्तोषोऽपि प्रार्थनया भविष्यति, कर्मणो नियतं फलं संसारोऽपि भविष्यति इति अर्थः. एकस्य कर्मणः फलद्वयहेतुत्वं साधयन्ति **एकस्य तु** इति. उभयसाधकत्वे

प्रकाशः

योगाः इति क्रियायोगाः ॥३४॥

लेखः

यदत्र इत्यत्र. **यन्न** इति. इदं वाक्यं चतुर्थे त्रिंशे अस्ति. तत्र "आर्यानता"दिश्लोकद्वयेन (भाग.पुरा. ४।३०।३९-४०) कर्मादिसकल-साधनानां भगवत्प्रसादहेतुत्वमेव उत्कृष्यते. तथा कर्मादीनां पशुपुत्रान्तःकरण-

१. इत्यपेक्षायामिति क-ग.

तु उभयत्वे संयोग-पृथक्त्व'' (जैमि.पूर्व.मी.सूत्र ४।३।५) न्यायेन दध्यादिवद् उभयसाधकं स्यात्. तथा सति संसारः, पूर्वोक्तानुभयरूपत्वात्. तत्र उच्यते—

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

दृष्टान्तम् आहुः **दध्यादिवद्** इति. यथा दधि नवनीतसाधकमपि भवति तक्रसाधकमपि भवति, तथा कर्म अपि भगवत्तोषसाधकमपि संसारसाधकमपि स्याद् इति अर्थः. फलितम् आहुः **तथा सति** इति. एवञ्च बन्धहेतुत्वं कर्मणः तिष्ठति एव इत्याशङ्का कृता इति भावः. ननु लौकिक-काम्योभयरूप-कर्मणः प्रकारः तु उक्तएवेति स एव अत्र अनुसन्धेयः इति आशङ्कायाम् आहुः **पूर्वोक्त** इति. पूर्वोक्तोभयरूपकर्म-विलक्षणम् इदं कर्म इति न तत्समानयोगक्षेमम् अस्य इति भावः. **तत्र उच्यते** इति, अनुभयसाधकत्वे

प्रकाशः

दध्यादिवद् इति. यथा ''दध्ना जुहोति'' (आप.श्रौ.सूत्र ६।२५),

लेखः

शुद्ध्यादिरूपमपि फलान्तरं तत्र तत्र विशिष्य एव श्रूयते ''यजेत स्वर्गकामः'' (आप.श्रौ.सूत्र १०।२।१) इत्यादिषु. एवञ्च तदपि फलं नियतमेव मन्तव्यम्. तथा सति वैदिककर्मादीनां फलं भगवत्प्रसादो वा तत्तत्प्रकरणोक्तं लौकिकं वा इति सन्देहे पूर्वतन्त्रन्यायेनैव तत्र निर्णयो वक्तव्यः. तत्र हि ''दध्ना जुहोति'' (आप.श्रौ.सूत्र ६।२५) इति ''दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयाद्'' (तैत्ति.ब्रा. २।१।५।६) इति वाक्यद्वये एकस्यैव दध्नः होमाङ्गत्वम् इन्द्रियाङ्गत्वं च श्रूयते. तत्र किम् एतद्वाक्यद्वयेन दधिद्रव्यस्य इन्द्रियफलकत्वम् उच्यते उत कर्मान्तरम् इति संशये **एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्** इति न्यायेन निर्णयः. अयं न्यायः पूर्वतन्त्रे चतुर्थस्य तृतीयचरणे अस्ति. एतदर्थस्तु ... . तथाच तन्न्यायोक्तिदिशा अत्रापि कर्मणां भगवत्प्रसादफलकत्वं तत्तल्लौकिकादिफलकत्वं च अङ्गीकार्यम्. तथाच सति तदुभयसाधकत्वेन संशयाद् एकतरनिर्धाराभावेन प्रत्युत अन्यथाकरणेन संसारः एव स्यात्, नतु फलमपि. तदेतद् उक्तं **पूर्वोक्तानुभयरूपत्वाद्** इति. पूर्वम् उक्तं यद् भगवत्प्रसादः तत्तदुक्त-विशिष्टफलभेदेन फलद्वयं, तदनिरूपकत्वाद् इति अर्थः. कर्मणाम् उक्तन्यायेन विनियोगादर्शनेन सन्देहपूर्वक-करणाद् इति भावः.

अत्र निर्णये **यत्कर्म भगवत्परितोषणं क्रियते** भगवत्परितोषार्थं क्रियते तेन कर्मणा भक्ति-ज्ञाने[१] उत्पद्येते. ततो "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि" (भग.गीता ४।३७) इति न्यायेन सर्वकर्मक्षयः इति अभिप्रायेण आह **ज्ञानं यत्**

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

प्रकारः उच्यते इति भावः. मूलस्थम् **अत्र**पदं व्याचष्टे **अत्र निर्णये** इति. कर्मविषयकनिर्णये इति अर्थः. **भगवत्परितोषणं क्रियते** एतस्यैव व्याख्यानं **भगवत्परि** इति. **उत्पद्येते** इति. तथाच एतादृशकर्मणो असंसारजनकत्वम् इति दध्यादिवद् उभयरूपता नास्ति इति भावः. संसाराजनकत्वे बीजम् आहुः **ततः** इति. कर्मणः स्वरूपः एव नश्यति, कुतः तस्य संसारोत्पादकता इति भावः. **कर्माधीनम्** इति. तोषजनककर्मणा स्वाव्यवहितोत्तरक्षणे स्वनाशम् एव जन्यते इति संसारोत्पादनपर्यन्तं स्वस्थित्यभावाद् न संसारहेतुः इति आशयः. **इति अभिप्रायेण** इति. यथा अग्निः स्वकारणम् एव नाशयति तथा ज्ञानाग्निः अपि स्वकारणं कर्म नाशयति इति अभिप्रायेण आह इति अर्थः. **सर्वापेक्षा** इति. श्रवणादिसापेक्षं शमदमादिसापेक्षं च ज्ञानम् इति अर्थः ॥३५॥

प्रकाशः

"दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयाद्" (तैत्ति.ब्रा. २।१।५।६), "खादिरे बध्नाति" (द्रष्ट. शाब.भा. २।२।६।१७), "खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्याद्" (द्रष्ट. शाब.भा. ४।३।३।५-७) इत्यादि विहित-दध्यादिवद् इति अर्थः. **सर्वापेक्षा च** इति. अयं न्यायः उत्तरतन्त्रे तृतीयस्य तुरीयपादे अस्ति.

लेखः

एवं पूर्वपक्षे सिद्धान्तार्थम् आहुः **तत्रोच्यते** इति. एवं कर्मणो द्विपरतायाम् आशङ्कितायां भगवत्तोषैकहेतुत्वं सिद्धान्तीक्रियते इति अर्थः. **सर्वकर्मक्षयः** इति. तथाच कर्मक्षये न पुनः लौकिककर्मप्राप्तिः अतो न एकान्ततः कर्मणां लौकिकफलसाधकत्वम् अतो न द्विपरता इति भावः. ज्ञाने कर्मापेक्षाप्रमाणत्वेन वैयासं सूत्रं पठन्ति **सर्वापेक्षा च** इति. अयं न्यायः

---

१. भगवद्भक्तीति क-घ-ङ.

प्रसिद्धं **भक्तियोगसमन्वितं** तत् **तदधीनं** तादृशकर्माधीनम्. **हि** इति "सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेः अश्ववद्" (ब्रह्मसूत्र ३।४।२६) इति न्यायः सूचितः ॥३५॥

प्रकाशः

तत्र हि पूर्वं "पुरुषार्थोऽतः शब्दाद्" (ब्रह्मसूत्र ३।४।१) इत्यादिभिः ज्ञानस्य फलसाधने कर्मापेक्षा नास्ति इति साधयित्वा अथ इदानीं चिन्त्यते— ज्ञानस्वरूपोपकारित्वं कर्मणो अस्ति न वा इति. तत्र "आचार्यवान् पुरुषो वेद" (छान्दो.उप. ६।१४।२) इति श्रुतेः गुरूपसत्ति-तदुपदेशादिभिः एव तत्सम्भवाद् न तदपेक्षा इति पूर्वः पक्षः. सिद्धान्तस्तु— **सर्वापेक्षा** सर्वेषां कर्म-ज्ञान-भक्तीनाम् अस्ति पुरुषोत्तमज्ञानोत्पत्तौ अपेक्षा. कुतः? **यज्ञादिश्रुतेः**. वेदः सर्वोऽपि पुरुषार्थपर्यवसायी. पुरुषार्थः च भगवत्प्राप्तिरेव, न अन्यत्. सा चेद् ज्ञानादेव तदा यज्ञादीनां निरूपणम् अनर्थकं स्यात्. अतः तत्परिहाराय कर्मणां पुरुषार्थसाधकत्वे मन्तव्ये ज्ञानस्वरूपोपकारकत्वेन तथात्वं मन्तव्यम्. तदपि निष्कामकर्मकर्तृत्वे, वाजसनेयिशाखायां "यथाकारी यथाचारी तथा भवति" (बृहदा.उप. ४।४।५) इत्यादिना सकामस्य कर्तुः पुनरावृत्तिम् उक्त्वा "अथाकामयमानो योऽकाम" (बृहदा.उप. ४।४।६) इत्यादिना "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" (बृहदा.उप. ४।४।६) इत्यन्तेन पूर्वोक्तकर्मकर्तुरेव अकामत्वे तत्फलकथनात्, "कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते[१]" (द्रष्ट.महाभा. १२।२७०।३८) इति स्मृतेश्च. तत्र दृष्टान्तः **अश्ववद्** इति.

लेखः

उत्तरतन्त्रे साधनाध्याय-तुरीयपादे अस्ति. अस्य अर्थः— **सर्वेषां** ज्ञानि-कर्मि-भक्तानां पुरुषोत्तमज्ञाने प्रपत्त्यनुकूल-**कर्माऽपेक्षा** अस्ति. अत्र हेतुः **यज्ञादिश्रुतेः** इति. यदि कर्मणो ज्ञानोत्पत्तौ प्रयोजकता न स्यात् तदा यज्ञादिप्रतिपादकत्वेन निष्फलार्थप्रतिपादकत्वेन अप्रामाण्यं स्यात्. वेदश्च सर्वोऽपि भगवद्रूपो अणुमात्रमपि न अन्यथा वदति. तथाच निष्कामं कर्म चित्तशुद्धिद्वारा

---

१. "शरीरपक्ति कर्माणि ज्ञानन्तु परमा गतिः, कषाये कर्मभिः पक्वे रसज्ञाने च तिष्ठति" इति पाठभेदेन महाभारते - सम्पा.

ननु पञ्चरात्रोक्तकर्मणां, भगवदाज्ञया अर्जुनादिभिः कृतानां युद्धादीनां च का गतिः ? तत्र आह

कुर्वाणा यत्र कर्माणि भगवच्छिक्षयाऽसकृत् ।।
गृणन्ति गुणनामानि कृष्णस्यानुस्मरन्ति च ।।३६।।

प्रकाशः

स्वेष्टफलसाधक-देशव्यवधानात्मक-देशातिक्रमे एव अश्वस्य यथा साधनत्वं, नतु तत्फलसिद्धौ अपि, तथा [१]आधिभौतिकादि-त्रिविधप्रतिबन्ध-निवृत्तौ एव कर्मणां साधनत्वाद्[२] उपकारकत्वं, नतु भगवत्प्राप्तिरूपे ज्ञानफलेऽपि इति. **सूचितः** इति व्यासस्य स्वोक्तिस्मारणाय सूचितः. तथाच पूर्वतन्त्रापेक्षया उत्तरतन्त्रस्य प्रबलत्वात् संयोगपृथक्त्वन्याय-बाधेन ततो न पुनः संसारः इति अर्थः ।।३५।।

लेखः

ज्ञाने उपकुर्वद् एव सार्थकं भवति. अत एव श्रुतिः "अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आत्मकामो आप्तकामो भवति" (बृहदा.उप. ४।४।६) इति. अस्य अर्थः— **अथ** सकामकर्तृ-निरूपणानन्तरम् **अकामयमानो** अकामः कर्ता अतिरिच्यते इति शेषः. **यः अकामः** कर्ता **भवति** स **निष्कामः** सन् पूर्वम् **आत्मकामो** निरुपधिस्नेहवान् ततो **आप्तकामो** भगवत्प्राप्त्या **भवति** इति. स्मृतिश्च "कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते" (द्रष्ट.महाभा. १२।२७०।३८) इति. ननु एवं चेत् तर्हि ज्ञानद्वारा कर्मणामेव सकलपुरुषार्थसाधकत्वम् अस्तु, कृतं स्वतन्त्रज्ञानादिमार्गैः इति आशङ्कां दृष्टान्तेन निराकर्तुम् आह **अश्ववद्** इति. यथा स्वेष्टफलसाध्यदेश-व्यवघानात्मक-देशातिक्रमे एव अश्वस्य साधनत्वं, नतु तत्र निष्पन्नानां कार्यजातानामपि फलसिद्धौ हेतुत्वं, तथा आधिभौतिकाध्यात्मिकाधिदैविक-प्रतिबन्धनिवृत्तौ एव तेषां साधनत्वं, नतु भगवत्प्राप्तौ अपि इति अर्थः ।।३५।।

---

१. अधिकारित्रिविध- इति मुद्रितपाठः. कि.पाठे तु एवम् - सम्पा.

२. साधनत्वम् इति मुद्रितपाठः. कि.पाठे तु एवम् - सम्पा.

कुर्वाणाः यत्र इति. **यत्र** कर्मनिर्णये विषये वा **भगवच्छिक्षया कर्म कुर्वाणाः** भवन्ति. तत्कर्म भक्तिजनकं भवति इति आह. तदा ते पुरुषाः **असकृद्** वारं वारं **कृष्णस्य गुणनामानि** पाण्डवरक्षक, द्रौपदीलज्जानिवारक, गोवर्द्धनोद्धरण इत्यादीनि **गृणन्ति, अनु** पश्चात् **स्मरन्ति च** कृष्णम्. अतः तेषां कीर्तन-स्मरणभक्ति-हेतुत्वात् सर्वोत्कृष्टमेव तत्कर्म, न तेन संसारशङ्कापि इति अर्थः ॥३६॥

यानि पुनः पञ्चरात्रे मन्त्राराधनप्रकारेण पुरश्चरणादीनि कर्माणि तेषां निर्णयम् आह द्वाभ्याम्.

नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय धीमहि ॥
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय नमः सङ्कर्षणाय च ॥३७॥
इति मूर्त्यभिधानेन मन्त्रमूर्तिममूर्तिकम् ॥
यजेत यज्ञपुरुषं स सम्यग्दर्शनः पुमान् ॥३८॥

नमो भगवते इति. इयं हि भगवद्गायत्री नारदोपास्या. अत्र चतुर्मूर्तीनाम् अभिधानम्. **धीमहि** इति अर्थात् चतुर्मूर्तिं[१] ध्यायेम. तस्य फलं चतुर्मूर्तिः. तदपि न भोगार्थं किन्तु नमनार्थं, तदपि न परोक्षतया किन्तु (**तुभ्यं!**) प्रत्यक्षतया. चतूरूपस्यापि चतूरूपमपि भगवान् इति अर्थः. **चकाराद्** अन्यानि

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

कुर्वाणाः इत्यत्र. **अतस्तेषाम्** इति. तत्कर्मविशिष्टनाम्नो भक्तिजनकत्वेन तेषाम् अपि भक्तिहेतुत्वम् इति अर्थः ॥३६॥

नमो भगवते इत्यत्र. **तस्य फलम्** इति, ध्यानस्य फलम् इति अर्थः. **न भोगार्थम्** इति, पशुपुत्रादिप्राप्त्यर्थं न इति अर्थः. **तुभ्यम्** इत्यस्य तात्पर्यम् आहुः **किन्तु प्रत्यक्षतया** इति. **चतूरूपस्यापि** इति, रूपचतुष्टयस्यापि **तुभ्यम्** इत्यनेन सम्बन्धः इति अर्थः. तथाच चतूरूपस्यापि

प्रकाशः

नमो भगवते इत्यत्र. **तस्य फलम्** इति ध्यानस्य फलम् ॥३७॥

॥ इति श्रीप्रथमस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे पञ्चमाध्यायविवरणम् ॥

---

१. चतुर्मूर्तीरिति घ.

अपि रूपाणि सङ्गृहीतानि हयग्रीवादीनि. अस्याः गायत्र्याः विनियोगम् आह **इति** इति. एवंरूपेण **मूर्त्यभिधानेन** मूर्तिवाचकेन मन्त्रेण करणेन **मन्त्रमूर्तिः** मन्त्र एव मूर्तिः शरीरं यस्य=मन्त्रार्थरूपम् **अमूर्तिकं**[1] मन्त्रोक्तव्यतिरिक्त-प्राकृतमूर्तिरहितं[2] **यज्ञपुरुषं** यज्ञानां पुरुषं पतिं, यज्ञरूपं पुरुषं वा यो **यजेत** जप-पूजा-होमादिना **स सम्यग्दर्शनो** भवति भगवन्तं साक्षात्करोति इति अर्थः ॥३८॥

अत्र फलं मयैव अनुभूतम् इति सन्देहाभावाय आह.

इमं स्वनिगमं ब्रह्मन्नवेत्य मदनुष्ठितम् ॥
अदान्मे ज्ञानमैश्वर्यं स्वस्मिन् भावं च केशवः ॥३९॥

इमं स्वनिगमम् इति. **स्वस्य निगमो** वेदः, आज्ञा इति यावत्, सा आज्ञा मया कृता. यथोक्तः पञ्चरात्रमार्गो **अनुष्ठितः** पूर्वकल्पे एव. तदा **(मे!)** मह्यं **ज्ञानं (अदात्!)** दत्तवान् **ऐश्वर्यं च (स्वस्मिन् भावं!)** भक्तिं च. यथा ब्रह्म-शिवयोः, तद् आह **केशवः** इति. 'क'-'ईश'योः वं सुखं यस्माद् इति ॥३९॥

एवं सर्वेषां कर्मणां निर्णयः उक्तः इति सर्वम् उपपाद्य उपसंहरन् निर्धारितम् उपदेशम् आह.

त्वमप्यदभ्रश्रुत विश्रुतं विभोः समाप्यते येन विदां बुभुत्सितम् ॥
आख्याहि दुःखैर्मुहुरर्दितात्मनां सङ्क्लेशनिर्वाणमुशन्ति नान्यथा ॥४०॥

॥ इति श्रीभागवत-प्रथमस्कन्धे पञ्चमोऽध्यायः ॥

त्वमपि इति. यथा मया तस्य आज्ञा परिपालिता तथा त्वमपि परिपालय. आज्ञापरिपालनसामर्थ्यं सिद्धवत्कारेण आह **अदभ्रश्रुत** इति, अनल्पं वेदादीनां श्रवणं यस्य इति. **विभोः विश्रुतं** कीर्तिं, चरित्रम्

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

नमनं प्रत्यक्षतया इति भावः. प्रत्यक्षता तु ध्यानेन साक्षात्कारः. ननु रूपचतुष्टयम् एकं भिन्नं वा इति संशये निर्णयम् आहुः **भगवानित्यर्थः** इति ॥३७॥

---

१. अमूर्तकमिति मुद्रितपाठः घ-ङपाठानुरोधात् शोधितः -सम्पा. २. प्राकृतिमूर्तिरहितमिति क-ख-ग.

इति यावत्. मध्ये चरित्रस्य माहात्म्यम् आह **येन** विश्रुतेन **विदां** ज्ञानिनां **बुभुत्सितं** भगवत्स्वरूपज्ञानेच्छा **समाप्यते.** "यावान् यश्चास्मि यादृशः" (भाग.पुरा. ११।११।३३) इति बुभुत्सा वा, परमभक्तिं जनयित्वा तज्जननात्. तस्मात् तद् **आख्याहि.** किञ्च निस्तारार्थं सर्वैः यत्नः कर्तव्यः, सः क्लेशाभिभूतैः[१] कर्तुम् अशक्यः इति क्लेशनिवृत्त्यर्थं च[२] आख्याहि. आख्यानेनैव **दुःखैः मुहुः अर्दितात्मनां**[३] **सङ्क्लेशनिर्वाणम्**[४] **उशन्ति** सर्वे प्रमाणविदः. अत्र च[५] उपायान्तरं नास्ति क्लिष्टानां क्लेशनाशकं, तद् आह **न अन्यथा** इति ॥४०॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मज-श्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां प्रथमस्कन्धे पञ्चमो अध्यायः ॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

त्वमप्यदभ्र इत्यत्र. **यावान्** इति. "यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः" (भग.गीता १८।५५) इत्येतस्य जिज्ञासा वा **बुभुत्सित**पदस्य अर्थः इति अर्थः ॥४०॥

लेखः

त्वमप्यदभ्र इत्यत्र. **परमभक्तिं जनयित्वा तज्जननाद्** इति. "यावान् यश्चास्मि" (भग.गीता १८।५५) इति ज्ञानं भक्तिमन्तरा न इति तत्प्रकारिका बुभुत्सा अपि भक्तिं विना न समाप्यते इति तथा उक्तम्. तथाच चरित्रेण भक्तिं जनयित्वा बुभुत्सासमाप्ति-जननाद् इति अर्थः. **तस्मात् तद्** एव **आख्याहि** इति भावः ॥४०॥ इति श्रीपञ्चमाध्यायटिप्पणम् ॥

॥ इति पञ्चमोऽध्यायः ॥

---

१. सङ्क्लेशाभिभूतैरिति ग-घ. २. वाख्याहीति क.

३. अर्दितानाम् इति मुद्रितपाठः. भा.पाठे तु एवम् -सम्पा.

४. -निवारणमिति मुद्रितपाठः. ख-भा.पाठे तु एवम् -सम्पा. ५. चेति नास्ति क.

॥ अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

मध्यमेनाधिकारेण पदार्था विनिरूपिताः ॥
श्रवणस्य फलं चान्तर्ज्ञानरूपं प्रदर्शितम् ॥(१)॥
षष्ठे तु बाह्यं तस्यैव कीर्तनावधि वर्ण्यते ॥
बाह्याभावे त्वान्तरस्य व्यर्थतेति निरूप्यते ॥(२)॥

पूर्वाध्यायान्ते ''अदान्मे ज्ञानमैश्वर्यम्'' (भाग.पुरा. १।५।३९) इति उक्तम्. तत्र सन्देहः– श्रवणमेव निरूपितम् आन्तरं[१] ज्ञानञ्च– किं तदानीमेव भगवता ऐश्वर्यं दत्तं, कालान्तरे वा इति. श्रोतव्यविषय-निरूपकस्य फलकथनार्थं भवति विचारणा. अतः पृच्छति इति आह.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥ षष्ठाध्याये **अन्तर्ज्ञानम्** इति, आन्तरं फलं ज्ञानम् इति अर्थः. **बाह्यम्** इति, बहिरिन्द्रियजन्यं फलम् उच्यते नारदस्य इति अर्थः. **बाह्याभावे** इति. **बाह्यस्य** कीर्तनलक्षणस्य ज्ञानफलस्य **अभावे** मानसं ज्ञानं **व्यर्थम्** इत्यतो बाह्यं निरूपितम् इति अर्थः (१-२).

प्रकाशः

अथ षष्ठाध्यायं विवरिषवः सङ्गतिं वक्तुं द्वयोः अर्थम् आहुः **मध्यमेन** इत्यादि. **तस्यैव** इति श्रवणस्यैव. **वर्ण्यते** इति, **फलम्** इति अनुषज्यते. **बाह्याभावे** इति कीर्तनाभावे. **इति निरूप्यते** इति, इतो हेतोः व्यासपादैः उपनिबध्यते. तथाच फलोपोद्घातः सङ्गतिः इति अर्थः (१-२).

लेखः

अथ षष्ठाध्यायं विवरीतुं तत्सङ्गत्यर्थं पूर्वार्थम् अनुवदन्ति **मध्यमे** इति. **षष्ठे तु** इत्यादि. तेन एकार्थनिरूपकत्वं सङ्गतिः इति अर्थः (१-२).

आभासे **श्रोतव्यविषय** इति. ... ॥१॥

---

१. अवान्तरमिति घ.

॥ सूतः उवाच ॥

एवं निशम्य भगवान् देवर्षेर्जन्म कर्म च ॥
भूयः पप्रच्छ तं ब्रह्मन् व्यासः सत्यवतीसुतः ॥१॥

एवम् इति. नारदोक्तौ यथार्थत्वमिति अवगतौ हेतुम् आह **भगवान्** इति. असम्भावितत्वं निराकरोति **देवर्षेः**[१] इति. हे **ब्रह्मन्** शौनक. **भूयः** प्रश्नः तूष्णीम्भावाद्, आदराधिक्ये[२] ज्ञातएव विशेषकथनात्. भगवत्कृपया एतावत्त्वं[३] जातमिति कथितेऽपि पुनः प्रश्नः, अनतिप्रयोजनं पृच्छति इति च **सत्यवतीसुतः** इति उक्तम् ॥१॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

श्रवणमेव इति, कारणान्तरं न निरूपितम् इति अर्थः. प्रश्ने हेतुम् आहुः **श्रोतव्य** इति. "मया फलं वक्तव्यं न वा" इति रूपकस्य विचारो भवतीति हेतोः व्यासेन प्रश्नः कृतः इति सूतः आह इति अर्थः.

एवं निशम्य इत्यत्र. नारदस्य तूष्णीम्भावे हेतुम् आहुः **आदराधिक्यम्** इति. **भगवत्कृपया** इति. भगवत्कृपायाः सर्वहेतुत्वे ज्ञापितेऽपि पुनः प्रश्ने **सत्यवतीसुतः** इति हेतुः. तथाच मातृपुत्रत्वात् उक्तमपि न ज्ञातवान् इति भावः. **अनतिप्रयोजनम्** इति. प्रश्ने अत्यन्तं प्रयोजनं नास्ति **इति च** इति अर्थः ॥१॥

प्रकाशः

श्रोतव्यविषयनिरूपकस्य इति. श्रोतव्यो यो विषयः ऐश्वर्यदानरूपः तन्निरूपयितुः नारदस्य इति अर्थः. **भवति** इति, श्रोतुः भवति इति अर्थः.

एवं निशम्य इत्यत्र. तूष्णीम्भावे हेतुम् आहुः **आदरेत्यादि**. तथाच मदुक्तौ व्यासस्य आदरो अस्ति न वा इति ज्ञातुं नारदस्य तूष्णीम्भाव इति अर्थः ॥१॥

---

१. देवर्षिरिति ख.	२. आदराधिक्यम् इति पाठः टिप्पण्याम् - सम्पा.

३. एतावत्त्वं ज्ञातमिति ख. एतावज्जातमिति घ-ङ.

प्रश्नम् आह त्रिभिः **भिक्षुभिः** इति. कृति-शरीरत्याग-ज्ञाननाशाभावाः – ब्रह्मविदो न किञ्चित् कर्तव्यम् इति, योगेनैव शरीरत्यागो मोक्षः इति, कालस्तु अनतिक्रमणीयः इति – पृष्टाः[१].

॥ व्यासः उवाच ॥

भिक्षुभिर्विप्रवसिते विज्ञानादेष्टृभिस्तव ॥
वर्तमानो वयस्याद्ये ततः किमकरोद् भवान् ॥२॥
स्वायम्भुव कया वृत्त्या वर्तितं ते परं वयः ॥
कथञ्चेदमुदस्राक्षीः काले प्राप्ते कलेवरम् ॥३॥
प्राक्कल्पविषयामेतां स्मृतिं ते सुरसत्तम ॥
न ह्येव व्यवधात् काल एष सर्वनिराकृतिः ॥४॥

स्वायम्भुव इति इदानीन्तन-सम्बोधनम्. **वृत्तिः** जीविका शरीर-निर्वाहिका. **कथम्** इति योगादिप्रकाराः. **चो**[२] अर्थविशेषे, पुनः इति अर्थः. **काले प्राप्ते** अप्राप्ते वा[३] इति प्रश्नः. **इदम्** इति बुद्ध्या पुरःस्थितम्. **वा** इति पाठेतु अनादरः. कालजन्यं, कालो गृह्णाति इति वा आह **काल** इति. **एतां स्मृतिं** संस्कारनाशेन (**प्राक्कल्पविषयां!**)

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

भिक्षुभिः इत्यत्र स्पष्टत्वाद् न व्याख्यातम्. श्लोकत्रयोक्त-प्रश्नत्रयस्य तात्पर्यम् आहुः **कृति** इत्यारभ्य **पृष्टाः** इत्यन्तेन. **स्वायम्भुव** इति श्लोकं व्याचष्टे **स्वायम्** इति. पूर्वजन्मनि दासीपुत्रत्वाद् इति अर्थः. **प्राक्कल्पविषयाम्** इति श्लोकं व्याचष्टे **एतां स्मृतिम्** इति. **तदा इयम्** इति. **तदा** संस्कारनाशे

लेखः

भिक्षुभिः इत्यत्र. श्लोकत्रयप्रतिपाद्यम् अर्थम् आहुः **कृति** इत्यादि. बहुवचनान्तस्य **पृष्टाः** इत्यन्तेन अन्वयः. कृत्यादित्रयाणां प्रश्ने बीजम् आहुः **ब्रह्मविदः** इत्यादिना. **इतिशब्दान्तेन** वाक्यत्रयेण प्रश्नत्रयबीजं क्रमेण निर्दिष्टं ज्ञेयम्. **योगादिप्रकाराः** इति. केन प्रकारेण देहम् उदस्राक्षीद्

---

१. प्रश्ना इति ख. २. चाऽर्थेति ख-ग. ३. चेतीति ख.

पूर्वकल्पविषयेभ्यो व्यवहितां कथं न कृतवान्? तदा इयं स्मृतिः शब्दमूला स्याद्, इदानीन्तु प्रत्यक्षमूला इति. (**सर्वनिराकृतिः!**) देवानां भक्तानामपि सतां स्मृतिं कालो नाशयति, तवतु न इति (**सुरसत्तम!**) आश्चर्येण सम्बोधनम्. अल्पस्यापि[१] अभावाय **एवकारः**. कार्यदर्शनाद्युक्तता **हि**शब्दार्थः. कालमाहात्म्यं च प्रत्यक्षसिद्धम्. भगवत्त्वात् कालं साक्षात्कृत्वा आह **एषः**[२] इति. शास्त्रार्थदार्ढ्याद् वा ॥२-४॥

प्रथमप्रश्ने उत्तरम् आह **भिक्षुभिः** इत्यादिना "एवं कृष्णमतेः" (श्लो. २७) इत्यन्तेन, ब्रह्मविदोऽपि भगवदर्थं यत्नः कर्तव्यो, दृष्टे च भगवति तदाज्ञा कर्तव्या इति.

॥ नारदः उवाच ॥

भिक्षुभिर्विप्रवसिते विज्ञानादेष्टृभिर्मम ॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इयं स्मृतिः शब्दमूला अन्यदीयकथनजन्य-ज्ञानसंस्कारजन्या इति अर्थः. तथाच अनतिक्रमणीयोऽपि कालः त्वया अतिक्रान्तः इति भावः. **अल्पस्यापि** इति. अल्पोऽपि संस्कारनाशो नास्ति इति ज्ञापनाय इति अर्थः. **कार्य** इति. स्मृतिदर्शनात् संस्काराऽनाशो युक्तः इति **हि**पदार्थः इति अर्थः. **सर्वनिराकृतिः** इति पदं व्याचष्टे **काल** इति ॥२-४॥

उत्तरश्लोके **भिक्षु** इत्यत्र. "कृष्णमतेः" (श्लो. २७) इत्यन्तेन उक्तस्य उत्तरस्य निर्गलितं शास्त्रार्थम् आहुः **ब्रह्मविदोऽपि** इत्यारभ्य **कर्तव्या**

प्रकाशः

भिक्षुभिः इत्यत्र. **तदा** इति कालेन संस्कारनाशे ॥२-४॥

उत्तरग्रन्थे **भिक्षुभिः** इत्यत्र. **प्रथमप्रश्ने** इति कृतिप्रश्ने. एतेषां त्रयोविंशतिश्लोकानां तात्पर्यम् आहुः **ब्रह्मविदः** इत्यादि ॥५॥

लेखः

इति अर्थः. **न ह्येव व्यवधात्काल** इत्यत्र. **अल्पांशस्यापि** इति. ज्ञानस्य अल्पस्यापि अंशस्य तिरोहितत्वाभावाय इति अर्थः ॥२-४॥

---

१. अल्पांशस्यापि इति पाठः लेखे - सम्पा. २. एतदितीति ख.

वर्तमानो वयस्याद्ये तत एतदकारषम् ॥५॥

अनुवादः तत्प्रीतये, सर्वावधारणात्[१]. **एतद्**[२] इति वक्ष्यमाणम् ॥५॥

त्रिभिः प्रतिबन्धकताम् एकेन अभावं च आह, भगवान् अनुगुणः चेद् अग्रिमावस्था सम्पादनीया इति, न अन्यथा.

अन्यासक्तिस्तु यत्रैव तत् स्वार्थं नैव योजयेत् ॥
भगवान् वा प्रतीक्ष्योऽत्र यत्नं वा तादृशं भजेत् ॥(३)॥

नारदस्तु भगवत्प्रतीक्षया स्थितः इति आह त्रिभिः.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इत्यन्तेन. नारदकृतानुवादस्य **भिक्षुभिः** इत्यस्य प्रयोजनम् आहुः **तत्प्रीतये** इति. अनुवादस्य प्रीतिजनकत्वे हेतुम् आहुः **सर्व** इति. यत् पृष्टं तत् सर्वम् अनेन अवधृतम् इति सन्तोषः ॥५॥

एकात्मजा इत्यादि श्लोकचतुष्टयस्य वाच्यम् आहुः **त्रिभिः प्रतिबन्धकताम्** इति. श्लोकचतुष्टयव्यङ्ग्य-निर्णयम् आहुः **भगवान्** इति. **अग्रिमावस्था** भगवत्साक्षात्कारार्थं प्रयतमानता इति अर्थः. तर्हि भगवदानुगुण्यपर्यन्तं किं कर्तव्यम् इत्याकाङ्क्षायाम् आहुः **अन्यासक्तिः** इति, **भगवान् वा** इति. **तादृशम्** इति, आनुकूल्यजनकम् इति अर्थः.

प्रकाशः

एकात्मजा इत्यादि श्लोकचतुष्टयोक्ति-तात्पर्यम् आहुः **भगवान्** इत्यादि. **अग्रिमावस्था** भगवत्साक्षात्कारार्थक-यत्नकरणावस्था. आनुगुण्यसन्देहे यत् कार्यं तद् आहुः **अन्यासक्तिः** इत्यादि. **तादृशम्** इति आनुगुण्यजनकम्.

लेखः

भिक्षुभिः इत्यत्र. **अनुवादः** इति. **भिक्षुभिः** इत्यादि चरणत्रयेण व्यासोक्त्यनुवादो व्यासप्रीतये इति अर्थः. ननु अनुवादेन कथं प्रीतिज्ञानम् अतः आहुः **सर्वा** इति. तदुक्तानुवादेन सकल-तदुक्तिश्रवणे आदरः उक्तो भवति इति भावः ॥५॥

---

१. पूर्वावधारणादिति क. २. एतदपीति क-ग.

एकात्मजा मे जननी योषिन्मूढा च किङ्करी ॥
मय्यात्मजेऽनन्यगतौ चक्रे स्नेहानुबन्धनम् ॥६॥
साऽस्वतन्त्रा न कल्पासीद् योगक्षेमं ममेच्छती ॥
ईशस्य हि वशे लोको योषा दारुमयी यथा ॥७॥
अहं च तद् ब्रह्मकुले ऊषिवांस्तदवेक्षया ॥
दिग्देशकालाव्युत्पन्नो बालकः पञ्चहायनः ॥८॥

एकात्मजा[१] इति, एकएव आत्मजो यस्याः सा. आसक्त्याधिक्ये हेतुः **मे जननी** इति, पूर्वावस्थां स्मृत्वा जनयित्री. **योषिताम्** अपि मध्ये **मूढा,** उपदेशाभावाय उक्तम्. **किङ्करी** इति उपदेशावसराभावः सूचितः. **आत्मजे अनन्यगतौ** इति स्वाभाविकौपाधिकहेतू स्नेहस्य निरूपितौ. स्नेहेन **अनु** पश्चाद् आत्मनो बन्धनं **स्नेहानुबन्धनम्.** तत्र स्नेहानुबन्धनमेव जातं, न तत्कार्यम्, अन्यथा विषयेण ममापि बन्धः स्याद् इति अभिप्रायेण आह **सा** माता **अस्वतन्त्रा** स्वाम्यधीना. अतएव **न कल्पा मम योगक्षेमादौ** न समर्था (**आसीत्**!). कुण्डलादौ योगः, प्राप्तस्य परिपालनं क्षेमः.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

एकात्मजा इत्यत्र. **पश्चादात्मनः** इति, **आत्मनो** मम इति अर्थः. अग्रिमावतारिकाम् आहुः **तत्र स्नेह** इति. **तत्र** मातृकर्तव्य-पदार्थमध्ये **स्नेहानुबन्धनमात्रं** जातं, **न** पुनः स्नेहकार्याणि भूषण-भोजनादीनि इति अर्थः. **अन्यथा** इति, भूषणादिसम्पत्तौ इति अर्थः. उत्तरार्धावतारिकाम् आहुः **कुण्डलादौ** इति, साङ्ख्यादौ इति अर्थः. **आदिपदेन** योगशास्त्रम्. **प्राप्तस्य** इति. यदेव दैवात् प्राप्तं तस्यैव अशन-शयनाय स्वीकारः क्षेमः

प्रकाशः

एकात्मजा इत्यत्र. **आत्मनः** इति, मम इति अर्थः. **तत्र** इति मातृकर्तव्य-पदार्थमध्ये. **योगः** इति अलब्धस्य सम्पादनम् ॥६-८॥

लेखः

साऽस्वतन्त्रा इत्यत्र. **कुण्डलादौ** इति, कटककुण्डलादि-

१. प्रतीकं नास्ति ख-ङ.

ब्रह्मविदः सर्वदेवतासन्निधानेन कथं न योगक्षेमप्राप्तिः? तत्र आह **ईशस्य हि वशे लोकः** इति. "मत्तएव पृथग्विधाः" (भग.गीता १०।५) इति प्रमाणं हिशब्देन सूचितम्. **ईशस्य** भगवतः कालस्य वा. यथा स्त्रीप्रतिमा कुहकेच्छया नृत्यति एवं सर्वोऽपि लोकः चेष्टते इति भगवज्ज्ञानवतो बुद्धिः. कालपक्षेऽपि तथा. कर्म-भूतभौतिकपक्षे तु अन्यथा, तद् अग्रे वक्ष्यामः. यथा योषित्पुत्तलिकां कुहकोऽपि न स्वातन्त्र्यादिधर्मयुक्तां करोति तथा भगवानपि जीवान्, तद् आह **(दारुमयी!) योषा** इति. **अहं च** इति **चकाराद्** यथा माता ईश्वराधीना तथा अहमपि. भिन्नतया ग्रहणं विशेषतः तदधीनत्वात्. **तद्ब्रह्मकुले** स्वामिब्राह्मणानां कुले, अनेन अन्नादेः दोषो निवारितः. **तदवेक्षया** मातृकृत-प्रतिबन्धकाभावावेक्षया. **दिशः**

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इति अर्थः. तथाच ज्ञानिनां योग-क्षेमौ न पराधीनौ इति अर्थः. सन्देहान्तरम् आहुः **ब्रह्मविदः** इति. "आसन्यस्य हरेर्वापि सेवया देवभावतः" (त.दी.नि. १।३५) इत्यत्र निबन्धे आसन्यसेवायां कृतायाम् इन्द्रियाणां देवतात्वाद् दशेन्द्रियसम्बन्धाद् विषयेच्छायाः अभावात् सिद्धएव योग-क्षेमः इति कथम् अप्राप्तिः इति अर्थः. देवतात्वन्तु आध्यात्मिकानां आधिदैविकत्वम्. तथाच एतदनन्तरं ब्रह्मणि लयएव भवति, न विषयेच्छा इति अभिप्रायः. **कालपक्षे** इति, कालवशत्वपक्षे इति अर्थः. **कर्म** इति. कर्मवशत्वपक्षे **तु अन्यथा** अयं प्रकारो नास्ति इति अर्थः. **भूतभौतिकपक्षस्तु** अग्रे स्फुटीभविष्यति. **अहं च तद्** इति श्लोकं व्याचष्टे **'अहं च' इति** इति.

लेखः

सामान्यालङ्करणार्थं **योगः** उद्योगः इति अर्थः. **मत्त एव** इति, इदं गीतापञ्चदशाध्याये(?) अस्ति. **तथा** इति. "कालोऽस्मि" (भग.गीता ११।३२) इति भगवद्वाक्यात् तेनापि भगवन्माहात्म्यमेव सिद्ध्यति इति भावः. **अन्यथा** इति. यदा कर्मणाम्, अदृष्टस्य, भूतभौतिकादि-भोगक्षयस्य वा जीवचेष्टाहेतुत्वम् उच्यते तदातु स्वातन्त्र्येण भगवन्माहात्म्यं न सिद्ध्यति इति अर्थः. **तदग्रे वक्ष्यामः** इति. ... ॥६-८॥

पूर्वादयः, **देशः** स्वदेशादिः[१], **कालाः** दिन-रात्रिप्रभृतयः ; तेन (**अव्युत्पन्नो!**) क्व स्थातव्यं कदा प्रस्थातव्यम् इति विवेकरहितः. अनेन लौकिकापरिज्ञानम्, अतः तेनापि न बन्धात्मविस्मरणे. **बालकः** इति विषयसम्बन्धाभावः, **पञ्चहायनः** इति अपराधीनता च ॥६-८॥

भगवतापि[२] किञ्चिद्विवेकार्थम् एतावत्कालं प्रतिबन्धः स्थापितः. जातेतु विवेके तं[३] दूरीकृतवान् इति आह.

एकदा निर्गतां गेहाद् दुहन्तीं निशि गां पथि ॥
सर्पोऽदशत् पदा स्पृष्टः कृपणां कालचोदितः ॥९॥

एकदा इति यदा सर्वेऽपि गृहस्थाः स्व-स्वकार्ये व्यापृताः. **गेहात् निर्गताम्** इति गृहाद् निर्हरणक्लेशोऽपि निवारितः, शुद्धिश्च गोस्पर्शे. **दुहन्तीम्** इति [४]सत्क्रियाव्यापृतत्वम्. **पथि** स्थितः **सर्पो** भगवत्प्रेरणया समागतः. भगवत्कृतत्वज्ञापनाय **पदा स्पृष्टः** इति तस्याः अपराधः उक्तः. वस्तुतः तस्याअपि न दोषो, न वा तस्य इति आह **कालचोदितः** इति. कालादयो भगवदिच्छानुसारेण कार्यकर्तारः ॥९॥

मयापि स भगवदुपकारः इति ज्ञात्वा तथैव कृतम् इति आह.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

अपराधीनता इति. "लालयेत् पञ्चवर्षाणि" (चाण.नीति १।१३) इति वचनाद् विद्याभ्यासार्थमपि केनापि निर्बन्धो न क्रियते इति भावः ॥६-८॥

भगवानपि इति. **तद्दूरीकृतवान्** इत्यनेन **भगवान्** इति सम्बध्यते. **स्थापितः** इत्यत्र विभक्तिविपरिणामेन **भगवता** इति व्याख्येयम्. **एकदा निर्गताम्** इत्यत्र **सत्कृपा** इति. अबलायाअपि दोग्धुं ददाति इति कृपा **दुहन्तीम्** इति पदेन सूचिता इति अर्थः. सत्कृपा सूचिता इति भावः. यद्वा अग्निहोत्रनिमित्तं दोहनाय ब्राह्मणैः आज्ञप्ता इति वा सत्कृपा ॥९॥

तथैव कृतं तस्मात् स्थलाद् गतमेव इति अर्थः. **तदा तदहम्**

---

१. स्वदेशादय इति क-ग-घ. २. भगवानपीति ख-ग-टिप्पण्याम् - सम्पा.

३. तद्दूरीकृतवानिति क-ग-टिप्पण्याम् - सम्पा. ४. सत्कृपा- इति पाठः टिप्पण्याम् - सम्पा.

तदा तदहमीशस्य भक्तानां शमभीप्सतः ॥
अनुग्रहं मन्यमानः प्रातिष्ठं दिशमुत्तराम् ॥१०॥

तदा तद् अहम् इति. सर्वदा हि भगवान् **भक्तानाम्** एव (**शमभीप्सतः !**) कल्याणम् ईष्टे. तथापि कदाचित् प्रतिबन्धकानामपि आत्मत्वाद् न दूरीकरोति. यदि तदपि कुर्यात् तदा महान् अनुग्रहो अयम् इति ज्ञात्वा चिकीर्षिते न विलम्बः कर्तव्यः इति अभिप्रायेण आह **अनुग्रहं मन्यमानः** इति. **उत्तराम्** इति, "एषा वै देवमनुष्याणां शान्ता दिग्" (तैत्ति.ब्रा. २।१।३।१) इति श्रुतेः, भगवत्कृते न प्रतिबन्धः इति ज्ञापयितुम् ॥१०॥

भू-जल-द्रुमातिक्रमम् आह **स्फीतान्** इति सार्ध-द्वाभ्याम्.

स्फीताञ्जनपदांस्तत्र पुरग्रामव्रजाकरान् ॥
खेटखर्वटवाटीश्च वनान्युपवनानि च ॥११॥
चित्रधातुविचित्राद्रीन् इभभग्नभुजद्रुमान् ।
जलाशयान् शिवजलान् नलिनीः सुरसेविताः ॥
चित्रस्वनैः पत्ररथैर्विभ्रमद्भ्रमरश्रियः ॥१२॥

तत्र एकेन भूमिविशेषान् आह. **स्फीतान्** सस्यादियुक्तान् **जनपदान्**

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इत्यत्र. **प्रतिबन्धकानाम् आत्मत्वाद्** इति. भगवतः सर्वात्मकत्वात् प्रतिबन्धकोऽपि स्वयमेव इति कदाचिद् न दूरीकुर्याद् इति अर्थः ॥१०॥

प्रकाशः

तदा तदहम् इत्यत्र. **ईशस्य भक्तानाम्** इति समभिव्याहारसूचितम् अर्थम् आहुः **भक्तानाम्** इत्यादि. **भक्तानामेव कल्याणम्** अभीप्सन् **ईष्टे** इति अर्थः ॥१०॥

लेखः

तदा तदहमीशस्य इत्यत्र. **प्रतिबन्धकानामपि** इति. अत्यन्तरङ्ग-प्रतिबन्धकानां पुत्र-मातृ-कलत्र-भृत्यादीनाम् **आत्मरूपत्वात्**, प्रवृत्तिदशायां सुखरूपत्वात् च भगवान् **न दूरीकरोति**. यदि तदपि प्रतिबन्धं तथा कुर्यात् तदातु महानेव अनुग्रहः इति अर्थः ॥१०॥

मालवादीन्. **पुराणि**[१] नगरात् स्थूलानि, **ग्रामाः** सूक्ष्मावासाः, **व्रजा** गवां स्थानानि, **आकराः** लवणादीनाम्. **खेटाः** कृषीवलग्रामाः, **खर्वटा** अग्निहोतॄणाम्; एकतो नदी अपरतः पर्वताः[२] तादृशाः. **वाटीः** पुष्पादिवाट्यः, **वनानि** मध्यस्थानि[३] सहजानि, **उपवनानि** आरोपितवृक्षाणाम्. चकारात् खलादीनि[४]. वृक्षसहित-पर्वतानाम् अतिक्रमम् आह **चित्रैः**[५] **धातुभिः विचित्रान् अद्रीन्**. तेषामेव विशेषणम् **इभैः भग्नाः भुजाः** येषां तादृशाः **द्रुमाः** येषाम् इति. राग-भयनिमित्ते उक्ते. विश्रामनिमित्तानि जलानि आह. **जलाशयान्** महापुष्करिणीः. तेषामेव[६] विशेषणं **शिवजलान्**. शीतलं रोगाद्यनुत्पादकं जलं **शिवम्**. **नलिनीः** कमलादियुक्तदेवखाताः. **सुरसेविताः** देवालयादिसहिताः. आश्चर्यरसाय आह **चित्रः स्वनो** येषां तादृशैः (**पत्ररथैः**!) पक्षिभिः सह (**विभ्रमद्**!) विशेषभ्रमणयुक्तानां **भ्रमराणां श्रियो** यासु ताः ॥११-१२॥

एवम् अनूद्य तेषाम् अतिक्रमणम् आह **नलवेणुशरस्तम्बे**ति.

नलवेणुशरस्तम्ब-कुशकीचकगह्वरम् ।
एक एवातियातोऽहमद्राक्षं विपिनं महत् ॥
घोरं प्रतिभयाकारं व्यालोलूकशिवाजिरम् ॥१३॥

नलवेणुशराणां स्तम्बाः कुशाः कीचकाः सरन्ध्राः स्थूलाः वेणवः तैः **गह्वरं** महद्वनम्. **एकएव अतियातो अहम्**. कियद्देशातिक्रमो अत्र

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

चित्रधातु इत्यत्र. **कमलादि** इति, जलं विद्यते यासु इति. तथाच तादृशपुष्करिण्ये अतिक्रान्ताः इति अर्थः ॥१२॥

एकएवाति इत्यत्र. **कियद्देशातिक्रमः** इति. कियतोऽपि देशस्य अतिक्रमः इति अर्थः. मार्गपरिमाणज्ञानं नास्ति इति भावः ॥१३॥

प्रकाशः

चित्रधातु इत्यत्र. **देवखाताः** इति, पुष्करिणीः इति शेषः ॥१२॥

---

१. पुरात् नगरात् स्थूलानिति क-घ. पुराणि नगराणि स्थूलानीति ग. २. पर्वत इति क-ग.

३. मध्यस्थानानि इति मुद्रितपाठः. भा.पाठे तु एवम् - सम्पा. ४. खलादीनामपीति क.

५. चित्रधात्वितीति प्रतीकमधिकम् क-घ. ६. तासामिति क-ग-घ.

विवक्षितः. अथवा पूर्वोक्तानामेव अतिक्रमः ; पूर्वोक्तान् अतियातो अहम्. पूर्वं पथिकाअपि अन्ये स्थिताः तत्र तत्र, **घोरं महद्विपिनंतु एकएव अद्राक्षम्.** तस्य भयजनकत्वेऽपि न मम भयं जातम् इति आशयेन आह. **घोरं** व्याघ्रविदारित-मांसादिभिः. (**प्रतिभयाकारं!**) भयस्यापि प्रतिभयजनकः आकारो यस्य ; व्याघ्रादयोऽपि ततो भीताः भवन्ति इति अर्थः. मध्ये अवृक्षदेशोऽपि भयानकः इति आह **व्यालोलूक-शिवाजिरम्. व्यालाः** सर्पाः **उलूकाः** दिवाभीताः **शिवाः** शृगालाः, तेषाम् अङ्गणत्वेन तद्भक्षित-मांसादियुक्तम् ॥१३॥

परिश्रान्तेन्द्रियात्माहं तृट्परीतो बुभुक्षितः ॥
स्नात्वा पीत्वा ह्रदे नद्या उपस्पृष्टो गतव्यथः ॥१४॥
तस्मिन्निर्मनुजेऽरण्ये पिप्पलोपस्थ आश्रितः ॥
आत्मनात्मानमात्मस्थं यथाश्रुतमचिन्तयम् ॥१५॥
ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्जितचेतसा ॥
औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः ॥१६॥

पूर्वं भगवच्चिन्तनेन गतस्यापि अतिभयानकदर्शनाद् बहिर्मुखत्वे जाते **परिश्रान्तेन्द्रियात्मा** परितः श्रान्तानि इन्द्रियाणि आत्मा देहश्च यस्य तथा **तृट्परीतो बुभुक्षितः** च जातः. कस्याश्चिद् **नद्याः** पार्वत्याः कुण्डभूतो ह्रदः. स वृक्षादिना शीतलो भवति. तत्र **स्नात्वा पीत्वा** च, पुनः

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

बहिर्मुखत्वे इति. गतभयानामपि इन्द्रियाणाम् अतिभयंकरदर्शनाद् भगवदनुसन्धान-विच्युतिः जाता इति अर्थः. भगवदनुसन्धानसत्त्वे परिश्रान्तता न सम्भवति इति **बहिर्मुखत्वे जाते** इति आचार्यैः उक्तम् इति ध्येयम्.

प्रकाशः

परिश्रान्तेत्यत्र. परिश्रमे हेतुम् आहुः **बहिर्मुखत्वे जाते** इति. भगवदनुसन्धानविच्युतौ जातायाम् इति अर्थः. **तस्मिन्** इति श्लोकं व्याकुर्वन्ति

लेखः

परिश्रान्त इत्यत्र. **पार्वत्याः** इति, पर्वतसम्बन्धिन्याः इति अर्थः ॥१४-१६॥

आत्मचिन्तनार्थम् **उपस्पृष्टः** आचम्य. चिन्तनमात्रेणैव (**गतव्यथः!**) अन्तःकरणक्लेशनिवृत्तिः, देहेन्द्रियाणां च स्नान-पानादिना. एवं सावधानो भूत्वा (**निर्मनुजे!**) मनुष्यसम्बन्धाभावमात्रेण कोलाहल-पापादिसम्बन्धाभावाद् उत्तमदेशाऽ**रण्ये** तत्रापि **पिप्पलोपस्थे आश्रितः** पश्चाद्भागेन वृक्षस्पर्शी **आत्मानम् अचिन्तयम्**[1] को अहम् इति. तथाच **तस्मिन्** आत्मत्वेन ज्ञाते केन अहम् एतादृशो भासे इति आकाङ्क्षायां स्वेनैव [2]स्वप्रकाशेनैव **आत्मना.** एवं स्वप्रकाशात्मज्ञानानन्तरं पुनः गूढोपदेशस्मरणेन यस्य अहम् आत्मा पीठभूतः स को अयम् इति जिज्ञासायाम् (**आत्मस्थम्!**) आत्मन्येव प्रकाशमानं भगवन्तं दृष्टवान्. सातु चिन्तनया मानसी मूर्तिः, **यथाश्रुतम्** इति वचनात्. तस्मिन् चिन्तनायाम् आरब्धायां भक्तिः उत्पन्ना. तस्याम् उत्पन्नायां चरणाम्भोजध्यानम् आरब्धम्. ततः **चरणाम्भोजं**[3] भक्त्या **निर्जितचेतसा ध्यायतो**[4] भक्त्या आनन्दः पूर्णो जातः. तेन प्रेमौत्कण्ठ्याद् आनन्दाश्रुप्रभृतयो जाताः. ततः **औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य (हृदि!)** हृदये–

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

तस्मिन्निर्मनुजे इति श्लोकं व्याचष्टे **एवं सावधानः** इति. **केनाहमेतादृशः** इति, आत्मत्वप्रकारकं ज्ञानं केन प्रमाणेन इति अर्थः. **पीठभूतः** इति, अधिकरणीभूतः इति अर्थः. तथाच मयि आत्मत्वेन भासते सः कः इति अर्थः. **मानसी** इति, मनसि कल्पिताः इति अर्थः. कल्पनन्तु परमहंसमुखश्रुत-भगवत्स्वरूपस्य मनसा आकलनम्. मूर्तेः मानसत्वे प्रमाणीभूतं विशेषणम् आहुः **यथा** इति. **ध्यायतः** इति श्लोकं व्याचष्टे **तस्मिन् चिन्तनायाम्** इति. **सर्वथा बहिर्दर्शनाभावे** इति, बहिर्दर्शनाभावेऽपि इति अर्थः. बहिर्दर्शनएव चिन्तनानुवृत्तिः भवति. तथाच तदभावेऽपि बहिर्दर्शनतुल्यमेव

प्रकाशः

एवं सावधानः इत्यादि. **ध्यायतः** इति श्लोकं व्याचक्षते **तस्मिन्** इत्यादि ॥१४-१६॥

---

१. अचिन्तयदीति क-ख-ग. २. स्वेति नास्ति क-ख.

३. ततश्चरणाम्भोजभक्त्येति ख. ४. ध्यायते इति क.

सर्वथा बहिर्दर्शनाभावे चिन्तनानुवृत्त्यर्थं – (हरिः !) भगवान् **शनैः आविरासीत्** ॥१४-१६॥

मानसकल्पितमूर्तौ अभ्यन्तराद् भगवदाविर्भावे मानसाविर्भूतयोः ऐक्ये यद् जातं तद् आह **प्रेमातिभरेति.**

प्रेमातिभरनिर्भिन्न - पुलकाङ्गोऽतिनिर्वृतः ॥
आनन्दसम्प्लवे लीनो नापश्यमुभयं मुने ॥१७॥
रूपं भगवतो यत्तन्मनःकान्तं शुचापहम् ॥
अपश्यन् सहसोत्तस्थे वैक्लव्याद् दुर्मना इव ॥१८॥

अयंहि[१] भगवत्साक्षात्कारः ; एवमेव ब्रह्मसाक्षात्कारोऽपि. यथा गङ्गाजले देवतारूपायाः गङ्गायाः ध्याने क्रियमाणे साक्षाद्भगवत्पदी यदि आविर्भवति तथा सर्वेषाम् आत्मनाम् आत्मभूते आत्मस्थे भगवति ध्यायमाने साक्षाद्भगवतः आविर्भावः चेत् स्वतः तत्र स्थिरीभूते प्रवेशः सायुज्यम्. यथा जलस्य देवतायां प्रवेशे नदी शुष्यति तथा जीवो ब्रह्म सम्पद्यते. एवम् आविर्भूते भगवति सान्निध्यात् परमप्रेम जातम्. तस्य **प्रेम्णो अतिभरो** महापूरः. सान्निध्यलक्षणानाम् उत्तरोत्तरम् अत्युत्कृष्टत्वात् तेन पूरेण **निर्भिन्नाः**

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

दर्शनं दत्तवान् इति अर्थः ॥१४-१६॥

प्रेमातिभर इत्यत्र. **अयंहि** इति, भक्तिमार्गीयो मानससाक्षात्कारः इति अर्थः. ज्ञानमार्गीयं साक्षात्कारं सदृष्टान्तं प्रकृते दृष्टान्तार्थम् आहुः **एवमेव ब्रह्म** इत्यारभ्य **ब्रह्म सम्पद्यते** इत्यन्तेन. **देवतायाम्** इति. **जलस्य** आधिदैविके जले **प्रवेशे** जाते आधिभौतिकस्य जलस्य तिरोभावः इति अर्थः. प्रकृते साम्यम् आहुः **एवम्** इति. यथा **जीवो ब्रह्म सम्पद्यते** तथा **प्रेम जातम्** इति अर्थः. एवञ्च ज्ञानमार्गीय-फलस्य भक्तिमार्गीय-साधनतुल्यतोक्तेः भक्तिमार्गोत्कर्षः उक्तो अनेन दृष्टान्तेन इति भावः. महत्त्वन्तु तरतमभावनिबन्धनम् इति तं विवृण्वन्ति **सान्निध्य** इति. तथाच भगवत्सन्निधानाधिकरणकाले अयं प्रकारः इति अर्थः. सम्प्लवे दृष्टान्तम्

---

१. हीति नास्ति ख.

पुलकाः रोमाञ्चाः यस्य. रोमकूपद्वारा बहिर्निर्गतः इति अर्थः. एवं सर्वाऽङ्गे आनन्दे पूर्णे (**अतिनिर्वृतः!**) परमा निर्वृतिः जाता. शान्तानन्दमयो जातः इति अर्थः. सच पुनः **आनन्दसम्प्लवे** गङ्गातएव उद्धृतं कलशजलं पुनः गङ्गायां प्रक्षिप्तं सद् गङ्गैव भवति तथा आनन्दसम्प्लवे **लीनः**. तदा आत्मानं भगवन्तं च **उभयं न अपश्यम्**. हे **मुने** इति सम्बोधनं संवादार्थं, कदाचिद् मुनीनाम् एवं भवति इति. आनन्दे चैतन्यभावः प्रविष्टो, न चित्त्वेन स्फुरितः इति अर्थः. ततो भगवदिच्छया भगवति तिरोभूते स्वस्यापि आनन्दांशे तिरोभूते मानस्यपि मूर्तिः तिरोभूता, बलवता हि अभिभवात्. तदा **भगवतो रूपं** (**मनःकान्तं!**) मनसो भर्तृत्वेन प्रकाशमानं (**शुचापहं!**) सर्वदुःखनाशकम् **अपश्यन्** "क्वचिद् इतो गतः" इति बुद्ध्या **सहसा उत्तस्थे** उत्थितवान् अस्मि. ननु अन्तःपदार्थस्य कुतो बहिर्गमनसम्भावना? तत्र आह **वैक्लव्यात्** विक्लवतया न स्फुरितम् इति अर्थः. विकलता हि सर्वविस्मारिका. किञ्च **दुर्मनाइव** जातः. दुः गतं **मनो** यस्य. यथा सर्वस्वनाशे सर्वस्वाविष्टं चित्तं नष्टमिव भवति

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

आहुः **गङ्गातः** इति. **तथा** इति. आनन्दरूपाद् भगवतः सकाशाद् उद्धृतो जीवः पुनः भगवति निक्षिप्तः चेद् आनन्दएव भवति इति अर्थः. **लीन**पदस्य अर्थम् आहुः **आनन्दे चैतन्यभावः** इति. चेतनता इति अर्थः. निर्गलितार्थम् आहुः **न चित्त्वेन** इति. अनिर्वचनीयानन्दानुभवेन चिदंशस्यापि स्फूर्तिः न जाता इति अर्थः. **रूपं भगवतः** इति श्लोकं व्याचष्टे **ततो भगवदिच्छया** इति. **बलवता** इति, भगवत्तिरोभावेन इति अर्थः. बलवान् हि स्वयं गच्छन् अन्यमपि मूलस्थम् आदाय गच्छति ; तथा कृतम् इति अर्थः. **मनःकान्त**पदं व्याचष्टे **मनसो भर्तृत्वेन** इति ॥१७-१८॥

प्रकाशः

रूपम् इति श्लोकं व्याचक्षते **ततो भगवद्** इत्यादि. **भर्तृत्वेन** इति **कान्त**पदस्य अर्थः ॥१७-१८॥

लेखः

प्रेमातिभर इत्यत्र. **रोमकूपद्वारा** इति, आनन्दः इति शेषः.

तथा भगवन्मूर्तौ तस्य चित्तं जातम् इति दुष्टत्वम् ॥१७-१८॥

पुनः कियत्कालसमाधाने ज्ञातवान् "भगवान् आविर्भूतः" इति, "तेन च एतत् सर्वं जातम्" इति. ततः सावधानो भूत्वा पुनः भगवद्दर्शनार्थं ध्यानम् आरब्धवान् इति आह.

दिदृक्षुस्तदहं भूयः प्रणिधाय मनो हृदि ॥
वीक्षमाणोऽपि[1] नापश्यमवितृप्त इवातुरः ॥१९॥

दिदृक्षुः तद् अहं भूयः इति. **तद्** भगवत्स्वरूपम् आविर्भूतं **दिदृक्षुः**. तत्र भगवद्ध्यानमेव साधनम् इति ज्ञात्वा पुनः **मनो हृदि** भगवन्मूर्तिव्याप्ते स्थिरीकृतवान्. ततो मानसीं मूर्तिं पश्यन्नपि[2] न भगवन्तं दृष्टवान्, तद् आह **वीक्षमाणोऽपि[1] न अपश्यम्** इति. तदा सन्तापः उत्पन्नः इति आह **अवितृप्तः इव आतुरः** इति. यथाहि **आतुरो** ज्वरादिरोगवान् कदाचिद् द्राक्षादिके दत्ते **अवितृप्तः** सन् पुनः प्रार्थनायां न प्राप्नोति, ततश्च रसाभिनिविष्टो महद्दुःखं प्राप्नोति. नहि ज्वरितस्य बह्वी द्राक्षा तु पथ्याय किन्तु रोचिका. [3]मार्गस्य संवादेन सत्यत्वज्ञानाद् भगवदाविर्भावाच्च काचित् तृप्तिः जातैव भुक्त-वान्तवत् तथापि न विशेषेण तृप्तः[3] ॥१९॥

तथापि यत्नं न त्यक्तवान् इति आह **एवं यतन्तम्** इति.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

दिदृक्षुः इत्यत्र. ननु भगवान् अतिकृपालुः स्वात्मानं कुतो न दर्शितवान् इत्यतः आहुः **नहि ज्वरितस्य** इति. "अविपक्व" (श्लो. २१) इत्यनेन ज्वरो वक्ष्यते ॥१९॥

एवं यतन्तम् इत्यस्य अवतारिकाम् आहुः **मार्गस्य** इति. **एवं यतन्तम्** इत्यत्र. **अस्तित्वेन** इति, फलस्य अस्तित्वेन इति अर्थः ॥२०॥

लेखः

तथा भगवन्मूर्तौ इति. मन्मनसि भगवन्मूर्तिः नास्ति इति ॥१७-१८॥

---

१. वीक्ष्यमाणोऽपि इति मुद्रितपाठः भा.पाठानुरोधेन शोधितः -सम्पा.

२. "ततो मानसीं मूर्तिं ध्यायन्नपि" इति बालप्रबोधिनीटीकायां श्रीगिरिधराः -सम्पा.

३-३. टिप्पणीकारैः इमा पङ्क्तिः उत्तरश्लोकोत्थानिकातया व्याख्याता -सम्पा.

एवं यतन्तं विजने मामाहागोचरो गिराम् ॥
गम्भीरश्लक्ष्णया वाचा शुचः प्रशमयन्निव ॥२०॥

विजने इति मनुष्यान्तरवाक्य-सम्भावनाभावः. को अयं सः इति आकाङ्क्षायाम् आह **अगोचरो गिराम्** इति, ''यतो वाचो निवर्तन्ते'' (तैत्ति.उप. २।४) इति श्रुतेः तत् साकारं ब्रह्म भगवच्छास्त्रगम्यम्[१] इति. तस्य वाक्यम् आह **गम्भीरश्लक्ष्णया वाचा.** गम्भीरत्वेन न प्रतिध्वनिः, श्लक्ष्णत्वाद् न आकाशपुरुषस्य वाणी. तस्य शोको अयम् ''किं मया भ्रमात् किञ्चिद् अनुभूतम् आहोस्वित् स्वप्नः?'' इति. तथा सति न शास्त्रं प्रमाणम् इति महद्दुःखं ; दिदृक्षाकृतञ्च. एवं नानाविधाः **शुचः**, ताः **प्रशमयन्निव.** अस्तित्वेन शमनम् ; अग्रेच[२] सम्भविष्यति, इदानीं नास्ति इति च. तस्माद् आह **शमयन्निव** इति ॥२०॥

भगवद्वाक्यम्[३] आह **हन्तास्मिन्** इति.

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

हन्ताऽस्मिञ्जन्मनि भवान् न मां द्रष्टुमिहार्हति ॥
अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम् ॥२१॥

हन्त इति स्नेहेन दुःखितस्य सम्बोधनम्. **अस्मिन् जन्मनि मां द्रष्टुं भवान् न अर्हति.** न वा इह इति, अन्यथा मरणपर्यन्तम् अत्रैव तिष्ठेत्! अतो वैकुण्ठे अन्यत्र वा जन्मान्तरे दर्शनं भविष्यति. इह अदर्शने हेतुः **अविपक्वकषायाणां** न विशेषेण पक्वा रागादयो येषाम्. इदानीं भक्ति-ज्ञानादेः उद्गमाद् अभिभूताः तिरोहिताः तिष्ठन्ति, पुनः कालान्तरे निमित्तान्तरम् आसाद्य प्रबुद्धाः भविष्यन्ति. अतः तेषां पाको मृग्यः इति ''कषायपक्तिः[४] कर्माणि'' (द्रष्ट.शांकरभा. ३।४।२६) इति श्रुतेः पाचककर्माणि

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

हन्तास्मिन् इत्यत्र. **अविपक्व** इत्यस्य तात्पर्यम् आहुः **इदानीम्**

प्रकाशः

हन्तेत्यत्र. अन्यथा इति देशानुक्तौ ॥२१॥

---

१. सिद्धमिति ग. २. एवेति घ. ३. तद्भगवद्वाक्यमिति ख. ४. कषायपङ्क्तिरिति क-ग-घ.

कर्तव्यानि इति अर्थः. अपक्वेऽपि कषाये साधनेषु अतिनिर्बन्धः चेत् कदाचिद् दुःखेन द्रष्टुं शक्येतापि, तद् आह **दुर्दर्श** इति. **कुयोगिनाम्** इति अन्तरायैः विहतानाम्. तस्माद् न कषायपाकः पूर्वसिद्धः[१] ॥२१॥

सकृद्दर्शनन्तु प्रमेयबलाद् इति आह.

सकृद् यद् दर्शितं रूपमेतत्कामाय तेऽनघ ॥
मत्कामः शनकैः साधुः सर्वान् मुञ्चति हृच्छयान् ॥२२॥

सकृद् यद् दर्शितं रूपम् इति. यद् इदं **रूपं सकृद् दर्शितं** **तत् ते (कामाय!)** कामोत्पत्त्यर्थम् [२]उद्गतेच्छाविशेषार्थं, येन कामेन [३]प्रवृत्तः स्थातुं न शक्नुयात्. कामनायां किं स्यात्? तद् आह **मत्कामः** इति, मयि कामः. **शनकैः** इति कामद्वारा यथा यथा अहं हृदि प्रविष्टः तथा तथा कामान् मुञ्चति इति. किञ्च प्रथमतः **साधुः** भवति, साधुभिः एव प्राप्यत्वात्, रागादिभिश्च साधुत्वापगमात्. ततः **सर्वान्** एव **हृच्छयान्** रागादीन् **मुञ्चति** ॥२२॥

तर्हि किं साधनं कर्तव्यम् इति आकाङ्क्षायाम् आह **सत्सेवया** इति.

सत्सेवयाऽदीर्घयापि जाता मयि दृढा मतिः ॥
हित्वावद्यमिमं देहं गन्ता मज्जनतामसि ॥२३॥

साधनन्तु तव निष्पन्नं यतः **अदीर्घयापि सत्सेवया मयि दृढा मतिः** जाता. तर्हि का अनुपपत्तिः? तत्र आह **हित्वा अवद्यम्** इति.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इत्यारभ्य **कर्तव्यानि इत्यर्थः** इत्यन्तेन. **अन्तरायैः** इति. कुत्सितैः योगाद् हतशक्तित्वाद् न कार्यसिद्धिः इति अर्थः. फलितार्थम् आहुः **तस्मान्न** इति. रागादिपाकः पूर्वसिद्धो नास्तीति रूपदर्शनं न इति अर्थः ॥२१॥

सकृद्यद् इति. रागादीनां त्याज्यत्वे बीजम् आहुः **रागादिभिश्च** इति ॥२२॥

---

१. पूर्वसिद्धिरिति ख-ग. २. तद्गतेच्छेति क-घ. ३. कामेनाऽप्रवृत्त इति ग.

देहस्तु दुष्टः, तस्मिन् अपगते भविष्यति. ननु एतत्प्ररोहत्वाद् अग्रिमोऽपि देहः तादृशो भविष्यति इति! तत्र आह **मज्जनतां** मम जनः सेवकः, तत्ता मज्जनता ; असेवकोऽपि सेवकशरीरं प्राप्स्यसि[१] ॥२३॥

तदा[२] शरीरान्तरे ज्ञानादिसाधनाभावात् कथं तव दर्शनम्? तत्र आह.

मतिर्मयि निबद्धेयं न विपद्येत कर्हिचित् ॥
प्रजासर्गनिरोधेऽपि स्मृतिश्च मदनुग्रहात् ॥२४॥

मतिः मयि निबद्धा इयम् इति, इदमेव ज्ञानं तदापि अनुवर्तिष्यते. नाशशङ्का नास्त्येव, मयि नितरां सम्बद्धत्वात्. यथा मत्सायुज्ये जीवानाम् अविद्यया न तिरोभावः तथा ज्ञानादीनामपि. मज्ज्ञानमिव तदपि भविष्यति इति **अनुग्रहः**. तद् आह **कर्हिचिद्** इति, बाधककाले. द्वयम् अनूद्य निषेधति **प्रजासर्ग-निरोधेऽपि** इति. अपरं च वरम् आह **स्मृतिः च** इति. सर्वपदार्थानां पूर्वानुभूतानां स्मरणं **च न विपद्येत** इति अर्थः. अनेन सर्वदा सावधानो भव[३] इत्येतावद् अत्र सिद्धम्. कषायपाकः कर्तव्यः,

---

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

सत्सेवया इत्यत्र **नन्वेतद्** इति. एतच्छरीरकार्यत्वाद् इति अर्थः. कार्यत्वं तु एतच्छरीरकृतकर्म-जन्यत्वम्. **असेवकोऽपि** इति, इदानीं सेवारहितोऽपि इति अर्थः ॥२३॥

मतिर्मयि इत्यत्र. अनाशे दृष्टान्तम् आहुः **मत्सायुज्ये** इति. **जीवानां** संयुक्तानां **अविद्यया न तिरोभावः** न तिरोहितं भवति यथा, **तथा ज्ञानादि** मत्सम्बद्धत्वात् न तिरोभवति इति भावः. **मज्ज्ञानमिव** इति, नित्यज्ञानवत्त्वं **भविष्यति इति** अयं च **अनुग्रहः** कृतो, नतु स्वतः एतस्य इदं सामर्थ्यम् इति अर्थः ॥२४॥

प्रकाशः

मतिः मयि इत्यत्र. **अनेन** इति भगवदनुग्रहजन्येन पूर्वजन्मादिस्मरणेन.

---

१. प्राप्स्यतीति ग. २. ननु तदेति घ. ३. भवतीति क-ग-घ-ङ.

अन्तरायैः अनुपहतश्च भवेद्, अन्यत्तु मयैव कृतं– मयि कामो विषयेषु अकामः. एतद्देहावसाने एव मत्पार्षदशरीरप्राप्तिः – ज्ञानानाशः सर्वपदार्थस्मरणं च. तत्र निर्विघ्नेन कषायपाकोपायः त्वया शीघ्रमेव कर्तव्यः इति सिद्धम् ॥२४॥

॥ नारदः उवाच ॥

एतावदुक्त्वोपरराम तन्महद्भूतं नभोलिङ्गमलिङ्गमीश्वरम् ॥
अहं च तस्मै महतां महीयसे शीर्ष्णाऽवनामं विदधेऽनुकम्पितः ॥२५॥

एतावद् अग्रे उपायम् अनुक्त्वैव अनुकम्पयैव स्वतः स्फुरिष्यति इति पूर्वोक्तमात्रम् **उक्त्वा विरराम.** प्रामाण्यार्थं वक्तारं विशिनष्टि. विशेषतो अज्ञानात् नपुंसकपदप्रयोगः. **तद्** इति अनुवादः. **महद्भूतम्** इति, "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितम्" (बृहदा.उप. २।४।१०) इति वेदोद्गममूलभूतं प्रामाण्यार्थमेव महज्जातम् इति. आकाशपुरुषं व्यावर्तयति **नभोलिङ्गम्**

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

एतावदुक्त्वा इति श्लोकं व्याचष्टे **एतावदग्रे** इति. **प्रामाण्यार्थम्** इति, "हन्तास्मिन्" (श्लो. २१) इत्यादिवाक्यानां प्रमाणत्वार्थम् इति अर्थः. **तदिति** इति. "अगोचरो गिराम्" (श्लो. २०) इत्यस्य **अनुवादः** कृतः इति अर्थः. "निःश्वसितम् अस्य वेदाः" (द्रष्ट. भामती १।१।१) इति श्रुत्युक्तो 'अस्य' इति अनूद्य व्याचष्टे **अस्य** इति. **महद्भूतम्** इति मूलं व्याचष्टे **इति वेदोद्गम** इति. "अस्य निःश्वसितम्" इति श्रुतेः **वेदोद्गममूलभूतं** वेदोत्पत्तौ बीजरूपं ब्रह्म**प्रामाण्यार्थं** कार्यरूपवेदस्य प्रमाणत्वनिमित्तं **महज्जातं** कार्यरूपवेदरूपेण आविर्भूतम् इति अर्थः. तथाच वेदस्यापि भगवत्त्वेनैव प्रमाणता यदि, तदा साक्षात् तदुक्तानां "हन्तास्मिन्" (श्लो. २१) इत्यादिवाक्यानां प्रमाणत्वे का अनुपपत्तिः इति आशयेन **महद्भूतम्** इति विशेषणम् उक्तम् इति भावः. इत्थं च "निराकारात् कथं शब्दोत्पत्तिः ?" इति आशङ्का परास्ता इति ध्येयम्. **आकाशपुरुषम्**

प्रकाशः

तत्र इति भगवद्वाक्ये ॥२४॥

एतावद् इत्यत्र. **जातम्** इति भूतपदस्य अर्थः.

इति. आकाशन्तु भगवतो अनुमापकं, प्रथमकार्यत्वात्. तथा कथने वा हेतुः यतः तत्कार्यमपि तथा कथयति इति. **अलिङ्गं** नहि भगवान् अनुमानगम्यः, आत्मत्वेन प्रत्यक्षत्वात्. अतिरिक्तरूपेऽपि[१] न व्याप्त्यादीनां भगवन्नियामकत्वम्. तद् आह **ईश्वरम्** इति. अन्यथाकरणसामर्थ्याद् न हेतुना वह्न्यादिरिव भगवान् सिद्ध्यति इति अर्थः. एवं सर्वप्रमाणातीतः सर्वत्र प्रमाणम् इति उक्तम्. मयापि तदुक्तं कृतम् इति आह **अहं च** इति. तत्र निर्विघ्नार्थं तमेव भगवन्तं नमस्करोति. **तस्मै** पूर्वपरिचयात्.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इति. ''हन्तास्मिन्'' इत्यादीनां वक्ता आकाशपुरुषो न भवति इति ज्ञापकम् **नभोलिङ्गम्** इति विशेषणम् इति अर्थः. **नभोलिङ्गम्** इत्यस्य अवतारिकान्तरम् आहुः **तथा कथने** इति. तथा कथनं = श्रुतौ प्रथमजन्यत्वेन कथनं, तत्र **नभोलिङ्गम्** इति विशेषणं **हेतुः** इति अर्थः. तथाच तथाकथनज्ञापकम् इति अर्थः. **यतः** इति. **तत्कार्यं** वेदोपि **तथा** कार्यत्वेन **कथयति इति** अस्माद् हेतोः आकाशपुरुषो ''हन्त'' इत्यादि वक्ता न इति अर्थः. **अतिरिक्त** इति, कर्तृरूपेऽपि भगवति व्याप्त्यादिभिः ज्ञानं न भवति इति अभिप्रायेण आह इति अर्थः. तथाच ''क्षितिः सकर्तृका, कार्यत्वाद्'' इत्याद्यनुमानेन कर्तृत्वज्ञानमपि न भवति, आत्मत्वज्ञानवद् इति अर्थः. **अन्यथा** इति. कदाचित् करोति, कदाचिद् न करोति, कदाचिद् अन्यथा करोति इति एकस्यापि रूपस्य निश्चयाभावाद् **हेतुना** भगवज्ज्ञानं **न** भवति इति अर्थः. वह्न्यादीनान्तु नियतत्वाद् धूमादिहेतुना अनुमितिः भवति ; अत्र तथात्वाभावाद् न इति अर्थः. विशेषणचतुष्टयस्य फलितार्थम् आहुः **एवं सर्व** इति. ननु ईश्वरेण अग्रिमजन्मनि फलं

प्रकाशः

तथा कथने इति अदृश्येन रूपेण कथने. आत्मातिरिक्तरूपस्यापि अनुमानगम्यत्वं नास्ति इति आहुः **अतिरिक्ते**त्यादि. **सर्वत्र** इति अस्मदादिकृतेषु साधनेषु. **उक्तम्** इति, नमनम् उक्तम् ॥२५॥

---

१. तु इति क.

ईश्वरफलदानपक्षेऽपि यथा फलं प्रयच्छेत् तदर्थम् उक्तम्. ननु नमस्कारमात्रेण तत् कथं कुर्यात्? तत्र आह **महतां महीयसे** इति, अतिमहति तावदेव कर्तव्यम् इति. बहिः शब्दश्रवणाद् बहिःस्थितो भगवान् इति बहिः **शीर्ष्णा अवनामं (विदधे!)** साष्टाङ्गनमस्कारं कृतवान्. युक्तञ्च एतद् यतो भगवान् महतीं कृपां कृतवान्, तद् आह **अनुकम्पितः** इति ॥२५॥

कषायपाकसाधनं करोमि इति आह **नामानि** इति.

नामान्यनन्तस्य हतत्रपः पठन् गुह्यानि भद्राणि कृतानि च स्मरन् ॥
गां पर्यटंस्तुष्टमना गतस्पृहः कालं प्रतीक्षन् विमदो विमत्सरः ॥२६॥

कषायाः त्रिविधाः — साक्षाद् रागादयः तामसाः, तेषामपि वासनारूपाः राजसाः, तेषामपि मूलभूताः अविद्यारूपाः. तेच क्रमात् कर्मणा भक्त्या

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

दत्तमेव, किमर्थं नमस्कारः इति आशङ्क्य आहुः **ईश्वरफल** इति. प्रसन्नत्वेन निर्विघ्नफलदानार्थम् इति अर्थः. मस्तकेन प्रणामे हेतुम् आहुः **बहिःशब्द** इति. मानससाक्षात्कारे मानसो नमस्कारो, बहिरिन्द्रियसाक्षात्कारे बहिरिन्द्रियैः इति अर्थः ॥२५॥

नामानि इत्यत्र. सर्वसाधनत्यागं कृत्वा केवलनामग्रहणे युक्तिं प्रमाणं च आहुः **कषायाः** इत्यारभ्य **अपेक्षा** इत्यन्तेन. **नामानि** इति बहुवचनसूचितार्थम्

प्रकाशः

नामानि इत्यत्र. **अविद्यारूपाः** इति. योगदर्शने "विपर्ययो मिथ्याज्ञानम् अतद्रूपप्रतिष्ठम्" (पात.यो.सूत्र २।३) इति विपर्ययं लक्षयित्वा "अविद्याऽस्मिता-राग-द्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः" (पात.यो.सूत्र २।४) इति विपर्ययस्य भेदाः उक्ताः. तेषामेव भाष्ये व्यासपादैः "तमो मोहो महामोहस्तामिस्रोऽन्धतामिस्रः" (व्यासभा. १।८) इति पर्वत्वेन व्याख्यातत्वात् तत्पर्वरूपाः इति अर्थः. **तत्रच** इति कर्मादिषु च. **पृथग्** इति. "निर्विण्णानां

लेखः

एतावदुक्त्वा इत्यत्र. **बहिःशब्दश्रवणाद्** इति. भगवद्वाण्यात्मक-शब्दस्य बहिःश्रवणाद् भगवतः स्थितिमपि बहिरेव इति निश्चितवान्, अतः तथैव नमस्कारः इति अर्थः ॥२५॥

ज्ञानेन च नाश्यन्ते. तत्रच अधिकाराः पृथक् पृथग् [1]अतो न एकेन न एकदा कर्तुं शक्याः. तस्माद् एतेषां त्रयाणाम् एको अनुकल्पः कर्तव्यः. तद् भगवत्कृपया अस्य[2] यत् स्फुरितं तत् कृतवान्. "चक्राङ्कितस्य (/चक्रायुधस्य !) नामानि सदा सर्वत्र कीर्तयेद्" (पद्मपुरा. ५।८४।४५) इति वाक्याद् नामसु न देश-कालयोः अपेक्षा. एकञ्च नाम न आवर्तनीयं, ब्रह्मविदः सर्वैरेव रूपैः भगवत्सेवनस्य श्रुतिसिद्धत्वात्. एकनाम्नः आवृत्तौ रूपविशेषस्य इति न सर्वैः सर्वत्र रक्षा स्यात्. श्रोतुः वक्तुश्च परिच्छेदबुद्धिः,

---

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

आहुः **एकञ्च** इत्यारभ्य **शङ्कापि स्याद्** इत्यन्तेन. **रूपविशेषस्य** इति, एकरूपस्य सेवने इति अर्थः. **इति न** इति. इति रूपविशेषसेवनात् सर्वत्र अविद्यानिवृत्तिः न स्यात्, सर्वाऽसेवनाद् इति अर्थः. एकनामावृत्तौ दूषणान्तरम् आहुः **श्रोतुः** इति. "एतन्नामविशिष्टएव भगवान्, न अन्यः"

प्रकाशः

ज्ञानयोगः कर्मयोगस्तु कामिनां, न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः" (भाग.पुरा. ११।२०।८) इति एकादशे वाक्याद् इति अर्थः. **यद्** इति अनुकल्परूपम्. **श्रुतिसिद्धत्वाद्** इति. मण्डलब्राह्मणे "तमेतमग्निरित्युपासतेऽध्वर्यवः" (शतपथब्रा. १०।५।२।२०) इति उपक्रम्य यजुःसामादिरूपाणि उक्त्वा "तस्माद् एवंवित् सर्वैरेव एतैः उपासीत" (शतपथब्रा. १०।५।२।२०) इति श्रावणाद् इति अर्थः. **न सर्वैः** इत्यादि.

लेखः

नामान्यनन्तस्य इत्यत्र. **तत्र चाधिकाराः** इति. **तत्र** कर्मादिषु **पृथग्** एव **अधिकाराः** कल्पाः. तत्र हेतुः **यतः** इति. **यतः एकेन एकदा कर्तुं** कर्मादिमार्गाः अशक्याः अतः इति अर्थः. **एतेषां** कर्म-ज्ञान-भक्तीनाम्. **एकोऽनुकल्पः** इति. एकतन्त्रेण त्रयाणामपि समनुष्ठानं भवति इति तथा विधेयम् इति अर्थः. तदेतत् त्रयमपि श्लोकेन सूचयिष्यते. तत्र **पठन्** इत्यनेन कीर्तनभक्तेः उक्तत्वाद् भक्तिः, **स्मरन्** इत्यनेन ज्ञानं,

---

१. यत इति पाठः लेखे - सम्पा. २. यस्येति ख.

पाषण्डताशङ्कापि स्यात्. तत्र हेतुम् आह **अनन्तस्य** इति, अनन्तरूपस्य. तथा सति अनन्ताएव भगवद्धर्माः नामसु स्मृताः भवन्ति. अलौकिकं हि लोकमध्ये कुर्वन् गुप्तं करोति. लोकोपहासभिया देहकुलान्तःकरणधर्मैश्च लज्जा भवति, विहितत्वेऽपि लोकोपहासात्. तथा सति लोकरक्षाबुद्ध्या[१] न भगवति शुद्धो भावो भवेत्. अतः तान् त्याजयति **हतत्रपः** इति.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इति बुद्धिः स्याद् इति अर्थः. तथा व्यापकादिधर्माज्ञानेन अज्ञातृत्वं स्याद् इति अर्थः. अज्ञाने दूषणम् आहुः **पाषण्डता** इति. "सर्वं खलु इदं ब्रह्म" (छान्दो.उप. ३।१४।१) इति श्रुत्युक्तब्रह्मज्ञानाद् एकनामविशिष्टमात्रस्य ब्रह्मत्वेन निश्चये **पाषण्डताशङ्का स्याद्** इति अर्थः. **तत्र हेतुम्** इति, बहुनामग्रहणे हेतुम् **आह** इति अर्थः. **तथा सति** इति, अभिधेयस्य अनन्तत्वाद् इति अर्थः. **हतत्रपः** इत्यस्य अवतारिकाम् आहुः **अलौकिकम्**

प्रकाशः

"तद्धैतान् भूत्वा अवति" (शतपथब्रा. १०।५।२।२०) इति श्रुतौ उपास्यरूपेणैव रक्षोक्तेः सर्वरूपानुपासने तद्रूपेण अभवनात् सर्वत्र त्रिविधरागनिवृत्तिः प्रतिबन्धान्तरनिवृत्तिश्च न स्याद् इति अर्थः. दूषणान्तरम् आहुः **श्रोतुः** इत्यादि. "सर्वत्र अयं ब्रह्म न जानाति" इति श्रोतुः बुद्धिः स्यात्. सर्वत्र अज्ञाने अस्य[२] श्रुतिविरुद्धत्वात् **पाषण्डताशङ्का** स्वस्य **अपि स्याद्** इति अर्थः. **तत्र** इति नाम्नाम् आनन्त्ये. **तान्** इति लोकान्.

लेखः

गां पर्यटन् इत्यादिना कर्म च इति भावः. **पाषण्डता** इति. एकस्वरूपनाम्नएव आवृत्त्या अन्यत्र रूपान्तरे अश्रद्धा ज्ञायते, तेन पाषण्डता इति अर्थः. वस्तुतस्तु अनन्यव्रतस्तु तथैव, अतएव **शङ्कापि** इत्युक्तं, **स्याद्** इति च इति. **लोकरक्षा** इति. लोके अन्योपहास-रक्षाद्यपेक्षया भगवन्नाम्नाम् अल्पं शनैश्च पठनं स्मरणं वा भवेत्. ततश्च लोकापेक्षासद्भावात् **शुद्धो भावोऽपि न भवेद्** इति अर्थः. **तान्** इति, देह-कुलान्तःकरणधर्मान्

---

१. लोकबुद्ध्येति घ-ङ. २. अज्ञानेन वक्तुः श्रुतीत्यादि पाठः.

हतत्वाद् न पुनर्जीवनम्. क्रिया-कर्ममध्ये अधिकारिपदाद् नामोच्चारणे एव हतत्रपत्वम्. स्वाधीतानाम्[१] अर्थानुसन्धानपूर्वकम्[२] उच्चैः उच्चारणं पठनम्. शतृप्रत्ययेन निरन्तरताच उक्ता. चित्तस्य चञ्चलत्वात् तस्य भिन्नम् अवलम्बनम् आह **गुह्यानि** इति. यानि चरित्राणि **गुह्यानि** लोके स्पष्टतया वक्तुम् अयुक्तानि पुष्ट्या कृपया **कृतानि** [३]द्रौपद्यर्जुनादिषु शयन-स्थानादिषु शयन-स्थानादीनि **भद्राणि** मनोहरादीनि स्वस्य अबाधकानि[४]. **कृतानि**

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इत्यारभ्य **त्याजयति** इत्यन्तेन. **क्रियाकर्म** इति. **क्रिया** गमनं, **कर्म** नामग्रहणम्, अनयोः **मध्ये नामोच्चारणे एव** लज्जाभावो, न गमने इति. तत्र हेतुः **अधिकारिपदाद्** इति, **पठन्** इति पदाद् इति अर्थः. तथाच **हतत्रपपदस्य पठन्** इति पदेन सान्निध्याद् हतत्रपत्वं पाठे एव, न गमने इति भावः. इत्थं वस्त्रादिरहितेन न भाव्यम् इति ध्येयम्. पठनस्य लक्षणम् आहुः **स्वाधीन** इति. **स्वाधीनानां** स्वतन्त्राणाम् इति अर्थः. तथाच हतत्रपः स्वतन्त्रश्च अहं नामोच्चारणं कुर्वन् स्थितः इति अर्थः. **मनोहरादीनि** व्यामोहकत्वेन कृतानि न पठनीयानि इति अर्थः. तदेव आहुः **स्वस्य** इति. अन्तःकरणविक्षेपजनकत्वात् तानितु बाधकानि

प्रकाशः

नामोच्चारणे एव इति, नतु वस्त्रादित्यागेऽपि इति अर्थः. **स्वस्य अबाधकानि** इति चित्ताऽविक्षेपकानि. **कृतपदं** करिष्यमाणानामपि उपलक्षकम् इति आशयेन

लेखः

इति अर्थः. **त्याजयति** इति. तदसम्बन्धः **हतत्रपः** इति पदं ज्ञापयति इति अर्थः. **क्रियाकर्म** इति. **पठन्** इति **क्रिया, नामानि** इति **कर्म, तन्मध्ये अधिकारिवाचकं पदं हतत्रपः** इति. नामकर्मक-पठनक्रियाऽवरुद्धत्वाद् हतत्रपत्वस्य न अन्यत्र वस्त्रादित्यागेऽपि हेतुत्वम् इति भावः. **करिष्यमाणानि**

---

१. स्वाधीनानामिति ग-टिप्पण्याम् -सम्पा. २. अर्थानुष्ठानेति घ. ३. द्रौपद्यर्जुनादिषु इति ख-ग. द्रौपद्यर्जुनादि-शयनस्थानादिषु इति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु घ-ङपाठानुरोधात् -सम्पा.

४. स्वस्याऽबन्धकानीति घ-ङ.

च इति स्पष्टतया कृतानि. अथवा **कृतानि** करिष्यमाणानि **च** (स्मरन्!); भगवत्कृपया तत्स्फुरणम्. शरीरकृत्यम् आह **गां पर्यटन्** इति. अत्यन्तसंयोगे द्वितीया. गोशब्दाद् गोसेवावद् धर्मजनकत्वम्. परितः अटनम्; अनेन ऋजुतया एकमार्गेण देशातिक्रमो निवारितः. एकम् अङ्गं साधन-साधनत्वेन[१] उक्त्वा पञ्चाङ्गानि फलसाधनत्वेन आह **तुष्टमनाः** इत्यादि. भूमिपर्यटनं यदि अन्यार्थं स्यात् तदा मनसो न तावन्मात्रेण परितोषः स्यात्. अतः तुष्टमनाः भवेत् पर्यटनमेव फलत्वेन जानीयात्. यद्यपि तथा पर्यटननेन लौकिकालौकिकानि फलानि भवन्ति तथापि तेषु स्पृहा न कर्तव्या, तद्

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

भवन्तीति न उच्चारणीयानि इति अर्थः. **कृतानि च** इति **चार्थम्** आहुः **अथवा कृतानि** इति. **साधनसाधनत्वेन** इति. पर्यटनं नामोच्चारणे साधनेषु मनस्तोषादिषु साधनत्वेन उक्तः इति अर्थः. **अतस्तुष्टमनाः** इति, **अतः** पर्यटनाद् इति अर्थः. **पर्यटनमेव** इति, सर्वसाधनसम्पादकत्वाद् इदमेव फलम् इति जानीयाद् इति अर्थः. तथाच पर्यटनं सर्वथा कर्तव्यम् इति

प्रकाशः

आहुः **अथवा** इत्यादि. **एकम्** इत्यादि. चरित्रस्मरणरूपम् **अङ्गं** नामोच्चारणसाधनत्वेन **उक्त्वा** इति अर्थः. **लौकिकालौकिकानि** इति.

लेखः

च इति, एतानि **चकारेण** सूचितानि इति भावः. **तत्स्फुरणं** करिष्यमाण-चरित्रस्फुरणम् इति अर्थः. **अत्यन्तसंयोगे** इति. "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगः" (पाणि.सूत्र २।३।५) इति सूत्रेण इति अर्थः. **एकमङ्गम्** इति. चरित्रस्मरणरूपम् अङ्गं मनोनैयत्यकरणेन नामपठनात्मक-साधनत्वेन उक्तं पूर्वार्धेन इति अर्थः. **पञ्चाऽङ्गानि** इति. **तुष्टमनाः** इत्यादि पञ्चविशेषणोक्तानि **पञ्चाङ्गानि** गोपर्यटनात्मक**फलस्य साधनत्वेन आह** इति अर्थः. पञ्चविशेषणोक्तानि अङ्गानि गोपर्यटनस्य फलत्वसाधनाय आह इति यावत्. तदेतत् साधयन्ति **भूमिपर्यटनं यदि** इत्यादिना. **तदाह**

---

१. साधनत्वेनोक्त्वेति ख.

आह **गतस्पृहः** इति. ननु अपरिच्छिन्नानि कर्माणि कर्तुम् अशक्यानि– अतएव द्वितीयाध्याये कर्मभेदो निरूपितः– तत्र परिच्छेदको देशः कालो वा भवति, ततः च [१]परिच्छेदक-देशकालसम्बन्धे किं कुर्याद् इत्यतः

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

भावः. **लौकिकालौकिकानि** इति. लौकिकानि सन्माननादीनि, अलौकिकानि स्वर्गादीनि. **अपरिच्छिन्नानि** इति, देशकालाद्यनवच्छिन्नानि इति अर्थः. **अतएव** इति, यतः अपरिच्छन्नं कर्म कर्तुम् अशक्यम् अतः. हीनमध्यमोत्तमाधिकार-परिच्छेदार्थं "स वै पुंसाम्" (भाग.पुरा. १।२।६) इत्यारभ्य "कुर्वन्त्यात्मप्रसादनीम्" (भाग.पुरा. १।२।२२) इत्यन्तेन ग्रन्थेन **कर्मभेदो** भगवद्भक्तेः **निरूपितः द्वितीयाध्याये** इति अर्थः. **तत्र परिच्छेदकः** इति. **तत्र** कर्मणि **परिच्छेदकः** एतस्मिन् देशे अस्मिन् काले इदं कुर्याद् इति आधारत्वेन परिच्छेदकः इति अर्थः. तथाच भक्तौ अधिकारएव परिच्छेदकः इति सएव उक्तः. प्रकृते तु कालादिरेव इति अवतारिकायाम् उच्यते इति भावः. सिद्धम् अर्थम् आहुः **ततश्च** इति. कर्मार्ह-देशकालसम्बन्धे इति अर्थः. तथाच स्वाध्यायादिकर्म-परिच्छेदके स्वाध्यायादि-संन्यासान्त-

प्रकाशः

सन्मानन-नानाश्चर्यावलोकनादीनि, पुण्यदेशानुभवाज्ञादीनि च इति अर्थः. **तद् आह** इति, **गतस्पृह**पदेन आह इति अर्थः. **अपरिच्छिन्नानि** इति देशकालकृतनियम-रहितानि. **अतएव** यावज्जीवाधिकारकस्य अनिर्वाहादेव. **द्वितीयाध्याये** जैमिनिसूत्रीये **कर्मभेदः** नित्य-काम्याऽग्निहोत्रादेः प्रयोगभेदः. **परिच्छेदकदेशकालसम्बन्धे** "प्रयागे वपनं कुर्यात्" (नारदपुरा.उ. ६३।१०५) "तुला-मकर-मेषेषु प्रातः स्नायी भवेन्नरः" (पद्मपुरा. ६।११०।२५) इत्यादिवाक्योक्त-देशकालसम्बन्धे **किं कुर्यात्** परिच्छिन्नाऽपरिच्छिन्नयोः

लेखः

इति. **तत्** पूर्वोक्तं सर्वं **गतस्पृहः** इति पदम् **आह** इति अर्थः. **द्वितीयाध्याये** इति, पूर्वतन्त्रीय-द्वादशलक्षणद्वितीयाध्याये इति अर्थः. ... . **कालं प्रतीक्षन्**

१. अपरिच्छेदकेति क-ग-घ-ङ.

आह **कालं प्रतीक्षन्** इति. शतृप्रत्ययेन आदितः आरभ्य कालप्रतीक्षा कर्तव्या ; ततः शरीररक्षादि-साधनाभावे बाधके वा न अन्तःकरणे क्लेशो भवति. दैवगत्या सन्मानने प्राप्तेऽपि (**विमदो!**) गर्वो न कर्तव्यः. नहि पूजनेन तस्य महत्त्वं, प्रत्युत तद् बाधकं, "जनेनाभिमतो योगी योगसिद्धिं न विन्दति" (नारदपरि.उप. ५।२९) इति वाक्यात्. विषयाप्राप्तौ (**विमत्सरः!**) नवा मत्सरः कर्तव्यः, प्रत्युत कालसाधकत्वेन तेषाम् उपकारो

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

कर्मकाले प्राप्ते तत् कर्म कुर्याद् आहोस्विद् अन्यत् किमपि इति सन्देहे आह इति आशयः. **कालं प्रतीक्षन्निति** इति. तथाच देहावसानजनक-कालप्रतीक्षैव कर्तव्या, न कर्मान्तरम् इति अर्थः. प्रतीक्षायाः फलम् आहुः **ततः शरीर** इति. कालप्रतीक्षया अन्नाद्यप्राप्तौ शीतोष्णादिप्राप्तौ च अन्तःकरणे क्लेशो न जायते इति अर्थः. **विमदः** इति पदं व्याचष्टे **दैवगत्या** इति. **विमत्सरः** इति पदं व्याचष्टे **विषयाप्राप्तौ** इति. अन्नाद्यप्राप्तौ इति अर्थः. **कालसाधकत्वेन** इति, देहपर्यवसानजनक-कालानुकूलः इति अर्थः. **तेषाम्** इति, अन्नाद्यदातॄणाम् इति अर्थः. तर्हि भोजनादिप्रापकेषु मत्सरः कर्तव्यः, शरीराऽऽस्थितिजनक-सम्पादनाद् इति आशङ्क्य आहुः

प्रकाशः

वपनादि-पर्यटनयोः मध्ये कतरत् कुर्याद् इति अर्थः. **ततः** इत्यादि. तथाच कृतिसाध्यत्वाऽसाध्यत्वविचारो हि शरीररक्षाविचारमूलकः ; तस्य अविचार्यत्वेन तदपि अविचार्य पर्यटेदेव इति अर्थः ॥२६॥

लेखः

इति. तथाच कालवेगज्ञानस्य सत्त्वाद् न कृत्स्नकर्मकरणे व्यग्रता, किन्तु कालप्रतीक्षार्थं निर्वाहकमात्र-कर्मापेक्षेति न कर्मनिर्वहणरूपं दूषणम् इति अर्थः. **गर्वो न** इति. अनेन **विमदः** इति पदं व्याख्यातम्. **विषयाप्राप्तौ** इति. अभिलषित-खानपानादि-विषयाणाम् अप्राप्तावपि मत्सररूपो धर्मो न आविष्कर्तव्यः इति अर्थः. विपरीते बाधकम् आहुः **प्रत्युत** इति. विषयाणां **कालसाधकत्वेन** शीघ्रमेव विषयप्राप्तौ कालग्रस्तो भवेत्. अतः विषयाप्राप्तौ **तेषां** विषयाणाम् **उपकारएव मन्तव्यो** नतु मत्सरोऽपि कर्तव्यः इति अर्थः.

मन्तव्यः. नवा विपरीतो मत्सरः कर्तव्यः अबाधकविषयप्रापकेषु, भगवदाज्ञानिर्वाहकत्वात्. निषिद्धप्रापकेषुतु बाधकवत् सहनम्. एवं षडङ्गसहितं नामोच्चारणपूर्वकं भूपर्यटनं कषायपाके हेतुः ॥२६॥

तस्य किं दृष्टद्वारा अदृष्टद्वारा वा कषायपाकहेतुत्वम् इति आकाङ्क्षायाम् आह.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

नवा विपरीत इति. भगवत्प्रसादप्रापके भगवदाज्ञया दातृत्वाद् इति अर्थः. तर्हि शिवनिर्माल्यादिप्रापकेषु कर्तव्यः इति आशङ्क्य आहुः **निषिद्ध** इति. शीतोष्णादिवत् सहनमेव, नतु मत्सरः कर्तव्यः इति अर्थः. भक्षणाभावस्तु निषिद्धत्वज्ञानादेव इति ध्येयम्. उपसंहरन्ति **एवम्** इति. पर्यटनस्य सर्वहेतुत्वात् प्रधानत्वेन उक्तिः. वस्तुतस्तु पर्यटनादीनि षडपि नामग्रहणे अङ्गानि इति ध्येयम्. तथाच पर्यटनपूर्वकं **षडङ्गसहितम्** इति सम्बन्धः ॥२६॥

लेखः

नवा विपरीत इति. **अबाधकाः** लौकिकविषयवद् न संसारजनकाः ये **विषयाः** भगवत्स्वरूपावलोकन-स्पर्शनादि-जन्याः तेषां **प्रापकाः** ये भक्ताः दयालवः तेषु **विपरीतो मत्सरः न कर्तव्यः**. पूर्वं हि लौकिकविषयाप्राप्तिजो मत्सरः, अत्रतु लौकिकतन्नाशकत्वेन प्रसिद्धो अलौकिकविषयाप्राप्तिजो मत्सरइति तद्विपरीतः. अत्र हेतुः **भगवदाज्ञानिर्वाहकत्वाद्** इति. "अविपक्वकषायाणाम्" (श्लो. २१) इत्यादि भगवदाज्ञानिर्वाहकत्वाद् भक्तानां तदलौकिकविषयस्य अदानम् इति भावः. ननु भगवदाज्ञापरिपालनेन मास्तु मत्सरः तेषु, परन्तु क्षुत्पिपासादिना भगवद्धर्मबाधकानां विषयाणां प्रापकेषु कालादिषु कुतो न मत्सरः? अतः आहुः **निषिद्ध** इत्यादि. **बाधकवद्** इति. "त्रिदुःखसहनं धैर्यम्" (वि.धै.आ. ६) इति वाक्याद् धैर्यम् अवलम्ब्य बाधकानां कालधर्मादीनामपि यथा सहनं तथा तेषामपि, नतु मत्सरोऽपि इति भावः. **षडङ्ग** इति, स्मरणेन सह षड् इति अर्थः ॥२६॥

एवं कृष्णमतेर्ब्रह्मन्नसक्तस्यामलात्मनः ॥
कालः प्रादुरभूत् काले तडित्सौदामनी यथा ॥२७॥

एवं कृष्णमतेः इति, एवं पर्यटने कृष्णे मतिः भवति. तदैव (**असक्तः!**) विषयेषु असङ्गः ; यदा कृष्णो रोचते तदैव विषयाः न रोचन्ते. **ब्रह्मन्** इति सम्बोधनमपि संवादाय. कृष्णमत्या विषयासङ्गे जाते तदैव (**अमलात्मा!**) अन्तःकरणं शुद्धं जातम्. तदैव कषायाः पक्वाः इति अर्थः. पाकार्थमेव शरीरस्य रक्षितत्वात् पक्वे च कषाये शरीरस्य प्रयोजनान्तराभावात् तद्ग्रहणाय **कालः प्रादुरभूत्. काले** शरीरप्रारम्भकादृष्ट-समाप्तौ[१] शापसमाप्तौ वा. उत्तरत्र वा सम्बन्धः ; **काले** वर्षाकाले. **तडिद्** इति[२] शीघ्रम् इति केचित्. **सौदामनी**[३] वा सुदामपर्वताद्

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

एवं कृष्णमतेः इत्यत्र **अपि संवादाय** इति. कदाचित् संवादो भवति चेत् तदा भवत्यपि, वस्तुतस्तु एतादृशे अर्थे संवादो नास्ति इति अभिप्रायेण **ब्रह्मन्** इति सम्बोधनम् इति आचार्याशयो **अपिशब्दाद्**

प्रकाशः

एवं कृष्णमतेः इत्यत्र. **भोगसमाप्तौ** इति चरमक्षणे. **शापसमाप्तौ** इति. ब्रह्मवैवर्ते ब्रह्मणा नारदं प्रति "गृहस्थाश्रमं कुरु त्वम्" (द्रष्ट. ब्रह्मवै.पुरा. १।२४।१६) इति आज्ञप्ते नारदो न कृतवान् इत्यतः शापो दत्तः ; "त्वं स्त्रीकामो दासीसुतश्च भविता" (ब्रह्मवै.पुरा. । ।) इति कथितम्. तेन अहं पूर्वम् 'उपबर्हण'गन्धर्वो भूत्वा ततो दास्याम् उत्पन्नः. तस्य शापस्य समाप्तौ इति अर्थः. **केचिद्** इति विजयध्वजादयः.

लेखः

एवं कृष्णमतेः इत्यत्र. **उत्तरत्र वा** इति, **तडित्**पदेन इति अर्थः. अस्मिन् पक्षे विज्ञातकालविशेषापरत्वं **कालशब्दस्य** इति आहुः **काले वर्षाकाले** इति. **अतिशीघ्रम्** इति. वर्षाकालिका तडिद् यथा शीघ्रम्

१. भोगसमाप्तौ इति पाठः प्रकाशे - सम्पा. २. अतिशीघ्रम् इति पाठः लेखे - सम्पा.

३. सौदामिनी इति पाठः प्रकाशे - सम्पा.

जाता. **तडित्सौदामनी** इति एकं वा पदम्. "तडिदिव पीतः" इत्यादौ एकदेशप्रयोगः. यथा प्रथमतएव स्तनयित्नुवृष्टेः विद्युत् तथा शरीरनाशक-रोगाद्यपेक्षया कालो जीवप्रणेता प्रथमतएव प्रादुर्भूतः इति अर्थः ॥२७॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

ज्ञायते. अन्यमतीयं व्याख्यानम् उक्त्वा स्वमतीयम् आहुः **तडिदिव पीतः** इति. तडित् "तडिदिव पीतः प्रादुरासीद्" (. । ।) इत्यादौ प्रथमकालपदे एकदेशप्रयोगः. **एकदेशः** तडितः पीतता, तस्याः प्रथमकालपदे अन्वयः इति अर्थः. तथाच पीतवर्णवाचकत्वेन **तडित्**पदप्रयोगः कृतः इति भावः. दृष्टान्तव्यङ्ग्यम् आहुः **यथा** इति ॥२७॥

प्रकाशः

अस्मिन् पक्षे **तडित्**पदं क्रियाविशेषणम्. एतस्याः शैघ्र्ये प्रसिद्ध्यभावात् श्रीधरोक्त-पक्षान्तरम् आहुः **सौदामिनी वा** इति. स पर्वते स्फटिकमये इति तत्प्रान्तसम्भवात् तडिद् अतिस्फुटा भवतीति कालस्य तद्वद् अतिस्फुटत्वाय दृष्टान्तः. श्रीधरीये अन्यदपि पक्षद्वयम् उक्तं "सुदाममाला तत्र भवा इति मालाकारा इति अर्थः" इति, " 'तडिद् इति अन्तकवधयोः' (निरुक्ति ३।२।१०।४) इति नैरुक्तिकस्मरणात् तडिदन्तिक इति अर्थः" (श्रीधरी १।६।२७) इति च. एतेषु सर्वेषु पक्षेषु अपुष्टार्थत्वं, **सौदामनी**पदे इकारदौर्लभ्यं च इति दूषणसत्त्वात् पक्षान्तरम् आहुः **एकं वा पदम्** इति. तथाप्रसिद्ध्यभावाद् विकल्पवाचक-पदोक्तिः. अत्रापि दोषम् आशङ्क्य परिहरन्ति **तडिदिव** इत्यादि. **आदि**पदेन "तडितोऽधि वरुणः सम्बन्धाद्" (ब्रह्मसूत्र ४।३।३) इत्यादिप्रयोगः सङ्गृह्यते ॥२७॥

लेखः

अकस्माद् आगच्छति तथा कालः समागतः इति द्योतितं भवति इति भावः. **एकं पदम्** इति. ननु एवं चेत् तर्हि "तडिदिव पीते रसविपरीते घनइव तरलबलाके" (गीतगोविन्द ५।११।५) इति जयदेवोक्तौ कथं 'तडित्'पदमात्रश्रवणम् अतः तत्समाधये आहुः **तडिद्** इत्यादि. तडिद्दृष्टान्तस्य सूचितम् अर्थम् आहुः **यथा प्रथमतः** इति. **स्तनयित्नुः वृष्टेः** ततः पूर्वं यथा नियमेन **विद्युद्**दर्शनं **तथा** इति अर्थः ॥२७॥

ततः किं वृत्तं? तद् आह.

प्रयुज्यमाने मयि तां शुद्धां भागवतीं तनुम् ॥
आरब्धकर्मनिर्वाणो न्यपतत् पाञ्चभौतिकः ॥२८॥

प्रयुज्यमाने इति देहवियोगक्लेशो न ज्ञातएव. प्रथमतएव (**भागवती शुद्धा तनुः!**) भगवत्सम्बन्धी शुद्धसत्त्वपरिणामरूपो देहः[१] उपस्थितः, कालेन च अहं तत्र शीघ्रमेव नीतः. तस्मिन् मयि नीयमाने कियद्दूरं शरीरमपि उद्गतं विमानसम्मुखतया, परं (**पाञ्चभौतिकः!**) भौतिकत्वाद् गुरुत्वेन पञ्चभूतानि–[२]क्रमेण वैकुण्ठगमनाद् वा– **न्यपतत्**. ननु योगे ब्रह्मसम्पत्तावपि शरीरं तिष्ठति ; कथम् इदं पतितं? तत्र आह **आरब्धकर्मनिर्वाणः** इति, येन कर्मणा इदं शरीरम् आरब्धं तस्य निर्वाणः समाप्तिः यस्य. **निर्वाण**शब्देन कर्मापि[३] मुक्तं, परम्पराजनकत्वाभावात्. वरादिकन्तु आरम्भक-कर्मरूपं[४] भवति, तस्य च समाप्तिः देहग्रहणमात्रेणैव. देहस्तु

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

प्रयुज्यमाने इत्यत्र. पातस्तु उच्चस्थितवस्तुनो भवति इति देहस्य उच्चैः स्थितत्वम् उपपादयन्ति **शरीरमपि** इति. शरीरपतने द्वितीयं हेतुम् आहुः **अतिक्रमेण वैकुण्ठ** इति. पाञ्चभौतिक-शरीरातिक्रमणे वैकुण्ठगमनं भवति, नतु तेन सह इति तस्य पातः इति अर्थः. **कर्मापि** इति. जन्मपरम्परानुत्पादकत्वाद् मुक्तमेव इति भावः. तर्हि "गन्ता मज्जनताम् असि" (श्लो. २३) इति वरस्य का गतिः इत्यतः आहुः **वरादिकन्तु** इति. वरारब्धो देहः कीदृशो भवति इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **देहस्तु** इति. ब्रह्माण्डे यः पर्यवसन्नो भवति स वरेण आरब्धः इति अर्थः. देहस्य शुद्धसत्त्वपरिणाम-रूपत्वाद् ब्रह्माण्डस्यापि शुद्धसत्त्वात्मकत्वाद् ब्रह्माण्डसजातीयत्वात् पर्यवसन्नता. अतएव कल्पान्ते एतस्य न मात्राः. **तद्व्यावृत्त्यर्थम्** इति, एतच्छरीरपातव्यावृत्त्यर्थं **भौतिकः इति** देहविशेषणम् इति अर्थः ॥२८॥

१. देश इति ख. २. पञ्चभूतातिक्रमेण वैकुण्ठ- इति पाठः टिप्पण्याम् -सम्पा.

३. कर्मविमुक्तिः इति पाठः लेखे -सम्पा. ४. आरम्भकर्मरूपमिति ग.

ब्रह्माण्डपर्यवसायी[१], तद्व्यावृत्त्यर्थं **भौतिकः** इति ॥२८॥

प्रकाशः

प्रयुज्यमाने इत्यत्र. ननु आरब्धकर्मनिवृत्तौ "गन्ता मज्जनताम् असि" (श्लो. २३) इति वरादेरपि निवृत्तेः अग्रे शरीरं कथम् अभूद् इत्यतः आहुः **वरादिकम्** इति. तथाच आरब्धत्वाभावाद् न पूर्वं निवृत्तिः किन्तु देहग्रहणोत्तरं तस्यापि आरब्धत्वे जाते निवृत्तिः इति अर्थः. **ब्रह्माण्डपर्यवसायी** इति ब्रह्माण्डात्मा ॥२८॥

लेखः

प्रयुज्यमाने मयि इत्यत्र. **कर्मविमुक्तिः** इति. प्रारब्धसत्तायां हि तेन प्रारब्धेन कर्मपरम्परा जन्यते, तस्य निर्वाणेतु न तथा इति अर्थः. ननु* "गन्ता मज्जनताम् असि" (श्लो. २३) इति वरदानात्, तस्य च पार्षदादिरूपस्य देहस्य प्राप्तावेव सिद्धेः, अत्रच **आरब्धकर्मनिर्वाणो न्यपतद्** इति उक्त्या 'आरब्धं यत् कर्म वरदानरूपं तस्य निर्वाणं समाप्तिः येन पार्षदादिदेहेन' इति वचनव्यक्त्या तादृशफलात्मकदेहे निपतनमपि उक्तं भवति इति कथं तादृशदेहप्राप्तिः *इति आशङ्कायां च **भौतिकः** इति विशेषणेन निरस्ता इति आशयेन आहुः **वरादिकम्** इत्यारभ्य **तद्व्यावृत्त्यर्थम्** इत्यन्तेन. "देहेन्द्रियासुहीनानां वैकुण्ठपुरवासिनाम्" (भाग.पुरा. ७।१।३४) इति वाक्यात् तेषां देहो न पाञ्चभौतिकः इति भावः. यद्यपि फलानुकूलदेहप्राप्तिरेव इदानीं नास्तीति तत्पतनाशङ्कातु खकुसुमपरिमलनाशिकाम् अनुहरेत् तथापि तादृशदेहप्राप्तिरेव कथम्, आरब्धकर्मनिर्वाणत्वाद् देहस्य? तेन "गन्ता मज्जनताम् असि" इति वाक्यानुपपत्तिः आशङ्किता भवति इति भावः. **पाञ्चभौतिकः** इति उक्त्या तु पाञ्चभौतिकमेव तत् प्रारम्भकर्मनिर्वाणं भवति इति उक्तम्. नारदस्यतु पार्षददेहो अलौकिको अपाञ्चभौतिकएवेति न शङ्का प्रकृते इति भावः. **तद्व्यावृत्त्यर्थम्** इत्यादि. देहस्य पाञ्चभौतिकत्वात् पञ्चभूतातिक्रमेणैव वैकुण्ठे गमनात् तच्छरीरनिवृत्त्यर्थं तच्छरीरे पाञ्चभौतिकत्वम् उक्तम् इति अर्थः. अहन्तु भागवतीं तनुं प्रापितः कालेन इति अर्थः ॥२८॥

१. ब्रह्माण्डपर्यवसाने इति क.

तर्हि ब्रह्मणः सकाशात् कथम् उत्पत्तिः? तद् आह **कल्पान्ते** इति द्वाभ्याम्.

कल्पान्त इदमादाय शयानेऽम्भस्युदन्वतः ॥
शिशयिषोरनुप्राणं विविशेऽन्तरहं विभोः ॥२९॥
सहस्रयुगपर्यन्तमुत्थायेदं सिसृक्षतः ॥
मरीचिमुख्या ऋषयः प्राणेभ्योऽहं च जज्ञिरे ॥३०॥

यदा कल्पान्तो भवति तदा सर्वं स्वकृतम् उदरीकृत्य नारायणः शेते. ब्रह्मापि नाभिद्वारा उदरं प्रविशति. ततो नारायणेन सह ऐक्यं प्राप्य शेते सहस्रयुगपर्यन्तम्. तदा नित्यत्वाद् अस्मच्छरीरस्य (**शिशयिषोः!**) शयनार्थम् **अहमपि** ब्रह्मणो[१] (**अनुप्राणं विविशे!**) नासापुटवायुना सह **अन्तः**प्रविष्टः. वायोरेव गमनागमने, अहन्तु तत्रैव स्थितः. प्रविष्टधारणसामर्थ्यम् आह **विभोः** इति. अन्तःस्थितस्य कालः **सहस्रयुगपर्यन्तम्**. तदा राजसकल्पे भगवान् तिरोहितः, ब्रह्मातु निर्गतः. निर्गत्य शयनाद् **उत्थाय इदं** जगत् पूर्ववत् स्रष्टुम् इयेष. तदा **सिसृक्षतः** तस्य अवयवेभ्यो **मरीचिमुख्याः ऋषयः अहं च जज्ञिरे**. तत्र "उत्सङ्गाद् नारदो जज्ञे" (भाग.पुरा. ३।१२।२३) इति वचनाद् भगवतो भक्तत्वाद् अयम् उत्सङ्गे स्थापितः. ततः प्रजापतौ अन्तःप्रविष्टत्वाद् ब्रह्मणः (**प्राणेभ्यः!**) प्राणरूपेभ्यो भगवदंशेभ्यः तत्तत्स्थाने स्थितेभ्यो जाताः इति अर्थः ॥२९-३०॥

सा कृपा जातेऽपि तथैव अनुवर्तते इति आह.

प्रकाशः

तर्हि इति ब्रह्माण्डात्मकत्वे. **कल्पान्त** इत्यत्र. **ब्रह्मापि नाभिद्वारा** इत्यादि. एतद् उक्तं कौर्मे "ततोऽवतीर्य विश्वात्मा देहमाविश्य चक्रिणः, अवाप वैष्णवीं निद्राम् एकीभूयाय विष्णुना" (कूर्मपुरा. १।१०।९) इति ॥२९॥

॥ इति श्रीभागवते प्रथमस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे षष्ठाध्यायविवरणम् ॥

---

१. ब्रह्मणे इति ख.

अन्तर्बहिश्च लोकांस्त्रीन् पर्येम्यस्कन्दितव्रतः ॥
अनुग्रहान्महाविष्णोरविघातगतिः क्वचित् ॥३१॥

अन्तर्बहिः इति. यथा बालकः पुत्रो गृहमध्ये बहिरपि परिभ्रमति तथा (**पर्येमि लोकांस्त्रीन्!**) ब्रह्माण्डाऽ**न्तः बहिश्च**. त्रिलोक्यां वा अन्तर्बहिश्च. साधारणन्यायेन **बहिः** परिभ्रमणे वा सम्भवति **अन्तः** इति उक्तम्. द्वितीया तु अत्यन्तसंयोगे. ननु किम् एतावता, अचेतनानां वाय्वादीनामपि तथात्वात्? तत्र आह **अस्कन्दितव्रतः** इति. न स्कन्दितं भगवद्दर्शनलक्षणं व्रतं यस्य इति. भगवतः सर्वत्र विद्यमानत्वाद् देशविशेषाविवक्षायां भक्तैः सर्वत्र दर्शनं कर्तव्यम्. ततश्च यत्रैव भगवन्तं न पश्येत् ततएव व्रतहानिः भवेत्. अतो मम सर्वत्र परिभ्रमणेन भगवद्दर्शनाद् न व्रतहानिः इति अर्थः. ननु मशकादिहृदयेऽपि भगवतो विद्यमानत्वात् कथं तादृशेषु तव गतिः इति? तत्र आह **अनुग्रहात् महाविष्णोः** इति. (विष्णुः!) व्यापकस्तु देशकालापरिच्छिन्नः, महाविष्णुस्तु वस्त्वपरिच्छिन्नोऽपि. तस्य अनुग्रहोऽपि तादृशएव. अतो (**अविघातगतिः!**) न विद्यते विघातो यस्याः तादृशी गतिः यस्य इति. क्वचिदपि इति अर्थे **क्वचित्** ॥३१॥

एवं सत्सङ्गेन श्रवणम् आरभ्य सर्वत्र भगवद्दर्शनपर्यन्तम् एका श्रवणभक्तिः उक्ता. द्वितीया तु[1] भगवत्कृपया समारब्धा इति आह.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

अन्तर्बहिः इत्यत्र. **अन्तर्बहिः** इति पदद्वयस्य कृत्यम् आहुः **बहिः परिभ्रमणे वा** इति. बहिःपरिभ्रमणं **बहिः** इति एतत्कथनं विना सम्भवति अपि **वा**. तथाच **बहिः**पदं स्वरूपकथनार्थम् इति अर्थः. **अन्तरित्युक्तम्** इति. **अन्तः** इतितु सप्रयोजनकं उक्तम् इति अर्थः. तथाच **अन्तः** इत्येतस्य कथनं विना आन्तरं भ्रमणं साधारणन्यायेन न प्राप्यते इति भावः. **वस्त्वपरिच्छिन्नः** इति. वस्तुभिरपि अपरिच्छिन्नः इति अर्थः. तथाच सर्वरूपत्वं व्यापकत्वसकाशाद् अधिकम् इति **तस्यानुग्रहोऽपि** व्यापकानुग्रहाद् अधिकः इति अर्थः ॥३१॥

---

१. तुकारो नास्ति क-घ-ङ.

देवदत्तामिमां वीणां स्वरब्रह्मविभूषिताम् ॥
मूर्च्छयित्वा हरिकथां गायमानश्चराम्यहम् ॥३२॥

देवदत्ताम् इति. भक्तिमार्गे देवकृतो[१] विघ्नः कदाचित् सम्भाव्येत इति शङ्कानिवृत्त्यर्थं कीर्तनाङ्गभूतां वीणां दत्तवन्तः इति **देवदत्ता**. श्रुतिपूरिका हि सा. तत्र अङ्गुल्यादिचालन-प्रयासोऽपि निवारितः **स्वरब्रह्म** इति. **स्वराः** षड्जादयः, नादब्रह्मात्मकत्वात् तदेव **ब्रह्म**, तेन **विशेषेण भूषिता**[२]. तादृशीं **मूर्च्छयित्वा** स्वराणां मूर्च्छना सङ्गीतशास्त्रसिद्धा तां प्रापयित्वा, तथा सति रसाविर्भावाद् अश्रान्तं सङ्कीर्तनं भवति[३] इति. तथा कृत्वा **हरिकथां गायमानः चरामि**. परिभ्रमणन्तु कीर्तनेऽपि अङ्गम् ॥३२॥

ननु पूर्वस्मात् को[४] विशेषो जातः ? तत्र आह **प्रगायतः** इति.

प्रगायतः स्ववीर्याणि तीर्थपादः प्रियश्रवाः ॥
आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि ॥३३॥

पूर्वं यद्दर्शनार्थं भूयान् यत्नः कृतः सः इदानीं स्वतएव भवति. तत्र हेतुः **प्रगायतः** इति. यस्तु **स्ववीर्याणि प्रकर्षेण गायति** तस्य अग्रे वीर्यास्फुरणं मा भवत्विति स्वयमेव तत्स्फुरणार्थं विषयान्तर-सञ्चाराभावाय **शीघ्रं (चेतसि दर्शनं याति!)** चित्ते समायाति. ननु श्रोतुः अभावाद् अनङ्गं कीर्तनं कथं फलाय इति? तत्र आह **तीर्थपादः** इति, **तीर्थानि** सन्तः **पादे यस्य**. सर्वे हि सन्तः सायुज्यं प्राप्ताः भगवत्पादे वर्तन्ते, अन्येऽपि, भक्तिवशात्. तादृशो हि भक्तिगुणः. पादञ्च हृदि स्थापयित्वा गायतीति सतां श्रोतॄणां विद्यमानत्वात् कीर्तनं न अङ्गविकलम्. ननु

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

देवदत्ताम् इत्यत्र. **परिभ्रमणन्तु** इति. नामोच्चारणादाविव **कीर्तने अपि अङ्गं** कारणम् इति अर्थः ॥३२॥

पूर्वस्माद् इति, प्रथमजन्मतः इति अर्थः. **प्रगायतः** इत्यत्र. **अनङ्गम्** इति, अङ्गहीनम् इति अर्थः. **आह्वानम्** इति. तथाच वीर्यस्फूर्तिः जाता इति भावः ॥३३॥

---

१. देवकृतोऽपीति क.	२. विभूषितेति क-ख-ग-ङ.	३. सम्भवतीति ग.	४. कोऽत्रेति घ.

कथम् एवं भगवान् सर्वां सामग्रीं सम्पादयति इति? तत्र आह **प्रियश्रवाः** इति, प्रियं श्रवः कीर्तिः यस्य. तत्सम्पादनार्थं सर्वं सम्पादयति इति भावः. अग्रे वीर्यास्फुरणे भगवतः स्मरणम् (**आहूत इव!**) आह्वानमिव सञ्जातम्. प्रियत्वाद् आह्वाने च समागमनम् ॥३३॥

एवं कीर्तनं सपरिकरं निरूप्य सर्वत्र लोके तत्सिद्ध्यर्थं तद्विषयवर्णनं त्वया कर्तव्यम् इति अभिप्रायेण कीर्तनम् अनुवादेन स्थिरीकरोति.

एतद्ध्यातुरचित्तानां मात्रास्पर्शेच्छया मुहुः ॥
भवसिन्धुप्लवो दृष्टो हरिचर्यानुवर्णनम् ॥३४॥

एतद्धि इति. **मात्रास्पर्शेच्छया आतुरचित्तानां हरिचर्यानुवर्णनम्** एव **भवसिन्धुप्लवो दृष्टः**. **एतद्** इति स्वक्रियमाण-समानम्. **हि** इति पूर्वोक्ताः हेतवः उक्ताः. मां मायां त्रायन्ते इति **मात्रा** विषयाः, तेषाम् अपि स्पर्शमात्रम्. शब्दव्यङ्गेन[१] च महापातकत्वं सूचितम्. हरिचर्यानुवर्णनेन[२] तेषां श्रवणं भविष्यति. अन्यथा (**आतुरचित्तानां!**) महारोगस्य सञ्जातत्वात् क्वापि परलोकसाधने न प्रवृत्तिः. प्रवृत्तावपि तस्य रोगजनकत्वं ज्वरमध्ये अभक्षितपथ्यादेरिव. श्रवणस्यतु न मात्रासाधकत्वम्. प्राप्तेऽपि विषये इच्छायाः निवृत्तित्वाद्[३] मुहुः इति उक्तम्. अयन्तु[४] सुखेनैव (**भवसिन्धुप्लवो!**)

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

एतद्धि इत्यत्र. **पूर्वोक्ताः** इति, नामोच्चारणे मनस्तोषाय इति अर्थः. **शब्दव्यङ्गेन च** इति. **मात्रा** इत्युक्ते जनन्या इति स्फुरति. तथाच जनन्या साकं स्पर्शेच्छया यथा महापातकं तथा विषयेच्छयापि इति **मात्रा** इति शब्देन व्यज्यते इति भावः. **तेषाम्** इति, आतुरचित्तानाम् इति अर्थः. **निवृत्तत्वाद्** इति. श्रवणेन विषयाणाम् प्राप्तावपि ततः इच्छायाः

लेखः

एतद्धि इत्यत्र. **शब्दव्यङ्गेन** इति. 'मातृ'शब्दस्य तृतीयान्तं **मात्रा** इति तत्सम्बन्धेन महापातकं मातृसम्बन्धमिव ज्ञापितम् इति भावः ॥३४॥

---

१. शब्दव्यङ्ग्येनेति क-घ-ङ.   २. हरिचर्यानुवर्णने तेषामिति क-ग-घ-ङ.

३. निवृत्तत्वाद् इति पाठः टिप्पण्याम् - सम्पा.   ४. चेति ग-घ.

संसारतारको मयैव **दृष्टः**. साधनताम् अनूद्य रूपम् आह **हरिचर्यानुवर्णनम्** इति ॥३४॥

तस्य दृष्टोपायत्वं वदन् साधनान्तराणाम् अतथात्वम् आह **यमादिभिः** इति.

यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः ॥
मुकुन्दसेवया यद्वत् तथात्माद्धा न शाम्यति ॥३५॥

चित्तसाधनार्थमेव योगः प्रवृत्तः, "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" (पातं.यो.सूत्र १।२) इति. तथापि स्वस्थे चित्ते तत् सम्भवः. प्राणिनान्तु अन्तःकरणं मृतम् अस्ति, कामेन ज्वालितो लोभेन प्लावितः. तस्य हि मृतसञ्जीविकया विद्यया जीवनं भवति. **यमादयश्च योगमार्गाः** ; तत्र यः चलितुं शक्तः तस्य इष्टसिद्धिः. **मुहुः** च अयं **हतः** इति **काम-लोभ**परवशत्वम्. उभयोः बीजम् अन्तः – क्रोधादेः बहिः – इति तयोः ग्रहणम्. संसारमग्नानां मोक्षदातृत्वात् मृतसञ्जीवकत्वं **मुकुन्द**त्वम्. **सेवा**तु रोगनिवर्तिका. श्रवणेनच अन्तःप्रविशति भगवान्, तत्र चित्तं सेवां भावयति, अतः श्रवणप्रकरणेऽपि

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

निवृत्तत्वं क्रियते इति हेतोः न विषयसाधकत्वम् इति **मुहुः** इति उक्तम् इति अर्थः. तत्प्राप्तावपि ततो निवर्तकत्वं श्रवणस्य **मुहुः**पदवाच्यम् इति भावः ॥३४॥

यमादिभिः इत्यत्र. श्रवणप्रकरणे सेवोक्तौ हेतुम् आहुः **तत्र चित्तम्** इति. **तत्र** श्रवणेन अन्तःप्रविष्टे भगवति अन्तःकरणं **सेवां भावयति** इतो हेतोः **सेवा उक्ता** इति अर्थः. तथाच श्रवणफले अन्तःप्रवेशे जातेऽपि चित्तस्य सेवायामेव भावो भवति, श्रवणमपि अन्ततो गत्वा सेवापर्यवसन्नमेवेति **अतो** हेतोः एतत्**प्रकरणेऽपि सेवा उक्ता** इति भावः.

लेखः

यमादिभिः इत्यत्र. **उभयोः** इति. काम-लोभयोः बीजम् अन्तरपि भवतीति अन्तर्बीजकत्वसाम्याद् उभयोः ग्रहणम्. क्रोधादितु बहिर्बीजकमिति न तद् उक्तम्, असजातीयत्वाद् इति भावः. अन्तः क्षुधाद्युत्पत्तौ लोभः, अन्तःबलादिना पौष्ट्ये कामः इत्यादिप्रकारेण अन्तर्बीजकत्वं ज्ञेयम् ॥३५॥

सेवा उक्ता. यद्यपि भगवदाश्रितो योगोऽपि क्रमेण (**शाम्यति!**) तथा करोति, सेवातु **अद्धा** साक्षात्, योगसेवापेक्षयाऽपि योगेशसेवायाः उत्तमत्वात्. **आत्मा** इति. सजातीयस्य शीघ्रशामकत्वमिति अन्तःकरणस्य **आत्मपदप्रयोगः** ॥३५॥

इतोऽपि किञ्चिद् रहस्यं भविष्यति इति आशङ्क्य उपसंहरति **सर्वं तद्** इति.

सर्वं तदिदमाख्यातं यत्पृष्टोऽहं त्वयानघ ॥
जन्मकर्मरहस्यं मे भवतश्चात्मतोषणम् ॥३६॥

"स्वतएव नारदो महान्" इति लोके प्रसिद्धिः, मयातु एतावान् क्लेशो अनुभूतः इति **रहस्यम्**. (**भवतश्च!**) तवापि चित्तोद्वेगे हेतुः उक्तः, सर्वत्र भगवान् हेतुः इति. कथने हेतुः **आत्मतोषणम्** इति, भगवत्प्रीतिहेतुः अन्तःसुखजनकं वा ॥३६॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

क्रमेण इति, परम्परया शान्तिं करोति इति अर्थः. 'कारण'पदम् अनुक्त्वा तद्वाचकाऽऽत्मपदोक्तितात्पर्यम् आहुः **सजातीयस्य** इति. भगवान् हि आत्मसजातीयः, आत्मत्ववत्त्वात्. तथाच आत्मत्ववत्त्वेन रूपेण अस्मदादि-सजातीयः. एवञ्च सजातीयस्य भगवतो अस्मदादीनां क्लेशस्य शामकता तत्सेवायां कृतायां शीघ्रमेव भविष्यति इति ज्ञापयितुम् 'अन्तःकरण'पदस्य स्थाने प्रयोगे वा कर्तव्ये **आत्मपदप्रयोगः** कृतः इति अर्थः ॥३५॥

सर्वं तदिदम् इत्यत्र. **भवतः** इति पदं व्याचष्टे **तवापि** इति. **कथने** इति, नारदकर्तृककथने **हेतुः** प्रयोजनम् इति अर्थः. तथाच मुख्यतया भगवत्प्रीतिजनकत्वेन स्वसुखजनकत्वेन वा कथितम् इति अर्थः. अनेन "केन प्रेरितो नारद उपदिष्टवान्?" इति शौनककृतप्रश्नस्य उत्तरमपि दत्तं भवति इति ज्ञेयम् ॥३६॥

लेखः

सर्वम् इत्यत्र. **मया त्वेतावान्** इति. इदं स्वकीयं रहस्यं नारदेन व्यासे प्रकटितम् इति भावः ॥३६॥

नारदस्य अद्यापि साधनपरत्वम्[१] इति ख्यापयितुम् आह **एवम्** इति.

।। सूतः उवाच ।।

एवं सम्भाष्य भगवान्नारदो वासवीसुतम् ।।
आमन्त्र्य वीणां रणयन् ययौ यादृच्छिको मुनिः ।।३७।।

भगवान् इति प्रत्युपकारानपेक्षा. [२]**वासवीसुतम्** इति अनुगमनाद्यभावात्. (**एवं सम्भाष्य!**) पूर्वोक्तं सम्भाषणशेषत्वेन[३] अनूद्य **आमन्त्र्य** "गच्छामि" इति उक्त्वा भक्तिमार्गएव मार्गः इति ख्यापयितुं **वीणां रणयन् ययौ. यादृच्छिकः** इति पुनरागमन-सम्भावनाभावः. **मुनि**त्वात् कार्यं सर्वं कृत्वा गतः ।।३७।।

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

एवं सम्भाष्य इत्यत्र. **अशेषत्वेन** इति, सम्पूर्णत्वेन इति अर्थः. तथाच सर्वानुवादं कृत्वा सूतेन **एवम्** इति उक्तम् इति अर्थः. **वीणां रणयन्** इति विशेषणव्यङ्ग्यम् आहुः **भक्तिमार्गएव** इति. "देवदत्ताम्" (श्लो. ३२) इति विशेषणार्थो अनुसन्धेयः ।।३७।।

लेखः

अनुगमनाद्यभावाद् इति. "मातृनाम्ना तु हीनता" (सुबो.का. १।४।४) इति न्यायाद् इति भावः ।।३७।।

।। इति श्रीप्रथमस्कन्धे मध्यमप्रकरणे षष्ठाध्यायटिप्पणम् ।।

---

१. साधनत्वपरत्वमिति ग. २. वासवी इति व्यासमातुः मत्स्यगन्धायाः नामान्तरम् - सम्पा.

३. अशेषत्वेन इति पाठः टिप्पण्याम् - सम्पा.

गतेतु तस्मिन् अस्यापि हृदये भक्तिमार्गः समागतः इति अभिप्रायेण नारदवर्णनम् आह **अहो** इति.

अहो देवर्षिर्धन्योऽयं यत्कीर्तिं शार्ङ्गधन्वनः ॥
गायन् माद्यन् गिरा तन्त्र्या रमयत्यातुरं जगत् ॥३८॥

॥ इति श्रीभागवत-प्रथमस्कन्धे षष्ठोऽध्यायः ॥

देवर्षिः इति दृष्टफलसिद्धिः. **गायन् माद्यन्** इति स्वतन्त्रभक्तिः. अयमेव परोपकारः इति ज्ञातवान्, तद् आह **रमयति** इति ॥३८॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मज-श्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां प्रथमस्कन्धे षष्ठोऽध्यायः ॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

अहो देवर्षिः इत्यत्र. **अयमेव** इति, आतुरस्य भगवन्मार्गोपदेशः इति अर्थः ॥३८॥ श्रीकृष्णः शरणं मम ॥

॥ इति षष्ठोऽध्यायः ॥

॥ अथ सप्तमोऽध्यायः ॥

एवं त्रिभिर्मध्यमस्य स्वातन्त्र्येण निरूपणात् ॥
नारदव्याससंवादं निरूप्याऽथोत्तमाभिधा ॥(१)॥
त्रयोदशभिरध्यायैः साधकोऽयं प्रजापतिः ॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

सप्तमाध्याये **एवं त्रिभिः** इति. **मध्यमस्य** अधिकारस्य हीनोत्तमाधिकाराभ्यां **स्वातन्त्र्येण** भिन्नतया निरूपणार्थं **नारदव्याससंवादं निरूप्य उत्तमाभिधा त्रयोदशभिः अध्यायैः** क्रियते इति शेषः. सङ्ख्यातात्पर्यम् आहुः **साधकः** इति. द्वादशमासात्मकः कालः ; ततो अधिकसङ्ख्यानिरूपणेन अयम् अधिकारः कालानधीनः इति ज्ञापितम्. तथाच **साधकोऽयम्** अधिकारः **प्रजापतिः** उद्भवकर्ता तत्त्वसम्पादको, नतु कालाधीन-तदीयत्वसम्पादकः

प्रकाशः

अथ सप्तमाध्यायं विवरिषवः पूर्वप्रकरणस्य समाप्तत्वाद् उत्तरस्य च आरप्स्यमाणत्वात् तयोः सङ्गतिं वक्तुम् आहुः **एवम्** इत्यादि. **एवं** शौनकप्रश्नमुखेन **त्रिभिः नारद-व्याससंवादं निरूप्य, मध्यमस्य** अधिकारस्य **स्वातन्त्र्येण निरूपणात्** निरूपणं विधाय, **अथ** एतदनन्तरम् **उत्तमाभिधा** उत्तमाधिकाराभिधानं **त्रयोदशभिः अध्यायैः** व्यासचरणैः क्रियते इति शेषः. तथाच व्यासपादोक्तौ अवसरः प्रसङ्गो वा, सूतोक्तौ तु प्रश्नोत्तरभावएव सङ्गतिः इति अर्थः. ननु अस्य कथम् उत्तमत्वम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **साधकः** इत्यादि. **अयं** वर्ण्यमानो भगवान् अत्र **प्रजानां** दीनतया साधारणरूपाणां **पतिः** समन्ततो रक्षकः सन् **साधकः**, अधिकारः च

लेखः

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥ अथ सप्तमाध्यायं व्याचिख्यासवो अध्यायसङ्गत्यर्थं वदन्ति **एवम्** इति. तथाच अवसरः सङ्गतिः इति सिद्धम्. **स्वातन्त्र्येण** इति. अन्यामिश्रितत्वेन केवलमध्यमाधिकारस्य निरूपणमेव स्वतन्त्रत्वम्. **स्वातन्त्र्येण** मध्यमाधिकारस्य निरूपणम् अधिकृत्य तादृशाधिकारत्वेन **नारदव्याससंवादं निरूप्य अथ त्रयोदशभिः अध्यायैः उत्तमाभिधा निरूप्यते**

स्वतन्त्र उत्तमस्यैव[१] [२]साधकोऽयं निरूप्यते ॥(२)॥
द्वादशाङ्गैश्च सहितो ह्यधिकारो निरूप्यते ॥
हेतुः षड्भिर्विरक्तिश्च तथा स्वातन्त्र्यमन्तिमे ॥(३)॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इति अर्थः. नारदस्य नवविधभक्तिपर्यन्तम् उद्भवकथनाद् इदं तदीयत्वं कालाधीनम् इति भावः. फलितम् आहुः **स्वतन्त्रः** इति. **अयम्** अधिकारः **स्वतन्त्रः** कालानधीनो अतः **उत्तमस्य** कालानधीनफलस्य तत्त्वस्य **साधकः** इति अर्थः. तात्पर्यान्तरम् आहुः **द्वादशाङ्गैश्च** इति (१-३).

प्रकाशः

स्वतन्त्रः अतः उत्तमत्त्वम्. मध्यमे भगवतः साधकत्वेऽपि नारदस्य प्रजारूपत्वाभावाद् न प्रजापतित्वेन साधकत्वम्. प्रथमेच अधिकारस्य न स्वातन्त्र्यम्. प्रकृतेतु उभयसत्त्वाद् उत्तमत्त्वम् इति अर्थः. कुतः एतद् अवगम्यते इत्यतः आहुः **साधकोऽयम्** इत्यादि. **निरूप्यते** इति. सप्तमे, सप्तमादिषडध्याय्यां वा, निरूप्यते इति अर्थः. अस्तु उत्तमत्वं, परम् अध्यायाः किमिति अधिकाः इत्यतः आहुः **द्वादश** इत्यादि. **निरूप्यते** इति पूर्वेण सम्बन्धः. **चो** अवधारणे. अवान्तरप्रकरणानि विभजन्ति **निरूप्यते षड्भिः** इत्यादि. **तथा** इति, षड्भिः इति अर्थः. हेतुषडध्यायीं विभजन्तः

लेखः

इति अग्रेण अन्वयः. **साधकः** परीक्षिद्रक्षणादिना उत्तमाधिकारस्य साधकः **प्रकर्षेण जातानाम्** उद्धार्याणां जीवानां **पतिः** उद्धारको भगवानपि **निरूप्यते** "कृष्ण कृष्ण महाबाहो" (श्लो. २२) इत्यादिना, अग्रिमाध्यायैः च परीक्षिद्रक्षणादिना इति शेषः. सङ्ख्यातात्पर्यम् आहुः **द्वादश** इति. द्वादशाङ्गानि **अधिकारः च** इति त्रयोदशः (सङ्ख्या!) इति अर्थः. **उत्तमप्रकरणस्यैव साधको** अतएव **स्वतन्त्रो** अन्याधिकारामिश्रितो **अधिकारश्च** अत्र **निरूप्यते** इति अन्वयः (१ - २ १/२).

अत्र अवान्तरप्रकरणविभागम् आहुः **हेतुः** इत्यादि. उत्तमाधिकारसम्पादने

---

१. उत्तमश्चैवेति ख. २. साधिकोऽयमिति मुद्रितपाठः. क-घ-टिप्पण्यान्तु एवम् - सम्पा.

हेतुस्तु द्विविधः प्रोक्तः सामान्यः स त्रिधा मतः ॥
विशेषः पञ्चधा प्रोक्तः सप्तमे त्रितयं जगौ ॥(४)॥

अत्र हि उत्तमो[१] अधिकारो निरूपणीयः स्वतन्त्रतया कथाश्रवणकीर्तन-रूपः. सच हेतु-वैराग्याभ्यां सहित उत्तमो भवति. हेतुः भगवान् महता क्लेशेन भागवतश्रोतारं पालितवान्. यस्तु सर्वोत्तमः(१) सर्वमृग्यः(२) सर्वेषां मुक्तिदाता(३) सर्वेषां ज्ञानदः(४) सर्वेषां सर्वदुःखनिवृत्तिपूर्वक-भक्तिप्रदो(५) भक्तमनोरथपूरकश्च(६) सः स्वयम् उद्यम्य महता प्रयत्नेन यं पालयति स मूलतो भागवतश्रवणे मुख्याधिकारी —एवं(१-६) षड्भिः अध्यायैः

प्रकाशः

प्रस्तुताध्यायस्य अर्थम् आहुः **हेतुः** इत्यादि. **द्विविधः** इति सामान्य-विशेषभेदेन द्विविधः. ननु एवम् अष्टविधत्वे अष्टाध्यायाः अपेक्षिताः इत्यतः आहुः **सप्तमे** इत्यादि (१-४).

एतदेव प्रपञ्चयन्ति **अत्र हि** इत्यादिना. **निरूप्यते** इति, उक्तक्रमप्रातिलोम्येन निरूप्यते. सामान्यहेतुत्रयं स्फुटीकुर्वन्ति **यस्य** इत्यादि.

लेखः

हेतुः षड्भिः अध्यायैः, **तथा षड्भिः** एव वैराग्यं साधनम्, **अन्तिमेऽ**ध्याये च प्रायोपवेशादिना (भाग.पुरा. १।१९।१८) **स्वातन्त्र्यं च निरूप्यते** इति अर्थः. एवञ्च हेतुप्रकरणं, वैराग्यप्रकरणं, स्वातन्त्र्यं च इति त्रयं प्रकरणम् (३).

तत्र हेतुनिरूपणे व्यवस्थाम् आहुः **हेतुस्तु द्विविधः** इति **विशेषः पञ्चधा** इति. ननु एवम् अष्टाध्यायाः हेतुनिरूपणस्य भवन्ति इत्यतः आहुः **सप्तमे** इति. तथाच सामान्यहेतुत्रयस्यापि निरूपणं सप्तमे अध्याये इति षडेव अध्यायाः इति अर्थः. अनेन प्रकृताध्यायार्थो उक्तो ज्ञेयः, अस्मिन् सप्तमे अध्याये सामान्यहेतुत्रयस्यापि निरूपणाद् इति (४).

यस्तु सर्वोत्तमः इत्यादिप्रथमान्तैः षड्भिः विशेषणैः क्रमेण षडध्यायप्रतिपाद्यं भगवत्स्वरूपम् उक्तं भवति इति ज्ञेयम्. तदेतत् संक्षेपेण

१. ह्यन्यतम इति घ.

निरूप्यते. यस्य अधिकारी[१] निरूपणीयः प्रथमं सः निरूपणीयः, तद्वक्ता च. अतः सप्तमे अध्याये भागवतोत्पत्ति-प्रवृत्ती भक्तानां मनोरथपूरणं च निरूप्यते. तत्र प्रथमं शौनको भागवतोत्पत्तिप्रश्नम् आह **निर्गते** इति.

।। शौनकः उवाच ।।

निर्गते नारदे सूत भगवान् बादरायणः ।।

प्रकाशः

श्रीभागवत-व्यासयोरपि भगवद्रूपत्वाद् न उक्तविरोधः. **भक्तमनोरथपूरणम्** इति. तेन प्रकारेण अश्वत्थामामोचनाद् भीम-द्रौपद्यादिमनोरथपूरणम्. एवञ्च अत्र सामान्यहेतुत्वं, भगवतो भक्तमनोरथपूरकत्वेन विशेषरूपत्वेऽपि, देहरक्षकत्वेन ज्ञेयम् ॥१॥

लेखः

प्रदर्श्यते. तत्र प्रकृताध्याये "आत्मारामश्च मुनयः" इत्यादिना "इत्थम्भूतगुणो हरिः" (श्लो. १०) इति च भगवतः सर्वोत्तमत्त्वकथनम्. "त्वमेको दह्यमानानाम्" (श्लो. २२) इत्यादिना अर्जुनेनापि सर्वोत्तमत्वेनैव स्तुतः इति तथा. अष्टमेच कुन्तीस्तुतौ सर्वमृग्यत्वोक्तिः इति च तथा. नवमेच अत्यन्तं विरुद्धकारिणो भीष्मस्य मुक्तिदानात् तथा. दशमेच "निशम्य भीष्मोक्तमथाऽच्युतोक्तं प्रवृद्धविज्ञानविधूतविभ्रमः" (भाग.पुरा. १।१०।३) इति उक्त्या, "स वै किलाऽयं पुरुषः पुरातनः" (भाग.पुरा. १।१०।२०) इत्यादि भगवत्स्वरूपवर्णन-प्रयोजक-ज्ञानप्रदानेन च तथा, नहि स्त्रीणां स्वाभाविकं ज्ञानं सङ्गच्छते किन्तु भगवद्दर्शनप्रभावेनैव तासां ज्ञानोत्पत्तिः इति. एकादशेच "दध्मौ दरवरं तेषां विषादं शमयन्निव" (भाग.पुरा. १।११।१) इति उक्त्या, "नित्यं निरीक्ष्यमाणानां यदपि द्वारकौकसां, न वितृप्यन्ति हि दृशः श्रियो धामाङ्गमच्युतम्" (भाग.पुरा. १।११।२५) इत्यादि भक्त्युद्रेककथनात् च तथा. द्वादशेच परीक्षितः सकलगुणोदयकथया अश्वमेधादिकथया च युधिष्ठिरादि-भक्तमनोरथपूरकः च उक्तः इति ज्ञेयम् ॥१॥

---

१. यस्याऽधिकार इति घ.

श्रुतवान् तदभिप्रायं[१] ततः किमकरोद् विभुः ॥१॥

भगवान् इति सहजशक्तिः. **बादरायणः** इति आगन्तुक-तपःशक्तिः ; बदरफलेन वर्तमानो बादरायणः. **तदभिप्रायं** भगवद्गुणानां याथात्म्य-प्रतिपादक[२]-ग्रन्थकरणम् ॥१॥

नारदवचनानन्तरं भगवदिच्छानिर्धारार्थं समाधिं कृतवान्. तत्र शुद्धे देशे भगवदाविर्भावः, शुद्धिश्च देवयजने, इति व्यास-निवासस्थानस्य देवयजनत्वम् आह.

॥ सूतः उवाच ॥

ब्रह्मनद्यां सरस्वत्यामाश्रमः पश्चिमे तटे ॥
शम्याप्रास इति प्रोक्त ऋषीणां सत्रवर्धनः ॥२॥

ब्रह्मनद्याम् इति सामीप्ये सप्तमी. ब्रह्मदैवत्यां **सरस्वत्याम्** इति तत्रैव वेदादिविद्यास्फूर्तिः सहजा[३]. **पश्चिमे तटे** इति. पुरतो नदी देवयजने भवति. पुरो हविश्च तद् देवयजनम्. किञ्च **शम्याप्रास[४] इति प्रोक्तः**. शम्या प्रास्यते[५] अस्मिन् इति शम्याप्रासः[६] ; तद् अग्नेः प्रियं धाम

प्रकाशः

ब्रह्मनद्याम् इत्यत्र. **पुरो हविश्च** इति. "पुरोहविषि देवयजने याजयेद्" (तैत्ति.संहि. ६।२।६।१) इति विधाय "एतद्वै पुरोहविर्देवयजनं यस्य होता प्रातरनुब्रुवन्नग्निमप अप आदित्यमभिविपश्यति" (तैत्ति.संहि. ६।२।६।१) इति तल्लक्षणं तैत्तिरीये षष्ठाष्टके श्रावितं, तादृशम् इति अर्थः. **शम्या प्रास्यते अस्मिन्** इति. **शम्या** गदाकार-काष्ठविशेषो यज्ञायुधं **प्रास्यते** प्रविध्यते, बलेन प्रक्षिप्यते इति यावत्, यस्मिन् देशे स इति अर्थः.

लेखः

ब्रह्मनद्याम् इत्यत्र. **पुरो हविश्च** इति. यवव्रीहिकुशादिपुरतो यस्य **तद्देवयजनम्**. **शम्या** इति. यज्ञेहि दशायुधानि श्रूयन्ते, तत्र दारुमयो गदाकारायुधं शम्या. तथाच तैत्तिरीयश्रुतिः "कपालानि चाग्नहोत्रहवणी च

---

१. श्रुत्वा तु तदभिप्रेतम् इति मुद्रितपाठः सुबोधिन्यनुरोधात् संशोधितः - सम्पा.

२. प्रतिपादकमिति ख-ग. ३. सहसा इति ग-घ. ४. शम्याप्राश इति ग.

५. प्राश्यत इति क-ग. ६. शम्याप्राश इति ग.

भवति, तदैव अग्निः स्वस्थानाद् आशम्याप्रासाद्[1] अपक्षायति[2] इति. "यदि परस्तराम् अपक्षायेद्" (तैत्ति.ब्रा. ३।७।१।४) इति वा. शम्या प्रास्यते[3] अस्माद् इति वा. तस्य स्थानस्य बलम् आह **ऋषीणां सत्रं** वर्धयति इति ॥२॥

एवं देवयजनत्वं निरूप्य तत्र व्यासस्य समाधिम् आह.

तस्मिन् स्वे आश्रमे व्यासो बदरीषण्डमण्डिते ॥
आसीनोऽप उपस्पृश्य मनः प्रणिदधौ स्वयम् ॥३॥

तस्मिन् इति **स्वे आश्रमे** इति अपराधीनत्वेन निर्भय-चित्तप्रसाद-हेतौ.

प्रकाशः

नाम निरूप्य तत्तात्पर्यम् आहुः **तदग्नेः** इत्यादि. तद् उपपादयन्ति **तदैव** इत्यादि. यदा तत् **प्रियं धाम भवति तदैव अग्निः** गार्हपत्यादिः **स्वस्थानात्** कुण्डाद् **आशम्याप्रासात्** शम्या प्रवेधदेशम् अभिव्याप्य **अपक्षायति** अङ्गाररूपेण बहिः पतति इति अर्थः. इदमेव कल्पकारेण उक्तं "यस्याहिताग्नेः अग्निः अपक्षायेद् आशम्याप्रासाद्" (तैत्ति.ब्रा. ३।७।१।३) इति. अत्रैव प्रकारान्तरेण आहुः **यदि** इत्यादि. **यदि परस्तरां** शम्यापतनदेशाद् अन्यदेशे **अपक्षायेद्** अङ्गारो अपगम्य पतेद् इति अर्थः. इयं श्रुतिः ब्राह्मणे अच्छिद्रे अस्ति, कल्पसूत्रे च ॥२॥

लेखः

शूर्पं च कृष्णाजिनं च शम्या चोलूखलं च दृषच्चोपला चैतानि वै दशयज्ञायुधानि" (तैत्ति.संहि. १।६।८।३) इति. तस्य आयुधस्य प्रयोजनम् आहुः **स्वस्थानाद्** इत्यादि. एतदर्थः श्रीपुरुषोत्तमैः विवृतः. केचित्तु विवरणकर्तारः "**शम्या** युगकीलाताः पुरः परिधार्थे **प्रास्यते** प्रक्षिप्यन्ते यत्र इति, यद्वा क्षेत्रप्रदर्शनार्थं शम्या प्रास्यन्ते अस्मिन् इति **शम्याप्रासः**" इति च आहुः ॥२॥

---

१. प्राशेति ग. प्रसेति ख. २. अपक्षा इति मुद्रितपाठः. क-ग-प्रकाशे तु एवम् -सम्पा.

३. प्राश्यन्त इति क. प्राश्यत इति ग.

व्यासः इति अधिकारी. **बदरीखण्डम्**[१] इति वा[२] पाठः. **बदरी** अमृतदरी परमानन्ददायिनी, तस्याः **षण्डः** समूहः **खण्डो** वा, तेन च **मण्डिते.** अनेन तपःस्थानं मोक्षस्थानं च तद् इति सूचितं भवति. तस्मिन् **आसीनः.** **(अपः उपस्पृश्य!)** सर्वदेवताप्रसादाय च आचमनं, "यत्[३] त्रिराचामति तेन ऋचः प्रीणाति" (तैत्ति.आर. २।११) इति श्रुतेः. योगेन साधितं मनः. "तदुक्तमार्गव्यतिरेकेण स्वतन्त्रतया यद् अत्र भगवतो अभीष्टं तत् स्फुरिष्यति" इति बुद्ध्या **स्वयं मनः (प्रणिदधौ!)** स्थिरीकृतवान् ॥३॥

तदा समाधिभाषाविषयाः पदार्थाः स्फुरिताः इति तान् वर्णयितुं प्रथमं तदाधारं वर्णयति.

भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले ॥
अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायां च तदुपाश्रयाम् ॥४॥
यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम् ॥
परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतञ्चाभिपद्यते ॥५॥

प्रकाशः

भक्तियोगेन इत्यत्र. **तदाधारम्** इति, स्फुरितपदार्थाधारं मनः

लेखः

तस्मिन् इत्यत्र. **बदरीखण्डेति वा** इति. दन्तोष्ठ्यादिपाठो वा इति अर्थः. तथाच पवर्ग-तृतीयादिपाठोऽपि प्रामाणिकएव इति भावः. **अमृत** इति. बम् = अमृतं, तस्य दरी = स्थानम् इति अर्थः. **खण्डो वा** इति. बदरीवृक्षस्य एकदेशः शाखादिरूपः, तत्रैव व्यासस्य आश्रमात् तेन मण्डितः इति अर्थः ॥३॥

भक्तियोगेन इत्यस्य आभासे **तदुक्तमार्ग** इति. नारदोक्तौ किञ्चिद् न्यूनांशः चेत् समाधिना भगवदभिप्रायं प्राप्य पूरणीयम् इति भावः. **स्फुरिष्यति** इति अन्तर्भावितण्यर्थः ; मनो भगवतो अभीष्टं स्फुरयिष्यति इति अर्थः. **तदाधारं** पदार्थाधारं मनः इति अर्थः ॥४॥

---

१. षण्डेति ख. खण्डेति वा इति पाठः लेखे - सम्पा. २. वेति नास्ति ग-ङ.

३. यतस्त्रिराचामतीति क.

भक्तियोगेन इति. (**मनसि सम्यक् प्रणिहिते!**) वायुवशात् स्थिरीभूतं[१] चेद् योगमार्गो, भक्तिमार्गेण स्थिरीभूतं[२] चेद् नारदवद् भगवत्स्फूर्तिः इति तद् आह **भक्तियोगेन** इति. निःकामत्वाद् **अमले.** तत्र यद् दृष्टवान् तद् आह **अपश्यद्** इति द्वयेन.

साकारं ब्रह्म शुद्धं हि माया तच्छक्तिरुत्तमा ॥
तया सर्वत्र सम्मोहः साक्षाद्भक्तिश्च मोचिका ॥(५)॥

इति. **पूर्णं पुरुषं** पुरुषोत्तमं जीवराशिभिः आकीर्णं ब्रह्माण्डकोटिभिः वा. **मायां च अपश्यद् (तदुपाश्रयां!)** भगवदेकशरणाम्. तस्याः कार्यञ्च अपश्यद् **यया सम्मोहितः** इति. यद्यपि प्रपञ्चोऽपि तस्याः कार्यं तथापि तत्र करणत्वेन तस्या अन्वयः ; सम्मोहने तु कर्तृत्वेन, स्वातन्त्र्याद्, अतः तदेव आह **यया** इति. वस्तुतो **जीवोऽपि** ब्रह्मैव इति **परोऽपि** प्रकृतेः नियामकोऽपि (**आत्मानं!**) **त्रिगुणात्मकं** गुणत्रयभावापन्नं जडरूपं (**मनुते!**) मन्यते, **तत्कृतं च अनर्थं** जन्ममरणादि (**अभिपद्यते!**) प्राप्नोति ॥४-५॥

तत्र निस्तारोपायं च अपश्यद् इति आह **अनर्थोपशमम्** इति.

प्रकाशः

इति अर्थः. **अपश्यद्** इत्यत्र. "पुरा आस" इति व्युत्पत्त्या **पुरुषपदेनैव** पुरुषोत्तमप्राप्तेः **पूर्णपदम्** अनतिप्रयोजनम् इति अरुच्या **पूर्णपदस्य** प्रयोजनान्तरम् आहुः **जीवेत्यादि** ॥४॥

अनर्थोपशमम् इत्यत्र. ननु मोहस्य अज्ञानकार्यत्वाद् ज्ञानेनैव तन्निवृत्तिसम्भवेन मोहनिवर्तकतया ज्ञानस्यैव दर्शनं युक्तम् इति कुतो भक्तेः तथात्वेन दर्शनम् इति आकाङ्क्षायां ज्ञानस्य अतथात्वं भक्तेः तथात्वञ्च

लेखः

अनर्थोपशमम् इत्यत्र. ननु "विद्ययामृतमश्नुते" (ईशा.उप. ४।११) इत्यादिश्रुतौ ज्ञातस्यैव सर्वसाधकत्वाद् किम् अनेन भक्तियोगेन इत्यतः तद्दार्ढ्याय चिन्तयन्ति **ज्ञानकाशया** इत्यादि. मायाहि अविद्याविद्ययोः प्रयोजिका

---

१. स्थिरीभूत इति ख-घ-ङ. २. स्थिरीभूत इति ख-घ-ङ.

अनर्थोपशमं साक्षाद् भक्तियोगमधोक्षजे ॥
लोकस्याजानतो विद्वांश्चक्रे सात्त्वतसंहिताम् ॥६॥

ज्ञानकाशया मायया मोहइति न ज्ञाने विश्वासः कर्तुं शक्यः. ननु साधनैः उत्पन्नं ज्ञानम्, अकस्माद् उत्पन्नं माया, इति सन्देहो न भविष्यति इति चेद्, न, साधनानामपि द्विरूपत्वात्. ''कात्स्न्र्येन अनभिव्यक्तत्व''-(ब्रह्मसूत्र ३।२।३)-ऽऽदिभिः तन्निर्णयेऽपि न साक्षात् तस्य

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

अनर्थोपशमम् इत्यत्र. **साधनैः** इति, चक्षुरादिभिः इति अर्थः. **अकस्माद्** इति, स्वप्ने चक्षुरादीनां लीनत्वाद् इति अर्थः. **साधनानाम्** इति, चक्षुरादीनां **द्विरूपत्वाद्** भ्रम-प्रमोत्पादकत्वाद् इति अर्थः.

प्रकाशः

व्युत्पादयन्ति **ज्ञानकाशया** इत्यादि. **इति** इति, अतो ज्ञानस्वरूपस्य सन्दिग्धत्वाद् इति अर्थः. **द्विरूपत्वाद्** इति. ''आगमोऽर्थः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च, ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो दशैते गुणहेतवः, तत्तत्सात्त्विकमेवैषां यद्यद् वृद्धाः प्रचक्षते, निन्दन्ति तामसं तत्तद् राजसं तदुपेक्षितम्'' (भाग.पुरा. ११।१३।४-५) इति वाक्ये वृद्धवाक्यैः सात्त्विकत्वज्ञानोक्त्या वृद्धानामपि बहुविधत्वेन तथात्वाद् इति अर्थः. ननु मायाज्ञानोपायः सन्ध्याधिकरणे व्यासपादैः उक्तइति तदनुसारेण ज्ञातायां तद्विलक्षणतया ज्ञानस्वरूपमपि ज्ञास्यते इत्यतः आहुः **कात्स्न्र्येन** इत्यादि. **आदिपदेन** बाधाभावः शास्त्रसंवादः फलसंवादश्च सङ्गृह्यते. **अनर्थनिवर्तकत्वम्** इति जन्मादिनिवर्तकत्वम् इति.

लेखः

भवति, ''माययैव विनिर्मिते'' (त.दी.नि. १।३१) इति वचनात्. एवञ्च यथा ज्ञानं जनयति तथा ज्ञानं कशते=नाशयति इत्यपि इति न ज्ञानांशस्य उपयोगः, मायायाः विद्यमानत्वात्. अन्यथा तत्प्रयोजकाभावाद् ज्ञानमपि न स्यात्. व्यवस्थया समाधातुं यतते **ननु** इति. **साधनैरुत्पन्नम्** इति. तथाच साधनैः कृत्वा उत्पादिते ज्ञाने न मायाप्रवेशो अपितु अकस्माद् उत्पन्नएव ज्ञाने, इति ससाधनोत्पन्नज्ञानस्य न अविद्योत्पादकत्वम् इति आशयः. दूषयन्ति **न** इति. हेतुम् आह **द्विरूपत्वाद्** इति. साङ्ख्ययोगादिभिः

अनर्थनिवर्तकत्वम्. यथा दर्पणे मुखं नास्ति इति प्रतीतिदार्ढ्र्येऽपि दर्पणरूप-दोषस्य विद्यमानत्वात् कदापि न मुखाभावप्रतीतिः– दर्पणाभावश्च न ज्ञानसाध्यः– तथा मूलभूतायाः मायायाः विद्यमानत्वात् न कदापि अनर्थनिवृत्तिः. शास्त्रप्रामाण्येन ससाधने ज्ञानेऽपि जाते पुनः मायया मोहः, "ज्ञानिनामपि चेतांसि" (मार्क.पुरा. १।५५-५६) इति वाक्यात्. शास्त्रन्तु भक्तिद्वारा साधकं वदति, साक्षाद् भक्त्या वा अनर्थनिवृत्तौ ज्ञानम् इति.

प्रकाशः

जन्मादिनिवर्तकत्वं कुतो न इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **यथा** इत्यादि. ननु अनर्थप्राप्तिजनको मोहः चेद् ज्ञानेन निवृत्तः तदा मायायाः विद्यमानत्वेऽपि अकिञ्चित्करत्वम्– अन्यथा ज्ञानेन अनर्थनिवृत्तिबोधकानां शास्त्राणाम् अप्रामाण्यप्रसङ्गेन महान् उपप्लवः स्याद्– इत्यतः आहुः **शास्त्रे**त्यादि. तथाच अतो मायानिवृत्तिः आवश्यकैव इति अर्थः. तर्हि शास्त्रस्य का गतिः इत्यतः आहुः **शास्त्रन्तु** इत्यादि. **साधकम्** इति ज्ञानसाधकम्. **ज्ञानम्** इति उत्पद्यते इति शेषः. अत्र प्रमाणम् आहुः **मामेव** इत्यादि.

लेखः

साधनानाम् अनेकविधत्वात् केन साधनेन उत्पन्नं ज्ञानं 'ज्ञान'शब्दवाच्यम् इति अवधारयितुम् अशक्यत्वाद् इति अर्थः. **कात्स्न्र्येन** इति. ....यत्कात्स्न्र्येन ज्ञानं ..ने पतितमुख्यसाधनं यच्च कात्स्न्र्येन अभिव्यक्ति ज्ञानं न साधनम् इति निर्णयः इति अर्थः. तथापि **न साक्षाद्** इति. **अनर्थोपशमं साक्षाद्** इति वाक्यस्वारस्याद् इति भावः. **प्रतीतिः** इति, भ्रान्त्या प्रतीतिः इति अर्थः. **मुखाभाव** इति. प्रतिबिंबाप्रतीतौ अपि न बिंबबाधः इति अर्थः. **न ज्ञानसाध्यः** इति. प्रतिबिंबितमुखाभाव-प्रतीतिमात्रेण दर्पणाभावप्रतीतिः न इति अर्थः. एवमेव प्रतिबिंबस्थानापन्नायाः अविद्यायाः ज्ञानेन अभावप्रत्ययेऽपि दर्पणस्थानीया माया तु न निवर्तते इति भावः. तदेतद् आहुः **तथा मूलभूतायाः** इत्यादिना. ननु एवं ज्ञानादि न फलाय तदा "तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति" (श्वेताश्व.उप. ६।१५), "न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते" (भग.गीता ४।३८) इत्यादिवाक्येषु कथं ज्ञानं स्तूयते इत्यतः आहुः **शास्त्रन्तु** इति. तथाच तत्र भक्तिमिश्रितमेव स्तूयते इति न विरोधः

"मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥"(भग.गीता ७।१४)

एवकारेण सर्वेषाम् अनुपायत्वम् आह हि[१] ॥(६)॥

अतः **साक्षाद् (अनर्थोपशमम्!)** अनर्थनिवृत्तिहेतुः **भक्तिरेव**. दृष्टे सा लौकिकी, सकामा[२] वा इति तद्व्यावृत्त्यर्थम् **अधोक्षजे** इति. इन्द्रियातीते भक्तिः शास्त्रीयैव[३]. अनेन वस्तुतः एवमेव पदार्थाः, न अन्यथा इति बोधितम्. अन्यथापदार्थनिरूपणं तु ऋषीणां बुद्धिदोषात्. योगोऽपि राजसादिभिः[४] तद्भावापन्नइति न वस्तुयाथात्म्यं बोधयति, अन्यथा विवादो न स्यात्. तस्माद् भगवद्वाक्येन वेदेन वा संवादी योगजधर्मः पदार्थयाथात्म्यं बोधयति, न अन्यः. तस्माद् नारदवाक्येन, फलसंवादिना भगवद्वाक्येन (च!)

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

तस्मान्नारद इति. "मामेव ये प्रपद्यन्ते" (भग.गीता ७।१४) इति भगवद्वाक्येन सह फलसंवादि नारदवाक्यं जातं, तेन हेतुना नारदवाक्यं

प्रकाशः

शास्त्रीयैव[५] इति. शास्त्रीये धर्मे यथा श्रद्धा तथा इति अर्थः. ननु यदि एवमेव पदार्थाः तदा अन्येषामपि ऋषीणां योगिनां तथा भासेरन् ; यदि भासेरन् तदा तथा उच्येरन्, यतो न एवम् अतो न एवम् इति शङ्कायाम् आहुः **अन्यथा** इत्यादि. **राजसादिभिः** इति, कर्तृभिः साधनैश्च क्रियमाणः इति शेषः ॥६॥

लेखः

इति भावः. **दृष्टे सा** इति. लौकिकेन्द्रियविषयभूतेन हि **सा** भक्तिः तदानीं सा **लौकिकी** एव भवेत्, लौकिकेन अपरपर्याया वा भवेद् अतः **तद्व्यावृत्त्यर्थम् 'अधोक्षज'**पदम् आह इति अर्थः. **शास्त्रीयैव** इति. **इव** इति पाठे तु वेदातीतत्वात् तादृश्याः भक्तेः इति शास्त्रे उच्यमानापि न कात्स्न्र्येन भक्तिस्वरूपं वक्तुं शक्यम् इति उक्तं भवति इति ज्ञेयम्. **वस्तुतः एवमेव** इति. पूर्णं पुरुषं, तदुपाश्रयां मायां, मोचिका

---

१. द्रष्ट. त.दी.नि. २।३०४-५ - सम्पा. २. कर्म इति मुद्रितपाठः. भा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

३. इव इत्यपि पाठः लेखे - सम्पा. ४. भेदैः इति भा.पाठे पार्श्वटिप्पणी - सम्पा.

५. शास्त्रीय इव इति मुद्रितपाठः. कि.पाठे तु एवम् - सम्पा.

संवादियोगात् प्रमाणम् इति ज्ञात्वा **अजानतो लोकस्य** अर्थे स्वयं (**विद्वान्!**) युक्तिसहितं ज्ञात्वा **सात्त्वतसंहितां** भगवत्प्रोक्त-पदार्थप्रतिपादिकां वेदत्वाय संहितां **चक्रे** ॥६॥

ननु किम् अनया संहितया, पदार्थज्ञानैः वा किम्? साधनकथनेऽपि प्राणिनां तथा अधिकाराभावाद् व्यर्था संहिता इति आशङ्क्य तस्याः फलम् आह.

अस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे ॥
भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा ॥७॥

अस्यां वै श्रूयमाणायाम् इति. भक्त्युत्पत्तिपर्यन्तम् इयं श्रोतव्या. इयञ्च दृष्टद्वारा भक्तिजनिका, दृष्टे सम्भवति अदृष्टकल्पनायाः अन्याय्यत्वात्. यथा[१] च अस्याः दृष्टोपयोगः तद् उपपादितं प्रथमश्लोके. **कृष्णे** आविर्भूते भगवति **परमपूरुषे** सर्वप्रमाणसमन्वये कालादिनियन्तरि वा **भक्तिः उत्पद्यते** (**पुंसः!**) स्वतन्त्रस्य. **शोक-मोह-भयानि** रजस्तमस्सत्त्वकार्याणि, तानि

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

प्रमाणम् इति ज्ञात्वा. संवादज्ञाने हेतुः **संवादियोगाद्** इति. फलसंवादस्य पदार्थयाथात्म्य- ज्ञापनेन ज्ञापको **योगः** समाधिः, तस्माद् इति अर्थः ॥६॥

अस्याम् इत्यत्र. शानचो अर्थम् आहुः **भक्त्युत्पत्ति** इति. तेन सूचितम् आहुः **इयञ्च** इति ॥७॥

प्रकाशः

अस्याम् इत्यत्र. **तदुपपादितं प्रथमश्लोके** इति. "जन्माद्यस्य" (भाग.पुरा. १।१।१) इति श्लोके "यथा हि वेदे यज्ञीया" इत्यारभ्य "भागवतसंहिता" (सुबो.) इत्यन्तेन उपपादितम् इति अर्थः. इतः प्रथमश्लोके वा. **कृष्णे** इत्यादि-पदद्वयव्याख्यानेन उत्तम-मध्यम-प्रथमाधिकारिणां

लेखः

भक्तिः च. **भगवद्वाक्येन** इति गीतादिना. **संवादियोगाद्** इति व्यासकृतसमाधेः ॥६॥

१. तथेति क.

अपहन्ति इति तथा. अनर्थनिवृत्तिः दूरे, गुणकार्यमात्रमेव निवर्तते इति अर्थः ॥७॥

एवं भागवतस्य उत्पत्तिम् उक्त्वा प्रचारम् आह **स संहिताम्** इति.

स संहितां भागवतीं कृत्वाऽनुक्रम्य चात्मजम् ॥
शुकमध्यापयामास निवृत्तिनिरतं मुनिः ॥८॥

संहितां भागवतीम् इति अनुवादो बहुसंहिताकरणाद् अन्यव्यावृत्त्यर्थः. **अनुक्रमेण** शोधयित्वा, आनुपूर्व्येण वा. इदम् अन्येन न प्रसृतं भविष्यति इति (**आत्मजं!**) स्वसदृशं पुत्रम् अध्यापयामास. इदं दोषवता न प्रसृतं भविष्यति इति मननाद् अवगत्य मुक्तं **शुकम् अध्यापयामास.** मुक्तोऽपि लीलया लोकानुवर्ती ईश्वरवत् ; तेनापि न अस्य प्रचारो भविष्यति इति

प्रकाशः

भक्तिविषयः उक्तो ज्ञेयः. **स्वतन्त्रस्य** इति, इदं **पुंसः** इत्यस्य व्याख्यानम्. स्वातन्त्र्यञ्च अत्र देवतान्तरे साधनान्तरे च निष्ठाराहित्यं बोध्यम् ॥७॥

स संहिताम् इत्यत्र. **अन्यव्यावृत्त्यर्थः** इति संहितान्तर-पाठनादि-व्यावृत्त्यर्थः. **अनुक्रमेण शोधयित्वा** इति यथाक्रमम् उक्तानुक्त-दुरुक्त-चिन्तां कृत्वा. अयं पक्षः श्रीधरोक्तः. अस्मिन् पक्षे समाधेः सदोषत्वम् आयाति इति अरुच्या पक्षान्तरम् आहुः **आनुपूर्व्येण वा** इति. समाधौ क्रियमाणे सर्वा लीला युगपदेव भातेति पूर्वं भानानुसारेण उक्त्वापि पश्चाद्, यथास्थानं तन्निबन्धनं आनुपूर्व्यं, तत्कृत्वा इति अर्थः. पाठनन्तु द्वादशानामपि स्कन्धानां भाति, आरम्भएव "शुकमुखादमृतद्रव" (भाग.पुरा. १।१।३) इति कथनात्, समाप्तौ सूतेनापि "कस्मै येन" (भाग.पुरा. १२।१३।१९) इति श्लोके "योगीन्द्राय तदात्मना च भगवद्राताय" इति कथनात् च. **लोकानुवर्ती** इति चेद् इति शेषः ॥८॥

लेखः

निवृत्तिनिरतम् इति पदस्य आभासे **तेनापि नास्य प्रचारः** इति. क्रीडार्थमेव औदासीन्येन पठनेन **अपि न अस्य** भागवतस्य **प्रचारो** भवेद् अतः आवश्यकत्वबोधनाय **निवृत्तिनिरतम्** इति पदम् आह इति अर्थः ॥८॥

तदर्थम् आह **निवृत्तिनिरतम्** इति. कदाचिदपि प्रवृत्तिस्वभावत्वे तद्दोषेण सम्बन्धात् न भक्तिजनिका स्यात्, विषयावेश-विष्ण्वावेशयोः विरोधात्. एतच्च मननाद् अवगतमिति[१] विचारेण, न आपाततः प्रतिपन्नम्. तद् आह **मुनिः** इति ॥८॥

ननु भागवतस्य विषयपरत्वे सति न अधिकारइति निवृत्तिनिरतो योजितः. सच न भागवतार्थं तथाविधः किन्तु ज्ञानार्थम् इति. तथा सति ज्ञाने प्रवृत्तिमात्रस्यैव बाधकत्वाद् यथा लौकिकी प्रवृत्तिः त्याज्या तथा भक्तिमार्गानुसारिणी भागवतप्रवृत्तिरपि. तथाच व्यासः स्वकार्यानुरोधेन यद्यपि शुकं योजयति तथापि सः कथं स्वकार्यविरोधे प्रवर्तेत इति पृच्छति.

॥ शौनकः उवाच ॥

स वै निवृत्तिनिरतः सर्वत्रोपेक्षको मुनिः ॥
कस्य वा बृहतीमेतामात्मारामः समभ्यसत् ॥९॥

स वै निवृत्तिनिरतः इति. भागवतस्य पाठः प्रवृत्तिरूपः. येन उपनयन-वेदाध्ययनं नित्यमपि परित्यक्तं, निवृत्तावेव नियतत्वात्. नच पितुः भगवतो वा अनुरोधात् पठति इति वाच्यं, फलतो वा स्वरूपतो वा तदुपकारानपेक्षणात्. यद्यपि ईश्वर-गुरूपकाररूपं ज्ञानम् अपेक्ष्यते तथापि ज्ञानबाधकप्रवृत्ति[२]-रूपोपकारं न अपेक्ष्यते[३]. तद् आह **सर्वत्र उपेक्षकः** इति. नच भ्रमाद् ज्ञानसाधनत्वेन[४] भागवतपाठः इति, तत्र आह **मुनिः**

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

स वै इत्यत्र. **फलतो वा** इति. कामनाभावात् **फलतो** भगवतः उपकाराऽनपेक्षा, देहापेक्षाभावात् **स्वरूपतः** पितुः उपकाराऽनपेक्षा इति अर्थः. **यद्यपि** इति. एतदुपकारभूतं ज्ञानं शुको अपेक्षते इति अर्थः. **मननमेव**

लेखः

स वै इत्यत्र आभासे **न भागवतार्थं तथाविधः** इति, भागवतपठनार्थं निवृत्तिनिरतो न इति अर्थः. व्याख्याने **मननमेव** हि

---

१. अवगतमतिविचारेण इति मुद्रितपाठः. घपाठे तु एवम् - सम्पा. २. निवृत्तीति क-ग.

३. नाऽपेक्षते इति क. ४. ज्ञानसाधनत्वेन वेति ख-ग.

इति. मननमेव हि साक्षात्कारे एकवाक्यतया उक्तम्. अतः सम्भावितहेतूनाम् अभावात् **कस्य वा** हेतोः **(एतां!) बृहतीं, (सं!)** स्वरूपतो अर्थतश्च भावसहिताऽर्थावबोधपूर्वक-स्वाधीनोच्चारणपर्यन्तं कथम् **अभ्यसत्?** नच कौतुकाविष्टचित्तः, **आत्मारामत्वात्** ॥९॥

अत्र उत्तरम् आह.

॥ सूतः उवाच ॥

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ॥
कुर्वन्त्यलौकिकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ॥१०॥

आत्मारामाश्च इति. कौतुकज्ञानसाधनाविद्यानिवर्तकत्वेन[१] अन्यथा-सिद्धिः नास्तीति विशेषणत्रयम्. चकाराद् अन्यैः न क्रियते इति न

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

हि इति. "आत्मा वाऽरे" (बृहदा.उप. २।४।५) इति श्रुतौ श्रवणस्य मननशेषत्वम् अतः साक्षात्कारे मननमेव उक्तं हेतुत्वेन इति शेषः. **आत्मारामत्वाद्** इति. आत्मनि क्रीडते आत्मन्येव कौतुकवान् इति अर्थः ॥९॥

आत्मारामाश्च इत्यत्र. **कौतुक** इति. **कौतुकसाधनत्वपक्षे** आत्मनि कौतुकस्य सिद्धत्वेन पाठस्य **अन्यथासिद्धिः. ज्ञानसाधनपक्षे** मननेन पाठस्य **अन्यथासिद्धिः. अविद्यानिवर्तकत्वपक्षे** निर्ग्रन्थत्वेन पाठस्य अ(न्यथा!)सिद्धिः, अविद्यानिवृत्तेः सिद्धत्वाद् इति भावः.

प्रकाशः

स वै इत्यत्र. **उक्तम्** इति. "मन्तव्यः" (बृहदा.उप. २।४।५) इति श्रुतौ हेतुत्वेन उक्तम् इति अर्थः ॥९॥

लेखः

साक्षात्कारे इति. "श्रोतव्यो मन्तव्यः" (बृहदा.उप. २।४।५) इति श्रुतौ सकलवाक्यैकवाक्यतया साक्षात्कारे साधनत्वेन उक्तम् इति अर्थः ॥९॥

आत्मारामाश्च इत्यत्र. **कौतुकसाधन** इति. **कौतुकानां साधनम्**

---

१. -ज्ञान- इत्यधिकं टिप्पण्यनुसारेण, अन्यत्र नास्ति -सम्पा.

किन्तु तेऽपि कुर्वन्ति इति अलौकिकत्वम्. **अपि**शब्दाद् भक्तिमार्गस्थिताः. मार्गान्तरस्थस्तु वैक्लव्याभावात् [1]प्रचारणसमर्थइति स योजितः, नतु मार्गस्थाभावात् निवृत्तितात्पर्याच्च. **उरुक्रमे** इति अलौकिकसामर्थ्यम्. **अलौकिकीं भक्तिं कुर्वन्ति** इति अनुवादः. तत्र उपपत्तिः **इत्थम्भूतगुणो हरिः** इति. भगवद्गुणाः प्रवृत्तिरूपाः[2], निवृत्तिस्वभावाः, परमानन्दरूपाश्च

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

मार्गान्तरस्थः इति. शुद्धभक्तिमार्गाद् मार्गान्तरस्थो = ज्ञानमिश्रः इति अर्थः. **नतु** इति. शुद्धभक्तिमार्गस्थो नास्त्येव इति न इति अर्थः ॥१०॥

प्रकाशः

आत्मारामाः इत्यत्र. ननु एषा भक्तिजनिका संहितेति भक्तिमार्गीयाणां तत्र आदरात् ते किं न स्थिताः यत् तान् विहाय व्यासचरणाः मुक्तं शुकं तत्प्रचाराय योजितवन्तः ? इत्यतः आहुः **मार्गान्तरे**त्यादि ॥१०॥

लेखः

अविद्या, तन्निवर्तकत्वेन अन्यसाधनानामपि सिद्धत्वात् तदर्थं भागवतभक्तिः **अन्यथासिद्धं** स्याद् अतः तन्निवृत्त्यर्थं कृतार्थत्वबोधकं **विशेषणत्रयम्** इति अर्थः. यद्वा कौतुकत्वेन (ज्ञान-!) साधनत्वेन अविद्यानिवर्तकत्वेन च न भक्तिं कुर्वन्ति, यतः **आत्मारामा**दिविशेषणत्रयेणापि क्रमेण स्वतः तदभावज्ञापनाद् अतः कौतुकादिसाधनैः न अन्यथासिद्धिः भक्तेः ज्ञातव्या इति भावः. ननु एवं भक्तिः यदि सर्वहितकारिणी तदा ज्ञानिनो अन्ये वा मार्गान्तरस्थाः कुतो न योजिताः इत्यतः आहुः **मार्गान्तरस्थः** इति. **नतु मार्गस्थाभावाद्** इति. "अन्यमार्गीया न सन्त्येवेति शुको अध्यापितः" इति न किन्तु तेषाम् अधिकाराभावादेव सो अध्यापितः इति भावः. हेत्वन्तरम् आह **निवृत्ति** इति. व्यासचरणानां निवृत्तावेव तात्पर्यम् इति निवृत्तनिरतमेव पाठितः इति भावः. **अनुवादः** इति. साधनासाध्यत्वेन विहितत्वासम्भवाद् इति भावः. अतएव "य एतस्मिन् महाभागाः प्रीतिं कुर्वन्ति" (भाग.पुरा. १०।८।१९) इत्यत्रापि अनुवादएव इति ज्ञेयम्.

---

१. प्रचारणासमर्थ इति ग. २. प्रवृत्तिनिवृत्तिस्वभावा इति ग-ङ.

ज्ञानरूपाश्च. तस्माद् यः कश्चिद् यत्र कुत्रचिद् आसक्तो भगवद्गुणेषु रमतएव, सर्वप्रतिकृतिरूपत्वाद् गुणानां ज्ञानवशीकरणस्वभावाच्च ॥१०॥

ननु अस्तु भगवद्गुणानां तादृशत्वं, ग्रन्थे किम् आगतम् इत्यतः आह.

हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणिः ॥
अध्यगान् महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः ॥११॥

हरेः गुणाक्षिप्तमतिः इति. गुणानाम् अनुपनिबद्धानां स्वबुद्ध्या स्मरणकल्पनया[१] क्लेशः, उपनिबन्धनेतु सिद्धत्वात् सुलभं स्मरणमिति भगवद्गुणैः वशीकृतमतिः सन्. आक्षेपाद् न अन्यत्र प्रवृत्तिः. **मतिः** इति फलं गृहीतं, तेन अन्यत्र विषयेन्द्रियसंयोगेऽपि न मत्युत्पत्तिः[२] इति भावः. एतज्जीवविचारेण उक्तं, वस्तुतस्तु शुको महादेवः. तद् आह **भगवान्** इति. कृति-प्रवृत्त्यर्थं विष्णुः महादेवश्च अवतीर्णौ इति, तद् आह **बादरायणिः**

प्रकाशः

हरेः गुणेत्यत्र. फलं गृहीतम् इति. विषयेन्द्रियसंयोगफलं ज्ञानं, तद् गुणैः गृहीतम् इति अर्थः. **शुको महादेवः** इति. "द्वैपायनात् शुको जज्ञे भगवानेव शङ्करः, अंशांशेन अवतीर्य ऊर्व्यां स्वं प्राप परमं पदम्" (कूर्मपुरा. १।१९।२५) इति कूर्मपुराणात् तथा इति अर्थः.

लेखः

सर्वप्रतिकृतिरूपत्वाद् गुणानाम् इति. अयम् अर्थः— यथा "उत्सवाविष्टचित्ताः ये ये चाश्चर्याभिवेशिनः" (सुबो.का. १०।५।०।१२) इति वक्ष्यमाणप्रकारेण भगवल्लीलायां निरुद्धाः भवन्तीति एतएव चौर्यादिः हीनत्वेन लोके प्रसिद्धमपि तन्निरुद्धार्थं तत्प्रतिकृतिरूपत्वेन कृतवान् इति ॥१०॥

हरेर्गुणाक्षिप्त इत्यत्र. **फलम्** इति. "यद्येषोपरता देवी माया वैशारदी मतिः" (भाग.पुरा. १।३।३४) इत्यत्र मतेः चरमत्वेन फलत्वस्य उक्तत्वात् प्रजेशफलरूपमेव अविद्याऽनक्षोभ्यं ज्ञानम् उक्तम् इति भावः. **कृति-प्रवृत्त्यर्थम्**

१. स्मरणे कल्पनया इति मुद्रितपाठः. ग-ङपाठे तु एवम् - सम्पा. २. व्युत्पत्तिरिति घ-ङ.

इति. अतो **महद्** अपि **आख्यानम् (अध्यगाद्!)** अधीतवान्. ननु अनाहूतः स्वयं गत्वा कथं प्रचारितवान्? तत्र आह **नित्यं विष्णुजनप्रियः** इति, नित्यं विष्णुजनाः प्रियाः यस्य. कामः कामिनीमिव भगवद्गुणाः स्वप्रतिष्ठार्थं भक्तं प्रापयन्ति[1]. अतः सर्वदा ये भगवद्भक्ताः अकृत्रिम-नित्यवैष्णवाः ते प्रियाः यस्य इति. नहि स्नेहः सङ्गे हेत्वन्तरम् अपेक्षते ॥११॥

एवं भागवतस्य उत्पत्ति-प्रवृत्ती निरूप्य– श्रोतुः सर्वथा भगवदीयत्वाभावे न प्रतिष्ठितं भवेदिति गर्भसंस्कारम् आरभ्य भगवतैव स्वतेजसा परिपालितः[2] इति वक्तुं पूर्वरूपस्य ब्रह्मास्त्रेण दाहं निरूपयितुं [3]तादर्थ्यमपि वैष्णव एवेति तेषां पाण्डवानां सन्तत्यन्तरस्य दाहं निरूपयन्– प्रकृतस्य दाहहेतुम् आह **परीक्षितोऽथ** इत्यारभ्य यावद् अध्यायसमाप्ति. अश्वत्थाम्नो महद् अपमाननं हेतुः, पुत्रान्तरदाहस्तु उभयत्र, संरक्षायाम् अपमानने च. अपृष्टं

प्रकाशः

स्वप्रतिष्ठार्थम् इति, स्वस्य प्रकर्षेण स्थित्यर्थम् इति अर्थः ॥११॥

परीक्षितः इत्यत्र. **परिपालितम्** इति भावे क्तः, परिपालनम् इति अर्थः. **परिपालितः** इति वा पाठः. **तावदर्थ्यम्** इति. तावदर्थस्य भावः

लेखः

इति, कृत्यर्थं प्रवृत्त्यर्थं च इति अर्थः. **नहि** इति. "आविर्भावदिने न येन गणितो हेतुस्तनीयानपि" (महासुभा.संग्रह ५३८९-१) इत्यभियुक्ताद्युक्तेः इति भावः ॥११॥

शेषाध्यायार्थोक्तौ **तावदर्थ्यम्** इति. तावदर्थस्य भावः तावदर्थ्यम्; एवंप्रकारक-परिपालनम् इति अर्थः. एवञ्च तादृशं परिपालनमपि **वैष्णवोऽयम्** **इत्येव** हेतुः अतएव **सन्तत्यन्तरस्य** पञ्चपुत्रात्मकस्य दाहएव इति अर्थः. **प्रकृतस्य** इति परीक्षितः. **हेतुः** इति. वपनादिना अश्वत्थाम्नो महदपमानमेव परीक्षिद्दाहे हेतुः इति अर्थः. **पुत्रान्तर** इति, पञ्चपुत्र इति अर्थः. **उभयत्र**

---

१. भक्तं विष्णुजनसङ्गं भगवद्गुणाः प्रापयन्ति इति आशयः - सम्पा.

२. परिपालितमिति इति क-ग-प्रकाशे - सम्पा. ३. तावदर्थ्यम् इति पाठः प्रकाशे लेखे च - सम्पा.

न उच्यते इति पृष्टम् अनूद्य प्रतिजानीते **परीक्षितः** इति.

परीक्षितोऽथ राजर्षेर्जन्म कर्म विलायनम् ॥
संस्थाञ्च पाण्डुपुत्राणां वक्ष्ये कृष्णकथोदयम् ॥१२॥

अथ भागवतनिरूपणानन्तरं तच्छ्रोतुः **परीक्षितो** बीजसंस्कारार्थं **जन्म**, **कर्म** धर्मरक्षार्थं भगवत्कार्यकरणात्, **विलायनं** भागवतश्रवणार्थं पुरुषत्रय-शुद्ध्यर्थम् अप्रतिबन्धार्थञ्च, **संस्थां पाण्डुपुत्राणां** प्रथमतएव (**वक्ष्ये**!). चकाराद् धृतराष्ट्रस्यापि. अमुक्तत्वात्[१] न सहोक्तिः. प्रतिबन्धकत्वं

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

परीक्षितः इत्यत्र. **अमुक्तत्वाद्** इति. अस्य मुक्तिः पाण्डवेभ्यो भिन्ना, तद् अग्रे वक्ष्यते. **अमुक्तत्वाद्** पाण्डुपुत्रवद् इति शेषः.

प्रकाशः

तावदर्थ्यम् ; एवं प्रकारकं परिपालनम् इति अर्थः. **पृष्टम्** इत्यादि. **पृष्टं** परीक्षितम् **अनूद्य** तद्दाह-तज्जन्मादि-हेतुकथनं **प्रतिजानीते** इति अर्थः. एतेन अधिकारोक्तिं प्रति हेतुतागर्भः प्रसङ्गः सङ्गतिः उक्ता ज्ञेया. ननु पाण्डवसंस्थादेः अपृष्टत्वात् तदुक्तेः किं प्रयोजनम् अतः आहुः **पुरुषे**त्यादि. **संस्थाम्** इति सम्यक्स्थितिप्रकारं देहत्यागप्रकारं च इति अर्थः. **अप्रतिबन्धार्थम्** इति उक्ते कथं प्रतिबन्धसम्भावना इति शङ्का उदेति, तन्निवृत्त्यर्थं प्रतिबन्धकत्वं स्फुटीकुर्वन्ति **प्रतिबन्धकत्वे**त्यादि. यद्यपि अत्र न एकजातत्वं तथापि

लेखः

इति **हेतुः** इति पूर्वेण अन्वयः. कुतः उभयत्र इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **संरक्षायाम्** इत्यादि. यदि पुत्रान्तरदाहो न स्यात् तदा अश्वत्थाम्नो अपमानं न स्याद्, अपमानाभावे च गर्भदाहार्थं ब्रह्मास्त्रं न योजयेत्, तथा सति गर्भरक्षापि न स्याद् इति भावः. यद्वा यदि पञ्चानामपि पुत्राणां नाशो न स्यात् तदा तैरेव वंशसम्भवे परीक्षिद्रक्षा अनतिप्रयोजना स्याद् इति भावः. **परीक्षितोऽथ** इत्यत्र. **अप्रतिबन्धार्थम्** इति. यदि ते विद्यमानाः स्युः तदा प्रायोपवेशादौ रागात् प्रतिबन्धका स्युः अतः तन्मुक्तिकथनम्.

---

१. अनुक्तत्वाद् इति पाठः लेखे - सम्पा.

"भ्रातॄणामेकजातानाम्" (मनुस्मृ. ९।१८१) इति अभिप्रायेण. मुक्तावपि अतिदेशात् चकारेण ग्रहणम्. अतएव **पाण्डुपुत्राणाम्** इति उक्तं, न पाण्डवानाम्. कृष्णकथाप्रतिपादकत्वाद् एतेषां वचनम्, अन्यथातु असङ्गतिः. तद् आह **कृष्णकथा** इति, **कृष्णकथायाः उदयो** यत्र इति. नहि इयं भगवतः स्वतः चरित्ररूपा किन्तु नैमित्तिकी, अतो हेतुनिमित्तं– स्वरूपोपकारिहेतुः इति– तद् निरूप्यते इति भावः ॥१२॥

तत्र पुत्रान्तराणां मारणं वक्तुं हेतुम् आह **यदा मृधे** इति.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

न पाण्डवानाम् इति. 'पाण्डु'शब्दाद् अपत्येऽर्थे अण् भवति अतः सम्बन्धमात्रविवक्षया तस्य इदम् इति अणि 'पाण्डव'पदं सिद्ध्यति. तथाच 'पाण्डव'पदकथने पाण्डुसम्बन्धिनो धृतराष्ट्रस्यापि तथैव मुक्तिः प्राप्येत इति अर्थः ॥१२॥

प्रकाशः

एकस्वामिक-क्षेत्रजातत्वात् तथा इति भावः. **ग्रहणम्** इति मुक्तेः ग्रहणम्. **अतएव** इति पाण्डुमोचनादेव. **अन्यथा** इति सर्वथा अपृष्टत्वे. प्रथमाध्याये "को वा भगवतस्तस्य" (भाग.पुरा. १।१।१६) इत्यनेन भगवद्यशःश्रवणादरस्य सूचितत्वाद् न असङ्गतिः इति अर्थः ॥१२॥

लेखः

यद्वा पञ्चानां मध्ये एकस्यापि अकृतार्थतायां तद्विकर्मादिकं परीक्षिन्मुक्तौ प्रतिबन्धकं स्याद् अतः तन्निवारणार्थं तन्मुक्तिः प्रथमतो वक्तव्या इति भावः. तदेतद् उक्तं **प्रतिबन्धकत्वम्** इत्यादि. **अनुक्तत्वाद्** इति, अपृष्टत्वाद् इति अर्थः. **एकजातानाम्** इति, एकस्वामिके क्षेत्रे जातानाम् इति अर्थः. **मुक्तावप्यतिदेशाद्** इति. यथा पाण्डुपुत्राणां मुक्तिः तथा धृतराष्ट्रस्य इति **चकारेण** उक्तम् इति अर्थः. **अतएव** इति. पाण्डुपुत्राणामेव मुख्यतो मुक्तेः वक्तव्यत्वाद् इति अर्थः. **इत्युक्तम्** इति. तेषां निर्देशो मुख्यतो प्रोक्तः इति अर्थः. **हेतुनिमित्तम्** इति. परीक्षिदादिकथा हि भगवच्चरित्रस्य **स्वरूपोपकारी हेतुः अतो हेतुनिमित्तं** हेतुत्वार्थं **निरूप्यते** इति अर्थः ॥१२॥

यदा मृधे कौरवसृञ्जयानां वीरेष्वथो वीरगतिं गतेषु ॥
वृकोदराक्षिप्तगदाभिमर्षभग्नोरुदण्डे धृतराष्ट्रपुत्रे ॥१३॥

सृञ्जयवंशोत्पन्नो धृष्टद्युम्नः पाण्डवानां चमूपतिः इति – स्वतः पाण्डवानां कौरवत्वेऽपि विरोधनिमित्तं द्रौपदीति पाण्डवानां धृष्टद्युम्नप्रवेशाद् अयुक्तपरिहाराय च – **सृञ्जयानाम्** इति उक्तम्. तेषां सम्बन्धिनाञ्च मुक्तिः इति निरूपयति **वीरगतिम्** इति, "द्वौ सम्मताविहमृत्यू" (भाग.पुरा. ६।१०।३३) इति वाक्यात्. अनेन पुत्राणामेव अन्यायमरणम् इति शोकहेतुः सूचितः. **अथो** इति मध्ये भिन्नप्रक्रमवचनात्[1]. "पार्थास्त्रपूताः पदमापुरस्य" (भाग.पुरा. ३।२।२०) इति च निरूपितम्. दुर्योधनस्य अयुक्तमरणम् आह **वृकोदरः** इति. "वृको दशविधः प्राणः उदरे यस्य तिष्ठति, स 'वृकोदरः' इत्युक्तो भगवत्कार्यसाधकः" (. । ।) इति वाक्याद् भीमेन **प्रक्षिप्तगदायाः अभिमर्षणेन भग्ने ऊरूएव दण्डे** यस्य. **दण्डे** इति ताडनहेतुः, द्रौपद्याः प्रदर्शनेन[2] दुःखजनकत्वात्. **धृतराष्ट्रपुत्रे** इति अन्धपुत्रत्वाद् अविवेकित्वम् उक्तम् ॥१३॥

अतएव तत्सेवकोऽपि अविवेकी जातः इति आह **भर्तुः** इति.

भर्तुः प्रियं द्रौणिरिति स्म पश्यन् कृष्णासुतानां स्वपतां शिरांसि ॥
उपाहरद् विप्रियमेव तस्य जुगुप्सितं कर्म विगर्हयन्ति ॥१४॥

द्रौणिः इति वैरानुबन्धे मूलहेतुः. (**कृष्णासुतानां!**) मातृपुत्रत्वात्

लेखः

यदा मृधे इत्यत्र. **धृष्टद्युम्नप्रवेशाद्** इति. तस्य कलहमूल-द्रौपदीभ्रातृत्वादिति तथा इति भावः. **अयुक्त** इति. वंशकलहमूलस्य स्वतो अयुक्तत्वात् तद्ग्रहणम् इति भावः. **द्रौपद्याः प्रदर्शने** इति. द्यूतप्रसङ्गे दुर्योधनेन द्रौपद्याः ऊरू हस्तेन प्रदर्शितौ, तद् इति अर्थः ॥१३॥

भर्तुः इत्यत्र. **मातृपुत्रत्वाद्** इति. पालनपोषणादिना अतिसुखित्वेन स्वापः इति भावः. मातृनाम्ना गृहीतत्वेन अप्रयोजकत्वाद् वा स्वापः.

---

१. भिन्नक्रमेति ख. २. प्रदर्शने इति ग-लेखे - सम्पा.

स्वापः. अनेकपुत्रत्वात्[१] मातुः ग्रहणम्. अतएव भगवता वंशार्थं ते न रक्षिताः. **कृष्णा** द्रौपदी. प्रसवमात्रं तस्याः, न उद्धारः इति **सुतानाम्** इति. **कृष्णा** इति पदं "यो यच्छ्रद्धः स एव सः" (भग.गीता १७।३) इति वाक्यात् तद्भावापत्तिं सूचयति. प्रदर्शनार्थं शिरसाम् उपाहरणं ; तेन अर्धदाहाद् अतिदुःखम्. दुर्योधनस्यापि न[२] तन्मारणम् अभीष्टं ; लोकवाच्यता न दुर्योधने स्थिता, इदन्तु (**जुगुप्सितं कर्म!**) लोकाः **विगर्हयन्ति** इति. तद् आह (**तस्य!**) **विप्रियम्** इति ॥१४॥

माता सुतानां निधनं शिशूनां निशम्य घोरं परितप्यमाना ॥
यदारुदद् बाष्पकलाकुलाक्षी तां सान्त्वयन्नाह किरीटमाली ॥१५॥

माता द्रौपदी, रोदने मातृत्वमेव हेतुः. **शिशूनाम्** इति स्नेहाधिक्यम्. (**निशम्य!**) श्रवणाद् अधिकक्लेशः. **घोरम्** इति रात्रौ सौषुप्तिकपर्वकथा सूचिता. **यदा अरुदत्** तदा **तां सान्त्वयन्** इति सम्बन्धः. **किरीटमाली** अर्जुनः ; एकस्मिन्नपि किरीटे किरीटबाहुल्यप्रतीतिः बहुपुरुषवद् युद्धकरणाद्[३] वेगाद् वा, स्त्रीवशाअपि भक्ताः भगवता परिपाल्यन्ते इति ॥१५॥

अर्जुनस्य प्रतिज्ञाम् आह. अथवा **तां सान्त्वयन्** इति वचनात् न यथार्थत्वं प्रतिज्ञायाः.

तदा शुचस्ते प्रमृजामि भद्रे यद् ब्रह्मबन्धोः शिर आततायिनः ॥
गाण्डीवमुक्तैर्विशिखैरुपाहरे त्वाक्रम्य यत् स्नास्यसि दग्धपुत्रा ॥१६॥

शोकापनोदनं स्त्रियाः भर्त्रा करणीयम्. तत्र तूष्णीम् अश्रुप्रोञ्छनम् अशक्तविषयम् अप्रतीकार्ये च. तत्र मृतानां जीवनम् अशक्यं, मारकवधस्तु शक्यइति तत् कृत्वा तत्र अश्रुप्रोञ्छनं कर्तव्यम् इति आह **तदा** इति.

लेखः

अनेकपुत्रत्वाद् इति. **अनेकानां** पञ्चपाण्डवानां **पुत्रत्वाद्** इति अर्थः. तथाच पञ्चानां मध्ये कस्य नाम ग्रहणीयम् इति मातुः ग्रहणम् इति अर्थः. **न रक्षिताः** इति. "मातृनाम्ना तु हीनता" (सुबो.का. १।४।४) इति न्यायाद् अप्रयोजकत्वाद् न रक्षिताः इति अर्थः ॥१४॥

१. अननैकपुत्रत्वादिति घ-ङ. अनैकपुत्रत्वादिति ग. २. नेति नास्ति ङ. ३. युद्धकरणोद्वेगाद्वेति घ.

क्रूरे हि क्रूरम् अश्रु प्रोञ्छ्यते. **शुच** इति शोकाश्रूणि ; पुनः अनुद्गमाय[१] हेतुशब्दवाच्यता. ननु विपरीते किम् उत्तरं? तत्र आह **भद्रे** इति. तव वैधव्यलक्षणाभावात् न तथा भविष्यति इति भावः. **ब्रह्मबन्धोः** इति. **ब्रह्म** ब्राह्मणजातिः **बन्धुरेव** कदाचिद् आगच्छति कदाचिद् न इति न सदा तस्य ब्राह्मण्यं तिष्ठति. देवविरोधित्वाद् असुरावेशाच्च, "दैव्यो वै वर्णो ब्राह्मणः असुर्यः शूद्रः" (तैत्ति.ब्रा. १।२।६।७) इति श्रुतेः. किञ्च **आततायिनः**. "अग्निदो गरदश्च" (पद्मपुरा. १।४८।५८) इति वाक्याद् "आततायिनमायान्तमपि वेदान्तपारगं, जिघांसन्तं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेद्" (पद्मपुरा. १।४८।५७) इति स्मृतेश्च न तद्वधे दोषः. (**विशिखैः !**)

लेखः

तदा शुचः इत्यत्र. **क्रूरे हि** इति. क्रूरकार्यजनिते अश्रूणि **क्रूरं** यथा स्यात् तथैव **प्रोञ्छ्यते** अतः क्रूरएव तद्वधोद्योगः उच्यते इति अर्थः. **हेतुशब्दवाच्यता** इति. **यद्** यदा **ब्रह्मबन्धोः शिरम्** आहरिष्यामि **तदा ते शुचः प्रमृजामि** इति शिरोहरणस्य शोकमार्जने हेतुशब्दव्यवहारार्थता अश्रूणां पुनरनुद्गमनाय इति अर्थः. **ननु विपरीते** इति. "अश्वत्थामा एव तव शिरः कुतो न अपाहरेद्, युद्धे जय-पराजययोः अनिश्चयाद्" इति आशङ्का न कार्या इति अर्थः. **अग्निदो** इति. "अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः, क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते आततायिनः" इति स्मृतेः इति अर्थः. **तद्वधे न दोषः** इति. इदंहि अर्जुनकार्यपरस्य अभिप्रायं गृहीत्वा निर्णयः, नतु सैद्धान्तिकः पन्थाः. अन्यथा "ब्रह्मबन्धुर्न हन्तव्यः" (श्लो. ५३) इत्यादि भगवदुक्ति-व्याकोपः. अतएव मिताक्षरादावपि अविशेषेण सर्वेषाम् एषएव विधिः स्मृतः "वधाहते ब्राह्मणस्य न वधं ब्राह्मणोऽर्हति" (नारदस्मृ. १४।८) इति. तथा "न आततायिवधे दोषो अन्यत्र गौब्राह्मणाद्" (द्रष्ट.मिताक्ष.व्यव.अध्या. २१) इति सुमन्तुवचने च ब्राह्मणवधनिषेधः. "आततायिनमायान्तमपि वेदान्तपारगं, जिघांसन्तं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेद्" इत्येवमादिजातीयानां वाक्यानां कैमुत्यन्यायेन अन्याततायिवधे

१. पुनरुद्गमायेति ग-लेखे - सम्पा.

बाणैरेव च्छित्वा समानयनं, न स्पर्शः, दुष्टत्वात्. तथा करणे सामर्थ्यम् आह **गाण्डीवमुक्तैः** इति. **शिरः**[१] **आक्रम्य** स्नानं क्षत्रियधर्मत्वेन वैरनिर्यातने उक्तम्. **दग्धपुत्रा** इति. सौषुप्तिकएव दाहः, संस्कारदाहो वा. प्रथमः शोकाधिक्यहेतुः, द्वितीयः स्नानहेतुः. यदा **स्नास्यसि तदा शुचः प्रमृजामि** इति सम्बन्धः. क्षत्रियत्वाद् न अन्यवत् स्वभावतः शोकः. कामपराणामेव तद्, न क्रोधपराणाम् ॥१६॥

इति प्रियां वल्गुविचित्रजल्पैः संसान्त्वयित्वाऽऽच्युतमित्रसूतः ॥
अन्वाद्रवद् दंशित उग्रधन्वा कपिध्वजो गुरुपुत्रं रथेन ॥१७॥

(इति!) एवं कथने हेतुः **प्रियाम्** इति. **वल्गु** मनोहरम् "आक्रम्य स्नास्यसि" इति. **विचित्रं** "विशिखैः उपाहर" इति. **जल्पैः** इति स्त्रैणवाक्यम्. तत् तस्याअपि क्षत्रियत्वात् सम्यक् सान्त्वनम्. एतादृशकार्यसिद्धौ हेतुः **अच्युतमित्रसूतः**[२] इति. अच्युतस्य मित्रमपि अच्युतमेव, तेन स्वरक्षा. सूतत्वात् कार्यसिद्धिः. **अनु** पश्चाद् **आद्रवणं** पलायनशङ्कया. पश्चादेव **(दंशितः!)** कवचपरिधानं धनुषश्च ग्रहणम्. **धनुषः** उग्रत्वं

प्रकाशः

इति प्रियाम् इत्यत्र. **स्वरक्षा** इति. **रक्षापदं** धनुषि च रथे च सम्बध्यते ॥१७॥

लेखः

आवश्यकत्वज्ञापनएव तात्पर्यं, नतु ब्रह्मवधेऽपि इत्येवं निर्णायि इति ज्ञेयम्. **सौषुप्तिकएव दाहः** इति. तत्र अश्वत्थाम्ना तेषां मरणमेव दाहः इति बोध्यः. स च शोकहेतुः, अग्निसंस्कारात्मकस्तु स स्नानहेतुः इति विभागः. ननु द्रौपद्याः यथा शोकः तथा सम्बन्धाविशेषाद् अर्जुनस्यापि कथं न शोकः, प्रत्युत तत्प्रतिकूल-वीररसएव? इत्यतः आहुः **क्षत्रियत्वाद्** इति. तच्छोकादिकं स्त्रैणत्वेन कामपराणामेव भवति, नतु क्रोधमपि इति अर्थः ॥१६॥

---

१. शिरसा इति ग. शिरस इति घ.

२. अच्युतः मित्रं सूतश्च यस्य सः अच्युतमित्रसूतः इति श्रीधरादयः सर्वे आहुः -सम्पा.

वधपर्यवसायित्वात्. **कपिध्वजः** इति अतिसामर्थ्यं सूचितम्. अथवा **दंशितः** इति स्वरक्षा, उग्रत्वाद् धनुषः, **कपिध्वजत्वाद्** रथस्य. **गुरुपुत्रम्** इति अनर्थपर्यवसायित्वम्. **रथेन** इति न स्वा शक्तिः ॥१७॥

तमापतन्तं स विलक्ष्य दूरात् कुमारहोद्विग्नमना रथेन ॥
पराद्रवत् प्राणपरीप्सुरुर्व्यां यावद्गमं रुद्रभयाद्यथार्कः ॥१८॥

दृष्टेऽपि न गतिः मन्दा जाता, ततो वधपर्यवसायित्वं ज्ञातम्. तद् आह **आपतन्तम्** इति. सापराधत्वाद् **दूराद्** एव दर्शनम्. क्षत्रियधर्माश्रितस्य युद्धोपस्थितौ प्रोत्साहो भवति ; (**कुमारहोद्विग्नमना!**) बालकबधात् तस्य पापेन मनसः उद्वेगः. युद्धसाधनं रथः पलायनसाधनं जातः इति **रथेन** (**पराद्रवत्!**) इति उक्तम्. पलायने हेतुः **प्राणपरीप्सुः** इति. येषां रक्षणार्थे नीचसेवा पितृवधः अन्याय्यकरणञ्च[१] अङ्गीकृतं तेषां रक्षार्थं पलायनं किम् आश्चर्यम् इति! **उर्व्यां** (**यावद्गमं!**) यावद् गन्तुं शक्यते, यावद् नद्यादिकं न व्यवधायि. योगमन्त्रादिना लोकान्तरगमनेऽपि निस्तारो न भविष्यति इति दृष्टान्तम् आह **रुद्रभयाद् यथा अर्कः** इति. यथा अर्को(/अर्केण!) विद्युन्मालिनिराकरणे कृते स्वभक्तत्वाद् रुद्रस्य क्रोधो जातः. ततः शूलम् उद्यम्य अर्कवधार्थं प्रवृत्तः. ततो अर्कः पलायमानो[२] भूमौ पतितः काश्यां लोलार्कसञ्ज्ञो[३] जातः. तथा अयमपि लोकान्तरेऽपि परिभ्रमन् पतेत्. अतो भूमावेव यावद् गन्तुं शक्यते तावत् पलायितवान् इति अर्थः ॥१८॥

यदाऽशरणमात्मानमैक्षत श्रान्तवाजिनम् ॥
अस्त्रं ब्रह्मशिरो मेने आत्मत्राणं द्विजात्मजः ॥१९॥
अथोपस्पृश्य सलिलं सन्दधे तत्समाहितः ॥
अजानन्नुपसंहारं प्राणकृच्छ्रे उपस्थिते ॥२०॥

तदा भयात् शरणान्वेषणे भगवद्वैमुख्येन गच्छति इति कोऽपि महादेवादिः न शरणम् अभूत्. पलायनं च कर्तुम् अशक्तः, अश्वानां श्रान्तत्वात्.

---

१. अन्यायकरणमिति ख. २. पलायन्निति क-ग-घ-ङ.

३. द्रष्ट. स्कन्दपुरा. काशीखण्ड - सम्पा.

तदा **ब्रह्मशिरः** ब्रह्माऽस्त्रम् **(आत्मत्राणं!)** आत्मनः शरणं भविष्यति इति **(मेने!)** ज्ञातवान्. न विद्यते शरणं यस्य सः **अशरणः. श्रान्ताः वाजिनो यस्य.**

आध्यात्मिकं[1] चाधिदैवं ब्रह्मास्त्रं द्विविधं[2] मतम्[3] ॥
निवर्त्यमनिवर्त्यं च मन्त्रयोः सुप्रतिष्ठितम् ॥(७)॥

द्रोणाचार्येण अस्मै ब्रह्मास्त्रद्वयं दत्तम्. उपसंहारस्तु न शिक्षितः, शरीरे विद्यमानएव मृत्योः पालयिष्यति इति. इदानीम् अस्य उपसंहारज्ञानाभावेऽपि प्रयोगेच्छा **द्विजात्मजत्वेन** अदीर्घदर्शनाद् जाता. **(अथ!)** ततः पलायनं त्यक्त्वा भिन्नप्रक्रमेण **(सलिलम् उपस्पृश्य!)** आचमनं विधाय **समाहितः** सन् देवतासान्निध्यार्थम् **(अजानन्नुपसंहारं!)** उपसंहाराज्ञाने सन्धाने लोकक्षयात् स्वस्य महत्पापं भविष्यति इति ज्ञात्वापि **प्राणकृच्छ्रे उपस्थिते** ''अयुक्तमपि आपदि कर्तव्यम्'' इति बुद्ध्या **तत् सन्दधे** ॥१९-२०॥

ततो यद् जातं तद् आह **ततः प्रादुरभूत् तेजः** इति.

ततः प्रादुरभूत् तेजः प्रचण्डं सर्वतोदिशम् ॥
प्राणापहमभिप्रेक्ष्य विष्णुं जिष्णुरुवाच ह ॥२१॥

प्रचण्डम् अप्रतिक्रियम्. **प्रचण्डम्** इत्यादि भिन्नं वाक्यम्. **सर्वतो दिशम्** अर्जुनस्य, अतएव **प्राणापहम्**. द्रौणेः इदम् अस्त्रम् इति अज्ञात्वा किञ्चिद् अन्यदेव दैवयोगाद् नाशकम् उपस्थितम् इति तदपनोदनार्थं

लेखः

अस्त्रं ब्रह्मशिरो मेने इत्यत्र. ननु उपसंहारः कुतो न शिक्षितो अतः तत्तात्पर्यम् आहुः **शरीरे** इति. **शरीरे विद्यमानएव** अयं ब्रह्मास्त्रमन्त्रो **मृत्योः** सकाशात् पालयति. यदि उपसंहारोऽपि शिक्षितः स्यात् तदा युद्धादौ मन्त्रो तत्प्रयोजनं च बहिः निर्गतः स्याद् इति न मृत्युपालनसमर्थः स्याद् अतो न शिक्षितः इति अर्थः ॥१९॥

ततः प्रादुरभूद् इत्यत्र. **भिन्नं वाक्यम्** इति. प्राधान्यबोधनाय सर्वत्र प्रादुर्भावक्रियासम्बन्धाद् इति भावः ॥२१॥

---

१. अध्यात्मिकमिति ख-ग. २. त्रिविधमिति ग. ३. स्मृतमिति घ-ङ.

तत्स्वरूपज्ञानार्थञ्च भगवन्तं प्रष्टुं प्रथमं स्तौति. रक्षको हि **विष्णुः**, ज्ञाते प्रतीकरणसमर्थो **जिष्णुः** अर्जुनः. ह इति आश्चर्यं— तस्मिन् दृष्टे मूर्च्छया भाव्यं, तत्र असम्भ्रान्तो भगवन्तं स्तौति इति ॥२१॥

चतुर्विधपुरुषार्थसिद्ध्यर्थं चतुर्भिः श्लोकैः स्तौति **कृष्ण कृष्ण** इत्यादिभिः.

॥ अर्जुनः उवाच ॥

कृष्ण कृष्ण महाबाहो भक्तानामभयङ्कर ॥
त्वमेको दह्यमानानामपवर्गोऽसि संसृतेः ॥२२॥

(**कृष्ण कृष्ण**!) आदरे वीप्सा, भयाद् वा द्विरुक्तिः. **महान्तो बाहवो** यस्य, इन्द्रादयो वा बाहवो यस्य. अनेन क्रियाशक्तेः आधिक्यम् उक्तं, पालकत्वं वा. सामान्यतः सर्वेषां पालकत्वम् उक्तं, भक्तान् प्रति विशेषेण पालकत्वम् आह **भक्तानाम् अभयङ्कर** इति. अन्येषाम् उपस्थिते भये परिपालनं करोति, भक्तानान्तु अभयमेव उपस्थापयति, न भयम्. किञ्च त्वत्तो दूरे स्थिताः दह्यमानाः भवन्ति. दाहेष्वपि महान् संसारदाहो जन्म-मरणरूपः ; तस्य त्वम् अपवर्गः. **संसृतेः** हेतोः **दह्यमानानाम् एकः त्वमेव अपवर्गः (असि!)**, "आ ब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन, मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते" (भग.गीता ८।१६) इति ॥२२॥

अत्र उपपत्तिं श्लोकद्वयेन आह "स वै पतिः स्याद्" (भाग.पुरा. ५।१८।२०) इति न्यायेन, प्रथमतः स्वस्य सर्वदोषाभावः तदनु परस्य दोषदूरीकरणम् इति.

त्वमाद्यः पुरुषः साक्षादीश्वरः प्रकृतेः परः ॥
मायां व्युदस्य चिच्छक्त्या केवले स्थित आत्मनि ॥२३॥

तत्र दोषाः पञ्चविधाः— कर्मजाः कालजाः स्वभावजाः मायोद्भवाः[१] देशोद्भवाश्च इति. ते क्रमेण निवार्यन्ते. कर्मापेक्षयापि **आद्यत्वात्** (**पुरुषः**!) स्वतन्त्रत्वेन तदधीनत्वाभावाच्च न तस्मिन् कर्मजाः. किञ्च

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

त्वमाद्यः इत्यत्र. **पुरुषपदस्य** अर्थम् आहुः **स्वतन्त्रत्वेन** इति.

१. पापोद्भवा इति घ.

(**ईश्वरः!**) सर्वेषाम् अयं नियामकः कालश्च. तत्र कालस्तु स्वोद्भव-शरीरादिद्वारा तदध्यासे जाते नियामकः, भगवांस्तु **साक्षाद्** आत्मनामपि. अतः कालस्यापि नियामकः इति उक्तं भवति, तेन न कालजाः. (**प्रकृतेः परः!**) प्रकृतिनियामकत्वाच्च न प्राकृताः. भगवतस्तु बह्व्यः शक्तयः सन्ति अन्योन्यविरुद्धाः तत्तत्कार्यार्थं निर्मिताः ; तत्र यस्यामेव आसक्त्या क्रीडायां क्रियमाणायां तद्दोषप्रादुर्भावः सम्भाव्यते तदैव तद्विरुद्धशक्ति-प्रादुर्भावनेन पूर्वान् दूरीकरोति[१]. तथा **चिच्छक्त्या मायां व्युदस्य** तिष्ठति इति न मायिकदोषसम्बन्धः. देशदोषस्तु न सम्भाव्यएव,

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

साक्षादीश्वरः इत्यस्य अर्थम् आहुः **सर्वेषाम्** इति. **अयं कालश्च** इति, द्वावपि नियामकौ इति अर्थः. **प्रकृतेः परः** इत्यस्य अर्थम् आहुः **प्रकृति** इति. **प्राकृताः** स्वभावजाः. जीवाः सर्वं कर्तुं वाञ्छन्ति, नतु भजनमिति दोषः प्रकृत्यंशाद् इति अर्थः ; आसुरत्वम् इति यावत्. **मायां व्युदस्य चिच्छक्त्या** इत्यस्य अर्थम् आहुः **भगवतस्तु** इति. **कैवल्ये स्थितः** इत्यस्य अर्थम् आहुः **देश** इति ॥२३॥

प्रकाशः

त्वम् आद्यः इत्यत्र. **न प्राकृताः** इति न स्वभावजाः. अत्र प्रकृति-माययोः भिन्नतया निर्देशात् 'प्रकृति'पदस्य स्वभावपरत्वं बोध्यम्. **पूर्वान्** इति दोषतया सम्भावितान् धर्मान् ॥२३॥

लेखः

त्वमाद्यः इत्यत्र. **स्वतन्त्रत्वेन तदधीनत्वाभावाद्** इति. अनेन **पुरुषपदं** व्याख्यातं ज्ञेयम्. **न तस्मिन् कर्मजाः** इति. अनेन स्वभावजानामपि दोषाणाम् अभावः उक्तो ज्ञेयः, स्वभावस्य प्रायः कर्मजन्यत्वाद् इति भावः. श्रीपुरुषोत्तमास्तु **न प्राकृताः** इत्यनेन स्वभावजाः निराकृताः इति आहुः, तदपि रोचिष्णुः. **कालश्च** इति. यथा अयं भगवान् नियामकः तथा कालोऽपि इति अर्थः ॥२३॥

---

१. करोतीति ग.

सर्वधर्मास्पृष्टे **केवलएव आत्मनि (स्थिते!)** विद्यमानत्वात्. अतः स्वतः पञ्चविधदोषरहितः ॥२३॥

अन्येषां दोषदूरीकरणं कैमुतिकन्यायेन आह.

स एव जीवलोकस्य मायामोहितचेतसः ॥
विधत्से स्वेन वीर्येण श्रेयो धर्मादिलक्षणम् ॥२४॥

स एव इति, पूर्वोक्तगुणयुक्तएव. **मायामोहितचेतसो जीवस्य** भ्रान्तस्य. भ्रान्त्या यदेव प्रार्थयते तदेव प्रयच्छसि, किमुत भ्रान्तिदोषं दूरीकरोषि इति. अनेन (**धर्मादिलक्षणं श्रेयः!**) वस्तुतः उत्तमम् अनुत्तमं वा यदेव यः प्रार्थयते तदेव (**स्वेन वीर्येण विधत्से!**) तस्मै प्रयच्छसि इति सर्वाभीष्टदातृत्वम् उक्तम्, अन्यथा सर्वेषाम् अभजनीयः स्यात् ॥२४॥

किञ्च सामान्यतः एतत् तव स्वरूपम् उक्तं, विशेषतः तव स्वरूपविचारे अस्मदादीनां न किञ्चित् कर्तव्यम् इति अभिप्रायेण आह **तथा अयम्** इति.

तथायञ्चाऽवतारस्ते भुवो भारजिहीर्षया ॥
स्वानामनन्यभावानामनुध्यानाय चासकृत् ॥२५॥

तथा अयं च अवतारः ते यथा भवान्[१] सर्वदोषरहितः सर्वाभीष्टदः तथा अवतारोऽपि अयम्. येषां मते "भगवानेव साकारः आनन्दमात्र-करपादमुखोदरादिः मायाजवनिका-दूरीकरणेन प्रादुर्भूतः" इति तेषां न किञ्चिद् वक्तव्यम्. येषामपि मते "स्वेच्छामये शरीरविशेषे भगवतो अनन्तसूर्यप्रकाशस्य अयोगोलके वह्नेरिव आगमनम् अवतारः" इति तन्मतेन एवं कथनम्. तस्य अवतारस्य प्रयोजनद्वयं सर्वजनीनं— **भुवो भारदूरीकरणं**, वैष्णवशास्त्रे तु **स्वानाम् अनन्यभावानां (असकृत्!)** निरन्तरानुध्यानार्थम्. उभयम् अर्जुनस्य अभिप्रेतम् इति उभयथापि अस्माकं हितकरणं, भूभारहरणसहायाद् भक्तत्वाच्च ॥२५॥

किमिदं स्वित् कुतो वेति देवदेव न वेद्म्यहम् ॥
सर्वतोमुखमायाति तेजः परमदारुणम् ॥२६॥

---

१. भगवानिति क-ग.

एवं स्थिते **किम् इदम् (स्विद्!)** अकस्माद् आविर्भूतम् इति तत् कथय इति आह. सर्वदिशत्वात् **कुतो वा** इति न ज्ञायते, कुत्र वा मूलम् इति. अवतारेऽपि तव न किञ्चिद् अज्ञातं, देवकार्यसाधकत्वात्. तद् आह **देवदेवेति**. तथा त्वमपि इति आशङ्क्य अब्रह्मत्वाद् **न अहं वेद**. लौकिकीतु उपपत्तिः अत्र न सम्भवति यतः **सर्वतोमुखम् (तेजः!) आयाति**. सूर्यादितेजोव्यावृत्त्यर्थं **परमदारुणम्** इति ॥२६॥

तत्र एतद्विषयकम् अज्ञानं द्विविधं— स्वरूपतो धर्मतश्च इति. तत्र स्वरूपतस्तु त्वं वेद इति भगवान् आह.

॥ श्रीभगवान् उवाच ॥

वेत्थ त्वं द्रोणपुत्रस्य ब्राह्ममस्त्रं प्रदर्शितम् ॥
नैवासौ वेद संहारं प्राणकृच्छ्रे उपस्थिते ॥२७॥

वेत्थ त्वम् इति. गुरुपुत्रत्वाद् गुरुणा ब्रह्मास्त्रम् अस्मै दत्तं त्वत् समक्षम्, अतः त्वं वेत्थ[१] ; तदेव इदम् इति तु जानीहि. ननु ब्रह्मास्त्राण्यपि बहूनि दृष्टानि प्रयुक्तानि च ; कदाचिदपि न एवं दृष्टम् इति चेत्, तत्र आह **नैव असौ वेद संहारम्** इति. अतो अनभिज्ञेन प्रयुक्तत्वात् सर्वतोमुखम् आयाति. तर्हि कथं प्रयुक्तवान्? तत्र आह **प्राणकृच्छ्रे उपस्थिते** इति. पादद्वयमपि[२] भिन्नं भिन्नं वाक्यम् ॥२७॥

तर्हि किं कर्तव्यं? तत्र आह.

न ह्यस्यान्यतमं किञ्चिदस्त्रं प्रत्यवकर्षणम् ॥
जह्यस्त्रतेज उन्नद्धमस्त्रज्ञो ह्यस्त्रतेजसा ॥२८॥

नहि अस्य इति. ब्रह्मास्त्रे ब्रह्मास्त्रमेव प्रयोक्तव्यम् ; **न (अन्यतमं किञ्चिदस्त्रं प्रत्यवकर्षणं!)** अन्यत् तत्प्रतीकारम् अर्हति. अतो **अस्त्रज्ञो** भवान् **उन्नद्धं** ब्रह्माऽस्त्र**तेजो** ब्रह्माऽस्त्र**तेजसा** एव[३] **जहि**. त्वयापि प्रयुक्तम् एतादृशमेव तेजो भविष्यति, तेन अस्य प्रतीकारः इति ॥२८॥

एवं भगवता उक्ते यद् आसीत् तद् आह **श्रुत्वा** इति.

---

१. वेद इति मुद्रितपाठः. भा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

२. पदद्वयमपीति ख. ३. एवकारो नास्ति ख.

॥ सूतः उवाच ॥

श्रुत्वा भगवता प्रोक्तं फाल्गुनः परवीरहा ॥
स्पृष्ट्वाऽपस्तं परिक्रम्य ब्राह्म्यं ब्राह्म्याय सन्दधे ॥२९॥

परवीरहा इति सामर्थ्यं, **तं परिक्रम्य** इति कार्यसिद्धिः. अस्य ब्रह्मास्त्रस्य पूर्वब्रह्मास्त्रनिवर्तकत्वमेव, नतु प्रयोक्तृघातकत्वम्. तद् उक्तं **ब्राह्म्यं ब्राह्म्याय** इति ॥२९॥

ततो यद् जातं तद् आह **संहत्य** इति.

संहत्यान्योन्यमुभयोस्तेजसी शरसंवृते ॥
आवृत्य रोदसी खं च ववृधातेऽर्कवह्निवत् ॥३०॥

उभयोः तेजसी अन्योन्यं संहत्य मूलदार्ढ्याय (**शरसंवृते!**) शरयोः संवेष्टिते भूत्वा द्यावा-पृथिव्यौ (**खं!**) अन्तरिक्षं **च** (**आवृत्य!**) आवेष्ट्य (**अर्क-वह्निवत्!**) संवर्तकसूर्य-सङ्कर्षणमुखानलवत् सर्वनाशार्थं **ववृधाते** ॥३०॥

एतयोः निवृत्तौ हेतुम् आह.

दृष्ट्वास्त्रतेजस्तु तयोः त्रीन् लोकान् प्रदहन् महत् ॥
दह्यमानाः प्रजाः सर्वाः सांवर्तकममंसत ॥३१॥
प्रजोपप्लवमालक्ष्य लोकव्यतिकरं च तम् ॥
मतं च वासुदेवस्य सञ्जहारार्जुनो द्वयम् ॥३२॥

दृष्ट्वा अस्त्रतेजः इति मिलितत्वाद् एकवचनम्. **प्रजाः** दक्षादयः (**सर्वाः!**) अन्येऽपि, भगवत्सान्निध्यात्. अतः परम् अनुपसंहारे (**प्रजोपप्लवमालक्ष्य!**) प्रलयो भविष्यति इति भगवदभिप्रायं [१]ज्ञात्वा– (**लोकव्यतिकरं!**) लोकानां नाशं भूरादीनां **च**– सर्वोपकारार्थम् एकगुरुत्वाद्

प्रकाशः

श्रुत्वा भगवता इत्यत्र. **प्रयोक्तृघातकत्वम्** इति. प्रथमब्रह्मास्त्रप्रयोक्तृ-द्रौणि-घातकत्वम् ॥२९॥

प्रजोपप्लवम् इति श्लोकं व्याकुर्वन्ति **अतः परम्** इत्यादि. **उपसंहृतम्**

---

१. च ज्ञात्वेति क-ग-घ-ङ.

द्वयम् आत्मन्येव उपसंहृतम् इति आह **सञ्जहार** इति. **तम्** इति पूर्वोक्त-दाहलक्षणम्. चकारात् स्वस्यापि तेजोलाभात्. भगवतः सम्बन्धादपि एतद् मतम् इति आह **वासुदेवस्य**[१] **(मतं च!)** इति ॥३१-३२॥

तत आसाद्य तरसा दारुणं गौतमीसुतम् ॥
बबन्धामर्षताम्राक्षः पशुं रशनया यथा ॥३३॥

ततः स्वस्मिन् तेजोद्वयसङ्क्रमणानन्तरम् **आसाद्य** निकटे गत्वा, दूराद् वारुणपाशादिभिः बन्धने महान् क्लेशो भवति इति. **तरसा** शीघ्रं, प्रतिक्रियानवसराय. **दारुणम्** इति बन्धने हेतुः, मरणं शापं मारणं वा ईश्वरभजनादि[२] वा कुर्याद् इति. ननु गुरुपुत्रं कथं बबन्ध? तत्र आह **गौतमीसुतम्**[३] इति ; न अयं गुरोः सम्मतः पुत्रः. गौतमी तस्य माता, गौतमवंशोत्पन्नत्वात्. अनेन पुत्रस्नेहसम्बद्ध-भार्याप्रार्थनया राजसम्बन्धो मरणं

प्रकाशः

इति, अर्जुनेन इति शेषः. **स्वस्यापि** इति, दाहलक्षणम् इति शेषः ॥३२॥

ततः आसाद्य इति श्लोकं व्याकुर्वते **ततः** इत्यादि ॥३३॥

लेखः

प्रजोपप्लव इत्यत्र. **तेजोलाभाद्** इत्यादि ... ॥३२॥

ततः आसाद्य इत्यत्र. **मरणं शापम्** इत्यादि. **मरणम्** अपघातादिना प्राणत्याजनम्. **शापम्** अन्यदेवताध्यानादिना लब्धसामर्थ्ये. सहि शापो वाग्वज्रः. **मारणं** शस्त्रादिना परस्य, स्वकीयदेवताभजनादि-ध्यानादिना वा रक्षाप्रयोजकम्. तदिदं सर्वं बन्धननिराकृतम् इति अर्थः. **अनेन** इति, मातृप्राधान्यबोधनेन इति अर्थः. **पुत्रस्नेहसम्बद्ध** इत्यादि. भारते हि एवं कथा— द्रोणाचार्याय राज्ञा प्रतिश्रुतं बाल्ये "मम राज्ये तव अर्धं राज्यं दास्यामि" इति. ततः पुत्रार्थं गोयाचनाय तत्र राज्ञः समीपे द्रोणाचार्येण गमनम्, उक्तञ्च "पूर्वं त्वया अर्धराज्यम् अस्मभ्यः प्रतिश्रुतं, तत् तु अशक्यं, परं गौः एका देया" इति. ततो राज्ञा सभर्त्सनं ततः उद्वासितो भार्यया उक्तो अत्र धृतराष्ट्र-राजधान्याम् उवास इति. तेनैव इदानीं मरणम् आपतितमिति मातृदोषः इति भावः. इयं कथा आदिपर्वणि अस्ति ॥३३॥

१. वासुदेवेति इति ख-ग. २. ईश्वरभजनादिना इति क-ग-घ-लेखे -सम्पा. ३. गौतमीसुत इतीति ख-ग.

च सूचितम्. **अमर्षताम्राक्षः** इति, अनेन ब्राह्मण्यादयो न स्फुरिताः. अवश्यं बन्धनीयइति दृष्टान्तम् आह **पशुम्** इति. नहि पराजितः शत्रुः अबध्वा त्यक्तुं शक्यते, अश्लक्ष्णया[१] बन्धनं ध्वज-स्तम्भे च इति, नीत्वा च परोक्षं मारणञ्च[२] तदा[३] अभिप्रेतम् ॥३३॥

तस्य शिबिरे नयनम् अनुचितम् इति भगवान् निषेधति **शिबिराय** इति.

शिबिराय निनीषन्तं रज्ज्वा बद्धं रिपुं बलात् ॥
प्राहार्जुनं प्रकुपितो भगवानम्बुजेक्षणः ॥३४॥

सर्पइव अयं न स्प्रष्टव्यः ; स्पृष्टः चेत् मारणीयएव. अपकृतस्तु सर्वथा मारणीयः. तत्र गते च न मारणं[४] भविष्यति अतो अत्रैव मारणीयः इति अभिप्रायेण **आह.** नीतिकार्यविचारे[५] मारणीयः. धर्मविचारे बन्धनीयोऽपि न. **रिपुः** च गृहे न नेयः, **बलात्** च न नेयः, तत्र असावधाने किञ्चिद् अपकुर्याद् इति. **शिबिरं** कटकोत्तरणस्थानम्. **भगवान्** इति सर्वमारकत्वं सूचितम्. **अम्बुजेक्षणः** इति भक्तरक्षकत्वं सूचितम्. तस्माद् एतद्वधे सर्वं सुस्थम् इति नोचेद् बहु कर्तव्यम् इति अभिप्रायः ॥३४॥

तदेव आह **न एनम्** इति.

॥ श्रीभगवान् उवाच ॥

नैनं पार्थार्हसि त्रातुं ब्रह्मबन्धुमिमं जहि ॥
योऽसावनागसः सुप्तानवधीन्निशि बालकान् ॥३५॥

पृथा सम्बन्धिनी भक्ता च- इति (**पार्थ!**) तथा वचनम्. मारणेऽपि दोषाभावे हेतुद्वयम् आह **ब्रह्मबन्धुम्** इति **अवधीद्** इति. पित्रादिभिः अपकृते अनपराधिनः पुत्रस्य बद्ध्वा नयनम् उचितं, न मारणम्. **सुप्तस्य**

प्रकाशः

शिबिराय इत्यत्र. **सूचितम्** इति कालरूपत्वात् सूचितम् ॥३४॥

---

१. अक्षणया इति ख. अश्लक्ष्णाया इति ग. रशनयेति घ. अक्ष्णया इति ङ. २. च इति मुद्रितपाठे नास्ति. ख-गपाठानुरोधाद् गृहीतः -सम्पा. ३. तद् इति मुद्रितपाठः. भा.पाठे तु एवम् -सम्पा. ४. मरणमिति क-ग-घ. ५. विचारेणेति क-ख.

कस्यापि मारणम् अनुचितम्. **निशि** चोरएव मारयति, न साधुः. **बालकाः** तु सर्वेषामेव अवध्याः ॥३५॥

विचारेण अस्य वध्यतां वक्तुं वध्यावध्यनिर्णयम् आह **मत्तम्** इति.

मत्तं प्रमत्तमुन्मत्तं सुप्तं बालं जडं स्त्रियम् ॥
प्रपन्नं विरथं भीतं न रिपुं हन्ति धर्मवित् ॥३६॥

शत्रवोऽपि दशविधा अवध्याः. **मत्तो** मदिरादिना. **प्रमत्तः** असावधानः. **उन्मत्तः** पिशाचादिभिः. **जडः** स्वभावतः. अयन्तु दशानां न अन्यतरः (?/मः!) तस्माद् वध्यः. किञ्च सुप्तबालयोः वधाद् अधर्मयोद्धा ॥३६॥

ननु अस्य भवतु अधर्मः– अयन्तु[1] कथं वध्यः, ब्राह्मणशरीरस्य पुरुषार्थसाधकत्वात्? तस्माद्– अस्य सर्वपुरुषार्थवधे स्वस्य अधर्मः इति. तत्र आह **स्वप्राणान्** इति.

स्वप्राणान् यः परप्राणैः प्रपुष्णात्यघृणः खलः ॥
तद्वधस्तस्य हि श्रेयो यद्दोषाद् यात्यधः पुमान् ॥३७॥

यद् अयं न वध्यते तत्र को हेतुः? प्रमाणनिषेधस्तु नास्ति, "जिघांसन्तं जिघांसीयाद्" (पद्मपुरा. १।४८।५८) इति. ब्राह्मणे धर्मः प्रतिष्ठितइति यदि अवध्यः तदा अस्मिन्[2] धर्मो नास्ति. दयया चेद् अवध्यः तदा एतद्वधे बहूनां प्राणिनां जीवनं भवति, अवधेतु अस्यैव. कश्चन देहादिना उपकारो भविष्यति इति, तदपि नास्ति. तद् आह

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

स्वप्राणान् इत्यत्र. **प्रमाणनिषेधस्तु** इति. अयन्तु **नास्त्येव** प्रत्युत विधायकं वाक्यम् अस्ति इति आहुः **जिघांसन्तम्** इति. पूर्वोक्तस्य "योऽसावनागसः" (श्लो. ३५) इत्यस्य अर्थम् आहुः **ब्राह्मणे** इति. एतच्छ्लोकस्य अर्थम् आहुः **दयया** इति. उत्तरार्धस्य अर्थम् आहुः **कश्चन** इति. **प्राणाप्राणैः** इति. प्राणान्ति इति **प्राणाः** पश्वादयः, **अप्राणाः** व्रीह्यादयः ॥३७॥

१. तुर्नास्ति क-ग-घ-ङ. २. तस्मिन्निति ग.

तद्वधः तस्य हि श्रेयः इति. प्राणाप्राणैः[1] जीवनं यस्य. तत्र प्राणैः प्राणजीवनम् अयुक्तं[2], धर्मे[3] तु युक्तम्, उभयतारकत्वात्. अवश्यम् एकस्य प्राणस्य संक्षये स्वस्यैव युक्तः, धर्म्यात्. तत्रापि प्रकर्षेण पोषणम् अयुक्तम्. बालानपि यो हन्ति सः **अघृणः**. घृणा = कृपा, तद्रहितः. **खलः** सूचकः, पिशुनः इति यावत्. तस्माद् दुष्टवधः स्वस्य धर्मः. तस्यापि दुष्टशरीरे गते शरीरान्तरेण धर्मो भवति इति, पूर्वजीवनस्य अधर्मैकसाधनत्वात् ॥३७॥

किञ्च महतां प्रतिज्ञापालनं महान् धर्मः. त्वया च प्रतिज्ञातम् इति आह **प्रतिश्रुतम्** इति.

प्रतिश्रुतं च भवता पाञ्चाल्यै शृण्वतो मम ॥
आहरिष्ये शिरस्तस्य यस्ते मानिनि पुत्रहा ॥३८॥

अर्थतो अयम् अनुवादः **आहरिष्ये** इति ॥३८॥

तस्मात् सर्वथा अयं वध्यः इति उपसंहरति **तद् असौ** इति.

तदसौ वध्यतां पाप आततायात्मबन्धुहा ॥
भर्तुश्च विप्रियं वीर कृतवान् कुलपांसनः ॥३९॥

प्रकाशः

स्वप्राणान् इत्यत्र. **प्राणाप्राणैः जीवनम्** इत्यत्र **प्राणापानैः** इति पाठो भाति. **यस्य तत्र** इत्यादि. **यस्य** पुंसः **तत्र** तयोः प्राणापानयोः जीवनहेत्वोः मध्ये **प्राणैः प्राणजीवनं** तद् **अयुक्तम्** इति अर्थः. ननु न इदम् अयुक्तं, यागे व्यभिचाराद् इत्यतः आहुः **धर्मे तु** इत्यादि. **उभयतारकत्वाद्** इति. "सगृहः सपशुः सुवर्गं लोकमेति" (तैत्ति.संहि. ३।५।४।३) इति तैत्तिरीये श्रावणेन तस्याः हिंसायाः कर्तृपशुतारकत्वाद् इति अर्थः. **युक्तः** इति, प्राणसङ्क्षयः इति शेषः. **धर्म्याद्** इति धर्मजनकाद् युद्धात्. तथाच युद्धेन मारणीयः इति अर्थः ॥३७॥

---

१. प्राणापानौ इति क-घ. प्राणापानैः इति ङ. २. उक्तमिति ग.

३. "यज्ञे इति अर्थः" इति भा.पाठीया पार्श्वटिप्पणी - सम्पा.

(**आत्मबन्धुहा!**) **आत्मनः** पुत्रान् **बन्धूंश्च**[1] **हन्ति** इति. स्वामि-हिताचरणमपि न जातम् इति आह **भर्तुः च** (**विप्रियं कृतवान्!**) इति. वंशे विद्यमाने तस्यापि उपकारो भवेत्. (**कुलपांसनः!**) कुलद्वय-कलङ्कजननाच्च. तस्माद् अस्य वधे कस्यापि न अपकारः ॥३९॥

॥ सूतः उवाच ॥

एवं परीक्षता धर्मं पार्थः कृष्णेन चोदितः ॥
नैच्छद् गुरुसुतं हन्तुं यद्यप्यात्महनं महान् ॥४०॥

तत्र एतानि वचनानि धर्मपरीक्षकाणि इति सूतज्ञानात् सूतः आह **एवम्** (**परीक्षता!**) इति. वस्तुतस्तु बन्धनमेव अयुक्तम्. **धर्मं परितः ईक्षता**[2] वा. ईश्वरवचनोल्लङ्घनाभावाय वा अर्जुनेन तथा ज्ञातम्[3] इति तद् उक्तम्. "कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते" (मनुस्मृ. ११।८९) इति तु धर्मः. त्रयो हि अत्र सन्ति– भगवान् अर्जुनो अश्वत्थामा च– इति त्रिष्वपि एकैको अवध्यत्वहेतुः[4] अस्ति— परीक्षा भगवति, महत्त्वम् अर्जुने, शिष्टे गुरुपुत्रत्वम् इति ॥४०॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

एवम् इत्यत्र. **धर्मम्** इति. तथाच धर्मद्रष्ट्रा इति अर्थः ॥४०॥

प्रकाशः

तदसौ इत्यत्र. **आत्मनः** इत्यस्य अर्थः **पुत्रान्** इति. **भर्तुश्च** इति **चकारसूचितम्** अर्थम् आहुः **कुलेत्यादि**. द्रोणकुले दुर्योधनकुले च इति अर्थः ॥३९॥

अवध्यत्वहेतुः इति द्रौणेः अवध्यत्वप्रयोजको हेतुः. तथाच एतत्त्रयं ज्ञात्वा कामतो वधो अर्जुनेन न कृतः इति अर्थः ॥४०॥

लेखः

एवं परीक्षता धर्मम् इत्यत्र. **परीक्षा भगवति** इति. नहि परीक्षार्थं प्रवृत्तो मारयितुं ददाति, नवा महात्मा मारयति, नवा गुरुपुत्रो मारणीयः इति तथा इति अर्थः ॥४०॥

---

१. तद्बन्धूंश्चेति ग. २. ईक्षिता इति मुद्रितपाठः. ख-भा.पाठयोः तु एवम् - सम्पा.

३. ज्ञानमिति ख. ४. अवध्यहेतुः इति मुद्रितपाठः. प्रकाशकाराणां पाठो गृहीतः - सम्पा.

अथोपेत्य स्वशिबिरं गोविन्दप्रियसारथिः ।।
न्यवेदयत् तं प्रियायै शोचन्त्या आत्मजान् हतान् ।।४१।।

प्रकारान्तरेण शनैः गृहे समागमनम् आह **अथ** इति. कार्यसिद्धौ हेतुपदं **गोविन्देति** उपसंहारेऽपि उक्तम्. अयन्तु शत्रुहस्ते पतितो मृत एव, देहस्तु बाणस्थानीयः. प्रतिज्ञातन्तु शिरः समानीतम् इति **न्यवेदयत्**. शोकमध्यएव तस्याः धर्मज्ञानम् इति **शोचन्त्याः** इति उक्तम्. भार्याहितार्थन्तु मारणं ; तत् तया अनुक्तत्वात् सन्देहाद् अत्रैव समानीतः, आज्ञायां मारणीयः इति निवेदनाभिप्रायः ।।४१।।

तस्यास्तु तथा आहरणमेव अनभिप्रेतं, दूरे मारणम् इति आह **तथा आहृतम्** इति.

प्रकाशः

अथोपेत्य इत्यत्र. **हेतुपदम्** इति हेतुभूतं पदम्. ननु एतदानयने "विशिखैः शिर उपाहरे" (श्लो. १६) इति प्रतिज्ञायाः कथं पूर्तिः इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **अयन्तु** इति, **देहस्तु** इति, **प्रतिज्ञातन्तु** इति च ।।४१।।

लेखः

अथोपेत्य इत्यत्र. **कार्यसिद्धौ** इति. अर्जुनप्रतिज्ञातकार्यसिद्धौ हेतुः **गोविन्दप्रियसारथित्वम्** एव, तद्वाचकं **पदम् उपसंहारेऽपि उक्तम्** इति अर्थः. कार्योपक्रमेतु "अच्युतमित्रसूत" (श्लो. १७) इति उक्तमेव इति **अपिशब्दध्वनिः**. ननु शत्रोः तथैव वर्तमानत्वात् का वा कार्यसिद्धिः? अतः आहुः **अयन्तु शत्रुहस्ते** इति. ननु "शिर आनेष्ये" इत्येव प्रतिज्ञातम्, आनीतं तु सशरीरमेवेति कथं प्रतिज्ञापूर्तिः? अतः आहुः **देहस्तु** इति. "बाणैः शिरः समानेष्ये" इति हि प्रतिज्ञातम्. यदि तथैव कुर्यात् तदा तु द्रौपद्या अनुक्तत्वात् कदाचित् तत्प्राणवियोगे अस्याः वैमनस्यं स्याद्. अतो बाणैः न आनीतं किन्तु तदीयदेहेनैव आनीतम् इति देहस्य बाणस्थानत्वात् न प्रतिज्ञाहानिः इति अर्थः. **इति उक्तम्** इति, वर्तमानप्रयोगः उक्तः इति अर्थः ।।४१।।

तथाहृतं पशुवत् पाशबद्धमवाङ्मुखं कर्मजुगुप्सितेन ॥
निरीक्ष्य कृष्णापकृतं गुरोः सुतं वामस्वभावा कृपया ननाम ह ॥४२॥
उवाच चासहन्त्यस्य बन्धनानयनं सती ॥

॥ द्रौपदीः उवाच ॥

मुच्यतां मुच्यतामेष ब्राह्मणो नितरां गुरुः ॥४३॥

कर्मणि जुगुप्सितं युद्धे बालकमारणं, तेन मुखाप्रदर्शनाद् **अवाङ्मुखत्वम्. कृष्णा** द्रौपदी, **वामो** मनोहरः **स्वभावो** यस्याः, सर्वहितभावनात्. महत्त्वबुद्ध्या नमनाभावेऽपि "अहो कष्टं! ब्राह्मण्यम् एतादृशे स्थाने पतितम्!" इति **कृपया ननाम.** तस्यापि तद्दुःखदूरीकरणेच्छा **कृपा.** आश्वासनहेतुत्वात् नमनस्य तथात्वम्. बहिर्दुःख-दूरीकरणार्थम् **उवाच च**[१]. **असहन्ती** परदुःखं दृष्ट्वा स्वयमपि दुःखिता ; देहधर्माद् धर्मधर्मो महानिति तस्याः कृपाधिक्यम् उक्तम्. **सती** इति धर्मस्वभावत्वं, भर्तारमपि धर्मप्रमादे बोधयेद् इति. षडङ्गसहितं धर्मवाक्यम् आह **मुच्यताम्** इति.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

तथाहृतम् इत्यत्र. ननु दुःखदूरीकरणेच्छायाम् तद् दूरीकर्तव्यं, नमनेन किं? इत्यतः आहुः **आश्वासन** इति. नमने दृष्टे द्रौणेः आश्वासनं जातं "न मारयिष्यति" इति. अतो नमनस्य तद्धेतुत्वात् **तथात्वं** दुःखदूरीकर्तृत्वम् इति अर्थः ॥४२॥

प्रकाशः

उवाच इत्यत्र. **षडङ्गसहितम्** इति, "धर्म्यं न्याय्यम्"

लेखः

तथाहृतम् इत्यत्र. **कर्मणि जुगुप्सितम्** इति. भारतयुद्धात्मके महति **कर्मणि** मध्ये **बालकमारण**लक्षणं यद् **जुगुप्सितं** कर्म **तेन अवाङ्मुखम्** इति अर्थः. **उवाच** इत्यत्र. **धर्मधर्मो** इति. धर्मादपि यो अधिको धर्मः इति अर्थः. **मुच्यतां मुच्यताम्** इत्यत्र **षडङ्गसहितम्** इति. इदं षट्श्लोकैः तदुक्तिः इति सङ्ख्यातात्पर्येण उक्तम् इति प्रतिभाति ॥४२-४३॥

---

१. उवाचेति क-ग-घ.

द्विरुक्तिः सन्देहाभावाय अविलम्बाय च. तत्र हेतुः **एषः ब्राह्मणः** इति. एकस्मिन् धर्मिणि बहूनां धर्माणां स्थितावपि यो महान् धर्मः सः आदरणीयः. धर्माङ्गं च देहो गौणः, धर्मश्च मुख्यः. देहविचारेण च शत्रुत्वम्. धर्ममूलं च ब्राह्मणः तस्मात् तद् बलिष्ठम् इति. किञ्च धर्मे हि गुरुः मूलं, स च भगवान्, तन्मुखत्वाद् **ब्राह्मणो गुरुः**. लौकिकोपदेशक-गुर्वपेक्षया भगवन्मुखस्य अत्यन्तगुरुत्वात् **नितरां गुरुः** ॥४२-४३॥

न्यायविरोधी[१] धर्मो दुर्बलइति तदविरोधं वदन्ती[२] लौकिकन्यायेनापि गुरुत्वम् आह.

सरहस्यो धनुर्वेदः सविसर्गोपसंयमः ।।
अस्त्रग्रामश्च भवता शिक्षितो यदनुग्रहात् ।।४४।।

सरहस्यः इति. रहसि भवो **रहस्यो** मन्त्रः. **विसर्गः** अस्त्राणां मोचनप्रकारः. **उपसंयमः** उपसंहारः. पुत्रादिष्वपि तथा अवचनात्. **अस्त्रग्रामश्च** ब्रह्मास्त्रादयः. नहि एतत् पाठमात्रेण स्फुरति किन्तु कृपयेति तद् आह **यदनुग्रहाद्** इति ॥४४॥

स द्रोणो, न अयम् इत्यतः आह.

स एष भगवान् द्रोणः प्रजारूपेण वर्तते ।।
तस्यात्मनोऽर्धं पत्न्यास्ते नान्वगाद् वीरसूः कृपी ।।४५।।

स एषः इति. तस्य एतद्रूपत्वे हेत्वन्तरम् आह **भगवान्** इति. ब्रह्मविदो हि स्वेच्छया देहत्यागः. तत्र भवताम् उपकाराय[३] देहत्यागदशायां

प्रकाशः

(श्लो. ४९) इत्येतद् विवरिष्यमाण-षडङ्गसहितम्[४]. **बलिष्ठम्** इति, ब्राह्मण्यम् इति शेषः. **नितरां गुरुः** इति. एतेन भगवन्मुखत्वरूपो धर्मो महत्त्वाद् आदरणीयः इति उक्तम् ॥४३॥

---

१. न्यायविरोध इति घ-ङ. २. वदन्निति क-ख-ग. ३. उपकारदेहत्यागेति ग.

४. तत्र यथाक्रमं **धर्म्यमिति** प्रथमाङ्गं ४३तमे श्लोके, **न्याय्यमिति** द्वितीयाङ्गं ४४तमे, **सकरुणमिति** तृतीयाङ्गं ४५तमे, **निर्व्यलीकमिति** चतुर्थाङ्गं ४६तमे, **सममिति** पञ्चमाङ्गं ४७तमे, **महदिति** षष्ठाङ्गं च ४८तमे श्लोके कथितम् इति तत्तच्छ्लोकसुबोधिन्यां प्रतिपादितम् - सम्पा.

हतं पुत्रं श्रुत्वा "तद् मा भूद् इति तद्रूपेणैव अहं जीविष्यामि" इति पितृशरीरं त्यक्तवान्. अतः **स एव अयं द्रोणः**. "आत्मा वै पुत्रनामासि" (कौषी.ब्राह्मणोप. २।११) इति श्रुतेः **प्रजारूपेण** च. निवृत्तिधर्मविरोधी च धर्मो न युक्तइति करुणाम् आह **तस्य आत्मनो अर्धम्** इति. मूलरूपेऽपि **आत्मनो अर्धं पत्नी आस्ते**. पुत्ररूपेण भर्ता जीवति इति पुत्रवतीनां न सहगमनम्. ततः[१] स्वपुत्रवधे तस्या वैधव्याद्[२] वंशाभावाच्च महद्दुःखत्वात् तद्दर्शनेन करुणा, तद् आह **न अन्वगाद्** इति. कृपायाः च अधिष्ठात्री देवता सा अतः तस्याः **कृपी** इति नाम ॥४५॥

व्यलीकं कापट्यं, तदपि धर्मे बाधकम्. तस्माद् अस्य मोचनं निर्व्यलीकम् इति तद् आह.

तद्धर्मज्ञ महाभाग भवद्भिर्गौरवं कुलम् ॥
वृजिनं नार्हति प्राप्तुं पूज्यं वन्द्यमभीक्ष्णशः ॥४६॥

तद्धर्मज्ञ इति. यदि केनापि प्रकारेण गुरुकुले दुःखप्रापणं तदा कृतो गुरुसेवालक्षणो धर्मः सकपटो भवति. तस्माद् धर्मे[३] कापट्यं जानन्नपि यः तथा करोति सः न धर्मज्ञः. त्वन्तु तद्विपरीतत्वाद् धर्मज्ञः. अतो हे **धर्मज्ञ**. किञ्च महाभाग्येन गुरूणां सेवाकरणसामर्थ्यं भवति. तज्जातेऽपि सामर्थ्ये यदि सेवां न कुर्यात् तदा महद् अभाग्यम्. त्वन्तु तद्विपरीतः[४]. हे **महाभाग**. किञ्च अन्यैः गुरुकुले वृजिने प्राप्ते भवद्भिः तद् दूरीकर्तव्यम्.

प्रकाशः

स एषः इत्यत्र. **न अन्वगाद्** इति, द्रोणानुगमनं न कृतवती इति अर्थः ॥४५॥

तद्धर्मज्ञेत्यत्र. वृजिने प्राप्ते इति अन्तर्भावित-ण्यर्थः ॥४६॥

लेखः

मूलरूपेऽपि इति. मूलरूपे विचार्यमाणेऽपि द्रोणस्य अर्धं पत्नी आस्तएव इति अर्थः ॥४५॥

१. ततश्च पुत्रवध इति ग-भा.पाठयोः -सम्पा. २. वैधव्यत्वादिति घ-ङ.

३. तथा धर्मे इति ग. ४. तद्विपरीतेत्यविसर्गः पाठः क-ग.

तत्र तद्विपरीतं दृश्यते— **भवद्भिरेव गौरवं कुलं वृजिनं** प्राप्नोति. तद् न युक्तं, तत् तथा **न अर्हति**. तत्र हेतुः **पूज्यं वन्द्यम्** इति. सर्वथा महद्भिः गौरवं कुलं पूजामेव अर्हति, तत्प्रसादादेव महत्त्वस्य जातत्वात्. किञ्च अनम्रतया पूजामपि न अर्हति किन्तु (**अभीक्ष्णशः!**) सर्वदा नमनमपि अर्हति इति अर्थः ॥४६॥

किञ्च धर्मे ज्ञानाभावोऽपि बाधकः, "यदेव विद्यया करोति" (छान्दो.उप. १।१।१०) इति श्रुतेः. ततः स्वस्मिन्निव अन्यस्मिन्नपि यः सुख-दुःखे समे पश्यति तत्कृतो धर्मः, अन्यस्तु "विषमधिया[१] रचितो यः" (भाग.पुरा. ६।१६।४१) इति वाक्याद् अधर्मप्रायः. ततः एकपुत्रमरणेन रुदतां प्राणिनां यथा अन्यो विनश्येत् तद्वद् इदम् इति आह **मा रोदीद्** इति.

मा रोदीदस्य जननी गौतमी पतिदेवता ॥
यथाहं मृतवत् सार्ता रोदिम्यश्रुमुखी मुहुः ॥४७॥

तद्दुःखेन अहम् अतिदुःखिता अतएव **मा रोदीद्** इति प्रार्थना.

प्रकाशः

अधर्मप्रायः इति. "विषमधिया रचितो यः" इति वाक्यं चित्रकेतुस्तुतौ षष्ठस्कन्धे. अत्र पूर्वश्लोके भागवतधर्मस्य अनवद्यताम् उक्त्वा "विषममतिर्न यत्र नृणां त्वमहमिति मम तवेति च यदन्यत्र, विषमधिया रचितो यः स ह्यविशुद्धः क्षयिष्णुरधर्मबहुलः" इति वाक्यकथनाद्, अत्रापि धर्मएव परामृष्यतइति तथा इति अर्थः ॥४७॥

लेखः

मा रोदीद् इत्यस्य आभासे **ततः एकपुत्रमरण** इत्यादि. विषमबुद्धेः निन्द्यत्वेन समबुद्धेरेव ऊरीकार्यत्वाद् इति अर्थः. एवञ्च समबुद्धौ सत्यां द्रौपद्याः स्वपुत्रमरणक्लेशमध्यएव यदि तत्पुत्रमरणं तदा द्विगुणक्लेशः इति अर्थः. अत्र दृष्टान्तत्वेन **एकपुत्र** इत्यादि उक्तम्. **अन्यः** इति द्वितीयः पुत्रादिः इति अर्थः ॥४७॥

---

१. विषयधियेति ग-घ.

गौतमी इति ऋषिवंशोद्भवत्वात् तद्रोदने महान् अनर्थः इति सूचितम्. स्वरूपतोऽपि सा महती, तद् आह **पतिदेवता** इति. पतिव्रतायाः नयनजलं भूमौ पतेत् चेत् तदा निर्वीर्या भूमिः[१] भवति इति प्रथा. ननु पतिव्रता सर्वतत्त्वज्ञा अतो न रोदनं करिष्यति इति, तत्र आह **यथा अहम्** इति. विषयएव तादृशो, न तत्त्वज्ञानेन निवर्तते इति अर्थः. यथा वह्नेः दाहकत्वे ज्ञातेऽपि दाहे वेदना भवत्येव इति भावः ॥४७॥

यैः कोपितं ब्रह्मकुलं राजन्यैरजितात्मभिः ॥
तत्कुलं प्रदहत्याशु सानुबन्धं शुचार्पितम् ॥४८॥

धर्मस्तु ईश्वराविरोधी भवति. तत्र धर्मप्रवर्तकत्वाद् ब्राह्मणाः ईश्वरा एव. तत् चेद् (**अजितात्मभिः राजन्यैः कोपितं!**) अन्यैः क्षत्रियादिभिः कोपयुक्तं क्रियेत तदा अन्येषां **कुलं सानुबन्धं** (**प्रदहति!**) विनाशयति[२] इति महताम् उपदेशाद् इदं वाक्यं महत्. महद्वाक्याविरोधेन च धर्मः कर्तव्यः इति. तस्मात् शीघ्रं मुच्यताम् इति सिद्धम् ॥४८॥

सूतस्तु द्रौपदीवाक्यम् अनूद्य सर्वसम्मत्या तत्तथा इति स्थापयति **धर्म्यम्** इति द्वाभ्याम्.

॥ सूतः उवाच ॥

धर्म्यं न्याय्यं सकरुणं निर्व्यलीकं समं महत् ॥
राजा धर्मसुतो राज्ञ्याः प्रत्यनन्दद् वचो द्विजाः ॥४९॥
नकुलः सहदेवश्च युयुधानो धनञ्जयः ॥
भगवान् देवकीपुत्रो ये चान्ये याश्च योषितः ॥५०॥

धर्माद् अनपेतं **धर्म्यम्**, एवं **न्याय्यं**, **निर्व्यलीकं** निष्कपटं, **समं** समबुद्ध्या उक्तं, **महद्** राजवद् उक्तम् —एवं वाक्ये[३] षड्गुणाः तत्र तत्रैव निरूपिताः. प्रथमतो राज्ञो अभिनन्दने हेतुः (**धर्मसुतः!**) धर्मपुत्रः

प्रकाशः

यैः कोपितम् इति श्लोकं व्याकुर्वन्ति **धर्मस्तु** इत्यादि. **तत् चेद्** इति, ब्रह्मकुलं चेद् इति अर्थः ॥४८॥

---

१. भूर्भवतीति ग. २. विनश्यतीति क-ग-घ. ३. वाक्यै इति ग. वाक्ये इति नास्ति ख.

इति. इयमपि (**राज्ञी!**) तद्भार्येति तथा आह. अत्र सम्मत्यर्थं **द्विजाः** इति सम्बोधनम्. **नकुलः सहदेवश्च** इति **च**कारात् तथा. **युयुधानः** सात्यकिः अर्जुनशिष्यः (**धनञ्जयः!**) अर्जुनश्च. गुरु-शिष्ययोः एकत्र सम्मतिकथनं तथैव धर्मनिर्णयः इति ख्यापनार्थम्. भगवतो अत्र अभिनन्दनं भक्तकृपया, तद् आह (**देवकीपुत्रः!**) देवकीनन्दनः इति. सर्वत्र 'देवकीनन्दन'पदं भक्तवश्यता-ज्ञापनार्थम्. सर्वजनीनो अयं धर्म इति ख्यापयितुं सर्वस्त्रीपुरुषाणां सम्मतम् इति आह **ये च अन्ये** इति. **योषित्**पदम्[१] अतिमूढत्वख्यापनार्थम्[२] अतो न पुनरुक्तिः ॥४९-५०॥

धर्मो द्विविधः— तत्त्वसहितः प्रमाणसहितश्च इति. तत्र प्रामाणिकाः व्यवहारे तत्त्वसहितं धर्मं न मन्यन्ते. तत्र प्रमाणे मूलम् आसन्यः, सूत्रात्मकत्वात्. अतः सूत्रभूत-वाय्ववतारो भीमो द्रौपद्युक्तं तत्त्वसहितं धर्मम् अनङ्गीकृत्य स्वयं स्वतन्त्रधर्मनिरूपणेन तद्वधार्थं प्रवृत्तः इति आह **तत्रे**ति.

तत्राहामर्षितो भीमस्तस्य श्रेयान् वधः स्मृतः ॥
न भर्तुर्नात्मनश्चार्थे योऽहन् सुप्तान् शिशून् वृथा ॥५१॥

अधर्मप्रतिपक्षत्वात् क्रोधः. दर्शनेनैव दैत्यभयं जनयति इति **भीमः**. **तस्य** रक्षणापेक्षया **वध**एव **श्रेयान्**. यतो[३] अयं निशि **वृथैव सुप्तान्**

प्रकाशः

तत्राह इत्यत्र. **तत्त्वसहितः** इति. तत्त्वम् अनारोपितं रूपं, तेन युक्तः. **प्रामाणिकाः** इति प्रमाणपर्यवसित-मतयः. सूत्रात्मकत्वे क्रोधो न युक्तः इत्यतः आहुः **अधर्मे**त्यादि. भीमवचनस्य अर्थम् आहुः **तस्य** इत्यादि ॥५१॥

लेखः

नकुलः सहदेवश्च इत्यत्र. **चकारात्तथा** इति, सम्मतिकथनार्थम् इति अर्थः. **पुनरुक्तिः** इति. **अन्ये** इति पदेनैव सङ्ग्रहस्य प्राप्तत्वात् पुनः **योषित्**पदग्रहणे पुनरुक्तिः इति अर्थः ॥५०॥

१. योषित्पदमपीति ग-घ-ङ. २. -ज्ञापनार्थमिति क-ग. ३. यतोऽहमिति ग.

शिशून् अहन्[१]. एवम् अन्यदपि अविचारितं करिष्यति इति वधः[२] श्रेयान् इति अर्थः ॥५१॥

भगवांस्तु उभयरूपं धर्मम् उक्तवान् इति द्रौपदी-भीमयोः परस्परविरोधे उभयसमाधानार्थं क्रियाशक्तिद्वयाविर्भावाय भुजचतुष्टयाविर्भावं कृतवान् इति आह **निशम्य** इति.

निशम्य भीमगदितं द्रौपद्याश्च चतुर्भुजः ॥
आलोक्य वदनं सख्युरिदमाह हसन्निव ॥५२॥
॥ श्रीभगवान् उवाच ॥
ब्रह्मबन्धुर्न हन्तव्यो ह्याततायी वधार्हणः ॥
मयैवोभयमाम्नातं परिपाह्यनुशासनम् ॥५३॥

चतुर्भुजो जातः इति भिन्नं वाक्यम्.

''परस्परविरोधे[३] हि न प्रकारान्तरस्थितिः ।
न एकतापि विरुद्धानामुक्तिमात्रविरोधतः[४]'' (न्यायकुसु. ३।८) ॥(८)॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

निशम्य इत्यत्र. **परस्पर** इति. विहितप्रतिषिद्धस्थले **उक्तिमात्रविरोधतो** हेतोः **विरुद्धानां** पदानां **परस्परविरोधे** सति **प्रकारान्तरस्य** तृतीयपक्षस्य **स्थितिः न, एकता** एकपक्षस्थितिः **अपि न,** किन्तु तदेव पक्षद्वयमपि विकल्पेन स्थाप्यते. अहि-नकुलयोरिव स्वरूपविरोधे तु अहिः नकुलं भक्षयति इति एकएव तिष्ठति अतो **मात्रपदम्**. तथाच पक्षद्वयस्थापनार्थं चतुर्भुजो जातः इति अर्थः ॥५२-५३॥

प्रकाशः

निशम्य इत्यत्र. **उक्तवान्** इति, पूर्ववाक्य-प्रतिनन्दनसूचितवाक्याभ्यां कथितवान्. **भिन्नं वाक्यम्** इति. भगवत्कृत-प्रतिनन्दनकथनोत्तरं **चतुर्भुज**पदप्रयोगादेव अवगन्तव्यम् इति शेषः. **न एकतापि विरुद्धानाम्** इति. **विरुद्धानां** वाक्यानाम् **एकतापि** एकवाक्यतापि **न** इति अर्थः.

---

१. अहनदिति ग. २. भाव इति ग.

३. परस्परविरोध इति क-ग-घ-ङ. ४. विरोध इति ग.

इति परस्परकार्याजननाय[१] स्वयं तावेव स्तम्भितवान्. अर्जुनस्तु (**सख्युः!**) सख्यपर्यन्तम् [२]आगतइति तं[३] ज्ञापयितुं (**वदनम् आलोक्य!**) तन्मुखं विलोक्य स्वाभिप्रायम् **आह.** अर्जुनोऽपि मोहितइव जातइति **हसन्निव** (इति!) उक्तम्, अन्यथा द्रौपदीवाक्यस्य अभिनन्दितत्वात् सन्मानं कृत्वैव तं विसृजेत् तथाच अग्रिमानर्थो न भवेत्. भीमवाक्यं वा श्रुत्वा मारयेत् तथापि न अनर्थो भवेत्. अतः[४] उभयाकरणाद् भगवान् मोहयन्निव आह— एकं[५] चेत् न करोषि तर्हि उभयात्मकं कुरु. ननु विरुद्धं कथम् उभयं कर्तुं शक्यम् इति चेत्? तत्र आह **मयैव उभयम् आम्नातम्** इति. भगवता हि उभयात्मकं वस्तु दृष्ट्वा उभयम् आम्नातम्, अन्यथा अनाप्तत्वप्रसङ्गात्[६]. तज्ज्ञात्वा मया समाम्नातम्. तज्ज्ञात्वा मत्सखित्वात् त्वयापि कर्तव्यम्, अन्यथा सखित्वं न स्याद् इति अभिप्रायेण आह **परिपाहि अनुशासनम्** इति, परिपालय मदाज्ञाम् ॥५२-५३॥

एतावता सर्वेषां सम्मतं भविष्यति इति आह.

कुरु प्रतिश्रुतं सत्यं यत् तत् सान्त्वयता प्रियाम् ॥
प्रियं च भीमसेनस्य पाञ्चाल्या मह्यमेव च ॥५४॥

कुरु प्रतिश्रुतम् इति. स्वप्रतिज्ञा शिरसः समाहरणे, तत् शिरोमणिहरणेन पालितं भविष्यति. **भीमसेनस्य प्रियं** वधेन[७], तद् वपनादिना पालितं भवति. (**पाञ्चाल्याः!**) द्रौपद्याः **च प्रियं** मोचनेन, तदपि तेनैव पालितं

प्रकाशः

परस्परेत्यादि. ताभ्यां वाक्याभ्यां सम्भूय एक**कार्यजननाय तावेव** तदुभयवाक्यार्थावेव **स्तम्भितवान्** स्थापितवान् इति अर्थः. **आह** इति, भगवान् आह इति अर्थः. **मयैव उभयम्** इत्यत्र. **ज्ञात्वा मया समाम्नातम्** इति. द्रौपदी-भीमहार्दं ज्ञात्वा समाम्नातं, नतु शास्त्रत्वेन इति अर्थः ॥५२-५३॥

॥ इति श्रीप्रथमस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे सप्तमाध्यायविवरणम् ॥

---

१. परस्य कार्य्येत्यादि ख. परस्परकार्यजननाय इति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु भा.पाठानुरोधाद् - सम्पा.

२. समागत इति ख. ३. तमिति नास्ति ख. ४. ततो उभयेत्यादि ख.

५. एवमिति ग. ६. अनात्मत्वेत्यादि क-ग. ७. बन्धेनेति ख.

भविष्यति[1]. **मह्यं च प्रियम्** उभयात्मककरणेन ॥५४॥

भगवत्कृपया अर्जुनः सर्वरूपम् एकं ज्ञात्वा तथा कृतवान् इति आह द्वाभ्याम् **अर्जुनः** इति.

॥ सूतः उवाच ॥

अर्जुनः सहसाज्ञाय हरेर्हार्दमथासिना ॥
मणिं जहार मूर्धन्यं द्विजस्य सह मूर्धजैः ॥५५॥
विमुच्य रशनाबद्धं बालहत्याहतप्रभम् ॥
तेजसा मणिना हीनं शिबिरान्निरयापयत् ॥५६॥

कृपाहेतुत्वात् **सहसा** इति. **अथ** तदनन्तरमेव विमोचनात् पूर्वम् **असिना** खड्गेन (**मूर्धन्यं मणिं**!) शिरसः चूडामणिं (**मूर्धजैः सह**!) शिखासहितं **द्विजस्य** (**जहार**!) हृतवान्. इदं हि उभयात्मकं, तद् अग्रे वक्ष्यते, त्र्यङ्गत्वाद्[2] उभयात्मकस्य. तृतीयम् आह **विमुच्य** इति. पूर्वं **रशनाबद्धम्**[3]. तस्य तूष्णीम्भावे हेतुः **बालहत्याहतप्रभम्** इति, **तेजसा मणिना हीनम्** इति. तृतीयसमीपे द्वयोः अनुवादः. **शिबिरात्** स्वकटकात्

लेखः

अर्जुनः सहसा इत्यत्र. **तदग्रे वक्ष्यते** इति. ‘‘वपनं द्रविणाऽऽदानम्’’ (श्लो. ५७) इत्यनेन अनुपदं वक्ष्यते इति अर्थः. **त्र्यङ्गत्वाद्** इति. एकम् अङ्गं ‘‘कुरु प्रतिश्रुतं सत्यम्’’ इति, द्वितीयं ‘‘प्रियं च भीमसेनस्य’’ इति, तृतीयं ‘‘पाञ्चाल्याः’’ इति. **विमुच्य** इत्यत्र. **तृतीयमाह** इति. भीमोक्तमारणस्य अनुकल्पं, द्रौपद्युक्तं सर्वथा दैहिकदण्डाभावं च उक्त्वा तृतीयं ‘‘मुच्यतां मुच्यतामेष’’ (श्लो. ४३) इत्यनेन उक्तं मोचनम् आह इति अर्थः. **तस्य तूष्णीम्भावे** इति. ननु रशनायाः मोचने सति शूरत्वात् कथं तूष्णीं स्थितः इत्यत्र **बालहत्याहतप्रभम्** इति **तेजसा मणिना हीनम्** इति च विशेषणद्वयानुवादएव मोचनसमीपे, अतो **हेतुत्वेन** तद् ज्ञेयः इति अर्थः ॥५२-५३॥

॥ इति श्रीप्रथमस्कन्धे सुबोधिनीव्याख्याने सप्तमोऽध्यायः ॥

१. भवतीति ग-घ-ङ. २. त्रिशृङ्गत्वादिति ख. त्रिसङ्गत्वादिति ग-घ-ङ. ३. रसनाबद्धमिति ख.

निरयापयद् इति सतां स्थानात् निर्यापणेन सर्वत्रैव सत्सु तस्य प्रवेशो न भविष्यति इति ज्ञापितम् ॥५५-५६॥

कृतस्य सर्वरूपस्य तथात्वं विवृणोति **वपनम्** इति.

वपनं द्रविणादानं स्थानान्निर्यापणं तथा ॥
एष हि ब्रह्मबन्धूनां वधो नान्योऽस्ति दैहिकः ॥५७॥

हि इति पूर्वोक्तप्रमाणादयो अनुसन्धेयाः. **ब्रह्मबन्धूनां** दैत्यांश-ब्राह्मणानाम्. **दैहिको** देहच्छेदनात्मकः ॥५७॥

प्रासङ्गिके गते प्रस्तुतम् उपसंहरति **पुत्रेति**.

पुत्रशोकार्दिताः सर्वे पाण्डवाः सह कृष्णया ॥
स्वानां मृतानां यत्कृत्यं चक्रुर्निर्हरणादिकम् ॥५८॥

॥ इति श्रीभागवत-प्रथमस्कन्धे सप्तमोऽध्यायः ॥

॥ इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मज-श्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां प्रथमस्कन्धे सप्तमोऽध्यायः ॥

॥ इति सप्तमोऽध्यायः ॥

॥ अथ अष्टमोऽध्यायः ॥

एवं हि सर्वभक्तानां भगवद्वाक्यनिष्ठता[१] ॥
सर्वहेतुकथायै च[२] सप्तमे विनिरूपिता[३] ॥(१)॥

प्रकाशः

अथ अष्टमाध्यायं विवरिषवः सङ्गतिं वक्तुं द्वयोः अर्थम् आहुः **एवम्** इत्यादि द्वाभ्याम्. **एवम्** उक्तप्रकारेण या **सर्वभक्तानां भगवद्वाक्यनिष्ठता निरूपिता** सा **सर्वहेतुकथायै** सर्वेषां मनोरथपूरणे यो हेतुः भक्तिरूपः तत्कथनार्थं निरूपिता. **च**कारेण सूतोक्तावपि हेतुनिरूपणेन तत्रापि श्रीभागवतप्रतिष्ठाहेतुभूतं यत् परीक्षितो भगवदीयत्वं, तत्रापि हेतुः तत्पूर्वजानां वैष्णवत्वं, तत्कथनार्थं निरूपिता. अष्टमे वाक्यकरणफलं सूतोक्तौ वैष्णवत्वदार्ढ्याय विनिरूप्यते इति शेषः. अत्र इदं बोध्यं— चतुर्थाध्याये शौनकादिभिः श्रीभागवतविषयकः तत्कर्तृविषयको वक्तृविषयकः श्रोतृविषयकश्च

लेखः

पूर्वोत्तराध्यायसङ्गतिं वदन्तो पूर्वाध्यायार्थम् अनुवदन्ति **एवं हि** इति. **सर्वेषां** अर्जुन-द्रौपद्यादीनां **भक्तानां भगवद्वाक्यनिष्ठता** उक्ता इति अर्थः. तथा वेदव्यासस्यापि समाधिभाषाद्वारा भगवद्वाक्यनिष्ठता उक्ता ज्ञेया. पूर्वं प्रतिज्ञातं सामान्यहेतुत्रयमपि निरूपितमिति अभिप्रायेण प्रयोजनं वदन्ति **सर्व** इति. पूर्वं प्रतिज्ञाताअपि **सर्वे हेतवो** सामान्यरूपाः त्रिविधाः तत्**कथायै** तत्कथनार्थं **भगवद्वाक्यनिष्ठता विनिरूपिता** इति अर्थः. **सर्वहेतुकथायै च** इति. अयमर्थः— वेदव्यासस्य भगवद्वाक्यनिष्ठत्व-निरूपणेन भागवतस्य उत्पत्ति-प्रवृत्तिरूपं उत्तमप्रक्रियोत्पत्तौ हेतुद्वयं निरूपितम्. तथा अर्जुनादीनां भगवद्वाक्यनिष्ठत्वेन परीक्षितो रक्षा-वैष्णवत्वादिप्रकटनं च उत्तमप्रक्रियासाधकः तृतीयो हेतुः इति हेतुत्रयकथनार्थमेव सर्वभक्तानां भगवद्वाक्यनिष्ठता निरूपिता इति (१).

---

१. भगवद्वाक्यनिष्ठतामिति क-ग-घ-ङ. २. कथायैवेति मुद्रितपाठः. गृहीतपाठस्तु घ-ङ-प्रकाशे-लेखे -सम्पा. ३. विनिरूपितमिति क-ग-घ-ङ.

अष्टमे यस्य वाक्यस्य करणाद्यद्धि जायते ॥

प्रकाशः

इति चत्वारः प्रश्नाः कृताः. तन्मध्ये प्रथमस्य उत्तरम् अग्रिमस्कन्धैः वक्तव्यम्. द्वितीयस्य उत्तरं ''द्वापरे समनुप्राप्ते'' (भाग.पुरा. १।४।१४) इत्यारभ्य ''शुकमध्यापयामास निवृत्तिनिरतं मुनिः'' (भाग.पुरा. १।७।८) इत्यन्तैः साधिकैः त्रिभिः अध्यायैः उक्तं, तदवान्तरप्रश्नोत्तरं च उक्तम्. ततः तृतीयस्यतु कथनाध्ययनभेदेन वारद्वयं प्रश्नेऽपि सप्तमाध्याये अध्ययनविषयकस्य उत्तरएव ''नित्यं विष्णुजनप्रियः'' (भाग.पुरा. १।७।११) इत्यनेन कथनविषयकस्यापि उत्तरं सूचितम्. अतः परं चतुर्थो अवशिष्यते. सतु जन्म-कर्म-प्रायोपवेशहेतु-प्राणत्यागविषयत्वेन चतुर्धा. तत्र जन्मनो महाश्चर्यत्वस्य तैः ज्ञातत्वात् तत्र हेतुः वक्तव्यः, अन्यथा विशेषणस्य अपार्थत्वप्रसक्तेः. एवञ्च तद्धेतुः महाश्चर्यत्वहेतुः भगवदीयत्वं, तत्रापि हेतुः पूर्वजानां वैष्णवत्वं, तत्रापि प्राथमिकः तद्धेतुः सर्वेषां भगवद्वाक्यनिष्ठत्वरूपएव सप्तमे सिद्धइति सो अत्र अनूदितः. तेन अत्र सूतोक्तौ हेतु-हेतुमद्भावः एवंप्रकारकः इति बोधितम्. पूर्वन्तु व्यासोक्तसङ्गति-प्रदर्शनाय भक्तमनोरथपूरकत्वम् अर्थः उक्तइति न पूर्वोत्तरविरोधः अत्र[१]. अतएव अत्र **कथायै च** इति **च**कारो भक्तमनोरथपूरकत्वेऽपि भगवद्वाक्यनिष्ठत्वस्य हेतुतासूचनाय उक्तः इति. एवम् अष्टमाध्यायार्थेऽपि द्रष्टव्यम्. **आह** इति. यत्-तदोः नित्यसम्बन्धात् तद् आह इति अर्थः. अत्र एकं षोडशश्लोकैः सेत्स्यति, तदनन्तरन्तु द्वितीयं पृथास्तोत्रान्तैः सेत्स्यति, शेषानुतापकथातु एतदुपोद्घातत्वेन इति सूतोक्तौ प्रासङ्गिकी भगवत्कथा. व्यासोक्तौतु सर्वदुःखनिवृत्तिपूर्वक-भक्तिप्रदत्वम् इति बोद्धव्यम्. एवम् अग्रिमाध्यायेऽपि (१-२).

लेखः

ननु अर्जुनादीनां भगवद्वाक्यनिष्ठतायां कथं परीक्षितो रक्षा सिद्धा इत्यत्र प्रकारं वदन्तः प्रकृताध्यायार्थम् आहुः **यस्य वाक्यस्य** इति. **यस्य वाक्यस्य करणाद्** पालनाद् **यद्धि जायते** तत्रतु अर्थे **दोषश्चेद् जायते**

१. कि.पाठे अधिकं ; मुद्रिते नास्ति - सम्पा.

दोषश्चेत्तत्समाधानं गुणश्चेदाह[1] पोषणम् ॥(२)॥

पूर्वाध्यायान्ते[2] अश्वत्थाम्नो अपमाननं निरूपितम् अनिवर्त्यब्रह्मास्त्र-प्रक्षेपहेतुत्वेन. अष्टमेतु पदार्थचतुष्टयं निरूप्यते भगवतो अद्भुतकर्मनिरूपणाय — ब्रह्मास्त्रदाहः, तस्य रक्षा, ततो अद्भुतकर्मनिर्णयस्तोत्रं, ततो अद्भुतकर्म. तत्र प्रथमं ब्रह्मास्त्रप्रसङ्गम् आह.

॥ सूतः उवाच ॥

अथ ते सम्परेतानां स्वानामुदकमिच्छताम् ॥
दातुं सकृष्णा गङ्गायां पुरस्कृत्य ययुः स्त्रियः ॥१॥
ते निनीयोदकं सर्वे विलप्य च भृशं पुनः ॥
आप्लुता हरिपादाब्जरजःपूतसरिज्जले ॥२॥

अथ इति. शुद्ध्यनन्तरं हि संस्कारः कर्तव्यः, साच शुद्धिः बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विधेति प्रथमं बाह्यं शौचम् आह द्वयेन. मृतानां प्रेतत्वविमोके हि जीवतां शौचम्. ततः तेषां प्रथमं तद्विमोकहेतुक्रियाम् आह. दाहं कुरुक्षेत्रएव कृत्वा हस्तिनापुरे जलदानार्थं सर्वे गताः. ब्रह्मदण्डहताअपि यज्जलस्पर्शमात्रेण विमुच्यन्ते तत्र धर्मयुद्धे हता मुच्यन्ते इति किं वक्तव्यम्! ''प्रत्तं जलं त्र्यञ्जलमात्मजेन प्रेतस्य तापं प्रशमं[3] करोति'' (. । ।) इति तापापनोदनार्थं जलम् अपेक्ष्यते. तथाच मूलभूत-तापत्रय-निराकरणार्थमपि एकहेलया जलं देयम् इति निश्चित्य **गङ्गायां** (**ययुः**!) गताः इति निरूप्यते. **अथ** इति अवैरभावेन. **सम्परेतानाम्** इति सामान्यतः सर्वेषां, तत्रापि **स्वानां** बहुपुरुषसम्बद्धानामपि[4], तत्रापि

लेखः

तदा **तत्समाधानं** तेनैव कर्तव्यम् इति शेषः. **गुणश्चेत्** तदा तद्वाक्यस्य **पोषणं** भवति. अत्रच भगवद्वाक्येन एतन्मोचने सति गर्भदाहइति तत्समाधानं भगवतैव कर्तव्यम्. **अष्टमे आह** पोषणं च आह इति अर्थः. ''विषान्महाग्नेः पुरुषाददर्शनाद्'' (श्लो. २३) इत्यादिना पोषणं ज्ञेयम् (२).

---

१. गुणत्वे दाहेत्यादि घ-ङ. २. पूर्वाध्याये इति ख-ग.

३. प्रथममिति क-ङ. ४. सम्बन्धानामिति ग.

(**उदकमिच्छतां!**) उदकदायिना[१] (सह!) [२]सप्तमपुरुष-सम्बद्धानाम्. तेषां मुक्तिदानार्थं[३] भगवता सह इति **सकृष्णा** इति उक्तम्. **स्त्रियः पुरस्कृत्य** इति लोकाचारः. **उदकं निनीय** प्रेतेभ्यो जलं दत्वा, "रोदनप्रियाः पितरः" (.   । ।) इति **विलप्य.** येषां[४] न खेदः तेऽपि विहितत्वात् **सर्वे**ऽपि विलापं[५] कृतवन्तः! **भृशम्** इति पुनर्विलापाभावाय. **च**काराद् अन्यदपि कर्तव्यं कृत्वा. पूर्वं जलदानार्थं कृतस्नानाअपि **पुनः** सर्वशुद्ध्यर्थं भक्त्यर्थं ज्ञानाधिकारार्थञ्च गङ्गायां स्नातवन्तः इति आह **आप्लुता** इति. यद्यपि पूर्वमेव "तच्चरणपङ्कजाऽवने जनाऽरुणकिञ्जल्कोपरञ्जिता" (भाग.पुरा. ५।१७।१) इति वचनाद् "धातुः कमण्डलुजलम्" (भाग.पुरा. ८।२१।४) इति वचनाच्च सर्वमेव गङ्गाजलं तादृशं भवति तथापि नदीत्वेन जलान्तरस्पर्श-सम्भावनया पूर्वस्नातजलं तादृशं भवति न वा इति सन्दिह्य (**हरिपादाब्जरजःपूतसरिज्जले!**) उपरिभागे[६] भगवन्तं स्थापयित्वा तच्चरणोदकेन स्नातवन्तः इति अर्थः. अनेन ते तदीयाः इति सर्वथा ज्ञापितम् ॥१-२॥

एवं सर्वकर्तव्ये[७] कृते तादृशेषु भगवता यत् कर्तव्यं तद् आह **तत्रासीनम्** इति द्वाभ्याम्.

तत्रासीनं कुरुपतिं धृतराष्ट्रं सहानुजम् ॥
गान्धारीं पुत्रशोकार्तां पृथां कृष्णां च माधवः ॥३॥
सान्त्वयामास मुनिभिर्हतबन्धून् शुचार्दितान् ॥
भूतेषु कालस्य गतिं दर्शयन्नप्रतिक्रियाम् ॥४॥

आसीनम् इति अव्यग्रत्वाय. **कुरुपतिं** युधिष्ठिरम्. **सहानुजं** विदुरसहितं भीमादिसहितं वा. तीर्थाटनकथा कल्पान्तरीया. स्त्रियः सर्वाएव पुत्रशोकार्ताः अतः **पुत्रशोकार्ताम्** इति विशेषणं सर्वत्र. **कृष्णा** द्रौपदी, **च**कारात् सुभद्रादयः. स्त्रीणां सान्त्वने हेतुः **माधवः** इति. मायाः धवः, सर्वासामेव

---

१. उदकदायिनाम् इति मुद्रितपाठः. भा.पाठे तु एवम् - सम्पा. २. सप्तपुरुषेति ख-ग-घ. ३. मुक्तिं दापनार्थमिति ख. ४. येष्वपि येषामिति क-ग. ५. विलापनम् इति मुद्रितपाठः. भा.पाठे तु एवम् - सम्पा. ६. भागेनेति ग. ७. स्वकर्तव्य इति ग.

लक्ष्म्यंशत्वात्. सान्त्वनं वस्तुयाथात्म्य-ज्ञापनेन. **मुनिभिः** इति संवादार्थम्. (**हतबन्धून्!**) हताः बान्धवाः येषाम्. शोकापनोदनं तत्त्वज्ञानाद् भवति. ननु ईश्वरेण सान्त्वनम् अनुचितं सर्वकर्तृत्वाद् इति आशङ्क्य– स्थापितकालरूपाधिकारिणः तद्गृहे[१] जातेषु दण्डादिकम् ईश्वरस्यापि अप्रतीकार्यं, न हि स्त्री-पुत्रादिताडने राजदण्डो भवति– कालस्यापि भक्तत्वात् कदाचिद्[२] भक्तानपि उपेक्षते इति[३] सिद्धान्तम् आह **भूतेषु** इति, काले जातेषु. कलयति इति **कालः**. **गतिं** प्रवृत्तिम्. (**अप्रतिक्रियाम्!**) न विद्यते प्रतिक्रिया यस्याः ॥३-४॥

एवमपि तदानीम् अक्रियमाणमपि भक्तानां हितमेव करोति इति ज्ञापयितुं लौकिकप्रतीत्यापि यद् हितं तत् करिष्यमाणमपि भगवदिच्छायां जातायां कृतमेव, लोके न अभिव्यक्तम्, इति सिद्धान्तज्ञापनार्थं तद्

लेखः

भूतेषु कालस्य गतिम् इत्यत्र. **सर्वकर्तृत्वाद्** इति. तथाच इदं भारतकार्यं स्वेनैव कृतं, पुनः स्वयं कृतस्य स्वेनैव सान्त्वनं कापट्यमिव भवति[४] इति आशङ्कायां स्वकीया मूलेच्छा स्वे मनाद् मथयितुं शक्या इति आशयेन उत्तरार्धं व्याकुर्वन्ति **स्थापित** इति. सर्वनियन्त्रा भगवता नियमनार्थं **स्थापितो** यः **कालरूपो अधिकारी** ततः सकाशात् **तद्गृहे** कालनिर्मित-पञ्चमहाभूतात्मशरीरे **जातेषु** उत्पन्नेषु जीवेषु **दण्डादिकं** भवति चेत्, तद् **ईश्वरस्याऽपि अप्रतीकार्यं,** मूलेच्छायाः प्रबलत्वाद् इति अर्थः. ननु पाण्डवानां भक्तत्वात् कथं तत्र कालप्रभवः इत्यतः आह **भक्तानप्युपेक्षते** इति ॥४॥

साधयित्वा इत्याद्यस्य आभासे **एवमपि** इति. तत्क्रियमाणं भारत (युद्ध!) आदिकार्यम् अहितमिव क्रियमाणं न भवतीति भासमान**मपि** तद्धितमेव, यतो भगवान् **भक्तानां हितमेव करोतीति ज्ञापयितुं** राज्यादिफलाय इति अर्थः. **करिष्यमाणमपि** सामीप्यात् कृतप्रायमेव. "शिरो वा एतद्

---

१. तद्गृहेष्विति क. २. कदाचिदपीति क-ख.

३. इमां सिद्धान्ततामिति क-घ-ङ. इमं सिद्धान्तमिति ख. ४. भाति इति त.पाठे -सम्पा.

निरूपयति **साधयित्वा** इति द्वाभ्याम्.

साधयित्वाजातशत्रोः स्वं राज्यं कितवैर्हृतम् ।।
घातयित्वासतो राज्ञः कचस्पर्शक्षतायुषः ।।५।।
याजयित्वाश्वमेधैस्तं त्रिभिरुत्तमकल्पकैः ।।
तद्यशः पावनं दिक्षु शतमन्योरिवातनोत् ।।६।।

(अजातशत्रोः!) न जाताः शत्रवो यस्य इति भक्तौ उत्तमाधिकारो द्योतितः. दाने हेतुः **स्वं राज्यम्**[१] इति. तत्रापि हेतुः **कितवैः हृतम्** इति, कपटद्यूते दुर्योधनादिभिः हृतम्. हस्तिनापुर-राज्यमपि तथा, पाण्डोरेव राजत्वात्[२]. अतएव **कितवैः** इति बहुवचनम्. ननु कालस्य अप्रतिक्रियत्वे तेषाम् आयुषो विद्यमानत्वात् कथं तद्घातनम्? तत्र आह **घातयित्वा** इति. सर्वे हि **(असतो राज्ञः!)** असन्तो राजानः, दुःशासनेन सह ऐक्यभावात्. **कचस्पर्शो** द्रौपद्याः, तेनैव **क्षतम् आयुः** सर्वेषाम्. निरपराधायाः भक्तायाः प्राणानाम् उत्तमत्वाद्[३] आयुषः शिरसि विद्यमानत्वाद् बलिष्ठप्राणेन

प्रकाशः

घातयित्वा इत्यत्र. कचस्पर्शमात्रेण कथम् आयुषः क्षयः इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **निरपराधेत्यादि. प्राणानाम् उत्तमाद्** इति, आयतनाद् इति शेषः. "अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्" (बृहदा.उप. २।२।३) इति श्रुतिव्याख्याने "शिरो वै अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः प्राणा वै यश" इति श्रावणात् प्राणानाम् उत्तमायतनं शिरः,

लेखः

यज्ञस्य यद् हविर्धानं प्राणाः उपरवाः हविर्धाने खायन्ते तस्मात् शीर्षन् प्राणाः अधस्तात् खायन्त्यः" (तैत्ति.संहि. ६।२।११।१) इति तैत्तिरीये इति आशयेन **याजयित्वा** इत्यादि सो अनुवादः सर्वानुवादः इति भावः. व्याख्याने **उत्तमत्वादायुषः** इति. भक्तत्वाद् द्रौपद्याः तदायुषः सर्वोत्तमत्वात् प्राणानां च आयुःसाधकत्वाद् उत्तमाङ्गभूते **शिरसि विद्यमानत्वात्** तेषां च बलिष्ठत्वेन कचस्पर्शमात्रेण तथा इति अर्थः. ननु अश्वमेधस्य एकस्य

१. स्वराज्यमिति ख-ग. २. राज्यत्वादिति ख. ३. उत्तमादिति क-ग-घ-ङ-प्रकाशे - सम्पा.

दुर्बलानां क्षतकरणं युक्तमेव. "तरति मृत्युं तरति पाप्मानं तरति ब्रह्महत्याम्" (मुण्डकोप. ३।२।९) इति श्रुतेः आहारपृथक्त्वपक्षेण अश्वमेधत्रयकरणम्.

प्रकाशः

तत्प्राप्य आयुषः प्राणाधीनस्य तत्र तथात्वात् तथा इति अर्थः. **याजयित्वा** इति श्लोकं व्याचक्षते **तरति** इत्यादिना. रात्रिसत्राधिकरणेन आर्थवादिकफलस्य अत्र उपादेयत्वे सिद्धे **आहारपृथक्त्वपक्षेण** आहार आहरणं प्रयोगः, तत्पृथक्त्वपक्षस्य "तत्र सर्वेऽविशेषाद्" (पूर्वमी.जैमि.सूत्र ४।३।२७) इति अधिकरणे सिद्धत्वात् तेन इति अर्थः. इदं पूर्वतन्त्रे चतुर्थस्य तृतीयपादे चिन्तितम्. तथाहि "सार्वकाम्यमङ्गकामैः प्रकरणाद्" (पूर्वमी.जैमि.सूत्र ४।३।२५) इत्यस्मिन् अधिकरणे दर्शपूर्णमास-ज्योतिष्टोमादेः सर्वकामार्थत्वं सिद्धम्. तत्र कामाः नैमित्तिकाः, ज्योतिष्टोमादिस्वरूपं निमित्तम्. तच्च सर्वेषु कामेषु अविशिष्टमिति सकृद् ज्योतिष्टोमाद्यनुष्ठानेऽपि एकमिव अन्यान्यपि फलानि बाधकाभावाद् भवन्तीति युगपत्-सर्वफलसिद्धिः इति प्राप्ते, ब्रूमः— न अत्र ज्योतिष्टोमं निमित्तीकृत्य कामा विधीयन्ते, कामानाम् अननुष्ठेयत्वात्, किन्तु पुरुषस्य स्वतएव प्राप्तान् कामान् उद्दिश्य ज्योतिष्टोमादिः विधीयते. अतः तेषां स्वर्ग-पश्वादीनां परस्परनिरपेक्षाणामेव फलत्वात् तत्तत्साधनत्वेन चोद्यमानो ज्योतिष्टोमादिरपि तत्तदर्थं पृथक् प्रयोगम् अर्हति इति वाक्यविचाराद्

लेखः

कथं स्वर्गसाधकत्वं ब्रह्महत्यादिनिवारकत्वं वा इत्यतः आहुः **आहारपृथक्त्व** इति. आहरणम् आहारः प्रयोगः, तेन आहारपृथक्त्वपक्षेण इति अर्थः. यद् वा आहारः अध्याहारः, तेन पृथक्त्वपक्ष इति अर्थः. विध्यादिबोधकपदम् अध्याहृत्य पृथक्वाक्याङ्गीकारेण कर्मापि पृथगेव इति पक्षः इति यावत्. पूर्वतन्त्रे सार्वकाम्याधिकरणे "एकस्मै या अन्याः इष्टयः कामाय आह्रियन्ते सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासौ" (द्रष्ट. पूर्वमी.जैमि.सूत्र.का. ४।३।१०।२५) इति. अग्रे कर्तव्यादिपदाभावात् तत्तत्काम्यकर्मसु उपयोगमात्रेण तत्सिद्धफलोद्देशेन अनुवादो, नतु स्वातन्त्र्येण सर्वकामनायाम् उपयोगः इति प्राप्ते सिद्धान्ते 'कर्तव्यौ' इति पदम् अध्याहृत्य पृथगेव सर्वकामोद्देशेन दर्शपूर्णमासौ इति. एवमेव अश्वमेधादिवाक्यमपि इति अर्थः ॥५-६॥

उत्तमकल्पकैः उत्कृष्टसाधनसहितैः. उत्तमं वा कल्पयन्ति इति प्रायश्चित्तरूपैः. स्वसान्निध्यात् **त्रिभिः (अश्वमेधैः!)** एव **(शतमन्योरिव पावनं यशः अतनोत्!)** शताश्वमेधसमान-यशोजनकत्वम्. **(दिक्षु तद्यशः!)** त्रैलोक्येऽपि तस्य यशः. अनेन एकोपक्रमेण अश्वमेधत्रयं कृतम् इति ज्ञातव्यम् ॥५-६॥

एवं भगवतो अत्रत्य-लौकिकसर्वधर्मसमाप्ति-सूचनाय[१] अभ्यनुज्ञाम् आह सार्धेन.

आमन्त्र्य पाण्डुपुत्रांश्च शैनेयोद्धवसंयुतः ॥
द्वैपायनादिभिर्विप्रैः पूजितैः [२]अतिपूजितः ॥७॥
गन्तुं कृतमतिर्ब्रह्मन् द्वारकां रथमास्थितः ॥

आमन्त्र्य इति. बान्धवाः ऋषयश्च अभ्यनुज्ञाकर्तारः पृथग् उक्ताः. चकाराद् अन्ये सर्वे. **शैनेयः** सात्यकिः. **द्वैपायनादीनां** स्वस्थत्वाद् अभ्यनुज्ञा-तुल्ये (/तुल्यत्वे!) ऽपि पूजनम् अधिकम्. **ब्रह्मन्** इति, ब्राह्मणस्य महाक्रोधः[३] इति सूचितम्[४]. रथारोहणपर्यन्तं स्वक्रिया, अग्रे यन्तुः[५] अश्वानाञ्च ॥७॥

उपलेभेऽभिधावन्तीमुत्तरां भयविह्वलाम् ॥८॥

॥ उत्तरा उवाच ॥

पाहि पाहि महायोगिन् देवदेव जगत्पते ॥
नान्यं त्वदभयं पश्ये यत्र मृत्युः परस्परम् ॥९॥

भक्तस्य कार्ये उपस्थिते प्रारब्धमपि स्वकार्यं त्यजति इति ज्ञापयितुं तस्मिन् समये उत्तरां दृष्टवान् इति आह **उपलेभे** इति. सा हि भक्तोत्तरा[६], अतएव ब्रह्मास्त्रदर्शनं तस्याः प्रथमम्. मुख्यमेव अस्त्रम् आयसशरेण सम्बद्धम्

प्रकाशः

अवसीयते इति ॥५-६॥

---

१. समाप्तेरिति क. समाप्ते इति ग.   २. प्रतिपूजितः इति मुद्रितपाठः. के.का.शास्त्रिसंग्रहीतपाठभेदे सिन्धियाप्राच्यसंशोधनसंस्था स. ४७६६ मातृकानुरोधेन सुबोधिनीव्याख्यानुगुण्येन संशोधितः - सम्पा.

३. महान् क्रोध इति क. महत्क्रोध इति ग.   ४. सूचनमिति ख.

५. सारथेः इति अर्थः - सम्पा.   ६. भक्तावुत्तरेति ग. भक्ता उत्तरा उत्कृष्टेत्यर्थ इति घ.

उत्तरां प्रति गच्छति, तदनु तस्माद् उद्गताः पञ्च शराः पाण्डवान् प्रतिगच्छन्ति, मूलोच्छेदे अधिकव्यापाराद्, "अकौरववद् अपाण्डवमपि करिष्यामि" इति तस्य अभीष्टत्वात्. (**अभिधावन्तीम्!**) आभिमुख्येन[१] धावन्तीं, **भयविह्वलां** वस्त्रादिषु असावधानाम्. प्रारम्भाद्यभावाद्, आगच्छन्नेव **पाहि** इति वचनाद् 'आह' इत्याद्यनुक्तिः. तस्याः भयोद्विग्नायाः वाक्यम् आह **पाहि पाहि** इति. काय-वाग्भ्याम् एकार्थप्रतिपादनाय न कर्मनिरूपणं शब्दतः किन्तु आत्मानं प्रदर्शयन्ती[२] **पाहि** इति वचनाद् आत्मानं पाहि इति उक्तं भवति. **महायोगिन्** इति सामर्थ्यं प्रकारञ्च बोधयन्तीव[३] सम्बोधयति. सर्वात्मकत्वेन शरपक्षपातेऽपि साम्प्रतं देवहितकर्तृत्वेन तन्निराकरणं युक्तम् इति आह **देवदेवेति**. रक्षकाभावात् च अराजकराज्ये[४] सर्वरक्षार्थं च गर्भो रक्षणीयः इति सम्बोधयति **जगत्पते** इति. कथं श्वशुरादिषु[५] विद्यमानेषु मामेव प्रार्थयसे? इत्यतः आह **न अन्यम्** इति. जगति **त्वत्तो अन्यम् अभयं** भयरहितमेव **न पश्ये,** मृत्युव्याप्तत्वात्. अभीतो हि[६] शरणयोग्यः. किञ्च समानशीलव्यसनानां सख्यम् अपेक्ष्यते, तत्र **परस्पर**घातकत्वम् अत्याश्चर्यम्. ततो ज्ञायते "कश्चित् सर्वत्र आविष्टो मारयति" इति न तेषां शरणगमनं प्रयोजनाय[७] इति आह **यत्र मृत्युः** इति. अतः त्वमेव शरणार्हः इति भावः ॥८-९॥

प्रस्तुतम् आह **अभिद्रवति** इति.

प्रकाशः

उपलेभे इत्यत्र. **प्रारम्भाद्यभावाद्** इति. अत्र पाठः 'प्रावृत्याद्यभावाद्' इति भाति. **पाहि पाहि** इत्यत्र **आगच्छन्नेव** इत्यत्र 'आगच्छन्त्या एव' इति, **प्रदर्शयन्** इत्यत्र 'प्रदर्शयन्त्या' इति, **बोधयन्** इत्यत्र 'बोधयन्तीव' इति पाठो भाति. **इति उक्तं भवति** इति. यथा 'पिधेहि' इत्यादौ द्वारादिपदार्थस्य अभिनयेन प्रतीतिः तथा अत्रापि इति अर्थः ॥८-९॥

---

१. आभिमुखेनेति क-ग-ङ. २. प्रदर्शयन् इति मुद्रितपाठः. घपाठे तु एवम् - सम्पा.

३. बोधयन्निव इति मुद्रितपाठः. घपाठे तु एवम् - सम्पा. ४. अराजकराज्यमिति घ-ङ.

५. युधिष्ठिरादिष्विति ख. ६. अभितो हीति ख. ७. प्रयोजनापेक्षयेति क. प्रयोजनापेक्षेति घ.

अभिद्रवति मामीश शरस्तप्तायसो विभो ॥
कामं दहतु मां नाथ मा मे गर्भो निपात्यताम् ॥१०॥

ईशेति प्रतिक्रियायां, मूलज्ञाने च **विभो,** इति सम्बोधनद्वयम्. मृत्योः अप्रतीकार्यपक्षे सः मृत्युः **मां दहतु, मे गर्भो मा निपात्यताम्.** योगबलाद् गर्भं पालय. अनेन भक्तरक्षा गर्भरक्षैव मुख्या, न मद्रक्षा इति ज्ञापितम् ॥१०॥

॥ सूतः उवाच ॥

उपधार्य वचस्तस्या भगवान् भक्तवत्सलः ॥
अपाण्डवमिदं कर्तुं द्रौणेरस्त्रमबुध्यत ॥११॥

तप्तायसः शरः सत्यम् आगतः इति **तस्याः वचः उपधार्य** निश्चित्य. उपधारणे हेतुः **भगवान्** इति. प्रतिक्रियायां हेतुः **भक्तवत्सलः** इति. अपमानितो अश्वत्थामा तथा कृतवान् इति आह **अपाण्डवम्** इति. **इदं** जगद् **अपाण्डवं कर्तुं (द्रौणेः)** द्रोणाद् जातस्य **अस्त्रम् अबुध्यत** इति अर्थः. अथवा एतस्य ब्रह्मशिरसो यद् अस्त्रत्वं = क्षेपणधर्मत्वम् **अपाण्डवं कर्तुम्** इति उभयथापि पाण्डवनाशार्थम् अस्त्रं प्रयुक्तम् इति ज्ञातवान् इति अर्थः ॥११॥

तस्मिन्नेव समये व्यसनान्तरमपि आगतम् इति आह **तर्ह्येव** इति.

तर्ह्येव च मुनिश्रेष्ठ पाण्डवाः पञ्च सायकान् ॥
आत्मनोऽभिमुखान् दीप्तानालक्ष्यास्त्राण्युपाददुः ॥१२॥

तर्हि एव च इति अव्ययसमुदायः परमाश्चर्यबोधकः. **मुनिश्रेष्ठ** इति सम्बोधनं विश्वासात् संवादहेतुः. **पञ्च** इति उभयत्र सम्बद्धं, तथा सति एकैकः सायकः एकैकस्य स्थाने समागतः इति उक्तं भवति. **आलक्ष्य** दृष्ट्वा, द्रौणेः इति बुद्ध्वा वा. **अस्त्राणि उपाददुः** इति

प्रकाशः

अभिद्रवति इत्यत्र. **अप्रतीकार्यपक्षे** इति अप्रतीकार्यत्वपक्षे ॥१०॥

तर्ह्येव इत्यत्र. **उभयत्र** इति पाण्डवेषु सायकेषु च ॥१२॥

परलोकशुद्ध्यर्थं प्रतिक्रियार्थं वा. **अस्त्राणि** ब्रह्मास्त्रादीनि ॥१२॥

अत्र भगवतोऽपि प्रतिक्रियाऽसामर्थ्याद् दूरापास्तं पाण्डवानाम् इति वक्तुं भगवान् स्वभक्तानां रक्षामेव कृतवान्, न अस्त्रस्य प्रतिक्रियाम् इति आह **व्यसनम्** इति.

व्यसनं वीक्ष्य तत् तेषाम् अनन्यविषयात्मनाम् ॥
सुदर्शनेन स्वास्त्रेण स्वानां रक्षां व्यधाद् विभुः ॥१३॥

(अनन्यविषयात्मनाम्!) न[1] अन्यो विषयः आत्मनि येषां ; स्वभावेन सर्वे विषयाः भवन्तु नाम, चित्तेतु भगवल्लक्षणएव विषयः तेषाम् अस्ति. अतः "तद्धैतान्[2] भूत्वा अवति" (शतपथ ब्रा. १०।५।२।२०) इति विषयार्थमेव ते रक्षिताः. तत्र **सुदर्शन**चक्रम् अलातचक्रवत् शर-पाण्डवानां मध्ये परिभ्रमति अतः तेन तेषां **रक्षां (व्यधात्!)** कृतवान्. **स्वानाम्** इति तेषां रक्षायां हेतुः, **विभुः** इति सामर्थ्ये. **स्वास्त्र**पदेन बुद्धिपूर्वक-रक्षाकरणत्वं सुदर्शनस्य सूचितम् ॥१३॥

प्रधाने उत्तरागर्भे प्रकारान्तरेण रक्षाम् आह **अन्तःस्थः** इति.

प्रकाशः

व्यसनम् इत्यत्र. **दूरापास्तम्** इति, प्रतिकारकरणम् इति शेषः. **तद्धैनान्** इत्यादि. तथाच विषयरूपेण विषयार्थं रक्षिता इति अर्थः ॥१३॥

लेखः

तर्ह्येव च इत्यत्र. **परलोकशुद्ध्यर्थम्** इति. तत्तेजसः स्वाप्रतीकार्यत्वेन अस्त्रैः पराक्रमाभावेऽपि अयं मृत्युना परलोकभ्रंशो माऽस्तु इति स्वधर्मत्वेन अस्त्रग्रहणं, नतु विक्रमार्थम् इति अर्थः. अथवा अस्ति सामर्थ्यम् इति आशयेन पक्षान्तरम् आहुः **प्रतिक्रियार्थम्** इति ॥१२॥

व्यसनम् इत्यत्र. **न** इति. सूतः स्वविचारितम् आह यत् पाण्डवानां लोकरीत्या अन्ये विषयाः भवन्तु नाम, मच्चित्तेतु भगवानेव विषयः इति अर्थः ॥१३॥

---

१. नकारो नास्ति ग. २. तद्धैनानिति क-ङ-प्रकाशे - सम्पा.

अन्तःस्थः सर्वभूतानामात्मा योगेश्वरो हरिः ॥
स्वमाययावृणोद् गर्भं वैराट्याः कुरुतन्तवे ॥१४॥

गर्भं प्रविष्टस्य अर्थस्य गर्भस्य[१] रक्षार्थम् ''औषधे त्रायस्वैनम्'' (बोधा.श्रौ.सूत्र ६।२) इतिवद् **मायया (गर्भम् आवृणोद्!)** गर्भशरीरम् आवृतवान्. तत्र बहिःस्थितस्य आवरणं न सम्भवतीति तदर्थं चत्वारि विशेषणानि चतुर्विध-मायाव्याप्ति-प्रतिपादकानि. तत्र मध्यएव भगवान् स्थितः सुवर्णतेजोवत् तं पालयति इति आह **अन्तःस्थः** इति, सर्वभूतानां मध्ये स्थितः. किञ्च अन्यस्य अन्यपालनं सर्वथा न सम्भवतीति गर्भरूपो भूत्वा पालितवान् इति आह **सर्वभूतानाम् आत्मा** इति. किञ्च बहिरपि तच्छरीररक्षार्थम् आह **योगेश्वरः** इति. योगबलेन स्वयं तत्र प्रविश्य शरीरास्त्रयोः

प्रकाशः

अन्तःस्थः इत्यत्र. **ओषधे त्रायस्वैनम् इतिवद्** इति. दीक्षणीयायां दीक्षाङ्गत्वे विहिते केश-स्मश्रु-वपने क्षुरस्य तिर्यङ्निधानम् अनया श्रुत्या कल्पे विहितं ''औषधे त्रायस्वैनमिति स्वधीतिं तिर्यञ्चं निदधाति'' (बोधा.श्रौ.सूत्र ६।२) इति. तथाच **औषधे** दाहनिधाने **एनं** यजमानं **त्रायस्व** त्वक्च्छेदनाकरणाद् रक्ष इति अर्थाद् यथा स्वधितिना रक्षा तथा मायासम्बन्धिदोषाजननात् तया आवरणम् इति अर्थः. **बहिःस्थितस्य** इति, बहिःस्थितकर्तृकम् इति अर्थः. **सुवर्णतेजोवद्** इति. तस्य तैजसत्वात्

लेखः

अन्तःस्थः इत्यत्र. **गर्भं प्रविष्टस्य** इत्यादि. गर्भं प्रविष्टस्य वैष्णवांशस्य गर्भात्मकशरीरस्य च रक्षार्थम् इति अर्थः. **इतिवद्** इति. तत्र यथा मन्त्रेणैव औषधेः सामर्थ्यविशेषजनिते औषधे सर्वथा वीर्यवत्त्वं तथा भगवदाज्ञया मायया रक्षणम् इति भावः. यद्वा यथा कश्चन योगादिबलेन ''औषधे त्रायस्वैनम्'' इति वाक्यमात्रेण अन्तःप्रवेशं विनैव औषधी रोगादि तत्क्षणं निवर्तयति तथा भगवान् व्यापारम् अन्तरेणैव मायाज्ञापनमात्रेण तद्गतवान् इति अर्थः. **चतुर्विधमाया** इति, **अन्तःस्थः** इत्यादि-पदचतुष्टयसूचिता

१. गर्भरक्षार्थमिति क-ग.

मध्ये स्थित्वा पालयति इति अर्थः, अन्यथा ब्रह्मास्त्र-शरीरसम्बन्धे दोषो वा सङ्क्रमेद् इति. ननु किमिति एवंप्रकारैः पालयति इति चेत्, तत्र[1] आह **हरिः** इति. सर्वेषां दुःखहरण-स्वभावत्वात् समुदायरक्षातु एतत्साध्या. **स्वमायया** स्वाधीनमायया. ब्रह्माण्डकोटिभ्रमनिवर्तक-ज्ञानाग्न्यावरकरूपत्वाद् मायायाः तया आवरणं युक्तम्. **वैराट्याः** इति सम्बन्धात् तस्या उदरदाहोऽपि यथा न भवति तथा कृतवान् इति लक्ष्यते. उभयवंशयोः भक्तत्वाद् एषा रक्षिता[2] इति आह **वैराट्याः कुरुतन्तवे** इति. **तन्तुः** परम्परा, पालको वा ॥१४॥

ननु ब्रह्मास्त्रं गर्भे प्रयुक्तं दाहकैकस्वभावत्वात् तत्र असमर्थम् अन्यत् कुतो न दहति ? तत्र आह **यद्यपि अस्त्रम्** इति.

यद्यप्यस्त्रं ब्रह्मशिरः अमोघं चाप्रतिक्रियम् ॥
वैष्णवं तेज आसाद्य समशाम्यद् भृगूद्वह ॥१५॥

सत्यम् उक्तं "सर्वदाहकम् एतत्", महादेवस्यापि पिशाचत्त्वं यतो जातम्. तद् **ब्रह्मशिरः** ब्रह्मणः पञ्चमं शिरः. तस्य गुणद्वयं सहजं— **अमोघं** सर्वदा कार्यं करोति इति अर्थः, **अप्रतिक्रियं च** न विद्यते प्रतिक्रिया = प्रतिकूलक्रिया व्यावर्तकक्रिया वा यस्य इति. तथापि किञ्चिद्

प्रकाशः

तेजो यथा कारणत्वेन अन्तःस्थितं तथा इति अर्थः. **दोषः** इति. ब्रह्मास्त्रस्य ब्रह्मशिरोरूपत्वात् तत्सम्बन्धे शिवस्येव पिशाचत्वदोषः इति अर्थः ॥१४॥

यद्यपि इत्यत्र. **प्रतिकूलक्रिया** इति नाशिका क्रिया. **व्यावर्तकक्रिया**

लेखः

इति अर्थः. **ब्रह्मास्त्र** इति. ब्रह्मास्त्रस्य वैष्णवांशात्मशरीरसम्बन्धे सति तत्र दाहकत्वसामर्थ्याभावेऽपि अङ्गविकलत्वादिदोषः **सङ्क्रमेद्** इति अर्थः. **समुदाय** इति. एककालावच्छेदेन पाण्डवरक्षा गर्भरक्षा च इति अर्थः. **एतद्** इति, भगवत्साध्या इति अर्थः ॥१४॥

यद्यप्यस्त्रम् इत्यत्र. **पिशाचत्वम्** इति. ... ॥१५॥

---

१. तदाहेति ख.   २. रक्षेत्याहेति क.

अद्भुतं जातम् इति आह **वैष्णवं तेज आसाद्य** इति. यथा व्याघ्रो मन्त्रबलेन गौः भवति तथा परमसात्त्विकं **वैष्णवं तेज आसाद्य** प्राप्य **सम्यग् अशाम्यत** शान्तम् अभूत्, प्राकृतदेहं[१] प्रज्वाल्य भगवद्भावापन्नं वैष्णवं देहं ज्वालयितुं प्रवृत्तं सत् मध्ये वैष्णवं तेज आसाद्य तद्रूपं सत् तदैक्यं प्राप्तवद् इति अर्थः. तत्र विश्वासार्थम् आह हे **भृगूद्वह** इति. भृगुणा[२] हि पूर्वं वैष्णवनिर्णयः कृतः. अन्यथा राजसाः तामसाः च भक्त्या भगवत्सम्बन्धं प्राप्य सात्त्विकाः भूत्वा कथं भगवत्सायुज्यं[३] प्राप्नुयुः ? ॥१५॥

ननु अस्तु जीवानां मुक्तियोग्यानां शास्त्रसिद्धत्वात् तथात्वं– ब्रह्मतेजस्तु अचेतनं देवताधिष्ठितं मन्त्राधिकारिरूपं कथम् अन्यथा भवेत्? तथा सति भगवता युद्धे प्रयुज्यमानानां ब्रह्मास्त्रादीनां तथात्वं न स्यात्– अत्र च परीक्षितः पाण्डवानां च रक्षणात् महदाश्चर्यम् इदं वृत्तम् इति आशङ्क्य आह **मा मंस्था** इति.

प्रकाशः

इति स्तम्भिका क्रिया. **अन्यथा** इति वैष्णवनिर्णयाभावे ॥१५॥

मा मंस्था इत्यत्र. **तथात्वम्** इति सात्त्विकत्वम्. **तथात्वं न स्याद्** इति स्वकार्यकरण-समर्थत्वं न स्यात्. एवं भगवद्वाक्यकरण-जनितदोषस्य भगवत्कृतं समाधानम् उक्तम्, अतः परं गुणपोषणम् उच्यते. तत्र रक्षणं

लेखः

कथमन्यथा भवेद् इति, वैष्णवतेजःसम्बन्धमात्रेण शान्तं भवेद् इति अर्थः. अत्रैव दृढं बाधकान्तरम् आहुः **तथा सति** इत्यादि. वैष्णवतेजःसम्बन्धमात्रेण शान्तत्वाङ्गीकारे सति इति अर्थः. **युद्धे प्रयुज्यमानानाम्** इति. "ब्रह्मास्त्रस्य च ब्रह्मास्त्रम्" (भाग.पुरा. १०।६६।१३) इत्यादिना युद्धादौ तथोक्तम् अस्त्रस्य सामर्थ्यं न स्याद् इति अर्थः. **महदाश्चर्यम्** इति. अत्र वैष्णवतेजःस्पर्शमात्रेण शान्तत्वदर्शनाद् भयाकुलं चित्तम् इति अर्थः ॥१६॥

---

१. प्राकृतं देहमिति क-घ. २. भृगूणामिति घ-ङ. ३. सायुज्यमिति क.

मा मंस्था एतदाश्चर्यं सर्वाश्चर्यमयेऽच्युते ॥
य इदं मायया देव्या सृजत्यवति हन्त्यजः ॥१६॥

एतद् आश्चर्यं मा मंस्थाः, कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुं समर्थत्वात्. नहि दृष्टान्त-व्याप्त्यादिना[१] भगवति पदार्थनिर्णयः कर्तुं शक्यते, "अलौकिकास्तु[२] ये भावा न तांस्तर्केण योजयेद्" (महाभा. ६।५।१२) इति वाक्यात्. किञ्च **सर्वाश्चर्यमये** विरुद्ध-सर्वधर्माणाम् आश्रये भगवति अलौकिक-सर्वपदार्थमये किम् आश्चर्यं? नहि एतद् अन्यस्य उच्यते. किञ्च (**अच्युते**!) च्युतिरहितः ; स्वयम् [३]आत्मनएव आत्मानं सर्वच्युतं[४] करोति तत्र किम् एतदाश्चर्यम् इति अर्थः. किञ्च **माया** नाम काचित् शक्तिः पूर्वं[५] निरूपिता. साच देवतामयी[६] स्वरूपभूता. (**देव्या**!) तया किल (**इदं**!) विश्वं[७] **सृजति अवति हन्ति** च. एकं वस्तु असहायम्[८] एकस्यैव अनेकभावं सम्पादयति इति अर्थः. किञ्च **अजएव** स्वयं जायते. विरुद्धधर्मसम्बन्धेऽपि न पूर्वधर्मनिवृत्तिः. एवं भगवता सर्वे रक्षिताः ॥१६॥

तत्र कुन्त्यादीनाम् एवं[९] भ्रमः उत्पन्नो "वयं सर्वे विषयार्थं रक्षिताः" इति. तथा सति व्यर्थं रक्षणम् इति मत्वा भक्त्युपयोगार्थम् एतद् भवतु इति प्रार्थयितुं भगवन्तं स्तोतुम् उपक्रमते इति आह **ब्रह्मतेजोविनिर्मुक्तैः** इति.

ब्रह्मतेजोविनिर्मुक्तैरात्मजैः सह कृष्णया ॥
प्रयाणाभिमुखं कृष्णमिदमाह पृथा सती ॥१७॥

प्रकाशः

गुणः, तस्य पोषणं भक्त्यर्थत्वं, तद् अत्र पृथास्तुत्या उच्यतइति आशयेन आहुः **एवं भगवता** इत्यादि ॥१६॥

---

१. व्याख्यादिनेति घ. २. अचिन्त्या इति पाठभेदेन अत्रैव - सम्पा. ३. आत्मान एवेति घ-ङ. ४. सर्वं च्युतमिति ग-घ. सर्वं च तत् च्युतं च इति, सर्वस्मात् च्युतम् इति वा - सम्पा. ५. "अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायां च तदुपाश्रिताम्" (भाग.पुरा. १।७।४) इत्यत्र - सम्पा.
६. देवतामयस्वरूपेत्यादि क. ७. सर्वमिति ख-ग.
८. सहायं कृत्वैकस्यैवेति ख-ङ. असहाय इति पुल्लिङ्गः पाठः घ. ९. एवेति ख.

स्वभगिनीन्तु[१] स्वयमेव कृतार्थीकरिष्यति[२], उत्तरां च, अतो (**कृष्णया!**) द्रौपद्या **सह** (**आत्मजैः!**) पुत्रैश्च **सह प्रयाणाभिमुखम्** अर्धं कार्यं कृत्वा गच्छन्तं (**इदं!**) वक्ष्यमाणम् आह. तत्र हेतुः **सती** इति. सताम् अयं धर्मो यद् भक्त्यर्थमेव सर्वं जीवनादि ॥१७॥

स्वरूप-गुण-लीलादि-दुष्ट-दुर्ज्ञत्व-लक्षणैः ॥
जन्म-कारण-निर्धार-फल-दैन्य-निजार्थनैः ॥(३)॥
हृषीकेशं पृथास्तौषीत् नमस्कारपुरस्सरम् ॥
सम्बन्धात् कृतहेलाज्ञा स्वरूपाप्त्यै भवच्छिदम् ॥(४)॥

तत्र स्वरूपम् आह त्रिभिः **नमस्ये** इति.

॥ कुन्ती उवाच ॥

नमस्ये पुरुषं त्वाद्यमीश्वरं प्रकृतेः परम् ॥
अलक्ष्यं सर्वभूतानाम् अन्तर्बहिरवस्थितम् ॥१८॥
मायाजवनिकाच्छन्नम् अज्ञाधोक्षजमव्ययम् ॥
न लक्ष्यसे मूढदृशा नटो नाट्यधरो यथा ॥१९॥
तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम् ॥
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः ॥२०॥

त्वा त्वाम्. भ्रात्रेयनमस्कारस्य अनुचितत्वम् आशङ्क्य स्वरूपम्

प्रकाशः

स्तुत्यर्थबोधक-कारिकायां **कृतहेलाज्ञा** इति एकं पदं ; कृतहेलाज्ञानवती इति अर्थः. अग्रिमस्वारस्यात् पदद्वयं वा (४).

लेखः

कुन्तीस्तुति-तात्पर्यकारिकायां **स्वरूप** इत्यादि. भगवत्स्वरूपं, गुणाः, लीला, दुष्टदुर्ज्ञेयत्वं, भगवल्लक्षणं, जन्मकारणनिर्धारः, फलं, दैन्यं, निजप्रार्थनं च इति नवपदार्थनिरूपणेन **पृथा अस्तौषीद्** इति अर्थः. इमे नवप्रकाराः नवविधभक्ति-हेतुत्वेन निरूपितेति "जन्मैश्वर्य" (श्लो. २६) इति श्लोके वक्ष्यते (३-४).

---

१. तुर्नास्ति ख.   २. कृतार्थतामिति क.

आह **पुरुषम्** इति नवभिः विशेषणैः. एतादृशस्य मम आत्मत्वाद् भेदबोधक-नमस्कारानौचित्यम् आशङ्क्य आह **अज्ञा** इति. एवम् अज्ञा[१] त्वाम् आत्मत्वेन ज्ञातुमेव नमामि इति अर्थः. दृश्यमानापेक्षया अनुचितत्वे शङ्किते परमार्थकथनानुपपत्तिम् आशङ्क्य दृश्यमानं परमानन्दरूपं[२] वदन्ती[३] नमस्यति इति भावः. **आद्यं** मूलभूतं, बिम्बम् इति यावत्. जडव्युदासार्थं **पुरुषम्** इति, जीवव्युदासार्थम् **आद्यम्** इति ; एतादृशस्य सर्वकारणत्वात् पितृरूपत्वम् उक्तम्. स्वाभीष्टसिद्ध्यर्थं रूपद्वयम् आह **ईश्वरं, प्रकृतेः परम्** इति. **ईश्वरम्** इति बहिःफलदातृत्वं, **प्रकृतेः परम्** इति अन्तःफलदातृत्वम्. एतादृशस्य सर्वजनीनत्वे सर्वमुक्तिप्रसङ्गो वेदानां वैयर्थ्यं च स्यादिति तदर्थम् आह **अलक्ष्यं सर्वभूतानाम्** इति. प्रत्यक्षतो न दृश्यतएव. कार्यद्वारापि

प्रकाशः

नमस्ये इत्यत्र. **एवम् अज्ञा** इति. एतादृशं भवन्तं शब्दादिना जानन्त्यपि आत्मत्वेन अजानन्ती इति अर्थः. **दृश्यमानापेक्षया** इति. दृश्यमानं मनुष्यत्व-क्षत्रियत्वादि, तदपेक्षया. **जडव्युदासार्थम्** इति. आद्यत्वं प्रकृत्याकाशादीनामपि तत्तन्मते वर्ततइति तद्व्युदासार्थम् इति अर्थः. तर्हि **आद्यपदम्** अनतिप्रयोजनम् इति आशङ्कायाम् आहुः **जीवेत्यादि. पितृरूपत्वम्** इति. "पिताऽहम् अस्य जगतः" (भग.गीता ९।१७) इति वाक्योक्तं तद्रूपत्वम्. **न दृश्यते** इति, "पराञ्चि खानि" (कठोप. २।१।१) इति श्रुतेः तथा इति अर्थः. **कार्येत्यादि.** सर्वानुमानापेक्षया कार्यलिङ्गकानुमानस्य सर्वथा अनुमापकत्वेऽपि भगवतो अदृश्यत्वेन कार्यस्य तत्सहचारादर्शनेन व्याप्त्यनिश्चयात्[४] तथा इति अर्थः. **अतएव** इति उक्तस्वभावत्वादेव.

लेखः

नमस्ये इत्यत्र. **एतादृशस्य** इति, पुरुषरूपस्य इति अर्थः. **अज्ञा** इति. अग्रिमश्लोकस्थम् इदं पदम्. श्लोकत्रयार्थस्य एकार्थत्वाद् उक्तं ज्ञेयम्. अतएव अज्ञा. **पितृरूपत्वमुक्तम्** इति. तेन नमस्कारानौचित्यं

---

१. अज्ञात्वेति घ-ङ. २. परमानन्दरूपञ्चेति घ-ङ. ३. वदन्निति पुंपाठः क-ग-घ-ङ.

४. व्याप्तिनिश्चयाभावाद् इति मुद्रितपाठः. कि.पाठे तु एवम् - सम्पा.

लक्षितुं न शक्यते, कार्य-कारणयोः एकत्र क्वापि अनुपलम्भात्. अतएव **सर्वभूतानां** ब्रह्मादीनामपि. अः[१] कृष्णः, तेन वा **लक्ष्यते** इति स्वप्रकाशम्. गुरुणा वा लक्ष्यते इति, "आचार्यवान् पुरुषो वेद" (छान्दो.उप. ६।१४।२) इति श्रुतेः. ततः च न वेदवैयर्थ्यं, न वा सर्वमुक्तिः इति अर्थः. वस्तुतएव अयं दुर्ज्ञेयो न (ज्ञाने!) साधनान्तराभावाद् इति, "यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः, अविज्ञातं[२] विजानतां विज्ञातम् अविजानताम्" (केनोप. २।३) इति श्रुतेः, "यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः, मृत्युर् यस्य उपसेचनं क इत्था वेद यत्र स" (कठोप. १।२।२५) इति च[३]. तस्माद् दुर्ज्ञेयएव भगवान्; किं तज्ज्ञानप्रार्थनया इति? तत्र आह **सर्वभूतानाम् अन्तर्बहिः अवस्थितम्** इति. भगवान् सर्वत्र वर्तते, ज्ञानं च तस्य सुलभम्. ज्ञापकएव दुर्लभः, सर्ववस्तुनि वस्तुस्वरूपत्वात्. [४]अज्ञत्वकथनन्तु विरुद्धधर्मबोधाय. तस्मात् सर्वत्र विद्यमानत्वाद् भगवज्ज्ञानं सुलभम् इति. ननु तथा सति कथं न सर्वैः प्रत्यक्षीक्रियते घटादिवत्? तत्र आह **मायाजवनिकाच्छन्नम्** इति. **माया** एव **जवनिका** तिरस्करिणी, अन्तःपटः इति अर्थः, तया **आच्छन्नम्**[५]. सर्ववस्तुनि वस्तुस्वरूपत्वेऽपि मायया अन्यथा [६]भासमानत्वाद् न प्रत्यक्षीक्रियते इति अर्थः. अतएव

प्रकाशः

अपि इति, अलक्ष्यम् इति शेषः. तेन **अलक्ष्यपदस्य** आवृत्तिः बोध्या. **गुरुणा वा** इति. अपदस्य गुरुवाचकत्वात् तथा इति अर्थः. **अज्ञत्वकथनम्** इति. "न वेद सः" (केनोप. २।३) इति श्रुतौ अज्ञत्वकथनम् इति

लेखः

न इति भावः. **भूतानां ब्रह्मादीनामपि** अलक्ष्यम् इति शेषः. **अः** इति. 'अ'कारस्य वासुदेववाचकत्वम् एकाक्षरकोशे अस्ति. स्वस्वरूपेण सर्वभूतानां लक्ष्यः इति अर्थः. तेन स्वप्रकाशत्वम् उक्तं भवति. **गुरुणा वा** इति. ... ॥१८॥

---

१. अकृष्ट इति ग-घ-ङ. २. अविज्ञातञ्चेति क. ३. चो नास्ति क-घ-ङ.

४. सर्वज्ञकथनमिति घ-ङ. ५. आच्छादनमिति ग. ६. भासनत्वादिति क-ग.

ममापि बहिर्मुखत्वाद् न ज्ञानम् इति **अज्ञा.** ननु न सर्वः सर्वत्र भ्रान्तः किन्तु क्वचिदेव कश्चिद्, दोषसहकृतेन्द्रियजन्यत्वाद् भ्रमस्य, अतः कदाचित् निर्दुष्टैः इन्द्रियैः घटवद् गृह्येत[१] इति चेत्, तत्र आह **अधोक्षजम्** इति. **अधो अक्षजं** ज्ञानं यस्माद् ; इन्द्रियजन्यं ज्ञानं भगवन्तं न विषयीकरोति, "पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्, कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद् आवृत्तचक्षुः अमृतत्वमिच्छन्" (कठोप. २।१।१) इति श्रुतेः. अतो वस्तुस्वरूपत्वेऽपि न इन्द्रियप्रत्यक्षत्वं भगवतः. ननु सर्ववस्तुनि वस्तुस्वरूपत्वम् अनुपपन्नम्, सर्ववस्तूनां नाशप्रतियोगित्वात्–कारणत्वेऽपि कारणत्वं गच्छेद्, आधारत्वेऽपि आधारत्वम्, आधेयत्वेऽपि आधेयत्वम् इति– अतो धर्मरूपेण[२] धर्मिरूपेण[३] वा व्ययसम्भवात्[४] कथं ब्रह्मत्वम्? अतः आह **अव्ययम्** इति. सर्वरूपत्वेऽपि न[५] विनाशित्वं, विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वेन उक्तत्वात्. तस्मात् [६]निर्दुष्टपूर्णगुणविग्रहं त्वां नमस्ये इति. ननु तादृशएव सएव अहं चेद् अवतीर्णः[७] तदा सर्वप्रत्यक्षं मां कथं न जानीयुः, धर्माणामपि स्वप्रकाशत्वात्? तत्र आह **न लक्ष्यसे** इति, **मूढदृशा न लक्ष्यसे.** ननु प्रत्यक्षः कथं न लक्ष्यसे[८]? तत्र आह **नटो नाट्यधरो यथा** इति. यथा नटः स्त्रीरूपं प्रकटयन् बहिर्मुखैः न ज्ञायते पुरुषः इति तथा (**नाट्यधरो!**) नरभावं[९] प्रकटयन् आविर्भूतो भगवान् भगवत्त्वेन न ज्ञायते इति अर्थः. ननु आविर्भावान्यथानुपपत्त्या

प्रकाशः

अर्थः. **कारणत्वं गच्छेद्** इत्यादि. कारणत्वादीनां स्वरूपसम्बन्धविशेषत्वेन स्वरूपद्वयात्मकत्वाद् एकतरनाशेऽपि तथात्वाद् इति अर्थः ॥१८-१९॥

तथा परमेत्यत्र. आविर्भावान्यथानुपपत्त्या इति. अज्ञापनार्थत्वे तदनुपपत्त्या इति अर्थः. **रसजननाय** इति, नवरसोत्पादनाय इति अर्थः.

---

१. ग्राह्येतेति घ. २. अधर्मरूपेणेति घ. ३. धर्मरूपेणेति घ-ङ. ४. व्ययसम्बन्धसंभवादिति घ. ५. न व्ययं विनाशित्वमिति क. न व्ययविनाशित्वमिति ग. तं व्ययं विनाशित्वमिति घ.

६. निर्दुष्टगुणपूर्णविग्रहमिति ख. ७. चेत्यवतीर्ण इति ग.

८. लक्ष्यते इति क-ग. ९. नटभावमिति घ.

सर्वेषां ज्ञापनार्थमेव आविर्भूतइति कथम् उच्यते "न ज्ञायसे" इति?– नहि भगवान् वञ्चनार्थम् आविर्भूतो रसजननाय वा– इति आशङ्क्य[१] आह **तथा परमहंसानाम्** इति. भगवान् भक्तियोगार्थम् आविर्भूतो वेदान् ऋषींश्च अवतार्य[२] तैः ससाधने ज्ञाने उत्पन्ने यद् अग्रिमं कार्यं तदर्थम् अवतीर्णः. तत्र[३] ज्ञाने संन्यासो[४] अङ्गम्, अन्तःकरणशोधकत्वात्[५], "संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वा" (मुण्डकोप. ३।२।६) इति श्रुतेः, अन्नादेः दोषाजननाच्च[६]. तदनु (**मुनीनां!**) मननम् अङ्गं, श्रवणस्य पूर्वमेव निष्पन्नत्वात्. तदनु (**अमलात्मनां!**) निदिध्यासनयुक्तानां च. निदिध्यासनं हि चित्तैकाग्र्यं, तत्र भगवन्निर्धारो वा. तत्र अन्तरङ्गम् अङ्गं शुद्धान्तःकरणम्. तेषां ज्ञानाधिकारिणां जातज्ञानानां[७] वा भक्तियोगव्यतिरेकेण भगवज्ज्ञानं सायुज्यं वा न भवति इति (**भक्तियोगविधानार्थं!**) तथा अवतीर्णम् इति अर्थः. हंसास्तु विविक्तज्ञानवन्तः, केवलम् आत्मानमेव ये पश्यन्ति ते **परमहंसाः**. यद्यपि सर्वे नृत्यं[८] पश्यन्ति तथापि रसिकानामेव रसोत्पत्तिः. नहि नपुंसकानां स्त्रीणां वा स्त्रीरूपेण नृत्ये क्रियमाणे शृङ्गाररसः उत्पद्यते, प्रत्युत [९]स्वसमान-धर्माविष्कारं कृत्वा विडम्बयति इति खेदः उत्पद्यते. तथा साधारणस्त्रीपुरुषाणां दैत्यांशानां च[१०] न रसो न ज्ञानं न वा भक्तिः इति तद्वञ्चनार्थं नटवद् लीलां करोतीति **स्त्रियो** वयं **कथं** (**पश्येम!**) जानीमः? प्रत्युत लज्जा-कामाद्यस्मद्दोष-हेतुरूप-प्राकट्याद् दोषयुक्ताः परं भविष्यामः इति अर्थः ॥१८-२०॥

एवं स्वरूपम् उक्त्वा गुणान् वदन्ती[११] सर्वसम्बन्धेन नमस्यति.

प्रकाशः

दोषहेतुरूपा इति, दोषप्राकट्यहेतुरूपा इति अर्थः ॥२०॥

---

१. चेत्याशङ्क्येत्यादि ग. २. अवतारयित्वेति क-घ-ग-ङ. ३. तत्राऽज्ञाने इति ख.
४. न्यासोऽङ्गमिति घ. ५. बोधकत्वादिति घ-ङ. ६. दोषजननादिति क.
७. जाताज्ञानानामिति घ-ङ. ८. नित्यमिति घ. ९. स्वसमाधानधर्मेति ग.
१०. चो नास्ति ख. ११. वदन्निति क-ग.

कृष्णाय वासुदेवाय देवकीनन्दनाय च ।।
नन्दगोपकुमाराय गोविन्दाय नमो नमः ।।२१।।

कृष्णाय इति नाम्ना भ्रातृपुत्रत्वम्. यान्येव अनमस्करणीयानि रूपाणि तान्येव "भगवान् स्वोद्धारार्थं स्वस्य सर्वसम्बन्धान् पुरस्कृत्य अवतीर्णः" इति ज्ञाते नमस्करणीयानि भवन्ति. यथा महतः प्रक्षीणदशायां[१] सेवकत्वेन लज्जया नमस्कारं[२] करोति लोकः, नतु सेवकं मन्यते. **कृष्णाय** इति वा मूलरूपस्य अनुवादः ; मूलम् अनूद्य हि सम्बन्धनिरूपणे नमस्करणीयो भवति. **वासुदेवाय** इति भ्रातृपुत्रत्वम् ; भ्रातृनिरूपणेन भ्रातरं मोचयन् तद्भगिनीमपि मोचयेद् इति. तथा **देवकीनन्दनाय** इति देवकीं मोचयन् तन्ननान्दरमपि[३] मोचयेद् इति. चकारात् पितृभामकं[४] मोचयन् तत्पत्नीमपि

प्रकाशः

कृष्णाय इत्यत्र. **स्वोद्धारार्थम्** इति स्वकीयोद्धारार्थम्. अज्ञानदशायामपि [५]नमस्कार्यत्वे दृष्टान्तः **यथा** इत्यादि. अस्मिन् पक्षे **वासुदेव**पदं मूलरूपपरम्. इदं च सूतेन अनूद्यते इति, सत्त्वोपहितमेव मूलरूपं स्याद् इति, अरुच्या पक्षान्तरम् आहुः **कृष्णाय इति वा** इति.

लेखः

कृष्णाय वासुदेवाय इत्यत्र. **अनमस्करणीयानि** इति. न वसुदेवपुत्रो नम्यो, न वा देवकीपुत्रो, नन्दगोपपुत्रो वा, गोचारणक-हीनकर्मकर्ता वा नम्यो भवति इति भावः. तर्हि कथं नमस्यते इत्यत्र आहुः **तान्येव** इति. **तान्येव अनमस्करणीयानि रूपाणि** एव **नमस्करणीयानि भवन्ति** इति योजना. अत्र हेतुः **भगवान्** इत्यादि **अवतीर्णः** इत्यन्तेन. अतएव आदौ तादृशाभिप्रायज्ञापकं **कृष्णाय** इति पदम् उक्तम् इति आशयः. "कदाचिज्जगदुद्धारार्थमखण्डः पूर्णएव प्रादुर्भूतः 'कृष्ण'पदवाच्यः" (त.दी.नि. १।१ प्रका.) इति निर्णयाद् इति भावः. **पितृभामकम्** इति पाण्डुम् इति अर्थः. तथाच यथा विचारयसि सम्बन्धं तथैव मम मोचनं समायाति

---

१. प्रतीक्षणदशायामिति क-ग. २. अतिनमस्कारमिति ग. ३. ननान्दामपीति क-ग-घ-ङ.

४. भावुकमिति ग. ५. अज्ञानदशायाम् अनमस्कार्यत्वे इति मुद्रितपाठः. कि.पाठे तु एवम् - सम्पा.

मोचयेद् इति. पाण्डवप्रियाय इति नमस्करणीयं रूपम्. तथा[१] दूरसम्बन्धेऽपि मोचयेद् इति वसुदेवमित्रसम्बन्धम् आह **नन्दगोपकुमाराय** इति. **कुमारः** पालकपुत्रः, स्कन्दे[२] तथोपलब्धेः. [३]गोपसम्बन्धेनापि मोचयेद् इति **गोपपदम्**. सन्मार्गवर्तिनां सर्वेषामेव सर्वाभीष्टप्रदः इति (**गोविन्दाय!**) गवाम् इन्द्राय, "इन्द्रं नस्त्वाभिषेक्ष्यामः" (भाग.पुरा. १०।२४।२१) इति वचनात्. **गोविन्दाय** इति, निगमाद् अस्य पदस्य सिद्धिः. निगम-निरुक्त-व्याकरणैः त्रेधा पदसिद्धिः. "गोविन्द इति चाभ्यधाद्" (भाग.पुरा. १०।२४।२३) इति निगमस्थानीयं, वसतीवरीवत्. (**नमो नमः!**) नमनद्विरुक्तिः आदरात्. अनेन सम्बन्धमोचकत्वं गुणोऽपि उक्तः ॥२१॥

गुणान्तरान्[४] आह.

नमः पङ्कजनाभाय नमः पङ्कजमालिने ॥
नमः पङ्कजनेत्राय नमस्ते पङ्कजाङ्घ्रये ॥२२॥

नमः पङ्कजनाभाय इति. जगत्कारणत्व-भूषितत्व-कृपाश्रयत्व-

प्रकाशः

पालकपुत्रः इति, पालकस्य पुत्रः इति अर्थः. ननु **कुमारपदेन** कथम् एतद् उपलभ्यते इत्यतः आहुः **स्कन्दे** इत्यादि. **वसतीवरीवद्** इति. यथा अयंशब्दो यज्ञियजलविशेषवाचको निगमसिद्धः (तैत्ति.संहि. ६।४।२।२) तथा इति अर्थः. **सम्बन्धमोचकत्वम्** इति सम्बन्धेन मोचकत्वम् ॥२१॥

लेखः

इति भावः. **पाण्डवप्रियाय** इति. इदं चकारेण सूचितम् इति भाति. **स्कन्दे** इति स्वामिकार्तिके इति, तस्यापि 'कुमार'नामकत्वाद् इति भावः. **अस्य सिद्धिः** इति. इदं तत्रैव श्लोकव्याख्याने व्युत्पादितम्. ननु अत्र निगमाद्यन्यतमसिद्धत्वम् अप्रसिद्धम् अतः आहुः **"गोविन्द इति चाऽभ्यधादि"ति निगमस्थानीयम्** इति, **वसतीवरीवद्** इति ॥२१॥

---

१. तदेति ग. २. स्कान्दे इति मुद्रितपाठः. ख-ग-प्रकाशे-लेखे तु एवम् - सम्पा.

३. गोसम्बन्धेनाऽपीति ख.

४. गुणान्तरम् इति मुद्रितपाठः. गुणान्तरामाहेति ग. क-ख-घ-ङपाठे तु एवम् - सम्पा.

सुखसेव्यत्वगुणैः नमस्यति. नमनं हि स्वरूपे गुणे वा, न लीलादौ, रसावेशात्. **पङ्कजं नाभौ यस्य** इति ब्रह्मपितृत्वम्. **पङ्कजमालिने** इति लक्ष्मीपतित्वम्. सा हि विवाहे नवपङ्कजमालां[१] प्रक्षिप्तवती. **पङ्कजनेत्राय** इति सर्वपतित्वं[२], वश्यतासम्पादकत्वेन अमृतवर्षणाद् वा. **पङ्कजाङ्घ्रये** इति भक्तिप्रवर्तकाय. सर्वजनकत्वेन सर्वम् उत्पाद्यापि प्रयच्छेत्. ऐहिकामुष्मिकं प्रयच्छति, भक्तिं च इति गुणाः ॥२२॥

लीलाम् आह त्रिभिः **यथा** इति.

यथा हृषीकेश खलेन देवकी कंसेन रुद्धातिचिरं शुचार्पिता ॥
विमोचिताहं च सहात्मजा विभो त्वयैव नाथेन मुहुर्विपद्गणात् ॥२३॥

मुख्या लीला **हृषीकेश** इति. सर्वेषाम् इन्द्रियाणां नियामकत्वेन भर्तृवद् रमणात् त्वत्तः सर्वेन्द्रियप्रीतिम् अनुभूय तद्रसाभिनिविष्टाः के वा

प्रकाशः

नम इत्यत्र. **'पङ्कजनेत्राय' इति सर्वपतित्वम्** इति. "को ह्यन्यः पुण्डरीकाक्षात् महाभारतकृद् भवेद्" (पद्मपुरा. १।१।४४) इत्यादिषु पुराणवाक्येषु 'पुण्डरीकाक्ष'पदस्य विष्णौ रूढत्वात्, विष्णोश्च लौगाक्षिगृह्ये "विष्णवे सर्वाधिपतये स्वाहा" (लौगाक्षिगृह्यसूत्र ।) इति वाक्येन सर्वाधिपतित्वस्य उक्तत्वात्. पङ्कजनेत्रत्वात् तथात्वं कल्पनाक्लेशेन आयाति इति तद् विहाय प्रकारान्तरेण सर्वपतित्वम् आहुः **वश्यतेत्यादि. प्रयच्छेद्** इति भक्तिं प्रयच्छेत् ॥२२॥

लेखः

नमः पङ्कजनाभाय इत्यत्र. **लीलादौ** इति. अनायासेन अतुलं क्रियमाणं कर्म लीला. तादृशलीलायां भातायान्तु अद्भुतरसावेशात् न नमनादिस्फुरणम् इति अर्थः. अतएव अग्रिमश्लोके नमनं न उक्तम् इति भावः. **जगत्पतित्वम्** इति. सकलजगतां आह्लादकत्व-शैत्यादिगुण-प्राकट्यपूर्वकं दर्शनाद् इति भावः. तदेतद् आहुः **वश्यता** इत्यादि. **वाकारः** समुच्चयार्थो, न विकल्पार्थः ॥२२॥

---

१. नवकञ्जमालामिति ख. २. जगत्पतित्वम् इति पाठः लेखे - सम्पा.

न नमेयुः इति अर्थः. किञ्च तव एषा महती लीला— मातरं पितरं च खलेन बन्धनं कारयित्वा, बहुकालं दुःखानुभवं च कारयित्वा पश्चाद् मोचयसि इति. अतः तदपेक्षया वयमेव कृतार्थाइति तव एषा लीला वक्तुमपि अशक्या. भक्तमोचकत्वस्य गुणत्वेऽपि लीलां गुप्तां कृत्वा गुणएव तथात्वेन वक्तव्यः. **यथा खलेन**[१] **कंसेन देवकी**[२] **रुद्धा** सती त्वया **विमोचिता, अतिचिरं शुचार्पिता** अपि **विमोचिता** शोकमपि दूरीकृतवान्, तथा **अहञ्च. चकाराद्** यशोदादयोऽपि. मयि पुनः विशेषोऽपि अस्ति इति आह **सहात्मजा.** अनेन मम आत्मजाअपि मोचिताः[३], तस्यास्तु भवानेव[४] आत्मजइति न आत्मजान्तरापेक्षा. अथवा तस्याः बहवः पुत्रा मारिता, ममतु एकएव इति तद्विपरीतत्वं मयि. कथम् एवं करणं? तत्र आह **विभो** इति, हे सर्वकरणसमर्थ. किञ्च **त्वयैव नाथेन** त्वमेव नाथो भूत्वा मोचयसि. अथवा **नाथेन सह** सा मोचिता, अत्रतु तदभावात् त्वमेव नाथः इति अर्थः. तव नाथभवन-नाथमोचनयोः[५] आद्यएव श्रेयानिति अहम् उत्तमा. लीलायां विपरीतकथनमपि उत्तमम्. किञ्च **मुहुः** सा न मोचिता किन्तु वारद्वयमेव, अहन्तु बाल्याद् आरभ्य वारं वारं मोचिता इति. किञ्च **विपद्गणात्** विपदां समूहात्. एकस्याम् आपदि गणशो हि अन्या[६] आपदः समायान्ति. ताः भारते प्रसिद्धाः[७] ॥२३॥

प्रकाशः

यथा इत्यादि. **महती** इति, कौतुकजनिकात्वेन दुर्ज्ञेया इति अर्थः. तर्हि एतल्लीलानुसन्धाने किं वक्तव्यम् इति अपेक्षायाम् आहुः **भक्तेत्यादि. गुणत्वेऽपि** इत्यत्र 'गुणत्वेन' इति पाठो भाति ॥२३॥

लेखः

यथा इत्यत्र. **मम तु एकएव** इति, कर्णः इति अर्थः. **तव** इति. **तव नाथभवनं,** लौकिक**नाथमोचनं** च, तयोः इति अर्थः ॥२३॥

---

१. देवकी खलेन कंसेनेति ग. २. देवकी चेति क-घ-ङ. ३. विमोचिता इति ख.

४. भगवानेवेति ख. ५. नाथभवनाथेत्यादि घ-ङ.

६. ऽप्यन्या इति क-घ. ७. स्पष्टा इति ख-ग.

ताः आपदो गणयति **विषादित्यादि.**

विषान्महाग्नेः पुरुषाददर्शनाद् असत्सभाया वनवासकृच्छ्रतः ॥
मृधे मृधेऽनेकमहारथास्त्रतो द्रौण्यस्त्रतश्च स्म हरेऽभिरक्षिताः ॥२४॥

भगवत्त्वेन सर्वकर्तृत्वाद् विषादावपि मोचकत्वम् उक्तम्. **विषाद्** विष-मोदकात् सर्पविषाच्च. **महाग्निः** लाक्षागृहे. हिडिम्बादयः **पुरुषादाः**, तेषां **दर्शने** जातेऽपि रक्षिताः. **असत्सभायाः** द्रौपदीनिग्रहे अम्बर-केशाकर्षणादौ. **वनवासकृच्छ्रतः** द्रौपदीहरण-दुर्वासः प्रभृतीनां [१]कृच्छ्रतइति वनेऽपि राज्यैश्वर्यदानात्. तदनु **मृधे**[२] **मृधे** गोग्रहणम् आरभ्य अद्यावधि यावन्तः सङ्ग्रामाः जाताः. **अनेके महारथा** भीष्मादयः, तेषां (**अस्त्रतो!**) ब्रह्मास्त्रादिभ्यः. भगदत्त-कर्णादीनान्तु अप्रतीकार्यता. भगवद्रक्षा च तत्रैव

लेखः

विषाद् इत्यत्र. **विषमोदकाद्** इत्यादि. दुर्योधनादिना भीमाय विषमोदकाः दत्ताः. तद् विषं भीमो जरयामास[३]. तदनन्तरं बद्ध्वा गङ्गाजले प्रक्षिप्तः. तत्र सर्पैः दष्टोऽपि न मृतः. लाक्षागृहदाहः एवमादिकथा आदिपर्वणि. हिडम्बा-राक्षस्याः भ्राता हिडम्बो नाम राक्षसः. स च वने सुप्तान् पाण्डवान् सह मात्रा खादितुं समागतो भीमेन मारितः इति. तथा द्रौपदीं धौम्याश्रमे निवेश्य मृगयार्थं गतेषु पाण्डवेषु जयद्रथः तां हृतवान्, ततः तं गृहीत्वा पाण्डवैः सावज्ञं त्यक्तः[४]. दुर्वासा सशिष्यो भोजनार्थम् आगतः इत्यादि वनपर्वणि. ननु अर्जुनादीनां सर्वशस्त्रास्त्रवित्त्वाद् ब्रह्मास्त्रादिनिवारणं तैरेव कर्तुं शक्यं, किम् अत्र भगवदुपकारः ? इत्यतः आहुः **भगदत्तकर्णादीनां त्वप्रतीकार्यता** इति. भगदत्तेन अनिवार्य-नारायणास्त्र-प्रक्षेपे भगवतैव अर्जुनो रक्षितः. तदुक्तं द्रोणपर्वणि "तदस्त्रं देवगन्धर्वयक्षपन्नगराक्षसान्, सर्वान् समागतान् हन्यात् किं पुनस्त्वां धनञ्जय" (महाभा. ७।२९।८।१) इति. तथा इन्द्रेण कर्णाय 'शक्ति'नामकम् आयुधं दत्तं, तद् अर्जुनवधाय रक्षितम्. ततश्च घटोत्कचयुद्धे कर्णो भगवन्मायामोहितो घटोत्कचं प्राहिणोत्, तेन

१. वनवासकृच्छ्रत इति घ-ङ.　२. युद्धे मृधे मृध इति क-ख.　३. "ददावथ विषं पापो भीमाय धृतराष्ट्रजः, जरयामास तद् वीर सहान्नेन वृकोदरः" (महाभा. १।६२।१०) -सम्पा.

४. द्रष्ट. महाभा. ३।२६४।५ -सम्पा.

सिद्धा. सा रक्षा न प्रार्थनया[१], बाधकस्वरूपाज्ञानाद्, अतः आह **हरे** इति. हे **हरे! अभितो रक्षिताः**[२] **स्मः** ॥२४॥

एवं नानाविधलीलया भगवत्कृतां रक्षां प्रतिपाद्य लीलया[३] अद्भुतकर्मत्वं वक्तुं रक्षापेक्षया आपदएव समीचीना इति– क्षुधितस्य अन्नभोजनजन्य-सुखवद् विपत्पीडितानां भगवद्दर्शनानन्दो दुर्लभइति लोकानां विपदाम् अनिष्टत्वेऽपि भक्तानाम् इष्टसाधनत्वात्– ताः प्रार्थयते **विपदः** इति.

विपदः सन्तु नः शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो ॥
भवतो दर्शनं यत् स्याद् अपुनर्भवदर्शनम् ॥२५॥

एषा भगवतो विपरीतलीला— आपत्सु परमानन्दं प्रयच्छति, तदभावे परमानन्दतिरोभावं करोति इति. **तत्र तत्र** यत्रैव स्थीयते गम्यते च. ननु कथम् एवं निर्धारः क्रियते **विपदएव सन्तु** इति? कुतः शिक्षितम् एतत्? तत्र आह **जगद्गुरो** इति. त्वत्तएव[४] एतत् शिक्षितं यद् विपदः समीचीनाः इति, अन्तर्यामितया प्रेरणाद्, बहिरपि उपपत्तिदर्शनाच्च ; यथा सर्वप्राणिनाम्. शिक्षितप्रकारम् आह **भवतो दर्शनं यत् स्याद्** इति, याभ्यो विपद्भ्यो दर्शनं यस्य स्यात्. तवैव फलरूपदर्शनान्वय-व्यतिरेकाभ्याम्

प्रकाशः

विषादित्यत्र. आस्म इति श्रीधरीये पाठः, अत्रतु **स्म** इत्येव पाठः ॥२४॥

लेखः

अर्जुनो रक्षितः इति. तदुक्तं भगवता "शक्तिहस्तं पुनः कर्णं को लोकेऽस्ति पुमानिह, य एवमभितस्तिष्ठेत् कार्तिकेयमिवाहवे" (महाभा. ७।१८०।१३) इति. **आदिना** जयद्रथप्रसङ्गादि ॥२४॥

विपदः सन्तु इत्यस्य आभासे **अन्नभोजन** इति. तथाच यथा क्षुधितस्य अन्नभोजनजन्य-सुखेनैव पाकादि-पूर्वक्रिया न क्लेशाय तथा अत्र त्वद्दर्शनजन्य-सुखेन विपदः इति अर्थः ॥२५॥

---

१. प्रार्थनायामिति ग. २. रक्षिताऽस्मीति क-ग. ३. लीलाया अद्भुतकर्मेति घ.
४. एवेति नास्ति क-घ-ङ.

इदम् अवगतम्. (**अपुनर्भवदर्शनं!**) न विद्यते पुनः भवस्य दर्शनं यस्मात्, पुनः शरीरं न पश्येद् इति अर्थः. अथवा **अपुनर्भवानां** जीवन्मुक्तानां **दर्शनं** यस्मात् ॥२५॥

एवम् अद्भुतलीलाम् उपपाद्य दुष्टदुर्ज्ञेयत्वम् आह चतुर्भिः **जन्मैश्वर्येति.**

जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान् ॥
नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिञ्चनगोचरम् ॥२६॥

भगवतो हि नवप्रकाराः धर्माः ज्ञेयाः, नवविधभक्ति-हेतवः स्वरूप-गुणादिप्रकारेण भिन्नाः. तत्र स्वरूपे ज्ञाते श्रवणं भवति, गुणेषु ज्ञातेषु कीर्तनं भवति, लीलायां ज्ञातायां स्मरणम् —एवम् एकः खण्डः. द्वितीयखण्डे समीपगमने पादसेवन-पूजन-वन्दन-दास्यानि[१], तृतीये [२]सख्यात्म-

प्रकाशः

जन्मैश्वर्य इत्यत्र. **नवप्रकाराः** इति "स्वरूपगुण" (का. ३) इति कारिकया पूर्वम् उक्ताः. तद् आहुः **स्वरूपेत्**यादि. तद् उपपादयन्ति **तत्र** इत्यादि. **ज्ञाते** इति उक्तश्लोकत्रयोक्तप्रकारेण ज्ञाते, एवम् अग्रेऽपि. **समीपगमने** इत्यादि. 'समीपगमन'पदेन पादसेवनं ; तस्मिन् सति तानि भवन्ति इति समीपगमनादिः द्वितीयः खण्ड इति अर्थः. **सख्यात्मनिवेदने**[३]

लेखः

जन्मैश्वर्य इत्यत्र. **स्वरूपगुणादि** इति. स्तुत्यारम्भकारिकोक्त-स्वरूपादि नवप्रकारेण इति अर्थः. तत्र नवप्रकारैः क्रमेण नवविधभक्तिः जन्यते इति आहुः **तत्र स्वरूपे ज्ञाते** इत्यादि. **एवमेकः खण्डः** इत्यादि, त्रयाणाम् एकसमुदायः इति अर्थः. एवमेव द्वितीय-तृतीयावपि ज्ञेयौ. ननु स्वरूपादि-ज्ञानादिना श्रवणादि भवति इति सत्यं, परन्तु दुष्टदुर्ज्ञेयत्वादीनां

१. पूजनवन्दनानीति क. २. दास्यसख्यात्मनिवेदनानीति क-ग.

३. एतैः "पादसेवन-पूजन-वन्दन-दास्यानि" इति पाठम् अङ्गीकृत्य एवं विवरणं कृतम्. "एवं सप्तविधा भक्तिः प्रपन्नाधिकृता भवेत्" (साध.दीपि. ३०) इत्यपि वचनं तत्र सङ्गतम्. नवरत्नविवृतिप्रकाशेऽपि "तथा सति एतच्चतुष्टयं त्रयं वा सेव्ये चैतन्याप्राकट्येऽपि सिद्ध्यति ; सख्यात्मनिवेदनेतु भजनीये चैतन्यप्राकट्यम् अपेक्षते" इति तैः व्याख्यातत्वाद् एकवाक्यताबलोपबृंहितम् अयं विवरणम् - सम्पा.

निवेदने. तत्र दुष्टदुर्ज्ञेयत्वादीनां तत्र तत्र कारणताम् उपपादयिष्यामः. तत्र[१] प्रथमं यावद् दुष्टदुर्ज्ञेयता न ज्ञायते तावद् दुष्टानां बाधक-काय-वाङ्-मनोव्यापाराणां दर्शनाद् भगवत्समीपं न गच्छेत्. ज्ञाते तु पुनः "अन्धो न पश्यतीति चक्षुष्मतापि न द्रष्टव्यम्" इतिवद् अस्मद्बुद्धीनां बाधप्रतीतिरिति द्वितीये खण्डे प्रवर्तेत[२]. अतः पादसेवनार्थं दुष्टदुर्ज्ञेयत्वं निरूप्यते. तत्र **जन्म** सत्कुले, **ऐश्वर्यं** राज्यादौ, **श्रुतं** शास्त्रादौ, **श्रीः** सम्पद् —एताभिः **एधमानो मदो** यस्य. अयम् अर्थः— यथा तण्डुलादेः [३]ओदनादिद्वारा पितृ-देव-मनुष्यादीनां तृप्तिजनकत्वेन अमृतत्वेऽपि मदापेक्षिणां स्वमलत्वेन पर्यवसानात् मदजनकत्वं भवति, नहि तावता अन्नोद्भवमिति पेयं भवति,

---

प्रकाशः

इति. एतयोः दैन्यनिवारकत्वात् तृतीयत्वं बोध्यम्. "अप्यद्य" (श्लो. ३७) इति श्लोके तद् व्युत्पादयिष्यते. **तत्र** इति तेषु षट्सु. **तत्र तत्र** इति तत्तच्छ्लोकव्याख्याने. दुष्टदुर्ज्ञेयत्वस्य पादसेवनं प्रति कारणताम् उपपादयन्ति **तत्र प्रथमम्** इत्यादिना. **दुष्टानाम्** इत्यादि, दुष्टसम्बन्धिनो

लेखः

षण्णां पादसेवनादि-भक्तिकारणतायाः स्पष्टम् अप्रतीयमानत्वात् कथं तेषां तत्कारणता इत्यतः आहुः **तत्र दुष्ट** इत्यादि. **तत्र तत्र** इति, तत्तन्निरूपणावसरे इति अर्थः. **चक्षुष्मताऽपि** इति. भगवतो दुष्टदुर्ज्ञेयत्वे ज्ञाते हि "भगवान् न केनापि दृश्यः" इति वाक्ये **अस्मद्बुद्धीनां बाधप्रतीतिः** सर्वादृश्यत्वे बाधप्रतीतिः इति अर्थः. अत्र दृष्टान्तः **अन्धो न** इत्यादि. **अन्धो न पश्यतीति चक्षुष्मतापि न द्रष्टव्यं** किन्तु दृश्यतएव. तेन एवं दुष्टानां दुर्ज्ञेयत्वेऽपि भक्तानामपि दुर्ज्ञेयम् इति सिद्ध्यति किन्तु न इति अर्थः. **द्वितीये खण्डे** इति, पादसेवनादि-त्रयात्मके तस्मिन् इति अर्थः. **मदापेक्षिणाम्** इति, मदिराजनित-मदापेक्षिणाम् इति अर्थः. **स्वमलत्वेन** इति, अन्नमलत्वेन इति अर्थः. **अन्नोद्भवम्** इति. तन्मादकद्रव्यम् **अन्नोद्भवमिति** हार्देन

---

१. कारणतोपपादने इति भा.पाठे पार्श्वटिप्पणी - सम्पा. २. प्रवर्तत इति क-घ.

३. ओदनद्वारा इति मुद्रितपाठः. भा.पाठे तु एवम् - सम्पा.

तथा दैत्यांशानां गर्वाकाङ्क्षिणां सत्कुलोत्पत्तौ तत्कुलस्य मलत्वेन पर्यवसानात् मादकत्वम्. तथा सति सत्कुलोत्पन्नइति न तस्य सङ्ग्रहः कर्तव्यः ; एवम् उत्तरत्रापि. इममेव अवान्तरभेदं पुरस्कृत्य "विद्यामदो धनमदः[1]" (महाभा. ५।३४।४५) इति वाक्यं प्रवृत्तम्. **पुमान्** इति स्वातन्त्र्येण गुरुभिः अनियम्यः इति उक्तम्. अतएव **त्वाम् अभिधातुं न अर्हति.** यथा पूर्वं ब्राह्मणोऽपि जात्यन्तरम् आपन्नो मदिरामत्तो वेदं पठितुं न अर्हति, पठनेऽपि उन्मत्तप्रलपितमेव तत् न श्रोतव्यम्. यद्यपि भक्तौ सर्वे अधिकारिणः तथापि कृत्रिम-मदिरादि-सम्बन्धे वेदाधिकाराभाववद् मादकस्य न भगवच्छब्दोच्चारणाधिकारः, अतः तदाचाराद् न काचिद् व्यवस्था. ननु "जन्मकर्मावदातानाम्" (भाग.पुरा. ७।११।१३) इति वेदाधिकारोक्तेः तादृशस्य वेदाऽनधिकारो भवतु नाम, भगवतः पुनः सर्वात्मकत्वात्— "चक्राङ्कितस्य नामानि सदा सर्वत्र कीर्तयेद्" (पद्मपुरा. ५।८४।४५) इति स्मृतेश्च, "पतितः स्खलितः" (भाग.पुरा. १२।१२।४६) इति वाक्याच्च, महापातकिनोऽपि प्रायश्चित्तत्वेन[2] उक्तत्वाच्च— कथं मत्तस्य न अधिकारः इति चेत्,

प्रकाशः

ये तादृशव्यापाराः तेषाम्. **पेयम्** इति, सुरारूपम् अन्नमलम् इति शेषः. **तत्कुलस्य** इति, तस्य कुलस्य इति अर्थः. **जात्यन्तरम् आपन्नः** इति म्लेच्छादिभावं प्राप्तः. **मादकस्य** इति, मादकसम्बन्धिनः इति अर्थः.

लेखः

न पेयम्, अपितु मदजनकत्वेनैव पेयम् इति अर्थः. **पेयं भवति** इति. नहि तद् अन्नमलम् अन्नोद्भवत्वेन शिष्टैरपि ग्राह्यं भवति इति अर्थः. **तत्कुलस्य** इति. यत्कुले गर्वाकाङ्क्षिणः उत्पन्नाः तत्कुलं महदपि तान् प्रति मलरूपमेव इति अर्थः. **उत्तरत्राऽपि** इति, ऐश्वर्यादावपि इति अर्थः. **इममेव** इति. तथाच या विद्या मदोत्पादिका सा मलरूपैव ; या च तद्विपरीता सैव विद्या इत्यादिप्रकारकम् इति अर्थः ॥२६॥

१. "विद्यामदो धनमदः तृतीयोऽभिजनमदः, मदा एतेऽवलिप्तानाम् एतएव सतां दमाः" -सम्पा.

२. प्रायश्चित्तेनोक्तत्वाच्चेति घ-ङ.

तत्र आह **अकिञ्चनगोचरम्** इति. **अकिञ्चनाः** पूर्वोक्तधर्मरहिताः, तेषां **गोचरो** गम्यः. अयम् अर्थः — "न तादृशस्य अधिकारः" इति न स्वरूपतो अधिकारो निवार्यते किन्तु फलतः ; भगवानेव हृदये न आयाति. भगवद्गुणाश्च मुखे आगच्छन्तोऽपि व्यवहारत्वेन आगच्छन्ति, शौचे गङ्गाजलवद्, अकिञ्चनगोचर-स्वभावत्वात्. अद्यापि[१] लोके सर्वे सम्भाष्यन्ते, न मत्ताः. अतः तेषु कदाचिदपि भगवत्सान्निध्याभावाद् अनधिकारः इति उक्तम् ॥२६॥

ननु शिष्टैरपि न ज्ञायते, भगवतो अचिन्त्यमहिमत्वात्! सत्यं, तथापि "न ज्ञायते" इति ज्ञायते! तद् आह.

नमोऽकिञ्चनवित्ताय निवृत्तगुणवृत्तये ॥
आत्मारामाय शान्ताय कैवल्यपतये नमः ॥२७॥

नमो अकिञ्चनवित्ताय इति. अकिञ्चनाः वित्तं यस्य, अकिञ्चनानां वा वित्तम्. वित्तं हृदि[२] बहिरपि तिष्ठति वित्तवताम् ; तथा तेषु भगवान्, भगवति च ते. अतः तएव जानन्ति, न अन्ये इति अर्थः. तत्र हेतुम् आह **निवृत्तगुणवृत्तये** इति. निवृत्ताः गुणाः येषां ते निवृत्तगुणाः, तैः वर्तनं यस्य ; तेषु वृत्तिः यस्य इति वा, "हरिर्हि निर्गुणः" (भाग.पुरा. १०।८५।५), "मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्" (भाग.पुरा. ११।२५।२४) इति च भगवद्वाक्यात्. अतो निर्गुणगम्ये न सगुणगम्यत्वं, यथा चक्षुर्गम्ये

प्रकाशः

पूर्वोक्तधर्मरहिताः[३] इति उक्त-चतुर्विधमद-रहिताः. **इति** इति, इदं बोधयता अनेन वाक्येन इति अर्थः ॥२६॥

लेखः

नमोऽकिञ्चनवित्ताय इत्यत्र आभासे **तथापि न ज्ञायते** इति. "अस्माभिः भगवत्स्वरूपं **न ज्ञायते" इति** शिष्टैः भगवत्स्वरूपं **ज्ञायते** इति अर्थः ॥२७॥

---

१. यद्यपीति ख. २. हृद्यपि तिष्ठतीति क-घ-ङ. हृद्यपीत्येव तु ख.

३. पूर्वोक्तरहिता इति मुद्रितपाठः. कि.पाठे सुबोधिन्यां च एवम् - सम्पा.

न रसनागम्यत्वम्[१]. तत्रापि हेतुः **आत्मारामाय** इति, आत्मन्येव आरामो यस्य. अनेन स्वापेक्षाभावः उक्तः. परापेक्षायामपि **शान्ताय** शान्तरूपत्वात् न क्रूरैः अपेक्ष्यते इति अर्थः. किञ्च यैः अपेक्ष्यते तैः मोक्षार्थम् अपेक्ष्यते, नियतफलत्वात् तस्य ; अन्यत्तु काकतालीयं कथञ्चिद्[२] भवति. अतो (**कैवल्यपतये**!) मोक्षपतित्वाद् मुक्त्यधिकारिभिरेव सेव्यो, न अन्यैः इति अर्थः ॥२७॥

एवं प्रसङ्गात् स्वरूपं कथयन्ती[३] नमस्कारम् उक्त्वा पुनः प्रकृतं दुष्टदुर्ज्ञेयत्वं प्रकारान्तरेण आह.

मन्ये त्वां कालमीशानम् अनादिनिधनं विभुम् ॥
समं चरन्तं सर्वत्र भूतानां यन्मिथः कलिः ॥२८॥

मन्ये इति. दुष्टाः द्विविधाः — विषयपराः पूर्वोक्ताश्च. तत्र पूर्वोक्तानाम् अगम्यता निरूपिता, विषयपराणां च अगम्यताम् आह सम्भावनया[४]. एवं हि सम्भाव्यते— यदि विषयपराः भगवन्तं जानीयुः तदा कालग्रस्ताः न भवेयुः इति. भगवतएव कालत्वाद् ज्ञाते पुनः "ज्ञानी प्रियतमो मतः" (भाग.पुरा. ११।१९।३) इति वाक्यात् स्वप्रियं न भक्षयेत् कालः. अतः कालव्याप्तेः न भगवन्तं जानन्ति इति मन्ये. ननु कालस्य कथं भगवत्त्वं? तत्र आह **ईशानम्** इति, सर्वत्र तस्य ऐश्वर्यात्. नहि एतद् अभगवत्त्वे सम्भवति. किञ्च "सदेव सौम्येदमग्र आसीद्" (छान्दो.उप. ६।२।१) इत्यत्र, "नासदासीत् नो सदासीत् तदानीम्" (ऋक्संहि. १०।१२९।१) इत्यत्र च अग्रे 'तदानीं'पदवाच्यः कालः. तस्य अभगवत्त्वे वाक्यार्थो बाध्येत. अतएव **अनादिनिधनत्वात्** कालो भगवान्. किञ्च कालवशात् सर्वं भवति, अन्यथा शीतादिषु किं निमित्तं स्यात्? अतः

लेखः

मन्ये त्वां इत्यत्र. **वाक्यार्थो बाध्येत** इति. "सदेव.." इत्यादि वाक्यार्थो बाध्येत, 'अग्रे' इति पदेन कालस्यापि उक्तत्वात् ॥२८॥

---

१. रसनगम्यत्वमिति ख-ग.	२. कदाचिदिति क-घ-ङ.
३. कथयन्निति क-ग-ङ.	४. सम्भावनयेति नास्ति ख.

(**विभुं!**) सर्वभवनसमर्थत्वात् कालो भगवान्. किञ्च "निर्दोषं हि समं ब्रह्म" (भग.गीता ५।१९) इति वचनात् समत्वं भगवद्धर्मः, स च काले वर्ततइति कालो भगवान् इति आह **समं चरन्तं सर्वत्र** इति. सर्वत्र कालः समानेनैव ब्रह्मरूपेण प्रविशति. तत्र उपपत्तिः[१] **यत्** यस्मात् कालाद् **मिथः** परस्परं भ्रात्रादीनामपि (**कलिः!**) कलहः. पूर्वम् एकप्राणभूताअपि कालमेव निमित्तम् आसाद्य कलहेन म्रियन्ते इति अर्थः. एवं त्वमेव कालः इति कालग्रासाद् अवगम्यते "न कोऽपि त्वां जानाति" इति ॥२८॥

इदानीम् अवतीर्णन्तु सुतरां भक्ताअपि न जानन्ति इति आह.

न वेद कश्चिद् भगवंश्चिकीर्षितं
तवेहमानस्य नृणां विडम्बनम् ॥
न यस्य कश्चिद् दयितोऽस्ति कर्हिचिद्
द्वेष्यश्च यस्मिन् विषमा मतिर्नृणाम् ॥।२९॥

न वेद कश्चिद् इति. किं कर्तुं भगवान् विचारयति इति न कोऽपि वेद. ननु कार्यदर्शनेन ज्योतिश्शास्त्रेण वा यदेव जायते[२] तदेव भगवच्चिकीर्षितम् इति कुतो न वेद? तत्र आह **तव ईहमानस्य** इति. **नृणां विडम्बनम्** अनुकरणम् **ईहमानस्य चिकीर्षितं न वेद** इति अर्थः. [३]सामान्यव्यापारेणैव कार्यस्य सिद्धत्वाद् विशेषरूपम् अनुकरणं किं कार्याय इति भवति सन्देहः. ननु अस्य अनुकरणस्य कार्यं[४] स्पष्टमेव— पाण्डवरक्षा कौरववधश्च इति, भूभारहरणम् अर्जुनादीनां यशोदानं च ; तदपि न इति आह **न यस्य कश्चिद्** इति. पाण्डवरक्षादिकं[५] तदा विशेषकार्यं स्याद् यदि भगवतो मित्रोदासीनविद्विषो भवेयुः. तथा सति भगवत्त्वमेव न स्यात्. **कश्चिद्**

प्रकाशः

न वेद इत्यत्र. चिकीर्षिताऽवेदने हेतुम् आहुः **सामान्यतः** इत्यादि.

---

१. तत्रोत्पत्तिरिति घ-ङ. २. ज्ञायत इति घ. ३. सामान्यत इति पाठः प्रकाशे - सम्पा.

४. कार्ये इति ख. ५. पाण्डवरक्षादिकञ्चेति क-घ.

अपि **दयितो न,** क्वचिद् अपि दयितो न. एवं **द्वेष्यश्च कश्चिद्** अपि क्वचिद् अपि (न!). **चकाराद्** उदासीनः. तर्हि कथं कार्यं दृश्यते पाण्डवरक्षादि? नच कालाद् इति वक्तव्यं, कदाचिदपि कौरवरक्षाऽश्रवणात्. तत्र आह **यस्मिन् विषमा मतिः नृणाम्** इति. **यस्मिन्** त्वयि **नृणां** पाण्डवादीनां **विषमा मतिः** भवति— अयम् अस्माकं मित्रम्, अयं शत्रुः इति. नहि कलशादिषु वस्तुषु गृहे नीयमानेषु दर्शनात् शकुनादिसम्पत्तौ न(/अपि!) तेषां स्वरूपं भिद्यते. शुक्तिकायां वा रजतादिप्रतीतौ तस्य स्वाभाविकधर्मव्यतिरेकेण कश्चिद् अस्ति भ्रमहेतुः. स्वाभाविकस्यैव भ्रमहेतुत्वे सर्वेषामेव भ्रमः स्यात्! तस्मात् स्वगतदोषेणैव रागादिना त्वयि मित्रत्वादिप्रतीतिः,

---

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

अष्टमे अध्याये **न वेद कश्चिद्** इत्यत्र. **चकारादुदासीनः** इति. स्वरूपतः न मित्रं न वा शत्रुः किन्तु मैत्रीं कुर्वन् मित्रं, द्वेषं कुर्वन् शत्रुः —एवं तत्तदनुसारि इत्यपि न इति अर्थः. **तस्य स्वाभाविक** इति. **तस्य** पुरुषस्य **स्वाभाविको धर्मो** विशेषानालोचनादिरूपः, तद्व्यतिरेकेण इति अर्थः. **स्वाभाविकस्यैव** इति, शुक्तेः स्वाभाविकस्य चाकचिक्यादेः

प्रकाशः

क्वचिद् इति कस्मिन्नपि काले. स्वाभाविकधर्मस्य भ्रमहेतुत्वे भगवद्धर्माणामेव मित्रादिभावं प्रति हेतुता आयाति इति आशङ्कां वारयितुम् आहुः **स्वाभाविकस्य**

लेखः

न वेद इत्यत्र. **कदाचिदपि कौरवरक्षाऽश्रवणाद्** इति. यदि कालएव निमित्तं स्यात् तदातु तस्य चक्रवत् परिभ्रमणस्वरूपत्वात् कदाचित् कौरवरक्षापि आपद्येत, तत्तु न दृश्यतइति तथा इति अर्थः. **नहि कलशादिषु** इति. तथा भगवानपि उपकारं कुर्वन्नपि न मित्रो भवति इति अर्थः. **तस्य स्वाभाविक** इति. **तस्य** प्रत्ययस्य शुक्तिनिष्ठ-**स्वाभाविकधर्मव्यतिरेकेण** आगन्तुकः **कश्चन** चाकचिक्यादिरेव **भ्रमहेतुः अस्ति,** नतु स्वाभाविकः इति अर्थः. एवमेव भगवति जीवदोषेण शत्रुत्वादिभावो भ्रमएव इति भावः ॥२९॥

नतु त्वयि तादृशो धर्मः कश्चिद् अस्ति इति अर्थः. ननु तदनुसरणं[१] धर्मो भगवति अस्ति यतः सर्वभावितइव[२] भवति. तदपि नास्ति इति आह **च**कारेण. मित्रत्ववद् अनुसारित्वमपि भ्रान्तम् इति अर्थः ॥२९॥

एवं दुष्टदुर्ज्ञेयत्वं निरूप्य लक्षणं निरूपयति द्वाभ्यां **जन्म कर्म च** इति.

जन्म कर्म च विश्वात्मन्नजस्याकर्तुरात्मनः ॥
तिर्यङ्नृषिषु यादस्सु तदत्यन्तविडम्बनम् ॥३०॥

भगवतः सर्वानुकरणरूपो धर्मो लक्षणम् = असाधारणो धर्मः. नटादिरपि किञ्चिद्द्रव्यान्तरसम्बन्धेन तथा स्वात्मानं प्रकाशयति, भगवांस्तु केवल[३] एव अविक्रियमाणएव परमानन्दरूप[४] एव नरदेहेन्द्रियरूपेण दृश्यरूपेण स्वात्मानं ख्यापयति. एतद् भगवतो असाधारणं लक्षणम्. एतदज्ञाने कोऽपि भगवन्तं न पूजयेत्. नच[५] अस्य मोहकत्वं, लक्षणत्वात्. अन्यथा सर्वेषामपि मोहो भवेत्! तस्माद् अनुकरणं भगवल्लक्षणम् इति ज्ञेयम्. तत्र चेद् भ्रमः, पूर्ववत् स्वदोषेणैव दुष्यति, न भगवतः कश्चिद् दोषः इति अर्थः. ननु युक्तिबाधितं न वेदोऽपि बोधयतीति कथं भगवतो अनुकरणं सम्भवति? तत्र आह **विश्वात्मन्** इति. यथा भगवान् [६]अविक्रियमाणएव विश्वरूपो

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इति अर्थः. **तदनुसरणम्** इति, पूर्वोक्तम् उदासीनत्वम् इति अर्थः ॥२९॥

जन्म कर्म च इत्यत्र. **सर्वानुकरण** इति, तिर्यगाद्यनुकरणम् इति अर्थः. लक्षणपूजनकारणताम् उपपादयन्ति **एतदज्ञाने** इति. अनुकरणत्वाज्ञाने तिर्यगादिरेव अयम् इति स्वतुल्यताबुद्ध्या **न पूजयेद्** इति अर्थः ॥३०॥

प्रकाशः

इत्यादि. **सर्वभावितः** इति इतजन्तं, सञ्जातसर्वभावः इति अर्थः ॥२९॥

जन्म कर्म च इत्यत्र. **न पूजयेद्** इति. मनुष्यादिरूपतयैव ज्ञानात् तथा इति लक्षणज्ञानस्यैव तद्रूपपूजनहेतुत्वम् इति अर्थः. अस्य अनुकरणस्य

---

१. तदनुस्मरणमिति ग. २. इतीति ख. ३. केवलमविक्रियमाण इति घ.
४. अयमानन्देत्यादिः क-घ-ङ. ५. न वाऽस्येति ग-घ. ६. भगवान्विक्रियमाण इति घ.

जातः तस्य अनुकरणे कः प्रयासः इति भावः. **अजस्य जन्म, अकर्तुः कर्म,** पुरुषोत्तमस्य **आत्मनो** व्यापकस्य **तिर्यक्षु** वराहादौ **नृषु** रामादौ **ऋषिषु** वामनादौ **यादस्सु** मत्स्यादौ (**तत्**!) तत्तद्रूपेण स्फुरणम् **अत्यन्तम्** (**विडम्बनम्**!) अनुकरणम्. पुरुषोत्तमत्वमपि ज्ञापयन् मनुष्यत्वादिकमपि ज्ञापयति, विश्वस्मिंस्तु ब्रह्मत्वे ज्ञाते न जगत्त्वेन ज्ञायते. तस्माद् अनुकरणलक्षणो असाधारणो भगवद्धर्मः. अतो न अनेनापि भगवति सन्देहो युक्तः इति सिद्धम् ॥३०॥

ननु विशेषदर्शनात् सन्देहो गमिष्यति, किं तद्धर्मवत्त्वेन ज्ञापनेन? तत्र आह **गोप्याददे** इति.

गोप्याददे त्वयि कृतागसि दाम तावद्
या ते दशाश्रुकलिलाञ्जनसम्भ्रमाक्षम् ॥
वक्त्रं निनीय भयभावनया स्थितस्य
सा मां विमोहयति भीरपि यद् बिभेति ॥३१॥

एतादृशम् अनुकरणं भगवतो, यद् विशेषदर्शनेऽपि जाते (**विमोहयति**!) भ्रमम् उत्पादयति. तत्र अहमेव दृष्टान्तः. कदाचिद् अहं गता गोकुले त्वां द्रष्टुम्. तस्मिन् समये **गोपी** यशोदा शिलापुत्रेण भाण्डभेदने कृते

प्रकाशः

अत्यन्ततां स्फुटीकर्तुम् आहुः **विश्वस्मिन्** इत्यादि. तथाच अस्मिन् अनुकरणे उभयथा ज्ञायतइति हेतोः अस्य अत्यन्तत्वम् इति अर्थः. अत्यन्तत्वम् अत्र आश्चर्यजनकत्वरूपं ज्ञेयम् ॥३०॥

लेखः

तिर्यङ्नृषिषु इत्यत्र. “ऋति सवर्णे ऋ वा” (पाणि.सूत्र.वार्ति. ६।१।१०१) इति “अकः सवर्णे” (पाणि.सूत्र ६।१।१०१) इति दीर्घे प्राप्ते ह्रस्वऋकारो अनेन विधीयते इति प्राञ्चः[१]. अर्वाचीनास्तु वर्णान्तरमेव विधीयते, नतु अपवादः इति आहुः. उभयथापि रमणीयम् इदम् ॥३०॥

---

१. नृषु च ऋषिषु च इति नृ+ऋ सवर्णरूपयोः सन्धिः दीर्घेन ऋकारेण भाव्या, परन्तु वैकल्पिकत्वाद् दीर्घाभावः इति आशयः - सम्पा.

कृतागसि त्वयि दाम आददे. तदा तावत् तदानीमेव **या ते दशा** जाता. ननु सा स्वभावत[१]एव तव दशा भविष्यति! तत्र आह **अश्रुकलिलाञ्जनसम्भ्रमाक्षम्** इति, अश्रुभिः कलिलं यद् अञ्जनं तेन सम्यग्भ्रमयुक्ते अक्षिणी यस्य इति. तादृशं (**वक्त्रं निनीय!**) मुखं नीचतया स्थापयित्वा **स्थितस्य** तव इति पूर्वेण सम्बन्धः. एवं सर्वैः ज्ञातम् (**भयभावनया!**) अयं सर्वथा भीतः इति. ननु एवम् अस्तु, को दोषः इति चेत्, तत्र आह **भीरपि यद् बिभेति** इति. यद् भयं मृत्युरूपं तस्यापि भयं यतो भगवतो भवति. भीतत्वं भयहेतोः बाधको धर्मः ; नहि तस्मिन् विद्यमाने कस्यचिद् भयं सम्भवति. एवं भगवति विरुद्धधर्मत्वं, तत्सम्बन्धाद् अन्यत्रापि विरुद्धधर्मत्वम् इति लक्षणम् उक्तम् ॥३१॥

जन्मकारणनिर्धारम् आह **केचिदाहुः** इति चतुर्भिः. नमनार्थं जन्मनिर्धारः कर्तव्यः. देहान्तःकरणात्मनाम् उत्तरम् उत्तरं श्रेयः. ततो देहत्वेन अनमनीयत्वेऽपि भगवदवतारत्वे ज्ञाते नमनीयत्वं सिद्ध्यति. तत्र तादृशस्य कथम् अनमनीयदेहः इति शङ्का. तत्र ऋषिभेदेन स्वयोगजधर्मभेदात् परमार्थतो भगवदिच्छाऽज्ञानाच्च

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

केचिदाहुः इत्यत्र. जन्मकारणनिर्धारस्य नमनकारणताम् उपपादयन्ति **नमनार्थम्** इति ॥३२॥

प्रकाशः

गोपीत्यत्र. सा कुतो न स्वाभाविकी इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **तत्र आह** इति. तद् उपपादयति इति अर्थः ॥३१॥

केचिदाहुः इत्यत्र. **भगवदिच्छाज्ञानाद्** इति, इच्छायाः अज्ञानाद्

लेखः

गोपी इत्यत्र. **तत्सम्बन्धादन्यत्राऽपि** इति. जीवस्य भगवतः सकाशाद् भयम् अपेक्षितं ; तद् अत्र विपरीतं पश्येद्, अतो भगवतो भयं जातम् इति तद् भगवत्सम्बन्ध-माहात्म्यम् इति अर्थः ॥३१॥

---

१. स्वत एवेति ग.

चतुर्विधाः ऋषयः स्व-स्वबुद्ध्यनुसारेण देहसम्बन्धप्रयोजनं कथयन्ति.

वंशकर्ता पिता चैव मुख्यौ देहनिरूपकौ ॥
दुःखाभावश्च मोक्षश्च द्वावर्थाविह सम्मतौ ॥(५)॥

अर्थद्रव्यविरोधे[१] अर्थो बलीयान् इति तदर्थं[२] मतभेदाः. अर्थस्य गुणभावे[३] देहमुख्यतया मतद्वयम्, अर्थप्राधान्ये च मतद्वयम्[४] अस्ति. तत्र वंशकर्तुः मुख्यत्वाद् महत्त्वाच्च[५] तदीयत्वख्यापनेन तस्य कीर्तिः भवतीति धर्मप्राधान्येन यदुवंशे अवतीर्णः इति आह **केचिद्** आहुः इति.

केचिदाहुरजं जातं पुण्यश्लोकस्य कीर्तये ॥
यदोः प्रियस्यान्ववाये मलयस्येव चन्दनम् ॥३२॥

अजं जातम् इति पूर्ववद् विरुद्धधर्माश्रयत्वम्. **पुण्यश्लोकस्य यदोः**, अतएव तथैव शास्त्रार्थो निर्धारितइति "तत्र अंशेन अवतीर्णस्य" (भाग.पुरा. १०।१।२) इति उक्तम्. **प्रियस्य** इति पुष्टिमार्गभक्तत्वात्. **मलयस्येव चन्दनम्** इति. यथा "वन्दामहे[६] मलयमेव[७]" (भर्तृ.नीतिशतक ८०)

लेखः

केचिदाहुः इत्यत्र. **चतुर्विधाः** इति. चतुर्विध-जन्म**प्रयोजनं कथयन्ति** इति अर्थः. श्लोकेन अर्थः सङ्गृह्यते **वंशकर्ता** इत्यादि. **वंशकर्ता** मूलपुरुषः. तथाच इदं पक्षद्वयमपि बीजरूपं द्रव्यं प्रधानीकृत्य प्रवृत्तम् इति भावः. **द्वावर्थौ** इति. इदं द्वयमपि द्रव्यं गुणीकृत्वा अर्थप्रधानत्वेन प्रवृत्तम् इति भावः. द्रव्यप्रधान-मतद्वयापेक्षया अर्थप्रधानमतद्वयं ज्यायः इति आशयेन आहुः **अर्थद्रव्यविरोधे** इत्यादि. **इत्युक्तम्** इति. 'तत्र'पदेन यदोः अनुकीर्तनेन तत्सम्बन्धदार्ढ्यज्ञापनाद् इति भावः. **यथा मन्यामहे** इति. "किं तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणा वा, यस्मिंस्थितास्तु तरवस्तरवस्तएव, मन्यामहे मलयमेव नगाधिराजं, शाखापि निम्बकटुजाअपि चन्दनाः स्युः" इति वाक्यं कैश्चिद्

---

१. अथ द्रव्यविरोधे इति ख.　२. तदयमिति घ.　३. गुणभावदेहे इति घ.

४. मतद्वयमितीति ख.　५. महच्चेति ख.　६. मन्यामहे इति पाठः लेखे - सम्पा.

७. "किं तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणा वा, यत्र स्थिता हि तरवः तरवस्तएव, मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण, कंकोल-निम्ब-कुटुजाअपि चन्दनाः स्युः" इति उपलब्धः प्रकाशितपाठः - सम्पा.

इत्यादि मलयस्य यशः एवं **यदोरपि**, (**अन्ववाये कीर्तये!**) तद्वंश्यानां भगवत्सन्निधानेन भगवत्सारूप्यात् ॥३२॥

अपरे वसुदेवस्य देवक्यां याचितोऽभ्यगात् ॥
अजस्त्वमस्य क्षेमाय वधाय च सुरद्विषाम् ॥३३॥

अपरे पुनः— दूरसम्बन्धम् असहमानाः प्रसङ्गादपि कीर्तिसम्भवात् कृतप्रयत्नत्वात् च वसुदेवस्य निर्दुष्टत्वाच्च अर्थपुरस्सरं[१] प्रवर्तमानाः— ऋषयो **वसुदेवस्य** सम्बन्धिन्यां **देवक्यां** पुत्रत्वेन **याचितः** सन् **अजएव** जातः इति आहुः. तद् आह **अपरे** इति. सो **अजः त्वम्**एव इति पृथग्योजना. ''पित्रोः सम्पश्यतोः सद्य'' (भाग.पुरा. १०।३।४६) इति प्राकृतरूपप्रदर्शनाद् भिन्नशङ्का स्यात्, सापि अनेन निवारिता. तत्र हेतुः **अस्य क्षेमाय**

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

अपरे इत्यस्य आभासे **अर्थपुरस्सरम्** इति. धर्मार्थकाममोक्षाः प्रयोजनत्वेन चतुर्भिः श्लोकैः क्रमेण उक्ताः इति भावः ॥३३॥

प्रकाशः

इति अर्थः. यशःस्वरूपं तद्बीजकथनमुखेन आहुः **तद्वंश्ये**त्यादि. यथा चन्दनसन्निहित-वृक्षान्तराणां तथा इति अर्थः ॥३२॥

अपरे इत्यत्र. देहमुख्यत्वेऽपि तुल्ये कथं द्वितीयमतम् इति अपेक्षायां मतान्तरे बीजम् आहुः **अपरे** इत्यादि. **कृतप्रयत्नत्वाद्** इत्यपि वसुदेवविशेषणं ; कृततपस्त्वाद् इति अर्थः. **अनेन** इति, अजस्यैव जातत्वकथनाद् विरुद्धधर्माश्रयत्वबोधनेन इति अर्थः. **तत्र** इति जनने.

लेखः

अभियुक्तैः उक्तम् ॥३२॥

अपरे इत्यत्र. **कृतप्रयत्नत्वाद्** इति, तपश्चर्यादिना भगवदर्थं कृतप्रयत्नत्वाद् इति अर्थः. **अर्थपुरस्सरम्** इति. यद्यपि तेषां प्रधानन्तु द्रव्यमेव, यतो देहपुरस्कारेणैव वर्णितत्वात्, तथापि **अजत्वमस्य क्षेमाय** इत्याद्युक्त्या आनुषङ्गिकत्वेन अर्थपरत्वमपि इति अर्थः.

---

१. अर्थपुनस्सरमिति ग.

इति, जगतो युधिष्ठिरस्य वा. (**सुरद्विषां वधाय**!) अतएव "जातः कंसवधार्थाय" (मध्व.जयन्तीकल्पे १०) इत्यादि वाक्यानि. अनेन द्वयं प्रयोजनं भिन्नम् इति ज्ञापितं, देवानां भिन्नतया हितकरणात्. **चकारात्** तेषामपि कृतार्थत्वाय, सुरद्वेषित्वेन स्वतो मुक्त्यभावात्. अनेन भगवतो दोषाभावो निरूपितः. अतएव उभयोः कार्यता, अन्यथा वैषम्यं स्यात् ॥३३॥

अन्ये पुनः– कालान्तरीयत्वाद् वसुदेवस्यापि "अर्थो बलीयान्" इति न्यायं पुरस्कृत्य– कामप्रधानाः भूमिभारहरणार्थं भगवान् आगतः इति आहुः. तद् आह.

भारावतारणायान्ये भुवो नाव इवोदधौ ॥
सीदन्त्या भूरिभारेण जातो ह्यात्मभुवार्थितः ॥३४॥

भारेति. ननु* भगवति सपरिकरे समागते परम् अधिको भारो भवति, नतु भारावतारणम्[१]. भारकर्तृषु भूमौ वा बलत्वेन प्रविष्टे भारनाश-

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

भार इत्यत्र. **बलत्वेन** इति. परिकररहितः स्वयमेव तावत्सेनारूपत्वेन तत्सङ्घे प्रविष्टः तान् मारयेत् चेद् इति अर्थः ॥३४॥

प्रकाशः

अनेन इति दैत्यमुक्तिदातृत्वसूचनेन. **अतएव** इत्यादि. दैत्यमुक्तिदातृत्वादेव **उभयोः** एतत्क्षेमाऽसुरवधयोः भगवत्कार्यत्वम् इति अर्थः. **अन्यथा** इति मुक्तिदानं विना असुरवधस्य कार्यत्वाङ्गीकारे ॥३३॥

भारावतारणेत्यत्र. कालान्तरीयत्वाद् इति पूर्वजन्मद्वयसम्बन्धेन तथात्वात्. तथाच तदर्थम् आविर्भावे पूर्ववद् अंशेन प्रादुर्भवेत्, नतु पूर्णः तथा भवेद्, अतो न इदं प्रयोजनम् इति तेषाम् आशयः. **कामप्रधानाः**

लेखः

जातः कंसवधार्थाय इति वाक्यम् ... ॥३३॥

भारावतारणाय इत्यत्र. **भारकर्तृषु** इत्यादि, दैत्यादिषु इति अर्थः.

१. भारावतरणम् इति मुद्रितपाठः. गपाठे तु एवम् - सम्पा.

एव, नतु भारोत्तारणम्[१]. भारकर्तॄणाम् अधःपातने[२] वैषम्यम्. मुक्तिदाने पूर्वोक्तपक्षाविशेषः स्वतन्त्रफलता च स्याद् *इति चेद्, न. अयं भारो न दैहिकः किन्तु उद्वृत्तचेष्टाहेतुको[३] मानसः. सोऽपि अतिभावनया दैहिकइव भवति. तत्र भूमौ भगवति[४] समागते तत्र चित्ते जाते उद्वेजकविस्मरणाद् भारोत्तारणम्. बुद्ध्या हि भारः आरोपितः. शीघ्रं प्रतीकारकरणाय आह **नाव इव उदधौ** इति. अनेन वैषम्यात् कालस्यापि मज्जनहेतुत्वं सूचितम्— यथा तरङ्गादिः आधारदोषः तथा धर्मक्षयादिरपि कालदोषः. तस्मात् कालाधारायाः पृथिव्याः आधाराधेयोभय-दोषसम्भवात् शीघ्रं प्रतीकारः कर्तव्यः इति अर्थः. अन्यथा पुनः भूमेः उद्धारः कर्तव्यः पतति, सृष्टिश्च. अतएव

प्रकाशः

इति त्रिवर्गप्रधानाः. **स्वतन्त्रफलता** इति, भारावतरणस्य इति शेषः. तथाच सुखसाधनस्य स्वतन्त्रफलता इति विरुद्धम् आपद्येत इति भावः. **दैहिकइव भवति** इति, दैहिकइव भासते. ननु विस्मरणे कथम् उत्तारणमिव इत्यतः आहुः **बुद्ध्या हि** इत्यादि. तथाच आरोपकाभावाद् अधःपातः इति उत्तारणम् इति अर्थः. **अनेन** इति उदधि-नौ-दृष्टान्तेन. **अनभिप्रेतत्वम्**

लेखः

अधःपातने इति, नरकपातने इति अर्थः. **स्वतन्त्रफलता** इति. यदि भारावतारणमात्रेण सर्वेषां मोक्षः तदा भारावतारणमेव स्वतन्त्रं फलं स्यात्, तच्च भक्त्यर्थित्वाभावाद् विरुद्धम् इति भावः. ननु यदि उद्वृत्तचेष्टाहेतुको मानसएव पृथिव्याः भारः तर्हि **आक्रान्ता भूरिभारेण** इत्यादि दैहिककष्टनिरूपणं तस्याः कथं संगच्छताम् अतः आहुः **सोऽप्यति** इति. मानसोऽपि सः निरन्तरं तत्क्लेशभावनया देहबाधकोऽपि जातः इति अर्थः. **तत्र चित्ते** इति, भगवति पृथिव्याः चित्ते जाते इति अर्थः. **उद्वेजक** इति, उद्वेजकानाम् असताम् अस्मरणाद् इति अर्थः. **वैषम्याद्** इति. ... . ननु कालस्य कथं मज्जनहेतुत्वम् अतः आहुः **तथा धर्मक्षयादि** इति. **कालदोषः** इति, आधारभूत-कालदोषः इति अर्थः. **आधेय** इति, **आधेयाः** उद्धृतपुरुषाः.

१. भारोत्तरणमिति घ. २. अधःपातेनेति घ. ३. उद्धतचेष्टेति घ. ४. भवतीति ग.

ब्रह्मणः प्रार्थना इति आह **आत्मभुवा अर्थितः** इति. **आत्मभुवा** इति, स्वस्यापि ब्रह्मजननं पतति इति भावः. स्त्री-पुत्रप्रार्थनया[१] कृतम् इति कामत्वाद् भगवतो अनभिप्रेतत्वं सूचितम्. (**सीदन्त्या भूरिभारेण!**) अवसादनेन विशीर्णतायां पुनर्निर्माणं च[२] कर्तव्यं स्यात्, तथाच एकदेशनिर्माणासम्भवाद् नूतनब्रह्माण्डनिर्माणमपि आपतेद्, अतो भगवता[३] एवं कृतम् इति. एकपक्षे इतरप्रयोजनं प्रासङ्गिकम् इति द्रष्टव्यम्, अन्यथा अर्थभेदाद् अवतारभेदो भवेत्. एतेषां पक्षाणां पूर्वपक्षत्वाद् न पर्यवसानकथनम् ॥३४॥

केचन पुनः (मोक्षप्रधानाः!) भगवद्विचारेण त्रैवर्गिकार्थस्य हीनत्वं विचार्य भगवत्क्रियमाणेनैव[४] हेतुना सर्वमुक्त्यर्थं भगवदवतारः इति आहुः. तद् आह **भवे अस्मिन्** इति.

भवेऽस्मिन् क्लिश्यमानानामविद्याकामकर्मभिः ॥
श्रवणस्मरणार्हाणि करिष्यन्निति केचन ॥३५॥

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

भवेऽस्मिन् इत्यस्य आभासे. **हेतुना** इति, मुक्तिहेतुना चरित्रेण

प्रकाशः

इति, भारावतारणार्थं स्वावतारस्य तथात्वम् इति अर्थः. **एवं कृतम्** इति, अनेन प्रकारेण भारावतारणं कृतम्. ननु देवहितकरणादीनामपि प्रयोजनानां दृश्यमानत्वात् कथम् एकमेव प्रयोजनत्वेन उच्यते इत्यतः आहुः **एकपक्षे** इत्यादि. सर्वेषां मुख्यप्रयोजनत्वाङ्गीकारे को दोषः इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **अन्यथा** इत्यादि. एकस्मिन् देहे प्रयोजनभेदेन नानारूपस्थितेः श्रुतिसिद्धत्वेन निबन्धे दर्शितत्वाद् अत्रापि तद्भेदे तथा स्याद् इति अर्थः ॥३४॥

लेखः

स्त्रीपुत्र इति. **स्त्री** पृथिवी, **पुत्रो** ब्रह्मा, तदर्थित्वेन भारस्य हरणाद् न इदमेव अवतारकार्यं मुख्यत्वेन अभिप्रेतम् इति अर्थः ॥३४॥

---

१. स्त्रीपुत्रप्रार्थनाकृतमिति ख. २. चकारो नास्ति घ.

३. भगवतैवेति ग. ४. एवकारो नास्ति ग.

स्वाभिप्रेतत्वन्तु स्वरूपनिरूपणएव उक्तम्. मुक्तिप्रकरणे श्रवणादीनां धर्मत्वं, न भक्तित्वम् इति विशेषः. **भवे** इति निरन्तरोत्पत्तिमार्गाद् गमनेन, **अस्मिन्** इति अनेकदुःखप्रदर्शनात् स्थित्या[१] च, क्लेशस्य असह्यता निरूपिता. **अविद्या** स्वरूपाज्ञानं, ततः **कामो**[२] विषयेच्छा– नहि परमानन्दे स्फुरति विषयेच्छा भवति– ततः तदर्थं त्रिविधानि **कर्माणि. (क्लिश्यमानानां श्रवणस्मरणार्हाणि करिष्यन्!)** श्रवणादेः कर्मणो अविद्या-काम-

---

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इति अर्थः. व्याख्याने **स्वाभिप्रेतत्वम्** इति. भक्तियोगविधानं स्वाभिप्रेतं प्रयोजनम् इति भावः. **क्लिश्यमानानाम्** इति शानचो अर्थम् आहुः **स्थित्या च** इति. **श्रवणस्मरणयो**: इति, कृतयोः इति शेषः. **अर्थ**

प्रकाशः

भवेऽस्मिन् इत्यत्र. **स्वरूपनिरूपणे** इति, "तथा परमहंसानाम्" (श्लो. २०) इति श्लोके इति अर्थः. ननु तत्रापि 'भक्तियोग'पदेन श्रवणादिरेव विवक्षितइति तस्माद् अस्य को विशेषो, येन अस्य पूर्वपक्षकोटिपातः इत्यतः आहुः **मुक्तीत्यादि. निरन्तरोत्पत्तिमार्गाद् गमनेन** इति. "जायस्व म्रियस्व" (छान्दो.उप. ५।१०।८) इति श्रावितो **निरन्तरोत्पत्तिमार्ग**:, ल्यब्लोपे पञ्चमी, तं प्राप्य कालिकप्रलयादिविचारेण यद् **गमनं** पूर्वावस्थानिवृत्तिः तेन भवे उत्पत्तिः इति अर्थः. **स्थित्या** इति वर्तमानार्थक-शानज्-बोधितया

लेखः

भवेऽस्मिन् इत्यत्र. **स्वरूपनिरूपणे** इति. "तथा परमहंसानाम्" (श्लो. २०) इत्यनेन भक्तियोगवितानार्थत्वं निरूपितम् इति अर्थः. ननु अत्रापि **श्रवणस्मरणार्हाणि** इत्युक्त्या भक्तिरेव उच्यतइति ततः को विशेषः इत्यतः आहुः **मुक्तिप्रकरणे** इति. तथाच अत्र मोचनसाधनत्वेन धर्ममध्ये पाताद् धर्मत्वमेव अत्र भक्तित्वं, नतु स्वतन्त्रतया भक्तिः उच्यतइति अयमेव विशेषः इति अर्थः ॥३५॥

---

१. स्थित्याऽपीति क-घ. २. कामविषयेच्छेति ग.

कर्मनिवर्तकत्वं पञ्चमाध्याये निरूपितम्— श्रवण-स्मरणयोः भगवद्धर्मपरत्वे[1] प्राकृत-बाह्याभ्यन्तर-सङ्गाभावाद् न जन्मक्लेशः, अर्थविवक्षया च स्थितौ सर्वस्य भगवत्त्वेन ज्ञानाद् न दुःखदर्शनक्लेशोऽपि. अन्यथा परमकारुणिको भगवान् कूपे अन्धपातनन्यायेन लोकानां त्रैवर्गिकसिद्धये न अवतरेत्. दृढमूलत्वज्ञापनाय 'त्रिविधताप'पदं परित्यज्य **अविद्यादिपदप्रयोगः** कृतः ; अहेतुक-क्लेशप्रदर्शनेतु निर्मूलकत्वात् स्वतएव दुःखनाशो भवेदिति श्रवणादीनां वैयर्थ्यं स्यात्. अतो भगवान् मुक्त्यर्थमेव अवतीर्णः इति सिद्धम्. अवतीर्णएव भगवति अर्हता भवति श्रवणादिविषयस्य ॥३५॥

एवं जन्मकारणनिर्धारम् उक्त्वा फलनिर्धारम् आह **शृण्वन्ति** इति.

शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः ॥
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम् ॥३६॥

दास्ये हि फलनिर्णयः कर्तव्यः ; धर्मादिवद् व्यभिचारिफलत्वे परम्पराफलत्वे अन्यफलत्वे वा स्वतः सेवां कः कुर्यात्! यद्यपि

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इति. चरित्रप्रतिपादक-वाक्यानां अर्थं विवक्षुः यदा तिष्ठति तदा श्रोतव्यतावच्छेदक-सर्वात्मत्वेन ज्ञानं भवति इति अर्थः. **अन्यथा** इति, मोक्षदानरूप-प्रयोजनाभावे इति अर्थः. **श्रवणादिविषयस्य** इति, चरित्रस्य इति अर्थः. सिद्धान्येव चरित्राणि **श्रवणस्मरणार्हाणि करिष्यन्** जातः इति मूलार्थः इति भावः ॥३५॥

शृण्वन्ति इत्यत्र. फलनिर्णयस्य करणताम् उपपादयन्ति **दास्ये हि** इति ॥३६॥

प्रकाशः

स्थित्या. **निरूपितम्** इति, "एवं नृणां क्रियायोगाः" (भाग.पुरा. १।५।३४) इत्यादिना निरूपितम्. **भगवद्धर्मपरत्वे** इति तद्विषयत्वे ॥३५॥

शृण्वन्ति इत्यत्र. **स्वतः सेवाम्** इति स्वतःपुरुषार्थरूपां सेवाम्.

---

१. धर्मपरत्वे इति क-ङ.

स्वरूपनिरूपणेनैव[१] एतत् सिद्ध्यति– परब्रह्मत्वे भगवतः स्वस्य च जीवत्वे दासत्वाद् दास्यसिद्धिः इति– तथापि [२]योग्यतामात्रं सिद्ध्येद्, न फलमुखतया. अतः श्रवणादिभिः यदि पदं पश्येत् तदैव दास्यं कुर्याद् इति युक्तं फलनिरूपणम्. **ईहितं** चेष्टितं, भगवत्प्रयत्नमात्रनिष्पन्नम् इति अर्थः. **तव** इति अवतीर्णस्य. यथा सर्वे[३] पदार्थाः जगति तत्र तत्र सिद्धाः तथा सन्तो भगवत्कथा च गङ्गावद् देशविशेषे नियताः. तथाच "गङ्गायां स्नायाद्" इत्यत्र न[४] गङ्गायाम् आगतायां स्नायाद् इति किन्तु स्वयम् उद्यम्य तीर्थम् उद्धृत्य महता प्रयत्नेन अन्तःप्रविश्य स्नायाद् इति. एवम् अत्रापि वक्तरि सति **शृण्वन्ति** इति न किन्तु (**अभीक्ष्णशः!**) सतां स्थाने गत्वा यथा वदन्ति तथा उपायं विधाय समनस्केन्द्रियैः सम्यक्शक्तितात्पर्य-निर्णयः कर्तव्यः इति अर्थः. कृते च निर्णये तदानन्दे हृदि आविर्भूते रसेन **गायन्ति.** ततो रसपरवशाः सन्तो अन्यान् कांश्चित् पुरस्कृत्य **गृणन्ति** उपदिशन्ति. एतेषां हेतु-हेतुमद्भावो[५] अग्रे वक्तव्यः. ततः सर्वेषां पदार्थानां भगवत्सम्बन्धित्वेन श्रुतत्वाद् यं कञ्चन पदार्थं दृष्ट्वा **ईहितम्** एव **स्मरन्ति.** ततः स्वतन्त्रफलत्वाद् आनन्दहेतुत्वाच्च स्वतएव **नन्दन्ति** अन्तः आनन्दयुक्ताः भवन्ति इति अर्थः. एवं श्रवणकीर्तनानि सावान्तरफलानि निरूपितानि. अतो महाफलनिरूपणाय अवान्तरफलवतामेव

प्रकाशः

एतद् इति स्वतःसेवनरूपं दास्यम्. तर्हि किमिति फलनिरूपणम् इत्यतः आहुः **तथापि** इत्यादि. **एवम् अत्रापि** इति, स्वयम् उद्यम्य इति अर्थः. **एतेषाम्** इति श्रवण-गानोपदेशानां, स्मरण-नन्दन-सहितानां वा. **श्रवणकीर्तनानि** इति बहुवचनं गानस्यापि उपलक्षकम्. **अवान्तरफलं** स्मरणानन्दौ. **अतः**

लेखः

शृण्वन्ति इत्यत्र. **स्वरूपयोग्यता** इति. "ब्रह्मदाशा" (अथर्वपीप्पलाद-संहि. ८।९।१०) इति श्रुतेः इति भावः. **अग्रे** इति. ... ॥३६॥

---

१. स्वरूपनिरूपणेनैव तदिति ख. स्वरूपनिरूपणेनैतदिति क-घ-ङ. २. स्वरूपयोग्यता इति पाठः लेखे -सम्पा. ३. सर्वपदार्था इति ख-ग. ४. नेति नास्ति घ. ५. हेतुमद्भाव इति क-ख.

महाफलम् इति निरूपयति **त एव पश्यन्ति** इति. **अचिरेण** इति पदादेव अयोगो व्यवच्छिन्नः. कालस्य अहेतुत्वादेव न कालविलम्बो बाधकः. यथा कश्चित् समुद्रे मज्जन्[१] तीरं[२] पश्येत् तथा **भवप्रवाहस्य उपरमो यत्र** तादृशं[३] तीरभूतं **(तावकं!) पदाम्बुजं** पश्येत् ॥३६॥

एवं फलं निरूपय दैन्यं निरूपयति **अप्यद्य** इति चतुर्भिः.

अप्यद्य नस्त्वं स्वकृतेहित प्रभो जिहाससि स्वित्सुहृदोऽनुजीविनः ॥
येषां न चान्यद् भवतः पदाम्बुजात् परायणं राजसु योजितांहसाम् ॥३७॥

सख्ये हि दैन्यनिवृत्तिः. दैन्यं हि अन्तःकरणधर्मः, स यदा स्फुरति स दीनः. स च त्वयि सति विषयाभावे न स्फुरितः. इदानीं पुनः

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

अप्यद्य इत्यत्र. **सख्ये हि** इति. दैन्ये सति तन्निवृत्त्यर्थं भगवान् सख्यं सम्पादयति इति दैन्यस्य सख्यकारणता इति अर्थः.

प्रकाशः

इति श्रवणादिभ्यः ॥३६॥

अप्यद्य इत्यत्र. **दैन्यं निरूपयति** इति. दैन्यम् अनोजस्त्वं, तद्दृष्ट्वा हि भगवान् भक्तेषु सख्यं प्रकटयति, यथा पुरञ्जनोपाख्याने अन्तर्यामिणा प्रकटितम्. अतः सख्यं प्रति तस्य कारणत्वबोधनाय तद् निरूपयति इति अर्थः. **विषयाभावे** इति दुःखाभावे. त्यागसम्भावनायां बीजम् आहुः

लेखः

अपि इत्यत्र. अत्र हि क्रमप्राप्तं सख्यं निरूपणीयं, तत्प्रकारम् आहुः **सख्ये हि** इति. तथाच भगवतो अत्र स्थितिप्रार्थनया स्वदैन्यनिवृत्तिं कामयमाना सख्यभक्तिं स्थापयति इति भावः. तदेतद् उपपादयन्ति **दैन्यं हि** इत्यादिना. **विषयाभावे** इति, दैन्यविषयस्य दुःखस्य अभावे इति अर्थः. भगवति विद्यमाने दुःखाभावो युक्तएव इति भावः. ननु भगवतो विद्यमानत्वेन दुःखस्य अभावादेव दैन्याभावस्य इदानीं सिद्धत्वात् तन्निवृत्तिप्रार्थनम् अलब्धावसरम् इत्यतः आहुः **इदानीम्** इत्यादि. **त्वद्गमनं भावयन्नेव**

---

१. मज्जेदिति क. २. तत्तीरमिति घ. ३. तादृशतीरभूतमिति क-ख-ग-ङ.

प्राप्ते विषये त्वद्गमनं भावयन्नेव स्फुरितः. तस्माद् अस्मान् दीनान् मा त्यज इति प्रार्थयते. अन्यदा हि भगवान् कार्यं सशेषं[१] कृत्वा गच्छति. इदानीं कार्यस्य निःशेषत्वात् पुनः न आगमिष्यति इति प्रायेण[२] अस्मान् त्यक्त्वा गच्छति. हे **स्वकृतेहित** स्वानामेव कृतं कार्यं तस्मिन्नेव ईहितं यस्य, भक्तकार्यकर्ता[३] इति अर्थः. त्वदपरित्यागएव अस्मत्कार्यं, तत्रैव तव ईहितं भवतु इति भावः. **अपि** इति सम्भावनायाम्, **अद्य** इति किम् अस्मत्त्यागदिनम् इति अर्थः. **नः** अस्मान्. अथवा **नः त्वम्** इति "परित्यागः सर्वथा भाव्यः" इति न वक्तव्यम्, अन्यथापि त्वया कर्तुं शक्यते इति. **प्रभो जिहाससि स्वित्? स्विद्** इति किम् इति[४] अर्थे. एतावता कालेन वयं (**सुहृदः**!) शुद्धहृदयाः जाताः ; परिग्रहदशायां च कथं त्यागः? किञ्च दासाश्च जाताः. अनु पश्चाद् जीवो अस्य अस्ति इति **अनुजीवी** ; दूरे गते जीवनमेव न भविष्यति इति अर्थः. किञ्च **येषाम्** अस्माकं (**भवतः पदाम्बुजाद्**!) तव पदाम्बुजव्यतिरेकेण **न अन्यत् परायणम्** अस्ति. तत्र हेतुः **राजसु** सर्वेषु **योजितांहसां** योजितापराधानाम्. इदानीं वयं सर्वविरोधिनो जाताः, अतः त्वद्रक्षाव्यतिरेकेण

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

सुहृदः इत्यस्य अर्थम् आहुः **शुद्धहृदयाः** इति ॥३७॥

प्रकाशः

अन्यदा इत्यादि ॥३७॥

लेखः

दैन्यरूपो अन्तःकरणधर्मो दुःखरूपे **विषये प्राप्ते** सति स्फुरति इति योजना. **अथवा** इति. **त्वम्** अस्मत्सम्बन्ध्येव भवसि **इति** अतो **नः परित्यागः सर्वथा भाव्यः इति** त्वया **न वक्तव्यं**, यतः कदाचिद् अन्यत्र कार्यं पतितं चेत् तदा **अन्यथा** नाम अस्मत्परित्यागं विनैव सर्वं **त्वया कर्तुं शक्यते इति** किमर्थं **जिहाससि** इति अर्थः ॥३७॥

---

१. अशेषमिति ख. २. अभिप्रायेणेति घ.

३. भक्तकार्यकर्तृ इति घ. ४. किमत्यर्थे इति ग. किमर्थे इति घ.

न जीवामः[१] इति अर्थः ॥३७॥

के वयं नामरूपाभ्यां यदुभिः सह पाण्डवाः ॥
भवतोऽदर्शनं यर्हि हृषीकाणामिवेशितुः ॥३८॥
नेयं शोभिष्यते अग्रे यथेदानीं गदाधर ॥
त्वत्पदैरङ्किता भाति स्वलक्षणविलक्षितैः ॥३९॥

न च[२] वयं स्वभावतएव महान्तः इति शङ्कनीयं ; त्वद्दर्शनेनैव हि महत्त्वम्, अन्यथा[३] **के वयं नाम्ना रूपेण** च विख्याताः **यदुभिः सहिताः पाण्डवाः यर्हि भवतः अदर्शनम्?** नाम च रूपं च गमिष्यति इति अर्थः, यदुत्वं पाण्डवत्वं च. तत्र हेतुभूतं दृष्टान्तम् आह **हृषीकाणाम्**[४] इन्द्रियाणाम् **ईशितुः** प्राणस्य अदर्शने **(इव!)**. एकैकेन्द्रियव्यतिरेकेण अन्धा[५] बधिरा इव जीवन्ति, प्राणे तु गते सर्वमेव गच्छेद् इति अर्थः. किञ्च अयं देशोऽपि न सुखदो भविष्यति. **यथा इदानीं त्वत्पदैः अङ्किता** अतिशोभायुक्ता **भाति. इयमेव अग्रे न शोभिष्यते. स्वानि** असाधारणानि **लक्षणानि** ध्वजादीनि तैः **विशेषेण लक्षितैः**. शोभा हि सर्वा त्वत्सम्बन्धाधीना[६]. **गदाधर** इति. भूमेः पादस्पर्शे सात्त्विकभाव-स्वेदोद्गमे कर्दमत्वं भवति, कर्दमे च क्षेत्रे सर्वोऽपि[७] साधारो गच्छति इति गदाधरत्वम् उक्तम्. इदम् अलौकिकं मया दृश्यते इति तथा सम्बोधनम् ॥३८-३९॥

किञ्च सर्वेऽपि शत्रुजयेन प्राप्ताः देशाः न अस्माकं सुखकराः भविष्यन्ति, अग्रे सस्याद्यभावात्. इदानीन्तु सस्यादिसम्पत्तिः भवद्दर्शनाधीना इति आह.

इमे जनपदाः स्वृद्धाः सुपक्वौषधिवीरुधः ॥
वनाद्रिनद्युदन्वन्तो ह्येधन्ते तव वीक्षितैः ॥४०॥

प्रकाशः

के वयम् इति श्लोकं व्याकुर्वते **न च वयम्** इत्यादि. **नेयं शोभिष्यते** इति श्लोकं व्याकुर्वते **किञ्च अयं देशः** इत्यादि ॥३८-३९॥

---

१. जीविष्याम इति ङ. २. चकारो नास्ति ग. ३. नान्यथेति घ. ४. यथा हृषीणामितीति ग. ५. अन्धबधिरा इवेति घ. ६. सम्बन्ध्यधीना इति क-ग-घ. ७. सर्वो हीति क-ग-घ-ङ.

इमे जनपदाः इति. **इमे जनपदाः** देशाः **सुष्ठु ऋद्धाः, सुष्ठु पक्वाः ओषधयो** व्रीह्यादयो **वीरुधो** द्राक्षादयश्च येषाम्. **वनानि अद्रयो नद्यः उदन्वन्तश्च** **तवएव वीक्षितैः एधन्ते**. तस्मात् त्वत्परित्यागे न किञ्चिद् भविष्यति इति अर्थः ॥४०॥

एवं बहिर्मुखतया दैन्यं प्रतिपाद्य अन्तर्मुखतया भिन्नप्रक्रमेण द्वयं प्रार्थयते **अथ** इति द्वाभ्याम्.

अथ विश्वेश विश्वात्मन् विश्वमूर्ते स्वकेषु मे ॥
स्नेहपाशमिमं छिन्धि दृढं पाण्डुषु वृष्णिषु ॥४१॥

द्वयमेव हि साध्यम्— (१)असङ्गः आत्मव्यतिरिक्ते, (२)भगवति रतिश्च. तत्र (१)आत्मव्यतिरिक्ते असङ्गो विचार्यते— किम् आत्मव्यतिरिक्तं किञ्चिद् अस्ति न वा इति. अस्तित्वे भगवतः सर्वात्मत्वं भज्येत. नास्ति चेत्, केन सह असङ्गः? ननु प्रतीतेन इति चेत्, तत्प्रतीतं भगवान् अन्यो वा? उभयथापि पूर्वोक्तएव दोषः. अन्यथात्वेन प्रतीतेन इति चेद्, यद्यपि तत्रापि पूर्ववद् विकल्पः सम्भवति तथापि ज्ञानिनो असङ्गो न कर्तव्यः स्यात्. तस्माद् एवम् एकं[1] रूपं वक्तव्यं यथा शास्त्रार्थ-परित्यागौ सङ्गतौ भवतः. तद् आह **विश्वेश विश्वात्मन्** इति. विश्वं कार्यं, स्वयं सर्वकारणम्, अतः ईशः. अनेन स्वार्थं सर्वं सृजति

प्रकाशः

अथ इत्यत्र. **द्वयमेव हि साध्यम्** इति. आत्मनिवेदने वक्ष्यमाणयोः द्वयोरेव यतो हेतुत्वम् अतो द्वयमेव साध्यम् इति अर्थः. **नास्ति** इत्यादि. तथाच आत्मव्यतिरिक्ताभावपक्षे प्रार्थनवैयर्थ्यम् इति अर्थः. **प्रतीतेन** इति आत्माऽनात्मोदासीनतया प्रतीतेन. **न कर्तव्यः स्याद्** इति. तथाच शास्त्रेषु

लेखः

अथ इत्यत्र. **प्रतीतेन** इति. यद् इदं पशुपुत्रादिकं प्रतीयते तेन असङ्गः प्रतिपाद्यते इति अर्थः. **अन्यथात्वेन** इति, आत्मप्रतीत्यातिरिक्तत्व-प्रतीतेन इति अर्थः. **यद्यपि** इत्यादि. यद्यपि अन्यथात्वेन प्रतीतेऽपि

---

१. एवमेकरूपमिति क-ग.

इति मुख्यसिद्धान्तो ज्ञापितो भवति. ततो भगवदर्थे कृते जगति स्वस्य अहन्ताममतायां भगवद्विरोधेन बन्धः स्यात्, "क्रीडार्थमात्मनः" (भाग.पुरा. ८।२२।२०) इति वाक्यात्. अतो[1] यथा अक्ष्णोः इन्द्रेन्द्राण्योः लक्ष्मी-नारायणयोः रमणार्थं निद्रा सृष्टा तथैव परित्यागः सृष्टः इति अर्थः. इदानीं सर्वात्मत्वं साधयति **विश्वात्मन्** इति. विश्वस्य आत्मा[2] स्वरूपम्. यदैव आत्मत्वेन यदेव न स्फुरति तस्यैव परित्यागः. ननु वस्तुतः आत्मत्वे किं स्फुरणेन इति चेद्, न, यतो अयम् आत्मा. उद्देश्य-विधेयभावस्य[3] उक्तत्वाद् उद्देश्यस्फुरणे त्यागः, [4]बोधतारतम्यएव सर्वसाधनानाम् उपयोगात्. नच विश्वात्मत्वम् औपचारिकं "भद्रसेनो मम आत्मा" इतिवत्, तत्र आह **विश्वमूर्ते** इति. विश्वं मूर्तौ यस्य, विश्वस्मिन् वा मूर्तिः यस्य, विश्वं

प्रकाशः

ज्ञानिनां विरागत्वोक्तिः विरुध्येत इति अर्थः. **उक्तत्वाद्** इति, "इदं सर्वं यदयमात्मा" (बृहदा.उप. २।४।६) इत्यादौ उक्तत्वात्. **स्फुरणाद्**

लेखः

पूर्वोक्तविकल्परीत्या न भगवदतिरिक्तत्वं परित्यागार्हत्वं च सङ्गच्छते तथापि ज्ञानिनां संसाराद् विरक्तत्वदर्शनेन भवति संशयः— किम् अत्र सङ्गः कर्तव्यो न वा इति. यदि न कर्तव्यः तदा भगवतः सर्वात्मत्वभङ्गः. कर्तव्यः चेद् ज्ञानिनं तत्र असङ्गार्थं न यतनीयं स्यात्. अतो यथा भगवतः सर्वात्मकत्वप्रतिपादक-शास्त्रभङ्गो न भवति, परित्यागश्च सङ्गच्छते तथा वक्तव्यम् इति अर्थः. **निद्रा सृष्टा** इति. तथाच यथा तेषां सत्यामपि निद्रायां न जीवतुल्यता न वा ईश्वरभङ्गः किन्तु सुखातिशयानुभवार्थमेव सङ्गी ब्रूतात्, तथा अत्रापि भगवत्क्रीडार्थत्वेन स्वार्थनिर्मिते जगति तत्र अहंताममतायां भगवद्विरोधेन बन्धः स्याद् इति तन्निवृत्त्यर्थं त्यागबोधनेऽपि प्रपञ्चस्य न आत्मत्वभङ्गः इति अर्थः. **उद्देश्यविधेय** इति. 'इदं'पदेन जगद् उद्दिश्य आत्मत्वं विधीयते इति तथा इति भावः.

१. अत इति नास्ति ख. २. विश्वात्मेति ग.

३. विशेषभावस्येति ग. ४. बाधेति क-ख-ग. बोध्येति ङ.

मूर्तिः यस्य. त्रेधापि न उपचरितं सर्वात्मत्वम्. अतः उद्देश्यत्वेन पुत्रादेः स्फुरणात्, त्वच्छक्त्या[१] च, स्नेहः उत्पादितः. विधेयदशायां शास्त्रेण स्नेहः क्रियते, तद् विरुद्धशास्त्रैः नाश्यते[२]. मायाकृतस्तु स्नेहो न[३] भगवद्व्यतिरेकेण अन्यस्माद् अपगच्छति, "मामेव ये प्रपद्यन्ते" (भग.गीता ७।१४) इति वाक्यात्. (**स्वकेषु पाण्डुषु वृष्णिषु मे इमं दृढं स्नेहपाशं छिन्धि!**) छेदने पुनः योजनाभावः. **दृढम्** इति ग्रन्थित्वाद्[४] अविमोकः ॥४१॥

एवम् उद्देश्ये वैराग्यम् उक्त्वा विधेये (२)भगवति साक्षाद् अवतीर्णे स्नेहं प्रार्थयते.

त्वयि मेऽनन्यविषया मतिर्मधुपतेऽसकृत् ॥
रतिमुद्वहतादद्धा गङ्गेवौघमुदन्वति ॥४२॥

त्वयि मे अनन्यविषया इति. यद्यपि भ्रातृपुत्रत्वेन रक्षकत्वेन च स्नेहो अस्त्येव तथापि स देहसम्बन्धेन अन्यविषयकः. आत्मसम्बन्धी हि तु **अनन्यविषयः**. "परमात्मा अयम् आत्माधिष्ठात्री देवता" इति **मतिः**

प्रकाशः

इति, तत्परित्यागः आवश्यकः इति शेषः. ननु एवं ज्ञायते चेत्, परित्यागः कर्तव्यः इत्यतः तस्य दुष्करत्वम् आहुः **त्वद्** इत्यादि. तथाच न तत्र अस्मत्सामर्थ्यम् इति भावः. **विधेयदशायाम्** इत्यादि. विधेयत्वस्फूर्तौ सत्यां **शास्त्रेण** हेतुना **स्नेहः** पुत्रादिषु मया **क्रियते, तत्** स्नेहकरणं **विरुद्धशास्त्रैः** पुत्रत्वादिधर्मबोधकैः **नाश्यते**. तथाच तौ स्नेह-तदभावौ अदृढत्वाद् अप्रयोजकौ इति अर्थः. **अविमोकः** इति. तथाच अतः प्रार्थ्यते इति भावः ॥४१॥

त्वयि इत्यत्र. **स्नेहं प्रार्थयते** इति, आत्मनिवेदनहेतुत्वेन स्नेहं प्रार्थयते

लेखः

त्वच्छक्त्या इति, मायया इति अर्थः. **शास्त्रेण** इति. "य एतस्मिन् महाभागाः प्रीतिं कुर्वन्ति मानवाः" (भाग.पुरा. १०।८।१९) इत्यादिशास्त्राद् इति अर्थः ॥४१॥

---

१. तच्छक्त्येति ख. २. न दृश्यत इति ङ. ३. नेति नास्ति ग. ४. दृढग्रन्थित्वादिति ग-घ.

(रतिम्!) परमां प्रीतिम् **उद्वहताद्**[1], ज्ञानेन भक्तिः भवतु इति अर्थः. **(अद्धा गङ्गेव!)** प्रतिबन्धकागणनायां, रतेः भगवदभेदे च दृष्टान्तः, परम्परासम्बन्धाभावे च. **ओघं**[2] प्रवाहम्. **उदन्वति** समुद्रे ॥४२॥

एवं नवधा भगवन्तं स्तुत्वा– शास्त्रार्थत्वेन नवविध-भक्त्यनन्तरं[3] स्नेहे सञ्जाते[4] माहात्म्ये च ज्ञाते पुनः पुनः भगवदाविर्भावे किं कर्तव्यम् इति आकाङ्क्षायां माहात्म्यस्मरणपूर्वकं नमनं कर्तव्यम् इति सिद्धान्तः ; तद् अत्र सर्वं स्तुत्वा– उपसंहारे माहात्म्यस्मरणाय बहुधा सम्बोधयन्ती[5] नमस्यति.

श्रीकृष्ण कृष्णसख वृष्ण्यृषभाऽवनिध्रुग्-
राजन्यवंशदहनाऽनपवर्गवीर्य ॥
गोविन्द गोद्विजसुरार्तिहरावतार
योगेश्वराखिलगुरो भगवन् नमस्ते ॥४३॥

श्रीकृष्णेति नवविशेषणानि, **भगवन्**[6] इति विशेष्यम्. तत्र **श्रीकृष्ण** इति स्वरूपं ;

प्रकाशः

इति अर्थः. **ज्ञानेन** इति भगवति हि आत्माधिष्ठातृत्वज्ञानेन. **प्रतिबन्धकागणनायाम्** इति, तत्तिरस्कृत्या प्रतिबध्यते ॥४२॥

श्रीकृष्णेत्यत्र. **सम्बोधयद्** इति, क्रियाविशेषणम् इदम्. **स्वरूपम्** इति. "नमस्ये" (श्लो. १७) इत्यादिश्लोकत्रये गीतोक्तस्य पुरुषोत्तमस्वरूपस्य

लेखः

त्वयि इत्यत्र. **रतेर्भगवदभेदे च** इति. यथा गङ्गा = अधिष्ठात्री देवता तदोघं समुद्रे उद्वहति तदनन्तरं तदोघं गङ्गा वा भिन्नत्वेन न प्रतीयते तथा रतेः कृत्वा भगवदभेदो भवति इति अर्थः ॥४२॥

श्रीकृष्ण इत्यत्र. **नवविशेषणानि** इति. एवञ्च नवविशेषणानि इमानि पूर्वोक्त-स्वरूपगुणलीलादि-नवधर्मानुवादकानि इति भावः.

---

१. उद्वहनादिति ख. २. ओघे इति ख. ३. नवविधभक्त्यनन्तरे इति घ-ङ. ४. जाते इति घ-ङ. ५. सम्बोधयन्निति ग. सम्बोधयद् इति पाठः प्रकाशे - सम्पा. ६. भगवानितीति ग.

"कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः ॥
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते" (गोपाल.पू.ता.उप. १।१) ॥(६)॥
साकारत्वात् तु सौन्दर्यं 'श्री'शब्देनाऽभिधीयते ॥

कृष्णसख इति गुणाः — कृष्णो अर्जुनः तस्य सखा, समानशीलव्यसनकथनाद् गाम्भीर्यादयो गुणाः सूचिताः. लीलाम् आह **वृष्ण्यृषभ**[१] इति ; कपटमानुषलीला सूचिता. दुष्टदुर्ज्ञेयत्वम् आह **अवनिध्रुग्राजन्यवंशदहन** इति. न हि भगवज्ज्ञाने इयम् अवस्था भवेत्. असाधारणं धर्मम् आह **अनपवर्गवीर्य** इति, न विद्यते अपवर्गो यस्य तादृशं वीर्यं यस्य. इदं हि पुरुषोत्तमस्य असाधारणं चिह्नम्. जन्मकारणनिर्धारम् आह **गोविन्द** इति, सद्रक्षा अवतारप्रयोजनम्. फलम् आह **गो-द्विज-सुरार्तिहरावतार** इति. गावो द्विजाः सुराश्च, तेषाम् आर्तिहरो अवतारो यस्य. अनेन धर्मग्लानि-निवृत्तिः उक्ता भवति. देवतोद्देशेन मन्त्रकरणको हविस्त्यागः इति त्रयाणां निरूपणम्. धर्ममूलकत्वाद् अन्येषां न पृथङ्निरूपणम्. दैन्यनिवृत्त्यर्थम् आह **योगेश्वर** इति. एतद् अतिदैन्यं यद् योगेन सर्वं क्रियते, न स्वतः इति.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

श्रीकृष्ण इत्यत्र. **अतिदैन्यम्** इति. दैन्यम् अतिक्रान्तं, दैन्यनिवृत्तिः इति यावत्. तादृशो हि भक्तानपि निवृत्तदैन्यान् करोति ॥४३॥

प्रकाशः

सिद्धत्वात् तस्य श्रौतत्वं बोधयितुं मूलनाम्ना स्वरूपम् एवं बोध्यते इति अर्थः. **गाम्भीर्यादयः** इति, तेन वैष्णवतन्त्रोक्त-रूपताऽपि सूचिता इति भावः. **हविस्त्यागः** इति, यागात्मा धर्मः इति शेषः. **अन्येषाम्** इति, फलानाम् इति अर्थः. **यद्योगेन** इत्यादि. योगो हि चित्तवृत्तिनिरोधात्मकः, तेन करणे मनसो रुद्धत्वाद् न प्रसादः इत्यतो अतिदैन्यम्. तथाच तदीश्वरत्वेन

लेखः

त्रयाणाम् इति. **गोपदेन** हविः, मन्त्राणां च द्विजाधीनत्वात् तदुक्तेः मन्त्रः, **सुरपदेन** देवतासम्बन्धश्च उक्तः इति अर्थः. **यद्योगेन** इति. अत्र

१. वृष्णिवृषेति इति ख-ग-घ-ङ.

निजप्रार्थनाम् आह **अखिलगुरो**[१] इति, प्रमाणसिद्धं मह्यं देयम् इति. पूर्वोक्तधर्मवान्[२] न सगुणः किन्तु **भगवन्**[३] इति. ''नमो नम एतावत्सदुपशिक्षितम्'' (भाग.पुरा. ५।३।४) इति **नमस्कारः** ॥४३॥

एवं स्तुते भगवत्कर्तव्यम् आह.

॥ सूतः उवाच ॥

पृथयेत्थं कलपदैः परिणूताखिलोदयः ॥
मन्दं जहास वैकुण्ठो मोहयन्निव मायया ॥४४॥

विषयभोगार्थमेव हि एतावत्कृतं, नतु वैराग्य-भक्त्यर्थम्, अन्यथा अरण्यादेव तथा कुर्यात्. तस्माद् यः कश्चिद् यत्किञ्चित् प्रार्थयतां नाम, भगवांस्तु प्रक्रान्तं स्वविचारितमेव प्रयच्छति. अतो अद्भुतकर्मनिरूपणे मोहं

प्रकाशः

तन्नियामकत्वाद् वृत्त्यनिरोधे चित्तप्रसादाद् दैन्यनिवृत्तिः इति भावः ॥४३॥

पृथयेति श्लोकं व्याचक्षते **एवं स्तुते** इत्यादि. **आह** इति ''पृथया'' इति श्लोकम् आह. ननु अत्र मोहनं किमिति उच्यते इति आकाङ्क्षायां तत्तात्पर्यम् आहुः **विषये**त्यादि. भगवद्गुणेषु इयत्ताभावाद् अखिलोदयस्तुतेः

लेखः

श्रीपुरुषोत्तमानां व्याख्या द्रष्टव्या. इदम् अस्माकम् अतिदैन्यकरं **यद् योगेन** अस्मदर्थं **सर्वं क्रियते, नतु स्वतः** अनायासेन. तथा तदीश्वरत्वाद् न परमार्थतः खेदइति तन्निवृत्तिरपि इति भावः इति वा ज्ञेयम् ॥४३॥

पृथया इत्यत्र. **एतावद्** इति. द्यूतम् आरभ्य भारतादि-दुष्टप्रतिकूल-राजन्यादिनाशेन निष्कंटक-राज्यप्राप्तिपर्यन्तं यत् कृतं तत् युधिष्ठिरादि-भोगार्थमेव कृतं, न वैराग्याद्युत्पत्त्यर्थम्. अतः पृथया तथा प्रार्थितेऽपि इदानीं भगवतो अभिप्रायाभावाद् हासेन मायाप्रकटनेन पुनः राज्यसुखमेव अनुभावितवान् इति अर्थः. अत्र अर्थे साधिकां युक्तिम् आहुः **अन्यथाऽरण्यादेव** इति. राज्यं न प्रापयेद् इति भावः.

---

१. अखिलगुरोरिति ख.   २. पूर्वोक्तधर्मत्वादिति घ.   ३. भगवानितीति ग.

दत्तवान् इति उच्यते. **कलपदैः** गद्गदकण्ठेन उच्चारितैः अव्यक्तमधुरैः पदैः **परिणूताः** परितः स्फुरिताः (**अखिलाः!**) सर्वे **उदयाः यस्य.** गुणानाम् अन्योन्यमिश्रणाद् नवधा, तदभावाद् एकधा इति. "एकधा दशधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवद्" (ब्रह्मबिन्दूप. १२) इति श्रुतिरपि एवमभिप्राया, तथा लीलाश्च. "णु स्तुतौ" (पाणि.धा.पा.अदादि.प.से. १०६०) इति धातुः ऊकारान्तः कविकल्पद्रुमे[१] निरूपितः, अतो न दीर्घः छान्दसः. **मन्दं जहास** मोहनस्यापि अज्ञानार्थम्. **वैकुण्ठ** इति साम्प्रतं रक्षायां स्थितः. जय-विजयपातनाद् वा (**मायया!**) **मोहयन्निव** इति. अद्भुतकर्मत्वाद् **इव** इति.

स्वरूपेण कृतार्थत्वं मायया च विमोहनम् ॥(७)॥ ॥४४॥

अन्तःकृतिम् उक्त्वा बहिःकृतिम् आह.

प्रकाशः

अशक्यत्वेन 'अखिल'पदवैयर्थ्यम् आशङ्क्य 'खिलं न्यूनम्, अखिला अन्यूना' इति यौगिकार्थं पुरस्कृत्य भगवद्गुणेषु स्वतो न्यूनत्वाभावात् स्फुरणाभाव-स्फुरणप्रयुक्तौ खिलत्व-तदभावौ इति आशयेन आहुः **परितः स्फुरिताः सर्वे** इति. यावन्तः स्फुरिताः ते सर्वे इति अर्थः. ननु अस्तु एवं तथापि कुन्तीबुद्ध्या तेषां कथम् अखिलत्वम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **गुणानाम्** इत्यादि. तथाच एवं कुन्तीबुद्ध्या अखिलत्वम् इति अर्थः. एवम् अखिलत्वसाधने उपपत्तिम् आहुः **एकधा** इत्यादि. एकस्य नानात्वमेव श्रुतौ अभिप्रेतं, निबन्धे तथा उपपादनाद् इत्यतः उपपत्त्यन्तरम् आहुः **तथा लीलाश्च** इति. श्रीधरमतं दूषयन्ति **नु स्तुतौ** इत्यादि. **जयविजयपातनाद् वा** इति. यथा तत्र स्वविचारितमेव कृतवान् तथा अत्रापि इति बोधनाय इति अर्थः ॥४४॥

लेखः

कविकल्पद्रुमे इति. ... ॥४४॥

---

१. मुग्धबोधाद्यनेकग्रन्थकृद् बोपदेवरचिते एतदाख्ये - सम्पा.

तां बाढमित्युपामन्त्र्य प्रविश्य गजसाह्वयम् ॥
स्त्रियश्च स्वपुरं यास्यन् प्रेम्णा राज्ञा निवारितः ॥४५॥

तां बाढम् इति. **तां** कुन्तीं प्रार्थनां[१] वा. **बाढम्** इति अङ्गीकारे वचनं ; यत् त्वया कर्तव्यं वक्तव्यं[२] वा तत् मम अपि सम्मतं, नतु मया अपूर्वं किञ्चित् कर्तव्यम् इति[३] अर्थः. **इति** एवं प्रकारेण **उपामन्त्र्य**– पूर्वगमने शकुनाभावमिव लक्षयित्वा पुनः– (**गजसाह्वयं**!) हस्तिनापुरं[४] **प्रविश्य**, तत्रत्याः **स्त्रियः** आमन्त्र्य, **चकाराद्** अन्यान्, (**स्वपुरं**!) द्वारकां **यास्यन्**, भगवदिच्छया (**प्रेम्णा**!) प्राकृतप्रेमोद्गमाद् विस्मृत्य माहात्म्यं सम्बन्धस्नेहाद् (**राज्ञा**!) युधिष्ठिरेण गमनाद् **निवारितः** ॥४५॥

इयं हि अद्भुतलीला भगवतो— मुक्तस्य बन्धो, बद्धस्य[५] मोक्षः इति! अतो युधिष्ठिरस्य मोहं प्रपञ्चयति सप्तभिः, व्यसनानां तथात्वात्.

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

तां बाढम् इत्यत्र. **प्रार्थिताम्** इति, रतिम् इति अर्थः ॥४५॥

मुक्तस्य इति, युधिष्ठिरस्य इति अर्थः. **बद्धस्य** इति, भीष्मस्य

प्रकाशः

ताम् इत्यत्र. **प्रार्थिताम्** इति, रतिम् इति अर्थः. एवं स्तोत्रप्रार्थनाङ्गीकारमुखेन गुणपोषणम् उक्तम् ॥४५॥

अतः परं युधिष्ठिरानुतापग्रन्थः किमर्थः इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **इयं हि** इत्यादि. तथाच दोषसमाधाने गुणपोषणे च भगवतो अद्भुतकर्मत्वं व्युत्पादयितुम् एषः ग्रन्थः उपोद्घातरूपः इति अर्थः. **अतः** इति मुक्तत्वात्. **तथात्वाद्** इति. "द्यूतं च मांसं च सुरा च वेश्या पापर्द्धि चौर्यं

लेखः

व्यासाद्यैः इत्यादेः आभासे. ननु को वा अत्र मोहो निरूप्यते? तत्र आहुः **व्यसनानाम्** इति. पुत्रादिनिधनक्लेशानाम् एकमोहत्वाद् इति अर्थः. यद् वा सप्तभिः तत्कथने बीजम् आहुः **व्यसनानाम्** इति.

---

१. प्रार्थितामिति ग-टिप्पण्यां-प्रकाशे - सम्पा. २. वक्तव्यमिति नास्ति ग.

३. इति ज्ञापितमिति क-ग-घ. ४. हस्तिनापुरे इति ग. ५. बन्धस्येति ख.

स्वस्मिन् यदेव[१] करणम् उत्तमस्याधमस्य वा ॥
तदेव[१] मोहः कृष्णे तु ज्ञानमित्येष निश्चयः[२] ॥(८)॥

व्यासाद्यैरीश्वरेहाज्ञैः कृष्णेनाद्भुतकर्मणा ॥
प्रबोधितोऽपीतिहासैर्नाबुध्यत शुचार्पितः ॥४६॥

व्यासाद्यैः इति. ननु मोहो अधिकारिणः प्रमाणाद् निवर्तते. तत्र युधिष्ठिरो अधिकारी, अन्यथा अग्रेऽपि[३] ज्ञानानुदयः स्यात्. प्रमाणं वेदाः, वक्तारो[४] व्यास-नारदादयः ; तैः बोध्यमानस्यापि ज्ञानं न उदेति. भीष्ममुखादेव

श्रीगोकुलनाथानां टिप्पणी

इति अर्थः. **अधमस्य वा** इति, मन्यते इति शेषः ॥४६॥

प्रकाशः

परदारसेवा'' (बुद्धभूषण ३।४१) इत्येवं सप्तत्वात्. तथाच द्यूतादिव्यसनाद् **मुक्तस्यापि** शोकात्मा **बन्धः** इति अद्भुतम् इति अर्थः. ननु अस्तु एवं तथापि द्युतव्यसनविमोकस्य बहुकालम् आरभ्य जातत्वाद् इदानीमेव किमिति बन्धः इत्यतः आहुः **स्वस्मिन्** इत्यादि. **कृष्णे तु** इत्यनेनापि **यदेव** इत्यादिकम् अनुषज्यते. तथाच ''यक्ष्यमाणोऽश्वमेधेन ज्ञातिद्रोहजिहासया'' (भाग.पुरा. १।१२।३२) इत्यादिवाक्यात् स्वार्थं यदा वाजिमेधाः कृताः तदा मोहो अभवद् इति अर्थः ॥४६॥

लेखः

व्यसनानां क्षुत्पिपासारोगकार्य-द्यूतपानस्त्रीसङ्गानां **तथात्वात्** सप्तत्वाद् इति अर्थः. कथम् एवम् इति आकाङ्क्षायां व्यवस्थापयन्ति **स्वस्मिन्** इति कारिकया. **उत्तमस्य** कार्यस्य वध्वादिरक्षणादेः **अधमस्य** बन्ध्वादिमारणादेः **यदेव स्वस्मिन् करणं** ''मयैव इदं कृतम्'' इति अभिमानकरणं **तदेव** **'मोहः'** इति उच्यते. यदा **तु कृष्णे ज्ञानं** ''कृष्णएव सर्वं करोति'' इति तदा तद् ज्ञानम् इति विवेकः इति अर्थः. तथाच अत्र स्वयमेव कृतम् इति मानितत्वादेव मोहः इति भावः.

---

१. यदेव - तदेव इति पाठः लेखे - सम्पा. २. निर्णय इति घ.

३. अग्रे विज्ञानानुदय इति क-ग-घ. ४. तत्कर्तार इति घ.

अयं बोधनीयः इति भगवदिच्छा. अतो योगजधर्मेण ज्ञानशक्त्या वा न भगवदिच्छा ज्ञायते. इच्छाजिज्ञासायान्तु चित्तस्य भगवत्परत्वे विषयविस्मरणाद्[1] निमित्ताभावे जिज्ञासा नश्येत्! अतः सर्वज्ञाअपि सत्त्वव्यवधान-भगवदवताराश्च भगवदिच्छां न जानन्ति इति आह **ईश्वरेहाज्ञैः** इति. (**कृष्णेन!**) भगवतापि बोधितो **न अबुध्यत!** तत्र हेतुः **अद्भुतकर्मणा** इति. यथा सन्ध्यर्थं गतः सर्वसमर्थो विग्रहं कृत्वा आगतः एवं बोधनार्थं वाक्यानि वदन् अबोधं सम्पादितवान् इति अर्थः. **इतिहासैः** पुरावृत्तकथनैः. नच तेषां वाक्यानाम् अबोधकत्वं, तत्र आह[2] **प्रबोधितोऽपि** इति. प्रबोधो दूरे, प्रत्युत (**शुचा!**) शोकेन **अर्पितः** समर्पितः भक्षितः इति अर्थः ॥४६॥

अतएव शोकव्याप्तस्य वाक्यम् आह **आह** इति.

आह राजा धर्मसुतश्चिन्तयन् सुहृदां वधम् ॥
प्राकृतेनात्मना विप्राः स्नेहमोहवशं गतः ॥४७॥

राजा रजोगुणव्याप्तः **धर्मसुतः** प्रार्थनया धर्माद् जातः बहिर्मुखं धर्मम् उररीकृतवान्. अतएव **सुहृदां वधं चिन्तयन्** पूर्वकृतं शोचति. अन्तःकरणमपि समीचीनं भगवता अपहृतम् इति अभिप्रायेण आह **प्राकृतेन** **(आत्मना!)** इति, देहात्मबुद्ध्या. **विप्राः** इति सम्बोधनं भगवतो अद्भुतकर्मत्वभावनार्थम्. **स्नेहो** मृतेषु, **मोहो** जीवत्सु ॥४७॥

विपरीतबुद्धिं विस्तारयति **अहो** इति.

लेखः

व्याख्याने **विषयविस्मारणाद्** इति. इच्छा जिज्ञासा, तस्य विषयस्य भगवत्त्वेन ज्ञाने विषयविस्मारणम् इति अर्थः ॥४६॥

॥ इति श्रीप्रथमस्कन्धव्याख्याने अष्टमाध्यायविवरणम् ॥

---

१. विषयविस्मारणाद् इति पाठः लेखे - सम्पा. २. तदाहेति ग.

॥ राजा उवाच ॥

अहो मे पश्यताज्ञानं हृत्प्ररूढं दुरात्मनः ॥
पारक्यस्यैव देहस्य बह्व्यो मेऽक्षौहिणीर्हताः ॥४८॥

देहोपभोगार्थं महतो[१] अन्यायस्य करणम् **अज्ञानजन्यम्. हृदि प्ररूढं**[२] न अस्य प्रतिघातः[३] शक्यो जातः. तत्र हेतुः (**दुरात्मनः!**) अन्तःकरणाशुद्धिः[४]. तदेव अज्ञानम् आह **पारक्यस्य (देहस्य!)** इति, श्व-शृगालभक्ष्यस्य[५] (**बह्व्यो!**) **अक्षौहिणीः** अक्षौहिण्यः मे मदीयाः **हताः** इति **अज्ञानम्.** वस्तुतस्तु भगवता भूभारहरणार्थं लीलया वा हताः. अनेन इहलोको गतः इति उक्तम् ॥४८॥

परलोकोऽपि नास्ति इति आह **बालेति.**

बालद्विजसुहृन्मित्र - पितृभ्रातृगुरुद्रुहः ॥
न मे स्यान्निरयान्मोक्षो ह्यपि वर्षायुतायुतैः ॥४९॥

बालाः अभिमन्यु-प्रभृतयः, **द्विजाः** द्रोणादयः[६], **सुहृदः** शल्यादयः, **मित्रं** कर्णादयः, **पितरो** भीष्मादयः, **भ्रातरो** दुर्योधनादयः ; तएव[७] वा **गुरवः**, अन्ये च. एकस्यापि महापातकस्य बुद्धिपूर्वकं कृतस्य न प्रायश्चित्तं, तस्मात् (**वर्षायुतायुतैः अपि निरयात् मे मोक्षो न हि स्यात्!**) नरके वासो यावदाभूतसम्प्लवम् इति अर्थः ॥४९॥

नैनो राज्ञः प्रजाभर्तुर्धर्मयुद्धे वधो द्विषाम् ॥
इति मे न तु बोधाय कल्पते शासनं वचः ॥५०॥

ननु युध्यमानानां वधः को वा दोषाय? सत्यम्. "श्रेयः प्रजापालनमेव राज्ञाम्" (भाग.पुरा. ४।२०।१४) इति प्रजारक्षार्थं शत्रुवधः चेत् तदा न दोषः, प्रकृते तु दुर्योधनेन[८] प्रजापालने क्रियमाणएव मया स्वलोभार्थमेव

प्रकाशः

नैनो राज्ञः इति श्लोकं व्याचक्षते **ननु** इत्यादि ॥५०॥

---

१. महतां न्यायस्य करणं ज्ञानजन्यमिति ग. २. विरूढमिति क. ३. प्रतीघात इति ख.
४. अन्तःकरणशुद्धिरिति घ. ५. श्वशृगालादीत्यादिः क-ग-घ. ६. द्रोण्यादय इति ख.
७. अत एव वेति ग. ८. दुर्योधने इति ग-घ.

सर्वे हताः. अतो **राज्ञो धर्मयुद्धे द्विषां वधः प्रजाभर्तुः न एनः न** दोषः **इति (वचः शासनं!)** नीतिवचनं **(मे बोधाय!)** मां बोधयितुं **न (तु कल्पते!)** शक्नोति इति अर्थः ॥५०॥

ननु प्रायश्चित्तं क्रियतां, किं[1] शोकेन? तत्र आह **स्त्रीणाम्** इति.

स्त्रीणां मद्धतबन्धूनां द्रोहो योऽसाविहोत्थितः ॥
कर्मभिर्गृहमेधीयैर्नाहं कल्पो व्यपोहितुम् ॥५१॥

पापस्य हि रोगवत् प्रतीकारः. स च प्रत्यग्रोत्पन्नस्य प्रथमं कर्तव्यः, पश्चात् पुरातनानाम्. प्रत्यहं च **(स्त्रीणां मद्धतबन्धूनां!)** सहस्रं स्त्रियो मद्धतान् भर्तॄन् गृहीत्वा शोचन्त्यो म्रियन्ते, **(यो असौ!)** स **द्रोहः** इहएव महान् **(उत्थितः!)** उपस्थितः. ननु अस्यैव तर्हि प्रायश्चितं क्रियतां, तत्र आह **कर्मभिः (न अहं व्यपोहितुं कल्पः!)** इति. अस्ति अत्र प्रायश्चितं सर्वपरित्यागः शरीरपरित्यागो वा, नतु **गृहमेधीयैः कर्मभिः** द्रव्यमयैः भूतहिंसात्मकैः ॥५१॥

यद्यपि प्रायश्चित्तत्वेन वेदेन बोध्यते तथापि मम न अधिकारः, तथाविधसाधनाभावात्. अयथाविधसाधनैस्तु अजीर्णे भोजनवत् सर्वनाशकइति न तादृशयज्ञेन निस्तारइति सदृष्टान्तम् आह.

प्रकाशः

यथा पङ्केन इत्यत्र. **अयथाविधसाधनैः** इति, सम्पादितो यज्ञः इति शेषः ॥५२॥

॥ इति श्रीप्रथमस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे अष्टमाध्यायविवरणम् ॥

---

१. किमिति नास्ति ख.

यथा पङ्केन पङ्काम्भः सुरया वा सुराकृतम् ।।
भूतहत्यां तथैवैकां न यज्ञैर्मार्ष्टुमर्हति ।।५२।।

।। इति श्रीभागवत-प्रथमस्कन्धे अष्टमोऽध्यायः ।।

यथा इति. (**पङ्काम्भः मार्ष्टुं**!) कर्दमजलक्षालनार्थं यथा **पङ्क**लेपो भित्त्यादिलेपनवद् अधिकमृत्सम्पादको भवति. अस्य दृष्टान्तस्य न परलोकनाशकत्वम् इति आशङ्क्य दृष्टान्तान्तरम् आह **सुरया वा** इति. यथा (**सुराकृतं**!) सुराबिन्दुस्पर्शे महत्या **सुरया** प्रक्षालनं परलोकनाशकं भवति. (**तथैव**!) एवमेव **एकाम्** अपि (**भूतहत्यां**!) स्त्रीहत्यां[१] बहुभिरपि **यज्ञैः** पशुमारकैः (**मार्ष्टुं**!) दूरीकर्तुं कोऽपि **न अर्हति** इति अर्थः. वस्तुतः पूर्वकाण्डविचारकैः निर्मथितं ज्ञानं मोहज्ञानम् इति निरूपितम्. एवं भगवतो अद्भुतकर्मत्वं सिद्धम् ।।५२।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मज-श्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां प्रथमस्कन्धे अष्टमो अध्यायः ।।

।। इति अष्टमोऽध्यायः ।।

---

१. ब्रह्महत्यामिति घ.

॥ प्रथमं परिशिष्टम् ॥

स्वतन्त्रलेखाः

(१) श्रीसुबोधिनीमङ्गलाचरणटीका मठपतिजयगोपालभट्टविनिर्मिता

। श्रीकृष्णाय नमः ।

स्मारं स्मारं कृपासारम् आसारत्रायिणं प्रभुं
नामं नामं सुबोधिन्याः क्रियन्ते कारिकाः स्फुटाः ॥

अथ श्रीमदाचार्याः निगमकल्पतरुरूप-श्रीभागवतविवरणं चिकीर्षवो द्वादशस्कन्धात्मकं तत्प्रतिपाद्यं च भगवन्तं नमस्यन्ति **वन्दे श्रीकृष्णदेवम्** इति. वन्दनमेव पुरुषार्थरूपं समस्तपुरुषार्थसाधकम्. तद्विवरणस्य परमश्रेयोरूपत्वेन बहुप्रत्यूहत्वात् तन्निवृत्त्यर्थं त्रिविधमपि अत्र मङ्गलम् आचरन्ति— प्रथमं नमस्क्रिया ततः कृष्णाख्य-परमकाष्ठापन्न-वस्तुनिर्देशः ततः च आशीः. ततोऽधिकं च कर्तुम् अशक्यम् इति प्रथमं तदेव उक्तम्. **श्रीकृष्णदेवम्** इति निरवधिसौन्दर्यं प्रकटीकृत्य लोके अवतीर्णं, तादृशलावण्यामृतपान-परवशाभिः श्रीभिः युतं च. तास्तु व्रजसीमन्तिन्यएव इति ज्ञातव्यम्. तत्साहित्योक्त्या भगवतोऽपि तद्वश्यत्वं ज्ञापितम्. तेन ताभिः सह भगवतः क्रीडारसाविष्टत्वं निरन्तरं निरूपितम्. ननु लोके अवतीर्णस्य कदाचिद् लौकिकत्वे किं तन्नमनेन इति आशङ्क्य आह **देवम्** इति. देवपदेन अलौकिकत्वम् उक्तम्. तेन सर्वाऽलौकिकभावसहितः श्रुतीनां प्रार्थित-रासलीलादिफलदानार्थं षड्गुणैश्वर्यसम्पन्नः तादृशएव अवतीर्णः इति उक्तं भवति. अन्यथा अणुमात्रान्यथाभावे तत्फलदानं न सम्भवेत्, पूर्णैकसाध्यत्वात् तस्य. यद्वा भगवतो अत्र लीलाद्वयं निरूपितं परिचायकत्वेन. साक्षाद्व्रजसम्बन्धिनी पुष्टिलीला **श्रीकृष्ण** इत्यनेन निरूपिता, **देव** इति यादवसम्बन्धिनी. तेतु देवाः ; लीला च समानभावेन भवति, तस्याम् अन्यथा रसालता न स्याद् इति **देव** इति पदम्. शुद्धपुष्टिलीलायान्तु निरवधिरसात्मको भावो देवानामपि अगम्यः प्रकटीकृतः इति ज्ञापनार्थं **श्रीकृष्ण** इति.

ननु अवतारदशायामपि एतादृशो भगवांश्चेद् विना साधनसम्पत्तिं लोकानां कथं सुलभः? इति आशङ्क्य आह **मुरनरकभिदम्** इति. मुरो जलदोषात्मकः, तन्निवारकत्वेन जीवानां बीजदोषनिवारकत्वम् उक्तम्. नरको हि भौमो भूमिदोषात्मकः, तन्निवर्तकत्वेन स्वबलेनैव देशादिसाधनानि निर्दुष्टानि विधाय स्वरूपात्मकं फलं प्रयच्छति इति ज्ञापितम्. यद्वा नराणां नारीणां च – "पुमान् स्त्रिया" इति एकशेषः – कं सुखं भिनत्ति इति. यथा स्वोपभोगार्थं भौमेन निरुद्धानां राजकन्यानां प्रतिबन्धरूपं तं निहत्य तत्सुखं कुत्सितं त्याजयित्वा साक्षाद् आत्मसात्करणेन परमानन्दानुभवं कारितवान् तथा अन्येषामपि जीवानां लौकिकविषयान् त्याजयित्वा स्वानन्दं दास्यति इति तथा उक्तम्. एतेन अस्मिन् अवतारे प्रमेयबलेनैव सर्वम् इति निरूपितम्.

ननु वेद-वेदान्तेषु भगवतः साधनैरेव फलदातृत्वश्रवणात् "तं त्वौपनिषदम्" (बृहदा.उप. ३।९।२६) इत्यादिना तद्वेद्यस्यैव परत्वश्रवणाद् अत्र साधननिरपेक्षत्वश्रवणात् परस्परं भेदो भविष्यति इति चेत्, तत्र आहुः **वेदवेदान्तवेद्यम्** इति. पूर्वोत्तरकाण्डाभ्यां वेद्यम् इति अर्थः. वेदनप्रकारस्तु पूर्वकाण्डेन कर्मकरणात् चित्तशुद्धिः, तथा उत्तरकाण्डेन अक्षररूप-भगवन्महिमज्ञानम् आत्मत्वेन ज्ञानं स्नेहः च इति साङ्गभक्तौ सिद्धायां तया पुरुषोत्तमज्ञानम् इति. तथाच उक्तं स्वेनैव "भक्त्या माम् अभिजानाति" (भग.गीता १८।५५) इति. प्रमेयस्य एकत्वेऽपि साधनापेक्षत्वाऽनपेक्षत्वे मर्यादा-पुष्टिभेदेन. एतादृशं तं श्रीकृष्णं **वन्दे** नमामि इति अर्थः.

ननु भगवदवताराः अनेके इति स कः? कुत्र वा लोके प्रकटः? इति जिज्ञासायाम् आहुः **यदुकुलजलधौ यः प्रादुरासीद्** इति. सएव श्रीकृष्णदेवो **यः** तत्र **प्रादुरासीत्**. **यदु**पदेन भगवदीयेष्वेव भगवदाविर्भावः इति निरूपितम्. **कुल**पदेन न नृसिंहादिवद् आविर्भावः किन्तु कुलसम्बन्धित्वेनैव इति उक्तम्. **जलधि**पदेन कुलस्य अपरिच्छिन्नत्वं उक्तम्. तथात्वं च भगवतैव इति ज्ञापनाय भगवतो विशेषणम् **अपारः** इति. स्वधर्मयोजनेन तदपि अपारं विधाय तत्र आविर्भूय लीलाकरणेन तासामपि अपारत्वं ज्ञापितम्. कुले प्रादुर्भावोक्त्या तस्मिन् सर्वत्रैव स उच्यते. वसुदेवगृहे

देवक्यां जन्मवादमात्रं, प्रसिद्धिः इति यावत्, यादवदेहेष्वेव ''देहं मानुषम् आश्रित्य'' (भाग.पुरा. १०।१।११) इत्यत्र तथा निरूपणात्. अतएव तेषाम् अलौकिकं सामर्थ्यं सर्वाजेयत्वं च. तथैव भगवतापि उक्तं ''नैव अन्यतः परिभवो अस्य भवेत् कथञ्चित् मत्संश्रयस्य'' (भाग.पुरा. ११।१।४) इति.

ननु भगवतो लोके आविर्भावे किं प्रयोजनम्? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **लोके भक्ति** इति. भक्तिप्रसिद्ध्यर्थमेव अवतारः. शास्त्रसिद्ध-भक्तिनिवारणार्थं **प्रसिद्धिपदम्**. या अप्रसिद्धा साक्षात्पुरुषोत्तमसम्बन्धिनी परमानन्दरूपा स्वाविर्भावैकसाध्या तत्प्रसिद्ध्यै इति अर्थः. **प्रसिद्धिपदेन** प्रकृष्टा सिद्धिरपि उच्यते. तेन तस्याः साक्षात् स्वेनैव साध्यत्वम् उक्तम्.

ननु महता प्रबन्धेन भक्तिः प्रकटिता पुनः अवतारावसाने लोके कथं स्थास्यति? इति आशङ्क्य आहुः **यस्यासीद्** इति. **यस्य** भगवतः श्रीभागवतशास्त्रं **रूपमेव आसीत्** प्रादुरासीद् इति अर्थः. निमित्तं **त्रिभुवनतरणे** इति. **त्रिभुवन**पदेन सात्त्विकादयो जीवा देव-मानव-दानवाः उच्यन्ते, ''देवोऽसुरो मनुष्यो वा'' (भाग.पुरा. ७।७।५०) इति वाक्यात्. स्वरूपमपि द्वादशावयवात्मकं भवति, तथा एतस्य द्वादशस्कन्धाः अवयवभूताः. यथा स्वरूपं साधननिरपेक्षं त्रिभुवनतरणार्थं तथा इदम् इति ज्ञापनाय **स्वतन्त्रम्** इति उक्तम्. ननु स्वतन्त्रतया तरणसाधनत्वेनापि न संसारपारस्थित-भगवत्प्रापकत्वं ; नहि तरणसाधनं पारस्थितं पुरुषार्थमपि प्रापयति इत्यतः आहुः **भक्तिवद्** इति. यथा भक्तिः स्वयं परमरसात्मिका परमानन्दं प्रापयति तथा इदमपि शास्त्रम् इति ज्ञापनाय भक्तिदृष्टान्तः. **च**कारस्तु पूर्वोक्तसमुच्चयार्थः.

पुनरपि स कः? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **यः च** भगवान् **लोके रूपं प्रकटयति** इति. अलौकिकसर्वसामर्थ्यातिशययुक्तं दशलीलाविशिष्टं रूपं प्रकटयति इति अर्थः. **प्रकटयति** इति वर्तमानप्रयोगेण रूपापेक्षायामपि अधुनापि श्रीभागवतश्रवणेन तत्पाठेन तदुक्तभक्तिकरणेन तथा स्वरूपं प्रकटयति, न अन्येन साधनेन इति ज्ञापितम्. तत्रापि **मुदा** नतु निर्बन्धेन, निर्बन्धे तथास्वरूप-प्राकट्याभावात्. **स नो** अस्माकं सर्वदा **भूतिहेतुः** अस्तु इति प्रार्थना. **नः** इति बहुवचनेन स्वस्य दैवोद्धारार्थं प्राकट्यात् तेषु कृपातिशयेन

स्वीयत्वसम्पादनेन स्वाभेदेन तेषामपि संग्रहः. भगवतएव हेतुत्वप्रार्थनया भूतौ लौकिकत्वं निराकृतम्. लोके भूतिरपि मण्यात्मिका भवति, अत्रतु श्रीभागवतभावाएव तथा इति प्रार्थना, अग्रे तेषामेव प्राकट्यकरणाद् इति ज्ञायते. एवं पूर्वश्लोके नमनं, स्वरूपकथनपूर्वकं भूतिप्रार्थनं च उक्तम् (१).

अतः परं दशविधलीलाकर्तृत्वं निरूपयन्तः श्रीभागवतार्थप्रकाशार्थं स्ववाचि तथाधर्मसहित-भगवत्स्थितिं प्रार्थयन्ते **कर्ता** इति. **यो** भगवान् अखिलस्य प्रपञ्चस्य **कर्ता.** प्रथमं सर्ववस्तूनाम् आधिदैविकं पदार्थं स्वरूपात्मकम् आविर्भाव्य ब्रह्माणम् आविर्भाव्य प्रदर्शितवान् इति मूलसृष्टिकर्तृत्वेन सर्गलीलाकर्तृत्वं निरूपितम्. सर्वकर्तृत्वे सर्वज्ञता अपेक्षिता इति **सकलस्य ज्ञ** इति उक्तम्. एतेन भगवतो नित्यसर्वविषयज्ञानम् उक्तम्.

ततो जगति मर्यादार्थं ब्रह्मणे विसर्गसामर्थ्यार्थं स्वज्ञानार्थं च पूर्वं वेदान् प्रकटितवान् इति आहुः **निगमभूः** इति. **निगमानां भूः** भवनं यस्मात् स तथा. स्वनिःश्वासरूप-निगमान् आविर्भाव्य ब्रह्मणे उपदिष्टवान्. तथाच श्रुतिः "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" (श्वेताश्व.उप. ६।१८) इति. तेन कर्मकरणेन तस्य तथा सामर्थ्यं जातम् इति श्रुतिः आह "परमेष्ठिनो वा एष यज्ञो अग्रे आसीत् तेन स परमां काष्ठाम् अगच्छद्" (तैत्ति.संहि. १।६।९।२) इति. अनन्यकृतिसाध्यकर्तृत्वमेव परमा काष्ठा. उत्तरकाण्डेन स्वज्ञानयोजनेन तस्य सर्वज्ञता. तेन सर्गलीलायां विसर्गस्य साधनद्वयं निरूपितम्. अतः परं विसर्गलीलाकर्तृत्वं निरूपयन्ति **सर्वस्वरूपोऽपि** इति, ब्रह्माणं निमित्तत्वेन परिकल्प्य "स हैतावानास" (बृहदा.उप. १।४।३) इति श्रुतेः आविर्भाव-तिरोभावशक्तिभ्यां ब्रह्माण्डरूपः स्वयमेव जातः. तादृशो न मायिकः इति ज्ञापनाय **सन्** इति. लोके सर्वस्य अन्यथाप्रतीतावपि सर्वरूपत्वे भगवतः सत्यत्वमेव इति ज्ञापनाय **अपि**शब्दः. एतेन विसर्गलीला निरूपिता.

स्थानलीलाकर्तृत्वम् आह **सर्वस्यापि** इति. देव-तिर्यगादिरूपस्य **सर्वस्य** प्रपञ्चस्य **विशेषेण** आधारभावेन **धारणे** स्वयमेव (**विजयते!**) सर्वोत्कर्षेण

वर्तते, ''द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दाद्'' (ब्रह्मसूत्र १।३।१) इति ब्रह्मसूत्रेण तथानिरूपणात्. तत्तज्जीवजडाधिष्ठानरूपं चतुर्दशभुवनात्मकः स्वयमेव जातः इति अर्थः. **अपि**शब्देन एकस्यैव आधाराधेयत्वं निरूपितम्. अथवा **अपि**शब्दो सङ्कुचितवृत्तिः इति **सर्व**पदे योजनीयः. तेषां भुवनानामपि आधारभूतः स्वयमेवेति सर्वोत्कर्षेण वर्तना. नहि एतादृशं भगवद्व्यतिरिक्तस्य अन्यस्य सम्भवति. गीतायामपि स्वस्यैव आधारकत्वम् उक्तं ''विष्टभ्य अहम् इदं कृत्स्नं एकांशेन स्थितो जगद्'' इति.

एवं स्थानलीलाकर्तृत्वं निरूप्य पोषणलीलाकर्तृत्वम् आहुः **निर्दोष** इति. **निर्दोषाणि सर्वाणि इष्टानि** फलानि **ददाति** इति तथा. निर्दोषसर्वेष्टदातृत्वेन जीवेषु भगवदनुग्रहो निरूपितः, अन्यथा सदोषतद्दानेन ते नष्टाएव भवेयुः! अनेन ''पोषणं तदनुग्रहः'' (भाग.पुरा. २।१०।४) इति पोषणलीला उक्ता. अन्येतु रुद्रादयो दुष्टमेव फलं प्रयच्छन्ति येन दातुः सम्प्रदानस्य च अनिष्टं भवति इति निर्दोषेष्टदाता भगवानेव इति दशमान्ते वृकप्रसङ्गे निरूपितम् इत्यपि अत्र ज्ञापितम्.

एवं पोषणलीलाम् उक्त्वा सामान्यतो अग्रिमलीलारूपत्वम् आहुः **यो लीलाभिः** इति. **यो** भगवान् ऊत्यादि**लीलाभिः** कृत्वा **निजं रूपम्** अनेकधा **वितनुते** तत्तल्लीलारूपं स्वरूपमेव विस्तारयति इति अर्थः. **लीला**शब्देन धर्मरूपेण आविर्भावेन क्रीडनम् उक्त्वा तेन आत्मारामत्वमपि सूचितम्. **वितनुते** इति लीलानाम् आनन्त्यं ज्ञापितम्. **निजम्** इति अंशादीनां निरासः. ननु मायया तथारूपो भवति इति आशङ्क्य आहुः **केवल** इति. केवलएव तथा भवति इति अर्थः. **सोऽयं कृष्णावतारो मम वाचि** सदा **अस्तु** इति प्रार्थना. 'तच्'छब्देन पूर्वोक्तसर्वधर्मवैशिष्ट्यं बोधितम्. **अयम्** इति प्रचुरभावनया पुरः प्राकट्यम् उक्तम्. **कृष्णावतार** इति. ''कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'' (भाग.पुरा. १।३।२८) इति वाक्याद् दशविधलीलाकर्तृत्वं पुरुषोत्तमस्यैव इति ज्ञापितम्.

अवतार इति, लोके अवतीर्यापि पुष्टिभक्तेषु लीलायां भावात्मक-दशविधलीलां प्रकटयति इति सूचितम्. पूर्वं वेणुनादात्मिका सर्गलीला. ततो भक्तानां तदनुभवेन विगाढभावेन तद्वर्णनरूपा विसर्गलीला. ततो

विविधलीलास्थानभूत-निकुञ्जादिभावनात्मिका स्थानलीला. ततो भगवान् कदा वा वनाद् आगत्य अनुगृह्य स्वानन्देन पोषयति इति विविधा पोषणलीला. ततो हरिणी-पुलिन्दीभाग्याभिनन्दनरूपा ऊतिलीला. ततो "मन्वन्तराणि सद्धर्मः" (भाग.पुरा. २।१०।४) इति वाक्यात् सद्धर्मरूप-श्रीगोवर्धनभक्तिवर्णनेन मन्वन्तरलीला. ततो गोदोहनसामयिकी "स्पन्दनं गतिमताम्" इत्यादि भगवदीयचरित्रवर्णनरूपा ईशानुकथा. ततः सर्वलीलाफलरूपो निरोधः फलितः स्पष्टएव. ततो विरहेण तदेकभावापत्तिः मुक्तिलीला. ततः सायम् आगमनेन पूर्वभावप्रापणम् आश्रयलीला. एवं लीलाप्रकटनम्.

ननु लीलानाम् अनेकत्वं गुणैरेव भवति, ते च प्राकृताः सत्त्वादयः, तथाच तासां प्राकृतत्वेन को विशेषः? इति आशङ्क्य आहुः **पूर्णगुणभूः** इति. पूर्णाः च ते गुणाः च तेषां भूः आश्रयः इति अर्थः. तथाच "आनन्दः तमसि प्रतिष्ठित" (. . । ।) इत्यत्र निरूपिताः सच्चिदानन्दरूपाः सत्त्वादयः प्राकृतेभ्यो भिन्नाएव, यैः पुष्टिभक्तेषु सात्त्विकादिभेदा निरूप्यन्ते. तैरेव लीला, तेएव पूर्णाः, स्वरूपात्मकत्वाद् इति पूर्णत्वम् उक्तम्. ननु कृष्णावतारएव कथं वाचि स्थास्यति, कालस्य बाधकत्वाद् व्यर्थं प्रार्थना इति आशङ्क्य आह **पतिः** इति. सएव पतिः यः सर्वतो भयरहितः स्वाश्रितान् अन्यानपि तथा करोति. तादृशस्तु भगवानेव कालादिनियामकः. स चेद् मम पतिः तदा बाधकमपि दूरीकृत्य स्थास्यत्येव इति सूचितम्. स्ववाचि तथा प्रार्थनया तस्याअपि तथा सामर्थ्ययोग्यता बोधिता. **मम** इति एकवचनेन भगवत्तुल्यसामर्थ्य-योग्यता मद्वाच्येव, न अन्यस्य इति ज्ञापितम् (२).

एवं दशविधलीलाविवरण-सामर्थ्यार्थं वाचि स्थितिं प्रार्थयित्वा मङ्गलार्थं स्वतातचरणान् नमस्यन्ति **श्रीमद्** इति. **तस्मै तातमहाशयाय सिद्धये नमः कुर्मः** इति सम्बन्धः. तम् अनुकूलयितुम् इति अर्थः. "क्रियार्थोपपदस्य च" (पाणि.सूत्र. २।३।१४) इति चतुर्थी, "नमस्कुर्मो नृसिंहाय" (तत्रैव) इति वद्, अन्यथा द्वितीयैव स्यात्, "नमः स्वस्ति" (पाणि.सूत्र. २।३।१६) इत्यतः कारकविभक्तेः बलिष्ठत्वात्. विशेषणैः महत्त्वम् आहुः सकलविद्याज्ञानजनिता-ऽलौकिकश्रीयुक्ताः ये **वल्लभाः** वल्लभनामानः तेएव

विद्वदीशाः विदुषामपि दुष्टमतनिराकरणेन, सन्मार्गविषयक-भ्रमनिवारणेन, अलौकिकज्ञानधर्मोपदेशेन नियामकाः. तेषां विद्या-विनयादिगुणैः **विलसत् वंशएव** अपारत्वेन **अब्धिः** तस्य **पूर्णेन्दुः**. यथा पूर्णेन्दुः समुद्राद् उत्पन्नः तम् उल्लासयति तथा एतेऽपि सकलविद्याकलापूर्णाः सञ्जातात्मप्रकाशाः तद्वंशम् उल्लासयन्ति = सर्वश्रेष्ठत्वेन जगद्विख्यातं कुर्वन्ति इति अर्थः. तेन स्वाविर्भावे स्वरूपयोग्यता निरूपिता. ननु अन्येऽपि पण्डिताः स्वकुलोन्नतिं कुर्वन्ति, ततः को विशेषो अत्र इति चेत्, तत्र आहुः **श्रीगोपीपतिवन्दिनः** इति. श्रीगोपीपतिमेव वन्दितुं शीलं यस्य इति तथा. एतेन साक्षात्पुरुषोत्तमसम्बन्धिनी भक्तिः तत्र उक्ता. सकलविद्याज्ञानफलं सैव इति तेभ्यो अयमेव विशेषः उक्तः. अतएव वंशोल्लासकत्वम्. एकोऽपि वंशे भक्तः चेत् सर्ववंशम् उन्नतं करोति. "उन्दी क्लेदने" (पाणि.सूत्र. ७।३।२) इति अस्माद्धातोः "उंदरिच्चादे" (शाकटायनऊणादिसूत्र १।१२) इति सूत्रेण उप्रत्ययः आदेश्च इकारः ; उनत्ति इति इन्दुः. अनेन स्वाविर्भावे सहकारि निरूपितः. ननु वन्दनमात्रनिरूपणेऽपि साक्षात्फलरूपा भक्तिः न निरूपिता भवति इति तदर्थम् आहुः **सुमनसि** इति. सुष्ठु मनो यस्य तादृशे भक्तियुक्ते पुरुषे **ब्रह्मामृतं स्यन्दति** इति तथा. **ब्रह्म** सच्चिदानन्दात्मकम् आध्यात्मिकचरणरूपं, तस्मिन् यः सारः स **अमृत**शब्देन उच्यते. तेन आधिदैविकसम्बन्धिनी रसात्मिका भक्तिः उक्ता भवति. तस्याः स्यन्दनं रसात्मकगुणगानद्वारा. भक्त्यात्मकामृत-स्यन्दित्वेन अलौकिकेन्दुत्वम् उक्तम्. "स्यन्दु प्रस्रवणे" (पाणि.धा.पा. भ्वा.अ.से. ७६२), स्यन्दनं प्रकृष्टेन स्रवणं, तदुक्त्या वक्तुः परवशत्वं ज्ञापितम्. तेन सर्वदा भक्त्याविष्टत्वं ज्ञापितम्. एतेन स्वाविर्भावे फलरूपया भक्त्या फलोपधानं निरूपितम्. अन्यथा स्वस्य साक्षात्पुरुषोत्तमास्यत्वेन अलौकिकसर्वधर्मवत्त्वेन ततः आविर्भावो न स्यात्. ननु येषाम् एते धर्माः किं तन्नाम इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **श्रीमद्** इति. **श्रीमल्लक्ष्मणभट्टसूरिः इति यन्नाम** लोके प्रसिद्धम् अस्ति इति शेषः. **श्रीमद्** इति नाम्नो विशेषणं, तेन नाम्नापि महती शोभा निरूपिता. अतएव शोभाविशेषहेतुभूतं विशेषणम् आहुः **अखिलाभीष्टदम्** इति. तदुच्चारणमात्रेणैव अखिलानाम् अखिलं वा अभीष्टं ददाति इति तथा.

अखिलपदेन चतुर्वर्गलक्षणम् अभीष्टम् उक्तं, तेन यन्नाम्नएव एतावद् महत्त्वं तदा तन्महत्त्वस्य किं वाच्यम् इति कैमुतिकन्यायः उक्तः. **तस्मै** इति सर्वलोकप्रसिद्धाय. **तातमहाशयाय** इति विशेष्यं पदम्. तेषां महाशयत्वोक्त्या अत्यन्तनिगूढाशयत्वम् उक्तम्. तेन श्रीमदाचार्यस्वरूपज्ञानं स्वस्य लोके न प्रकटयन्ति, तातत्वेनैव अङ्गीकाराद् इति ज्ञापितम्. यद्वा यज्ञादीनि अखिलानि भक्त्यन्तानि साधनानि कृतानि, निःसाधनाखिल-दैवसमुद्धारार्थं परमानन्दसारभूत-सुधासंवलितं पुरुषोत्तमास्यं मत्तः प्रादुर्भविष्यतीति. ततः साधनकरणे महान् आशयो अभिप्रायो यस्य इति महाशयत्वम् उक्तम्. अथवा मम एतादृशो अलौकिकः पुत्रो जातइति सर्वेभ्यो अहमेव सर्वपुरुषार्थान् दास्यामि इति महाशयत्वम्. अनेन श्रीमदाचार्यानुभावेनैव महाशयत्वम् उदाराशयत्वं जातम् इति निरूपितं, यथा वासुदेवो महामना नन्दो महामना इति. **हरये** इति. लीलासम्बन्धिनः स्वरूपात्मकाएव इति हरित्वम्. स्वप्राकट्येन तेषामपि तथात्वं जातम् इति वा तथात्वम्. पितृत्वेन अङ्गीकारात् मर्यादारक्षणार्थं नमनम्. स्वमहत्त्वख्यापक-बहुवचनकथनेन तातेऽपि महत्त्वं स्वनमनेनैव इति ज्ञापितम्. **सिद्धये** इति. अतएव तन्महत्त्वख्यापनम् (३).

एवं तातनमनम् उक्त्वा श्रीभागवतस्य सामान्यत्वे चिकीर्षित-तद्विवरणस्य अनतिप्रयोजनत्वेन स्वावतारस्य लोके स्वकृतेः च वैयर्थ्यं स्याद् इति तत्स्वरूपं निरूपयन्ति **श्रीमद्भागवत** इति. **श्रीमद्भागवतागमो लोके सुरतरुः** विराजते इति अध्याहार्यम्. स्वतन्त्रभक्तिप्रतिपादकत्वात् श्रीमत्त्वोक्तिः. नहि तां विना क्वचित् श्रीः अस्ति. **भागवतागम** इति भगवत्सम्बन्धिशास्त्रत्वम् उक्तम्. तत्रापि **आसमन्ताद्** ज्ञानक्रियोभययुत-पुरुषोत्तमस्य **गमो** ज्ञानं प्राप्तिः वा यस्मात्. सएव **सुरतरुः**. सुरतरुः हि देवानाम् अत्यन्तसुलभः, तेषामेव तरुः इति. सतु भगवत्प्राप्तिप्रतिबन्धकं कालग्रस्तं सुखलेशाभासं फलं प्रयच्छति. अयन्तु कालादिभ्योऽपि अतीतं सर्वपुरुषार्थरूपं परमानन्दलक्षणं फलं प्रयच्छतीति ततो महदेव वैलक्षण्यम्. एतेन देवानामपि दुरापत्वम् उक्तम्. पुनरपि ततो वैलक्षण्यम् आहुः **फलत्वं गत** इति. न हि सः स्वयं फलरूपः. फलसाधकत्वेन तथात्वम् उच्यमानमपि भाक्तं भवेत्. अयन्तु स्वयं फलरूपो निर्बीजदाडिमबीजवद्, ‘‘निगमकल्पतरोः’’ इत्यत्र तथा निरूपणात्. अतोऽपि

ततो वैलक्षण्यम्.

ननु अत्र भाषाभेदः प्रतीयते, समाधिभाषा-लौकिकभाषा-परमतभाषा इति, तत् किम् एकस्याएव फलत्वम् आहोस्वित् सर्वासामेव? इति आशङ्क्य पूर्वपक्ष-सिद्धान्तौ आहुः **भाषा** इति. **भाषाभेदेन** कृत्वा यो **विशेषो भेदः** परस्परम् अङ्गाङ्गिभावराहित्येन स्वतन्त्रतापादकः तस्माद् हेतोः **त्रयमपि** फलरूपं **स्याद्** इति आशङ्क्य **नो** इति आहुः. कुतः इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **विरुद्धं महद्** इति. भगवान्, तदुपाश्रिता माया सकार्या, भक्तिः च —एतावन्तएव पदार्थाः समाधौ व्यासैः अनुभूताः. तत्र भगवानेव सर्वनियन्ता परमपुरुषार्थरूपः इति ज्ञानार्थं भगवदनुभवः. एतादृशो भगवान् यद् अग्रे व्यामोहिकापि माया दासीवत् तिष्ठति इति माहात्म्यज्ञानार्थं तस्याः दर्शनम्. भक्त्या अनर्थनिवृत्तिदर्शनं साधनोत्तमत्वज्ञानार्थम्. तेन समाधौ भजनीयः साङ्गा भक्तिः च निरूपिता. तत्र भाषाद्वयस्य प्रयोजनाभावात् स्वतन्त्रतया फलत्वकथनं महदेव विरुद्धम्. अथवा **त्रयमपि** फलरूपं **महद्विरुद्धं नो स्यात्** "समाधेः पोषिके तु ते" इति वाक्यात् तत्पोषकत्वेन तदन्तःपातात् फलत्वं न अतिविरुद्धम् इति अर्थः.

ननु समाधिभाषायाम् अंशत्रयं— भगवान् माहात्म्यज्ञानं भक्तिः च इति, तत्र किमंशे फलता इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **भक्त्यंशे** इति. भक्त्यंशेएव फलता, पूर्वेतु तदङ्गम् इति. ननु इदं शास्त्रं फलरूपम् इत्यत्र किं प्रमाणम् इति आशङ्क्य आहुः **प्रमाण** इति. **प्रमाणानां सुष्ठु बलं** केनापि अनपनोद्यम् अनन्यसापेक्षं तस्मिन् विषये अस्य **वेदत्वं,** गायत्रीबीजत्वाद् इति अर्थः. यथा वेदः स्वतःसिद्धः प्रमाणभावः प्रमाणशिरोमणिः तथा इदम् इति अर्थः. तेन स्वस्य फलत्वे स्वयमेव प्रमाणम् इति उक्तम्. न केवलं प्रमाणविषये तथात्वं किन्तु अर्थेनापि तथात्वम् इति आहुः **अर्थे पुनः** इति. गायत्र्यर्थएव अत्र निरूपितइति उभयथापि वेदत्वम्. तरुत्वे स्कन्धाः शाखाः च युज्यन्ते इति तदर्थम् आहुः **स्कन्धैः** इति. एतस्य साक्षात्पुरुषात्मकत्वज्ञापनाय तेषु **द्वादश**सङ्ख्या, द्वादशाङ्गः पुरुषः इति. तया अन्यूनाधिकभावोऽपि उक्तः. एतेन अद्भुतसुरतरुत्वं ज्ञापितम्. पुनः **सुरतरु**त्वोक्त्या समुदायमात्रशक्ति-निवारणपूर्वकं प्रत्येकस्कन्धेषु तथात्वं

ज्ञापितम्. तेषु शाखा भवन्तीति तदर्थम् आहुः **शाखा** इति. यस्य **शाखा द्विवह्नि-द्वयं** (३३२) भवन्ति. **वह्निः** इति त्रिसङ्ख्यायाः सञ्ज्ञा. तेन द्वौ वह्नी तदग्रे द्वयम् इति उक्तम्. एतावता त्रिशतं द्वात्रिंशच्च अध्यायाएव शाखाः निरूपिताः. एवं पूर्णो अलौकिको लोके शब्दात्मकः सुरतरुः उक्तः (४).

अतः परं तादृशस्य अर्थविवेचने जीवस्य सामर्थ्याभावाद् लोके दैवात् समागतोऽपि अज्ञातएव तिष्ठेद्, अज्ञातः च न फलं प्रयच्छेत्, ततो हि आगमनं व्यर्थमेव स्याद् इति तदर्थविवेचनार्थं स्वावतारम् आहुः **अर्थं तस्य** इति. **तस्य** श्रीभागवतसुरतरोः **अर्थं विवेचितुं** विशेषेण विशदीकर्तुं **वैश्वानराद् अन्यो** निखिलवेदार्थवक्ता ब्रह्मादिरपि **न विभुः** समर्थः. ननु **वैश्वानर**शब्देन अग्निः उच्यते, तस्य चेत् सामर्थ्यं तदा ब्रह्मादेः कुतो न इति आशङ्क्य आहुः **वाक्पतेः** इति. नहि अत्र **वैश्वानर**शब्देन साधारणो वह्निः उच्यते किन्तु आधिदैविकवाण्युद्गमनजनकः तद्भावाभिज्ञः तत्पालको रसात्मक-भगवन्मुखारविन्दरूपः स उच्यते. किञ्च "वैश्वानरः, साधारणशब्दविशेषाद्" (ब्रह्मसूत्र १।२।२४) इति वेदान्ताधिकरणे 'वैश्वानर'शब्दः परब्रह्मवाचको निरूपितइति अत्रापि तदुक्त्यापि तथात्वं बोध्यते. तेन तस्यैव विवेचनसामर्थ्यम् इति ज्ञापितम्, अर्थस्य भगवद्रूपत्वात्. नहि गुप्तो भगवान् केनचित् प्रकाशितुं शक्यते. यद्वा श्रुतिरूपाणां निगूढभावाभिज्ञत्वं स्वस्यैव इति ज्ञापितम्. अतः **तत्र** अर्थविवेचने विषये तादृशमुखारविन्दरूपं **मां मानुषवत् तनुः** यस्य इति तादृशं **विधाय आज्ञां च** तत्करणे **दत्वा श्रीपतिः कृपावलोकनपटुः** जातो **यस्मात्** तस्माद् **गूढार्थं प्रकटीकरोमि**. मानुषतनुविधानं लोके तदर्थप्रकटनार्थं, स्वावतारवत् स्वरूपेण निःसाधनानां निरोधकरणार्थं, भुवि वंशप्रकटनेन तदुक्तपुष्टिभक्तिस्थापनार्थं च. **माम्** इति अस्मिन् अर्थे प्रमाणम् उक्तम्. ननु श्रीभागवतप्राकट्ये पूर्वम् एतावान् उद्योगो भगवता न कृतइति तदर्थविवेचने किमर्थं करिष्यति इति आशङ्क्य स्वाप्राकट्ये निदर्शनम् आहुः **व्यासवद्** इति. यथा श्रीभागवतप्राकट्यार्थं स्वज्ञानकलारूपो व्यासो अवतारितः, इतरथा तत्प्राकट्यासम्भवात्, तथा तद्गूढार्थविवेचनार्थं स्वास्यं वागधीशं **माम्**एव

अवतारितवान्, वागेकसाध्यं तदिति. एतेन न श्रीभागवतप्राकट्यमात्रेण जगदुद्धारः किन्तु तद्गूढार्थविवेचनेन इति स्वावतारस्य ततोऽपि अधिकप्रयोजनम् उक्तम्. ननु ज्ञानावतारेण यथा तत्प्राकट्यं तथा अर्थप्रकाशेऽपि अस्तु, किम् अस्य अवतारणेन इति आशङ्क्य आहुः **श्रीपतिः** इति. श्रियां पतिः. अत्र **श्री**पदेन नित्यलीलामध्यस्थाः व्रजरत्नभूताः स्वामिन्यएव ग्राह्याः. तत्पतित्वोक्त्या ताभिः सह मर्यादातिक्रमेण निरवधिरसात्मकलीला-कर्तृत्वम् उक्तम्, इभराडिव भिन्नसेतुत्वलक्षणम्. तेन तादृग्विधलीलानां तन्मध्यपातिभक्तभावानां च विशदीकरणं न वा स्वधर्मेण ज्ञानादिलक्षणेन, न वा स्वांशैरपि भवति इति तदर्थं स्वास्यं स्वसुधाप्रवेशेन तद्भावाब्धिसमुल्लासकं साक्षात्स्वसुधानुभव-योग्यतासम्पादकं तदेव आविर्भावितवान्, नहि स्वस्य रहस्यम् अन्यः कश्चिद् वक्तुम् अर्हतीति. एतेन मद्द्वारा साक्षात्पुरुषोत्तमएव वदति इति सूचितम्, अन्यथा अन्यस्य तद्रसविवेचनम् अनुचितं स्याद् इति. ननु भवदवतारे प्रयोजनान्तरं भविष्यति, तत् कथं ज्ञायते एतदर्थमेव? इति आशङ्क्य आहुः **दत्वा** इति. **च** पुनः **आज्ञां दत्वा** आविर्भावितवान्. "लोके प्रकटीभूय ममानुभावं साक्षाद्रसात्मक-लीलासम्बन्धि अलौकिकं सामर्थ्यं प्रकटय" इति आज्ञा. ननु तस्य लोके गूढात्मानुभावप्रकटने को हेतुः? तत्र आहुः **कृपा** इति. **कृपावलोकने** सएव **पटुः** महाकारुणिकः इति यावत्. दैवीं सृष्टिं स्वभजनार्थं सृष्ट्वा तां कालकर्मादिग्रस्तां विलोक्य भगवतः करुणा, तया तदुद्धारेच्छा, अतः स्वानुभावप्रकटनम्. **यस्माद्** एवं **कृपावलोकनपटुः अतो अहं गूढार्थं मुदा प्रकटीकरोमि,** न सङ्कोचेन. तदपि **बहुधा** नतु एकधा. व्यासोऽपि कर्ता, तस्यापि अर्थे प्रियत्वम् अपेक्षितः. तत्सम्मतिमिव वदन्तः तस्मिन् प्रियत्वम् आहुः **व्यासस्य** इति. **विष्णोः** इति व्यासविशेषणं, "व्यासो नारायणः साक्षाद्" (शंकरदिग्विजय ७।११?) इति वाक्यात्. भगवतो वा **प्रियम्**. तेन मदुक्तम् उभयोरपि प्रियमेव भवति इति निरूपितम् (५).

एवं स्वावतारप्रयोजनम् उक्त्वा श्रीभागवतार्थकथने प्रतिज्ञां कुर्वन्ति **लक्षणाम्** इति. अहं श्रीभागवते लोकविरोधानुरोधेन **लक्षणां नैव वक्ष्यामि.** यथा "निगमकल्पतरोः" (भाग.पुरा. १।१।३) इत्यत्र वेदस्य कल्पतरुत्वे

श्रीभागवतस्य तत्फलत्वम्. **एवकारेण** नियमः उक्तः. **न्यूनाद्** वाक्याद् हेतोः **अन्येन** लौकिकवाक्येन **पूरणं** ग्रन्थपूरणम् इति यावत्, तं **नैव वक्ष्यामि** तानि वाक्यानि श्रीभागवताद् दूरीकरिष्यामि इति अर्थः. यथा "पूतनां लोकबालघ्नी" (भाग.पुरा. १०।६।३५) इत्यादीनि. **तु** पुनः **आर्थिकम्** अभिधया वृत्त्या प्रतिपाद्यम् अर्थं **वक्ष्यामि.** परन्तु यत्र परोक्षवादेन कथनं तस्माद् विना. तत्रतु लक्षणां कथयामि इति अर्थः, मुख्यार्थस्य बाधितत्वात् तत्र. किञ्च मूलेएव अर्थापेक्षायां तत्सम्बन्धिनम् अर्थं वक्ष्यामि. यथा दशमप्रमाणप्रकरणे तृणावर्तप्रसङ्गे "समेत्य चैकत्र कृताशिषोऽमला विचारयामासुः उपायम् अत्र" (सुबो. १०।७।३२) इति. यथा वा तत्रैव प्रमेय(/प्रमाण!)प्रकरणे "वत्सासुरं हतं श्रुत्वा व्रजे गोप्यश्च विस्मिता" (सुबो. १०।११।३४) इति. यथा वा भ्रमरगीते "आत्मत्वाद् भक्तवश्यत्वात् सत्यवाकृत्वात् स्वभावतः" (सुबो. १०।४४।२९) इति (६).

अर्थकथने प्रतिज्ञान्तरम् आहुः **अविरोधेन** इति. **सप्तानाम् अर्थानां** शास्त्रार्थ-स्कन्धार्थ-प्रकरणार्थाध्यायार्थ-वाक्यार्थ-पदार्थाक्षरार्थानाम् **अविरोधेन** विरोधनिराकरणपूर्वकं **सङ्गतिः** वक्तव्या मया इति शेषः. अविरोधप्रकारः च तत्र तत्र ज्ञातो भविष्यति. **परंतु सङ्कोचतो** अर्थसङ्कोचतो **उत्तरोत्तरदौर्बल्यं वाच्यम्.** शास्त्रार्थापेक्षया स्कन्धार्थो दुर्बलः, तदपेक्षया प्रकरणार्थः इति एवं क्रमेण दौर्बल्यम्. तेन तत्तदनुरोधेन अर्थाः वक्तव्याः इति अर्थः (७).

भाषात्रयविरोधः च कल्पभेदात् तत्तत्कल्पानुसार्यर्थ-प्रतिपादकत्वेन **समाहितः** कर्तव्यः इति शेषः. **भाषात्रयज्ञानं च** तत्तल्लक्षणैः **ज्ञाप्यते** (८).

उक्तसप्तानां मध्ये **अर्थत्रयं** वाक्यार्थ-पदार्थाक्षरार्थात्मकन्तु अत्र श्रीभागवते **वक्ष्यामि. निबन्धे** अर्थ**चतुष्टयम्** उक्तमिति अत्र निरूपणप्रयोजनाभावः. एतादृशसन्दर्भेण अर्थकथनम् अत्यन्तकठिनम् इति सताम् आज्ञां प्रार्थयन्ति **अत्र** इति. **अत्र** कथनविषये (**सन्तः!**) भगवदनुभावयुक्ताः भगवदीयाः **सिद्धये** निर्विघ्नपरिसमाप्त्यर्थं मह्यम् **आज्ञां प्रयच्छन्तु,** तदाज्ञाबलेनैव सिद्धिरिति. तत्रापि **स्वसन्तोषैः** नतु बलात् प्रेरणैः. तदर्थेएव अर्थप्रकाशः

क्रियते इति स्वपदेन ज्ञापितम् (९).

"जन्माद्यस्य" (भाग.पुरा. १।१।१) इत्यादिश्लोकत्रयस्य असङ्गतिम् उद्भाव्य सङ्गतिम् आहुः **यत्राधिकृत्य** इति. **यत्र अधिकृत्य गायत्रीम्** इत्यनेन श्रीभागवतलक्षणम् उक्तम्. तत्र "जन्माद्यस्य" (श्लो. १) इत्यनेन गायत्र्यर्थः, "धर्मः प्रोज्झितकैतव" (श्लो. २) इत्यनेन तदुक्तधर्मविस्तरः, "निगमकल्पतरोः" (श्लो. ३) इत्यनेन श्रीभागवते वृत्रवधनिरूपणेन भक्तिप्रवर्तकत्वम्. तद्वधेन कथं भक्तिः प्रवर्तेत इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **यथा हि** इति. "इन्द्रो वृत्राय वज्रम् उदयच्छद्" (तैत्ति.संहि. ६।५।१।१) इति श्रुतौ वृत्रस्य मायायज्ञात्मकत्वं निरूपितं, "यज्ञो हि तस्य मायाऽऽसीद्" (तैत्ति.संहि. ६।५।१।२) इति. तत उक्थः पात्रविशेषो यज्ञचक्षुः तेन स्वस्मिन्नेव अवरुध्य स्ववीर्यत्वेन स्थापितः, देवानां यज्ञाः न प्रवर्तेरन् इति. नहि चक्षूरहिताः प्रवर्तन्ते. तस्य चक्षूरूपत्वं "चक्षुर्वा एतद् यज्ञस्य यद् उक्थ्या" (तैत्ति.संहि. ६।५।१।४) इति श्रुतौ निरूपितम्. अतः इन्द्रेण तद्वधः. ततएव **तद्वधेन यज्ञाः प्रवृत्ता वेदे निरूपिता** इति उक्तम्. तथा अत्र पुष्टिभक्तिरूपः स इति भक्तेः च बलं पुष्टिः इति तदवरुद्धैव भक्तिः स्थिता. देवेषु कुत्रापि न प्रवृत्ता, प्रवृत्तापि निर्बला. अतः तद्वधेन प्रवृत्तीकरिष्यते. तदेव उक्तं **तद्वधनिरूपणेन** इत्यनेन. **तत्र द्वयम्** इति. भक्तौ माहात्म्यज्ञानम् आत्मत्वेन ज्ञानं च इति अर्थः. **तथा अत्र द्वयम्** इत्यत्र **द्वयमपि भक्तिहेतुः तथा** अन्योन्यहेतुः. माहात्म्यरूप-सृष्ट्यादिज्ञानजनित-सर्वात्मत्वज्ञानं स्वात्मत्वज्ञाने कारणं, तथा स्वात्मत्वेन ज्ञानं माहात्म्यज्ञाने साक्षादनुभवपर्यवसायित्वेन कारणम् इति अर्थः. **गायत्री बीजम्** इति. यथा बीजे अङ्कुरम् आरभ्य फलान्तं सर्वं सूक्ष्मरूपेण तिष्ठति तथा गायत्र्यां माहात्म्यज्ञानं ब्रह्मात्मत्वज्ञानं भक्तिः च सूक्ष्मरूपेण तिष्ठतीति बीजत्वम्. वेदे द्वयमेवेति वृक्षत्वम्. श्रीभागवतेऽपि त्रयम् इति तत्फलत्वम्. **अतः काण्डद्वयार्थ** इत्यत्र **अफलवृक्ष** इत्यत्र सप्तमी ज्ञेया. **वेदार्थप्रतिपादकत्वाद्** इत्यत्र **नाधिकपुनरुक्ती** इति. "भूतानि जायन्ते" (तैत्ति.उप. ३।१) इति श्रुतौ जातानि जायन्ते इति अर्थेनापि यथा

न अधिक-पुनरुक्तिदोषौ तथा अत्रापि अतद्गुणसंविज्ञानेन तदर्थप्रतिपादनात् न तौ दोषौ भविष्यत इति अर्थः. एतेन अतद्गुणसंविज्ञानव्याख्याने श्रुतिरेव प्रमाणम् इति उक्तं भवति. भाष्येऽपि तथा ज्ञेयम्. **तेने ब्रह्म** इत्यत्र **त्रिविधा** इति, आधिदैविकादिभेदेन इति अर्थः. **तथा श्रुतेरपि** इत्यत्र **वेदशाखाभेदेन** इति, ऋग्वेदादि वेदभेदेन, शाखाभेदेन च इति अर्थः. **ब्रह्म एवम्** इति. तस्यैव अखिलवेदनिष्ठत्वात् स **एवम् उच्यते** इति अर्थः. **गोपनार्थम्** इत्यादि. रसस्तु भगवानेव अतः तद्गोपनार्थं वेदस्य स्वर्गादिलौकिककफलकथनेन अन्यथाकथनसामर्थ्यार्थम् इति अर्थः. **यज्ञान्** इत्यत्र **ब्रह्म च** इत्यत्र मीमांसकाः मायावादानुसारि-वेदान्तिनो वदन्ति इति शेषः. **तथैव** इति, कामनासिद्ध्यर्थम् इति अर्थः. **शाखाप्रणयनम्** इति. प्राणिनाम् अल्पवीर्यत्वाद् अल्पायुष्ट्वाद् वेदे न तत्सिद्धिः इति शाखाप्रणयनेषु स्वशाखोक्त-कर्मकरणाद् अल्पेनैव तत्सिद्धिः इति अर्थः. **यत्र** इति. देहादिभानस्य **निमित्तम्** अवतारो, **अधिकरणं** भगवान् इति तयोः ग्रहणम् इति अर्थः ॥१॥

('वैष्णवधर्मपताका' वर्ष १० अङ्क ५-६ इत्यत्र प्रकाशितः).

(२) श्रीयोगिगोपेश्वराणां प्रथमस्कन्धीयाध्यायार्थनिरूपणम्

। श्रीकृष्णाय नमः । श्रीमद्गोपीजनवल्लभकृपया लिख्यते. प्रथमस्कन्ध-सुबोधिन्याम् अधिकारत्रयम्. तत्त्वज्ञानं धर्मादि इति एकः. सत्सङ्गः निर्दुष्टसेवा मध्यमः. हृदि कृत्वा प्रव्रजेत् स नरोत्तमः. संन्यासोऽपि अङ्गम् अत्र. तस्मिन् अधिकारे सम्पन्ने द्वितीयस्कन्धार्थो ज्ञानम्. "म्रियमाणैः किं कर्तव्यं, सर्वदा किं कर्तव्यम्" इति राजप्रश्ने "तस्माद् भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः, श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताऽभयम्" (भाग.पुरा. २।१।५) इति वाक्यात् श्रवणादित्रिकेन प्रेम्णि जाते अन्यासां भक्तीनां स्वयंभवनाद् अवैधप्रकारेण सेवादि. "तं भजेद् तं रसेद्" (गोपालतापि.पू.उप. २।१) इति गोपलतापिनीयात्तु वैधं सेवादि.

तत् च सहस्रपरिवत्सरमित-कालजात-कृष्णवियोगजनित-तापक्लेशानन्द-तिरोभावस्य आनन्दप्राप्त्यर्थं श्रीमदाचार्यमार्गेण मनोरथे नवमाध्यायोक्त-धर्मिणः लोकवत्तु लीलाकैवल्याद् "अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत" (भग.गीता २।२८) इति व्यक्तमध्यत्वार्थं लक्ष्मीः. तद् उक्तं "भूर्लक्ष्मीर्भुवर्लक्ष्मीः सुवः कालकर्णतप्ता महालक्ष्मी" (नृसिंहतापि.पू.उप. ४।२) इति नृसिंहतापनीयात् स्वरूपान्तर्गता-स्वरूपत्वाद् अभिव्यक्तिस्थानम्. अन्यथा लक्ष्म्याः भूरादिरूपत्वे द्वैतापत्तिः. तादृशस्य भेदकम् "अव्यक्तमनन्तरूपम्" (महाना.उप. १।५) इति श्रुतेः अनन्तरूपेषु भक्तमनोरथविषयो यदा भवति तत्सेवाविषयः, "यद् यद् धिया" (भाग.पुरा. ३।९।११) इति वाक्यात्. तदा "प्रत्युद्गम" (भाग.पुरा. १०।५६।४५, १०।५८।६) इति वाक्योक्ता द्वादशोपचाराः. तत्र भक्तिवर्धिनी-नवरत्न-श्रीभागवतोक्तदिशा सेवायां प्रातराश-गोचारण-रात्रिशयनानि भागत्रयम्. प्रातराशो मंगलभोगः. गोचारणं गोपीवल्लभभोगानन्तरं संध्यारात्रिकपर्यन्तम्. मध्ये भक्तमनोरथेन भोगरागादि. पश्चात् शयनम्. ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिः ब्रह्मबोधनं च.

ननु "ज्ञानादेव तु कैवल्यं" (. । ।), "तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति" (श्वेताश्व.उप. ६।१५), "आत्मलाभाद् न परं विद्यते" (आप.धर्मसूत्र १।८।२२।२) इत्यादिश्रुतिभ्यो विद्या कुतो न उक्ता इति चेद्, न, निबन्धे विद्याविद्ययोः उपमर्द्योपमर्दकभावात्. सर्वात्मभावरूपा विद्या अत्र वर्तते. तस्य न उपमर्दः, "भजनेनैव तादृशम्" (त.दी.नि. २।२७१) इति वाक्यं निबन्धे. यतः सर्वात्मभावः प्रदानात् सिद्ध्यतीति 'भक्ति'पदसाम्याद् श्रवणादिसरणिरूपं भजनम् इति सर्वं सुस्थम्.

तत्रापि "सप्त ते अग्नेः समिधः सप्तजिह्वाः" (तैत्ति.संहि. १।५।२।४) इति संहितायाम्. "आत्मना प्रथमा लीला मनसा तु ततः परा, वाक्प्राणैः तृतीया स्याद् इन्द्रियैस्तु ततः परा, शारीरी पञ्चमी वाच्या ततो रूपं प्रतिष्ठितम्". (सुबो.का. १०।२६।६-७). तानि इमानि बहुरूपाणि वाक्पतिः सेवयामास तानि सेव्यानि. शब्दः मनः च द्विविधं, समष्टिः षड्धर्माः चेति नव. षड्धर्मविशिष्टो धर्मी सेव्यः. शब्दः च श्रीभागवतात्मकः. द्वितीयं मनः च "मनस्तु द्विविधं प्रोक्तमशुद्धं शुद्धमेव च" (ब्रह्मबिन्दूप.

१) इति श्रुतेः इति अन्यत्र विस्तरः. ततः संसारदुःखनिवृत्तिः ब्रह्मबोधनं च फलं, ''दुःखाभावः सुखं चैव पुरुषार्थद्वयं मतम्'' (त.दी.नि. २।१६) इति. बुध ज्ञाने. ज्ञा अवबोधने. अव रक्षण-गति-कान्ति-प्रीति-तृप्त्यवगम-प्रवेश-श्रवण-स्वाम्यर्थ-याचन-क्रियेच्छा-दीप्त्यवाप्त्यालिङ्गन-हिंसा-दान-भाग-वृद्धिषु —भ्वा.परस्मै.सेट्. यथासुखम् अर्थः.

किञ्च अध्यायार्थविचारे निबन्धे जिज्ञासुत्वामात्सर्य-श्रवणादरवत्त्वरूप-श्रोतृगुणाः, श्रुतभागवतत्वं चातुर्यं गुह्यज्ञानवत्त्वरूपाः वक्तृगुणाः त्रयस्त्रयोः अध्यायत्रये एकैकशः उभयगुणाः निरूप्यन्ते. तत्र भागवततत्त्वज्ञानाद्याः जिज्ञासुत्वाद्याः ''भेजिरे मुनयोऽथाग्रे'' (भाग.पुरा. १।२।२५) इति आचारदार्ढ्यपूर्वकं प्रतिकृतौ भजनम् उपपादितम् इति सुबोधिन्यनुसारेण तत्त्वज्ञान-धर्मप्रोज्झितकैतवादिरूपा जाताः. यद् अत्र ''को नु राजन् इन्द्रियवान्'' (भाग.पुरा. ११।२।२) इत्यनेन इन्द्रियवत्त्वेन अधिकारः उक्तः स तु प्रतिबन्धकाभावस्य कारणत्वाद्, इन्द्रियवत्त्वाभावस्य सेवाप्रतिबन्धकत्वात्. 'सर्वे अधिकारिणः'' इत्यत्र अधिकारिणि सर्वत्वगुणविधिः. इति प्रथमाधिकारः.

द्वितीयाधिकारे द्वितीयत्रिके निबन्धे भगवत्कृपा-भगवदीयत्व-भगवदेकत्वरूपाः श्रोतृगुणाः, एतेएव वक्तृगुणाः त्रयस्त्रयो अध्यायत्रये एकैकशः उभयगुणाः निरूप्यन्ते. तत्र भगवत्कृपाद्याः ''प्रथमं महतां सेवा'' इत्यादि भक्तिरत्नोक्तटीकारीत्या सत्संग-निर्दुष्टभगवत्सेवात्मका जाताः. तत्र ''प्रथमं महतां सेवा तत्कृपापात्रता ततः, श्रद्धाऽथ तेषां धर्मेषु ततो हरिगुणश्रुतिः'' (भक्तिर. १।३४) इति चतस्रो भूमिकाः सत्संगरूपाः. ततो निर्दुष्टसेवायां षड्‌ भूमिकाः. ततो रत्यङ्कुरोत्पत्तिः, स्वरूपाधिगतिः, ततः प्रेमवृद्धिः. परानन्दे तस्यापि अस्फुरणम्. ततः भगवद्धर्मनिष्ठातः स्वस्मिन् तद्धर्मशालिता —इति उक्ताः पञ्च निर्दुष्टत्वे. ''प्रेम्णोऽपि परमा काष्ठेति उदिता भूमिका दश'' इति एका सेवायाम् इति षट्. रतिः भावरूपा, ''रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः भावः प्रोक्तः'' (काव्यप्र. ४।३५) इति काव्यप्रकाशात्. स्वरूपाधिगतिः अक्षरब्रह्मत्वेन स्वज्ञानं, ''य एवास्मि स सन् यज'' (तैत्ति.ब्रा. ३।७।५।५) इति श्रुतेः. प्रेमवृद्धिः निरोधलक्षणग्रन्थोक्ता. तस्य इति स्वरूपस्य, ''यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे'' (भाग.पुरा.

११।१२।१२) इति वाक्यात्. निष्ठा भक्तिः. स्वस्मिन् तद्धर्मशालिता फलम्. सख्यभक्तिः फलं पूर्वत्र हीनाधिकारे, अत्र तु इदं फलम्, "आत्मानमपि ददाति" (. । ।) इति श्रुतेः, "गोपालोऽहमिति भावयेद्" (गोपालोत्तरतापि.उप. १५) इति श्रुतेः च, "युक्तं भगैः स्वैरितरत्र चाध्रुवैः" (भाग.पुरा. २।६।१६) इति वाक्यात् च, सञ्चाचारिणो रसत्वे अपेक्षणात्. परमा काष्ठा इति सर्वात्मभावः. इति मध्यमाधिकारः.

तृतीये उत्तमाधिकारे तृतीयत्रयोदशाध्याय्यां निबन्धे उत्तमाधिकारस्य दृढवैराग्यसापेक्षत्वात्, तस्य च भगवदेकतानत्वफलक-विषयवैतृष्ण्याद् हरित्वान्यतररूपत्वेनैव दृढत्वाद्, भगवतः च पुरुषोत्तमरूपत्वात् तदेकतानताद्योतक-द्वादशांगपुरुषाधिक्यद्योतनार्थं त्रयोदशाध्याय्या त्रयोदशाध्यायार्थाः निरूप्यन्ते. तत्र अर्जुने परमकृपा भगवत इति सप्तमाध्याये अर्थः. कुन्त्यां परमकृपा अष्टमाध्याये अर्थः. युधिष्ठिरे परमकृपा नवमाध्याये अर्थः. सम्बन्धिषु परमकृपा दशमाध्याये अर्थः. पार्थेष्वपि भगवत्सुखेन सुखप्राप्तिः एकादशाध्याये अर्थः. अधिकारिणि परमकृपा द्वादशाध्याये अर्थः. बीजमुक्तिः त्रयोदशाध्याये अर्थः. वैराग्यं चतुर्दशे अर्थः. पाण्डवमुक्तिः पञ्चदशाध्याये अर्थः. लौकिकसामर्थ्यं षोडशे अध्याये अर्थः. अलौकिकसामर्थ्यं सप्तदशाध्याये अर्थः. त्यागकारणीभूत-वैराग्यहेतु-शापो अष्टादशाध्याये अर्थः. त्यागसत्संगः एकोनविंशाध्याये अर्थः. एवं त्रयोदशाध्याय्याम् एते अर्था निरूप्यन्ते.

तत्र अर्जुने परमकृपा आद्याः. तत्र कृपाः ज्ञानकारणं, "कृपालुरकृतद्रोहः" (भाग.पुरा. ११।११।२६) इत्यादि ज्ञानदातृविशेषणात्. चतुरध्यायार्थाः कारणनिरूपकाः. भगवत्सुखेन सुखप्राप्तिः पुण्यनाशे कारणम्. अधिकारिणि परमकृपा ज्ञानकारणम्. बीजमुक्तिः धृतराष्ट्रमुक्तिः, हरिं हृदि कृत्वा गृहात् प्रव्रजनात् नरोत्तमः (द्रष्ट. भाग.पुरा. १।१३।२६). युधिष्ठिरवैराग्यम् उत्तमाधिकारसाधकम्. द्वादशाध्यायैः पुरुषस्य द्वादशांगेषु तदकेतानतारूप-वैराग्यनिरूपणात् सङ्ख्यातात्पर्यम्. पाण्डवमुक्तिः फलम्. लौकिकसामर्थ्यन्तु ऐहिकबन्धनिवृत्त्यै, अधिकारस्य सम्प्राप्त्या लोकतो बन्धसम्भवः. अद्भुतवैराग्यं वक्तुम् अलौकिकसामर्थ्यम्. त्यागसंन्यासनिरूपणम् अग्रिमाध्याययोः संन्यासोऽपि अंगम् इति सहेतुकम्.

अत्र एवं संक्षेपः— स ‘‘रुचिः श्रवणादि प्रेम च’’ (सुबो. १।२।६) इति उक्तः. अयं मर्यादामार्गः. मध्यमोत्तमयोः भेदस्तु ‘‘ब्रह्मविदाप्नोति परम्’’ (तैत्ति.उप. २।१।१) इति श्रुत्या शाब्दानुभवाभ्याम्. अतएव उत्तमाधिकारे दशमे अध्याये ‘‘दर्शनस्पर्शन’’ (भाग.पुरा. १।१०।१२) इत्यत्र ‘‘सर्वे ते’’ (तत्रैव) इत्यत्र च काय-वाङ्-मनोवृत्तयः भगवति उक्ताइति देहेन्द्रियान्तःकरणवृत्तीः भगवति योजितवन्तइति. ततश्च सप्तदशे श्लोके ‘‘सिते’’त्यत्र (भाग.पुरा. १।१०।१६-१७) ‘‘उपचारेषु सर्वेषु महाराजत्वम् उत्तमं, तस्य चिह्नं हि तच्छत्रम् अर्जुनः तेन बुद्धिमान्’’ (सुबो.१।१०।का. ९) इति कारिकायां तत्प्रकारः उक्तः. वेदानाम् इदमेव तात्पर्यं सर्वेन्द्रियैः यद् भगवत्कार्यं कर्तव्यम् इति. तत्फलं प्रथमस्कन्धे अष्टादशाध्याये सन्निपातनिवृत्तिः. ततश्च सन्निपातस्य भ्रमत्वात् तन्निवृत्तौ सत्यां ‘‘य एव अस्मि स सन् यज’’ (तैत्ति.ब्रा. ३।७।५।५) इति श्रुत्युक्ताधिकारः सम्पन्न उत्तमः, द्वादशाङ्गेषु भगवतः एकतानतारूपस्य वैराग्यस्य त्रयोदशाध्यायाः इति सङ्ख्यातात्पर्यात्. किञ्च ‘‘य’’ इत्यस्य वैराग्यमेव ‘‘अस्मिन् स सन् यज’’ इति अर्थः. अतो ‘‘गोपालो अहम्’’ (गोपालोत्तरतापि.उप. १५) इत्यत्र ‘‘कृष्णो अहं पश्यत गतिम्’’ (भाग.पुरा. १०।२७।१६) इत्यत्र च वैराग्यम् अहम् इत्येव अर्थः मुख्यार्थः स्तुतः, ‘‘महात्मानः’’ (भाग.पुरा. ५।१३।२१) इति वाक्यविरोधात्. वैराग्यस्य भगवत्त्वं तृतीयसुबोधिन्यां स्थितम्. ज्ञानिनां ‘‘तत्त्वमसि’’ (छान्दो.उप. ६।८।७) इत्यत्र ‘तच्’छब्दार्थो अक्षरः. मर्यादाभक्तौ तु ‘तच्’छब्दार्थो वैराग्यम्. मुख्यार्थस्तु आसुरीं प्रकृतिं श्रितानां ... . ‘‘तत्त्वमसि’’ इति अवतारपरम् इति माध्वाः.

(अपूर्णम् इदम्.)

(अप्रकाशितम्).

(३) श्रीगोकुलनाथानां प्रथमस्कन्धटिप्पणी (मातृकान्तरे उपलब्धा)

श्रीकृष्णाय नमः. प्रथमस्कन्धे **वन्दे श्रीकृष्णदेवम्** इत्यत्र. **त्रिभुवने**ति निमित्तसप्तमी. त्रिभुवनस्य संसारतरणार्थं **यस्य रूपमेव** स्वतन्त्रम् **आसीत्** साधनत्वेन इति शेषः. यथा भक्तिः ज्ञानादिनिरपेक्षा स्वतन्त्रैव संसारतरणसाधनं तथा रूपमपि इति अर्थः. साधनेषु सत्स्वपि तैः आविष्कृतं स्वरूपम् एवम् इति **चकारः. शास्त्रं** भागवतं भागवतं **रूपं च लोके प्रकटयति** इति अग्रे अन्वयः (१).

भाषाभेदेति. भाषायाः समाधिः लौकिकी मतान्तरीया च इति भेदाः ; (चेद् यदि!) तत्कृतः आगमत्व-सुरतरुत्व-फलत्वरूपो विभेदः, तस्मात् **त्रयमपि** आगमत्वं सुरतरुत्वं फलत्वं च **स्याद्** इति आशङ्क्य **नो** इति उक्तम्. तत्र हेतुः **विरुद्धं महद्** इति. तथा सति सर्वस्य त्रिरूपत्वं न स्याद् इति भावः. स्वमतम् आहुः **भक्त्यंशे** इति. सुरतरुत्वं साधयति **शाखे**ति (४).

विधाय दत्वा च इत्यनन्तरं स्थितः इति शेषः (५).

लक्षणाम् इति जहत्स्वार्थाम् इति शेषः. **न न्यूनाद्** इति. भाट्टानां मतइव शब्दं न अध्याहरिष्यामि, अर्थन्तु अध्याहरिष्यामि इति आहुः **आर्थिकं तु** इति. **सङ्गतिः** वक्तव्या इति शेषः (६-७).

यत्राधिकृत्य इति. तथाच शास्त्रे क्रमेण गायत्र्याधिकार-धर्मविस्तर-भक्तिरूपत्वनिरूपणेन भागवतत्वनिरूपणार्थं श्लोकत्रयम् इति अर्थः. **वृत्रासुरवधोपेत**पदस्य भक्तिरूपत्व-बोधकत्वं व्युत्पादयन्ति **यथा हि** इति. ''इन्द्रो वृत्राय वज्रम् उदयच्छद्'' (तैत्ति.संहि. ६।५।१।१) इति श्रुतौ वृत्रस्य मायायज्ञात्मकत्वं निरूपितं ''यज्ञो हि तस्य माया आसीद्'' इति. ततः उक्थो यज्ञचक्षुः तेन स्वस्मिन् अवरुध्य स्थापितो, देवेषु यज्ञाः न प्रवर्तेरन् इति. न हि चक्षूरहिताः प्रवर्तन्ते. ''चक्षुर्वा एतद् यज्ञस्य यद् उक्थम्'' (तैत्ति.संहि. ६।५।१।४) इति श्रुतौ तस्य चक्षूरूपत्वं निरूपितम्. **तथात्रापि** इति. इदं ''ममोत्तम'' (भाग.पुरा. ६।११।२७) इति श्लोके विवृतम्. प्रथमश्लोकार्थम् आहुः **गायत्री हि** इति. **बीजार्थम्** इति, बीजनिरूपणार्थम् इति अर्थः. **अत** इति, गायत्र्याः वेदबीजत्वाद् इति

अर्थः. प्रकारान्तरेणापि वेदसाम्यम् आहुः **किञ्च** इति. **तथात्रापि** इति. **वेदे** स्थिता (**यज्ञियाः!**) यज्ञसम्बन्धिनः **पदार्थाः** ब्रह्मादिभिः योगेन **अनुभूयन्ते. तथा** भागवते स्थितं भक्तिसम्बन्धि-पदार्थ**त्रयं व्यासो** योगेन **अनुभूतवान्** इति अर्थः. वेदे यज्ञानां मुख्यत्वम्, अत्र भक्तेः इत्यत्र हेतुम् आहुः **एषा हि** इति. तर्हि वेदविरोधः इति आशङ्क्य आहुः **माहात्म्येति. तत्र द्वयम्** इति, आत्मतत्वज्ञानफलं स्नेहं सृष्ट्यादिज्ञानफलं माहात्म्यज्ञानं च **साधयितुम्** इति अर्थः. **द्वयमपि** इति, **यज्ञाः ब्रह्मात्मावगतिः च** इति अर्थः. **अतद्गुणसंविज्ञान** इति. अस्मिन् पक्षे अवयवसमासो ज्ञेयः. इदं भाष्ये विवृतम्. ननु जन्मादिकर्तृत्वेन सर्गलीलैव उक्ता, भागवतेतु अन्यापि नव लीलाः उक्ता इति वेदार्थाद् अधिकनिरूपणम्, तत्र उक्ता सर्गलीलापि अत्र उक्ता इति पुनरुक्तिः च इति आशङ्क्य आहुः **वेदार्थेति**. नवापि लीलाः वेदे गूढाः उक्ता एव, अतः ता भागवते अधिका न. तत्र सर्गः सामान्यतः उक्तः "भूतानि जायन्ते" इति. अत्रतु प्रतिपाद्यते विशेषतो निरूप्यते अतः पुनरुक्तिः च न इति अर्थः. **अविकृतत्वाय** इति. एतस्यैव व्याख्यानं **सर्वेत्यारभ्य निरूपयितुम्** इत्यन्तम्. **निरूपयितुम् अव्ययनिर्देश** इति पूर्वेण अन्वयः. **अनेन** इति, अविकृतत्वकथनेन इति अर्थः. **अतोऽभिन्नेति**. अभिन्ने निमित्तोपादाने यस्य इति अर्थः. ननु जन्मनि समवाय्यपेक्षा नतु स्थिति-प्रलययोः, अतो अन्वयात् समवायिकारणाद् जन्मादित्रयं न सम्भवति इति 'जन्मादि'पदार्थैकदेशे जन्मनि 'अन्वय'पदार्थस्य अन्वयो भवेत्. तथाच पदार्थः पदार्थेन अन्वेति नतु पदार्थैकदेशेन इति दोषो भवेद् इति आशङ्क्य आहुः **स्थितीति**. घटस्य स्थितिः लयश्च मृत्पिण्डेएवेति तत्रापि समवायिनो **ग्रहणात् समवायकथने दोषः** पूर्वोक्तो **न** इति अर्थः. **अथवा** इति. अस्मिन्नपि पक्षे 'अर्थ'शब्दः प्रयोजनवाच्येव. पूर्वत्र घटादीनां फलं जलाहरणादि तदर्थः, द्वितीये तैः साधितं जीवानां फलं तदर्थइति विभेदः. **बन्धमोक्षयोः** इति. **प्रकारभेदेन** सह **बन्धमोक्षयोः निरूपणार्थम्** इति अन्वयः. **पुराणेति**. तथाच मूले **हृदा** इत्यस्य पुराणेन सह इति अर्थः. **वरणीयत्वं वा** इति. आद्यपक्षे स्वतो दोषाभावेन 'भर्गः'शब्दार्थ उच्यते, सेवकोद्धारकथनेन वरणीयत्वम् उच्यते ; अस्मिन्

पक्षे विपरीतम् इति ज्ञेयम्. **दोषाभावपक्षे तु** इति. **निमित्ताधिकरणयोः** इति. **यत्र** इति सप्तमी निमित्तार्थे अधिकरणे च इति अर्थः. निमित्तपक्षे यन्निमित्तं **त्रिसर्गो मृषा** जीवार्थमेव त्रिसर्गो नतु स्वार्थम् इति **स्वराड्** इत्यस्य आभासे उक्तः स्वार्थसृष्ट्यभावः साधितः. **गुणत्रयेति.** त्रयाणां गुणानां सर्गः, त्रिभिः गुणैः सर्गो यस्य कार्यस्य, त्रयाणां देहेन्द्रियमनसां सर्गः, त्रिभिः देहेन्द्रियमनोभिः सर्गो यस्य धर्मस्य, त्रयाणां सर्गो यस्मात् कारणात्, त्रयाणां सर्गो यस्मिन् भूरादिलोके, त्रयाणां सर्गो यस्मै प्रयोजनाय —एवं व्युत्पत्तिभेदेन एते अर्थाः उक्ताः. लोके दृष्ट्या प्रतीयन्ते अतो दृष्टान्तैः तदभावः उपपाद्यते इति अर्थः. **प्रवृत्तीति.** प्रकर्षेण वृत्तिः स्थितिः, स्वस्मिन् सर्वस्थापनम् इति यावत्, स पृथिवीधर्मः, ‘‘भावनं ब्रह्मणः स्थानं धारणं सद्विशेषणम्’’ (भाग.पुरा. ३।२६।४६) इति वाक्यात्. **प्रकाशः** तेजोधर्मः. **एतदुभयराहित्यं** जलधर्मः. एतद्रूपम् अन्योन्यस्य **वैधर्म्यं**— प्रवृत्तिः जल-तेजसोः वैधर्म्यं, प्रकाशः पृथिवी-जलयोः वैधर्म्यम्, उभयराहित्यं पृथिवी-तेजसोः वैधर्म्यम् इति अर्थः ॥१॥

धर्मः प्रोज्झितकैतव इत्यत्र. **वेदश्च** इत्यस्य अग्रे धर्मे इति शेषः. **स** इति, वेदप्रमितः इति अर्थः. **अतद्धेतोः** इति. स्वर्गलोकाहेतोरपि यज्ञस्य पूर्वं ‘‘मुह्यन्ति’’ (श्लो. १) इति पदेन उक्तेन ‘‘यज्ञान् लौकिकान्’’ (तत्रत्य सुबो.) इति व्याख्यातेन न्यायेन लोकरूप-**फलसाधनतया उक्तं** यद् **रूपं** तेन हेतुना यज्ञादिषु **कापट्यं सम्भवति** इति अर्थः. **स्वर्गादीति,** यज्ञबोधक-वाक्यस्य इति शेषः. **जननाद्** इति भावे ल्युट्, हेतौ पञ्चमी. तथाच तद्वाक्यस्य पुरुषे **स्वर्गादिपदसम्बन्धि-भ्रमजननाद्** हेतोः तत्प्रतिपाद्येऽपि तत्सम्बन्धात् **कापट्यं सम्भवति** इति अर्थः. **स्वपरद्रुहेति.** स्वद्रुहः तपःप्रभृतयः, परद्रुहो यज्ञादयः इति अर्थः. **अत्र वास्तवम्** इत्यादिना **वास्तवपदस्य अर्थः उक्तः. वस्तुपदस्य** अर्थम् आहुः **किञ्चेति. स्वप्रकाशस्य** वस्तुनः इति अर्थः. **अन्यत्र** इति. **अत्र वेद्यं वास्तवं वस्तु** च इति पदद्वयतात्पर्यम् उक्तम्. **वेद्यपदतात्पर्यम्** आहुः **अविद्येति.** अन्यत्र वेद्यम् अविद्यावतां वेदनविषयः अतो वेदनयोग्यं तद् न भवति इति भावः. अत्रतु न तथा इति आहुः **भागवते तु** इति. **स्वप्रकाशस्यापि** इत्यनेन

उक्तं **वस्तुपदस्य** अर्थं विवृण्वन्ति **सर्वावेद्यस्यापि** इति. तस्यैव वास्तवत्वं च इति आहुः **अन्यत्रेति**. **तादृशे** इति, लोके **प्रकटे** अवतारादौ इति अर्थः. तथाच अवास्तवत्वशङ्का-निवृत्त्यर्थं **वास्तवपदम्** इति अर्थः. **सर्वेषाम्** इति. वास्तवं रूपं सर्वेषां वेद्यं भवति अतः इदं सर्वाभिलषितम् इति वा तात्पर्यम् इति अर्थः. **यज्ञादिषु** इति. एतेषु अन्ततः शान्तिसहित-परमानन्दावाप्तिः न इति अर्थः. **भगवत्साक्षात्कारे तु** इति. भागवतवेद्ये भगवति विदिते **अन्ततः** स भवति, **सायुज्ये वा** स भवति इति अर्थः. स्वतन्त्रभक्तिं सायुज्यं च अभिप्रेत्य द्वयम् उक्तम्. **ज्ञानोत्कर्षः** इति. आद्यचरणे धर्मतः उत्कर्षः, अस्मिन् ज्ञानतः उत्कर्षः उक्तः इति अर्थः. **भगवद्व्यतिरिक्तेति**. इदं शास्त्रं भागवतं भगवता प्रतिपादितम्, अन्यानि भगवद्व्यतिरिक्तैः ऋषिभिः प्रतिपादितानि इति अर्थः. **महामुनिकृते** पदव्यतिरेको वा इति आहुः **भेदेन** इति. महामुनिः सर्वत्र ब्रह्मदृष्टिः ; स ब्रह्माभेदपुरस्सरं शास्त्रं प्रतिपादयति, पराणि अन्यप्रतिपादितानितु भेदपुरस्सरं भवन्ति इति अर्थः. **अन्यथाकर्तुम्** इति. वाणिज्यादिकम् आश्रमधर्मादिकं च तदास्थितौ अन्यथाकर्तुम् इति अर्थः. अनन्यानान्तु करोत्येव. भक्ताः चेद् भ्रान्ताः, यथा शिवरात्रिप्रसङ्गे, तदापि तथा करोति इति **अपिशब्दः**. **सद्यः**पदस्य अर्थम् आहुः **विचारेति**. **तत्क्षणाद्** इत्यस्य अर्थम् आहुः **तत्क्षणादेव** इति. शीघ्रमेव इति अर्थः ॥२॥

निगमेत्यत्र. **भागवते** इति. अन्ये वादिनो वेदे आधिक्य-न्यूनतादोषौ अङ्गीकुर्वन्त्येवेति अन्यत्र किमपि भवतु, भागवतेतु रूपकेण निगमे कल्पतरु-सादृश्य**कथनम् अनुचितम्** इति अर्थः. रूपके हि उपमानाद् उपमेयं न्यूनं भवति. यथा "अयं धूर्जटिः" इत्यत्र राजा धूर्जटेः न्यूनः. तथा निगमेऽपि कल्पवृक्षाद् न्यूनता स्याद् इति भावः. **बुद्धीति**. अतो लोकवदेव न्यूनताबोधो भवेद् इति भावः. **मध्वादिवद्** इति. तथाच कल्पनोपदेशः इति भावः. तत्र हि तत्त्वमेव नतु तत्सादृश्यम् अतो न न्यूनतादोषः इति आशयेन आहुः **तत्र** इति. पदार्थो द्विविधः लौकिकालौकिकभेदेन. लौकिकं मधु **सारघं**, तद् **अस्माकम्**, अलौकिकं **मधु सूर्यः**, तद् देवानाम्. नामसाम्याय सादृश्यं किञ्चिद् विव्रियते इति

भावः. तथा लौकिकः कल्पवृक्षः स्वर्गस्थः, अलौकिको वैकुण्ठस्थः इति आहुः **तथा** इति. **नतु लक्षणा** इति. रूपके सति लक्षणा स्याद् इति भावः. न्यूनत्वं न उचितम् इति आहुः **वेदस्य** इति. **आर्थिकः** अर्थकृतोत्कर्षः इति अर्थः. अर्थोत्कर्षम् आहुः **नितराम्** इति. एतत्प्रतिपाद्यार्थो ब्रह्मरूपः इति अर्थः. तथाच **निगमपदेन** उत्कर्षम् उक्त्वा कल्पतरुत्वकथनाद् न रूपकं किन्तु कल्पनोपदेशएव इति अर्थः. रूपके उपमेयस्य न्यूनता, कल्पनोपदेशे आधिक्यम् इति विभेदः. **शकुनमिव** इति. प्रयाणे फलं पतति चेत् "शकुनं जातम्" इति वदति लोकः ; शकुनभूतं तत् फलं सङ्गे स्थाप्यते, तथा इति अर्थः. **उत्कृष्टम्** इति, अन्नादि इति अर्थः. **तच्च** इति. रसात्मकं फलम् इन्द्रियैः सम्बद्धं प्रेमरसं जनयति, यथा निर्झरैः जलं वर्धते इति वर्धनमात्रे दृष्टान्तः. **तद्** इति, प्रेम इति अर्थः. **अनेन** इति. आद्यचरणेन एतस्य फलान्तराधिक्यम् उक्तम्, अनेन एतन्निष्ठरसस्य फलान्तररसाद् आधिक्यम् उक्तम् इति अर्थः. **शुद्धाश्च** इति क्रमेण निर्ग्रन्थाः आत्मारामाः मुनयो भगवत्सेवायोग्याः इति अर्थो "आत्मारामाश्च मुनयः" (भाग.पुरा. १।७।१०) इति श्लोके निरूपितः. अतो अयं शब्दराशिः फलम् इति अर्थः. **भगवद्रूपा** इति, भगवतो रूपं येषु तादृशाः सङ्घाताः. वामनादयो **अवताराः**, नारदादयो **अधिकारिणः**. तत्र अवताराणां भजनीयत्वाद् न तत्र भक्तिः, अधिकारिणाम् अधिकारदोषाद् न भक्तिः इति अर्थः. **ग्रन्थार्थ** इति, **शुद्धाश्च** इति कारिकोक्तः इति अर्थः. **पृथिव्यादयो रसा** इति. इदं छान्दोग्ये स्पष्टम् ॥३॥

नैमिषे इत्यत्र. स्वर्गपदस्य अर्थम् आहुः **भगवदानन्दांशभूत** इति. आत्मसुखम् इति अर्थः. **लोकपदस्य** अर्थम् आहुः **लोकात्मकस्तु महानंश** इति. महद् आत्मसुखम् इति अर्थः. **लोकरूप** इति, महात्मसुखरूपः इति अर्थः ॥४॥

त एकदा इत्यत्र. **कालगुणे**ति. कालगुणाः प्रातरादयः. कालसाद्गुण्याद् भगवत्कथायां विशेषः इति परिज्ञानं मननाद् इति अर्थः ॥५॥

त्वया खलु इत्यत्र. **पुराणानि आकरस्थानि** इति. प्रश्नोत्तरे विहाय पञ्चलक्षणानि दशलक्षणानि च इति अर्थः. **मूले**ति. साङ्ख्य-योग-पशुपति-

वैष्णवमतप्रतिपादक-मन्त्ररूपाः इति अर्थः. **विद्योपजीवनम्** इति. यद्यपि पुराणानि वदति तथापि "स वै पुंसां परो धर्म" (भाग.पुरा. । ।) इत्यादिरूपं रहस्यम् उपजीवनार्थं न वदति इति अर्थः. **ईश्वरविचारिता** इति, ईश्वरेण विचारिताः प्रोक्ताः इति अर्थः. वेदवक्ता ईश्वरएव इति भावः. **जीवविचारिता** इति, जीवैः ऋषिभिः विचारिताः प्रोक्ताः इति अर्थः. **साङ्ख्यायनादिषु** इति. सङ्ख्यानां समूहः साङ्ख्यं, तद् अयनं स्थानं यस्य शास्त्रस्य तदादिषु इति अर्थः ॥८॥

प्रायेण इत्यत्र. **'युग'पदेति. तत्रत्यानाम्** इति कर्तरि षष्ठी, **भगवतः** इति कर्मषष्ठ्यन्तं शेषः. युगस्थैः भगवान् पूज्यते "कृते शुक्लश्चतुर्बाहुः" (भाग.पुरा. ११।५।२१) इत्यादिवाक्यैः. अतः ते सन्मार्गवर्तिनइति तेषां भद्रं पृच्छत इति भावः ॥१०॥

अतः साधो इत्यत्र. **प्रकरणेषु** इति. ततः उद्धारे तद्देशेषु ते धर्माः न कर्तव्याः इति स्यात्, तदभावाय इति अर्थः. **ईषा** लाङ्गलदण्डः, मनसः तादृशदण्डरूपा मनीषा इति अभिप्रायेण आहुः **मनश्चाञ्चल्येति** ॥११॥

तन्न इत्यत्र. **अवतारद्वारा** इति, अवतरणद्वारा इति अर्थः. **देवेति,** राजादिषु इति अर्थः ॥१३॥

आपन्न इत्यत्र. **अवतारस्य** इति, रामादेः इति अर्थः. **तत्र हि** इति, संसृतौ इति अर्थः. **मुक्तान् करोति** इति, संसृतेः इति शेषः. संसृतिमोकं विवृण्वन्ति **तत** इति, श्रोतृभ्यः इति अर्थः ॥१४॥

यत्पाद इत्यत्र. **गुरुत्वेति.** धर्मबुद्ध्या समाश्रयणव्यावृत्त्यर्थम् इति अर्थः ॥१५॥

अथाख्याहि इत्यत्र. **दोषाभावे च** इति. स्वयमेव सर्वं भवति इति मारणादिदोषो नास्ति इति अर्थः ॥१८॥

वयं तु इत्यत्र. **सूपकारेति.** तद्ग्रन्थपाठे इच्छा न निवर्तते किन्तु तद्विद्यासम्पादितान्नभक्षणे सति निवर्तते ; अत्र श्रवणगृहीतस्यापि अमूर्तत्वात् न तथा इति अर्थः ॥१९॥

ब्रूहि इत्यत्र. **धर्मवर्मणि** इत्यस्य अर्थम् आहुः **धर्मस्य हि** इति.

तद्योगावतारेति क्रमेण **योगेश्वरे धर्मवर्मणि ब्रह्मण्ये** इति पदत्रयार्थः ॥२३॥

॥ प्रथमाध्याये व्याख्या समाप्ता ॥

द्वितीयेऽध्याये. "त्वं नः सन्दर्शितो धात्रा" (भाग.पुरा. १।१।२२) इति उक्तत्वाद् भगवानेव सूतं दत्तवान् इति अभिप्रायेण आह **कथेति. कथाश्रवणे भावो** रुचिः तेन इति अर्थः. **फलेति. फलभूतानि साधनभूतानि** च यानि **रूपाणि** तेषां च **कर्मणां** च —एवं **त्रयाणां निर्णयो द्वितीयेऽध्याये वक्ष्यते. अन्यत्र** तृतीयेऽध्याये **शेषिणां** शेषोऽवशेषः तद्युक्तानाम् अवशिष्टानाम् अवतार-कृष्णावतार-प्रयोजन-धर्म-शरणानां निर्णयो वक्ष्यते इति अर्थः (१-२).

यं प्रव्रजन्तम् इत्यत्र. शुकस्य सङ्गभये हेतुं वक्तुम् आहुः **भगवद्धर्मेषु** इति. तथाच भगवद्धर्मप्रवेशाद् भयाभावम् इति भावः. धर्मप्रवेशे भयाभावम् उपपादयन्ति **बलिष्ठस्य** इति. **पराशरेति.** तस्मिन् काले पराशरेण ध्यातो भगवान् सत्त्वात्मके व्यासदेहे वसति इत्यतो लोकदृष्ट्या न कोऽपि दोषः शङ्कनीयः इति अर्थः. **नारदोपदेशाद्** इति. "त्वमात्मनात्मानम्" (भाग.पुरा. १।५।२१) इति उपदेशानन्तरं स्वस्य भगवदवतारत्वेन ज्ञानम्, अतः ततः **पूर्वं विस्मृतात्मत्वमेव** इति अर्थः. **प्रेम्णा** इति. "सर्वः प्लुतो विकल्प्यते" (पाणि.सूत्र ८।२।६) इति सिद्धान्तात् सन्नकण्ठे प्लुताभावोऽपि सूत्राविरुद्धः इति भावः. **कर्मसम्बन्धाद्** इति. सम्बन्धो वाच्यवाचकभावलक्षणः. तथाच **यम्** इति 'यच्'छब्दस्य कर्मवाचकत्वाद् इति अर्थः. ननु ब्रह्मज्ञानेन सर्वभावे अन्येषामपि शुकमयत्वात् तरवएव कथम् अभिनेदुः इत्यतः आहुः **विष्णोः** इत्यारभ्य **तन्मयत्वम्** इत्यन्तम्. तथाच एकोपादानत्वेन अधिकं तन्मयत्वात् तेएव अभिनेदुः. ननु एकोपादानत्वमपि सर्वस्य अस्तीति तरुषु को विशेषः इति अरुच्या पक्षान्तरम् आहुः **अथवेति.** तथाच शब्दस्य तत्र विद्यमानत्वात् तेएव अभिनेदुः इति अर्थः ॥२॥

यः स्वानुभावम् इत्यत्र. **अन्यथा** इति. एकपदाभावे तादृशाः बहवः इति निर्धारणं स्याद् अतो हेतोः **रसान्तरसम्भावना स्याद्** इति अन्वयः. **बहिः** इति. एते उभयेऽपि प्रकाशकाः बहिः सन्ति इति अर्थः.

आत्मनि इति प्रकाशकाः इति शेषः. ननु दीपाः बहिः सन्ति, पुरुषोक्त-वाक्यबोधस्तु अन्तर्जायते इत्यतः आहुः **वाचेति. बोधयन्त्येव** शाब्दबोधो भवति, नतु अपरोक्षं ज्ञानम् इति अर्थः. **शुभ्राणां** तु इति. योग्यता सिद्धैव अस्ति, कर्मसु योजनमात्रम् अपेक्षितम् इति अर्थः. **तथा** इति, समल-शुभ्रवस्त्रयोरिव इति अर्थः ॥३॥

नारायणम् इत्यत्र. **भाग्यात्मिका** इति. भाग्यं स्वमते भगवदिच्छाविशेषः. सरस्वती शब्दब्रह्मात्मिका इति भावेन आहुः **सर्वे ते** इति. **तद्वक्तारम्** इति सरस्वतीवक्तारं भगवन्तं, "तेने ब्रह्म हृदा य" (भाग.पुरा. १।१।१) इति उक्तत्वाद् इति भावः ॥४॥

मुनय इत्यत्र. **द्वितीयेति**. "भद्रं नो ब्रूहि" (भाग.पुरा. १।१।११-१२) इति प्रश्ने "येन आत्मा सुप्रसीदति" (भाग.पुरा. १।२।५) इत्युक्तः कृष्णप्रसादः **एभिः प्रश्नैरेव भवति** इति अर्थः. तद् विवृण्वन्ति **हे मुनय** इत्यारभ्य **समाप्तिः** इत्यन्तेन. **येन च** इति, हेतुना इति अर्थः. तथाच मङ्गलं कृष्णप्रसादहेतुः च कृष्णप्रश्नएव इति अर्थः. **आत्मपदस्य** अन्तःकरणवाचकत्वपक्षेऽपि प्रसादहेतुत्वं प्रश्नस्य सिद्ध्यति इति आहुः **अन्तःकरणस्यापि** इति. एतस्य एतदावेशे प्रसादः, आवेशस्तु तत्प्रसादेन. तथाच प्रश्नेएव कृष्णप्रसादं, ततः तदावेशं सम्पाद्य अन्तःकरणं प्रसादयति इति अर्थः. **शास्त्रसमाप्तिः** इति. षण्णामपि प्रश्नानाम् अर्थः कृष्णएव इति उक्तं, तत्प्रसादश्च प्रश्नैः उक्तः. तथाच प्रश्नेएव पृष्टं शास्त्रं समाप्तम् इति अर्थः ॥५॥

तत्र इति, साधनेषु इति अर्थः. **स वै पुंसाम्** इत्यत्र. **साधनान्तरेति** 'साधन'पदं भावे ल्युडन्तम्. स्नानादिकम् अन्यत् फलं साधयति चेद् इति अर्थः. **प्रमाणस्य** इति. स्वर्गादिकं भक्तिं च फलत्वेन बोधयतीति फलद्वयेऽपि प्रमाणस्य तुल्यत्वम् इति अर्थः. **वै**पदस्य अर्थम् आहुः **स्वर्गादि** इति. **प्रतिबन्धकानि** इति, दुःसङ्गादीनि इति अर्थः. **अपेक्षितानि** इति, सत्सङ्गादीनि इति अर्थः. **स्वपर्यवसानाद्** इति. प्रसादस्य स्वयमेव फलं नतु स्वर्गादि इति अर्थः ॥६॥

वासुदेवे भगवति इत्यत्र. **स च** इति. **देवतान्तरं** व्यूहः, तद्विषयकेन

ध्यानोपासनाभेदेन स च वासुदेवः **अन्योऽपि** व्यूहरूपोऽपि **भवति.** व्यूहस्य ध्यानोपासने भगवतः सकाशाद् भिन्ने, चित्ताधिष्ठानन्तु समानमेव. अतो व्यूहव्यावृत्त्यर्थं **'भगवति' इति** पदम् **आह** इति अर्थः ॥७॥

बाधकमाह इति. धर्मत्वस्य बाधकम् अदृष्टानुत्पादनम् आह इति अर्थः ॥८॥

धर्मस्य इत्यत्र. प्रथमान्तम् **अर्थ**पदं विचारयन्ति **अर्थोऽभिधेये**त्यादिना. **विधिस्पर्शाभावाद्** इति. रैरूपान् लौकिकान् **विधिः** वैदिको अलौकिको न स्पृशति अतः तज्जनकस्य चोदनालक्षणाभावाद् **न धर्मत्वम्** इति भावः. **अन्यथा** इति, विधिस्पर्शाभावेऽपि अर्थसाधकस्य धर्मत्वे इति अर्थः. ननु तत्र ''यजेत'' इत्यादिवद् लिङभावाद् न धर्मत्वम् इत्यतः आहुः **अपूर्वांशस्तु** इति. अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्. लोकाधिगतार्थबोधने ''यजेत'' इत्यादावपि अपूर्वांशस्तु नास्ति अतो अनुवादएव इति भावः. चोदनालक्षणो अर्थो धर्मः, तत्र चोदनालक्षणत्वाभावेन धर्मत्वाभावम् उक्त्वा अर्थत्वाभावेनापि तदभावम् आहुः **किञ्च** इति. **एते हि** इति, साधनसाधकाः धर्माः इति अर्थः. एतेन सिद्धं मूलार्थम् आहुः **ये पुनः** इति. वस्तु-प्रयोजनरूपौ अर्थौ संगृह्य आहुः **तथा** इति. **रूपा** निरूपकाः साधका इति अर्थः. **निवृत्तार्थे**ति, निवृत्तो अर्थभूतः पुरुषार्थो यस्माद् इति अर्थः. **अपवर्गसम्बन्धिनः** इति. एतादृशस्य पुरुषस्य धर्मः आपवर्ग्यः इति अर्थः. अस्मिन् पक्षे अपवर्गसम्बन्धी पुरुषः आपवर्गः, तत्र भवो धर्मः आपवर्ग्यः. द्वितीयपक्षे अपवर्गं मर्यादीकृत्य इति आपवर्ग्यः. **ननु तर्हि** इति, दृष्टेन निर्णये इति अर्थः. **दर्शनाद्** इति. यथा अर्थेन धर्मो दृश्यते तथा कामोऽपि दृश्यते. तथाच अर्थस्य धर्मैकान्तत्वं न सिद्धम् इति भावः. **विषयांशे** इति, अर्थोपयोगः एतदंशेऽपि न इति अर्थः. **न च** इति. रूपादीनां स्वरूपसम्पादको अर्थो न, रूपादितन्मात्राणां सृष्ट्यादावेव सिद्धत्वाद् इति अर्थः. **सिद्धानि** इति. रूपं सौन्दर्यम् आकृतिविशेषः. तथाच सृष्टौ **सिद्धान्येव रूपाणि** धनेन **अन्यस्य** असुन्दरस्य **भवन्ति इति** यन्मतं तत्र **विपरीतम् आयातम्** अन्वयव्यतिरेकाभावः आगतः इति अर्थः. तद् विवृण्वन्ति **अर्थे** इति. प्राप्तेऽपि अर्थे जरादिना सौन्दर्यं गच्छति, गतेऽपि अर्थे तारुण्यादिना

सौन्दर्यप्राप्तिः इति. **परावृत्तावपि** इति. अर्थेन सौन्दर्ये जाते तद्भोगसुखं भवति —एवं प्रकारेण अर्थे साध्यस्य कामरूपफलस्य साधनता पूर्वम् उक्ता, परावृत्तावपि शुभ्रे वस्त्रे रक्त-पीतादिरूपाणि कुसुम्भादिद्रव्यैः जायन्ते, ततः तद्भोगः. अतो रूपपरावृत्तावपि कामरूपसाध्य-साधनता अर्थे सिद्ध्यति. तथाच सौन्दर्यांशे अतथाभावेऽपि परावृत्त्यंशे तथा नियमात् साधनता सिद्धैव इति **चेत्, तत्रापि** पूर्वम् **उक्तं वैपरीत्यम्** अन्वयव्यतिरेकराहित्यम् अस्त्येव. परावर्तकस्य रङ्गकारस्य न भोगः ; अतादृशस्य राज्ञो भोगः. पूर्वं विषयांशे वैपरीत्यम् उक्तम्, अत्र भोगांशे तथेति विभेदेऽपि फलतो न कश्चिद् विशेषः इति भावः. **तथाच** इति. **अर्थेन** यथा **वस्तुव्यत्यासो** रूपपरावृत्तिः जायते तथा **कामः** तद्भोगो **न** जायते. तत्र दृष्टान्तः **अर्थे इव** इति. यथा धर्मेण अर्थो न जायते तथा इति अर्थः. **न च** इति. प्रसिद्ध्यनुरोधेन तथैव मन्तव्यम् इति नच वाच्यम् इति अर्थः. **लोके**ति. प्रसिद्धिः क्वाचित्की, न सर्वलोकसिद्धा इति अर्थः. **अर्थे**ति. क्वाचित्क-प्रसिद्ध्याऽपि तथात्वे इदमपि स्याद् इति अर्थः. तत्रतु **भेषजपानादेरपि** इत्यादिना दूषणम् उक्तमेव इति भावः. तां प्रसिद्धिम् उपपादयन्ति **लोके** इति. प्रसिद्धिः असार्वत्रिकी इति उपपादयन्ति **कदर्यस्य** इति ॥९॥

अग्रिमश्लोकार्थं निरूपयन्तः कामस्वरूपविचारेणापि तस्य न अर्थसाध्यता इति आहुः **किञ्च** इत्यारभ्य **नार्थसाध्य** इत्यन्तेन. **जीवने**ति, जीवनमात्रसाधकः इति अर्थः. **मात्र**पदेन कियान् इत्यस्य उत्तरं, विशिष्टेन कीदृशः इत्यस्य उत्तरं ज्ञेयम्. **प्रीतिरूप** इति, प्रीतिसाधकः इति अर्थः. **तथाच** इति. **कामस्य इन्द्रियप्रीतिः लाभः** फलं **न,** असाध्यत्वात्. अतः **इन्द्रियप्रीतिहेतुः 'काम'**पदार्थो **न** इति अर्थः. किन्तु **यावता** भोगेन **जीवेत** स भोगः 'काम'पदार्थ इति मूलार्थ इति भावः. **उभयत्र** इति, अर्धद्वयेऽपि इति अर्थः. **तत्त्वविचार** इति. ज्ञानं तत्त्वम् इति वक्ष्यते, तज्जनको विचारः आत्मविचारः इति अर्थः. "अयं हि परमो धर्म" (याज्ञ.स्मृ. १।१।८) इति स्मृतेः तस्य धर्मत्वम्. एतदुपलक्षणेन अन्येऽपि धर्माः जीवनलाभभूताः इति ज्ञेयम्. मूले **जीवस्य** जीवनस्य **तत्त्वजिज्ञासा** तत्त्वविचारोपलक्षितो धर्मो **लाभः** फलम्, **इह कर्मभिः** साध्यो **यः** स **न अर्थो** जीवनस्य

फलं न इति अन्वयः. **यच्छब्दार्थम्** आहुः **कामो वा अर्थो वा** इति. ननु धर्मोऽपि कर्मसाध्यो अतः सोऽपि फलं न भवेद्, अतः आहुः **धर्मस्तु** इति. **तत्रापि** इति. श्रुतिबोधितत्वे इह लौकिकफलक-कर्मसाध्यो न जीवनफलम्, अतः स **यच्छब्दार्थो** भवतु नाम इति भावः ॥१०॥

समुदायेति. "समुदायस्य अनारोपितं रूपं तत्त्वम्" इति पक्षे सर्वस्य **तत्त्वं स्यात्.** तत्र हेतुः **अभ्रान्तेति.** घटः पटः इति विकल्पबुद्धिः भ्रमः, तद्रहितस्य सर्वं सर्वत्वेन ज्ञानविषयः. तथाच घटस्य तत्त्वं पटोऽपि स्याद् इति अर्थः. तथाच उक्तम् "अथवा सर्वरूपत्वाद् नामलीलाविभेदतः, विरुद्धांशपरित्यागात् प्रमाणं सर्वमेव हि" (त.दी.नि. १।९) इति. **तत्त्वज्ञानम्** इति. तत्त्वरूपं ब्रह्मात्मकं विषयविषयिभावरहितं ज्ञानं मोक्षे भवति इति सर्वे वदन्ति इति अर्थः ॥११॥

तच्छ्रद्दधाना इत्यत्र. **प्रथमं धर्म** इति, तत्त्वजनको विचारः इति अर्थः. **एवं द्वितीयेति,** तत्त्वज्ञानम् इति अर्थः ॥१२॥

तत्र द्वितीये इति, द्वितीये ज्ञाने इति अर्थः. **अतः पुम्भिः** इत्यत्र. **विशेषस्य** इति. **वर्णाश्रमविभागश** इति अधिकं पूर्वस्माद् उक्तम् अतः तथा इति भावः. **पुम्भिः** इत्यस्य अर्थम् आहुः **बीजेति. पुम्भिः इति** इति. अतः **पुम्भिः** इति उक्तम् इति अर्थः. पुमांसः कर्मकरणे समर्थाः संस्कारसंस्कृताः इति अर्थः. **कर्मणि** इति. **स्वनुष्ठितस्य** इति कर्मणि क्तः, अतो **अनुष्ठाने** क्रियायां **कर्मैव उपक्षीणं** सम्बद्धम्. 'क्त'प्रत्ययेन फलाश्रयो धर्मो अभिहितः. फलं च अत्र सिद्धिः, तच्च हरितोषणम् इति उक्तम्. तथाच हरितोषणं मुख्यं, व्यापाराश्रयः कर्ता अनभिहितो गौणः. अतो व्यापारो गौणः. तथाच हरितोषणे तात्पर्ये तदर्थं व्यापारः कोऽपि भवतु इति बुद्ध्या साधिते धर्मे तोषणरूपसंसिद्धिः फलं भवति इति अर्थः. इदमेव आहुः **तदैव हि** इति. **कर्मणैव** इति, व्यापारेणैव इति अर्थः. तथाच साधनाधीनमेव फलं भवति, हरितोषस्तु साधनाऽनधीन इति भावः. **कालेति.** वर्णभेदेन **कालभेदः** "वसन्ते ब्राह्मणो अग्नीन् आदधीत, वर्षासु रथकारः" (द्रष्ट. शाब.भा. ६।७) इत्यादि. **यज्ञभेदः** राजसूयादियागाः क्षत्रियस्यैव, सहस्रसमादयो ब्राह्मणस्यैव इति. एवं **द्रव्यभेदो**ऽपि

ज्ञेयः. **सफलम्** इति, धर्मानुष्ठानम् इति शेषः ॥१३॥

निर्विचिकित्सेति, संशयरहिता इति अर्थः. **अतो येषु** इति, धर्मान्तरेषु निर्विचिकित्स-प्रवृत्त्यसम्भवाद् इति अर्थः. **तस्मादेकेन** इत्यत्र. **न जीवपुरस्सरतया** इति. प्रियव्रतादिचरित्रं "भगवान् अत्र आविष्टः तथा करोति" इति बुद्ध्या श्रोतव्यम् इति अर्थः. **भगवद्वाचकैः** इति. विवरणस्थैः एतैः मूलस्थ-पदवाक्यानां शक्तितात्पर्यनिर्धारः इति अर्थः ॥१४॥

यदनुध्यासिना इत्यत्र. **भगवच्छास्त्रस्य** इति. भागवतस्य अधुना अप्रकटितत्वाद् इति भावः. **तत्र ध्यानस्य** इति. **ध्यानस्य तत्र** कोविदेषु कर्मछेदनरूप-**माहात्म्यजनकत्वं स्वतो नास्ति** किन्तु विषयसामर्थ्याद् इति अर्थः. तद् उपपादयन्ति **विषयेति** ॥१५॥

शुश्रूषोः इत्यत्र. **फलमुखानि** इति. फलदशायामपि विद्यमानानि इति अर्थः. **वैराग्यं च** इति, हेतुभूतं वैराग्यं च फलमुखम् इति अर्थः. वैराग्यम् आहुः **गृहेति**. **कथाश्रवणम्** इति. इदम् अर्थापत्त्या प्राप्तम्. रुचिरूपभक्तेः पूर्वशृङ्खलायाम् उक्तत्वाद् अत्र तदनुवादेन शुश्रूषा विधीयते इति आशयेन आहुः **ततः कथायाम्** इति. श्रद्धानन्तरं शुश्रूषा भवतीति अर्थक्रमम् अपेक्ष्य मूलस्थं क्रमम् अनादृत्य आहुः **श्रद्धा ततः शुश्रूषा** इति. तथाच मूले **पुण्यतीर्थनिषेवणात् महत्सेवया** अत्र जायमाना पूर्वोक्ता **रुचिः श्रद्दधानस्य शुश्रूषोः स्याद्** इति अन्वयः. **स्याद्** इत्यस्य सत्ता अर्थः, नतु उत्पत्तिः. **स्यात्** श्रद्धा-शुश्रूषे समुत्पाद्य तिष्ठेद् इति अर्थः. **एतादृशेति**. श्रद्धान्तेन धर्मेण स्वरूपम् उपकरोति इति कर्मणि उपपदे अण्. **अस्याङ्गीकाराय** इति. भगवदङ्गीकारसूचनाय **महत्**पदम्. आराग्रमात्रस्य भगवदङ्गीकारेणैव महत्त्वं भवति इति भावः. (मूले!) **महत्सेवया** भगवदङ्गीकृतसेवया इति अर्थः ॥१६॥

तदा इत्यत्र. **कारणभूतयोः** इति. कामक्रोधादिवृत्तयः कार्यरूपाः, तासां कारणभूतयोः इति अर्थः. **रजस्तमोभावा** इति, रजस्तमसोः वृत्तयः इति अर्थः ॥१९॥

सत्त्वं रजस्तम इत्यत्र. **प्रकृतेः** इत्यस्य अर्थम् आहुः **तेऽपि** इति. प्रकृतेः कार्यभूता, न ब्रह्मणः इति अर्थः. **स्नानेति** क्रमेण सत्त्वरजस्तमःकार्याणि

उक्तानि. **त्रिगुण** इति, प्राकृतः इति अर्थः. तथाच तस्मिन् गुणसम्बन्धः सहजएव इति भावः. **प्रकृतेऽपि** इति. ब्रह्मण्यपि सत्त्वादिप्रेरणया स्थित्यादिकरणं चेत्, तदा तेषां गुणानां प्रकृतिसम्बन्धेतु सत्त्वादिभिः स्थित्यादौ प्रेरितः प्रकृतेः सत्त्वादीन् गृह्णाति इति स्यात्. प्रेरकगुणसम्बन्धोऽपि सहजत्वाभावाद् गुणान्तरकृतः, सोऽपि गुणान्तरकृतइति **अनवस्था स्यात्**. अतः पुरुषदृष्टान्तेन गुणसम्बन्धः सहजो वाच्यः. **क्वचिद्** इति. क्वचित् स्वरूपे सत्त्वसम्बन्धः सहजः, तेन तत् सात्त्विकं तेन रूपेण स्थितिं करोति. एवं क्वचित् स्वरूपे रजःसम्बन्धः, क्वचित् तमःसम्बन्धः च सहजः ; तेन तत्तद्रूपं राजसं तामसं च, ताभ्यां सर्गं संहारं च करोति इति अर्थः. **साङ्ख्यास्तु** इति. प्रकृतेः नित्यसम्बन्धे तद्गुणसम्बन्धोऽपि नित्यएव. स्वरूपभेदस्तु अङ्गीक्रियतेएव इति भावः. **अन्ये तु** इति. ब्रह्मणि कर्तृत्वादिकं नास्त्येव, यदर्थं गुणसम्बन्धो अपेक्ष्यते इति भावः. **सहजम्** इति, नतु गुणकृतम् इति अर्थः. **तत्र** इति. कर्तृत्वविचारे किञ्चिद्रूपम् इदम् आपन्नं सत् कर्तृ, किञ्चिद् इदम् अनापन्नमेव कर्तृ इति अर्थः. तत्र दृष्टान्तः **यथा** इति. **प्रकृत्यपेक्षा** इति, अप्राकृतनिर्माणे तदपेक्षा न इति शेषः. अतः सहजमेव कर्तृत्वं नतु गुणप्रेरणकृतम् इति भावः. **नैतावता** इति. कार्यार्थं करणत्वेन तदपेक्षायामपि गुणसम्बन्धस्य सहजत्वाभावात् स्वरूपभेदो न, कर्तृत्वस्य गुणकृतत्वाभावाद् अनवस्थादिदोषाअपि **न सम्भवन्ति इति** हेतोः **एकएव पुरुषः** इति मूलस्थ-**एक**पदस्य अर्थः उक्तः. **तादृशरूपम्** इति. स्वस्य वेषम् उपकरणादिसाधनानि च सेव्यस्येव सम्पादयति इति अर्थः. **तानि** इति. जीवे पापम् उत्पाद्य अशुभफलयुक्तं तं कुर्वन्ति, भगवतितु पापम् उत्पादयितुं न शक्नुवन्ति. तत्र हेतुः **अपहतेति**. **नियतानां तु** इति. ये नियताः तत्तत्पार्षदाः तेषां **सर्वं** शुभफलं **सुस्थं** ततएव इति शेषः. ततएव भवति इति अर्थः. अत्र एवं निर्णयः— अन्ये विभक्तांशत्वाद् गुणाभिमानिनः अतः स्वीयानामेव वेषादिजनितपापं निवर्त्य शुभफलानि प्रयच्छन्ति, सत्त्वोपाधिस्तु अविभक्तत्वाद् न गुणाभिमानी अतः स नृणां सर्वेषामेव शुभफलानि प्रयच्छति. अतएव गजेन्द्रे तथा इति ॥२३॥

पार्थिवाद् इत्यत्र. **तत्रापि** इति. प्रकाशेषु मध्ये **अग्निसाध्येषु**

तेषु अपेक्षितेषु **अग्निः**, सूर्यादिसाध्येषु सूर्यादिः मृग्यते इति अर्थः. **स च** इति, अग्निः इति अर्थः. **तानि** इति, दारूणि इति अर्थः. पृथिवीप्रकृतिकत्वम् उपपादयन्ति **तेषाम्** इत्यारभ्य **काष्ठता** इत्यन्तेन. त्रिवृत्करणपक्षे भूतत्रयात्मकं जगदिति वृक्षोऽपि त्र्यात्मकः. तत्र वृक्षस्य पृथिव्यंशेन काष्ठता, जलाग्न्यंशाभ्यां धूमाग्निजनकता इति अर्थः. जनकता = तत्तद्रूपेण आविर्भावः इति अर्थः. तथाच काष्ठ-धूमाग्नयो वृक्षस्यैव रूपाणि, तैः भिन्नं कार्यं जायते. तथा हरि-विरञ्चि-हराः ब्रह्मणएव रूपाणि, तैः भिन्नं कार्यं जायते इति अर्थः. पूर्वोत्तरभेदेन वृक्षस्यैव इमानि रूपाणि इत्यत्र गमकम् आहुः **तत्र** इति. अग्नीच्छायाम् आर्द्रारणिः संगृह्यते, तत्र च अग्निः स्थाप्यते, अतो अग्नेरेव पूर्वरूपं तद् इति अर्थः. **तद्** इति, पृथिवीप्रकृतिकत्वम् इति अर्थः. **तस्माद्** इति. अरणेन मथने धूमः उत्पद्यते, ततो धूमरहितो अग्निः उत्पद्यते, ततो ज्वलन् अग्निः. तथाच मूले **पार्थिवाद् दारुणः** सकाशाद् **धूमो**, ततो अग्निः जायते. **अधूम**पदेन मध्ये धूमोऽपि उक्तः. अतः इमानि त्रीणि एकस्यैव रूपाणि. तैः यथा भिन्नं कार्यं जायते तथा "रजःसत्त्वं तमश्चैव" इति न्यायेन तमसो रजः, तस्मात् सत्त्वम् उत्कर्षदशायां जायते. अतः तत्तदुपाधिविशिष्टानि एकस्यैव रूपाणि, तैरपि भिन्नं भिन्नं कार्यं जायते इति अर्थः. **जले हि** इति. भुवि स्थापितो यो घटः तन्निरूपिताधारत्वं जले संदधाति इति अर्थः. **तेजस** इति कर्तरि षष्ठी. **तथा** इति. पूर्वोक्तानि त्रीणि रूपाणि यस्य तत् तेजः इति अर्थः. **अनेन** इति, श्लोकेन इति अर्थः. **सोपहितम्** इति भावे क्तः, उपाधिसहितम् इति अर्थः. **पूर्वे**ति. "अस्य स्थित्यादये" इति तत्र कथनाद् इति भावः ॥२४॥

भेजिरे इत्यत्र. **आत्मार्थम्** इति, स्वस्य प्रयोजनसम्पादनार्थम् इति अर्थः ॥२५॥

मुमुक्षव इत्यत्र. सत्त्वफलत्वं मोक्षस्य उपपादयन्ति **स ज्ञाने**ति ॥२६॥

स एवेदम् इत्यत्र. वैदिकप्रकारम् आहुः **वैदिके तु** इत्यारभ्य **प्रथमा** इत्यन्तेन. **अत** इति, वैष्णवशास्त्रोक्त-प्रथमसृष्ट्यनन्तरम् इति अर्थः.

असौ इति इति. भगवतो अविप्रकृष्टत्वात् कारणभूतायाः तस्याअपि अविप्रकृष्टत्वम् इति अर्थः. मूले **सएव अग्रे इदं ससर्ज** ततः **आत्ममायया च ससर्ज** इति अन्वयः. एतदर्थं स्पष्टयन्ति **स्वस्य** इति. पूर्वं भगवान् सर्वरूपो जातः तत्सम्बन्धेन सापि तत्तदाकृतिरूपा जाता. ततः तत्तद्रूपो भगवान् तत्र तत्र निविष्टः तत्तदाकृतिः तद्धर्मवान् परिच्छिन्नो जातः इति अर्थः. **पुनः स्पर्शेन** इति. पूर्वं स्पर्शेन सा तत्तदाकृतिरूपा जाता, पुनः स्पर्शेन भगवान् तथा जातः इति अर्थः ॥३०॥

॥ इति द्वितीयाध्यायव्याख्या समाप्ता ॥

तृतीयेऽध्याये **निरूपिता** इति. **फलसाधननिर्णये** कृते सति **पञ्च लीलाः निरूपिताः** फलं साधनं लीलाश्च इति त्रयं निरूपितम्. **अवतारार्थो** अवतारप्रयोजनं, **धर्मी** धर्मवान् धर्मशरणम् इति यावद् —एतेषाम् उत्तरं **तृतीये** निरूप्यते इति शेषः. **साधारणम्** इति. अंशकलाः स्वयं कृष्णः च इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति इति सर्वावतारसाधारणं कार्यं प्रोक्तम्. उत्तमप्रकरणे "तथा परमहंसानाम्" इति वक्ष्यति इति भावः. **निर्णय** इति. "एतद्रूपम्" इत्यादिना उक्तो निर्णयः प्रश्नेभ्यो अधिकः इति अर्थः (१-२).

जगृहे इत्यत्र. **अवतरणम्** इति. अवतरति अस्मिन् इति अवतारः, "अवेतृस्रो र्घञ्" (पाणि.सूत्र ३।३।१२०). सत्त्वरूपो देहो अस्मिन् अवतारपदे धात्वर्थभूतो अवतारो अयम् इति अर्थः. **द्विरूपता** इति. कार्यरूपतापि वर्तते इति अर्थः. सत्त्वन्तु स्वरूपमेव इति भावः. **भूतलीला** इति. भूतसृष्टिः "एतस्माद् जायते" (मुण्डकोप. २।१।३) इत्यत्र उक्ता, "एतस्माद् आत्मनः आकाश" (तैत्ति.उप. २।१) इत्यत्र उक्ता च इति अर्थः. तृतीयं पक्षम् आहुः **पुरा स इति** इति. कर्मणि अण्. द्वितीयम् आहुः **उष दाह इति** इति. दाहस्वरूपम् आहुः **तप्ताय** इति. यथा तत्र अग्निः सर्वांशे व्याप्तो भवति तथा अयं शरीरे सर्वत्र व्याप्तो, नतु जीवइव एकदेशे इति अर्थः. **पौरुष**पदतात्पर्यम् आहुः **अस्य** इति. पौरुषं नतु पुरुषः इति अर्थः. **अप्सु बीजजेति**. अवान्तरप्रलये ब्रह्माण्डं बीजरूपेण जले तिष्ठति, त्रिलोक्या नाशः. ततः सृष्टौ तदेव वर्धते. तादृशाद् वैलक्षण्याय

इति अर्थः ॥१॥

यस्याम्भसि इत्यस्य आभासे. **कानुपपत्तिः** इति. लोकसर्गे का अनुपपत्तिः यन्निवृत्तये तद्रूपं जगृहे इति अर्थः. व्याख्याने **कीदृशस्य** इत्यस्य उत्तरं **शयानस्य** इति. आभासोक्ताम् अनुपपत्तिम् आहुः **स हि** इत्यारभ्य **स्याद्** इत्यन्तम्. **सायुज्येति**. सायुज्ये सति तेषां सृष्टिः अयुक्ता, तथा उदरस्थितानां बहिर्निर्गमनम् अयुक्तम् इति अर्थः ॥२॥

यस्यावयवेत्यत्र. स च इति. भगवान् ब्रह्माण्डस्य **मध्यभावे** सूर्यमण्डले तदन्तः **तिष्ठति** प्रकटः इति शेषः. वर्तते तु सर्वत्र निविष्टः इति दाहदृष्टान्तेन उक्तमेव इति आहुः **वस्तुतस्तु** इति. **उक्तोपपत्तिः** इति, "स हि स्वोदरस्थान्" (श्लो. २ सुबो.) इत्यादिना उक्ता इति अर्थः. **ननु** इति. त्रिगुणात्मके भगवान् विभक्तांशेन अवतरति इति अर्थः. विष्णुः अवतरति इति आशङ्क्य तद्रूपं शुद्धसत्त्वात्मकं नतु त्रिगुणम् इति आशयेन आहुः **शुद्धेति. शुद्धसत्त्वात्मकमेवेदम्** इति व्यावर्तकं विशेषणम्. त्रिगुणे ब्रह्माण्डे यावत् शुद्धसत्त्वात्मकं ब्रह्माण्डं तावदेव शरीरम् इति अर्थः ॥३॥

एतन्नानावताराणाम् इत्यत्र. **अवताराणाम्** इति. दृश्यानां स्वरूपाणां **मूलं** सत्त्वाव्यवहितावतारे **भगवान्**, सत्त्वव्यवहितावतारे **मूलस्य अवतरणं** यत्र तादृशं सत्त्वं मूलम्. तथाच ब्रह्माण्डम् एतदन्यतरद् वाच्यम्, अन्यथा मूलं न स्याद् इति अर्थः. ननु दृष्टानुसारिणी कल्पना, तथाच दृष्टानुसारेण एतदन्यतरदपि मूलं भवति इति मन्तव्यम् इत्यतः आह **अवतारोत्कर्षश्च** इति ; **न भवेद्** इति पूर्वेण अन्वयः. तथा सति यथा अस्मदादिदेहानां मूलं त्रिगुणं ब्रह्माण्डं, न अवताररूपं, तथा मत्स्यादिदेहानां मूलं शुद्धसत्त्वात्मकमपि ब्रह्माण्डं, न अवताररूपमिति मत्स्याद्यवताराणाम् अस्मदादिभ्यः उत्कर्षो न भवेद् इति अर्थः ॥५॥

स एव इत्यत्र. **प्रथमम्** इति. गणयिष्यमाणेषु मध्ये प्रथमम् एषु आवेशो गण्यते इति अर्थः. **न हि** इति. आवेशेतु इन्द्रियाणि तद्रूपाण्येव जातानि इति भावः. **बीजाधारेति. बीजस्य** रेतसः **आधारो** अपः, तस्याः अवयवः, तस्य **कामो** रेतःस्थापनार्थम् अपेक्षा तद्रूपो **अग्निः** इति अर्थः. **तत्र** इति. क्षुदग्निशामके अन्नभोजने यथा जलपानम् अङ्गं तथा

कामाग्निशामके स्त्रीसङ्गे तदवयवप्रेक्षणादिकम् अङ्गम् इति अर्थः. तथाच जलस्थानीया अवयवाः, पानस्थानीयं प्रेक्षणम् इति भावः. **स्त्रीभिः** इति, **जलरूपैः** अवयवैः इति अर्थः. सिक्तेन जलेन बीजं वर्धते, तत्र सेक्ता हेतुः. तथा अत्र प्रेक्षितैः अवयवैः बीजं वर्धते, तत्र स्त्री हेतुः इति भावः ॥६॥

मन्युरूप इति. **मन्युः** यज्ञः तद्**रूपः** क्रियात्मको **अयं क्षत्रिये प्रतिष्ठितः**. तत्र हेतुः **क्रियायाः** इति. क्रियायाः क्षत्रियस्य च मूलं बाहवः अतः एकमूलकत्वम्. **तन्मूलकत्वात्** क्षत्रियमूलकत्वाद् इति अर्थः. क्षत्रियः च ब्राह्मणाद् द्वितीयः इति भावः ॥७॥

परिचर्यायाम् इति. यत्र कर्माणि अङ्गानि सा परिचर्या भगवद्भक्तिरूपा इति यावत्, तेन हेतुना तदङ्गभूतानां **सर्वेषामेव** कर्मणां **भगवत्त्वं** भगाः भगवद्धर्माः तत्सादृश्यं सिद्धम्. 'भग'शब्दात् तुल्यार्थे वतिः. तथाच जीवधर्माणामपि कर्मणां भगवद्धर्मसादृश्ये सिद्धे **नैष्कर्म्यम्** अकर्मत्वं युक्तमेव इति भावः ॥८॥

द्विविध इति इति. इदं चतुर्थस्कन्धे निबन्धे नारायणावतारप्रसङ्गे विवृतम् ॥९॥

रूपं स जगृहे इत्यत्र. **एकम्** इति. मात्स्यं रूपं **वञ्चकं,** कूर्मरूपं **न** तथा इति अर्थः. **विपरीतम्** इति. "सत्यानृतम्" इत्यत्र पूर्वं सत्यं ततो अनृतम् उक्तम्, अत्र पूर्वं वञ्चनरूपम् अनृतम् उक्तं ततः सत्यम् इति अर्थः ॥१५॥

धान्वन्तरम् इत्यत्र. **देवकर्तृकेति.** अमृतपानन्तु मोहिनीरूपं विनापि स्यादेव, परन्तु देवकर्तृकं न स्याद्, असुराएव पिबेयुः. अतो भगवतः **सुराएव** अभीष्टाः इति अर्थः ॥१७॥

चतुर्दशम् इत्यत्र. **पुनरग्रिमस्य** इति, अग्रिमचतुर्युगीयं रूपम् इति अर्थः. सङ्ख्यातात्पर्यम् आहुः **भक्तिः** इति. ननु कल्किपर्यन्तं नवविधापि भक्तिः ज्ञाता पुनः अग्रिमचतुर्युगेन प्रवर्तयिष्यते इत्यतः आहुः **सायुज्ये** इति. नवविधभक्त्या सायुज्ये सिद्धेऽपि पुनः श्रवणादिभक्तेः आरम्भो जायते, अतः सायुज्यं सेवारम्भकमपि भवति. तथा **कल्किः अग्रिमारम्भः** अग्रिमा

भक्तीः आरम्भयति इति कर्मणि उपपदे अण् **इति हेतुः** अग्रिमभक्तीनां हेतुः इति अर्थः ॥१८॥

एतद्रूपम् इत्यत्र. **तर्हि** इति, वृत्तिलाभार्थं शरीरस्वीकारे इति अर्थः. **कथम्** इति, उक्तं तच्छरीरत्वं किंप्रकारकम् इति अर्थः ॥३०॥

जडरूपे इति, जडत्वेन प्रतीते **ब्रह्मप्रतीतिः कथम्?** तत्र हेतुः **तथा सति** इति. **ततश्च** इति, चेतनत्वाप्रतीतेः इति अर्थः. हेत्वन्तरम् आहुः **दृश्यत्वाद्** इति. आवेशे अयोगोलकवद् अभेदाद् इदमपि द्रष्टैव स्यात् नतु दृश्यम् इति अर्थः. **यथा नभसि** इत्यत्र. **सर्वं पश्यति** इति. ब्रह्माण्डशरीरे स्थितः सर्वं पश्यति. अतः सर्वं दृश्यं, ब्रह्माण्डशरीरविशिष्टः स्वयं द्रष्टा इति अर्थः. जीवोऽपि शरीरे स्थितः पश्यति इति दृष्टान्तः **देवदत्तवद्** इति. **यद्यपि** इति. भगवान् यथा सर्वं पश्यति तथा शरीरमपि पश्यति, तथापि **द्रष्ट्रा** स्वेन **व्याप्तं** स्वाभिन्नं "द्रष्टैव इदम्" इति प्रकारेण पश्यति. दृश्यत्व-व्यवहारस्तु द्रष्टृव्यतिरिक्ते प्रसिद्धो "देवदत्तो द्रष्टा, घटो दृश्यः" इति. ननु अन्यदर्शनेनापि दृश्यत्वं सिद्ध्यत्येव इत्यतः आहुः **तत्र** इति. दृश्यत्वविचारे ये महान्तः ते अदभ्रचक्षुषा भगवत्त्वेन पश्यन्ति. तादृशं दर्शनन्तु न दृश्यत्वसाधकम्. अतएव अदभ्रचक्षुषा अदः परोक्षं पश्यन्ति इति उक्तम्. **मूढास्तु** ब्रह्माण्डत्वेन पश्ये भगवच्छरीरे **दृश्यत्वम् आरोपयन्ति** वस्तुतस्तु भगवच्छरीरभूतं शुद्धसत्त्वात्मकं न पश्यन्ति किन्तु राजसं तामसं वा इति भावः. ये महान्तः पश्यन्ति तेषां तथा दर्शनन्तु न दृश्यत्वसाधकम्; यद्दर्शनं दृश्यत्वसाधकं तेतु न पश्यन्त्येव. **अत्र** इति. **आरोपितेन** मेघेन **सह तद्विशिष्टस्य** आकाशस्य **प्रतीतिः तथा** ब्रह्माण्डवत् **नास्ति**. आरोपितदृश्यत्वकं ब्रह्माण्डं दृश्यते, आकाशस्तु अदृश्यः इति भावः ॥३१॥

अतः परम् इत्यत्र. **जीवोपाधिम्** इति, जीवस्य उपाधिं शरीरभूतम् इति अर्थः. **जीवस्याभावाद्** इति. तम् उपाधिं जीवयति = प्राणधारणवन्तं करोति भगवानेव, आनन्दमयस्यैव तदन्तरत्वेन उक्तत्वात्. ततश्च भगवदुपाधित्वसिद्ध्या जीवत्वमेव सिद्धम् इति भावः ॥३२॥

यत्रेमे इत्यत्र. **यदा पुनः** इति. **इमे सदसद्रूपे अविद्यया आत्मनि**

कृते इति हेतोः **प्रतिषिद्धे यत्र** यस्मिन् काले भवतः **तत्** तदा **ब्रह्मदर्शनं** भवति इति मूले अन्वयः ॥३३॥

यद्येषा इत्यत्र. **प्रवृत्तिरूपा** इति, जीवस्य संसारे प्रवृत्तिसम्पादिका इति अर्थः. **निवृत्ति** इति. ततो निवृत्तिसम्पादिका इति अर्थः ॥३४॥

एवम् अन्यत्रापि इति, अवतारान्तरेषु **कृष्णोऽपि** इति अर्थः. **अपिशब्दस्य** अग्रिमेण अन्वयः. **एवम्** इत्यत्र. **ननु** इति. पुरुषे उपदिश्य अन्यत्र अतिदिष्टम्. तयोः कृतयोः ब्रह्मणि **को विशेषः** सिद्ध इति अर्थः ॥३५॥

कथं वर्णयन्ति इति, केन प्रकारेण इति अर्थः. एतस्यैव विवरणं **का वा** इति. इदं त्रयं क्रमेण श्लोकत्रये उक्तम्. **स वा इदम्** इत्यत्र. **भगवतस्तु** इति. आद्यपक्षे **का वा लीला** इत्यस्य उत्तरं "सर्गादित्रयं लीला" इति. द्वितीयपक्षे आहुः **जगत** इति. "जगतो भोगार्थं देवक्यां जातः" इति उत्तरम्. **तत्र** इति. विश्वम् 'इदं'पदवाच्यं, भगवत्स्वरूपन्तु अदः परोक्षम् इति उक्तम्, अतो असङ्गः इति अर्थः. **तत्र केवलानाम्** इति. धर्म-धर्मिषु मध्ये **केवलानां** धर्मिसम्बन्धरहितानां धर्मिणां च **ग्रहणं जीवैः अशक्यम्**. जीवाः धर्मिणम् अपेक्ष्यैव धर्मान् गृह्णन्ति ; घटीयरूपग्रहणे पटीयं रूपं न गृह्णन्ति इति अर्थः. **क्षणे**ति. तदपि ज्ञानं त्रिक्षणावस्थायि, सम्बन्धोऽपि धर्मैकदेशेन घटीयमात्रेण रूपेण इति अर्थः. भगवांस्तु धर्मिणम् अनपेक्ष्य केवलान् सर्वान् एकदैव गृह्णाति इति आहुः **तथाच** इति. **वर्गत्वम्** इति. काऽऽदयो वर्गाः पञ्चाक्षराः इति भावः. ग्राह्याणामपि तावतीं सङ्ख्याम् आहुः **अष्टाविंशति** इति ॥३६॥

न चास्य इत्यत्र. **ते च रसाः** इति. **ते स्वतः उत्कृष्टाः** ब्रह्मात्मकत्वाद् हेतुद्वयेन **अपकृष्टा भवन्ति. आधारः** सत्त्वादिः. सात्त्विकः तामसान् अपकृष्टान् मत्वा तत्सम्बन्धं न करोति, एवम् अन्यौ अन्यौ. **अधिकारिभेदो** ब्राह्मणादिः. ब्राह्मणः शूद्रभोग्यान् तथा इति पूर्ववत्. सत्त्वादिः कालभेदेन एकत्रापि भवति, ब्राह्मण्यादिः न तथा इति विभेदः. **सर्ववस्तुषु** इति. तथाच वस्तुतः उत्कृष्टत्वाद् अनुभूयन्ते इति एका कोटिः. **सर्वरूपत्वात् च** इति द्वितीयकोटौ हेतुः. सर्वेषु ब्राह्मणादिषु रूपं यस्य. सर्वत्र अन्तर्यामिरूपेण

निविष्टो भगवानेव, अतः तत्र तत्र निविष्टं तं तं प्रति ते ते अपकृष्टाः भवन्त्येव, अतो न अनुभूयन्ते इति अर्थः. **उत्पादको हि** इति. तथाच उपादानद्रष्टुः स्वरूपम् उपादेयो जनः न जानाति इति अर्थः. **निपातेति**. ऊतिशब्दो निपातितः. निपाते अवान्तरावयवाः न विगृह्यन्ते इति भावः. **चतुर्भिः** इति. **कश्चिद् जन्तुः कुमनीषः अज्ञ** इति पदचतुष्टयार्थैः इति अर्थः. **कश्चित्**पदेन अन्यत्वं विवृतम् इति ज्ञेयम्. एतेषां भ्रामकत्वाद् रोगत्वम्. **अन्यथा (प्रतिभासनाद्!)** इति हेतौ, फले पञ्चमी. एतदर्थं **नटवत् करणम्** इति अर्थः ॥३७॥

अथेह इत्यत्र. **देवान्तरेति**. **आत्मनो** अन्तःकरणस्य **भावम्** इति उक्तम्. चित्ताधिष्ठाता देवो वासुदेवः इति भावः. **सर्वात्मके** इत्यस्य अर्थम् आहुः **वेदान्तेति**. **विशेषणद्वयम्** इति, **अखिललोकनाथे सर्वात्मके** इति द्वयम् इति अर्थः. 'सर्वरूपे' इत्यादि अनुक्त्वा **सर्वात्मके** इति 'आत्म'पदम् उक्तं तत्तात्पर्यम् आहुः **रुच्यर्थम्** इति. "न पुत्रः पुत्राय" (द्रष्ट. बृहदा.उप. २।४।५) इति श्रुतौ 'आत्म'पदोक्तेः इति भावः. **एतद्देहेति**. तत्पर्यन्तं यथा भवेत् तथा भवतु नाम, अग्रे पातो न भवति इति अर्थः ॥३९॥

निःश्रेयसाय इति श्लोकं व्याचक्षते **ग्रन्थेति**. **धन्यं स्वस्त्ययनम्** इति पदयोः अर्थम् आहुः **धनप्राप्तिः कल्याणं च** इति. अत्रापि पूर्ववद् 'धन'पदार्थं भक्तिं ज्ञानं वा आशङ्क्य आहुः **लक्ष्म्या** इति. **सर्वगतायाः** नतु वैकुण्ठस्थिताया मूर्तिमत्याः **भक्तायाः** नतु मदजनिकायाः **प्राप्तिः** इति पूर्वेण अन्वयः ॥४१॥

कृष्णे इत्यत्र. **पुनर्धर्मादि** इति. मूर्तिभूतो धर्मो भगवत्सङ्गे गतः तत्स्वरूपज्ञापनार्थम् इति अर्थः ॥४३॥

॥ तृतीयाध्यायव्याख्या समाप्ता ॥

चतुर्थे कारिकासु **त्रिभिः** इति, अध्यायैः इति अर्थः. **द्वितीये तु** इति, मध्यमप्रकरणेऽपि **त्रिभिः** अध्यायैः **निर्धारः** इति अर्थः. **तुः** अप्यर्थे. प्रकरणयोः समाध्यायत्वे हेतुमाहुः **त्याज्येति**. त्याज्यं च तत् समं च, तत्त्वात्. प्रकरणद्वय-सिद्धाधिकारद्वयस्य इति शेषः. **त्याज्यम्**

इति हेतुगर्भं विशेषणम् ; प्रकरणद्वयनिर्धारितोऽपि अधिकारः उत्तमाधिकारिणा त्याज्यः अतो द्वेऽपि प्रकरणे समे इति अर्थः. प्रकरणार्थस्य प्रबलत्वाद् अधिकारएव मुख्यो अर्थः इति भावः. इदं निबन्धे स्फुटम् (१). वक्तृ-श्रोत्रोः मध्यमत्वे हेतुम् आहुः **नारदस्य** इति पादद्वयेन (२). अध्यायार्थम् आहुः **तत्र** इति. चिन्तानिरूपणे हेतुम् आहुः **उत्तम** इति. उत्तमप्रक्रियायां ''ब्रह्मनद्याम्'' (भाग.पुरा. १।७।२) इत्यादिना व्यासो वक्ता निरूपितः. तस्य भागवतनिष्पादने प्रवर्तने च हेतुः नारदोपदेशो अग्रिमाध्याययोः निरूपणीयः. तदर्थं पूर्वं **व्यासचिन्ता निरूप्यते** इति अर्थः. सम्बन्धमात्रविवक्षया षष्ठी (३).

इति ब्रुवाणम् इत्यत्र. **श्रूयमाणेषु** इति. उत्तरितेषु सर्वेषु पदार्थेषु श्रूयमाणेष्वेव इति शानचो अर्थः. **तत्सम्बन्धीति**, मुनीनां सम्बन्धी इति अर्थः. सम्बन्धकथनतात्पर्यम् आहुः **देवतेति**. यज्ञे देवता भगवान्, तत्स्वरूपाभिज्ञा मुनित्वात् सर्वे, तन्मध्यपातित्वाद् अयमपि इति अर्थः. ज्ञानन्तु **सहस्रसंवत्सरे च** इत्यादिना विवृतमेव ॥१॥

कस्मिन् युगे इत्यत्र. **प्रयोजनेति**. प्रयोजनस्य कर्ता प्रयोजकः, चोदकः इति अर्थः. हेतुं स्पष्टयन्ति **यथात्र** इति. एतस्य **हेतुपदस्य** अर्थान्तरम् आहुः **केन वा प्रेरितोऽभवद्** इति. **केन हेतुना** प्रेरकेण **चोदितः** इति (मूले !) अन्वयः. ''तत्प्रयोजको हेतुश्च'' (पाणि.सूत्र १।४।५५) इत्यनेन प्रेरकस्य हेतुसञ्ज्ञायाः उक्तत्वाद् इति भावः. अस्मिन् पक्षे **केन हेतुना** इत्यस्य उत्तरं नारदेन इति द्वितीयाध्याये निरूपितम्. **कुतः** इत्यस्य उत्तरं पूर्वोक्तवैयग्र्याभावार्थम् इति तृतीयाध्याये निरूपितम्. केन हेतुना, कुतो हेतोः इति द्वयम् उक्तं, तत्र व्याख्यानभेदेन एकत्र प्रेरको अर्थः एकत्र प्रयोजनम् अर्थः इति विभेदो ज्ञेयः ॥३॥

तस्य पुत्र इत्यत्र. **इहोच्यन्ते** इति, अस्मिन् अध्याये इति अर्थः. **अग्रे** इति, अग्रिमाध्याये इति अर्थः. **स्वप्नेति**. स्वप्नदृष्ट-महोत्पातानां नामग्रहण-भीरुत्वकथनाद् इति भावः ॥४॥

कथमालक्षित इत्यत्र. **पुरवासाद्** इति. हस्तिनापुरस्य रामेण वक्रीकृतत्वाद् इति भावः. 'हस्तिनापुरे' इति अनुक्त्वा निरुक्तिपूर्वकं नाम **गजसाह्वय** इति उक्तं तत्तात्पर्यम् आहुः **नगरेति**. **ज्ञानेति**. ''मां कोऽपि

ज्ञास्यति'' इति भयं नास्ति, तीर्थं च कुरुक्षेत्रे देशो भवति इति अर्थः ॥६॥

कथं वा इति श्लोकं व्याचक्षते **राज्ञा** इति. **बहुकालेति**. **बहुकालसाध्यं** संवादरूपं फलं यस्य **स सम्बन्धो** जातः, नतु गमनमात्रम् इति अर्थः ॥७॥

तथा तेषामेव च इति. गृहस्थानामेव अग्रे आयुषः चतुर्थभागे संन्यासः इति अर्थः. **तथा सति** इति, संन्यासे कर्तव्ये सति इति अर्थः. **तत** इति. गृहनिष्ठा सङ्गदोषश्च तीर्थाद् गच्छति ; तीर्थं चित्तशोधकं, तत्रत्यानां सङ्गश्च न दोषावहः इति भावः ॥८॥

स सम्राड् इत्यत्र. **लोकवैष्णवाभ्याम्** इति. लोकबुद्ध्या वैष्णवबुद्ध्या च अनुचितः इति अर्थः ॥१०॥

द्वापरे इत्यत्र. **धर्माणाम्** इति. अवतारे चिकीर्षिते सति तत्प्रयोजनं धर्मग्लानिं धर्माएव प्राबल्याद् बाधन्ते इति न अवतारः इति अर्थः. ननु तर्हि व्यासस्य वृद्धत्वात् कथं पराशराद् जन्म इत्यतः आहुः **मार्कण्डेयेति**. स ततोऽपि वृद्धः इति भावः ॥१४॥

स कदाचिद् इत्यत्र. **पापेति**. सार्वज्ञ्यम् एतादृशं न भवति इति अर्थः. **धर्मांशएव** इति, नतु पापांशे इति अर्थः. **भौतिकेति**. मनःस्थैर्ये इन्द्रियाण्यपि स्थिराणि, तथाच दैविको दोषो = देवानां गुणलिङ्गानाम् अन्यपरता न इति अर्थः. **एकः** आत्मीयाः न सन्ति इति अर्थः. **आसीनः** भौतिकस्य देहस्य वृथाचेष्टारहितस्य इति अर्थः. **पुण्येति**. भगवतः शयनव्यतिरिक्त-कालिकेषु सूर्यनक्षत्रेषु सत्सु मण्डलम् उदितं भवति ; चातुर्मास्ये तु मेघावृतं भवति इति भावः ॥१५॥

पाषण्डधर्मा इति. एते **उत्पत्स्यन्ते इति** अतः **तद्व्यावृत्त्यर्थम्** इदं दध्यौ इति अर्थः ॥१८॥

क्रमो मन्त्राणाम् इति, जैमिनिसूत्रोक्तः क्रमः इति अर्थः ॥२१॥

शाखानाम् इति. वेदतरोः एते चत्वारो भेदाः शाखाप्रायाः इति भावः ॥२३॥

तत्र हेतुः इति. मूर्खाणामपि धारणसामर्थ्ये भगवदिच्छैव हेतुः.

तर्हि इति, वेदविभागस्य मूर्खपर्यवसान-फलकत्वे इति अर्थः ॥२४॥

यद्यपि इति. इदन्तु न भवत्येव तथापि लौकिकमपि भारताद् अन्येन न सिद्ध्यति अतो भारतोत्कर्षः इति अर्थः. ननु एवमपि अलौकिकन्तु न सम्पन्नमेव इत्यतः आहुः **अथापि** इति. अग्निहोत्रादीनां लौकिकः स्वर्गो लोकः अलौकिकः स्वर्ग आत्मसुखम् इति द्वयमपि अधिकारिभेदेन फलम्. तथा भारतस्यापि लौकिकः पशुपुत्रादिः अलौकिकः च पशुपुत्रादिः अधिकारिभेदेन फलम् इति अर्थः. **अलौकिके**ति. भारतसाध्यः पशुपुत्रादिः लौकिकवत् प्रतीयते, वस्तुतस्तु अलौकिको भगवत्सेवोपयोगी भवति इति अर्थः. तत्र दृष्टान्तः **भट्टेष्विव** इति. भट्टमते अनधिगतार्थगन्तृत्वं प्रमाणलक्षणम्, अतो वेदोक्तं सर्वमेव फलम् अलौकिकम्, अन्यथा वेदस्य अनुवादकत्वेन अप्रामाण्यं स्याद् इति अर्थः ॥२५॥

वेदव्यासे इति, वेदानां व्यासे कृते सति इति अर्थः ॥२६॥

अथापि इत्यत्र. अग्रे "शारीर आत्मा मानस एव वा" इति वक्ष्यमाणत्वाद् अत्र प्रकारं मानसात्मपरत्वेन व्याख्यास्यमानाः दैह्य-मानसयोः भेदं विशदयन्ति **नित्यात्मनाम्** इति. नित्यानां भेदो निरवयवत्वाद् न सम्भवति तथापि **उपाधिभेदाद् भेदः** यदा देहं गृहीतवान् तदा दैह्यो, यदा मनो गृहीतवान् तदा मानसः इति अर्थः. **ब्राह्मणे**ति. ब्राह्मणदेहे विद्यमानस्य आत्मनो देहान्तरसम्बन्धे "ब्राह्मणभिन्नो अहम्" इति बुद्धिः जायते इति अर्थः. **मानसश्च** इति. **योगी** असम्प्रज्ञातसमाधौ मानसश्च जायते. तथाच सम्प्रज्ञातसमाधौ दैह्यः सएव असम्प्रज्ञातसमाधौ मानसः. व्यासस्य योगीत्वाद् उभयविधत्वकथनं युक्तम् इति भावः. उपाध्योः भेदम् आहुः **अन्नमयत्वाद्** इति, देहस्य इति शेषः. देहो अन्नमयकोशो मनोमयकोशः इति अर्थः. पक्षान्तरम् आहुः **नैयायिके**ति. तेषां मते नवानामपि द्रव्याणां द्रव्यत्वेन ऐक्येऽपि पृथिवीत्वादिना भेदः. तथा अत्र सङ्घातत्वेन ऐक्येऽपि देहत्व-मनस्त्वाभ्यां भेदः इति अर्थः. तेन जातम् आत्मभेदं पक्षद्वयेन विवृण्वन्ति **अध्यासेन** इति. अध्यासात् तदा-तदा तथा-तथा मन्यते इति अर्थः. अत्र अध्यासो नास्ति इति पक्षान्तरम् आहुः **अग्नि** इति. अवतारत्वाद् इति भावः ॥३०॥

किं वा इत्यत्र. **सा धर्मैरेव** इति. **सा** दिदृक्षा भागवत**धर्मैरेव सम्पद्यते** पूर्णा भवति = दर्शनं भवति इति अर्थः. **आश्रमेति.** आश्रमवाचकस्य **परमहंसपदस्य** प्रयोगः इति अर्थः. **मुख्येति.** "अनाविष्कुर्वन् अन्वयाद्" (ब्रह्मसूत्र ३।४।४९) इति न्यायेन आश्रमधर्माणामेव मुख्यत्वेन बहिर्ज्ञापनाद् इति भावः. **तस्य** इत्यत्र. **न विरोध** इति. सम्मत्या भगवदिच्छाज्ञानाद् इति भावः ॥३१-३२॥

॥ चतुर्थाध्यायव्याख्या समाप्ता ॥

पञ्चमेऽध्याये कारिकासु **भक्तिमार्गे** इति, भक्तिमार्गप्रकारेण इति अर्थः. **उट्टङ्कनम्** इति. **आदौ उट्टङ्कनं** "पाराशर्य महाभाग" (श्लो. २) इति श्लोकेन, **अन्ते दृष्टान्तस्य प्रदर्शनम्** "अहं पुरातीतभवे अभवम्" (श्लो. २३) इत्यादिना. **हेतुत्वाद्** इति. उट्टङ्कनं दृष्टान्तश्च **उत्तरस्य सिद्धौ हेतुः** अतः इदं द्वयं निरूप्यते इति अर्थः (१-२).

पाराशर्य इत्यस्य आभासे. ननु महाधिकारिणो व्यासस्य कथं मूलनाशः इत्यतः आहुः **महानपि** इति ॥२॥

जिज्ञासितम् इत्यत्र. **अद्भुतस्यैव** इति. **अपि** इति पदेन उक्तमेव आश्चर्यम् **अद्भुतपदेन** अनूद्य तत्र महत्त्वं विधीयते, अन्यथा पुनरुक्तिः स्याद् इति भावः ॥३॥

स वै भवान् इत्यत्र. **सर्वेश्वरत्वम्** इति. **परावरेशः, विश्वं सृजति अवति अत्ति, गुणैः असङ्गः, मनसैव** इति चतुष्टयेन एते चत्वारो गुणाः उक्ताः इति अर्थः ॥६॥

त्वं पर्यटन् इत्यत्र. **अपेक्षितरूपं च** इति. क्रिया-योग-ज्ञानानि सामर्थ्यहेतुत्वेन अपेक्षितानि. तथाच आभासे **सामर्थ्ये हेतुं** क्रिया-योग-ज्ञानवत्त्वम् **आह** इति अर्थः ॥७॥

भवता इत्यत्र. **अग्निहोत्रेति** क्रमेण पुरुषार्थचतुष्टयसाधनम् उक्तम्. **यद्विषयम्** इति, यं विषयम् इति अर्थः. **व्यामोहकेति.** यद्यपि इतरशेषत्वं व्यामोहनार्थं – वस्तुतस्तु "मया हतान् त्वं जहि" (भग.गीता ११।३४) इति वाक्याद् भगवानेव कर्ता – तथापि हृदये अर्जुनकर्तृकत्वमेव आविशति इति अर्थः ॥८॥

न यद्वच इत्यस्य आभासे. **प्रतिपादकानाम्** इति पाठे धर्मादिप्रतिपादकानां शब्दानाम् इति अर्थः. व्याख्याने. **कृतार्थता** इति (क्रमेण!) काम-धर्म-मोक्षफलानि उक्तानि. **न तस्येदम्** इति. (हरि) यशःप्रतिपादनरहित-प्रतिपादितैः कामैः **न कृतार्थता** पूर्णकामत्वं न भवति, तादृशधर्मैः **न अन्तःकरणप्रसादः**, तादृशमोक्षेण **न परमानन्दः** किन्तु आत्मसुखमेव भवति इति अर्थः. **प्रमाणेति**, शब्दबलम् इति अर्थः. **विषेति**. भोजनम् इति कर्मणि ल्युट्. विषपत्रे सम्पादितं भोज्यम् उपर्येव रमणीयम्, अन्तस्तु दुष्टम् इति अर्थः. **हरिरूपम्** इति. हरिः रूपे यस्य तद् न इति अर्थः. **हरेर्यश** इति, न गृणीत इति शेषः. **स्वरूपतो ज्ञानतश्च** इति. अस्य **हंसनिवासत्वम्** इत्यनेन अन्वयः. कमनीयं मानसादि स्वरूपतो हंसनिवासः ; हंसाः तत्र तिष्ठन्ति इति अर्थः. कमनीयं वचो भागवतादि ज्ञानतो हंसनिवासः ; परमहंसाः तत् पठन्ति विचारयन्ति च इति अर्थः. अतएव "हरेः गुणाक्षिप्तमतिः" (भाग.पुरा. १।७।११) इति वाक्यम्. **ततश्च** इति. प्रथमश्लोके युक्तिः, अस्मिन् श्लोके दृष्टान्तः उक्तः इति विभेदः ॥१०॥

अस्मदादीनाम् इति. आधुनिकानाम् एवम् इति नारदः आह इति अर्थः. **तद्वाग्विसर्ग** इत्यत्र. **तानार्थम्** इति. गाने मात्राधिक्यं जायते इति अर्थः. **अभ्युपगमेन वा** इति. **मूर्खहृदये** आगमनार्थं पदान्यपि विभज्य पाठ्यन्ते इति अर्थः. **एकस्मिन्नपि** इति, घटादौ इति अर्थः. तथा परिच्छेदेन प्रकटे भगवत्यपि इति आहुः **तथा** इति. 'घटा'दिनाम्नां गणना, अत्रतु स्वयमेव अनन्तः इति तन्नामानि अगणितान्येव इति आहुः **सर्वतोऽनन्तस्य** इति. श्रुतानाम् अघनाशकत्वम् अतः श्रवणे हेतुः वाच्यः इति आहुः **श्रवणे** हेतुः इति. **एतच्च** इति. साधुकृतम् अस्मदादीनां श्रवणे हेतुः इति अर्थः. ननु भगवत्सेवा-स्वरूपसेवा-नामानि तु यशोऽङ्कितानि धर्मप्रतिपादकानि इति तच्छ्रवणं धर्मसेवा, अतः कथं साम्यम् इत्यतः आहुः **भगवत्सम्बन्धिनाम्** इति ॥११॥

एते इति, ज्ञानिनः कर्मिणश्च इति अर्थः. स्वरूपतो भगवानिव शोभमानाः, फलतो भगवदीयाइव शोभमानाः ; यथा भगवदीयानां फलं तथा ज्ञानि-कर्मिणामपि इति. **नैष्कर्म्यम्** इत्यत्र. **नैष्कर्म्य**पदस्य अर्थम्

आहुः **साङ्ख्यम्** इति. **अपि** इत्यस्य अर्थम् आहुः **वैदिकं वा** इति, कर्माङ्गम् इति अर्थः. स्वतन्त्रं ज्ञानं **निरञ्जन**पदार्थो व्याख्यास्यते. ननु मूलेतु ज्ञान-कर्मणोः शोभाविचारः इत्यतः आहुः **ज्ञानस्य** इति. तथाच धर्मनिरासेन धर्मिणएव निरस्ताः इति भावः. **अज्ञाने**ति. दीपवद् इयमपि ज्ञानशोभयैव भवति इति अर्थः. ननु ज्ञानन्तु स्वप्रकाशम् अतः आहुः **सुवर्णे**ति. **यद्यपि** इति. आद्यमते विषयाभावाद् न भक्तिः अपेक्षिता किन्तु विषयं परिकल्प्य तत्र **श्रद्धामात्रं** कर्तव्यम्. द्वितीयेऽपि तस्य सगुणत्वात् तत्र भवदभिमता भक्तिः न सम्भवति अतः श्रद्धामात्रमेव अपेक्षितम्. तृतीयेऽपि लौकिकत्वाभावाय सम्पाद्यः तदावेशः श्रद्धयैव भवति इति तावदेव अपेक्षितम्. अतो अनपेक्षितत्वाद् "भक्तिरहितं ज्ञानं न शोभते" इति कथनं न सम्भवति, तथापि "यस्य स्मृत्या" इत्यादिवाक्यैः **सर्वेषां भक्त्यपेक्षायाः च उक्तत्वात्** सा सर्वत्रैव **अपेक्ष्यते** इति अन्वयः. **ज्ञानाङ्गम्** इति, ज्ञानजनकम् इति अर्थः ॥१२॥

ततोऽन्यथा इत्यत्र. **अभिधेये**ति. धर्मादिषु देशादिभेदेन गुण-दोषयोः विपर्ययात् ते अनन्तविधाः अतो धर्मादिविचारे अभिधेयस्य अपर्यवसानम् इति अर्थः. अपर्यवसाने दृष्टान्तः **मरु** इति. भगवद्गुणास्तु तद्भेदेन दोषत्वं न भजन्ते अतो नियताः एकविधाएव इति आहुः **भगवत** इति. प्रकारान्तरेण अनन्तत्वेऽपि दोषत्वाभावात् नियताः एकविधाएव इति अर्थः. **यद्विवक्षतः** इत्यादेः अर्थम् आहुः **किञ्च** इति. **तदाह** इति, **यद् विवक्षत** इत्यादिना इति शेषः. **अन्यथा** इति, इदं पदम् अनूद्य तस्य आकाङ्क्षापूरणं **ततो भगवच्चरित्राद्** इति. **अन्यथा** पदस्य अर्थम् आहुः **यद्यपि** इति. **अन्यथा**पदवाच्यं धर्मादि **किञ्चन** अनादरणीयम् इति अर्थः. **तदनूद्य** इति, **अन्यथा**पदवाच्यं यत्पदेन अनूद्य इति अर्थः. **भगवत्त्वेन** इति. "धर्मादयो विभूतिरूपाइति भगवद्धर्माएव तन्निष्ठाः निरूप्यन्ते" इति ज्ञात्वा **स्तोत्रे तस्याः** स्तुतेः धर्मादिषु **पर्यवसानं** न स्याद् इति अर्थः. **सर्वस्यापि** इति. सर्वोऽपि बुद्धिविलासः अतो **बुद्धिः आस्पदं न लभते.** नहि स्वयं स्वस्य आस्पदं भवति इति आहुः **अन्यद् अन्यस्य** इति. ननु स्वाश्रयत्वमेव अस्तु इत्यतः आहुः **अब्रह्मत्वेन** इति ॥१४॥

जुगुप्सितम् इत्यत्र. **स्वभावरक्तस्य धर्मकृते जुगुप्सितम् अनुशासतः** तव **महान्** भगवदाज्ञोल्लङ्घनरूपः कूपे अन्धपातनतुल्यो वा **व्यतिक्रमः** इति अन्वयः ॥१५॥

त्यक्त्वा इत्यत्र. **अधर्मकर्तृभिः** इति, धर्मकर्तृव्यतिरिक्तैः इति अर्थः. ननु निवृत्तिमार्गीयैरेव श्रोतव्या भवतु इत्यतः आहुः **सर्वाधिकारत्वाद्** इति. **सर्वेषां** प्रवृत्तिमार्गीयाणां निवृत्तिमार्गीयाणां च **अधिकारो** यत्र तादृशत्वात् कथायाः **निवृत्तिः मार्गो येषां तन्निष्ठत्वं** तदेकश्रोतव्यत्वं **न** इति अर्थः. "आत्मारामाश्च मुनय" (भाग.पुरा. १।७।१०) इतिवद् "जातश्रद्धो मत्कथासु" (भाग.पुरा. ११।२०।२७) इत्यादिवाक्यान्यपि सन्ति इति भावः. तथाच प्रवृत्तिमार्गीयाणामपि कथाश्रवणं विहितम्. तत्र प्रथम-द्वितीययोः दोषद्वयाद् अकर्तव्यता उक्ता. अवशिष्यते तृतीयः, तथा सति **असच्छास्त्रता** इति अर्थः. **तथा सति** इति, असच्छास्त्रत्वे **सति वै** निश्चयेन **अवक्तव्यम्** इति अर्थः. धर्मकर्तृभिः श्रोतव्या इत्यत्र हेतुम् आहुः **जन्मान्तरे**ति. तत्र तपआदियुक्तत्वकथनाद् इति भावः. धर्मत्यागं साधयन्ति **यथा** इति. **बाधकानाम्** इति, दीर्घसत्रादीनाम् इति अर्थः. **दाशे**ति. तथाच सर्वेषाम् अंशत्वाद् अंशिदासत्वम् इति अर्थः. ननु अंशः कथं सेवेत? तत्र आहुः **अंशत्वेऽपि** इति. **एतद्** इति, जीवत्वम् इति अर्थः. **अन्तरङ्गं** सेवनम् इति शेषः. **अयमेव च** इति, सायुज्यसाधनमेव इति अर्थः ॥१७॥

तस्यैव इत्यत्र. **तत्तच्छरीरे**ति, ब्राह्मणादिदेहधर्मेण; वर्णाश्रमधर्मेण इति अर्थः. **तद्धि** इति. **हि** यतः **तदर्थकं** यत्नमेव **वैधं** भवति, अन्याऽनधिगतत्वाद्, अतो **यतेत** इत्यनेन तदेव विधीयते इति अर्थः. **एतादृश** इति, कालसाध्यः इति अर्थः. **तत्रोच्यते** इत्यारभ्य **वाक्याद्** इत्यन्तेन स्वयमेव समादधते. **दृष्टेनैव** इति. भक्तौ जननीयायां देवताप्रीतिः व्यापारः, प्रीता देवता फलं साधयति इति. सा प्रीतिस्तु दृष्टएव व्यापारः, न अदृष्टः. अदृष्टन्तु अर्थापत्तिगम्यमेव इति भावः. ननु कृतेऽपि तादृशे कर्मणि कदाचित् फलं न जायते, अतः प्रीतिः फलबलकल्प्या अर्थापत्तिलभ्यैव इत्यतः आहुः **फले**ति. प्रीतिस्तु जायतेएव किन्तु **असङ्गतः** भक्तसङ्गाभावाद् न भक्तिसिद्धिः, "सत्सङ्गेन हि दैतेयाः" (भाग.पुरा. ११।१२।३),

"सत्सङ्गेन विना उद्धव नोपायो विद्यते" (भाग.पुरा. ११।११।४८) इत्यादिभिः सत्सङ्गापेक्षायाः उक्तत्वाद् इति भावः. **अफलत्वेन** इति. तस्यतु भक्तिः फलमेव न भवति इति अर्थः. ननु जातके तादृश-तादृशग्रहैः तत्तद्देवताभक्तिः भवति इति श्रूयते इत्यतः आहुः **जातकेऽपि** इति ॥१८॥

न वै जन इत्यत्र. **यथा सत्यवादी** इति. "यः सत्यवादी भवति स ब्राह्मणएव" इत्यस्य **अन्यवत्** शूद्रवद् न ज्ञेयः इति अर्थः तथा साधारणो भक्तः संसृतिं न अर्हति इति अर्थो ज्ञेयः इति अर्थः. **रसेन ग्रहणं यस्य** इति कर्तरि षष्ठी. यत्कर्तृकं रसेन अङ्घ्रिग्रहणं स पुरुषः इति अर्थः. **यत इति** इति. **यतो** मार्गात् पुरुषो **रसग्रहो** जातः तं मार्गं **विहातुं न इच्छेद्** इति मूलेन अन्वयः ॥१९॥

अहं पुरा इत्यत्र. **अस्मिन् मार्गे** इति, सेवामार्गे इति अर्थः. आदरकरणे सेवा न सिद्ध्येद् इति भावः ॥२३॥

ते मयि इत्यत्र. **अन्यथाजातम्** इति. स्व-परदुःखयोः समत्वात् "परदुःखवत् स्वदुःखमपि न प्रतीकार्यम्" इतिप्रकारकं ज्ञानं "स्वदुःखवत् परदुःखमपि प्रतीकार्यम्" इतिप्रकारकं जातम् इति अर्थः. तत्र हेतुः **दुर्बलत्वाद्** इति. तादृशेच्छायाः मूलभूतं समत्वज्ञानं साधनदशास्थानां दुर्बलम् अतः प्रकारो न नियतः इति अर्थः. ननु एवं सति सोऽपि प्रकारः कार्यक्षमो न भवेद् इति आहुः **ननु** इति. **बाधकेति,** पूर्वप्रकारक-ज्ञानस्य इति अर्थः. तथाच गुणानामिव उभयोरपि उपमर्द्योपमर्दकभावः स्यात् नतु एकम् आहत्य कार्यक्षमं भवेद् इति भावः. **सेच्छाया** इति **शुश्रूषमाणे** इत्यत्र सनोः अप्यर्थो ज्ञाप्यते इति भावः. **अनपेक्षाया** इति. न अपेक्षा यस्यां सेवायां तस्याः इति अर्थः ॥२४॥

उच्छिष्टेत्यत्र. **गृहस्थानां च** इति. "न शूद्राय" (मनुस्मृ. ४।८०) इति वाक्ये 'हविष्कृतम्' इति कथनात् तत्सहचरितम् अन्यदपि गृहस्थपरमेव इति भावः. **तत्रापि** इति. अस्निग्धेषु शूद्रेषु न देयम् इति अर्थः. **देहस्य देहेन** इति भेदो वृद्धावपि रूपान्तरसिद्धान्तम् अनुसृत्य उक्तः ॥२५॥

येनैव इत्यत्र. **मायानुभाव** इति. पूर्वन्तु माया करणं व्यापारवती इति ज्ञातवान्. अधुना अनुभावकृतिव्यतिरेकेण कार्यसाधनं ज्ञातवान्. जगद्

ब्रह्मरूपं सिद्धमेव, न तत्र मायाव्यापारः. किन्तु तत्प्रकृतिरूपम् अन्यद् विधाय तत्सरूपम् अस्मभ्यं बोधयति. दृष्टान्तेन तद् बोधयति **लेखनेति**. यथा चित्रे प्रतिकृतिं विधाय देवदत्तस्वरूपं बोध्यते तथा जगत्प्रतिकृतिं विधाय तत्सादृश्येन ब्रह्मस्वरूपं जगद् बोध्यते इति अर्थः. **दशानुसन्धेया** इयं दशा दृष्टान्तत्वेन अनुसन्धेया इति अर्थः ॥३१॥

॥ पञ्चमाध्यायव्याख्या समाप्ता ॥

(षष्ठाध्यायव्याख्या नोपलभ्यते. सप्तमाध्यायारभ्य यावदध्यायसमाप्ति व्याख्यानं तु प्रथममातृकानुसारि एव, अतो नात्र पुनर्मुद्रितम्. इयं मातृका संवत् १८९९तमे लिखिता - सम्पा.).

* * *

॥ द्वितीयं परिशिष्टम् ॥

आद्यसम्पादकोंकी प्रस्तावनाएँ

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीसुबोधिनी ।

श्रीमद्वल्लभाचार्य्यचरणविरचिता ।

प्रथमस्कन्धः ।

श्रीमदाचार्य्यचरणान्ववायदुग्धोदधिसुधानिधीनां,

विद्याविलासिगोस्वामितिलकश्रीमद्गोवर्धनलालजीमहाराजचरणानाञ्च विद्वन्महाराजश्रीमद्गोकुलनाथगोस्वामिचरणानाञ्च

कृपापाङ्गपात्रेण

भट्टश्रीबलभद्रशर्म्म—

कविकाव्यरत्नाकरकविचूडामणिशुद्धाद्वैतभूषणकविरत्नेन

संशोधितः ।

मोहमय्यां

निर्णयसागरे सम्मूद्र्य

शुद्धाद्वैतसिद्धान्तकार्य्यालयात्

प्रकाशितः ।

संवत् १९७१, सन १९१५.

निर्मञ्छनं २ रूपकौ ।

Printed by Ramchandra Yesu Shedge, at the 'Nirnaya-Sagar' press,
23, Kolbhat Lane, Bombay.

Published by Bhatt Balbhadra Sharma Shuddhadwaitasiddhanta
Karyalaya, Badamandir, Bhuleshwar, Bombay.

विज्ञप्तिः ।

प्रकाशकानां किलाऽयं समयो यत्प्रकाश्यमानेषु पुस्तकेषु तत्सम्बन्धितत्तद्विषयविवेचनपरस्य प्रस्तावनादिपदवाच्यस्याऽऽवेदनस्याऽऽदितः संयोजनम् । आवश्यकञ्चेदमौपयिकमिति । किन्तु निखिलस्याऽपि प्रकाश्यमानस्य प्रबन्धस्य यावत्सर्वांशतोऽनवधारणं साहसमेव तावत्तद्विषये लेखनीग्रहणम् । इदमेवाऽत्र निदानं यच्छ्रीमत्याः सुबेधिन्याः प्रथमस्कन्धं परमेणाऽऽयासेन संशोध्य प्रकाशयन्तोऽपि न प्रस्तावनादौ व्यापरयाम आत्मानम् । **श्रीमदाचार्य्यचरण**करुणाबलेन समस्तायास्तस्याः प्रकाशनसौभाग्यलाभे तु यत्सत्यमुपहरिष्यामो यथाबुद्धि सुविस्तृतां प्रस्तावनाम् ।

एतावत्पुनरत्र निवेदयामो यत्संशोधनायाऽस्य पञ्च पुस्तकान्यस्माभिरुपलब्धानीति तदधिपतयः सहस्रशो धन्यवादानर्हन्तीति । तत्र प्रथमं **श्रीमद्भारतमार्त्तण्ड**पुस्तकालयस्थं यत्कसञ्ज्ञया सङ्केत्यतेऽस्माभिः । द्वितीयं विदितवैदुष्यवैभवानां **श्रीमल्लालूभट्टमहानुभावानां** यज्जयपुरहूताच्छ्रीमतः **सवाईजयसिंह**महोदयात्तैरुपलब्धम् । अस्माभिश्च तत्कुल एव समुद्वाहिताया अनुजायाः श्रीमत्या **यमुनायाः** सकाशादधिगतम् । यच्च खसञ्ज्ञामस्मद्दत्तामावहति । तृतीयं **मोहमयीस्थबृहन्मन्दिराधिपतिश्रीमद्गोकुलनाथगोस्वामिचरणमहोदयानां** यत्र गसञ्ज्ञमित्यस्माकमभ्युपगमः । तुरीयं श्रीमति **वृन्दावने मुद्रितं** सप्तटीकोपेतं यत्किल घसञ्ज्ञयाऽस्माभिरभिलप्यते । पञ्चम**मस्मत्प्रपितामहश्रीमद्बलदेवभट्टचरणानां** यदस्माकं पितृव्यैः **श्रीमद्गोवर्धनभट्टपादै**र्वितीर्णम् । यच्च ङसञ्ज्ञया परिगृह्यतेऽस्माभिः ।

यथा च पञ्च पुस्तकान्येतान्युपलब्धान्येवं **गोस्वामिश्रीमद्वागधीशलालजीमहाराजेभ्यो**ऽप्येकमधिगतम् । पञ्चभिरेव कथमपि निर्वाहे तु नैतत्परिगृहीतं शोधकर्मणि । एवमपि करुणापूर्णान्तराणां तेषां सर्वथाऽपि प्रशंसनीयः साम्प्रदायिकसेवासमुत्साह इति सहस्रशस्तेभ्यो धन्यवादाः ।

विज्ञापको —

भट्टश्रीबलभद्रशर्म्मा,

कविः, काव्यरत्नाकरः, कविचूडामणिः,

शुद्धाद्वैतभूषणः, कविरत्नञ्च.

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीमद्भागवतप्रथमस्कन्ध-
श्रीसुबोधिनीप्रकाशः।

श्रीमद्गोस्वामिश्रीमत्पुरुषोत्तमचरणविरचितः ।

सुरतिस्थश्रीमद्गोस्वामि**श्रीव्रजरत्नचरण**प्रेरणया 'सुरतना **शेठ गंगाराम व्रजदास भरतीया**' इत्यस्य द्रव्येण 'भृगुपुरस्थ **मूलचन्द्र तुलसीदास तेलीवाला** बी.ए., एल् एल्. बी. वकील हाइ कोर्ट ' इत्यनेन संशोध्य
'**गुजराती न्यूस**' मुद्रणालये
मुद्रयित्वा प्रकटीकृतः ।

श्रीवल्लभाब्दाः ४४८. संवत् १९८३.

मूल्यमेकमुद्रिका ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

प्रास्ताविकम् ।

श्रीमदाचार्यश्रीमद्वल्लभाधीश्वरप्रणीतग्रन्थेषु श्रीसुबोधिनी मूर्धन्येति बहूनां विदुषामभिप्रायः । श्रीसुबोधिनी श्रीमदाचार्यचरणैः प्रणीता प्रथम-द्वितीय-तृतीय-दशमस्कन्धेषु उपलभ्यते । एकादशस्कन्धस्याध्यायचतुष्टयोपर्यपि दृश्यते । एतन्मूलसुबोधिन्या मुद्रणं नित्यस्वरूपब्रह्मचारिणा कृतमेव पूर्वम् । तदनन्तरं श्रीमद्गोस्वामिकुलतिलकश्रीगोवर्धनलालजीमहाराजचरणानामाश्रयेण पण्डितप्रकाण्डेन कविकाव्यरत्नाकरेण भट्टबलभद्रशर्मणा प्रथमसुबोधिनीमुद्रणं कृतम् , तथापि तत्र श्रीमद्गोस्वामिवर्यश्रीनृसिंहलालजीमहाराजचरणाश्रितशास्त्रिषड्गुणलालस्य पूर्वं मुद्रितस्य पुस्तकस्योपयोगो न कृत इति प्रतिभाति । यतः प्रकाशादिटीकासु स्वीकृताः शुद्धाः पाठाः टिप्पणेषु प्रायो निवेशिताः, अनावश्यकानि क्वचित् भ्रमोत्पादकानि च प्रश्नचिह्नानि मध्येमध्ये निक्षिप्तानि । अतः श्रीसुबोधिन्या अध्ययनं कथं साम्प्रदायिकैः कर्तव्यमिति प्रश्न उपस्थितः । साहित्यं विना तदध्ययनं तन्मुद्रणं च नैव संतोषप्रदमिति निश्चित्य तत्साहित्यसम्पादनायास्माभिः प्रयत्नः कृतः । श्रीमदाचार्यकृपया प्रथमस्कन्धसुबोधिन्या विवरणचतुष्टयमुपलब्धम् । एकं चाचाश्रीगोपेशानाम् , द्वितीयं श्रीपुरुषोत्तमानाम् , तृतीयं श्रीवल्लभानाम् , चतुर्थं श्रीगोकुलोत्सवानां च । केचित् स्वतन्त्रलेखा अपि प्राप्ताः । श्रीसुबोधिन्याः सम्यगध्ययने एतत्साहित्यप्राकट्यमत्यन्तमुपकरिष्यतीत्यत्र नैव स्वल्पोपि संदेहोस्माकम् । श्रीमत्प्रभुचरणकृपया कदाचित् तदपि सेत्स्यतीति विश्वासः । एतेषु विवरणेषु श्रीपुरुषोत्तमानां प्रकाशो विस्तृतत्वात् शास्त्रदृष्ट्या योजितत्वात् एतस्मिंश्च चाचाश्रीगोपेशकृतायाः टीकायाः प्रायः समग्राया अपि समावेशितत्वात् तन्मुद्रणस्यात्यावश्यकत्वाच्च प्रथमं मुद्रणे स्वीकृतः । श्रीसुबोधिन्या अवगाहनेऽयमत्यन्तमनुगृह्णातीति तु निर्विवादं तदध्येतॄणाम् । एतन्मुद्रणार्थः द्रव्यप्रबन्धः सुरतिस्थश्रीमद्गोस्वामिश्रीव्रजरत्नलालकृपया जातः । तेषामेव प्रेरणया सुरतिस्थवैष्णवश्रेष्ठिव्रजदाससूनुगंगारामेण भरतीयेत्याख्येन प्रथमसुबोधिनीप्रकाशमुद्रणव्ययो दत्तः ।

प्रथमसुबोधिनीप्रकाशमुद्रणं संवत् १९७८ वर्षे प्रारब्धम् । तथापि प्रकाशपुस्तकानां यावत्प्राप्तानां संदिग्धत्वादशुद्धत्वात् त्रुटिभूयस्त्वाच्च मुद्रणकार्यं त्यक्तव्यमासीत् । संवत् १९८१ वर्षे अस्मन्मित्रधैर्यलालस्य श्रीनाथद्वारे गमनं जातम् । तत्रत्यसंग्रहात् शीघ्रकविनन्दकिशोरैरेकं प्राचीनं प्रथमप्रकाशपुस्तकं श्रीमद्गोवर्धनलालजीमहाराजानामनुज्ञया दत्तम् । तत्पुस्तकोपरि श्रीपुरुषोत्तमानां श्रीहस्ताक्षरेषु कृतः शोधोपि एकस्मिन् पत्रे दृष्टः । तत्पुस्तकं प्रामाणिकमिति स्वीकृत्यास्माभिः पाठादियोजनं प्रायः तदाधारेणास्मिन् मुद्रणे कृतम् , तथापि यत्र तत्पुस्तकं संदिग्धं प्राप्तम् , तत्र निम्नलिखितानामन्यपुस्तकानामुपयोगः कृतः । तानि चेमानि ।

(१) एतत्पुस्तकं संवत् १८३७ वर्षे कार्तिकमासे कृष्णपञ्चम्यां लिखितम् । 'त्रवाडी भट्टप्राणजीवणेन' 'गुसांईजीश्रीश्रीश्रीगोविन्दरायाणां तस्यात्मजौ लालजीश्रीविठ्ठलेशरायजी लालजीश्रीगोकुलोत्सवरायजीवाचनार्थम्'। एतत्पण्डितगट्टूलालाजीसंग्रहस्थम् । अन्यत्रादृष्टो भूयान् शोधोऽस्मिन् प्राप्तः ।

(२) नटपुरस्थ-पुष्टिमार्गीय-पुस्तकालय-संग्रहस्थम् , भगवदीयत्रिभुवनदासपीतांबरदासद्वारा प्राप्तम् । संवत् १७९७ वर्षे पौषमासे कृष्णपक्षे चतुर्थ्यां गुरुवासरे लिखितम् । उमरेठग्रामनिवासि-औदिच्यटोलकीयाज्ञातीय-व्यास-हृदयरामात्मजजीवरामेण लिखितमिदम् । इदं प्रायः शुद्धम् , तथापि नैव केनचिदपि वांचितं दृश्यते ।

(३) कंकरपल्लीस्थश्रीमद्गोस्वामिश्रीव्रजभूषणानाम् । संवत् १८२४ वर्षे पौषकृष्णसप्तम्यां शनिवासरे लिखितम् । इदं पुस्तकं कंकरपल्लीस्थश्रीमद्गोस्वामिनीश्रीसौन्दर्यवतीवहुजीमहाराजकृपया तद्भ्रातृभट्टकरञ्जीछन्नुलालाजीद्वारा प्राप्तम् । प्रायः शुद्धम् ।

(४) 'शास्त्रिकल्याणजी कानजी' इत्येतैः स्वयं लिखितं शोधितं च । एतत् पुस्तकं मुम्बास्थश्रीगोकुलाधीशजीमन्दिरस्थसंग्रहात्

श्रीमद्गोस्वामिमग्नलालकृपया प्राप्तम् ।

(५) श्रीमद्गोस्वामिरणछोडलालानाम् । नूतनमिदं श्रीमद्गोस्वामिश्रीजीवनेशैः स्ववाचनार्थं संपादितम् ।

(६) श्रीमद्गोस्वामिविद्वन्महाराजश्रीगोकुलनाथानाम् । नूतनमिदम् ।

(७) पं. गट्टूलालाजीसंग्रहस्थम् ।

श्रीनाथद्वारीयपुस्तकोपरि श्रीपुरुषोत्तमानां श्रीहस्ताक्षरेषु 'ग्रन्थसंख्या ३०००' इति लिखितं दृश्यते । 'श्रीव्रजोत्सवानामिद'मित्यपि तत्रैव दृश्यते । सप्तमलालश्रीघनश्यामानां श्रीगोपेशनामानः सूनव आसन् । तत्पुत्राश्च श्रीव्रजोत्सवाः । संभवति च श्रीपुरुषोत्तमैरेतत्पुस्तकं निजमित्रत्वात् श्रीव्रजोत्सवेभ्यः समर्पितम् । एतेन श्रीपुरुषोत्तमानां श्रीगोपेशानां बहुमानपुरःसरं 'चाचा'त्वेनोपन्यासो स्पष्टो भवति । यद्येतदनुमानं न युक्तम् , तदा तु तृतीयलालश्रीबालकृष्णानां वंश्यश्रीव्रजोत्सवानामिदं पुस्तकं स्यादिति ।

श्रीकङ्करपल्लीस्थश्रीमन्मातृचरणश्रीमद्गोस्वामिनीश्रीसौन्दर्यवतीनां परमोदारानुग्रहेण श्रीश्रीद्वारकानाथमन्दिरस्थसंग्रहात् श्रीपुरुषोत्तमानां प्राचीनं चित्रं समुपलब्धम् । तत् तादृशमेव सिद्धमत्र निवेशितमिति ।

अत्रापि ' धैर्यलाल व्रजदास सांकलीया ' ' जमनादास कानजी ' ' पुरुषोत्तमदास कानजी ' ' हीरालाल मूलजीभाई ' ' गोवर्धनदास प्रागजी ' ' वल्लभदास मोरारजी ' इत्यादीनां मित्राणामुपकारस्तु स्मर्तव्य एव । तथैवोपरिनिर्दिष्टानां श्रीमद्गोस्वामिबालकानां तदाश्रितपण्डितानां चोपकारः प्राचीनशुद्धहस्तलिखितपुस्तकप्रदानेन प्राचीनचित्रविचरणेन च जातोऽविस्मर्तव्य एव ।

एवमष्टपुस्तकाधारेणायं ग्रन्थः शोधितः । शोधनस्य जीवकार्यत्वात् तस्य च स्वभावतो दुष्टत्वात् दोषा अत्रापि न स्युरिति वक्तुमस्माकं नैव शक्यम् , तथापि पुस्तकस्यास्य प्रामाणिकत्वसम्पादने यावान् प्रयासो

मानुषः सुलभः, स सर्वोपि कृत इति ।

स च कस्यचिदपि भगवदीयस्य प्रथमस्कन्धश्रीसुबोधिन्याः शास्त्रदृष्ट्या अध्ययने किञ्चिदपि सौकर्यं करिष्यतीति विचारेण, तं परमपरिश्रमेण शोधितं श्रीमत्प्रभुचरणकमलेषु समर्पयाम इति ।

पौषशुक्लप्रतिपद्
संवत् १९८३
मुंबई.

मूलचन्द्र तेलीवाला.

॥ तृतीयं परिशिष्टम् ॥

। श्रीसुबोधिनीकारिकार्धसूचिः ।

कारिका	पृष्ठ
अतः साधारणं प्रोक्तं	१४६
अत्र सन्तः स्वसन्तोषैः	१९
अन्यस्तत्र विधाय मानुषतनुं	१४
अन्यासक्तिस्तु यत्रैव	३५०
अविरोधेन सप्तानां	१८
अर्थत्रयं तु वक्ष्यामि	१९
अर्थं तस्य विवेऽचितुं	१४
अवश्यम् एवकारेण	८३
अशुद्धशुद्धभेदेन	१६२
अष्टमे यस्य वाक्यस्य	४३४
अष्टादशपुराणानि	८३
आदावन्ते निर्णयार्थं	२६९
आध्यात्मिकं चाधिदैवं	४११
आर्थिकं तु प्रवक्ष्यामि	१७
इति सर्वत्र बोद्धव्यं	२३७
इत्याद्याः केवलो विष्णुः	१६३
इहोक्तिरविशेषेण	१६४
उट्टङ्कनं मध्यमत्वाद्	२६९
उत्तमप्रक्रियायाश्च	२२६
उत्तरोत्तरदौर्बल्यं वाच्यं	१८
उपसाधको नरश्चोक्तः	८३
एक एव परो ह्यात्मा	८३
एवकारेण सर्वेषां	३९६
एवं त्रिभिर्मध्यमस्य	३८६
एवं भागवतार्थस्य	२२४
एवं हि सर्वभक्तानां	४३३
कथाश्रवणभावेन	७८
कपिलो दत्त ऋषभः	१६३
कर्ता ज्ञः सकलस्य यो	५
कश्यपः सनकाद्याश्च	१६४
कामपुत्रोऽनिरुद्धश्च	१६४
कार्यकाले सङ्क्रमणं	१६२
कृषिर्भूवाचकः शब्दो	४८४
कृष्णावतारकार्यं हि	१४६
क्रियाशक्त्या ज्ञानशक्त्या	१६३
गयश्च लक्ष्मणाद्याश्च	१६४
गूढार्थं प्रकटीकरोमि बहुधा	१४
चतुर्थे सर्वधर्माणां	२६९
चतुर्भिश्च महारोगैः	२१३
जन्मकारणनिर्धार-	४४८
जयो नाम पुराणादिः	८३
जीवेश्वरविचारेण द्विधा	५९
तत्राध्याये चतुर्थे तु	२२५
तथैव वडवावक्त्रः	१६३
तया सर्वत्र सम्मोहः	३९३
तयोरैक्यं परं ब्रह्म	४८४
तस्मै तातमहाशयाय हरये	८
तृतीये त्ववशिष्टानां	१४५
त्रयाणां वक्ष्यतेऽध्याये	७८
त्रयोदशभिरध्यायैः	३८६
त्रिभिः कृतो द्वितीये तु	२२४
दत्त-व्यासादिरूपेषु	१६३
दत्वाज्ञां च कृपावलोकनपटुः	१४
दुःखाभावश्च मोक्षश्च	४६९
देवी भाग्यात्मिका नृणां	८४
दोषश्चेत् तत्समाधानं	४३५
द्वादशाङ्गैश्च सहितो	३८७
धर्म एषां तथा भार्या	१६४
धर्मार्थकाममोक्षाख्याः	५९
धियः सर्वेन्द्रियाण्येव	२९
न एकतापि विरुद्धानां	४२९
नटवच्चापि करणं	२१३
नरः फाल्गुन इत्याद्या	१६४

नारदव्याससंवादं ३८६
नारदस्याधिकारित्वात् २२५
नारायणो व्यास इति ८३
नारायणो हरिः कृष्णः १६३
निमग्नान् सूतदानेन ७८
निरूपिताः पञ्चलीलाः १४५
निरूप्यते भक्तिमार्गे २६९
निवर्त्यमनिवर्त्यं च ४११
परस्परविरोधे हि ४२९
पितृनाम्ना महत्त्वं हि २३७
प्रद्युम्नो रौक्मिणेयश्च १६४
प्रेरयेद् यः समस्तानां २९
फलसाधनरूपाणां ७८
बाह्याभावे त्वान्तरस्य ३४६
भक्त्यंशे फलता १०
भगवत्सेवने योग्या ५१
भगवान् वा प्रतीक्ष्योऽत्र ३५०
भरतः कार्तवीर्यश्च १६४
भाषात्रयविभेदश्च १९
भाषात्रयविरोधश्च १९
भाषाभेदविभेदतस्त्रयमपि १०
मत्स्य-कूर्म-वराहाश्च १६३
मध्यमेनाधिकारेण ३४६
मध्याधिकारे यच्छास्त्रं २२५
मनुपुत्राश्च ऋषयो १६४
महिदासस्तथा हंसः १६३
मामेव ये प्रपद्यन्ते ३९६
यत्राधिकृत्य गायत्रीं २४
यस्यासीद् रूपमेव १
यो लीलाभिरनेकधा ५
राघवः कृष्ण-बुद्धौ च १६३
लक्षणां नैव वक्ष्यामि १७
लोके भक्तिप्रसिद्ध्यै १
वन्दे श्रीकृष्णदेवं १
वाराहादिस्वरूपेषु १६३
विशेषः पञ्चधा प्रोक्तः ३८८
वृत्रासुरवधोपेतं २४
वंशकर्ता पिता चैव ४६९
शास्त्रं रूपं च लोके १
शुद्धाश्च सुखिनश्चैव ५१
श्रवणस्य फलं चान्तः ३४६
श्रीगोपीपतिवन्दिने सुमनसि ८
श्री-ब्रह्म-रुद्र-शेषाश्च १६४
श्रीमद्भागवतागमः सुरतरुः १०
श्रीमद्वल्लभविद्वदीश- ८
श्रीमल्लक्ष्मणभट्टसूरिरिति ८
षट्प्रश्नपूरणं तेन १४६
षष्ठे तु बाह्यं तस्यैव ३४६
सत्त्वरूपशरीरेषु १६२
सम्बन्धात् कृतहेलाज्ञा ४४८
सर्वस्यापि विधारणो ५
सर्वहेतुकथायै च ४३३
सर्वे ते भगवद्रूपाः ८४
साकारत्वात् तु सौन्दर्यं ४८४
साकारं ब्रह्म शुद्धं हि ३९३
सोऽयं वाचि ममास्तु ५
स्कन्धैर्द्वादशभिर्युतः सुरतरुः १०
स्वतन्त्र उत्तमस्यैव ३८७
स्वरूप-गुण-लीलादि ४४८
स्वरूपेण कृतार्थत्वं ४८६
हृषीकेशं पृथास्तौषीत् ४४८
हेतुः षड्भिर्विरक्तिश्च ३८७
हेतुस्तु द्विविधः प्रोक्तः ३८८

*

। मूलश्लोकार्धसूचिः ।

श्लोक	पृष्ठ
अ-ए	
अजस्त्वमस्य क्षेमाय	४७०
अजानन्नुपसंहारं	४१०
अजं प्रजातं जगतः शिवाय	३१९
अतिमर्त्यानि भगवान्	७४
अतो महाभाग भवानमोघदृक्	२८९
अतो वै कवयो नित्यं	११९
अतः परं यदव्यक्तं	१९८
अतः पुम्भिर्द्विजश्रेष्ठा	१०३
अतः साधोऽत्र यत्सारं	६३
अथ ते सम्परेतानां	४३५
अथ तं सुखमासीन	२७०
अथर्वाङ्गिरसाम् आसीत्	२५३
अथ विश्वेश विश्वात्मन्	४८०
अथाख्याहि हरेर्धीमन्	७२
अथापि बत मे दैह्यो	२६१
अथाऽसौ युगसन्ध्यायां	१८८
अथेह धन्या भगवन्त इत्थं	२१८
अथोपस्पृश्य सलिलं	४१०
अथोपेत्य स्वशिबिरं	४२२
अदान्मे ज्ञानमैश्वर्यं	३४४
अदृष्टाश्रुतवस्तुत्वात्	१९८
अध्यगान् महदाख्यानं	४०२
अध्यात्मदीपम् अतितितीर्षतां	८२
अनर्थोपशमं साक्षाद्	३९४
अनुग्रहान्महाविष्णोः	३७९
अनुग्रहं मन्यमानः	३५४
अन्तःप्रविष्ट आभाति	१३९
अन्तर्बहिश्च लोकांस्त्रीन्	३७९
अन्तःस्थः सर्वभूतानां	४४४
अन्ये च मुनयः सूत	५९
अन्ववोचन् गमिष्यन्तः	३३२
अन्वाद्रवद् दंशित उग्रधन्वा	४०९
अपरे वसुदेवस्य	४७०
अपश्यत् पुरुषं पूर्णं	३९२
अपश्यन् सहसोत्तस्थे	३५८
अपाण्डवमिदं कर्तुं	४४२
अपाययत् सुरानन्यान्	१७९
अप्यद्य नस्त्वं स्वकृतेहित	४७७
अभिद्रवति मामीश	४४२
अभिमन्युसुतं सूत	२३६
अलक्ष्यं सर्वभूतानां	४४८
अर्जुनः सहसाज्ञाय	४३१
अवतारा ह्यसङ्ख्येया	१८९
अवतारे षोडशमे	१८५
अविच्युतोऽर्थः कविभिः	३२०
अविद्ययाऽऽत्मनि कृते	२००
अविपक्वकषायाणां	३६१
अवेक्षते महाभागः	२३५
अश्रद्दधानान् निःसत्त्वान्	२४८
अष्टमे मेरुदेव्यां तु	१७३
असम्पन्न इवाभाति	२६१
असौ गुणमयैर्भावैः	१४१
अस्त्येव मे सर्वमिदं	२७५
अस्त्रग्रामश्च भवता	४२४
अस्त्रं ब्रह्मशिरो मेने	४१०
अस्यां वै श्रूयमाणायां	३९७
अहो देवर्षिर्धन्योऽयं	३८५
अहो मे पश्यताज्ञानं	४९०
अहैतुक्यप्रतिहता	८५
अहं च तद् ब्रह्मकुले	३५१
अहं च तस्मै महतां	३६४
अहं चाध्यगमं तत्र	२२२
अहं पुरातीतभवे	३२१
आख्यातान्यप्यधीतानि	५८
आख्याहि दुःखैर्मुहुरर्दितात्मनां	३४४
आत्मनात्मानमात्मस्थं	३५६
आत्मनोऽभिमुखान् दीप्तान्	४४२
आत्मारामाय शान्ताय	४६२
आत्मारामाश्च मुनयो	४००
आनन्दसम्प्लवे लीनो	३५८

आन्वीक्षिकीमलर्काय १७१
आपन्नः संसृतिं घोरां ६७
आप्लुता हरिपादाब्ज- ४३५
आमयो यश्च भूतानां ३३७
आमन्त्र्य पाण्डुपुत्रांश्च ४४०
आमन्त्र्य वीणां रणयन् ३८४
आरब्धकर्मनिर्वाणो ३७६
आलोक्य वदनं सख्युः ४२९
आवृत्त्य रोदसी खं च ४१६
आसीना दीर्घसत्रेण ७५
आसीनोऽप उपस्पृश्य ३९१
आह राजा धर्मसुतः ४८९
आहरिष्ये शिरस्तस्य ४२०
आहूत इव मे शीघ्रं ३८०
इति प्रियां वल्गुविचित्रजल्पैः ४०९
इति ब्रुवाणं संस्तूय २२७
इति भारतमाख्यानं २५५
इति मूर्त्यभिधानेन ३४३
इति मे न तु बोधाय ४९०
इति सम्प्रश्नसम्पृष्टः ७९
इतिहासपुराणानां २५३
इतिहासपुराणं च २५३
इत्थं शरत्प्रावृषिकावृतू ३३१
इदं भागवतं नाम २१९
इदं हि पुंसस्तपसः ३२०
इदं हि विश्वं भगवानिवेतरो ३१७
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं १९०
इमे जनपदाः स्वृद्धाः ४७९
इमं स्वनिगमं ब्रह्मन् ३४४
ईशस्य हि वशे लोको ३५१
उच्छिष्टलेपाद्यनुमोदितो द्विजैः ३२५
उत्तमश्लोकचरितं २१९
उद्धरिष्यन्नुपादत्त १६५
उन्मत्तमूकजडवद् २३४
उपधार्य वचस्तस्या ४४२
उपलेभेऽभिधावन्तीं ४४०
उपाहरद् विप्रियमेव तस्य ४०६
उरुक्रमस्याखिलबन्धमुक्तये २८९
उवाच चासहन्त्यस्य ४२३
ऋग्यजुःसामाथर्वाख्या २५३
ऋषयो मनवो देवा १९०
ऋषिभिर्याचितो भेजे १७४
एक एवातियातोऽहं ३५५
एकदा निर्गतां गेहाद् ३५३
एकात्मजा मे जननी ३५१
एकान्तमतिरुन्निद्रो २३१
एकोनविंशे विंशतिमे १८७
एतत्संसूचितं ब्रह्मन् ३३५
एतद् रूपं भगवतो १९१
एतद्ध्यातुरचित्तानां ३८१
एतन्नानावताराणां १६०
एतावदुक्त्वोपरराम ३६४
एते चांशकलाः पुंसः १९०
एवं कृष्णमतेर्ब्रह्मन् ३७४
एवं चकार भगवान् २५५
एवं जन्मानि कर्माणि २०२
एवं द्रष्टरि दृश्यत्वं १९४
एवं निशम्य भगवान् ३४७
एवं नृणां क्रियायोगाः ३३७
एवं परीक्षता धर्मं ४२१
एवं प्रवृत्तस्य विशुद्धचेतसः ३२५
एवं प्रवृत्तस्य सदा २५८
एवं प्रसन्नमनसो ११६
एवं यतन्तं विजने ३६१
एवं सम्भाष्य भगवान् ३८४
एष हि ब्रह्मबन्धूनां ४३२
औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य ३५६

क-घ

कथञ्चेदमुदस्राक्षीः ३४८
कथमालक्षितः पौरैः २३४
कथं वा पाण्डवेयस्य २३५
कथं स वीरः श्रियमङ्ग २३८
कथां भागवतीं पुण्यां २२८
कर्मभिर्गृहमेधीयैः ४९१

कर्मश्रेयसि मूढानां	२५५
कलाः सर्वे हरेरेव	१९०
कलिमागतमाज्ञाय	७५
कलिं सत्त्वहरं पुंसां	७६
कलौ नष्टदृशाम् एषः	२२१
कल्पान्त इदमादाय	३७८
कस्मिन् युगे प्रवृत्तेयं	२२९
कस्य वा बृहतीमेताम्	३९९
कामस्य नेन्द्रियप्रीतिः	९१
कामं दहतु मां नाथ	४४२
कालः प्रादुरभूत् काले	३७४
किमिदं स्वित् कुतो वेति	४१४
किं वा भागवता धर्मा	२६४
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे	२८६
कुतः सञ्चोदितः कृष्णः	२२९
कुरु प्रतिश्रुतं सत्यं	४३०
कुर्वन्त्यलौकिकीं भक्तिं	४००
कुर्वन्ति सर्वात्मक आत्मभावं	२१८
कुर्वाणा यत्र कर्माणि	३४२
कृतवान् किल वीर्याणि	७४
कृतवान् भारतं यस्त्वं	२७३
कृष्ण कृष्ण महाबाहो	४१२
कृष्णस्य नारदोऽभ्यगाद्	२६६
कृष्णाय वासुदेवाय	४५३
कृष्णे स्वधामोपगते	२२१
केचिदाहुरजं जातं	४६९
के वयं नामरूपाभ्यां	४७९
को वा भगवतस्तस्य	६९
खेटखर्वटवाटीश्च	३५४
गन्तुं कृतमतिर्ब्रह्मन्	४४०
गम्भीरश्लक्ष्णया वाचा	३६१
गाण्डीवमुक्तैर्विशिखैरुपाहरे	४०७
गान्धारीं पुत्रशोकार्तां	४३६
गायन् माद्यन् गिरा तन्त्र्या	३८५
गां पर्यटंस्तुष्टमना गतस्पृहः	३६६
गृणन्ति गुणनामानि	३४२
गोप्याददे त्वयि कृतागसि	४६७
गोविन्द गोद्विजसुरार्ति-	४८३
घातयित्वासतो राज्ञः	४३८
घोरं प्रतिभयाकारं	३५५
च-ज	
चक्रुः कृपां यद्यपि तुल्यदर्शनाः	३२३
चक्रे वेदतरोः शाखा	१८५
चचार दुश्चरं ब्रह्मा	१६५
चतुर्दशं नारसिंहं	१८१
चातुर्होत्रं कर्म शुद्धं	२५०
चित्रधातुविचित्राद्रीन्	३५४
चित्रस्वनैः पत्ररथैः	३५४
चेत एतैरनाविद्धं	११४
छिन्दन्ति कोविदास्तस्य	१०७
जगृहे पौरुषं रूपं	१४९
जनयत्याशु वैराग्यं	८७
जनिता विष्णुयशसो	१८८
जन्म कर्म च विश्वात्मन्	४६६
जन्मकर्मरहस्यं मे	३८३
जन्म गुह्यं भगवतो	१९१
जन्माद्यस्य यतोऽन्वयाद्	२१
जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिः	४५९
जलाशयान् शिवजलान्	३५४
जह्यस्त्रतेज उन्नद्धं	४१५
जातः पराशराद् योगी	२४२
जिज्ञासितमधीतं च	२७३
जिज्ञासितं सुसम्पन्नं	२७३
जीवन्ति नात्मार्थम् असौ	२३९
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा	९१
जुगुप्सितं धर्मकृतेऽनुशासतः	२९६
ज्ञानं गुह्यतमं यत्तत्	३३२
ज्ञानं यत्तदधीनं हि	३३८
त-न	
तच्छ्रद्दधाना मुनयो	१०२
तत आसाद्य तरसा	४१७
ततोऽन्यथा किञ्चन यद्विवक्षतः	२९१
ततः कलौ सम्प्रवृत्ते	१८८
ततः प्रादुरभूत् तेजः	४११

ततः सद्यो विमुच्येत ६७
ततः सप्तदशे जातः १८५
ततः सप्तम आकूत्यां १७२
तत्र कीर्तयतो विप्रा २२२
तत्र तत्राऽञ्जसाऽऽयुष्मन् ६०
तत्रर्ग्वेदधरः पैलः २५३
तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायतां ३२८
तत्रासीनं कुरुपतिं ४३६
तत्राहामर्षितो भीमः ४२८
तत्कुलं प्रदहत्याशु ४२७
तत्सर्वं नः समाचक्ष्व २४१
तथा परमहंसानां ४४८
तथापि शोचस्यात्मानं २७३
तथाऽयञ्चावतारस्ते ४१४
तथाहृतं पशुवत् पाशबद्धं ४२३
तदसौ वध्यतां पाप ४२०
तदा तदहमीशस्य ३५४
तदा रजस्तमोभावाः ११४
तदा शुचस्ते प्रमृजामि भद्रे ४०७
तदा सम्पन्न एवायं २०१
तदिदं ग्राहयामास २२०
तदेव ह्यामयं द्रव्यं ३३७
तद्धर्मज्ञ महाभाग ४२५
तद्यशः पावनं दिक्षु ४३८
तद्वधस्तस्य हि श्रेयो ४१९
तद् वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो २८४
तद् वायसं तीर्थमुशन्ति मानसाः २८१
तद् वीक्ष्य पृच्छति मुनौ २३२
तद् वै भगवतो रूपं १५६
तद्धि स्वयं वेद भवान् ३१७
तन्त्रं सात्त्वतमाचष्ट १६७
तन्नः शुश्रूषमाणानां ६६
तन्मूलमव्यक्तमगाधबोधं २७५
तमभिज्ञाय सहसा २६७
तमापतन्तं स विलक्ष्य ४१०
तमसस्तु रजस्तस्मात् १२५
तया विलसितेष्वेषु १३९
तर्ह्येव च मुनिश्रेष्ठ ४४२
तल्लभ्यते दुःखवदन्यतः सुखं ३०१
तस्मादेकेन मनसा १०६
तस्मिन्निर्मनुजेऽरण्ये ३५६
तस्मिंस्तदा लब्धरुचेर्महामुने ३२९
तस्मिन् स्वे आश्रमे ३९१
तस्य कर्माण्युदाराणि ७१
तस्य जन्म महाश्चर्यं २३६
तस्य पुत्रो महायोगी २३१
तस्यात्मनोऽर्धं पत्न्यास्ते ४२४
तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो ३०१
तस्यैवं खिलमात्मानं २६६
तस्यैवं मेऽनुरक्तस्य ३३२
त एकदा तु मुनयः ५६
त एनमृषयो वेदं २५४
त एव पश्यन्त्यचिरेण ४७५
त एव वेदा दुर्मेधैः २५५
त एवात्मविनाशाय ३३७
ताः श्रद्धया मेऽनुपदं ३२८
तिर्यङ्नृषिषु यादस्सु ४६६
तुर्ये धर्मकलासर्गे १६८
तृतीयमृषिसर्गञ्च १६७
तेजसा मणिना हीनं ४३१
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो २१
ते निनीयोदकं सर्वे ४३५
तेने ब्रह्म हृदा य २१
ते मय्यपेताखिलचापलेऽर्भके ३२३
तं सर्वभूतहृदयं ८०
तं व्याससूनुमुपयामि ८२
तां बाढमित्युपामन्त्र्य ४८७
त्यक्त्वाऽस्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेः ३०१
त्रिःसप्तकृत्वः कुपितो १८५
त्वत्पदैरङ्किता भाति ४७९
त्वमप्यदभ्रश्रुत विश्रुतं विभोः ३४४
त्वमात्मनात्मानमवेहि ३१९
त्वमाद्यः पुरुषः साक्षाद् ४१२
त्वमेको दह्यमानानां ४१२

त्वया खलु पुराणानि ५८
त्वयि मेऽनन्यविषया ४८२
त्वं नः सन्दर्शितो धात्रा ७६
त्वं पर्यटन्नर्क इव त्रिलोकीं २७७
ददार करजैरूरौ १८१
दध्रे कमठरूपेण १७८
दर्शयन् वर्त्म धीराणां १७३
दह्यमानाः प्रजाः सर्वाः ४१६
दातुं सकृष्णा गङ्गायां ४३५
दिग्देशकालाव्युत्पन्नो ३५१
दिदृक्षुस्तदहं भूयः ३६०
दुग्धेमामोषधीर्विप्राः १७४
दुर्भगांश्च जनान् वीक्ष्य २४९
दृश्यते यत्र धर्मादिः २६०
दृष्ट्वानुयान्तमृषिम् २३२
दृष्ट्वास्त्रतेजस्तु तयोः ४१६
देवक्यां वसुदेवस्य ६४
देवदत्तामिमां वीणां ३८०
देवर्षिः प्राह विप्रर्षिं २७०
देवीं सरस्वतीं चैव ८३
देव्यो ह्रिया परिदधुः २३२
द्वापरे समनुप्राप्ते २४२
द्वितीयं तु भवायाऽस्य १६५
द्वैपायनादिभिर्विप्रैः ४४०
द्वैपायनो विरहकातर ८०
धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य ९१
धर्मः प्रोज्झितकैतवो ४०
धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां ८८
धर्म्यं न्याय्यं सकरुणं ४२७
धान्वन्तरं द्वादशमं १७९
धाम्ना स्वेन सदा २१
धृतव्रतेन हि मया २५९
ध्यायतश्चरणाम्भोजं ३५६
न कर्हिचित् क्वापि च २९१
नकुलः सहदेवश्च ४२७
न चास्य कश्चिन्निपुणेन धातुः २११
न तथा वासुदेवस्य २८०
नन्दगोपकुमाराय ४५३
न भर्तुर्नात्मनश्चार्थे ४२८
नमन्ति यत्पादनिपीठमात्मनः २३८
नमस्ये पुरुषं त्वाद्यं ४४८
न मे स्यान्निरयान्मोक्षो ४९०
नमोऽकिञ्चनवित्ताय ४६२
नमो भगवते तुभ्यं ३४३
नमः पङ्कजनाभाय ४५४
नमः पङ्कजनेत्राय ४५४
न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो २८१
न यस्य कश्चिद् दयितो ४६४
नरदेवत्वमापन्नः १८६
नलवेणुशरस्तम्ब- ३५५
न लक्ष्यसे मूढदृशा ४४८
न वेद कश्चिद् भगवंश्चिकीर्षितं ४६४
न वै जनो जातु ३१४
नष्टप्रायेष्वभद्रेषु ११३
न ह्यस्यान्यतमं किञ्चिद् ४१५
न ह्येव व्यवधात् कालः ३४८
नातिप्रसीदद्धृदयः २५८
नानेव भाति विश्वात्मा १४०
नान्यं त्वदभयं पश्ये ४४०
नाभीह्रदाम्बुजादासीद् १५३
नामानि रूपाणि मनोवचोभिः २११
नामान्यनन्तस्य यशोङ्कितानि २८४
नामान्यनन्तस्य हतत्रपः पठन् ३६६
नारायणकलाः शान्ता १३०
नारायणं नमस्कृत्य ८३
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य ९१
नाव्यारोप्य महीमय्यां १७५
निगमकल्पतरोर्गलितं ४८
निरीक्ष्य कृष्णापकृतं गुरोः सुतं ४२३
निरूपितो बालक एव योगिनां ३२१
निर्गते नारदे सूत ३८९
निशम्य भीमगदितं ४२९
निःश्रेयसाय लोकानां २२०
नेयं शोभिष्यते अग्रे ४७९

नोत्पादयेद् यदि रतिं	८८	प्रतिपूज्य वचस्तेषां	७९
नैच्छद् गुरुसुतं हन्तुं	४२१	प्रतिश्रुतं च भवता	४२०
नैनो राज्ञः प्रजाभर्तुः	४९०	प्रद्युम्नायानिरुद्धाय	३४३
नैनं पार्थार्हसि त्रातुं	४१८	प्रपन्नं विरथं भीतं	४१९
नैमिषेऽनिमिषक्षेत्रे	५५	प्रबोधितोऽपीतिहासैः	४८८
नैवार्हत्यभिधातुं वै	४५९	प्रयाणाभिमुखं कृष्णं	४४७
नैवासौ वेद संहारं	४१५	प्रयुज्यमाने मयि तां	३७६
नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं	२८६	प्रवर्तमानस्य गुणैरनात्मनः	२९८
न्यवेदयत् तं प्रियायै	४२२	प्राकृतेनात्मना विप्राः	४८९
प-म		प्राक्कल्पविषयामेतां	३४८
पञ्चदशं वामनकं	१८३	प्राणापहमभिप्रेक्ष्य	४११
पञ्चमः कपिलो नाम	१७०	प्रायेणाल्पायुषः सभ्य	६१
पदत्रयं याचमानः	१८३	प्रायोपविष्टो गङ्गायां	२३७
पराद्रवत् प्राणपरीप्सुरुर्व्यां	४१०	प्रायोपविष्टं गङ्गायां	२२१
परावरज्ञः स ऋषिः	२४६	प्राहार्जुनं प्रकुपितो	४१८
परावरे ब्रह्मणि धर्मतो व्रतैः	२७७	प्रियाः परमहंसानां	२६४
परावरेशो मनसैव विश्वं	२७६	प्रियं च भीमसेनस्य	४३०
परितुष्यति शारीरः	२७१	प्रेमातिभरनिर्भिन्न-	३५८
परिश्रान्तेन्द्रियात्माहं	३५६	प्रोवाचाऽऽसुरये साङ्ख्यं	१७०
परीक्षितोऽथ राजर्षेः	४०४	बबन्धामर्षताम्राक्षः	४१७
परोऽपि मनुतेऽनर्थं	३९२	बालद्विजसुहृन्मित्र-	४९०
पश्यन्त्यदो रूपमदभ्रचक्षुषा	१५८	बुद्धो नाम्ना जिनसुतः	१८८
पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं	१०२	ब्रह्मतेजोविनिर्मुक्तैः	४४७
पारक्यस्यैव देहस्य	४९०	ब्रह्मनद्यां सरस्वत्यां	३९०
पाराशर्य महाभाग	२७१	ब्रह्मबन्धुर्न हन्तव्यो	४२९
पार्थिवाद् दारुणोऽधूमः	१२५	ब्रह्मेति परमात्मेति	१०१
पाहि पाहि महायोगिन्	४४०	ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य	६०
पितृभूतप्रजेशादीन्	१३१	ब्रूहि नः श्रद्दधानानां	७१
पिबत भागवतं	४८	ब्रूहि भद्रं हि भूतानां	६३
पुत्रशोकार्दिताः सर्वे	४३२	ब्रूहि योगेश्वरे कृष्णे	७७
पुत्रेति तन्मयतया	८०	भक्तियोगविधानार्थं	४४८
पुंसामेकान्ततः श्रेयः	६०	भक्तियोगेन मनसि	३९२
पूजयामास विधिवद्	२६७	भक्तिरुत्पद्यते पुंसः	३९७
पृथयेत्थं कलपदैः	४८५	भगवत्तत्त्वविज्ञानं	११६
प्रजासर्गनिरोधेऽपि	३६३	भगवत्युत्तमश्लोके	११३
प्रजोपप्लवमालक्ष्य	४१६	भगवान् देवकीपुत्रो	४२७
प्रगायतः स्ववीर्याणि	३८०	भर्तुश्च विप्रियं वीर	४२०

भर्तुः प्रियं द्रौणिरिति ४०६
भवतानुदितप्रायं २७८
भवतो दर्शनं यत् स्याद् ४५८
भवतोऽदर्शनं यर्हि ४७९
भवसिन्धुप्लवो दृष्टो ३८१
भवेऽस्मिन् क्लिश्यमानानां ४७३
भारतव्यपदेशेन २६०
भारावतारणायान्ये ४७१
भावयत्येष सत्त्वेन १४३
भिद्यते हृदयग्रन्थिः ११७
भिक्षुभिर्विप्रवसिते ३४८, ९
भूतहत्यां तथैवैकां ४९२
भूतेषु कालस्य गतिं ४३६
भूतेषु चान्तर्हित आत्मतन्त्रः २०४
भूत्वाऽऽत्मोपशमोपेतं १६८
भूयं पप्रच्छ तं ब्रह्मन् ३४७
भूरीणि भूरिकर्माणि ६१
भेजिरे मुनयोऽथाऽग्रे १२९
भौतिकानां च भावानां २४८
मणिं जहार मूर्धन्यं ४३१
मतिर्मयि निबद्धेयं ३६३
मतं च वासुदेवस्य ४१६
मत्कामः शनकैः साधुः ३६२
मत्तं प्रमत्तमुन्मत्तं ४१९
मन्दाः सुमन्दमतयो ६१
मन्दं जहास वैकुण्ठो ४८५
मन्ये त्वां कालमीशानं ४६३
मन्ये त्वां विषये वाचां २४१
मयैवोभयमाम्नातं ४२९
मय्यात्मजेऽनन्यगतौ ३५१
मरीचिमुख्या ऋषयः ३७८
माता सुतानां निधनं ४०७
मानिता निर्व्यलीकेन २५९
मा मंस्था एतदाश्चर्यं ४४७
मायागुणैर्विरचितं १९१
मायाजवनिकाच्छन्नं ४४८
मायानुभावमविदं ३३४
मायां व्युदस्य चिच्छक्त्या ४१२
मा रोदीदस्य जननी ४२६
मुकुन्दसेवया यद्वत् ३८२
मुच्यतां मुच्यतामेषः ४२३
मुनयः साधु पृष्टोऽहं ८४
मुमुक्षवो घोररूपान् १३०
मूर्च्छयित्वा हरिकथां ३८०
मृधे मृधेऽनेकमहारथास्त्रतो ४५७

य-व

य इदं मायया देव्या ४४७
यच्छृण्वतां रसज्ञानां ७३
यजेत यज्ञपुरुषं ३४३
यत्कृतः कृष्णसम्प्रश्नो ८४
यत्पादसंश्रयाः सूत ६७
यत्र क्व वा भद्रमभूद् ३०१
यत्रेमे सदसद्रूपे २००
यथा धर्मादयश्चार्थाः २८०
यथा नभसि मेघौघो १९४
यथा पङ्केन पङ्काम्भः ४९२
यथाऽविदासिनः कुल्याः १८९
यथा हृषिकेश खलेन देवकी ४५५
यथाहं मृतवत् सार्ता ४२६
यथा ह्यवस्थितो वह्निः १४०
यदत्र क्रियते कर्म ३३८
यदनुध्याऽसिना युक्ताः १०७
यदा मृधे कौरवसृञ्जयानां ४०६
यदाऽरुदद् बाष्पकलाकुलाक्षी ४०७
यदाऽशरणमात्मानं ४१०
यदीश्वरे भगवति ३३५
यदोः प्रियस्यान्ववाये ४६९
यद्यप्यस्त्रं ब्रह्मशिरः ४४५
यद्येषोपरता देवी २०१
यद्वाक्यतो धर्म इतीतरः २९६
यमादिभिर्योगपथैः ३८२
यया सम्मोहितो जीवः ३९२
ययाहमेतत्सदसत् स्वमायया ३२९
यस्याम्भसि शयानस्य १५३

यस्यावतारो भूतानां	६६
यस्यावयवसंस्थानैः	१५६
यस्यांशांशेन सृज्यन्ते	१६०
याजयित्वाश्वमेधैस्त्वं	४३८
यानि वेद विदां श्रेष्ठो	५९
युक्तः परः पुरुष	१२०
युगधर्मव्यतिकरं	२४६
येनैवासौ न तुष्येत	२७८
येनैवाहं भगवतो	३३४
येषां न चान्यद् भवतः	४७७
यैः कोपितं ब्रह्मकुलं	४२७
योऽमायया सन्ततयाऽनुवृत्त्या	२१४
योऽसावनागसः सुप्तान्	४१८
यं प्रव्रजन्तमनुपेतं	८०
यः स्वानुभावम् अखिल-	८२
रजस्तमःप्रकृतयः	१३१
रतिमुद्वहतादद्धा	४८२
राजा धर्मसुतो राज्याः	४२७
रामकृष्णाविति भुवो	१८७
रूपं भगवतो यत्तन्	३५८
रूपं स जगृहे मात्स्यं	१७५
लीलावतारानुरतो	१४३
लीला विदधतः स्वैरं	७२
लोकस्याजानतो विद्वान्	३९४
वक्त्रं निनीय भयभावनया	४६७
वदन्ति तत् तत्त्वविदः	१०१
वनाद्रिनद्युदन्वन्तो	४७९
वपनं द्रविणादानं	४३२
वयन्तु न वितृप्याम	७३
वर्णयन्ति स्म कवयो	२०२
वर्तमानो वयस्याद्ये	३४८, ५०
वासुदेवपरा योगा	१३२
वासुदेवपरा वेदा	१३२
वासुदेवपरो धर्मो	१३२
वासुदेवपरं ज्ञानं	१३२
वासुदेवे भगवति	८७
वासुदेवे भगवति	११९
विचक्षणोऽस्यार्हति वेदितुं	२९८
वितर्कयन् विविक्तस्थ	२५८
विधत्से स्वेन वीर्येण	४१४
विपदः सन्तु नः शश्वत्	४५८
विमुच्य रशनाबद्धं	४३१
विमोचिताहं च सहात्मजा विभो	४५५
विविक्ते एक आसीन	२४५
विषान्महाग्नेः पुरुषाददर्शनाद्	४५७
वीक्षमाणोऽपि नापश्यम्	३६०
वृकोदराक्षिप्तगदाभिमर्ष-	४०६
वृजिनं नार्हति प्राप्तुं	४२५
वृद्धः कुलपतिः सूतं	२२७
वेत्थ त्वं द्रोणपुत्रस्य	४१५
वेत्थ त्वं सौम्य तत्सर्वं	६०
वेद्यं वास्तवमत्र	४०
वैशम्पायन एवैको	२५३
वैष्णवं तेज आसाद्य	४४५
व्यदधाद् यज्ञसन्तत्यै	२५०
व्यसनं वीक्ष्य तत् तेषां	४४३
व्यासाद्यैरीश्वरेहाज्ञैः	४८८
श-क्ष	
शम्याप्रास इति प्रोक्तः	३९०
शिबिराय निनीषन्तं	४१८
शिवाय लोकस्य भवाय भूतये	२३९
शिष्यैः प्रशिष्यैस्तच्छिष्यैः	२५४
शिशयिषोरनुप्राणं	३७८
शुकमध्यापयामास	३९८
शुद्धिकामो न शृणुयाद्	६९
शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य	१०९
शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः	११०
शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति	४७५
श्रद्दधानस्य बालस्य	३३२
श्रवणस्मरणार्हाणि	४७३
श्रीकृष्ण कृष्णसख	४८३
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते	४०
श्रुतवान् तदभिप्रायं	३९०
श्रुत्वा भगवता प्रोक्तं	४१६

श्रेयांसि तत्र खलु	१२०
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च	१०६
षष्ठमत्रेरपत्यत्वं	१७१
स एव जीवलोकस्य	४१४
स एव प्रथमं देवः	१६५
स एवेदं ससर्जाऽग्रे	१३५
स एष भगवान् द्रोणः	४२४
स कदाचित् सरस्वत्या	२४५
सकृद् यद् दर्शितं रूपं	३६२
स गोदोहनमात्रं हि	२३५
स च संश्रावयामास	२२१
सत्कृतं सूतमासीनं	५६
सत्रं स्वर्गाय लोकाय	५५
सत्त्वं रजस्तम इति	१२०
सत्त्वं विशुद्धं क्षेमाय	१२९
सत्सेवयाऽदीर्घयापि	३६२
सदसद्रूपया चासौ	१३५
सद्यो हृद्यवरुध्यते	४०
सद्यः पुनन्त्युपस्पृष्टाः	६७
समुद्रनिग्रहादीनि	१८६
समं चरन्तं सर्वत्र	४६३
सम्भूतं षोडशकलं	१४९
स यामाद्यैः सुरगणैः	१७२
सरहस्यो धनुर्वेदः	४२४
सर्पोऽदशत् पदा स्पृष्टः	३५३
सर्वतोमुखमायाति	४१४
सर्ववर्णाश्रमाणां च	२४९
सर्ववेदेतिहासानां	२२१
सर्वात्मकेनापि यदा	२५८
सर्वं तदिदमाख्यातं	३८३
स वेद धातुः पदवीं परस्य	२१४
स वै इदं विश्वममोघलीलः	२०४
स वै निवृत्तिनिरतः	३९९
स वै पुंसां परो धर्मो	८५
स वै भवान् वेद	२७६
स सम्राट् कस्य वा हेतोः	२३७
स संहितां भागवतीं	३९८
सहस्रमूर्द्धश्रवणाक्षिनासिकं	१५८
सहस्रयुगपर्यन्तं	३७८
साधयित्वाजातशत्रोः	४३८
सान्त्वयामास मुनिभिः	४३६
सायं प्रातर्गृणन् भक्त्या	१९१
साऽस्वतन्त्रा न कल्पासीद्	३५१
सीदन्त्या भूरिभारेण	४७१
सुदर्शनेन स्वास्त्रेण	४४३
सुरासुराणामुदधिं	१७८
सूत जानासि भद्रं ते	६४
सूत सूत महाभाग	२२८
सोऽहं वः श्रावयिष्यामि	२२२
संकीर्त्यमानं मुनिभिर्महात्मभिः	३३१
संवादः समभूत् तात	२३५
संसारिणां करुणयाऽऽह	८२
संस्थाञ्च पाण्डुपुत्राणां	४०४
संहत्यान्योन्यमुभयोः	४१६
स्त्रियश्च स्वपुरं यास्यन्	४८७
स्त्रीणां मद्धतबन्धूनां	४९१
स्त्रीपुम्भिदा न तु	२३२
स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां	२५५
स्थित्यादये हरिविरञ्चि-	१२०
स्नात्वा पीत्वा ह्रदे नद्याः	३५६
स्नेहपाशमिमं छिन्धि	४८०
स्पृष्ट्वाऽपस्तं परिक्रम्य	४१६
स्फीताञ्जनपदांस्तत्र	३५४
स्मरन् मुकुन्दाङ्घ्र्युपगूहनं	३१४
स्यान्महत्सेवया विप्राः	१०९
स्वनिर्मितेषु निर्विष्टो	१४१
स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य	१०३
स्वप्राणान् यः परप्राणैः	४१९
स्वमाययावृणोद् गर्भं	४४४
स्वानामनन्यभावानां	४१४
स्वानां मृतानां यत्कृत्यं	४३२
स्वायम्भुव कया वृत्त्या	३४८
स्वां काष्ठामधुनोपेते	७७
हन्तास्मिन् जन्मनि भवान्	३६१

हरेर्गुणाक्षिप्तमतिः	४०२
हित्वावद्यमिमं देहं	३६२
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि	११०
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि	११७

*

।। उपन्यस्तवाक्यानां सूचिपत्रम् ।।

पृष्ठ वाक्य ग्रन्थ
५७ ॐ इति प्रतिपद्यन्ते – शौनकोप. १.
२७ ॐ इत्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम् – माण्डुक्योप. १.
२८ ॐकारो वाऽथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा – नारदपुराण ९।५१।१०.
१७४ अकथितं च – पाणिनिसूत्र १।४।५१.
४६७ अकः सवर्णे – पाणिनिसूत्र ६।१।१०१.
४०८ अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः – पद्मपुराण १।४८।५८.
२५१ अग्निर्होता ... उपवक्ता – तैत्ति.आर. ३।३.
२५६ अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः – मैत्रा.संहिता १।८।६.
१४ अच इत्येके – शाकटायनऊणादिसूत्र ४४२, पाणि.धा.पा. भ्वा.उ.से. ८८७.
२८० अच्युताच्युत मा मैवं व्याहरामित्रकर्षण – महाभारत २।२०।९.
४४ अतप्ततनुः न तदामोश्नुते – तैत्ति.आर. १।११।१.
१२३ अत सातत्यगमने – पाणिनिधातुपाठ भ्वा.प.से. ३८.
२९२ अतोऽन्यदार्तम् – बृहदा.उप. ३।४।२.
२०४ अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः – भग.गीता १५।१८.
५४ अत्र सर्गो विसर्गश्च – भाग.पुराण २।१०।१.
४५ अथवा सर्वरूपत्वाद् नामलीलाविभेदतः – तत्त्वार्थदीपनिबन्ध १।१९.
३४१ अथाकामयमानो योऽकाम – बृहदा.उप. ४।४।६.
२४३ अधीतवान् द्वापरादौ – भाग.पुरा. २।१।८.
२४६ अनागतकथारूपम् – तत्त्वार्थदीपनिबन्ध ३।१।१७.
२९२ अनारम्भो मनुष्याणां प्रथमं बुद्धिलक्षणम् – समयोचितपद्यमालिका ७।३१.
२७४ अनीहया शोचति मुह्यमानः – मुण्डकोप. ३।१।२.
२९६ अनुरक्तो गुणान् ब्रूते विरक्तो दूषणान् यथा – उद्भट?........... .
३१ अनुः लक्षणे – पाणिनिसूत्र १।४।४४.
१५९ अनेकवक्त्रनयनम् – भग.गीता ११।१०.
८ अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च – विवेकधैर्याश्रय १४.
२३९ अभयमभयं भूतेभ्यः – ....
२३९ अमोघवीर्याः हि नृपाः – भाग.पुराण ४।१४।४२.
७७ अयं तु परमो धर्मः – याज्ञ.स्मृति १।१।८.
१९२ अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वाद् – ब्रह्मसूत्र ३।२।१४.
१४ अर्च पूजने – पाणिनिधातुपाठ भ्वा.प.से. २०४.
३३, ९१ अर्थो अभिधेय-रै-वस्तु-प्रयोजन-निवृत्तिषु – अमरकोश ३।३।८६.
१६८ अर्धो वा एषः आत्मनो यत् पत्नी – तैत्ति.ब्रा. ३।३।३।५.
२१२ अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथ को वेद यत आबभूव – ऋक्संहिता १०।१२९।६.
४३८ अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः तस्मिन् यशो निहितं – बृहदा.उप. २।२।३.
४४७ अलौकिकास्तु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत् – महाभारत ६।५।१२.
१४० अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः – ब्रह्मसूत्र १।४।२२.
२१०, ४५० अविज्ञातं विजानतां विज्ञातम् अविजानताम् – केनोप. २।३.
३६६ अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः – पात.योगसूत्र २।४.

३११ अव्यक्तासक्तचेतसाम् – भग.गीता १२।५.
१४७ अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तः – भग.गीता ८।२१.
११९ अष्टादशनिमेषा अस्तु – अमरकोश १।४।१०.
७ असङ्गो ह्ययं पुरुषः – बृहदा.उप. ४।३।१५-१६.
१३, ४९ असावादित्यो देवमधु – छान्दो.उप. ३।१।१.
३६४ अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितम् – बृहदा.उप. २।४।१०.
२४१ अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्ममप्याचरेन्न हि – नारदपुराण १।२४।१२.
४४ अहरहः सन्ध्यामुपासीत – ....
२५ अहं हरे तव पादैकमूलं – भाग.पुराण ६।११।२४.
३९४ आगमोऽर्थः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च – भाग.पुराण ११।१३।४.
१५ आचारेऽर्थे सर्वप्रातिपदिका – द्रष्ट. पाणिनिवार्तिक ३५४३,
(खेमराज श्रीकृष्णदास प्रकाशन).
३१७, ३४१, ४५१ आचार्यवान् पुरुषो वेद – छान्दो.उप. ६।१४।२.
४०८, ४१९ आततायिनमायान्तमपि वेदान्तपारगं जिघांसन्तं – पद्मपुराण १।४८।५७.
५० आत्मकृतेः परिणामाद् – ब्रह्मसूत्र १।४।२६.
२१९ आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति – बृहदा.उप. २।४।५.
४९ आत्मसृष्टेः न वैषम्य-नैर्घृण्यम् – ब्रह्मसूत्र २।१।३४.
४०० आत्मा वाऽरे दृष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः – बृहदा.उप. २।४।५.
४२५ आत्मा वै पुत्रनामासि – कौषी.ब्राह्मणोप. २।११.
५७ आदरादलोपः – ब्रह्मसूत्र ३।३।४०.
२५३ आदित्यो वा एष एतन्मण्डलं तपति – महानारायणोप. १२।२.
३८ आनन्दं ब्रह्मणो रूपम् – ....
९८ आप्तकामात्मकामः – बृहदा.उप. ४।४।६.
४१२ आ ब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन – भग.गीता ८।१६.
४०३ आविर्भावदिने न येन गणितो हेतुस्तनीयानपि – महासुभा.संग्रह ५३८९-१.
३५२ आसन्यस्य हरेर्वापि सेवया देवभावतः – तत्त्वार्थदीपनिबन्ध १।३५.
१५३ आसीज्ज्ञानमयो ह्यर्थः – भाग.पुराण ११।२४।२.
१५४ आसीदुदारगुणवारिधिः – महाभारततात्पर्यनिर्णय १।२.
१५ इकः श्तिपाशपानुबन्धेन निर्दिष्टं – द्रष्ट. पाणिनिवार्तिक ५०९६ (खेम.श्रीकृ.प्रका.).
४ इतीदं द्वादशस्कन्धं पुराणं हरिरेव स – तत्त्वार्थदीपनिबन्ध ३।१।६.
१७ इत्युक्त्वासीद् हरिस्तूष्णीम् – भाग.पुराण १०।३।४६.
१३७ इदं सर्वमसृजत् – तैत्ति.उप. २।६.
१२ इदं भगवता पूर्वम् – भाग.पुराण १२।१३।१०.
४८१ इदं सर्वं यदयमात्मा – बृहदा.उप. २।४।६.
४५४ इन्द्रं नस्त्वाभिषेक्ष्यामः ... गोविन्द इति चाभ्यधाद् – भाग.पुराण १०।२४।२१-२३.
९४ इन्द्रियाणां स्वे स्वे विषये आनुकूल्येन प्रवृत्तिः – कामसूत्र १।२।११.
६३ ईष गति-हिंसा-दर्शनेषु – पाणिनिधातुपाठ भ्वा.प.से. ६१२.
४९ ईक्षतेर्नाशब्दम् – ब्रह्मसूत्र १।१।५.
४३ ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति – भग.गीता १८।६१.
१५ उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचम् – ऋक्संहिता १०।७१।४.
३७८ उत्सङ्गाद् नारदो जज्ञे – भाग.पुराण ३।१२।२३.

४०२ उत्सवाविष्टचित्ताः ये ये चाश्चर्याभिवेशिनः – सुबो.का. १०।५।०।१२.
५५ उवाच निमिषेणेदं निहितं दानवं बलम् अरण्येऽस्मिन् – वराहपुराण ११।१०८.
१५० उष दाहे – पाणिनिधातुपाठ भ्वा.प.से. ६९७.
२१२ ऊतियूतिहेतिसातिकीर्तयश्च – पाणिनिसूत्र ३।३।९७.
१८५ ऋचां मूर्धानं यजुषाम् उत्तमाङ्गं साम्नां शिरो – सांख्यायन.आर. १४।१.
४६७ ऋति सवर्णे ऋ वा – पाणिनिसूत्र. वार्ति. ६।१।१०१.
२८७ एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थः अन्यत्रश्च तथा – लौकिकन्यायसाहस्री २५८.
४८६ एकधा दशधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् – ब्रह्मबिन्दूप. १२.
४३९ एकस्मै या अन्याः इष्टयः – द्रष्ट. पूर्वमी.जैमि.सूत्र.का. ४।३।१०।२५.
३३९ एकस्य तु उभयत्वे संयोगपृथक्त्वम् – जैमि.पूर्वमी.सूत्र ४।३।५.
१५ एकाजुपदेशे अनुदात्ताद् – पाणिनिसूत्र ७।२।१०.
१३५ एका भगवतो मूर्तिर्ज्ञानरूपा शिवामला – कूर्मपुराण पूर्वा. ५१।४०.
१३७ एकोऽहं बहु स्याम् – द्रष्ट. तैत्ति.उप. २।६.
२८ एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति – ऋक्संहिता १।१६४।४६.
१७१ एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति – भग.गीता ५।५.
१३३ एकं साङ्ख्यं च योगं च वेदारण्यकमेव च – महाभारत १२।३३६।७६.
३९० एतद्वै पुरोहविर्देवयजनं यस्य होता प्रातः – तैत्ति.संहिता ६।२।६।१.
१३६, १४८ एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च – मुण्डकोप. २।१।३.
५६ एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति – बृहदा.उप. ४।३।३२.
३११ एतान्यपि तु कर्माणि – भग.गीता १८।६.
२०३ एतावान् अस्य महिमा – ऋक्संहिता १०।९०।३.
३३५ एतैरुपद्रुतो नित्यं जीवलोकः स्वभावजैः – भाग.पुराण ४।२९।४.
१९ एवं वदन्ति राजर्षे – भाग.पुराण १०।७४।३०.
९४ एष उ एव साधु कर्म कारयति – कौषीतकि.उप. ३।८.
३५४ एषा वै देवमनुष्याणां शान्ता दिक् – तैत्ति.ब्रा. २।१।३।५.
३५, ११८ ऐतदात्म्यमिदं सर्वं ... स आत्मा तत्त्वमसि – छान्दो.उप. ६।८।७.
२८ ऐन्द्र्या गार्हपत्यम् उपतिष्ठत – मैत्रायणीसंहिता १।५।११.
४४४ औषधे त्रायस्वैनमिति स्वधीतिं तिर्यञ्चं निदधाति – बोधायनश्रौतसूत्र ६।२.
३०२ अंशो नाना व्यपदेशाद् – ब्रह्मसूत्र २।३।४३.
१३६ कदाचित् पुरुषद्वारा कदाचित् पुनरन्यथा – तत्त्वार्थदीपनिबन्ध १।३६.
३९१ कपालानि चाग्नहोत्रहवणी च शूर्पं च कृष्णाजिनं च – तैत्ति.संहिता १।६।८।३.
२८० करिष्ये वचनं तव – भग.गीता १८।७३.
२९२ कर्मण्यकर्म यः पश्येद् – भग.गीता ४।१८.
५७ कर्मण्यस्मिन्ननाश्वासे – भाग.पुराण १।१८।११.
४५, ३२१ कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः – भग.गीता १७।६.
६२ कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणाः – भाग.पुराण १२।५।३८.
२१४ कर्मगुणप्रवाह ... गतिर्वय – भाग.पुराण २।१।३३.
४९ कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः – ब्रह्मसूत्र १।४।१०.
३६१ कषायपक्तिः कर्माणि – द्रष्ट. शांक.भाष्य ३।४।२६.
३४१ कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते – द्रष्ट.महाभारत १२।२७०।३८.
३९८ कस्मै येन – भाग.पुराण १२।१३।१९.

४२१ कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते – मनुस्मृति ११।८९.
९४ कामाः फलभूताश्च धर्मार्थयोः – कामसूत्र १।२।३७.
३९४ कात्स्न्येन अनभिव्यक्तत्वाद् – ब्रह्मसूत्र ३।२।३.
१०५ काल-देश-द्रव्य-कर्तृ-मन्त्र-कर्मविभेदतः – तत्त्वार्थदीपनिबन्ध २।४०.
१४७ कालरूपोऽवतीर्णः – भाग.पुराण १।१३।४८.
३७० कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगः – पाणिनिसूत्र २।३।५.
५८ कालेनाग्रहणं दृष्ट्वा पुराणस्य ततो नृपाः – मत्स्यपुराण ५३।८.
३५२ कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् – भग.गीता ११।३२.
१०९ किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा – भाग.पुराण २।४।१८.
२३३ कीटवत् पर्यटेन्महीम् – ....
३१४ कृत्रिमेऽपि हि वैकुण्ठमुक्तिरेव तथापि तु – तत्त्वार्थदीपनिबन्ध ३।३।१३०.
३० कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा – ब्रह्मसूत्र २।१।२६.
४१ कृपालुरकृतद्रोहः – भाग.पुराण ११।११।२६.
२, ४८४ कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः – गोपालपूर्वतापि.उप. १।१.
४५५ को ह्यन्यः पुण्डरीकाक्षात् महाभारतकृद् भवेद् – पद्मपुराण १।१।४४.
३०३ कैवर्ते दाश-धीवरौ – अमरकोश १।१०।१५.
१२ कैवल्यैकप्रयोजनम् – भाग.पुराण १२।१३।१२.
३३३ कं ब्रह्म खं ब्रह्म – छान्दो.उप. ४।१०।५.
४५, ३२१ कः क्षेमो निजपरयोः कियान् वार्थः स्वपरद्रुहा – भाग.पुराण ६।१६।४२.
९ क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः – पाणिनिसूत्र २।३।१४.
४८१ क्रीडार्थमात्मनः इदं त्रिजगत् कृतं ते – भाग.पुराण ८।२२।२०.
१७८ क्लेशभाजो भविष्यन्ति दैत्या यूयं फलग्रहाः – भाग.पुराण ८।६।२३.
३४० खादिरे बध्नाति – ....द्रष्ट. शाब.भा. २।२।६।१७.
३४० खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्याद् – ....द्रष्ट. शाब.भा. ४।३।३।५-७.
७० गङ्गा-प्रयाग-गय-पुष्कर-नैमिषाणि – कृष्णामृतमहार्णव ९६.
२९ गायत्र्याभिमन्त्रिता आप ऊर्ध्वं विक्षिपन्ति – तैत्ति.आर. २।२.
१५ गुणो यङ्लुकोः – पाणिनिसूत्र ७।४।८२.
६३ गुरोश्च हल – पाणिनिसूत्र ३।३।१०३.
३७४ गृहस्थाश्रमं कुरु त्वम् – द्रष्ट. ब्रह्मवै.पुराण १।२४।१६.
३३१ ग्रीष्मो मेषवृषौ प्रोक्तः – भावप्रकाश १।५।३२४.
३६७, ४६१ चक्राङ्कितस्य नामानि सदा सर्वत्र कीर्तयेद् – पद्मपुराण ५।८४।४५.
३२३ चतुरो मासान् वार्षिकान् ग्रामे वा – कठ. ...... द्रष्ट. संन्यासोप. १.
२५१ चतुर्होतृभ्योऽधियज्ञो निर्मितः – तैत्ति.ब्रा. ३।१२।५।१.
६६ चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वाद् – ब्रह्मसूत्र ४।४।६.
२५१ चित्तिः स्रुग् ... सामाध्वर्युः – तैत्ति.आर. ३।१.
८९ चित्रया यजेत पशुकामः – तैत्ति.संहिता २।४।६।१.
९१ चोदनालक्षणो अर्थो धर्मः – जैमि.पूर्वमी.सूत्र १।१।२.
३७२ जनेनाभिमतो योगी योगसिद्धिं न विन्दति – नारदपरि.उप. ५।२९.
२५ जज्ञे त्वष्टुर्दक्षिणाग्नौ – भाग.पुराण ६।१७।३८.
४६१ जन्मकर्मावदातानाम् – भाग.पुराण ७।११।१३.
६, ३१८ जन्माद्यस्य यतः, शास्त्रयोनित्वात् – ब्रह्मसूत्र १।१।२, ३.

३०१ जन्मान्तरसहस्रेषु तपोज्ञानसमाधिभिः — पाण्डवगीता ४१.
४७१ जातः कंसवधार्थाय — मध्व.जयन्तीकल्प १०.
४७४ जायस्व म्रियस्व — छान्दो.उप. ५।१०।८.
१९९ जीवो जीवेन निर्मुक्तः — भाग.पुराण ११।२५।३६.
३४० ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते — भग.गीता ४।३७.
३६, ३९५ ज्ञानिनामपि चेतांसि — देवीभागवत ५।२३।१४, मार्क.पुराण १।५५-५६.
४६३ ज्ञानी प्रियतमो मतः — भाग.पुराण ११।१९।३.
४६ ज्ञाने प्रयासमुदपास्य — भाग.पुराण १०।प्र. ३ (=१४)।३.
१८७ ञ्यादयस्तद्राजा — पाणिनिसूत्र ५।३।११९.
१२३ डुदाञ् दाने — पाणिनिधातुपाठ जुहो.उ.अ. १११६.
४८६ णु स्तुतौ — पाणिनिधातुपाठ अदादि.प.से. १०६०.
४३६ तच्चरणपङ्कजावने जनाऽरुणकिञ्जल्कोपरञ्जिता — भाग.पुराण ५।१७।१.
३७५ तडितोऽधि वरुणः सम्बन्धाद् — ब्रह्मसूत्र ४।३।३.
३७५ तडिदिव पीते रसविपरीते घनइव तरलबलाके — गीतगोविन्द ५।११।५.
३७५ तडिदिव पीतः प्रादुरासीद् — ....
३७८ ततोऽवतीर्य विश्वात्मा देहमाविश्य चक्रिणः — कूर्मपुराण १।१०।९.
२८ तत्सवितुर्वरेण्यमित्याह प्रसूत्या — तैत्ति.संहिता १।५।८।४.
२२६, २४६ तत्सर्वं भावि हृद्गतम् — तत्त्वार्थदीपनिबन्ध ३।१।१६.
२३२ तत्र एनं घ्नन्तीव जिनन्तीव — बृहदा.उप. ४।३।२०.
४३९ तत्र सर्वेऽविशेषाद् — पूर्वमी.जैमि.सूत्र ४।३।२७.
४६९ तत्रांशेनावतीर्णस्य — भाग.पुराण १०।१।२.
२९७ तत्रैवं शक्यते वक्तुं येऽन्धपङ्ग्वादयो नराः — तन्त्रवार्तिक १।३।४.
१७४ तथा युक्तं चानीप्सितम् — पाणिनिसूत्र १।४।५०.
४१ तदर्थेऽखिलचेष्टितम् — भाग.पुराण ११।३।२७.
४५७ तदस्त्रं देवगन्धर्वयक्षपन्नगराक्षसान् — महाभारत ७।२११८।१.
२९८ तद्धेतोरेवास्तु किं तेन — लौकिकन्यायसाहस्री ३९.
३६८, ४४३ तद्धैतान् भूत्वा अवति — शतपथब्रा. १०।५।२।२०.
१८७ तद्राजस्य बहुषु — पाणिनिसूत्र २।४।६२.
१५१ तन्मायाफलरूपेण — भाग.पुराण ११।२४।३.
३७ तमिमं मन्यते लोको ह्यसङ्गमपि सङ्गिनम् — भाग.पुराण १।११।३७.
२०० तमुत्क्रामन्तं प्राणो अनूत्क्रामति — बृहदा.उप. ४।४।२.
३६७ तमेतमग्निरित्युपासतेऽध्वर्यवः ... तस्माद् एवंवित् सर्वैरेव — शतपथब्रा. १०।५।२।२०.
२८८ तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः — बृहदा.उप. ४।४।२१.
२८६, ३९५ तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति — श्वेताश्व.उप. ६।१५.
३६६ तमो मोहो महामोहस्तामिस्रोऽन्धतामिस्रः — व्यासभाष्य १।८.
४३९ तरति मृत्युं तरति पाप्मानं तरति ब्रह्महत्याम् — मुण्डकोप. ३।२।९.
२७४ तरति शोकम् आत्मवित् — छान्दो.उप. ७।१।३.
४४ तस्माद् ब्राह्मणेन म्लेच्छितवै नापभाषितवै — द्रष्ट. पातं.महाभा. १।१।१.
२९, ३४, १४८ तस्माद्वा एतस्माद् आत्मनः आकाशः सम्भूतः — तैत्ति.उप. २।१.
४४ तस्माद् भारत सर्वात्मा ... श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च — भाग.पुराण २।१।५.
९ तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहम् — भाग.पुराण १०।२५।१८.

३३५ तस्मिन् महन्मुखरिता मधुभिच्चरित्र – भाग.पुराण ४।२९।३.
१६ तस्याग्निरास्यं निर्भिन्नं लोकपालोऽविशत् पदं – भाग.पुराण ३।६।१२.
३०१ तावत् कर्माणि कुर्वीत – भाग.पुराण ११।२०।९.
३७१ तुलामकरमेषेषु प्रातः स्नायी भवेन्नरः – पद्मपुराण ६।११०।२५.
१२४ तं यथा यथोपासते – मुद्गलोप. ३।३.
३१० तं भजेद् तं रसेद् – गोपालतापि.पू.उप. २।१.
३७३ त्रिदुःखसहनं धैर्यम् – विवेकधैर्याश्रय ६.
५५ त्रिवृतः संवत्सराः – आपस्तम्बश्रौतसूत्र २३।११।११.
६८ त्रिः स्वाध्यायं वेदमधीयीत, त्रिरात्रं वा सावित्रीं – तैत्ति.आर. २।१६.
५० त्रैगुण्यविषयाः वेदाः – भग.गीता २।४५.
२५ त्वष्टाहवनीयम् उप प्रावर्तयत् स्वाहेन्द्रशत्रुर्वर्धस्व – तैत्ति.संहिता २।५।२।१.
२५१ त्वं वै मे नेदिष्ठं हूतः प्रत्यश्रौषीः – तैत्ति.ब्रा. २।३।११।४.
३७४ त्वं स्त्रीकामो दासीसुतश्च भविता – ब्रह्मवै.पुराण ....
३३९ दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात् – तैत्ति.ब्रा. २।१।५।६.
३३९ दध्ना जुहोति – आपस्तम्बश्रौतसूत्र ६।२५.
३८९ दध्मौ दरवरं तेषां विषादं शमयन्निव – भाग.पुराण १।११।१.
२५१ दशहोता चतुर्होता पञ्चहोता षड्ढोता सप्तहोता – तैत्ति.ब्रा. २।२।३।२.
३०२ दाशकितवादिकमप्यधीयत एके – ब्रह्मसूत्र २।३।४३.
२१ दूतानामिव वर्णितम् – जलभेद १८.
८१ दूराद्धूते च – पाणिनिसूत्र ८।२।२४.
२०६ दृष्टे सम्भवति अदृष्टकल्पनायाः अन्याय्यत्वं – द्रष्ट. लौकिकन्यायसाहस्री ५५९.
१२४ देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि – भग.गीता ७।२३.
३०९ देवानां प्रियः इति च मूर्खः – पाणिनिसूत्र ५।३।१४.
८९ देवांश्च याभिर्यजत – तैत्ति.ब्रा. २।४।६।९.
८९ देविका निर्वपेत् प्रजाकामः – तैत्ति.संहिता ३।४।९।१.
५६ देवेभ्यो वै स्वर्गो लोकस्तिरोऽभवद् – तैत्ति.ब्रा. ३।१२।२।१.
३७, ३७७ देहेन्द्रियासुहीनानां वैकुण्ठपुरवासिनाम् – भाग.पुराण ७।१।३४.
४०८ दैव्यो वै वर्णो ब्राह्मणः असुर्यः शूद्रः – तैत्ति.ब्रा. १।२।६।७.
४८७ द्यूतं च मांसं च सुरा च वेश्या पापर्द्धि चौर्यं – बुद्धभूषण ३।४१.
१०५ द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञाः – भग.गीता ४।२८.
४५ द्रव्यस्य शुद्ध्यशुद्धी च द्रव्येण वचनेन च – भाग.पुराण ११।२१।१०.
१३ द्वात्रिंशत्त्रिंशतं च यस्य विलसच्छाखा – श्रीधरी १।१।०।७.
२४३ द्वापरौ युगसंशयौ – अमरकोश ३।३।६८५.
१९९ द्वा सुपर्णा सयुजा सखायौ – मुण्डकोप. ३।१।१.
६७ द्वितीयाद् वै भयं भवति – बृहदा.उप. १।४।२.
२४३ द्वैधमुत्पद्यते चैव युगे तस्मिन् श्रुतौ – मत्स्यपुराण ......द्रष्ट. वायुपुराण १।५८।६.
४०२ द्वैपायनात् शुको जज्ञे भगवानेव शङ्करः – कूर्मपुराण १।१९।२५.
४०६ द्वौ सम्मताविहमृत्यू – भाग.पुराण ६।१०।३३.
२६० धन्वन्निव प्रपा असि – ऋक्संहिता १०।४।१.
९३ धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते – महाभारत १८।५।४९.
१०५ धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा – तैत्ति.आर. १०।६३.

४१, १०५ धर्मो सम्पद्यते षड्भिः ह्यधर्मो ह्यन्यथा – तत्त्वार्थदीपनिबन्ध २।४१.
४३६ धातुः कमण्डलुजलम् – भाग.पुराण ८।२१।४.
४०८ न आततायिवधे दोषो अन्यत्र गौब्राह्मणाद् – द्रष्ट. मिताक्ष.व्यव.अध्या. २१.
९९ न जातु कामः कामानाम् उपभोगेन शाम्यति – भाग.पुराण ९।१९।१४.
२२९ न निर्धारणे – पाणिनिसूत्र २।२।१०.
२९८, ३६७ न निर्विण्णो नातिसक्तः भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः – भाग.पुराण ११।२०।८.
२५९ न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन – भग.गीता ३।२२.
४८५ नमो नम एतावत् सदुपशिक्षितम् – भाग.पुराण ५।३।४.
३१२ नवमस्थाने शनीश्वरो भवति चेत् तदा वैकुण्ठाद् – .... (जातक).
३२६ न शूद्राय मतिं दद्याद् नोच्छिष्टं न हविष्कृतम् – मनुस्मृति ४।८०.
१५४ न स पुनरावर्तते – बृहज्जाबालोप. ६।२.
६२ न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् – भग.गीता ३।५.
३९५ न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते – भग.गीता ४।३८.
६५ न हि दृष्टे अनुपपन्नं नाम, व्याघाताद् – लौकिकन्यायसाहस्री १६०.
२०३ न हि विरोध उभयम् – भाग.पुरा. ६।९।३६.
५९ न ह्येकस्माद् गुरोर्ज्ञानं शिक्षितं स्यात् सुपुष्कलम् – भाग.पुराण ११।९।३१.
५७ नाडिकाः षट्पञ्चाशत् प्रातः – ....
२४३ नानुपलब्धेन निर्णीते अर्थे न्यायः प्रवर्तते – न्यायवार्तिकतात्पर्य १।२।९.
२९१ नान्तोऽस्ति मम दिव्यानाम् – भग.गीता १०।४.
४६३ नासदासीत् नो सदासीत् तदानीं – ऋक्संहिता १०।१२९।१.
३८९ नित्यं निरीक्ष्यमाणानां यदपि द्वारकौकसां – भाग.पुराण १।११।२५.
३३ निमित्तात् कर्मयोगः – पाणिनिसूत्रवार्तिक २।३।३६.
१२१ निर्गुणस्य गुणास्त्रयः – भाग.पुराण २।५।१८.
३२४ निर्दोषं हि समं ब्रह्म – भग.गीता ५।१९.
२८२ निवृत्ततर्षैः उपगीयमानाद् – भाग.पुराण १०।१।४.
३८९ निशम्य भीष्मोक्तमथाऽच्युतोक्तं – भाग.पुराण १।१०।३.
३० निष्कलं निष्क्रियं शान्तम् – श्वेताश्व.उप. ६।१९.
३६४ निःश्वसितम् अस्य वेदाः – द्रष्ट. भामती १।१।१.
८९ नैमित्तिके विकारत्वात् क्रतुप्रधानम् अन्यत् स्यात् – जैमि.पूर्वमी.सूत्र ४।३।४.
३०२ न्यासादेशेषु धर्मत्यजनवचनतः – न्यासादेश १.
४६१ पतितः स्खलितः – भाग.पुराण १२।१२।४६.
४२९ परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः – न्यायकुसु. ३।८.
५३ परस्परं त्वद्गुणवादसीधु-पीयूषनिर्यापितदेहधर्मा – भाग.पुराण ३।२१।१७.
१९६, ४४९, ४५१ पराञ्चि खानि व्यतृणोत् स्वयम्भूः – कठोप. २।१।१.
११७ पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ – ब्रह्मसूत्र ३।२।५.
६ पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते – श्वेताश्व.उप. ६।८.
१८ परोक्षं च मम प्रियम् – भाग.पुराण ११।२१।३५.
१६६ पशूनां वा एष मन्युर्यद् वराहः – तैत्ति.ब्रा. १।७।९।४.
१५ पर्याप्तिवचनेषु अलमर्थेषु – पाणिनिसूत्र ३।४।६६.
३३१ पक्षा वै मासा – संन्यासोप. १.
१५७ पातालमेतस्य हि पादमूलम् – भाग.पुराण २।१।२६.

४०६ पार्थास्त्रपूताः पदमापुरस्य – भाग.पुराण ३।२।२०.
४४९ पिताऽहम् अस्य जगतः – भग.गीता ९।१७.
४७० पित्रोः सम्पश्यतोः सद्यः – भाग.पुराण १०।३।४६.
५८ पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम् – मत्स्यपुराण ३।३.
२२, ३४ पुराणं हृदयं स्मृतम् – देवीभागवत ११।१।२१.
१२९ पुरा कृतयुगे – रामायण १।१८।१८.
५६ पुरा विश्वसृजां वसूनाम् – भाग.पुराण ४।२।४.
३४१ पुरुषार्थोऽतः शब्दाद् – ब्रह्मसूत्र ३।४।१.
३९० पुरोहविषि देवयजने याजयेद् – तैत्ति.संहिता ६।२।६।१.
१५० पुरः पुरुषः आविशद् – बृहदा.उप. २।५।१८.
२४०, २८३ पुंसां किलैकात्मधियाम् – भाग.पुराण ६।११।२२.
२५१ पृथिवी होता .... रूपवक्ता – तैत्ति.आर. ३।२.
६३, २८० प्रकरणेन विधयो बद्ध्यन्ते – आप.श्रौ.सूत्र २४।२।२७.
९४ प्रजापतिः अमृतमानन्द इत्युपस्थ – तैत्ति.उप. ३।१०।३.
४३ प्रतिलयवाग् या – ....
४३५ प्रत्तं जलं त्र्यञ्जलमात्मजेन प्रेतस्य तापं प्रशमं करोति – ....
४१ प्रथमान्यासन् – यजुस्संहिता ३१।१६.
३७१ प्रयागे वपनं कुर्यात् – नारदपुराण उ. ६३।१०५.
२३३ प्रव्रजेत् कीटवत् – ....
७९ प्रा पूरणे – पाणिनिधातुपाठ अदादि.प.अ. १०८६.
६८ प्रायश्चित्तानि चीर्णानि – भाग.पुराण ६।१।१८.
६४ प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च – पाणिनिसूत्र ३।३।१७१.
८१ प्लुतप्रगृह्या – पाणिनिसूत्र ६।१।१२५.
२०५ फलमतः उपपत्तेः – ब्रह्मसूत्र ३।२।३८.
१०६ बहुलं छन्दसि – पाणिनिसूत्र २।४।७३.
२८७ बहूनाम् अनुग्रहो न्याय्यः – लौकिकन्यायसाहस्री ३६५.
३०२, ४७६ ब्रह्म दाशा ब्रह्म कितवा – अथर्वपीप्पलादसंहिता ८।९।१०.
२४१ ब्रह्मभावात्तु भक्तानां गृहएव विशिष्यते – तत्त्वार्थदीपनिबन्ध १।५१.
३०८ ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति – भग.गीता १८।५४.
२६३ ब्रह्मवर्चसाद् उपसङ्ख्यानम् – पाणिनिवार्तिक ५।१।३९.
२७५ ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति – मुण्डकोप. ३।२।९.
४४६ ब्रह्मास्त्रस्य च ब्रह्मास्त्रम् – भाग.पुराण १०।६६।१३.
३४१ ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति – बृहदा.उप. ४।४।६.
१६७ ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः – ऋक्संहिता १०।९०।१२.
११७, ३३३, ३४५ भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि – भग.गीता १८।५५.
२६, ५१ भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया – भाग.पुराण २।२।३४.
३०४ भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति – भाग.पुराण ५।६।१८.
२४, २९, ४० भर्जयति अखिलाविद्याम् – ....
१७ भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मना क्वचिद् – भाग.पुराण १०।४४।२६.
२१७ भवत्पदाम्भोरुहनावम् – भाग.पुराण १०।२।३१.
१० भाषास्तु त्रिविधा प्रोक्ता – वेदव्यास ?........ .

५३ भुवश्च – पाणिनिसूत्र ४।१।४७.
२७६ भूतानि विष्णोः सुरपूजितानि – भाग.पुराण ६।३।१८.
६६ भू सत्तायाम् – पाणिनिधातुपाठ भ्वादि. १.
३० भूर्भुवः स्वस्तथापूर्वं स्वयमेव स्वयम्भुवा – .... याज्ञवल्क्यनिरुक्ति.
५३ भूष्णुर्भविष्णुर्भविता – अमरकोश ३।२३.
५४ भ्रमतोऽधर्मचक्रस्य यत्र नेमिरशीर्यत, कर्मणा तेन विख्यातं – वायुपुराण १।२।७.
४०५ भ्रातृणामेकजातानाम् – मनुस्मृति ९।१८१.
३५२ मत्तएव पृथग्विधाः – भग.गीता १०।५.
८५ मद्गुणश्रुतिमात्रेण – भाग.पुराण ३।९।११.
५७ मध्यमो ह्येष सूतानां क्षत्रधर्मोपजीवनम् – वायुपुराण १।१।३२.
२३२ मन एव मनुष्याणां पूर्वरूपाणि शंसति भविष्याणि च – भाग.पुराण ४।२९।६६.
४६२ मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम् – भाग.पुराण ११।२५।२४.
२४१ मन्वन्तरं तु दिव्यानां युगानाम् एकसप्ततिः – ब्रह्मवैवर्तपुराण १।५।७.
१४७ मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहं – भग.गीता १४।३.
१५२ ममायतनमुत्तमम् – भाग.पुराण ११।२४।९.
१०४ ममैव कामो भूतानाम् – भाग.पुराण ६।४।४४.
९८ मस्कर-मस्करिणौ वेणु-परिव्राजकयोः – पाणिनिसूत्र ६।१।१५४.
१० मह पूजायाम् – पाणिनिधातुपाठ भ्वा.प.से. ७३१.
३३२ महात्मानस्तु मां पार्थ – भग.गीता ९।१०.
२३९ महापुरुषपूजायाः – भाग.पुराण ६।१८।७३.
२५१ महाहविः ... उद्गाता – तैत्ति.आर. ३।५.
१८ महार्हवैडूर्य- – भाग.पुराण १०।३।१०.
३६, ३९६, ४८२ मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते – भग.गीता ७।१४.
२६ माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः स्नेहो भक्तिः – नारदपञ्चरात्र ..... .
१८३ मुक्ता अपि लीलाविग्रहं कृत्वा भजन्ते – ....
२८२ मुनिर्विवक्षुः – भाग.पुराण ३।५।१२.
२४२ मृतेऽण्ड एष एतस्मिन् यदभूत् ततो मार्तण्डः – भाग.पुराण ५।२०।४४.
२७९ यच्चावहासार्थम् – भग.गीता ११।४२.
४४, ३३९ यजेत स्वर्गकामः – आपस्तम्बश्रौतसूत्र १०।२।१.
३५, २५० यज्ञो वै विष्णुः – तैत्ति.संहिता १।७।४।५, तैत्ति.ब्रा. १।२।६।१.
६, २९ यतो वा इमानि भूतानि – तैत्ति.उप. ३।१.
७, ३६१ यतो वाचो निवर्तन्ते – तैत्ति.उप. २।४.
२८८, ३११, ३३६ यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् – भग.गीता ९।२७.
३९२ यत् त्रिराचामति तेन ऋचः प्रीणाति – तैत्ति.आर. २।११.
२४६ यत्पुण्यं नक्षत्रम् – तैत्ति.ब्रा. १।५।२।१.
२२, ३१ यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद् यद् यथा यदा – भाग.पुराण १०।८२।४.
५५ यत्राऽस्य शीर्यते नेमिः – शिवपुराण ७।१।३।५३.
३४१ यथाकारी यथाचारी तथा भवति – बृहदा.उप. ४।४।५.
३४ यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुल्लिंगाः व्युच्चरन्ति – बृहदा.उप. २।१।२०.
३३७ यथा हि पुरुषाः छिन्द्यात् वृक्षं परशुना वने – महाभारत ५।३२।१४.
३२ यदस्ति यन्नास्ति – विष्णुपुराण २।१२।३८.

४, ७७ यदा यदा हि धर्मस्य – भग.गीता ४।७.
३९१ यदि परस्तराम् अपक्षायेद् – तैत्ति.ब्रा. ३।७।१।४.
२९२ यदेकमव्यक्तमनन्तरूपम् – महानारायणोप. १।५.
३, २७, ९०, ४२६ यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा वा – छान्दो.उप. १।१।१०.
९, २३९ यद्यदाचरति श्रेष्ठः तत्तदेवेतरो जनः – भग.गीता ३।२१.
३३८ यन्नः स्वधीतं गुरवः प्रसादिता – भाग.पुराण ४।३०।३९.
२९७ यवैः यजेत – आप.श्रौ.सूत्र ६।३१।१३.
२६६ यस्मात् क्षरादतीतोऽहं अक्षरादपि चोत्तमः – भग.गीता १५।१८.
११७ यस्मिन् ज्ञाते सर्वम् इदं विज्ञातं भवति – बृहदा.उप. २।४।५.
९ यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ – श्वेताश्व.उप. ६।२३.
२११, ४५० यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः – कठोप. १।२।२५.
२८७ यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु – नारदपुराण पू. १७।१०८.
८९ यस्याग्निर्गृहान् दहति सोग्नये क्षामवते – तैत्ति.संहि. २।२।२।५.
३९१ यस्याहिताग्नेः अग्निः अपक्षायेद् – तैत्ति.ब्रा. ३।७।१।३.
४८८ यक्ष्यमाणोऽश्वमेधेन ज्ञातिद्रोहजिहासया – भाग.पुराण १।१२।३२.
२५६ यावज्जीवम् अग्निहोत्रं जुहुयात् – वाराह श्रौ.सूत्र १।१।१।८६.
५५ यावत्सत्रं समाप्यते – भाग.पुराण १०।७५।३०.
३४५ यावान् यश्चास्मि यादृशः – भाग.पुराण ११।११।३३.
१४९ युक्तं भगैः स्वैरितरत्र चाध्रुवैः – भाग.पुराण २।९।१६.
३१५ ये अनिमित्तनिमित्तेन धर्मेण आराधयन् हरिं – भाग.पुराण ३।१५।१४.
१०६ येषां न तुष्टो भगवान् – भाग.पुराण ३।१३।१३.
३८२ योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः – पात.योगसूत्र १।२.
११९ योऽन्यथा सन्तमात्मानम् अन्यथा प्रतिपद्यते – महाभारत १।६८।२६.
२२, ३४, ३६ यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं – श्वेताश्व.उप. ६।१८.
२१८, ३३०, ४०७ यो यच्छ्रद्धः स एव स – भग.गीता १७।३.
६ यो वाचि तिष्ठन् – शतपथब्रा. १४।६।७।२२.
४०१, ४८२ य एतस्मिन् महाभागाः प्रीतिं कुर्वन्ति मानवाः – भाग.पुराण १०।८।१९.
१३६ रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा – भग.गीता १४।१०.
२१९ रतिर्देवादिविषया 'भाव' इत्यभिधीयते – तत्त्वार्थदीपनिबन्ध १।४२.
४२ रसो वै सः – तैत्ति.उप. २।७.
२४० राज्ञां वृत्तिं करादानदण्डशुल्कादिदारूणां – भाग.पुराण ४।२४।६.
४३६ रोदनप्रियाः पितरः – ....
५३ लषपतपदस्थाभूवृष – पाणिनिसूत्र ३।२।१५४.
३५३ लालयेत् पञ्चवर्षाणि दशवर्षाणि ताडयेत् – चाणक्यनीति १।१३.
१२ लोकवत् तु लीला कैवल्यम् – ब्रह्मसूत्र २।१।३३.
६३ लोट् च – पाणिनिसूत्र ३।३।१६२.
४०८ वधाहते ब्राह्मणस्य न वधं ब्राह्मणोऽर्हति – नारदस्मृति १४।८.
४६९ वन्दामहे मलयमेव यदाश्रयेण – भर्तृ.नीतिशतक ८०.
३२२ वर्षासु ध्रुवशीलो अष्टौ एकाकी यतिः चरेत् – आरुणि.उप. ४.
४५४ वसतीवरी... – तैत्ति.संहिता ६।४।२।२.
२५१ वाग्घोता ... जुहोमि – तैत्ति.आर. ३।६.

८१ वाग् वै देवेभ्यो अपाक्रमद् यज्ञाय आतिष्ठमाना – तैत्ति.संहिता ६।१।४।१.

४५ वाङ्मात्रमेव प्रमाणम् ; 'वह्निः अनुष्णः' – तत्त्वार्थदीपनिबन्ध प्रका. १।१९.

१६० वाचं धेनुम् उपासीत – बृहदा.उप. ५।८।१.

९० विदुषः कर्मसिद्धिः स्यात् तथा नाविदुषो भवेत् – भाग.पुराण १०।२४।६.

३९३ विद्ययामृतमश्नुते – ईशा.उप. ४।११.

४६१ विद्यामदो धनमदः तृतीयोऽभिजनमदः – महाभारत ५।३४।४५.

३९४ विद्याविद्ये हरेः शक्तीः माययैव विनिर्मिते – तत्त्वार्थदीपनिबन्ध १।३१.

१०५, ३०७ विधर्मः परधर्मश्च ... धर्मबाधो विधर्मः – भाग.पुराण ७।१५।१२, १३.

३६६ विपर्ययो मिथ्याज्ञानम् अतद्रूपप्रतिष्ठम् – पात.योगसूत्र २।३.

१२ विप्रोऽधीत्याप्नुयात् प्रज्ञाम् – भाग.पुराण १२।१२।६४.

२७० विप्राः पश्चिमबुद्धयः – ....

१८९ विलोक्य विघ्नेशविधिं तदेश्वरो – भाग.पुराण ८।७।८.

१३६ विशुद्धसत्त्वं तव धाम – भाग.पुराण १०।२४।४.

१५८ विश्वतश्चक्षुः उत विश्वतो मुख – श्वेताश्वतरोप. ३।३.

५५ विश्वसृजः प्रथमाः सत्रमासते – तैत्ति.ब्रा. ३।१२।९।७.

४२६ विषमधिया रचितो यः स ह्यविशुद्धः – भाग.पुराण ६।१६।४१.

११७ विषयाविष्टचित्तानां विष्ण्वावेशस्तु दूरतः – ....

४५५ विष्णवे सर्वाधिपतये स्वाहा – लौगाक्षिगृह्यसूत्र ....

१४९ विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यानि – सात्वततन्त्र ....

२३७ विसृजति हृदयं न यस्य – भाग.पुराण ११।२।५५.

२९७ व्रीहिभिः यजेत – आप.श्रौ.सूत्र ६।३१।१४.

४०६ वृको दशविधः प्राणः उदरे यस्य तिष्ठति – ....

९३ वेदोऽखिलो धर्ममूलम् – मनुस्मृति २।६.

५ वेदो नारायणः साक्षात् – भाग.पुराण ६।१।४०.

२८, ३६ वेद प्रणव एवाग्रे – भाग.पुराण ११।१७।११.

३१५ वैकुण्ठः कल्पितो येन – भाग.पुराण ८।५।४.

५७ वैन्यस्य हि पृथोर्यज्ञे वर्तमाने महात्मनः – वायुपुराण १।१।२८.

८१ वैष्णवाः वै वनस्पतयः – तैत्ति.संहिता ५।६।९।३.

१५० व्यत्ययो बहुलम् – पाणिनिसूत्र ३।१।८५.

४५ व्यवहारः सन्निपातो गुणानां स च लौकिकः – भाग.पुराण ११।२।५६.

२४३ व्यासः षट्शतवर्षीयो धृतराष्ट्रमजीजनद् – ....

४५८ शक्तिहस्तं पुनः कर्णं को लोकेऽस्ति पुमानिह – महाभारत ७।१८०।१३.

१८ शक्तीनां निर्भयत्वाय एते देवाः साक्षिणः – सुबोधिनी १०।१८।१.

२८१ शब्दचित्रं वाच्यचित्रम् अव्यङ्ग्यन्तु अवरं स्मृतम् – काव्यप्रकाश १।४।५.

२८७ शब्द इति चेद् – ब्रह्मसूत्र १।३।२८.

१०५ शमो दमः तपः शौचम् – भग.गीता १८।४२.

१३ शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः – वेदान्तदर्शन १।४।१.

९९ शरीरस्थितिहेतुत्वाद् आहारसधर्माणो हि कामाः – कामसूत्र १।२।३७.

१४, ५३ शास्त्रे स्कन्धे प्रकरणेऽध्याये वाक्ये पदेऽक्षरे – तत्त्वार्थदीपनिबन्ध ३।१।२.

४३८ शिरो वा एतद् यज्ञस्य यद् हविर्धानं – तैत्ति.संहिता ६।२।११।१.

४५ शुद्ध्यशुद्धी विधीयेते समानेष्वपि वस्तुषु – भाग.पुराण ११।२१।३.

९०   शुद्धः कर्म आचरेत् – भाग.पुराण ११।२१।१४.
३११, ३३६   शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः – भग.गीता ९।२८.
१०६   शृणुयाच्छ्रावयेद् – भाग.पुराण ४।२३।३७.
२७६   शेषाद् विभाषा – पाणिनिसूत्र ५।४।१५४.
२८६   शैवान् पाशुपतान् स्पृष्ट्वा लोकयतिक-कापिलान् – द्रष्ट. ब्रह्मा.पुरा.मिताक्ष. ५।३०.
१९   श्रुतं द्वैपायनमुखाद् नारदाद्देवलादपि – भाग.पुराण ६।१४।९.
५०   श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वाद् – ब्रह्मसूत्र २।१।२७.
१७४, ४९०   श्रेयः प्रजापालनमेव राज्ञाम् – भाग.पुराण ४।२०।१४.
४२०   सगृहः सपशुः सुवर्गं लोकमेति – तैत्ति.संहिता ३।५।४।३.
१३७   सच्च त्यच्चाभवद् – तैत्ति.उप. २।६.
४४   सत्याद् न प्रमदितव्यं, कुशलाद् न प्रमदितव्यम् – तैत्ति.उप. ११।१.
१७५   सत्यानृतं तु वाणिज्यम् – भाग.पुराण ७।११।२०.
४४   सत्यं च ब्रह्मचर्यं च अहिंसां च यत्नेन परिरक्षेद् – आरुणि.उप. ३.
११६, १२४   सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम् – भग.गीता १४।१७.
८७, ३३२   सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितम् – भाग.पुराण ४।३।२३.
३८   सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः – छान्दो.उप. ६।८।४.
१३७, ४६३   सदेव सौम्य इदमग्रे आसीद् – छान्दो.उप. ६।२।१.
६८   सद्यः पुनाति गाङ्गेयम् – पद्मपुराण ३।१३।७.
६१   सभा वा न प्रवेष्टव्या – मनुस्मृति ८।१३.
२२३   सर्वज्ञत्वं च तस्येष्टं लिङ्गं तेजोऽप्यलौकिकम् – तत्त्वार्थदीपनिबन्ध १।६४.
१९२   सर्वतः पाणिपादान्तम् – श्वेताश्व.उप. ३।१६.
२८७, ३४१   सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेः अश्ववद् – ब्रह्मसूत्र ३।४।२६.
२८०   सर्वेषामेव भूतानां पिता माता स माधवः – महाभारत ३।१९२।५६.
१३३   सर्वेषु च नृपश्रेष्ठ ज्ञानेष्वेतेषु दृश्यते – महाभारत १२।३५९।६८.
१२३   सर्वो द्वन्द्वो विभाषैकवद् भवति – परि.भा.पा. ६८.
३१७, ३६८   सर्वं खलु इदं ब्रह्म तज्जलान् – छान्दो.उप. १।१४।१.
१२१   स आत्मानं स्वयमकुरुत – बृहदा.उप. १।४।३.
१३७   स ईक्षाञ्चक्रे – प्रश्नोप. ६।३.
४५३   स एव कदाचिज्जगदुद्धारार्थमखण्डः पूर्णएव – तत्त्वार्थदीपनिबन्ध प्रकाश १।१.
३१२   स एष साधो चरमो भवानाम् – भाग.पुराण ३।४।१२.
३१८   स गुरुमेव – मुण्डकोप. १।२।१२.
१३७   स तपो तप्यते – तैत्ति.उप. २।६.
१७७   स तु सत्यव्रतो राजा ज्ञानविज्ञानसंयुतो – भाग.पुराण ८।२४।५८.
१५०   स यत्पूर्वोऽस्मात् सर्वस्मात् सर्वान् पाप्मनः – बृहदा.उप. १।४।१.
२५०   स विष्णवाख्योऽधियज्ञोऽसौ कालः कलयतां प्रभुः – भाग.पुराण ३।२९।३८.
३८९   स वै किलाऽयं पुरुषः पुरातनः – भाग.पुराण १।१०।२०.
७, ४१२   स वै पतिः स्याद् अकुतोभयः स्वयम् – भाग.पुराण ५।१८।२०.
२७, २८   स सर्वमन्त्रोपनिषद्वेदबीजं सनातनम् – भाग.पुराण १२।६।४१.
८०   स सर्वम् अभवद् – बृहदा.उप. १।४।१०.
६८   सा राजन् दर्शनादेव ब्रह्महत्यापहारिणी – पद्मपुराण ६।१२७।४९.
४३९   सार्वकाम्यमङ्गकामैः प्रकरणाद् – पूर्वमी.जैमि.सूत्र ४।३।२५.

१७६ सावर्णाः पञ्च रौच्यश्च भौत्यः – मार्क.पुराण ......द्रष्ट. वायुपुराण २।१।४.
१३३ साङ्ख्यं योगः पञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा – महाभारत १२।३५९।१.
२९८ सुखमित्यात्मनो रूपं सर्वेहोपरतिस्तनुः – भाग.पुराण ७।१३।२६.
१२३ सुपां सुलुग् – पाणिनिसूत्र ७।१।३९.
५६ सुवर्गाय वा एतानि लोकानि हूयन्ते – तैत्ति.संहिता ६।६।६।१.
८२ सूत त्वं पूजितोऽस्माभिः सारात्सारं वदस्व नः – अग्निपुराण १।३.
२५१ सूर्यं ते चक्षुः ... शरीरैः – तैत्ति.आर. ३।४.
१६६ सृजतोर्मोक्षनिर्वार्भिः प्लाव्यमाना रसां गता – भाग.पुराण ३।१३।१७.
४१ सेवानुरक्तमनसाम् अभवोऽपि फल्गुः – भाग.पुराण ५।१४।४४.
६७ सैनिका भयनाम्नः – भाग.पुराण ४।२८।१.
४९ सैषा त्रय्येव विद्या तपति – शतपथ.ब्रा. १०।५।२।७.
४५२ संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वा – मुण्डकोप. ३।२।६.
६८ संवत्सरादेवात्मानं पुनीत – तैत्ति.आर. २।८.
३३१ सिंह-कन्ये स्मृता वर्षा तुला-वृश्चिकयोः शरद् – भाव.प्रका. १।५।३२४.
१९ स्तनैः स्तनान् कुङ्कुमपङ्करूषितान् – भाग.पुराण १०।७९।१६.
३६ स्थलं मत्वा जलेऽपतद् – द्रष्ट. महाभारत २।४७।६.
३०८ स्थूणानिखननन्यायः – लौकिकन्यायसाहस्री १२.
८ स्यन्दु प्रस्रवणे – पाणिनिधातुपाठ भ्वा.अ.से. ७६२.
१७६ स्वकीर्तये सर्वमिदमुत्पाद्य सचराचरं – मत्स्यपुराण १।९।३८.
१९४ स्वदेहं प्रतिपन्नेव विराजं प्रतपत्यसौ – ....
३०४ स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः – भग.गीता ३।३५.
५२ स्वाध्यायो अध्येतव्यः – तैत्ति.आर. २।१५.
४६२ हरिर्हि निर्गुणः – भाग.पुराण १०।८५।५.
१८९ हिरण्मयेऽपि भगवान् निवसति कूर्मतनुं बिभ्राणः – भाग.पुराण ५।१८।२९.
१५२ हिरण्मयः स पुरुषः सहस्रपरिवत्सरान् – भाग.पुराण ३।६।६.
८९ क्षुत आचामेद् – ....

*

यावत्प्रकाशित-प्रथमस्कन्धीय-श्रीमदाचार्यवाङ्मौक्तिकानि

१. एषा हि समाधिभाषा. तत्र हि पुरुषप्रयत्नो भक्तौ एव. सुदृढः सर्वतोधिकस्नेहस्तु आत्मत्वेन ज्ञाते भवति. माहात्म्यज्ञानं तु सृष्ट्यादिभिः. तत्र द्वयं साधयितुम् एषा भागवतसंहिता.

२. यथा हि यज्ञा ब्रह्मात्मावगतिश्च काण्डद्वयार्थो अन्योन्यहेतुभूतः तथा अत्र भक्तिहेतुः इति निरूपयितुं गायत्री बीजं, वेदो वृक्षः, भागवतं फलम् इति निरूप्यते. अतः काण्डद्वयार्थनिष्णातोऽपि अफलवृक्ष इव व्यर्थ इति भागवतारम्भः.

३. धर्मो ज्ञानं च साधनं, भगवदाविर्भावः साध्यः, तदनु तत्र प्रवेशः फलम्. एतत् सर्वं भागवताद् एव भवति इति विशिष्टकल्पद्रुमत्वम्.

४. (ईश्वरः) भागवतश्रवणमात्रेण हृदयारूढो भवति विचारचिन्तनव्यतिरेकेणापि.

५. सृष्ट्यादीनां लीलात्वे ज्ञाते भक्तिः भवति, न कार्यत्वे. कौतुकाधिष्ठितेन अनायासत्वेन क्रियमाणं कर्म लीला.

६. सर्वत्र भगवत्कथायाम् आन्तरो भावो मुख्यः, नतु वाक्यामात्रम्.

७. पादसंश्रयणं भक्तिमार्गे एव.

८. कीर्तनकर्तॄणाम् अपि कीर्तिः यत्र सर्वान् पुनाति तत्र किं वक्तव्यं कीर्तनस्य सर्वपावकत्वम्!

९. अनायासेन हर्षात् क्रियमाणा चेष्टा लीला.

१०. यथा यथा हि अज्ञानं निवर्तते तथा तथा भगवद्रसास्वादो भवति, यथा ज्वरविमोके अन्नस्य.

११. अत्र (भागवते) हि यथा यथा विरक्तः तथा तथा अधिकारी.

१२. भगवद्धर्मेषु हृदयं प्रविष्टेषु हि भयं निवर्तते. बलिष्ठस्य हि भयाभावः. बलं भगवत एव.

१३. भागवतस्य भगवद्रूपत्वात् यथा भगवतः स्वः असाधारणो अनुभावः सर्वभक्तेषु तथा भागवतस्यापि तच्चिन्तकेषु.

१४. रुचिः श्रवणादिः प्रेम च इति भक्तिः त्रिविधा.

१५. तत्र रुचिः चेद् भगवति साधनत्वेन तदापि न धर्मत्वम्.

१६. पुत्रादिकामनया क्रियमाणो धर्मो धर्म एव न भवति, फलस्य अविद्याकार्यत्वेन दुःखरूपत्वात्.

१७. श्रोतृ-वक्तृदोषैः न श्रवण-कीर्तने सम्बध्येते, अपहतपाप्मत्वात् तयोः.

१८. मिथ्याज्ञान-सलिलावसिक्तायाम् आत्मभूमौ कर्मबीजं प्ररोहति, नतु तत्त्वज्ञाननिदाघ-निष्पीतसलिलतया ऊषरायाम्.

१९. सेवकः सेव्यं यादृशरूपं पश्यति, स्वस्यापि तादृशं रूपं सम्पादयति. साधनानि च तानि यद्यपि अपहतपाप्मानं भगवन्तम् अन्यथाकर्तुं न शक्नुवन्ति तथापि जीवम् अन्यथाकुर्वन्ति एव. ततश्च यादृशेन रूपेण साधनेन वा न अन्यथाभावः तादृशरूपवान् एव ईश्वरः सेव्यः, नाशशङ्काभावात्. यदि पुनः सेवकस्य बुद्धिः न उपाधिपर्यवसायिनी तत्र यत्र क्वचित् सेवायामपि न काचित् चिन्ता, यथा ब्रह्मविदः.

२०. अवतरणम् अवतारः = व्यापिवैकुण्ठाद् भगवतः प्रपञ्चे समागमनम्.

२१. यथा हि क्षुदग्निः आविर्भूतः सोढुम् अशक्यः एवं बीजाधार-कामाग्निः अपि. तत्र यथा जलपानं तथा स्त्रीप्रेक्षणादि, यथा अन्नतृप्तिः तथा स्त्रिया रेतोनिवृत्तिः. तत्र मनसापि स्त्रीणाम् अस्मरणेन रेतोधारणं ब्रह्मचर्यम्.

२२. वञ्चनेन कार्यसिद्धिः हि वैश्यता.

२३. सर्वो हि लौकिको वैदिकश्च मायया भगवन्तं भजते, "एवं हि कृते अयम् अस्मभ्यम् इदं दास्यति" इति बुद्ध्या भगवतः सकाशात् पदार्थान् ग्रहीतुं भगवद्वञ्चनार्थं प्रयत्नकरणात्. भगवांस्तु ततोपि चतुरः अतो माया त्याज्या.

२४. मतान्तरेषु इव न अत्र (भागवते) वेदविप्रतिषेधः.

२५. जितेन्द्रियता ज्ञानं च अत्र अङ्गं ; तस्य उत्कर्षे भागवतं फलति.

२६. त्रैवर्णिकानाम् उद्धारार्थे वेदः, स्त्री-शूद्राणाम् इतिहासः, उभयसारोद्धारत्वात् सर्वोद्धारकम् (भागवतम्).

२७. (हस्तिना) पुरवासाद् बुद्धिः वक्रा भवति.

२८. सात्वती श्रुतिः (भागवतं) वैष्णवो वेदः.

२९. लोकवृत्तपरित्यागेन भगवदेकपरायणो महाभागवतः.

३०. प्रमादात् महापातकसम्बन्धेपि वैष्णवस्य न देहत्याग उचितः.

३१. अणिमाद्यष्टैश्वर्यं भगवत्सेवायां प्रासंगिकम्.

३२. धर्मस्य च अन्तःकरणपरितोषः फलं ; तदभावे धर्मः श्रमः.

३३. भगवत्सम्बन्धिनां धर्माणां भगवता सह अभेदाद् यत्र क्वचिद् अवतीर्णो भगवान् यथा सेव्यते तथा यत्र क्वचिदपि स्थितानि नामानि श्रूयन्ते.

३४. अच्युतभक्तिरहितं ज्ञानं साङ्ख्यं वैदिकं वा भक्त्या अनलङ्कृतत्वात् न शोभते.

३५. (भगवत्कथाकीर्तनं) धर्मकर्तृभिः एव श्रोतव्यं, परं धर्मपरित्यागेन. यथा निवृत्तिमार्गे धर्मत्यागः तथा अत्रापि "तावत् कर्माणि कुर्वीत" इति भगवद्वाक्याद् बाधकानां चिरकालसाध्यानां वा परित्यागः.

३६. हरेः भगवतः परब्रह्मणो भक्तिमार्गानुसारेण चरणसेवा जीवानां स्वाभाविको धर्मः.

३७. भगवद्भजनं तु न कालसाध्यं, पुरुषोत्तमपर्यवसायि च. नहि पुरुषोत्तमसेवा तदन्तरङ्गैः क्रियमाणा बहिरधिकारिप्रेरिता भवति, कालगम्यत्वाभावात्, सर्वत्र भगवन्मार्गे भगवत एव साधनत्वेन विधानात् च. दृश्यते च लोके महाराजान्तरङ्गसेवकानां न अधिकार्यधीनत्वम्.

३८. अनन्यसिद्धत्वाद् भगवद्भक्तौ एव यत्नः कर्तव्यः. नच लौकिकसुख-दुःखाभावार्थे यतनीयं, कालेनैव तत्सिद्धेः.

३९. गङ्गाजल-देवतयोः इव आत्म-परमात्मनोः स्वरूपम्.

४०. अतिहीनस्य अत्युत्कृष्टपदप्राप्तिः अस्मिन्नेव मार्गे, न मार्गान्तरे.

४१. अस्मिन् मार्गे यथा यथा निरादरत्वं तथा तथा कार्यसिद्धिः.

४२. सेवार्थं सत्सङ्ग इति प्रथमं साधनम्. निर्दुष्टा सेवा द्वितीयं साधनम्.

४३. सेवा च पुष्टिमार्गे सस्नेहा.

४४. यथा औषधेन अजीर्णनिवृत्तिः तथा अन्नमयस्य देहस्य उच्छिष्टान्नसाधितदेहेन दोषसन्ताननिवृत्तिः.

४५. श्रवणादीनां न अदृष्टद्वारा फलसाधकत्वं किन्तु स्वरूपेणैव. फलं च भगवद्याथार्थ्यज्ञानम्. तदैव हि कीर्तने अधिकारः. उत्तरस्य आदिना हि पूर्वस्य अवसानम्. अतः श्रवणस्य नैरन्तर्यं कर्तव्यम्.

४६. यथा विषं सर्वनाशकमपि सर्वरोगनिवर्तकत्वेन द्रव्यान्तरैः भावनया चिकित्स्यते तथा कर्मापि सर्वनाशकं सर्वदोषनिवृत्तये भगवद्रूपेण चिकित्स्यते.

४७. येनैव कर्मणा बन्धः तदेव कर्म भगवति भावितं पुरुषं पुनाति.

४८. यथा स्त्रीप्रतिमा कुहकेच्छया नृत्यति एवं सर्वोऽपि लोकः चेष्टते इति भगवज्ज्ञानवतो बुद्धिः.

४९. यथा योषित्पुत्तलिकां कुहकोऽपि न स्वातन्त्र्यादिधर्मयुक्तां करोति तथा भगवानपि जीवान्.

५० . सर्वदा हि भगवान् भक्तानामेव कल्याणम् ईष्टे.

५१. लोकोपहासभिया देहकुलान्तःकरणधर्मैश्च लज्जा भवति, विहितत्वेऽपि लोकोपहासात्. तथा सति लोकरक्षाबुद्ध्या न भगवति शुद्धो भावो भवेत्.

५२. दैवगत्या सन्मानने प्राप्तेऽपि गर्वो न कर्तव्यः. न हि पूजनेन तस्य महत्त्वं प्रत्युत तद्बाधकत्वम्.

५३. यदा कृष्णो रोचते तदैव विषया न रोचन्ते.

५४. संसारमग्नानां मोक्षदातृत्वात् मृतसंजीवकत्वं मुकुन्दत्वम्. सेवा तु रोगनिवर्तिका. श्रवणेन च अन्तःप्रविशति भगवान्. तत्र चित्तं सेवां भावयति

... यद्यपि भगवदाश्रितो योगोऽपि क्रमेण तथा करोति, सेवा तु अद्धा साक्षात्, योगसेवापेक्षयाऽपि योगेशसेवाया उत्तमत्वात्.

५५. ज्ञानकाशया मायया मोह इति न ज्ञाने विश्वासः कर्तुं शक्यः.

५६. साक्षाद् अनर्थनिवृत्तिहेतुः भक्तिरेव.

५७. भगवद्गुणाः प्रवृत्तिरूपा निवृत्तिस्वभावाः परमानन्दरूपाश्च ज्ञानरूपाश्च. तस्माद् यः कश्चिद् यत्र कुत्रचिद् आसक्तो भगवद्गुणेषु रमते एव, सर्वप्रतिकृतिरूपत्वाद् गुणानां ज्ञानवशीकरणस्वभावाच्च.

५८. वस्तुतस्तु शुको महादेवः. (भागवतस्य) कृति-प्रवृत्त्यर्थं विष्णुः महादेवश्च अवतीर्णौ.

५९. कामः कामिनीमिव भगवद्गुणाः स्वप्रतिष्ठार्थं भक्तं प्रापयन्ति.

६०. अन्येषाम् उपस्थिते भये परिपालनं करोति, भक्तानां तु अभयमेव उपस्थापयति, न भयम्.

६१. पुत्ररूपेण भर्ता जीवतीति पुत्रवतीनां न सहगमनम्.

६२. पतिव्रताया नयनजलं भूमौ पतेत् चेत् तदा निर्वीर्या भूमिः भवतीति प्रथा.

६३. भक्तस्य कार्ये उपस्थिते प्रारब्धमपि स्वकार्यं (भगवान्) त्यजति.

६४. सताम् अयं धर्मो यद् भक्त्यर्थमेव सर्वं जीवनादि.

६५. इन्द्रियजन्यं ज्ञानं भगवन्तं न विषयीकरोति.

६६. यथा नटः स्त्रीरूपं प्रकटयन् बहिर्मुखैः न ज्ञायते पुरुष इति तथा नरभावं प्रकटयन् आविर्भूतो भगवान् भगवत्त्वेन न ज्ञायते.

६७. यद्यपि सर्वे नृत्यं पश्यति तथापि रसिकानामेव रसोत्पत्तिः. न हि नपुंसकानां स्त्रीणां वा स्त्रीरूपेण नृत्ये क्रियमाणे शृङ्गाररस उत्पद्यते प्रत्युत स्वसमानधर्माविष्कारं कृत्वा विडम्बयतीति खेद उत्पद्यते. तथा साधारणस्त्रीपुरुषाणां दैत्यांशानां च न रसो न ज्ञानं न वा भक्तिः इति तद्वञ्चनार्थं नटवत् लीलां करोति.

६८. एषा भगवतो विपरीतलीला— आपत्सु परमानन्दं प्रयच्छति, तदभावे परमानन्दतिरोभावं करोतीति.

६९. यद्यपि भक्तौ सर्वे अधिकारिणः तथापि कृत्रिममदिरादिसम्बन्धे वेदाधिकाराभाववत् मादकस्य न भगवच्छब्दोच्चारणाधिकारः.

७०. भगवदर्थे कृते जगति स्वस्य अहंताममतायां भगवद्विरोधेन बन्धः स्यात्.

७१. स्वरूपेण कृतार्थत्वं मायया च विमोहनम्.

७२. एकस्यापि महापातकस्य बुद्धिपूर्वकं कृतस्य न प्रायश्चित्तम्.

(सौजन्य— सुबोधरत्नाकर).